

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNA-PĪṬHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTHAMĀLĀ
SANSKRITA GRANTHA No. 9

MAHĀPURĀṆA

Vol. I.

UTTAR PURĀṆA

OF

BHAGAVAT JINASENĀCĀRYA

PART SECOND

WITH HINDI TRANSLATION



Translated and Edited

BY

PANDITA PANNALAL JAIN, SAHITYACHARYA
Sahityadhyapak—GANESHA DIGAMBAR JAINA VIDYALAYA, SAGAR.

Published by

Bhāratiya Jñānapiṭha Kāshi

First Edition
1000 Copies.

BHADRAPADA, VIR SAMVAT 2477
VIKRAMA SAMVAT 2008
SEPTEMBER, 1951.

Price
Rs. 10/-

BHĀRATIYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHI

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

JÑĀNA-PĪTHA MURTI DEVI JAIN GRANTHĀMALĀ

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSA, HINDI, KANNADA & TAMIL ETC, WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUE OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ALSO WILL BE PUBLISHED

SANSKRIT GRANTHA No. 9

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
Secy., BHARATIYA JÑANAPITHA,
POST BOX No 48, BANARAS N 1

Founded in Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 2000
18th Feb 1944

द्वितीयभागस्य विषयानुक्रमणिका

श्री भगवज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

महापुराणम्

[द्वितीयो भागः]

अथ षड्विंशतितमं पर्व

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवद् व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमान् अभ्यनन्ददनुक्रमात् ॥१॥
नादरिद्रोऽजनः कश्चिद् विभोरस्मिन् महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थितार्थे[2] तु जातं विश्वाशिनि[3] नवे ॥२॥
चतुष्केषु[4] च रथ्यासु[5] पुरस्यान्तर्बहिः[6] पुरम् । पुञ्जीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥३॥
अभिचार[7]क्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषाम् । जाता शान्तिक्रियेवास्य जातकर्माप्यभूत्तदा ॥४॥
ततोऽस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत्[8] । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलाम्बरा[9] ॥५॥
अलका इव संरेजुः अस्याः[10] मधुकरव्रजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषित[11]विग्रहाः ॥६॥
प्रससादनवत्तोयं सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं जनताचित्तरञ्जनम् ॥७॥
सितच्छदावली[12] रेजे सम्पतन्ती समन्ततः । स्थूलमुक्तावली नद्धा कण्ठिकेव शरच्छ्रियः ॥८॥

अथानन्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराजने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र उत्पन्न होनेका आनन्द मनाया ॥१॥ राजा भरतके उस महोत्सवके समय संसार भरमें कोई दरिद्र नहीं रहा था किन्तु दरिद्रता इस बातकी हो गई थी कि धन देने पर भी उसे कोई लेनेवाला नहीं मिलता था। भावार्थ—महाराज भरतके द्वारा दिये हुए दानसे याचक लोग इतने अधिक सन्तुष्ट हो गये कि उन्होंने हमेशाके लिये याचना करना छोड़ दिया ॥२॥ उस समय राजाने चौराहोंमें, गलियोंमें, नगरके भीतर और बाहर सभी जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब याचकोंके लिये दे दिये थे ॥३॥ उस समय भरतने जो चक्ररत्नकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिये अभिचार क्रिया अर्थात् हिंसाकार्यके समान मालूम हुई थी और पुत्र-जन्मका जो उत्सव किया था वह संसारको शान्ति कर्मके समान जान पड़ा था ॥४॥ तदनन्तर भरतने दिग्विजयके लिये उद्योग किया, उसी समय शरद्‌ऋतु भी आ गई जो कि भरतकी जयलक्ष्मीके समान प्रसन्न तथा निर्मल अम्बर (आकाश) को धारण करनेवाली थी ॥५॥ उस समय सप्तपर्ण जातिके फूलोंसे उठी हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भ्रमरोंके समूह इस शरद् ऋतुके अलकों (केशपाश) के समान शोभाय-मान हो रहे थे ॥६॥ जिस प्रकार कवियोंका उत्तम काव्य प्रसन्न अर्थात् प्रसाद गुणसे सहित और जनसमूहके चित्तको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार तालाबों और नदियोंका जल भी प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ और मनुष्योंके चित्तको आनन्द देनेवाला बन गया था ॥७॥ चारों ओर उड़ती हुई हंसोंकी पंक्तियां ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरद्‌ऋतुकी —सी

---

१ दरिद्रो नाभूत् । नो दरिद्री जनः स० । न दरिद्री जनः द०, इ०, अ०, प०, स० । २ याचकजनप्राप्तो । ३ मत्तत्तृप्तिजनके । ४ चतुष्पथप्रदेशेषु । ५ वीथिषु । ६ बहिः पुरस्य मध्ये बहिश्च । ७ मारणक्रिया । ८ आगता । ९ निर्मलाकाशा निर्मलवसना च । १० गच्छन्त्यः । ११ आच्छादित । १२ हंसपङ्क्तिः ।

सरोजलमभूत्कान्त सरोजरजसा ततम् । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलम् ॥९॥
सर सरोजरजसा परित स्थगितोदकम् । कादम्ब[1]जाया सम्प्रेक्ष्य मुमुहु[2] स्थलशङ्कया ॥१०॥
कञ्जकिञ्जल्कपुञ्जेन पिञ्जरा षट्पदावली । सौवर्णमणिदृब्धेव[3] शरद कण्ठिका बभौ ॥११॥
सरोजल समासे[4]दु मुखरा सितपक्षिण[5] । [6]वदान्यकुलमुद्भूतसौगन्ध्यमिव[7] वन्दिन ॥१२॥
नदीना पुलिनान्यासन् शुचीनि शरदागमे । हसाना रचितानीव शयनानि सितांशुकै ॥१३॥
सरासि ससरोजानि सोत्पला [8]वप्रभूमय । सहससैकता[9] नद्यो [10]जह्रुश्चेतासि कामिनाम् ॥१४॥
प्रसन्नसलिला रेजु सरस्य सहसारसा । कूजितै कलहसाना जितनूपुरशिञ्जितै ॥१५॥
नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्री पङ्कजानना । व्यक्तमाभाषमाणेव कलहसीकलस्वनै ॥१६॥
पक्वशालिभुवो नम्रकणिशा पिञ्जरश्रिय । स्नाता [11]हरिद्रयेवासन् शरत्कालप्रियागमे ॥१७॥
मन्दसाना[12] मद[13]भेजु सहसाना[14] मद जहु । शरल्लक्ष्मीं समालोक्य शुद्ध्यशुद्ध्योरय[15] निज ॥१८॥

की वडे बडे मोतियोकी मालासे बनी हुई कण्ठमाल (गलेमे पहननेका हार) ही हो ॥८॥ कमलोकी परागसे व्याप्त हुआ सरोवरका जल ऐसा सुन्दर जान पडता था मानो सुवर्णकी धूलिसे व्याप्त हुआ रत्नजटित पृथिवीका तल ही हो ॥९॥ जिसका जल चारो ओरसे कमलो की परागसे ढका हुआ है ऐसे सरोवरको देखकर कादम्ब जातिके हसोकी स्त्रिया स्थलका सदेह कर बार बार मोहमें पड जाती थी अर्थात् सरोवरको स्थल समझने लगती थी ॥१०॥ जो भ्रमरोकी पक्तिया कमलोके केशरके समूहसे पीली पीली हो गई थी वे ऐसी जान पडती थी मानो सुवर्णमय मनकाओसे गूथा हुआ शरद् ऋतुका कठहार ही हो ॥११॥ जिस प्रकार चारण लोग प्रसिद्ध दानी पुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुए पहुचते है उसी प्रकार हस पक्षी भी शब्द करते हुए अतिशय सुगन्धित सरोवरके जलके समीप पहुच रहे थे ॥१२॥ शरद् ऋतुके आते ही नदियोके किनारे स्वच्छ हो गये थे और ऐसे जान पडते थे मानो सफेद वस्त्रो से बने हुए हसोके विछौने ही हो ॥१३॥ कमलोसे सहित सरोवर नील कमलोसे सहित खेतोकी भूमिया और हसो सहित किनारोसे युक्त नदिया ये सब कामी मनुष्योका चित्त हरण कर रहे थे ॥१४॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जो सारस पक्षियोके जोडोसे सहित है ऐसे छोटे छोटे तालाब, नूपुरोके शब्दको जीतनेवाले कलहस पक्षियोके सुन्दर शब्दोसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१५॥ नीलोत्पल ही जिसके नेत्र है और कमल ही जिसका मुख है ऐसी शरद्ऋतुकी लक्ष्मीरूपी स्त्री कलहसियोके मधुर शब्दोके बहाने वार्तालाप करती हुई सी जान पडती थी ॥१६॥ जिनमें बाले नीचेकी ओर झुक गई है और जिनकी शोभा कुछ कुछ पीली हो गई है ऐसी पके चावलोकी पृथिविया उस समय ऐसी जान पडती थी मानो शरद् कालरूपी पतिके आनेपर हल्दी आदिके उबटन द्वारा स्नान कर सुसज्जित ही बैठी हो ॥१७॥ उस शरद्ऋतुकी शोभा देखकर हस हर्षको प्राप्त हुए थे और मयूरोने अपना हर्ष छोड दिया था। सो ठीक ही है क्योकि शुद्धि और अशुद्धिका यही स्वभाव होता है। भावार्थ— हस शुद्ध अर्थात् सफेद होते है इसलिये उन्हें शरद्ऋतुकी शोभा देखकर हर्ष हुआ परन्तु मयूर अशुद्ध अर्थात् काले होते है इसलिये उन्हें उसे देखकर दु ख हुआ। किसीका वैभव देखकर शुद्ध अर्थात् स्वच्छ हृदयवाले पुरुष तो आनन्दका अनुभव करते है और अशुद्ध अर्थात् मलिन स्वभाव वाले—दुर्जन पुरुष दु खका अनुभव करते है, यह इनका स्वभाव ही है ॥१८॥

१ कलहसस्त्रिय । 'कादम्ब कलहस' स्याद् इत्यभिधानात् । २ माह्यन्ति स्म । ३ रचिता । ४ प्रापु । ५ हसा । ६ त्यागिसमूहम् । ७ सौहार्दम् । ८ केदार । ९ पुलिन । १० अपहरन्ति स्म । ११ रजन्या । १२ हसा । मन्दमाना स० । १३ हर्षम् । १४ मयूरा । सहमाना स० । १५ अयमात्मीयगुणो हि ।

कलहंसा हसन्तीव विरुतैः स्म शिखण्डिनः । अहो [1]जडप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥१९॥
चित्रवर्णा [2]घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । समं [3]शतमुखेष्वासैर्बर्हिणः स्वोन्नतिं जहुः ॥२०॥
[4]बन्धूकैरिन्द्रगोपश्रीरातेने वनराजिषु । शरल्लक्ष्म्येव निष्ठ्यूतैः ताम्बूलरसबिन्दुभिः ॥२१॥
विकासं बन्धुजीवेषु[5] शरदाविर्भवन्त्यधात् । सतीव[6] सुप्रसन्नाशा[7] विपङ्का[8] विशदाम्बरा[9] ॥२२॥
हंसस्वनानकाकाशकाशोज्ज्वलचामरा । पुण्डरीकातपत्रासीद्दिग्जयोत्थेव सा शरत् ॥२३॥
दिशां [10]प्रसाधनायाधाद् बाणासन[11]परिच्छदम् । शरत्कालो [12]जिगीषोर्हि श्लाघ्यो बाणासनग्रहः ॥२४॥
घनावली कृशा पाण्डुः आसीदाशा विमुञ्चती । घनागमवियोगोत्थचिन्तयेवाकुलीकृता ॥२५॥
नभः सतारमारेजे विहसत्कुमुदाकरम् । कुमुद्वतीवनं चाभाज्जयत्तारकितं नभः ॥२६॥

निर्मल शरीरको धारण करनेवाले हंस मधुर शब्द करते हुए ऐसे जान पडते थे मानो अहो तुम लोग जडप्रिय–मूर्खप्रिय (पक्षमें जलप्रिय) हो इस प्रकार कहकर मयूरोंकी हँसी ही उडा रहे हो ॥१९॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, जिनकी रुचि–इच्छा (पक्षमें कान्ति) मेघोंमें लग रही है और जो पर्वतोंके आश्रय हैं ऐसे मयूरोंने इन्द्रधनुषोंके साथ ही साथ अपनी भी उन्नति छोड दी थी। भावार्थ–उस शरद्ऋतुके समय मयूर और इन्द्रधनुष दोनोंकी शोभा नष्ट हो गई थी ॥२०॥ वन पंक्तियोंमें शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुए ताम्बूलके रसके बूँदोंके समान शोभा देनेवाले बन्धूक (दुपहरिया) पुष्पोंने क्या इन्द्रगोप अर्थात् वर्षाऋतुमें होनेवाले लाल रंगके कीडोंकी शोभा नहीं बढाई थी? अर्थात् अवश्य ही बढाई थी। बन्धूक पुष्प इन्द्रगोपोंके समान जान पडते थे ॥२१॥ जिस प्रकार निर्मल अन्तःकरणवाली, पापरहित और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली कोई सती स्त्री घरसे बाहिर प्रकट हो अपने बन्धुजनोंके विषयमें विकास अर्थात् प्रेमको धारण करती है उसी प्रकार शुद्ध दिशाओंको धारण करनेवाली कीचड-रहित और स्वच्छ आकाशवाली शरद्ऋतुने भी प्रकट होकर बन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोंपर विकास धारण किया था–उन्हें विकसित किया था। तात्पर्य यह है कि उस समय दिशाएं निर्मल थीं, कीचड सूख गया था आकाश निर्मल था और वनोंमें दुपहरियाके फूल खिले हुए थे ॥२२॥ उस समय जो हंसोंके शब्द हो रहे थे वे नगाडोंके समान जान पडते थे, वनोंमें काशके फूल फूल रहे थे वे उज्ज्वल चमरोंके समान मालूम होते थे, और तालाबोंमें कमल खिल रहे थे वे छत्रके समान सुशोभित हो रहे थे तथा इन सबसे वह शरद्ऋतु ऐसी जान पडती थी मानो उसे दिग्विजय करनेकी इच्छा ही उत्पन्न हुई हो ॥२३॥ उस शरद्ऋतुने दिशाओंको प्रसाधन अर्थात् अलंकृत करनेके लिये बाणासन अर्थात् बाण और आसन जातिके पुष्पोंका समूह धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंको प्रसाधन अर्थात् वश करनेके लिये जिगीषु राजाको बाणासन अर्थात् धनुषका ग्रहण करना प्रशंसनीय ही है ॥२४॥ उस समय समस्त आशा अर्थात् दिशाओं (पक्षमें संगमकी इच्छाओं) को छोडती हुई मेघमाला कृश और पाण्डुवर्ण हो गई थी सो उससे ऐसी जान पडती थी मानो वर्षा कालके वियोगसे उत्पन्न हुई चिन्तासे व्याकुल होकर ही वैसी हो गई हो ॥२५॥ उस शरद्ऋतुके समय ताराओंसे सहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो कुमुदिनियों सहित सरोवरकी हँसी ही कर रहा हो

१ जलप्रिया स०, द०, इ०, स०, अ०, प० । २ मेघकृतवाञ्छा । ३ इन्द्रचापैः । ४ बन्धुजीवकैः । 'बन्धूकं बन्धुजीवकं' इत्यभिधानात्। ५ बन्धूककुसुमेषु पक्षे सुहृज्जीवेषु। ६ पुंश्चागच्छन्तीव। ७ सुप्रसन्नदिक् पक्षे सुप्रसन्नमानसा। सुप्रसन्नात्मा–ल०। ८ विगतकर्दमा, पक्षे दोषरहिता। ९ पक्षे निर्मलवस्त्रा। १० अलंकाराय। जयार्थं च। ११ झिण्टिकुसुमसर्जककुसुमपरिकरम्। पक्षे धनुःपरिकरम्। १२ जेतुमिच्छोः।

तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हंसायते स्म शीतांशुः विक्षिप्तकरपक्षतिः[1] ॥२७॥
नभोगृहाङ्गणे तेनुः श्रियं पुष्पोपहारजाम् । तारका दिग्वधूहारतारमुक्ताफलश्रियः ॥२८॥
बभुर्नभोऽम्बुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका[2] इव मेघौघैः निहिताः[3] हिमशीतलाः ॥२९॥
ज्योत्स्नासलिलसम्भूता इव बुद्बुदपङ्क्तयः । तारका रुचिमातेनुः विप्रकीर्णा नभोऽङ्गणे ॥३०॥
तनूभूतपयोवेणीः[4] नद्यः परिकृशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवाङ्गनाः ॥३१॥
अनुद्धता गभीरत्वं भेजुः स्वच्छजलांशुकाः[5] । सरितस्त्रियो घनापायाद् वैधव्यमिव[6] संश्रिताः ॥३२॥
दिगङ्गना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । [7]व्यावहासीमिवातेनुः प्रसन्ना हंसमण्डनाः[8] ॥३३॥
कूजितैः कलहंसानां निर्जिता इव तत्यजुः । केकायितानि[9] शिखिनः सर्वः कालबलाद् बली ॥३४॥
ज्योत्स्नादुकूलवसना लसन्नक्षत्रमालिका[10] । बन्धुजीवाधरा रेजे निर्मला शरदङ्गना ॥३५॥
ज्योत्स्नां कीर्तिमिवातन्वन् विधुर्गगनमण्डले । शरल्लक्ष्मीं समासाद्य सुराजेवाद्युततराम् ॥३६॥
बन्धुजीवेषु[11] विन्यस्तरागा [12]बाणकृतद्युतिः[13] । हंसी सखीवृता रेजे नवोढेव[14] शरद्वधूः ॥३७॥

और कुमुदिनियोंसे सहित सरोवर ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सुशोभित आकाश को ही जीत रहा हो ॥२६॥ ताराओंरूप कुमुदोंसे भरे हुए आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपने किरणरूप पंखोंको फैलाता हुआ चन्द्रमा ठीक हंसके समान आचरण करता था ॥२७॥ जिनकी कान्ति दिशारूपी स्त्रियोंके हारोंमें लगे हुए बड़े बड़े मोतियोंके समान है ऐसे तारागण आकाशरूपी घरके आँगनमें फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई शोभाको बढ़ा रहे थे ॥२८॥ देदीप्यमान मुक्ताफलोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघों के समूहने बर्फके समान शीतल ओले ही धारण कर रक्खे हों ॥२९॥ आकाशरूपी आँगनमें जहाँ तहाँ बिखरे हुए तारागण ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो चाँदनी रूप जलसे उत्पन्न हुए बबूलोंके समूह ही हों ॥३०॥ वर्षाकालरूपी पतिसे बिछुड़ी हुई नदियाँ विरहिणी स्त्रियोंके समान अत्यन्त कृश होकर जलके सूक्ष्म प्रवाहरूपी चोटियोंको धारण कर रही थीं ॥३१॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूप स्त्रियाँ मानो वैधव्य अवस्थाको ही प्राप्त हो गई थीं, क्योंकि जिस प्रकार विधवाएँ उद्धतता छोड़ देती हैं उसी प्रकार नदियोंने भी उद्धतता छोड़ दी थी, विधवाएँ जिस प्रकार स्वच्छ (सफेद) वस्त्र धारण करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ वस्त्ररूपी जल धारण कर रही थीं और विधवाएँ जिस प्रकार अगम्भीर वृत्तिको धारण करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अगम्भीर अर्थात् उथली वृत्तिको धारण कर रही थीं ॥३२॥ मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिनकी मूर्ति आकृति प्रकाशित हो रही है ऐसी दिशारूपी स्त्रियाँ अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं और हंसरूप आभरणोंके छलसे मानो एक दूसरेके प्रति हँस ही रही थीं ॥३३॥ उस समय मयूरोंने अपनी केका वाणी छोड़ दी थी, मानो कलहंस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे पराजित होकर ही छोड़ दी हो सो ठीक ही है क्योंकि समयके बलसे सभी बलवान् हो जाते हैं ॥३४॥ चाँदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुए देदीप्यमान नक्षत्रोंकी माला (पक्ष में सत्ताईस मणियोंवाला नक्षत्रमाल नामका हार) धारण किये हुए और दुपहरियाके फूल रूप अधरोंसे सहित वह निर्मल शरदृतुरूपी स्त्री अतिशय सुशोभित हो रही थी ॥३५॥ शरदृतुकी शोभा पाकर आकाशमण्डलमें चाँदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३६॥ वह शरदृतु नवोढा स्त्रीके समान

१ किरणा एव पक्षतिः मूलं यस्य । २ वर्षोपलाः । ३ निक्षिप्ताः । ४ पयःप्रवाहा इत्यर्थः । ५ पक्षे श्वेतस्थूलवस्त्राः । ६ विधवाया भावः । ७ परस्परहासम् । ८ हंसमण्डनाः प०, इ०, द० । हंसमण्डनात् स० । ९ मयूररटनानि । १० तारकावली पक्षे हारभेदः । ११ बन्धूकेषु बान्धवेषु च । १२ भिण्टि, पक्षे शरः । १३ विकासः पक्षे कान्तिः । १४ नूतनविवाहिता ।

स्वयं[1] धौतमभाद् व्योम स्वयं प्रक्षालितः शशी। स्वयं प्रसादिता[2] नद्यः स्वयं सम्मार्जिता दिशः ॥३८॥
शरल्लक्ष्मीमुखालोकदर्पणे शशिमण्डले। प्रजादृशो धृतिं भेजुः असम्मृष्टसमुज्ज्वले ॥३९॥
वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः। मधुव्रता भजन्ति स्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥४०॥
तन्व्यो[3] वनलता रेजुः विकासिकुसुमस्मिताः। सालका इव गन्धान्धविलोलालिकुलाकुलाः ॥४१॥
दर्पोद्धुराः[4] खुरोत्खातभुवस्ताम्रीकृतेक्षणाः। वृषाः[5] प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनुः ॥४२॥
अवास्किरन्त[6] शृङ्गाग्रैः वृषभा धीरनिःस्वनाः। वनस्थलीः[7] स्थलाम्भोजमृणालशकलाचिताः[8] ॥४३॥
वृषाः ककुदसंलग्नमृदः कुमुदपाण्डराः। व्यक्ताङ्कस्य मृगाङ्कस्य लक्ष्मीमभिमर्शुस्तदा ॥४४॥
क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीम्। प्रस्नुवाना वनान्तेषु प्रसस्रुर्गोमतल्लिकाः[10] ॥४५॥
कुण्डोघ्न्योऽमृतपिण्डेन[11] घटिता इव निर्मलाः। गोगृष्टयो[12] वनान्तेषु शरच्छ्रिय इवाचरन्[13] ॥४६॥

सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार नवोढा स्त्री बन्धुजीव अर्थात् भाईबन्धुओंपर राग अर्थात् प्रेम रखती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी बन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोंपर राग अर्थात् लालिमा धारण कर रही थी, नवोढा स्त्री जिस प्रकार देदीप्यमान होती है उसी प्रकार शरद्ऋतु भी बाण जातिके फूलोंसे देदीप्यमान हो रही थी और नवोढा स्त्री जिस प्रकार सखियोंसे घिरी रहती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी हंसीरूपी सखियोंसे घिरी रहती थी ॥३७॥ उस समय आकाश अपने आप साफ किये हुएके समान जान पड़ता था, चन्द्रमा अपने आप धोये हुएके समान मालूम होता था, नदियां अपने आप स्वच्छ हुई सी जान पड़ती थीं और दिशाएं अपने आप झाड़ बुहार कर साफ की हुईके समान मालूम होती थीं ॥३८॥ जो शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिये दर्पणके समान है और जो बिना साफ किये ही अत्यन्त उज्ज्वल है ऐसे चन्द्रमण्डलमें प्रजाके नेत्र बड़ा भारी संतोष प्राप्त करते थे ॥३९॥ जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है और जो फूलरूप आभरणोंसे उज्ज्वल हो रही है ऐसी वन-पंक्तियोंको भ्रमर कोलाहल शब्द करते हुए सेवन कर रहे थे ॥४०॥ जो फूले हुए पुष्परूपी मन्द हास्यसे सहित थीं तथा गन्धसे अंधे हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण जो सुन्दर केशोंसे सुशोभित थीं ऐसी वनकी लताएं उस समय कृश शरीरवाली स्त्रियोंके समान शोभा पा रही थीं ॥४१॥ जो खुरोंसे पृथिवीको खोद रहे थे, जिनकी आंखें लाल लाल हो रही थीं और जो दूसरे बैलोंके देखनेसे क्रोधित हो रहे थे ऐसे मदोन्मत्त बैल अन्य बैलोंके शब्द सुनकर बदलेमें स्वयं शब्द कर रहे थे ॥४२॥ उसी प्रकार गम्भीर शब्द करते हुए वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके टुकड़ोंसे व्याप्त हुई वनकी पृथिवीको खोद रहे थे ॥४३॥ इसी तरह उस शरद्ऋतुमें जिनके कांधौंपर मिट्टी लग रही है और जो कुमुद पुष्पके समान अत्यन्त सफेद हैं ऐसे वे बैल स्पष्ट चिह्नवाले चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी सम्पूर्ण पृथिवीको दूधके प्रवाहके रूप करती हुई वनोंके भीतर जहां तहां फिर रही थीं ॥४५॥ इसी प्रकार जिनके स्तन कुण्डके समान भारी हैं और जो अमृतके पिण्डसे बनी हुईके समान अत्यन्त निर्मल हैं ऐसी तुरन्तकी प्रसूत हुई गायें वनोंके मध्यमें शरद्ऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थीं ॥४६॥

---

१ आत्मना प्रसन्नमित्यर्थः। २ प्रसन्नीकृता। ३ कृशा अङ्गनाश्च। ४ उत्कृष्टा। ५ वृषभाः। ६ किरन्ति स्म। ७ वनस्थली ल०। ८ –चिताम् ल०। ९ धरन्ति स्म। १० प्रशस्तगावः। 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यभिधानात्। ११ पिठराधीना। पिठरः स्थाल्युखा कुण्डमित्यभिधानात्। "ऊधस्तु क्लीबमापीनम्"। ऊधसोऽनङ् इति सूत्रात् सकारस्य नकारादेशः। १२ सकृत्प्रसूता गावः। 'गृष्टिः सकृत्प्रसूतिका' इत्यभिधानात्। १३ इवाभवन् ल०।

चेतांसि [1]तरणाद्यूपजीविनामुद्धतात्मनाम्। पुंसां च्युताधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥५७॥
प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः। भास्वानाक्रान्ततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥५८॥
इति प्रस्पष्टचन्द्रांशुप्रहासे शारदागमे। चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥
प्रस्थानभेर्यो गम्भीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा। श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवं घनाडम्बरशङ्किभिः ॥६०॥
कृतमङ्गलनेपथ्यो[2] बभारोरस्यतं प्रभुः। शरल्लक्ष्म्येव सम्भक्तं[3] सहारं हरिचन्दनम् ॥६१॥
ज्योत्स्नामये दुकूले च शुक्ले परिदधौ नृपः। शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥
आजानुलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः। हिमाद्रिरिव गङ्गाम्बुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥
[4]तिरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुण्डले दधौ। चन्द्रार्कमण्डले वक्तुमिवायाते जयोत्सवम् ॥६४॥
वक्षःस्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः। जयलक्ष्मीसमुद्वाहमङ्गलाशसिदीपवत् ॥६५॥

पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा बढ़ा रही थी मानो पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे मिले हुए हरित मणियोंकी बनी हुई वन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे। भावार्थ–शरद्‌ऋतुमें नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिये उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एक मात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था–अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरद् ऋतुके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिये उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें मेघके आडम्बरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊंची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मंगलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दनसे सुशोभित जिस वक्षःस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरद्‌ऋतुरूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चांदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरद्‌ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमें लाये गये हों ॥६२॥ घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगाजलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥६३॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जयोत्सवकी बधाई देनेके लिये सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥६४॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

---

१ द्रोण्युडुपाद्युपजीविनाम्। नदीतारकाणामित्यर्थः। २ मङ्गलालङ्कारः। ३ सेवितम्।
४ किरीटोदग्र–ल०, द०, अ०, स०।

हुम्भारवभृतो[१] वत्सानापिप्य[२]न्प्रष्टतस्यनान्[३] । पीनापीना[४] पयस्विन्य[५] पय पीयूषमुत्सुका[६] ॥४७॥
क्षीरस्यतो[७] निजान्वत्सान् हुम्भागम्भीरनिस्वनान् । धेनुष्या[८] पाययन्ति स्म गोपैरपि नियन्त्रिता ॥४८॥
प्राक्स्वीया जलदा जाता शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायाद् अहो कष्टा दरिद्रता ॥४९॥
[९]व्यावहासीमिवातेनु गिरय पुष्पितैर्द्रुमै । व्यात्युक्षीमिव[१०] तन्वाना स्फुरन्निर्झरशीकरै ॥५०॥
प्रवृद्धवयसो[११] रेजु कलमा भृशमानता । परिणामात्प्रशुष्यन्तो[१२] जरन्त[१३] पुरुषा इव ॥५१॥
विरेजुरस[१४]नापुष्पै मदालिपटलावृतै । इन्द्रनीलकृतान्तर्यै[१५] सौवर्णैरिव भूषणै ॥५२॥
घनावरणनिर्मुक्ता दधुराशा दृशा मुदम् । नटिका[१६] इव नेपथ्यगृहाद्रङ्ग[१७]मुपागता ॥५३॥
प्रदधुर्घनवृन्दानि मुक्तासाराणि[१८] भूधरा । सदशानीव[१९] वासांसि[२०] निष्प्रवाणीनि[२१] सानुभि ॥५४॥
पवनाधोरणारूढा[२२] भ्रेमुर्जी[२३]मूतदन्तिन । सान्तर्गजा निकुञ्जेषु[२४] सासारमदशीकरा ॥५५॥
शुकावलीप्रवालाभचञ्चुस्तेने दिवि[२५] श्रियम् । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणाली सपद्मभा[२६] ॥५६॥

जिनके स्तन बहुत ही स्थूल हे और जो हुभा शब्द कर रही हैं ऐसे दूधवाली गायें दूध पीनेके लिये उत्सुक हुए तथा बार बार हुभा शब्द करते हुए अपने बच्चोको दूधरूपी अमृत पिला रही थी ॥४७॥ इसी प्रकार हुभा ऐसा गभीर शब्द करनेवाली गाये ग्वालाओके द्वारा अलग बाध दिये जानेपर भी दूध पीनेकी इच्छा करनेवाले अपने बच्चोको दूध पिला ही रही थी ॥४८॥ जो मेघ पहले मयूरोको अत्यन्त प्रिय थे वे ही अब शरदृऋतुमें जलरूप धनके नष्ट हो जानेसे खाली होकर उन्हे अप्रिय हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि दरिद्रता बहुत ही कष्ट देनेवाली होती है ॥४९॥ उस समय फूले हुए वृक्षोसे पर्वत ऐसे जान पडते थे मानो परस्पर में हँसी ही कर रहे हो और झरते हुए झरनोके छीटोसे ऐसे जान पडते थे मानो फाग ही कर रहे हो–विनोदवश एक दूसरेके ऊपर जल डाल रहे हो ॥५०॥ कलमी जाति के धान, जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनके समीप बहुत पक्षी बैठे हुए थे, जो खूब नव रहे थे और जो अपने परिपाकसे जगत्के समस्त जीवोका पोषण करते थे, वे ठीक वृद्ध पुरुषोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोके समूहसे घिरे हुए अपने फूलोसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके मध्यभागमें इन्द्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णमय आभूषणोसे ही सुशोभित हो रहे हो ॥५२॥ जिस प्रकार आभूषण आदि पहिननेके परदेवाले घरसे निकल कर रगभूमिमें आई हुई नृत्यकारिणी नेत्रोको आनन्द देती है उसी प्रकार मेघोके आवरणसे छूटी हुई दिशाए नेत्रोको अतिशय आनन्द दे रही थी ॥५३॥ पर्वतोने जो अपनी शिखरो पर जल-रहित सफेद बादलोके समूह धारण किए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो अचल-सहित नवीन वस्त्र ही हो ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत बैठे हुए है, जो भीतर ही भीतर गरज रहे है और जो लतागृहोमें जलकी बूंदें रूपी मदधाराकी बूंदे छोड रहे है ऐसे मेघरूपी हाथी जहां तहां फिर रहे थे ॥५५॥ जिनकी चोच मूगा के समान लाल है ऐसी तोताओकी

१ हुं भा इत्यनुकरणावयुत । २ पाययन्ति स्म । ३ प्रकर्षेण वृत । ४ प्रवृद्धोधस । ५ धेनव । ६ –मुत्सुकाम् ल० । ७ क्षीरमात्मानमिच्छून् । ८ 'धेनुष्या बन्धके स्थिता' इत्यभिधानात् । ९ परस्पर-हसनम् । १० परस्परसेचनम् । ११ वृद्धवयस्का प्रवृद्धपक्षिणश्च । १२ परिपक्वत्वात् । १३ वृद्धा । १४ गर्जना । १५ मध्यैकस्थै । १६ नर्तक्य । १७ अलकारगृहात् । १८ वर्षाणि । १९ वस्तिसहितानि । 'स्त्रिया बह्वे वस्त्रस्य दशा स्युर्वस्तय' इत्यभिधानात् । अन्यदपि दशावर्तावस्थाया वस्त्रान्ते स्युर्दशा अपि । २० वस्त्राणि । २१ नूतनानि । 'अनाहत निष्प्रवाणि तन्त्रक च नवाम्बरे' इत्यभिधानात् । २२ हस्तिपक । 'अधोरणो हस्तिपक' इत्यभिधानात् । २३ मेघ । २४ सानुषु । २५ आकाशे । २६ पद्मरागसहिता ।

चेतांसि [1]तरणाद्युपजीविनामुद्धतात्मनाम् । पुंसां च्युताधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥५७॥
प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रान्ततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥५८॥
इति प्रस्पष्टचन्द्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥
प्रस्थानभेर्यो गम्भीरप्रध्वाना प्रहतास्तदा । श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवं घनाडम्बरशङ्किभिः ॥६०॥
कृतमङ्गलनेपथ्यो[2] बभारोरस्थलं प्रभुः । शरल्लक्ष्म्येव सम्भक्तं[3] सहारहरिचन्दनम् ॥६१॥
ज्योत्स्नामये दुकूले च शुक्ले परिदधौ नृपः । शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥
आजानुलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हिमाद्रिरिव गङ्गाम्बुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥
[4]तिरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुण्डले दधौ । चन्द्रार्कमण्डले वक्तुमिवायाते जयोत्सवम् ॥६४॥
वक्षःस्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्वाहमङ्गलाशंसिदीपवत् ॥६५॥

पङ्क्ति आकाशमें ऐसी शोभा बढ़ा रही थी मानो पन्नगण मणियोंकी कान्ति सहित हरित मणियोंकी बनी हुई वन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे। भावार्थ–शरद्ऋतुमें नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिये उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एक मात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था–अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरद् ऋतुके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिये उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें मेघके आडम्बरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊंची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मंगलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दनसे सुशोभित जिस वक्षःस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरद्ऋतु रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चांदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमें लाये गये हों ॥६२॥ घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगा जलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥६३॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जयोत्सवकी बधाई देनेके लिये सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥६४॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

1 द्रोण्युडुपाद्युपजीविनाम् । नदीनाविकाणामित्यर्थः । 2 कृतमङ्गलालङ्कारः । 3 सेवितम् ।
4 किरीटोदग्र–अ०, द०, ब०, स० ।

विधुबिम्बप्रतिस्पर्धि[1]दध्रेऽस्यातपवारणम् । [2]तन्निभेनैन्दवं बिम्बमागत्येव सिषेविषु ॥६६॥
तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणम् । चूडारत्नांशुभिर्भिन्नं[3] सारुणांशिव[4] पङ्कजम् ॥६७॥
स्वर्धुनीशीकरस्पर्धि चामराणां कदम्बकम् । [5]दुधुवुर्वारनार्योऽस्य दिक्कन्या इव संश्रिता[6] ॥६८॥
ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे[7] स्यन्दनो महान् । सुवर्णमणिचित्राङ्गो[8] मेरुकुञ्जश्रियं[9] हसन् ॥६९॥
चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्रद्वितयसङ्गतः । वज्राक्षघटितो[10] रेजे रथोऽस्येव मनोरथः ॥७०॥
कामगैर्वायुरंहोभिः[11] कुमुदोज्ज्वलकान्तिभिः । यशोवितानसङ्काशैः स रथोऽयोजि[12] वाजिभिः ॥७१॥
स तं स्यन्दनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठितम्[13] । नितम्बदेशमद्रीन्द्र[14] सुरराडिव चक्रराट् ॥७२॥
ततः प्रास्थानिकैः[15] पुण्यनिर्घोषैरभिनन्दितः । प्रतस्थे विजयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमङ्गलः ॥७३॥
तदा नभोऽङ्गणं कृत्स्नं जयघोषैरवध्यत । नृपाङ्गणं च संरुद्धम् अभवत् सैन्यनायकैः ॥७४॥
महामुकुटबद्धास्तं परिवव्रुः समन्ततः । दूरात् प्रणतमूर्धानः सुरराजमिवामराः ॥७५॥
प्रचचाल बलं विष्वक् प्रारुद्धपुरवीथिकम् । महायोधमयी[16] सृष्टिः अपूर्वेवाभवत्तदा ॥७६॥

मानो विजयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना देनेवाला दीपक ही हो ॥६५॥ उन्होंने चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाले जिस छत्रको धारण किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस छत्रके बहानेसे स्वयं चन्द्रमण्डल ही आकर उनकी सेवा करना चाहता हो ॥६६॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था वह चूड़ारत्नकी किरणोंसे मिलकर ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो सूर्यकी लाल किरणों सहित कमल ही हो ॥६७॥ जो वारांगनाएं महाराज भरतके आस-पास गंगाके जल की बूंदोंके साथ स्पर्धा करनेवाले चमरोंके समूह ढुला रही थीं ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरहसे आई हुई दिक्कन्याएं ही हों ॥६८॥ तदनन्तर स्थपति रत्नने एक बड़ा भारी रथ तैयार किया जो कि सुवर्ण और मणियोंसे चित्र विचित्र दिखनेवाले मेरु पर्वतके लतागृहोंकी शोभाकी ओर हँस रहा था ॥६९॥ वह रथ चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्धा करनेवाले दो पहियोंसे सहित था तथा वज्रके बने हुए अक्ष (दोनों पहियोंके बीचमें पड़ा हुआ मजबूत लोहदंड-औंरा) से युक्त था इसलिये महाराज भरतके मनोरथके समान बहुत ही ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥७०॥ उस रथमें जो घोड़े जोते गये थे वे इच्छानुसार गमन करते थे, वायुके समान वेगशाली थे, कुमुदके समान उज्ज्वल कान्तिवाले थे और यशके समूहके समान जान पड़ते थे ॥७१॥ जिस प्रकार इन्द्र मेरु पर्वतके तटपर आरूढ होता है उसी प्रकार भरतेश्वर, जिसपर योग्य सारथि (हांकनेवाला) बैठा है ऐसे रथपर आरूढ हुआ ॥७२॥ तदनन्तर प्रस्थान समयमें होनेवाले 'जय' 'जय' आदि पुण्य शब्दोंके द्वारा जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है जो दिग्विजयकी समस्त तैयारियां कर चुके हैं और जिनके साथ प्रस्थान-कालीन सभी मंगलाचार किये जा चुके हैं ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥७३॥ उस समय आकाशरूपी समस्त आंगन जय जय शब्दोंकी घोषणासे भर गया था, और राजाका आंगन सेनापतियोंसे भर गया था ॥७४॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रको घेर कर खड़े हो जाते हैं उसी प्रकार दूरसे ही मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए महामुकुट बद्ध राजा लोग भरतको घेरे हुए चारों ओर खड़े थे ॥७५॥ जिसने चारों ओरसे नगरकी समस्त गलियोंको रोक लिया है ऐसी वह सेना चलने लगी। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो यो बड़े-बड़े

---

१ दधे ल० । २ आतपवारणव्याजेन । ३ मिश्रम् । ४ सूर्यकिरणसहितम् । ५ वीजयन्ति स्म । ६ सङ्गता ल० । ७ रच्यते स्म । ८ अवयव । ९ तट । १० चक्राङ्ग । ११ वेगवद्भि । १२ युज्यते स्म । १३ युक्तिपरसारथिसमाश्रितम् । १४ मेरो । १५ प्रस्थाने नियुक्तैः । १६ भटमयी ।

पुरः [1]पादातमाश्वीयं रथकड्या[2] च हास्तिकम् । क्रमान्निरी[3]युरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥७७॥
रथ्या [4]रथ्याश्वसंघट्टाद् उत्थितैर्हेमरेणुभिः । बलक्षोदाक्षमाव्योम समुत्पेतुरिव[5] स्वयम् ॥७८॥
रौक्मं रजोभिराकीर्णं तदा रेजे नभोऽजिरम् । स्पृष्टं[6] बालातपेनेव पटवासेन वाततम्[7] ॥७९॥
शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव [8]वेलोत्थैः महाब्धेस्तीरभूमयः ॥८०॥
पुराङ्गनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोऽञ्जलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिः दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥८१॥
जयेश विजयिन् विश्वं विजयस्व दिशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थं पौराः प्रभुमपूपुजन्[9] ॥८२॥
सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं[10] तदातनीम्[11] । शनैः प्रतोलीं[12] सम्प्रापद् रत्नतोरणभासुराम् ॥८३॥
पुरो बहिः पुरः पश्चात् समं च विभुनाऽमुना । ददृशे दृष्टिपर्यन्तम् असङ्ख्यमिव तद्बलम् ॥८४॥
जगतः प्रसवागारादिव तस्मात् पुराद् बलम् । निरियाय निरुच्छ्वासं[13] शनैरारुद्धगोपुरम् ॥८५॥
किमिदं प्रलयक्षोभात् क्षुभितं वारिधेर्जलम् । किमुत त्रिजगत्सर्गः[14] प्रत्यग्रोऽयं विजृम्भते ॥८६॥
इत्याशङ्क्य नभोभाग्भिः सुरैः साश्चर्यमीक्षितम् । प्रससार बलं विष्वक्पुरान्निर्याय चक्रिणः ॥८७॥

योद्धाओंकी एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥७६॥ सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकोंका समूह था, उसके पीछे घोड़ोंका समूह था, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हाथियों का समूह था। इस प्रकार वह सेना पताकाओंसे सहित महाराजके रथको घेरकर अनुक्रम से निकली ॥७७॥ जिन मार्गोंसे वह सेना जा रही थी वे मार्ग रथ और घोड़ोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलिसे ऐसे जान पड़ते थे मानो सेनाका आघात सहनेमें असमर्थ होकर स्वयं आकाशमें ही उड़ गये हों ॥७८॥ उस समय सुवर्णमय धूलिसे भरा हुआ आकाशरूपी आंगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बालसूर्यकी सुनहली प्रभासे स्पर्श किया गया हो, और सुगन्धित चूर्णसे ही व्याप्त हो गया हो ॥७९॥ धीरे धीरे लोग नगरकी गलियोंको छोड़कर आगे निकल गये जिससे खाली हुई वे गलियां ऐसी जान पड़ती थीं मानो ज्वारभाटासे उठी हुई लहरोंके चले जानेपर खाली हुई समुद्रके किनारे की भूमि ही हो ॥८०॥ उस समय बड़े बड़े मकानोंके झरोखोंमें खड़ी हुई नगर-निवासिनी स्त्रियोंके द्वारा अपने अपने कटाक्षोंके साथ छोड़ी हुई पुष्पाञ्जलियां महाराज भरतके ऊपर पड़ रही थीं ॥८१॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे विजय करनेवाले महाराज, आप संसारका विजय करें और दशों दिशाओंको जीतें, इस प्रकार सैकड़ों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे—उनके प्रति सन्मान प्रकट कर रहे थे ॥८२॥ इस प्रकार उस समय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुए सम्राट् भरत धीरे धीरे रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान गोपुरद्वारको प्राप्त हुए ॥८३॥ उस समय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने आगे पीछे और साथ साथ जहांतक दृष्टि पड़ती थी वहां तक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी ॥८४॥ जगत्की उत्पत्तिके घरके समान उस अयोध्यापुरीसे वह सेना गोपुरद्वारको रोकती हुई बड़ी कठिनतासे धीरे धीरे बाहर निकली ॥८५॥ क्या यह प्रलय कालके क्षोभसे क्षोभको प्राप्त हुआ समुद्रका जल है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इस प्रकार आशंका कर आकाशमें खड़े हुए देव लोग जिसे बड़े आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसी चक्रवर्तीकी वह सेना नगरसे निकल कर चारों ओर फैल गई ॥८६–८७॥

---

१ पदातीनां समूहः । २ –कट्या ल० । ३ निर्गच्छन्ति स्म । ४ रथनियुक्तवाजी । रथाश्वः द०, ल०, इ० । ५ उत्पतन्ति स्म । ६ स्पष्ट ल० । ७ व्याततम् । ८ जलविकारोत्थैः 'अब्ध्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । ९ –मपूजयन् ल० । १० सम्पदम् । ११ तत्कालजाम् । १२ गोपुरम् । १३ उच्छ्वासान्निष्क्रान्तं यथा भवति तथा । सराङ्कटमिति यावत् । १४ त्रिलोकसृष्टिः ।

ततः प्राचीं[1] दिशं जेतुं कृतोद्योगो विशाम्पतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥८८॥
चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयाति स्म पुरो विभोः । सुरैः परिष्कृतं[2] विश्वग्भास्वद्[3]बिम्बप्रभास्वरम् ॥८९॥
चक्रानुयायि तद्भेजे[4] निधीनामीशितुर्बलम् । गुरोरिच्छानुवर्तिष्णु मुनीनामिव मण्डलम् ॥९०॥
दण्डरत्नं पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि[5] समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययत्नतः ॥९१॥
अग्रण्या दण्डरत्नेन पथि राजपथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥९२॥
ततोऽध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियम् । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिम् आत्मीयामिव निर्मलाम् ॥९३॥
सरांसि कमलामोदम् उद्वमन्ति शरच्छ्रियः । मुखायितानि सम्प्रेक्ष्य सोऽभ्यनन्दद्विशीशिता ॥९४॥
स हंसान् सरसां तीरेष्वपश्यत् कृतशिञ्जनान्[6] । मृणालपीथ[7]सम्पुष्टान् शरदः पुत्रकानिव ॥९५॥
चञ्च्वा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहंसस्य[8] हृदयस्य[9] महतीं धृतिमादधे ॥९६॥
सध्रीचीं[10] वीचिसंरुद्धाम् अपश्यन् परितः[11] सरः । रोरवं[12] कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥
[13]हंसयूनाब्जकिञ्जल्करजःपिञ्जरितां निजाम् । वधूं विधूतां[14] सोऽपश्यच्चक्रवाकीविशङ्कया ॥९८॥
तरङ्गैर्धवलीभूतविग्रहां कोकवामिनीम् । व्यामोहादनुधावन्तं स[15] जरद्धंसमैक्षत ॥९९॥
नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद् धृतिः शुचिमसीमसु[16] ॥१००॥

तदनन्तर जिन्होंने सबसे पहले पूर्व दिशाको जीतनेका उद्योग किया है ऐसे महाराज भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए पूर्वकी ओर मुख कर प्रयाण किया ॥८८॥ सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान और चारों ओरसे देव लोगोंके द्वारा घिरा हुआ जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें भरतेश्वरके आगे-आगे चल रहा था ॥८९॥ जिस प्रकार मुनियोंका समूह गुरुकी इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्ररत्नकी इच्छानुसार उसके पीछे पीछे चल रही थी ॥९०॥ दण्डरत्नको आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊंचे नीचे दुर्गम वनस्थलोंको लीलापूर्वक एकसा करता जाता था ॥९१॥ आगे चलनेवाला दण्डरत्न सब मार्गको राजमार्गके समान विस्तृत और सम करता जाता था इसलिये वह सेना किसी भी जगह स्खलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी ॥९२॥ तदनन्तर मार्गमें प्रजापति–भरतने दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी कीर्तिके समान निर्मल शरद् ऋतुकी शोभा देखी ॥९३॥ शरद् ऋतुरूपी लक्ष्मीके मुखके समान जो सरोवर कमलकी सुगन्धि छोड़ रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥९४॥ सरोवरोंके किनारेपर मधुर शब्द करते हुए और मृणालरूपी मक्खन खाकर पुष्ट हुए हंसोंको भरतेश्वरने शरद्ऋतुके पुत्रोंके समान देखा ॥९५॥ जो हंस अपनी चोंचसे मृणालको उठाकर हंसीके लिये दे रहा था उसने, सब राजाओंमें श्रेष्ठ इन भरत महाराजके हृदयमें बड़ा भारी संतोष उत्पन्न किया था ॥९६॥ जो चकवा लहरोंसे रुकी हुई चकवीको न देखकर सरोवरके चारों ओर शब्द कर रहा था उसने भी भरतके मनकी प्रीतिको अत्यन्त विस्तृत किया था ॥९७॥ एक तरुण हंसने कमल केशरकी धूलिसे पीली हुई अपनी हंसीको चकवी समझकर भूलसे छोड़ दिया था महाराज भरतने यह भी देखा ॥९८॥ लहरोंसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवीको हंसी समझकर और उसपर मोहित होकर एक बूढ़ा हंस उसके पीछे पीछे दौड़ रहा था—महाराज भरतने यह भी देखा ॥९९॥ जिनकी सीमाएं अत्यन्त पवित्र हैं जो हंस तथा

१ पूर्वाम् । २ परिवृतं ल० । ३ सूर्यबिम्बम् । ४ तद्भेजे ल० । ५ निम्नोन्नतानि । ६ शिञ्जितान् प०, द०, ल० । ७ क्षीरनवनीत । स्वपयोनवनीतमित्यर्थः । ८ राजश्रेष्ठस्य । ९ हृदये । १० प्रियाम् । ११ सरसः समन्तात् । १२ भृशं स्वरं कुर्वाण । १३ तरुणहंसेन । १४ अवज्ञाताम् । १५ भरतः । १६ शुचित्वमर्यादासु ।

[1]रोधोलतान्तनिर्मुक्तपुष्पप्रकरशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽदर्शज्जलोद्धूतमनोरङ्गिताः ॥१०१॥
लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयं गलत्प्रसूनौघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥१०२॥
क्वचिल्लतागृहान्तस्थचन्द्रकान्तशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरान् प्रमुदैक्षत ॥१०३॥
क्वचिल्लताप्रसूनेषु विलीनामलिनावलीम् । विलोक्य स्रस्तकेशीनां सस्मार प्रिययोषिताम् ॥१०४॥
सुमनोवर्षमातेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्धजम्[2] । पवनाधूतशाखाग्राः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥१०५॥
सच्छायान् सफलांस्तुङ्गान् सर्वसम्भोग्यसम्पदः । मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत् स नृपाननुकुर्वतः[6] ॥१०६॥
सरस्तीरभुवोऽपश्यत् सरोजरजसा[3] तताः । सुवर्णकुट्टिमाशङ्कामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥१०७॥
बलरेणुभिरारुद्धे दोषामन्ये[4] नभस्यसौ । करुणं[5] क्वणतीं वीक्षाञ्चक्रे चक्राह्वकामिनीम् ॥१०८॥
गवां गणानथापश्यद् गोष्पदारण्य[7]चारिणः । क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतान्तिकान् ॥१०९॥
सौरभेयान् स शृङ्गाग्रसमुत्खातस्थलाम्बुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥११०॥

सारस आदि पक्षियोंसे मनोहर हैं, और जो बिछी हुई शय्याओंके समान जान पड़ते हैं ऐसे नदी-किनारेके प्रदेशोंपर महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ ॥१००॥ जो किनारेपर लगी हुई लताओंके अग्रभागसे गिरे हुए फूलोंके समूहसे सुशोभित हो रही है और जो जलके प्रवाहसे उठी हुई लहरोंसे व्याप्त है ऐसी नदियोंके किनारेकी भूमि भी भरतेश्वरने बड़े प्रेमसे देखी थी ॥१०१॥ जिनमें अपने आप गिरे हुए फूलोंके समूहसे शय्याएं बनी हुई हैं ऐसे रमणीय लतागृहोंको देखते हुए भरतको उनमें भारी प्रीति उत्पन्न हुई थी ॥१०२॥ उन भरत महाराजने कहीं कहींपर लतागृहोंके भीतर पड़ी हुई चन्द्रकान्ति मणिकी शिलाओंपर बैठे हुए और अपना यशगान करनेमें लगे हुए किन्नरोंको देखा था ॥१०३॥ कहीं कहींपर लताओंके फूलोंपर बैठे हुए भ्रमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी चोटियां ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंका स्मरण करता था ॥१०४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे हैं ऐसे फूले हुए मार्गके वृक्ष मानो बड़े प्रेमसे ही भरत महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥१०५॥ वह भरत मार्गके दोनों ओर लगे हुए जिन वृक्षोंको देखते जाते थे वे वृक्ष राजाओंका अनुकरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाहरीसे सहित थे, जिस प्रकार राजा सफल अर्थात् अनेक प्रकारकी आयसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष सफल अर्थात् अनेक प्रकारके फलोंसे सहित थे, जिस प्रकार राजा तुङ्ग अर्थात् उदार प्रकृतिके होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तुङ्ग अर्थात् ऊंचे थे और जिस प्रकार राजाओंकी सम्पदाएं सबके उपभोगमें आती हैं उसी प्रकार उन वृक्षोंकी फल पुष्प पल्लव आदि सम्पदाएं भी सबके उपभोगमें आती थीं ॥१०६॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमियां कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थीं और इसीलिये जो पथिकोंके हृदयमें क्या यह सुवर्णकी धूलियोंसे व्याप्त है, इस प्रकार शंका कर रही थीं, उन्हें भी महाराज भरत देखते जाते थे ॥१०७॥ सेनाकी धूलिसे भरे हुए और इसीलिये रात्रिके समान जान पड़नेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चकवीको देखकर महाराज भरतके हृदयमें बड़ी दया उत्पन्न हो रही थी ॥१०८॥ कुछ आगे चलकर उन्होंने जंगलकी गोचरभूमिमें चरते हुए गायोंके समूह देखे, वे गायोंके समूह दूधके मेघोंके समान निरन्तर झरते हुए दूधसे अपनी समीपवर्ती भूमिको तर कर रहे थे ॥१०९॥ जिन्होंने अपने सींगोंके

---

१ तटलता । 'कूलं रोधश्च तीरञ्च तटं त्रिषु' इत्यभिधानात् । २ केशेषु । ३ रजसा–ल० । ४ आत्मानं दोषां रात्रिं मन्यत इति । ५ क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं द्वितीया वक्तव्या । ६ आनुनीते । ७ गोगम्यवन ।

वात्सकं क्षीरसम्पोषादिव निर्मलविग्रहम् । सोऽपश्यच्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतम् ॥१११॥
पक्वकणिशानम्रकलमक्षेत्रमैक्षत । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यतम् ॥११२॥
वप्रान्त[1]र्भुवमाघ्रातुमिवोत्पलमिवानतान्[2] । स केदारेषु[3] कलमान् वीक्ष्यानन्दं परं ययौ ॥११३॥
फलानतान् स्तम्बकरीन् सोऽपश्यद् वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून् केदारान्नमस्यत इवादरात् ॥११४॥
ग्रापीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । [4]पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसम्पदः ॥११५॥
[5]श्रवतंसितनीलाब्जाः कञ्जरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदण्डभृतोऽपश्यच्छालीश्चोत्कुर्वतीः[6] स्त्रियः ॥११६॥
हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हंसमण्डलैः । शालिगोप्यो दृशोरस्य मुदं तेनुर्वधूटिकाः ॥११७॥
कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतंसाः कणिशैः शालिगोपीर्ददर्श सः ॥११८॥
सुगन्धिमुखनिश्वासैः भ्रमरैराकुलीकृताः । मनोऽस्य जह्रुः शालीनां पालिकाः [7]कलबालिकाः ॥११९॥
उपाध्व[8] [9]प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः । चलोपरोधैरायस्तानैक्षतासौ[10] सकौतुकम् ॥१२०॥

अग्रभागसे स्थलकमल उखाड डाले हैं और जो अपने यशके समान उनकी मृणालोको जहा तहा फेक रहे हैं ऐसे उन्मत्त बैल भी भरत महाराजने देखे थे ॥११०॥ दूधसे पालन पोषण होनेके कारण ही मानो जिनका निर्मल–सफेद शरीर है जो चचलताकी अन्तिम सीमाके समान जान पडते हैं और जो बार बार उछल-कूद रहे हैं ऐसे गायोके बछडोके समूह भी भरतेश्वर देखते जाते थे ॥१११॥ भरत महाराज पकी हुई बालोसे नम्रीभूत हुए धानोके खेत भी देखते जाते थे, उस समय वे खेत ऐसे मालूम होते थे मानो 'लोगोको उद्धतपना फल देनेवाला नही है' यही कहनेके लिये तैयार हुए हो ॥११२॥ जो खेतके भीतर उत्पन्न हुए कमलोको सूघनेके लिये ही मानो नम्रीभूत हो रहे हैं ऐसे खेतोमें लगे हुए धानके पौधोको देखकर भरत महाराज परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥११३॥ उन्होने खेतकी भूमियोमे फलोके भारसे झुके हुए धानके उन पौधोको भी देखा था जो कि अपने जन्म देनेके कारण खेतोको बडे आदरके साथ नमस्कार करते हुएसे जान पडते थे ॥११४॥ उन्होने जहा तहा फैली हुई धानरूप सम्पदाओको गायोके समान देखा था, क्योकि जिस प्रकार गायें जल पीती हैं उसी प्रकार धान भी जल पीते हैं (जलसे भरे हुए खेतोमें पैदा होते हैं) जिस प्रकार गायोमें उत्तम दूध भरा रहता है उसी प्रकार धानोमें भी पकनेके पहले दूध भरा रहता है और गायें जिस प्रकार लोगोका उपकार करती हैं उसी प्रकार धान भी लोगोका उपकार करते हैं ॥११५॥ जिन्होने नाल सहित कमलोको अपने कर्णका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोपर पड रही है, जो हाथमें ईखका डडा लिये हुए हैं और जो धान रखानेके लिये 'छो छो' शब्द कर रही हैं ऐसी स्त्रियो को भी उन्होने देखा था ॥११६॥ जो अपने मनोहर गीतोके शब्दोसे खिचकर आये हुए हसो के समूहोसे घिरी हुई हैं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली नवीन स्त्रिया भरत महाराजके नेत्रोका आनन्द बढ़ा रही थीं ॥११७॥ जो पथिकोको रोकनेवाले सुन्दर गीत गा रही हैं और जिन्होने धानकी बालोसे कर्णभूषण बना कर धारण किये हैं ऐसी धानकी रखानेवाले स्त्रियोको भरत ने बडे प्रेमसे देखा था ॥११८॥ जो अपने मुखकी सुगन्धित निश्वाससे आये हुए भ्रमरोसे व्याकुल हो रही हैं ऐसी धान रखानेवाली कुलीन लडकिया महाराज भरतके मनको हरण कर रही थी ॥११९॥ जो मार्गमें लोगोसे मार्गके समीपवर्ती खेतोकी रक्षा करनेके लिये उनके

---

१ भुवं अन्त अन्तर्भुवम् । २ –मवाननतान् स०, द०, प० । ३ सस्यक्षेत्रसमूहेषु । ४ धेनूः । ५ ग पत्रगित–द० । ६ उत्करान् कुर्वती । ७ कुलबालिका स०, द०, ल० । [illegible] मार्गसमीपे । ९ कृत । १० पश्यतिस्म ।

[1]उपशल्यभुवोऽद्राक्षीन्निगमान्परितो विभुः । [2]केदारलावैराकीर्णा स भ्राम्यद्भिः कृषीवलैः ॥१२१॥
सोऽपश्यन्निगमोपान्ते पथः[3] संस्त्यानकर्दमान्[4] । प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्पष्टपुटानतिसङ्कटान् ॥१२२॥
निगमान् परितोऽपश्यद् ग्राममुख्यान्[5] महाबलान्[6] । पयस्विनो[7] जनैः सेव्यान् [8]महारामनरानपि ॥१२३॥
ग्रामान् कुक्कुटसम्पात्यान् सोऽत्यगाद् वृतिभिर्वृतान् । [9]कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥१२४॥
[10]कुटीपरिसरेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपश्यतः । फलपुष्पानता वल्ली प्रसवाढ्या[11] सतीरपि ॥१२५॥
योषितो [12]निष्कमालाभिः वलयैश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनो जह्रुः ग्रामीणाः[13] संवृतावृतीः[14] ॥१२६॥
[15]हैयङ्गवीनकलशैः दध्नामपि निहितैः[16] । ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥१२७॥
ततो विदूरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं पृतनावृतः । गङ्गामुपासदद् वीरः[17] प्रयाणैः [18]कतिपयैरपि ॥१२८॥
हिमवद्विधृतां पूज्यां [19]सतामासिन्धुगामिनीम् । शुचिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कीर्तिमिवात्मनः ॥१२९॥
[20]शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरङ्गभ्रूविनर्तनाम् । वनराजीबृहच्छाटीपरिधानां वधूमिव ॥१३०॥

चारों ओर दौड़ रहे हैं और सेनाके लोगोंकी जबर्दस्ती करनेपर खेद खिन्न हो रहे हैं ऐसे खेतोंके मालिक किसानोंको भी भरतेश्वरने बड़े कौतुकके साथ देखा था ॥१२०॥ जो खेत काटनेवाले इधर-उधर घूमते हुए किसानोंसे व्याप्त हो रही हैं ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारों ओरकी निकट-वर्ती भूमियोंको भी भरतेश्वरने देखा था ॥१२१॥ जो स्पष्ट दिखनेवाले गायोंके खुरोंके चिह्नोंसे ऊंचे नीचे हो रहे हैं और जो अत्यन्त सकड़े हैं ऐसे कुछ कुछ कीचड़से भरे हुए गावके समीपवर्ती मार्गोंको भी भरत महाराज देखते जाते थे ॥१२२॥ उन्होंने ग्रामोंके चारों ओर खड़े हुए महाबलवान् गावके मुखिया लोगोंको देखा था तथा पक्षी तिर्यञ्च और मनुष्योंके द्वारा सेवा करने योग्य बड़े बड़े बगीचोंके वृक्ष भी देखे थे ॥१२३॥ जो जहां तहां तोरोंकी अथवा तुरई की लताओंके फूलोंसे ढकी हुई बाड़ियोंसे घिरे हुए हैं और जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उड़कर जा सकता है ऐसे गावोंको वे दूरसे ही छोड़ते जाते थे ॥१२४॥ झोपड़ियोंके समीपमें फल और फूलोंसे झुकी हुई फूलों सहित उत्तम लताओंको देखते हुए महाराज भरतको बड़ा आनन्द आ रहा था ॥१२५॥ जो सुवर्णकी मालाओं और कड़ोंसे अलंकृत हैं तथा बाड़ियोंकी ओटमें खड़ी हुई हैं ऐसी गावोंकी स्त्रियां भी देखनेवाले भरतका मन हरण कर रही थीं ॥१२६॥ गावोंके बड़े बड़े लोग घीके घड़े, दहीके पात्र और अनेक प्रकारके फल भेंट कर उनके दर्शन करते थे ॥१२७॥

तदनन्तर धीरवीर भरत सेनासहित कितनी ही मंजिलों द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गङ्गा नदीके समीप जा पहुंचे ॥१२८॥ वहां जाकर उन्होंने गङ्गा नदीको देखा, जोकि उनकी कीर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार उनकी कीर्ति हिमवान् पर्वतसे धारण की गई थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी हिमवान् पर्वतसे धारण की गई थी, जिस प्रकार उनकी कीर्ति पूज्य और उत्तम थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी पूज्य तथा उत्तम थी, जिस प्रकार उनकी

---

१ ग्रामान्तभुवः । "ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्" इत्यभिधानात् । २ केदारं. लुनन्तीति केदारलावास्तैः । ३ मार्गान् । ४ ईषत्कर्दमान् । ५ ग्राममहत्तरान् । ६ महाफलान् द०, इ० । ७ पयस्विनीरोधसं स० । क्षीरोपायनान् क्षीरिवृक्ष । ८ महाग्राम- इत्यपि क्वचित् । ९ पटोलिका । 'कोशातकी ज्योत्स्निकायामपामार्गेऽपि मा भवेत्' इत्यभिधानात् । १० गृह । ११ पुष्पसम्पदा । १२ सुवर्णमालाभिः । १३ ग्रामे भवा । १४ 'संवृतावृती संवृतामृती' इत्यपि क्वचित् । १५ घृतकुम्भैः । १६ नानाविधैः । १७ -गाद्धीरः द० । १८ कतिपयैः । १९ सतीम् स० । २० मीननेत्राम् ।

विस्तीर्णैर्जनसम्भोग्यैः कूजद्धंसालिमेखलैः। तरङ्गवसनैः यान्तीं[1] पुलिनैर्जघनैरिव ॥१३१॥
[2]लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः। किमप्यालपितुं यत्नं तन्वन्तीं वा तटद्रुमैः ॥१३२॥
क्षतै[3]र्वन्येभदन्तानां [4]रोधोजघनवर्तिनः। रुन्धतीमब्धिभीत्येव लसद्रूर्मिदुकूलकैः ॥१३३॥
रोमराजीमिवानीलां वनराजीं विवृण्वतीम्। [5]तिष्ठमानामिवावर्तव्यक्तनाभिमुदन्वते ॥१३४॥
विलोलवीचिसङ्घट्टाद् उत्थितां पतगावलिम्। पताकामिव बिभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥१३५॥
समासमीनां[6] पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनाम्। जगतां पावनीं मान्यां हसन्तीं गोमतल्लिकाम्[7] ॥१३६॥
गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम्। गम्भीरशब्दसम्भूतिं जैनीं श्रुतिमिवामलाम् ॥१३७॥

कीर्ति समुद्र तक गमन करनेवाली थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी समुद्र तक गमन करनेवाली थी, जिस प्रकार उनकी कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसी प्रकार गङ्गा नदीका प्रवाह भी पवित्र था और जिस प्रकार उनकी कीर्ति कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी उसी प्रकार गङ्गा नदी भी कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी। अथवा जो गङ्गा किसी स्त्रीके समान जान पडती थी, क्योंकि मछलियां ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगें ही भौंहोंका नचाना था और दोनों किनारोंके वनकी पंक्ति ही उसकी साड़ी थी। जो स्त्रियोंके जघन भाग के समान सुन्दर किनारोंसे सहित थी, उसके वे किनारे बहुत ही बड़े थे। शब्द करती हुई हंसोंकी माला ही उनकी करधनी थी और लहरें ही उनके वस्त्र थे।–चञ्चल लहरों रूपी हाथोंके द्वारा उडाये हुए पक्षि-समूहोंके मनोहर शब्दोंसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो किनारेके वृक्षोंके साथ कुछ वार्तालाप करनेके लिये प्रयत्न ही कर रही हो।–जो अपनी छलकती हुई लहरोंसे ऐसी जान पडती थी मानो तटरूपी नितम्ब प्रदेशपर जंगली हाथियोंके द्वारा किये हुए दातोंके घावोंको समुद्ररूप पतिके डरसे शोभायमान लहरोंरूपी वस्त्रसे ढक ही रही हो। जो दोनों ओर लगी हुई हरी भरी वनश्रेणियोंके प्रकट करने तथा साफ साफ दिखाई देनेवाली भंवरोंसे ऐसी जान पडती थी मानो किसी स्त्रीकी तरह अपने समुद्ररूप पतिके लिये रोमराजि और नाभि ही दिखला रही हो।–जो चंचल लहरोंके संघटनसे उडी हुई पक्षियोंकी पंक्तिको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पडती थी मानो सब नदियोंको जीत लेनेसे प्राप्त हुई विजय पताकाको ही धारण कर रही हो। जो किसी उत्तम गायकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम गाय समासमीना अर्थात् प्रति वर्ष प्रसव करनेवाली होती है उसी प्रकार वह नदी भी समास-मीना अर्थात् परिपुष्ट मछलियोंसे सहित थी, जिस प्रकार उत्तम गायमें पर्याप्त पय अर्थात् दूध होता है उसी प्रकार उस नदीमें भी पर्याप्त पय अर्थात् जल था, जिस प्रकार उत्तम गाय गम्भीर शब्द करती है उसी प्रकार वह भी गम्भीर कल-कल शब्द कर रही थी, उत्तम गाय जिस प्रकार जगत्को पवित्र करनेवाली है उसी प्रकार वह भी जगत्को पवित्र करनेवाली थी और उत्तम गाय जिस प्रकार पूज्य होती है उसी प्रकार वह भी पूज्य थी। अथवा जो जिनवाणीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणी गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परासे प्रसृत हुई है उसी प्रकार वह भी गुरुप्रवाह अर्थात् बडे भारी जलप्रवाहसे प्रसृत हुई थी–प्रवाहित हुई थी। जिस प्रकार जिन वाणी तीर्थ अर्थात् धर्मकी इच्छा करनेवाले पुरुषों

---

१ यान्तीं म०। २ वार्योर्मि-म०। ३ –र्जनैस्र म०। ४ तीर। ५ प्रदर्शयन्तीम्। ६ मांसभक्षक-मीनसहिताम्। प्रति वर्षं वर्भं गृह्णन्तीम्। 'समासमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते'। ७ प्रशस्तगाम्। गोमचर्चिकाम् म०, द०, ट०।

राजहंसैः कृतोपास्त्यामलङ्घ्यां विधृतायतिम्[2] । जयलक्ष्मीमिव स्फीताम् आत्मीयामब्धिगामिनीम् ॥१३८॥
विलसत्पद्मसम्भूतां[3] जनतानन्ददायिनीम् । जगद्भोग्यामिवात्मीयां श्रियमायतिशालिनीम् ॥१३९॥
विजयार्धतटाक्रान्ति[4]कृतश्लाघां[5] सुरंहसम्[6] । अभग्नप्रसरां दिव्यां निजामिव पताकिनीम् ॥१४०॥
व्यालोलोर्मिकरास्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरङ्कुरोद्भेद[7]म् आश्रितां कामुकैरिव ॥१४१॥
रोधोलतालयासीनान्[8] स्वेच्छया सुरदम्पतीन् । हसन्तीमिव सुध्वानैः[9] शीकरोत्यैर्विसारिभिः ॥१४२॥
किन्नराणां कलक्वाणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यन्तभूभागलतामण्डपमण्डनाम् ॥१४३॥

के द्वारा उपासित होती है उसी प्रकार वह भी तीर्थ अर्थात् पवित्र तीर्थ-स्थानकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा उपासित होती अथवा किनारेपर रहनेवाले मनुष्य उसमें स्नान आदि किया करते थे, जिस प्रकार जिनवाणीसे गंभीर शब्दोंकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उससे भी गभीर अर्थात् बड़े जोरके शब्दोंकी उत्पत्ति होती थी, और जिस प्रकार जिनवाणी मल अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी मल अर्थात् कीचड़ आदि गंदले पदार्थों से रहित थी ।–अथवा जो अपनी (भरतकी) विजयलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार विजयलक्ष्मीकी उपासना राजहंस अर्थात् बड़े बड़े राजा लोग करते थे उसी प्रकार उस नदीकी भी उपासना राजहंस अर्थात् एक प्रकारके हंस विशेष करते थे, जिस प्रकार जय-लक्ष्मीका कोई उल्लंघन–अनादर नहीं कर सकता था उसी प्रकार उस नदीका भी कोई उल्लघन नहीं कर सकता था, जयलक्ष्मीका आयति अर्थात् भविष्यत्काल जिस प्रकार स्पष्ट प्रकट था इसी प्रकार उसकी आयति अर्थात् लम्बाई भी प्रकट थी, जयलक्ष्मी जिस प्रकार स्फीत अर्थात् विस्तृत थी उसी प्रकार वह भी विस्तृत थी और जयलक्ष्मी जिस प्रकार समुद्र तक गई थी उसी प्रकार वह गंगा भी समुद्र तक गई हुई थी । अथवा जो भरतकी राज्यलक्ष्मीके समान मालूम होती थी क्योंकि जिस प्रकार भरतकी राज्यलक्ष्मी शोभायमान पद्म अर्थात् पद्म नामकी निधिसे उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी पद्म अर्थात् पद्म नामके सरोवरसे उत्पन्न हुई थी, भरतकी राज्य-लक्ष्मी जिस प्रकार जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी उसी प्रकार वह भी जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जगत्के भोगने योग्य थी उसी प्रकार वह भी जगत्के भोगने योग्य थी, और भरतकी लक्ष्मी जिस प्रकार आयति अर्थात् उत्तरकालमें सुशोभित थी उसी प्रकार वह आयति अर्थात् लम्बाईसे सुशोभित थी ।– अथवा जो भरतकी सेनाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार भरतकी सेना विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी (गङ्गा नदी विजयार्ध पर्वतके तटको आक्रान्त करती हुई बही है), जिस प्रकार भरतकी सेनाका वेग तेज था उसी प्रकार उस नदीका वेग भी तेज था । जिस प्रकार भरत की सेनाके फैलावको कोई नहीं रोक सकता था उसी प्रकार उसके फैलावको भी कोई नहीं रोक सकता था और भरतकी सेना जिस प्रकार दिव्य अर्थात् सुन्दर थी उसी प्रकार वह नदी भी

---

१ सेवाम् । २ विधृतायतीम् ल० । ३ पद्मह्रदये जाताम् । पद्मे निधिविशेषजाताम् । ४ आक्रमण । ५ श्लाघ्या ल०, इ० । ६ सुवेगाम् । ७ रोमाञ्चम् । ८ तीरलतागृहस्थितान् । ९ सुध्वानैः ल० । स्वरस्वानैः इ०।

हारिभि किन्नरोद्गीतै आहूता हरिणाङ्गना । दधती तीरकच्छेषु[1] प्रसारितगलद्गला[2] ॥१४४॥
हृद्यं ससारसारावै पुलिनैर्दिव्ययोषिताम् । नितम्बानि सकाञ्चीनि हसन्तीमिव विस्तृतै ॥१४५॥
चतुर्दशभिरन्विता सहस्रैरब्धियोषिताम् । [3]सध्रीचीनामिवोढोर्चि[4] बाहूनां परिरम्भणे ॥१४६॥
इत्याविष्कृतसच्छोभा [5]जाह्नवीमैक्षत प्रभु । हिमवद्गिरिणाम्भोधे प्रहितामिव कण्ठिकाम् ॥१४७॥

मालिनीवृत्तम्

शरदुप[6]हितकान्तिं प्रान्तकान्तारराजीविरचितपरिधाना [7]सैकतारोहरम्याम् ।
युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन् प्रमदमतुलमूहे क्ष्मापति स्वःस्रवन्तीम् ॥१४८॥
सरसिजमकरन्दोद्गन्धिराधूतरोधोवनकिसलयमन्दान्दोलनोद्भूतमान्द्य ।
प्रसकृदमरसिन्धोराधुनानस्तरङ्गान् प्रहृत नृपयधूनामध्वखेदं समीर ॥१४९॥

सुन्दर थी । जो चचल लहरो रूपी हाथोसे स्पर्श किये गये और अकुररूपी रोमाचोको धारण किये हुए अपने किनारेके वनके वृक्षोसे आश्रित थी और उससे ऐसी मालूम होती थी मानो कामी जनोसे आश्रित कोई स्त्री ही हो ।– जो जलकणोसे उत्पन्न हुए तथा चारो ओर फैलते हुए मनोहर शब्दोसे अपनी इच्छानुसार किनारे परके लतागृहोमे बैठे हुए देव देवागनाओकी हँसी करती हुई सी जान पडती थी । किन्नरोक मधुर शब्दवाले गायन तथा वीणाकी झनकारसे सेवनीय किनारेकी पृथिवीपर बने हुए लतागृहोसे जो बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ।– किन्नर देवोके मनोहर गानोसे बुलाई हुई और सुखस ग्रीवाको लम्बा कर बैठी हुई हरिणयो को जो अपने किनारेकी भूमिपर धारण कर रही थी ।– जिनपर सारस पक्षी कतार बाधकर मनोहर शब्द कर रह हे ऐसे अपने बडे बडे सुन्दर किनारोसे जो देवागनाओके करधनी सहित नितम्बोकी हँसी करती हुई सी जान पडती थी ।– जिन्होने आलिंगन करनेके लिये तरगरूपी भुजाए ऊपरकी ओर उठा रखी है एसी सखियोके समान जो चौदह हजार सहायक नदियोसे सहित है ।– इस प्रकार जिसकी शोभा प्रकट दिखाई दे रही है और जो हिमवान् पर्वतके द्वारा समुद्रके लिये भेजी हुई कण्ठमालाके समान जान पडती है ऐसी गङ्गा नदी महाराज भरतने देखी ॥१२९–१४७॥ शरद्ऋतुके द्वारा जिसकी कान्ति वढ गई है किनारेके वनोकी पक्ति ही जिसके वस्त्र है, जो बालूके टीलेरूप नितम्बोसे बहुत ही रमणीय जान पडती है, गभीर भवर ही जिसकी नाभि है और इस प्रकार जो एक तरुण स्त्रीके समान जान पडती है ऐसी गङ्गा नदीको देखते हुए राजा भरतने अनुपम आनन्द धारण किया था ॥१४८॥ जो कमलोकी मकरन्दसे सुगन्धित है, कुछ कुछ कम्पित हुए किनारेके वनके पल्लवोके धीरे धीरे हिलनेसे जिसका मन्दपना प्रकट हो रहा है और जो गङ्गा नदीकी तरगोको बार-बार हिला रहा

---

१ तीरवनषु । २ प्रसारिता भूत्वा सुखातिशयेनाधो गलद्गलो यासा ता । ३ सखीनाम् । ४ धीचिबाहूना प० । ५ गंगाम् । ६ प्राप्त । ७ सैकतनितम्ब ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तामाक्रान्तहरिन्मुखां[1] कृतरजोधूतिं[2] जगत्पावनीम्
प्रासेव्यां [3]द्विजकुञ्जरैरविरतं सन्तापविच्छेदिनीम्।
जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शश्वज्जनानन्दिनीं
निध्यायन्[4] विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदत् ॥१५०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भरतराजदिग्विजयोद्योगवर्णनं नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥

है ऐसा वहांका वायु रानियोंके मार्गके परिश्रमको हरण कर रहा था ॥१४९॥ वह गङ्गा ठीक जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिके समान थी क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवकी कीर्तिने समस्त दिशाओं को व्याप्त किया है उसी प्रकार गङ्गा नदीने भी पूर्व दिशाको व्याप्त किया था, जिनेन्द्र भगवान्‌की कीर्तिने जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंका नाश किया है उसी प्रकार गङ्गा नदीने भी रज अर्थात् धूलिका नाश किया था, जिनेन्द्र भगवान्‌की कीर्ति जिस प्रकार जगत्‌को पवित्र करती है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी जगत्‌को पवित्र करती है, जिनेन्द्र भगवान्‌की कीर्ति जिस प्रकार द्विज कुंजर अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके द्वारा सेवित है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी द्विज कुंजर अर्थात् पक्षियों और हाथियोंके द्वारा सेवित है, जिनेन्द्र भगवान्‌की कीर्ति जिस प्रकार निरन्तर संसार-भ्रमण-जन्य संतापको दूर करती है उसी प्रकार गङ्गा नदी भी सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न संतापको नष्ट करती थी और जिनेन्द्र भगवान्‌की कीर्ति जिस प्रकार विस्तृत, निर्मल और सदा लोगोंको आनन्द देनेवाली है उसी प्रकार वह गङ्गा नदी भी विस्तृत, निर्मल तथा सदा लोगोंको आनन्द देती थी। इस प्रकार उस गङ्गा नदीको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरत महाराज परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे ॥१५०॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहके
हिन्दी-भाषानुवादमें भरतराजकी दिग्विजयके उद्योगका वर्णन
करनेवाला छब्बीसवां पर्व पूर्ण हुआ।

---

१ दिङ्मुखाम्। २ रजोनाशनम्। ३ पक्षिगजैः विप्रादिमुख्यैश्च। ४ अवलोकयन्।

सप्तविंशतितमं पर्व

अथ व्यापारयामास दृशं तत्र[1] विशाम्पतिः। प्रसन्ने सलिले पाद्यं वितरन्तीमिवात्मनः ॥१॥
व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः। प्राप्तावसरमित्यूचे वचश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥२॥
इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा। रजो विधुन्वती भाति भारतीव स्वयम्भुवः ॥३॥
पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरं च महानदी। प्रसूतौ[2] च प्रवेशे च गम्भीरा निर्मलाशया ॥४॥
इमां वनगजाः प्राप्य निर्वान्त्येते[3] मदच्युतः[4]। मुनीन्द्रा इव सद्विद्यां[5] गम्भीरां तापविच्छिदम् ॥५॥
इतः पिबन्ति वन्येभाः पयोऽस्याः कृतनिःस्वनाः। इतोऽमी पूरयन्त्येनां मुक्तासाराः शरद्घनाः ॥६॥
अस्याः प्रवाहमम्भोधिः धत्ते गाम्भीर्ययोगतः। [6]असोढं विजयार्धेन तुङ्गेनाप्यचलात्मना ॥७॥
अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमब्धिर्वितृड् भवेत्। क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानान्तराशयः ॥८॥
पद्मह्रदाद्धिमवतः प्रसन्नादिव मानसात्। प्रसूता पप्रथे पुण्या शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥९॥
व्योमापगामिमां प्राहुर्वियतः[7] पतितां क्षितौ। गङ्गादेवीगृहं विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥१०॥

अथानन्तर वहांपर जो स्वच्छ जलसे अपने लिये (भरतके लिये) पादोदक प्रदान करती हुई सी जान पडती थी ऐसी गङ्गा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥१॥ उस समय सारथिने महाराज भरतको गङ्गापर दृष्टि डाले हुए देखकर चित्तको प्रसन्न करनेवाले निम्नलिखित समयानुकूल वचन कहे ॥२॥ हे महाराज! यह गङ्गा नदी ठीक ऋषभदेव भगवान्‌की वाणीके समान जान पडती है, क्योंकि जिस प्रकार ऋषभदेव भगवान्‌की वाणी समस्त संसारको आनन्दित करती है उसी प्रकार यह गङ्गा नदी भी समस्त लोकको आनन्दित करती है और ऋषभदेव भगवान्‌की वाणी जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाली है उसी प्रकार यह गङ्गा नदी भी रज अर्थात् धूलिको नष्ट कर रही है ॥३॥ गंभीर तथा निर्मल जलसे भरी हुई यह गङ्गा नदी उत्पत्तिके समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और प्रवेश करते समय समुद्रको पवित्र करती है ॥४॥ जिस प्रकार गंभीर और सन्तापको नष्ट करनेवाली सद्विद्या (सम्यग्ज्ञान) को पाकर बडे बडे मुनि लोग मद अर्थात् अहंकार छोड कर मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार ये जंगली हाथी भी इस गंभीर तथा संतापको नष्ट करनेवाली गङ्गा नदीको पाकर मद अर्थात् गण्डस्थलसे झरनेवाले तोय विशेषको छोडकर शान्त हो जाते हैं ॥५॥ इधर ये वनके हाथी शब्द करते हुए इसका पानी पी रहे हैं और इधर जलकी वृष्टि करते हुए ये शरद्‌ऋतुके मेघ इसे भर रहे हैं ॥६॥ अत्यन्त ऊंचा और सदा निश्चल रहनेवाला विजयार्ध पर्वत भी जिसे धारण नहीं कर सका है ऐसे इसके प्रवाहको गम्भीर होनेसे समुद्र सदा धारण करता रहता है ॥७॥ संभव है कि अपने खारे जलसे जिसका अन्तःकरण निरन्तर जलता रहता है ऐसा समुद्र इस गङ्गा नदीके जलके प्रवाहसे अवश्य ही प्यासरहित हो जायगा ॥८॥ यह गङ्गा प्रसन्न मनके समान निर्मल हिमवान् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकल कर पृथिवीपर प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध होता है वह पूज्य होता ही है ॥९॥ यह गङ्गा अपने जलके प्रवाहसे गङ्गादेवीके घरको चारों ओरसे भिगोकर आकाश-

---

१ तत्र दृशम्। २ उत्पत्तिस्थाने। ३ सुखिनो भवन्ति मुक्ताश्च। ४ मदच्युतः स०। ५ सम्यग्ज्ञानम्। ६ [illegible]। [illegible]। ७ वियत ल०, द०, ब०।

बिभर्ति हिमवानेनां शशाङ्ककरनिर्मलाम् । आ सिन्धो प्रसृतां कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीम् ॥११॥
वनराजीद्वयेनेयं विभाति[1] तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन कृतश्रिया[2] ॥१२॥
स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनाम् । काञ्चीमिवेयमम्भोजरजःपिञ्जरविग्रहाम् ॥१३॥
नदीसखीरियं स्वच्छ[3]मृणालशकलामला । सम्बिभर्ति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशम्[4] ॥१४॥
राजहंसैरियं सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलङ्घ्यमहिमा परं ॥१५॥
वनवेदीमियं धत्ते समुत्तुङ्गां हिरण्मयीम् । आज्ञामिव तवालङ्घ्यां नभोमार्गविलङ्घिनीम् ॥१६॥
इतः प्रसीद देवेमां शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु सक्तां[6] सरित्सु सरसीषु च ॥१७॥
इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरन्ति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसवासितहरिन्मुखम् ॥१८॥
बाणैः[8] कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । ह्रियते[8] कामिनां चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥१९॥
विकसन्ति सरोजानि सरस्सु समसुत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥२०॥
पङ्कजेषु विलीयन्ते[9] भ्रमरा गन्धलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः[10] ॥२१॥
मनोजशरपुङ्खाभाः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरन्त्यब्जिनीषण्डे मकरन्दरसोत्सुकाः ॥२२॥

से अर्थात् हिमवान् पर्वतके ऊपरसे पृथिवीपर पडी है इसलिये इसे आकाशगङ्गा भी कहते हैं ॥१०॥ जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्रतक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गङ्गाको यह हिमवान् अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥११॥ यह गङ्गा अपने तटवर्ती दोनों ओरके वनोंसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो इसने नीले रंगके दो वस्त्र ही धारण कर रक्खे हों ॥१२॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर पीला पीला हो गया है और जो मनोहर शब्द कर रही हैं ऐसी हंसोंकी पङ्क्तियोंको यह नदी इस प्रकार धारण करती है मानो मन्द-मन्द शब्द करती हुई सुवर्णमय करधनी ही धारण किये हो ॥१३॥ यह नदी स्वच्छ मृणालके टुकडोंके समान निर्मल अन्य सखी स्वरूप सहायक नदियोंको अपनेमें मिलाकर धारण करती है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंकी मित्रता ही प्रशंसनीय कहलाती है ॥१४॥ अनेक राजहंस (पक्षमें बडे बडे राजा) जिसकी सेवा करते हैं, जो संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है, और जिसकी महिमा भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी यह गङ्गा आपकी राजलक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है ॥१५॥ जो अत्यन्त ऊंची है, सोनेकी बनी हुई है, आकाश-मार्गको उल्लंघन करनेवाली है और आपकी आज्ञाके समान जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी वनवेदिकाको यह गङ्गा नदी धारण कर रही है ॥१६॥ हे देव, प्रसन्न होइए और इधर वनपङ्क्तियों, नदियों और तालाबोंमें स्थान जमाये हुई शरद् ऋतुकी इस शोभाको निहारिये ॥१७॥ ये सप्तपर्ण जातिके वृक्ष अपनी सुगन्धिसे समस्त दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले सुगन्धिचूर्णके समान फूलोंकी परागको चारों ओर बिखेर रहे हैं ॥१८॥ इधर कामदेवके बाणोंके समान फूले हुए बाण जातिके वृक्षों द्वारा कामी मनुष्योंका चित्त अपहृत किया जा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि रमणीय वस्तु क्या अपहृत नहीं करती ? अथवा किसे मनोहर नहीं जान पडती ? ॥१९॥ इधर तालाबोंमें नील कमलोंके साथ साथ साधारण कमल भी विकसित हो रहे हैं और जो ऐसे जान पडते हैं मानो जिनमें नेत्र विकसित हो रहे हैं ऐसे शरद्ऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख ही हों ॥२०॥ इधर ये कुछ कुछ अव्यक्त शब्द करते हुए सुगन्धके लोभी भ्रमर कमलोंमें उस प्रकार लीन हो रहे हैं जिस प्रकार कि चाटुकारी करते हुए कामी जन स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंमें लीन-आसक्त होते हैं ॥२१॥ जो मकरन्द रसका पान

---

१ बिभर्ति स० । २ धृतश्रिया स०, द०, ट० । ३ स्वच्छमृणाल-ल० । ४ तादृशाम् स० । ५ पक्षे राजश्रेष्ठैः । ६ प्रसिद्धाम् । ७ भिण्टिभिः । ८ अपहृतम् । ९ आश्लिष्यन्ति । निलीयन्ते स० । १० अस्फुटवाचः ।

रूपिता[१] कञ्जकिञ्जल्कै आभान्त्येते मधुव्रता । सुवर्णकपिशैरङ्गै कामाग्नेरिव मुर्मुरा[२] ॥२३॥
स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसन्त्यश्चकासति । शरच्छ्रियो जिगीषन्त्या दूष्यशाला[४] इवोत्थिता ॥२४॥
स्थलाब्जशङ्किनी हसी सरस्यब्जरजस्तते । संहृत्य पक्षविक्षेप विशन्तीय निमज्जति ॥२५॥
हसोऽय निजशावाय चञ्च्वोद्धृत्य लसद्बिसम् । पीयबुद्ध्या[५] ददात्यस्मै शशाङ्ककरकोमलम् ॥२६॥
[६]कृतयत्ना प्लवन्तेऽमी राजहसा सरोजले । सरोजिनीरज कीर्णे धूतपक्षा शनै शनै ॥२७॥
चक्रवाकीं सरस्तीरे तरङ्गै स्थगितामभूम्[७] । अपश्यन्[८] करुण रौति चक्राह्व साश्रुलोचन ॥२८॥
अभ्येति वरटाशङ्की[९] धार्तराष्ट्र[१०] कृतस्वनम्[११] । सरस्तरङ्गशुभ्राङ्गीं कोकवान्तामनिच्छतीम् ॥२९॥
अनुगङ्गातट भाति साप्तपर्णमिद वनम् । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि वितानश्रियमादधत् ॥३०॥
मन्दाकिनीतरङ्गोत्थपवनोऽध्वश्रम हरन् । शनै स्पृशति [१२]नोऽङ्गानि रो[१३]धोवनविधूनन ॥३१॥
आतिथ्यमिव[१४] नस्तन्वन् हृतगङ्गाम्बुशीकर[१५] । अभ्येति[१६] पवमानोऽय वनवीथीर्विधूनयन् ॥३२॥
अगोष्पदमिद[१७] देव देवैरध्युषित वनम् । लतालयैर्विभात्यन्त[१८] कुसु[१९]मप्रस्तराञ्चितै ॥३३॥

करनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं ऐसे ये भ्रमर कामदेवके बाणोंकी मूठके समान आभावाले अपने पखोसे कमलिनियोके समूहमें जहा तहा विचरण कर रहे हैं घूम रहे हैं ॥२२॥ जिनके अगोपाग कमलकी केशरसे रूपित होनेके कारण सुवर्णके समान पीले पीले हो गये हैं ऐसे ये भ्रमर कामरूपी अग्निके स्फुलिङ्गोके समान जान पडते हैं ॥२३॥ जगह जगह पृथिवीपर फूले हुए स्थल-कमलिनियोके पेड ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाली शरदृऋतुरूपी लक्ष्मीके खडे हुए कपडेके तम्बू ही हो ॥२४॥ जो कमलोकी परागसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हसी पखोके विक्षेपको रोककर अर्थात् पख हिलाये विना ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥२५॥ यह हस चन्द्रमाकी किरणोके समान कोमल और देदीप्यमान मृणालको अपनी चोचसे उठाकर और क्षीर-सहित मक्खनके समान कोई पदार्थ समझकर अपने बच्चेके लिये दे रहा है ॥२६॥ कमलिनीके परागसे भरे हुए तालाबके जलमें ये हस धीरे धीरे पख हिलाते हुए बडे प्रयत्नसे तैर रहे हैं ॥२७॥ तालाबके तीरपर तरगोसे तिरोहित हुई चकवीको नही देखता हुआ यह हस आखोमें आसू भरकर बडी करुणाके साथ रो रहा है ॥२८॥ सभोगकी इच्छा करनेवाला यह शब्द करता हुआ हस, तालाबकी तरगोसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवी के सन्मुख जा रहा है जब कि वह चकवी इस हसकी इच्छा नही कर रही है ॥२९॥ गङ्गा नदी के किनारे किनारे यह सप्तपर्ण जातिके वृक्षोका वन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपने फूलोकी परागसे आकाशमें चदोवाकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥३०॥ मार्गकी थकावट को दूर करता हुआ और किनारेके वनोको हिलाता हुआ यह गङ्गाकी लहरोसे उठा हुआ पवन हम लोगोके शरीरको धीरे धीरे स्पर्श कर रहा है ॥३१॥ वनकी पक्तियोको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गङ्गाके जलकी बूदोसे ऐसा जान पडता है मानो हम लोगोका अतिथि-सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव, जो गायोके सचारसे रहित है अर्थात् अत्यन्त दुर्गम

१ आच्छादिता । २ कनकवत् पिङ्गलै । ३ विस्फुलिङ्गा । ४ पटकुटय । 'दूष्य वस्त्रे च तद्गृहे' । ५ सक्षीरनवनीतबुद्ध्या । ६ कृतयत्न स०, द०, इ०, अ०, प०, ल० । [illegible] स्तनिताम् आच्छादिताम् । ८ अनालोकयन् । ९ हसकान्तानि शङ्कावान् । "वरटा हसकान्ता स्यात् वरटा वरलापि च" इति वैजयन्ती । १० सितेतरचञ्चुचरणवान् हस । 'राजहसास्तु ते चञ्चुचरणै लोहितै सिता । मलिनैर्मलिनैर्धार्तराष्ट्रा सितेतरै' इत्यभिधानात् । ११ कृतस्वन द०, ब०, स० । कृतस्वनाम् अ० । १२ अस्माकम् । १३ तटवन । १४ अतिथित्वम् । १५ शीकरै स०, प०, इ० । १६ अभिमुखमागच्छति । १७ प्रमाणरहितम् । अप्रवेष्टुमशक्य वा । १८ विभात्येतत् इ०, स०, द० । १९ शयन ।

मन्दारवनवीथीनां सान्द्रच्छायां समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलास्वेते रंरम्यन्ते नभःसदः ॥३४॥
अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्भुतम् । [1]अवधूतनिजावासा [2]रिरंसन्तेऽत्र यत्सुराः ॥३५॥
मनोभवनिवेशस्य लक्ष्मीरत्र वितन्यते । सुरदम्पतिभिः स्वैरम् आरब्धरतिविभ्रमैः ॥३६॥
इयं निधुवनासक्ता[3] सुरस्त्रीरतिकोमलाः[4] । हसतीव तरङ्गोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥३७॥
इतः किन्नरसङ्गीतम् इतः सिद्धोपवीणितम् । इतो विद्याधरीनृत्तम्[6] इतस्तद्गतिविभ्रमः ॥३८॥
नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वंस्तद्गीतनिःस्वनम् । वाजिवक्त्रोऽयमुद्ग्रीवः सममास्ते स्वकान्तया ॥३९॥
[7]निष्पर्यायं वनेऽमुष्मिन् ऋतुवर्गो विवर्धते । परस्परमिव द्रष्टुम् उत्सुकायितमानसः ॥४०॥
अशोकतरुरत्रायं तनुते पुष्पमञ्जरीम् । लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणां चरणैरभिताडितः ॥४१॥
[8]पुंस्कोकिलकलालापमुखरीकृतदिङ्मुखः । चूतोऽयं मञ्जरीर्धत्ते मदनस्येव तोरिकाः[9] ॥४२॥
चम्पका विकसन्तोऽत्र[10] कुसुमर्तौ[11] वितन्वति[12] । प्रदीपानिव पुष्पौघान् दधतीमे[13] मनोभुवः ॥४३॥
सहकारेष्वमी मत्ता विरुवन्ति[14] मधुव्रताः । विजिगीषोरनङ्गस्य काहला इव पूरिताः ॥४४॥
कोकिलानकनिःस्वानं अलिज्यारवजृम्भितम् । अभिषेणयतीवात्र[15] मनोभूर्भुवनत्रयम् ॥४५॥

हैं और जो देवोंके द्वारा अधिष्ठित हैं अर्थात् जहां देव लोग आकर क्रीडा करते हैं ऐसा यह वन फूलोंके बिछौनोंसे सुशोभित इन लतागृहोंसे अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥३३॥ इधर मन्दार वृक्षोंकी वन-पंक्तियोंकी घनी छायामें बैठे हुए ये देव लोग चन्द्रकान्त मणियोंकी शिलापर बार-बार क्रीडा कर रहे हैं ॥३४॥ अहा, इस किनारेके वनकी सुन्दरता कैसी आश्चर्य-जनक है कि देव लोग भी अपने अपने निवासस्थान छोडकर यहां क्रीडा करते हैं ॥३५॥ जिन्होंने अपनी इच्छानुसार रति क्रीडा प्रारम्भ की है ऐसे देव देवांगनाओंके द्वारा यहां काम-देवके घरकी शोभा बढाई जा रही है । भावार्थ देव देवांगनाओंकी स्वच्छंद रतिक्रीडाको देखकर मालूम होता है कि मानो यह कामदेवके रहनेका घर ही हो ॥३६॥ यह गङ्गा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पडती है मानो संभोग करनेमें असमर्थ होकर दीनता भरे अस्पष्ट शब्द करनेवाली देवांगनाओंकी हंसी ही कर रही हो ॥३७॥ इधर किन्नरोंका संगीत हो रहा है, इधर सिद्ध लोग वीणा बजा रहे हैं, इधर विद्याधरियां नृत्य कर रही हैं और इधर कुछ विद्याधरियां विलासपूर्वक टहल रही हैं ॥३८॥ इधर यह किन्नर अपनी कान्ता के साथ साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ, और उनके संगीत शब्दोंको सुनता हुआ सुखसे गला ऊंचा कर बैठा है ॥३९॥ परस्परमें एक दूसरेको देखनेके लिये जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा है ऐसा ऋतुओंका समूह इस वनमें एक साथ इकट्ठा होता हुआ बढ रहा है ॥४०॥ लाखसे रंगे हुए विद्याधरियोंके चरणोंसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें पुष्प-मंजरियों को धारण कर रहा है ॥४१॥ कोकिलोंके आलापसे जिसने समस्त दिशाओंको वाचालित कर दिया है ऐसा यह आमवृक्ष कामदेवकी बाणोंकी पुतलियोंके समान पुष्प-मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥४२॥ वसन्तऋतुके फैलनेपर इस वनमें जो चम्पक जातिके वृक्ष विकसित हो रहे हैं और फूलोंके समूह धारण कर रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानो कामदेवके दीपक ही धारण कर रहे हों ॥४३॥ इधर ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्र वृक्षोंपर ऐसा शब्द कर रहे हैं मानो सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवरूपी राजाके बाजे ही बज रहे हों ॥४४॥ कोयलें

---

१ अवधाय । २ रन्तुमिच्छन्ति । ३ यस्मात् कारणात् । ४ रक्ता स०, इ० । ५ रतिरागहृता स०, द०, इ० । ६ नृत्यम् अ०, इ० । ७ युगपत् । निष्पर्याया प०, स०, द०, अ०, म० । ८ पुंस्कोकिलानामालाप स० । ९ बाणाः । तारका स० । १० विकसन्त्यत्र स०, द०, इ०, अ०, प०, म० । ११ वसन्तकाले । १२ विस्तृते सति । [illegible] । १३ दधतोऽमी म०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १४ ध्वनन्ति । १५ सेनया अभियाति । [illegible] ।

निचुल[१] सहकारेण विकसन्नत्र माधवीम्[२] । तनोति लक्ष्मीमक्षूणाम् अहो प्रावृट्श्रिया समम् ॥४६॥
माधवीस्तबकेष्वत्र माधवोऽद्य विजृम्भते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीला तन्वन् विश्वत ॥४७॥
वासन्त्यो विकसन्त्येता वसन्तर्तुस्मितश्रियम् । तन्वाना कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदा ॥४८॥
मल्लिकाविततामोदविलोलीकृतषट्पद । पादपेषु पद धत्ते शुचि[३] पुष्पशुचिस्मित[४] ॥४९॥
कदम्बामोदसुरभि केतकीधूलिधूसर[५] । तापात्ययानिलो[६] देव नित्यमत्र विजृम्भते ॥५०॥
माद्यन्ति कोकिला शश्वत् सममत्र शिखण्डिभि । कलहसीकलस्वानै सम्मूर्छित[७]विकूजिता ॥५१॥
कूजन्ति कोकिला मत्ता केकायन्ते[८] कलापिन । उभयस्यास्य वर्गस्य हसा [१०]प्रत्यालपन्त्यमी ॥५२॥
इतोऽमी किन्नरीगीतम् अनुकूजन्ति[११] षट्पदा । सिद्धोपवीणितान्येष निह्नुतेऽन्यभृतस्वन ॥५३॥
जितनूपुरझङ्कारम् इतो हसविकूजितम् । इतश्च खेचरीनृत्यम् अनुनृत्यच्छिखावलम्[१२] ॥५४॥
इतश्च सैकतोत्सङ्गे सुप्तान् हसान् सशावकान् । प्रात प्रबोधयत्युच्चै[१३] खेचरीनूपुरारव ॥५५॥
इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहरा । चन्द्रकान्तशिलागर्भा सुरैर्भोग्या लतालया ॥५६॥

के मधुर शब्दरूपी नगाडो और भ्रमरोकी गुजार रूप प्रत्यचाकी टकार ध्वनिसे यहा ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव तीनो लोकोको जीतनेके लिये सेना सहित चढाई ही कर रहा हो ॥४५॥ अहा, कैसा आश्चर्य है कि आमवृक्षके साथ साथ फूलता हुआ यह निचुल जातिका वृक्ष इस वनमें वर्षाऋतुकी शोभाके साथ साथ वसन्त ऋतुकी भारी शोभा बढा रहा है ॥४६॥ इधर इस वनमें चारो ओरसे वन-लक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा बढानेवाले माधवीलता के गुच्छोपर आज वसन्त बडी वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥४७॥ जो अपने विकाससे वसन्त ऋतुके हास्यकी शोभा बढा रही है और जो फूलोकी सुगन्धिसे भ्रमरोको व्याकुल कर रही है ऐसी ये वसन्तमें विकसित होनेवाली माधवीलताए विकसित हो रही है फूल रही है ॥४८॥ जिसने मालतीकी फैली हुई सुगन्धिसे भ्रमरोको चचल कर दिया है और फूल ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्मऋतु वृक्षोंपर पैर रख रहा है अपना स्थान जमा रहा है ॥४९॥ हे देव, कदम्ब पुष्पोकी सुगन्धिसे सुगन्धित तथा केतकीकी धूलिसे धूसर हुआ यह वर्षाऋतु का वायु इस वनमें सदा बहता रहता है ॥५०॥ इस वनमें मयूरोके साथ साथ कोयल सदा उन्मत्त रहते है और कल-हसियो (बदको) के मनोहर शब्दोंके साथ अपना शब्द मिलाकर बोलते है ॥५१॥ इधर उन्मत्त कोकिलाए कुहू कुहू कर रही है, मयूर केका वाणी कर रहे है और ये हस इन दोनोके शब्दोकी प्रतिध्वनि कर रहे है ॥५२॥ इधर ये भ्रमर किन्नरियोंके द्वारा गाये हुए गीतोंका अनुकरण कर रहे है और इधर यह कोयल सिद्धोके द्वारा बजाई हुई वीणाके शब्दोको छिपा रहा है ॥५३॥ इधर नूपुरोंकी झकारको जीतता हुआ हसोका शब्द हो रहा है, और इधर जिसका अनुकरण कर मयूर नाच रहे है ऐसा विद्याधरियोका नृत्य हो रहा है ॥५४॥ इधर बालूके टीलोंकी गोदमें अपने बच्चो सहित सोये हुए हसोको प्रात कालके समय यह विद्याधरियोंके नूपुरोका ऊचा शब्द जगा रहा है ॥५५॥ इधर जो बहुतसे फूलोसे बनाई हुई शय्याओंसे मनोहर जान पडते है, जिनके मध्यमें चन्द्रकान्त मणियोकी शिलाए पडी

---

१ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जलोऽम्बुज' इत्यभिधानात् । २ वसन्ते भवाम् । 'अतिमुक्त पुण्ड्रक स्याद् वासन्ती माधवी लता' इत्यभिधानात् । एतानि पुण्ड्रादीनि वसन्तकाले बाहुल्येन जायमानत्वात् नामानि । ३ मल्लिकाविततामोदविलोलीकृतषट्पद । 'स्याद् पुष्पस्तम्ब स्तम्ब' इत्यभिधानात् । ४ ग्रीष्म । ५ पुष्पाण्येव शुचिस्मित यस्य स । ६ ईषत्पाण्डु । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसर' इत्यभिधानात् । ७ वर्षाकालवायु । ८ मिश्रित । ९ केका कुर्वन्ति । १० प्रत्युत्तरं कुर्वन्ति । ११ अनुकारं कुर्वन्ति । १२ अनुगतं नृत्यत् शिखावलो यस्य । १३-मुच्चै प० ।

इतीदं वनमत्यन्तरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनयेत् स्वःसदां[1] सदा ॥५७॥
बहिस्तटवनादेतद् दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भि[2]रतिदुर्गमम् ॥५८॥
दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदम्बकम् । नानाजातीयमुद्भ्रान्तं सैन्यक्षोभात् प्रधावति ॥५९॥
इदमस्मद्बलक्षोभाद् उत्त्रस्तमृगसङ्कुलम् । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यन्धकारितम् ॥६०॥
गजयूथमितः [3]कच्छाद् अन्धकारमिवाभितः । विश्लिष्टं[4] बलसङ्क्षोभाद् अपसर्पत्यतिद्रुतम् ॥६१॥
शनैः प्रयाति सञ्जिघ्रन्[5] दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । स महाहिरिवाद्रीन्द्रो नगोऽयं गजयूथपः ॥६२॥
महाहिरयमायामं मिमान[6] इव भूरुहाम् । श्वसन्नायच्छने[7] कच्छाद् ऊर्ध्वीकृतशरीरकः ॥६३॥
[8]शयुपोता निकुञ्जेषु[9] पुञ्जीभूता श्वसन्त्यमी । [10]वनस्यैवान्त्रसन्तानाः चमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥६४॥
अयमेकचरः[11] पोत्रसमुत्खातान्तिकस्थलः[12] । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥६५॥
सैनिकैः पर्यवष्टब्धः[13] पाषाणलकुटादिभिः । व्याकुलीकुरुते[14] सैन्यं गण्डो[15] गण्ड[16] इव स्फुटम् ॥६६॥
प्राणा इव वनादस्माद् विनिष्क्रामन्ति सन्तताः । सिंहा बहुदवज्वाला[17] धुन्वानाः केसरच्छटाः ॥६७॥

हुई है और जो देवोंके उपभोग करने योग्य हैं ऐसे लतागृह बने हुए हैं ॥५६॥ इस प्रकार यह वन अत्यन्त रमणीय सामग्रीसे देवोंके सदा नन्दन वनकी प्रीतिको उत्पन्न करता रहता है ॥५७॥

इधर किनारेके वनके बाहर भी एक बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है जो कि अनेक प्रकारके वृक्षों, लताओं, छोटे छोटे पौधों और झाड़ियोंसे अत्यन्त दुर्गम है ॥५८॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे घवड़ाया हुआ यह अनेक जातिके मृगों का समूह बड़े जोरसे दौड़ा जा रहा है ॥५९॥ जो हमारी सेनाके क्षोभसे भयभीत हुए हरिणों से व्याप्त है तथा जिसमें जीवोंके प्राण आकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अन्धकारसे व्याप्त हुए के समान जान पड़ता है ॥६०॥ इधर सेनाके क्षोभसे अलग अलग हुआ यह हाथियोंका झुण्ड गङ्गा किनारेके जलवाले प्रदेशसे अन्धकारके समान चारों ओर बड़े वेगसे भागा जा रहा है ॥६१॥ हाथियोंके झुण्डकी रक्षा करनेवाला यह भद्र गजराज सूंडको ऊंचा उठाता हुआ तथा दिशाओंको सूंघता हुआ धीरे धीरे ऐसा जा रहा है मानो शेषनाग सहित सुमेरु पर्वत ही जा रहा हो ॥६२॥ जिसने अपने शरीरके ऊर्ध्वभागको ऊंचा उठा रक्खा है ऐसा यह बड़ा भारी सर्प जलवाले प्रदेशसे सांस लेता हुआ इस प्रकार आ रहा है मानो वृक्षोंकी लम्बाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥६३॥ इधर इन लतागृहोंमें इकट्ठे हुए ये अजगरके बच्चे इस प्रकार श्वास ले रहे हैं मानो सेनाके क्षोभसे वनकी अंतड़ियोंके समूह ही निकल आये हों ॥६४॥ जो अकेला ही फिरा करता है, जिसने अपनी नाकसे समीपके स्थल खोद डाले हैं, और जो अत्यन्त क्रोधी है ऐसा यह शूकर सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥६५॥ सेनाके लोगोंने जिसे पत्थर लकड़ी आदिसे रोक रक्खा है ऐसा यह गंड अर्थात् छोटे पर्वतके समान दिखनेवाला गेंडा हाथी स्पष्ट रूपसे सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥६६॥ जो दावानलकी ज्वालाके समान पीले और विस्तृत गर्दनपरके बालोंके समूहोंको हिला रहे हैं ऐसे ये सिंह इस वनसे इस प्रकार

---

१ नाकिनाम् । २ प्रतानिनीसनाभिः । 'लता प्रतानिनी वीरुत् गुल्मिन्युलप इत्यपि' इत्यभिधानात् । ३ बहुजलप्रदेशात् । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः ।' इत्यभिधानात् । ४ विभक्तम् । ५ आघ्राणयन् । ६ प्रमितिं कुर्वन्निव । ७ दीर्घनिवृत्ति । समुच्चः स्वोंगे चाजा." इत्यात्मनेपदी । —गाणभर्गी स०, इ० । ८ अजगरशिशवः । ९ निकुञ्जेऽस्मिन् ल०, द०, इ० । १० पुरीतत् । ११ एकाकी । १२ मुखाग्र । 'मुखाग्रे क्रोडहलयो पोत्रम्' इत्यभिधानात् । 'पोत्रप्योऽङ्गनोऽमुखे मट्' इति सूत्रेण [illegible] । १३ वेष्टितः । १४ आकुली—स० । १५ गड्डर्गालुगः । १६ गण्डशैल इव । १७ दावाग्निज्वालापुञ्जपीता ।

गुग्गुलूना[1] वनादेष महिषो घनकर्बुर । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रानि भीषण ॥६८॥
ललद्वालधयो[2] लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणा । व्याला[3] बलस्य सङ्क्षोभम् अमी तन्वन्त्यनाकुला[4] ॥६९॥
शरभ[5] ख समुत्पत्य पतन्नुत्तानितोऽपि[6] सन् । नैव दु खासिका वेद[7] चरणै पृष्ठवर्तिभि ॥७०॥
चमरोऽय[8] [9]चमूरोधाद् विद्रुतो[10] द्रुतमुत्पतन् । क्षोभ तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपीव[11] दुर्धर ॥७१॥
शश शशन्नय[12] देव सैनिकैरननुद्रुत[13] । शरणायेव भीतात्मा म[14]ध्येसैन्यं निलीयते[15] ॥७२॥
सारङ्गोऽय तनुच्छायाकल्माषितवन[16] शनै । प्रयाति शृङ्गभारेण शाखिनेव प्रशुष्यता ॥७३॥
दक्षिणेर्मर्मतया[17] विष्वगभिधावन्त्यपीक्षिता[18] । प्रजानुपालन न्याय्य तवाचष्टे मृगप्रजा[19] ॥७४॥
कलापी बर्हभारेण मन्द मन्द व्रजत्यसौ । केशपाशश्रिय तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहै ॥७५॥
नेत्रावलीमिवातन्वन् वनभूम्या सचन्द्रकै । कलापिनामय सङ्घो विभात्यस्मिन् वनस्थले ॥७६॥
सङ्क्रीडता[20] रथाङ्गाना स्वनमाकर्णयन् मुहु । हरिणानामिद यूथ नापसर्पति वर्त्मन[21] ॥७७॥

निकल रहे हैं मानो उसके प्राण ही निकल रहे हो ॥६७॥ जो मेघके समान कर्बुर वर्ण है, जिसके सींगका अग्रभाग यमराजकी दाढके समान है तथा जो अत्यन्त भयकर है ऐसा यह भैंसा इस गुगुलके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूछ हिल रही है, जिह्वा चचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे हैं ऐसे ये सिंह आदि क्रूर जीव स्वय व्याकुल न होकर ही सेनाका क्षोभ बढ़ा रहे हैं ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमें उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोसे यह दु खका अनुभव नही करता। भावार्थ अष्टापद नामका एक जगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पाव होते हैं। जब कभी वह आकाशमें छलाग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नही होता क्योकि वह अपने पीठपरके पैरोसे सभलकर खडा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहकारके समान है, दुर्जय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी जल्दी छलाग मारता हुआ इधर-उधर दौड रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड रहा है, यद्यपि सैनिकोने इसका पीछा नही किया है तथापि यह डरपोक होनेसे इधर-उधर दौडकर शरण ढूढनेके लिये आपकी सेनाके बीचमें ही यही छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओंवाले सीगोंके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिये, दाहिनी ओर घाव लगनेसे जो चारो ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभा को बढ़ा रहा है ऐसा यह मयूर पूछके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूछपरके चन्द्रकोसे वनकी पृथिवी रूपी स्त्रीके नेत्रोके समूहकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिये, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार बार सुनता हुआ यह हरिणोका समूह मार्ग

---

१ कौशिकानाम्। 'कुम्भारसरस' क्लीबे कौशिको गुग्गुलु पुर' इत्यभिधानात्। २ चलत्। ३ दुष्टमृगा। ४ निर्भीता। ५ अष्टापद। ६ ऊर्ध्वमुखचरणा भूत्वा। ७ जानाति। ८ व्याघ्र। ९ सैन्यनिरोधन। १० धावमान। ११ रूपी च स०। १२ 'शश प्लुतगतो उत्प्लुत्य गच्छन्। १३ अनुगत। १४ सैन्यमध्ये। १५ अन्तर्हितो भवति। विलीयते अ०, द०। १६ शबलित। १७ दक्षिणमर्मतया इतस्तत। 'दक्षिण स्थाने विष्वगभिधावत् प्रवीक्षताम्। प्रजानुपालन न्याय्य तवाचष्टे मृगप्रजा॥ म०। १८ सैनिकैरवलोकिता। १९ मृगसमूह। २० क्रीडतां धूर्तानाम्। कीडोद्धृत इति वा पूर्वार्धे कर्तृकर्मणा सह रथाङ्गानामिति। २१ वर्त्मन स०। द्रुत अ०।

हरिणीप्रे[1]क्षितेष्वेता पश्यन्ति सकुतूहलम्। स्वां नेत्रशोभा कामिन्यो बर्हिबर्हेषु मूर्धजान् ॥७८॥
इत्यनाकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतम्। वनमालक्ष्यते विश्वग् असम्बाधमृगद्विजम्[2] ॥७९॥
ज[3]रठोऽप्यातपो नायम् इहास्मान् देव बाधते। वने महातरुच्छाया नैरन्तर्यानुबन्धिनि ॥८०॥
इमे वनद्रुमा भान्ति सान्द्रच्छाया मनोरमा। त्वद्भक्त्यै[4] वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिता ॥८१॥
सरस्य स्वच्छसलिला धारितोष्णास्तटद्रुमैः। स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा[5] भान्ति क्लमच्छिद ॥८२॥
बहुबा[6]णासनाकीर्णमिदं ख[7]ड्गिभिराततम्। सहा[8]स्तिकमपर्यन्तं वनं युष्मद्बलायते ॥८३॥
इत्थं वनस्य सामृद्ध्यं निरूपयति सारथौ। वनभूमिमतीयाय सम्राडविदितान्तराम्[9] ॥८४॥
तदाश्वीयखुरोद्घाताद् उत्थिता वनरेणव। दिशां मुखेषु संलग्ना तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥
सादिनां[10] वारबाणानि[11] धूतान्यपि[12] सितांशुकैः। [13]काषायाणीव जातानि ततानि वनरेणुभिः ॥८६॥
वनरेणुभिरालग्नैः जडीभूतानि योषितः। स्तनांशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमालसाः ॥८७॥
कुम्भस्थलेषु संसक्ता करिणामध्वरेणव। सिन्दूरश्रियमातेनुः [14]धातुभूमिसमुत्थिता ॥८८॥

से एक ओर नहीं हट रहा है ॥७७॥ ये स्त्रियां हरिणियोंके नेत्रोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही हैं और हरिणोंकी पछोंमें अपने केशोंकी शोभा निहार रही हैं ॥७८॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक दूसरेको बाधा किये बिना ही निवास कर रहे हैं ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोंके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बड़े बड़े वृक्षोंकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमें रहनेवाले हम लोगोंको यह तीव्र घाम कुछ भी बाधा नहीं कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छाया वाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो वनलक्ष्मीने आपकी भक्ति (सेवा) करनेके लिये मण्डप ही लगा रक्खे हों ॥८१॥ किनारे परके वृक्षोंसे जिनकी सब गर्मी दूर कर दी गई है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे छोटे तालाब ऐसे मालूम होते हैं मानो वनलक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापित की हो ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेना के समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुतसे बाणासन अर्थात् धनुषोंसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार आप की सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोंसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गेंडा हाथियोंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोंके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोंके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नहीं दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समृद्धिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाईका पता भी नहीं चला ॥८४॥ उस समय घोड़ोंके समूहके खुरों के आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुड़सवारोंके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो कषाय रंगसे रंगे हुए ही हों ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसाती हुई स्त्रियां वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढकनेवाले वस्त्रों को बड़ी कठिनाईसे धारण कर रही थीं ॥८७॥ गेरू रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

---

१ लोचनेषु। २ पक्षी। ३ प्रवृद्धः। ४ तव भजनाय। ५ पानीयशालिका। 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात्। ६ किण्डि सर्जक, पक्षे चाप। ७ गण्डमृगैः पक्षे आयुधिकैः। ८ उभयत्रापि गजसमूहम्। ९ अज्ञातान्तरमवधिर्यस्मिन्नत्ययकर्मणि। १० अश्वारोहकाणाम्। 'अश्वारोहस्तु सादिनः' इत्यभिधानात्। ११ कञ्चुकाः। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यभिधानात्। १२ उज्ज्वलानि। १३ कषायरञ्जितानि। १४ गैरिक।

गुग्गुलूनां[1] वनादेष महिषो घनकर्बुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रानि भीषणः ॥६८॥
चलद्वालधयो[2] लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला[3] बलस्य सङ्क्षोभम् अमी तन्वन्त्यनाकुलाः[4] ॥६९॥
शरभः[5] खं समुत्पत्य पतन्नुत्तानितोऽपि[6] सन् । नैष दुःखासिकां वेद[7] चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥७०॥
चमरोऽयं[8] 'चमूरोधाद् विद्रुतो[9] द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपीव[11] दुर्धरः ॥७१॥
शशः शशप्लवं[12] देव सैनिकैरननुद्रुतः[13] । शरणायेव भीतात्मा म[14]ध्येसैन्यं निलीयते[15] ॥७२॥
सारङ्गोऽयं तनुच्छायाकल्माषितवनः[16] शनैः । प्रयाति शृङ्गभारेण शाखिनेव प्रशुष्यता ॥७३॥
दक्षिणेर्मतया[17] विष्वगभिधावन्त्यपीक्षिता[18] । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगप्रजा[19] ॥७४॥
कलापी बर्हभारेण मन्दं मन्दं व्रजत्यसौ । केशपाशश्रियं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहैः ॥७५॥
नेत्रावलीमिवातन्वन् वनभूम्याः सचन्द्रकैः । कलापिनामयं सङ्घो विभात्यस्मिन् वनस्थले ॥७६॥
सचकितं[20] रथाङ्गानां स्वनमाकर्णयन् मुहुः । हरिणानामिदं यूथं नापसर्पति वर्त्मनः[21] ॥७७॥

निकल रहे हैं मानो उसके प्राण ही निकल रहे हों ॥६७॥ जो मेघके समान कर्बुर वर्ण है, जिसके सींगका अग्रभाग यमराजकी दाढके समान है तथा जो अत्यन्त भयंकर है ऐसा यह भैंसा इस गुगुलके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूछ हिल रही है, जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे हैं ऐसे ये सिंह आदि क्रूर जीव स्वयं व्याकुल न होकर ही सेना का क्षोभ बढ़ा रहे हैं ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमें उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोंसे यह दुःखका अनुभव नहीं करता। भावार्थ अष्टापद नामका एक जंगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पांव होते हैं। जब कभी वह आकाश में छलांग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता क्योंकि वह अपने पीठपरके पैरोंसे सँभलकर खड़ा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहंकारके समान है, दुर्जेय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी जल्दी छलांग मारता हुआ इधर-उधर दौड़ रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड रहा है, यद्यपि सैनिकोंने इसका पीछा नहीं किया है तथापि यह डरपोंक होनेसे इधर-उधर दौड़कर शरण ढूंढनेके लिये आपकी सेनाके बीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओंवाले सींगोंके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिये, दाहिनी ओर घाव लगनेसे जो चारों ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोंका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोंका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूछके द्वारा वनलक्ष्मी के केशपाशकी शोभा को बढा रहा है ऐसा यह मयूर पूछके भारसे धीरे धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोंका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूछ परके चन्द्रकोंसे वनकी पृथिवी रूपी स्त्रीके नेत्रोंके समूह की शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिये, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार बार सुनता हुआ यह हरिणोंका समूह मार्ग

---

१ कौशिकानाम् । 'कुम्भोलूखलकं क्लीबे कौशिको गुग्गुलुः पुरः' इत्यभिधानात् । २ चलत् । ३ दुष्टमृगाः । ४ निर्भीताः । ५ अष्टापदः । ६ ऊर्ध्वमुखचरणो भूत्वा । ७ जानाति । ८ व्यापृः । ९ सेनानिरोधात् । १० धावमानः । ११ रूपी च स० । १२ 'शश प्लुतगतौ' उत्प्लुत्य गच्छन् । १३ अननुगतः । १४ सैन्यमध्ये । १५ अन्तर्हितो भवति । विलीयते अ०, इ० । १६ शबलित । १७ दक्षिणभागे कृतव्रणतया । 'दक्षिणे र्मतया विष्वगभिधावन् प्रवीक्षताम् । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगव्रज ॥' प० । १८ सैनिकैरपरीक्षिता । १९ मृगसमूहः । २० चीत्कारं कुर्वताम् । चीत्कोऽस्त्री इति अच्चार्थे तद्विधानात् कृतार्थे तत्कर्मार्थः । २१ वर्त्मन स० । दूरम अ० ।

हरिणीप्रे[1]क्षितेष्वेता पश्यन्ति सकुतूहलम् । स्वां नेत्रशोभां कामिन्यो बर्हिबर्हेषु[2] मूर्धजान् ॥७८॥
इत्यनाकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतम् । वनमालक्ष्यते विश्वक् प्रसन्नाथमनुद्विजम् ॥७९॥
जरठो[3]ऽप्यातपो नायम् इहास्मान् देव बाधते । वने महानहच्छाये नैरन्तर्यानुबन्धिनि ॥८०॥
इमे वनद्रुमा भान्ति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वदुपास्त्यै[4] वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिताः ॥८१॥
सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा[5] भान्ति क्लमच्छिदः ॥८२॥
बहुबा[6]णासनाकीर्णमिदं ख[7]ड्गिभिराततम् । सहा[8]स्तिकमपर्यन्तं वनं युष्मद्बलायते ॥८३॥
इत्थं वनस्य सामृद्ध्यं निरूपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय सम्राडविदितान्तराम्[9] ॥८४॥
सदाश्वीयखुरोद्घातादुत्थिता वनरेणवः । दिशां मुखेषु संलग्नास्तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥
सादिनां[10] वारबाणानि[11] स्यूतान्यपि[12] सितांशुकैः । [13]कषायाणीव जातानि घनानि वनरेणुभिः ॥८६॥
वनरेणुभिरालग्नैः जटीभूतानि योषिताम् । स्तनांशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमालसाः ॥८७॥
कुम्भस्थलेषु संसक्ता करिणामध्वरेणवः । सिन्दूरश्रियमातेनुः [14]धातुभूमिसमुत्थिताः ॥८८॥

से एक ओर नहीं हट रहा है ॥७७॥ ये स्त्रियां हरिणियोंके नेत्रोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही हैं और हरिणोंकी पक्षोंमें अपने केशोंकी शोभा निहार रही हैं ॥७८॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक दूसरेको बाधा किये बिना ही निवास कर रहे हैं ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोंके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बड़े बड़े वृक्षोंकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमें रहनेवाले हम लोगोंको यह तीव्र घाम कुछ भी बाधा नहीं कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छाया वाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो वनलक्ष्मीने आपकी भक्ति (सेवा) करनेके लिये मण्डप ही लगा रक्खे हों ॥८१॥ किनारे परके वृक्षोंसे जिनकी सब गर्मी दूर कर दी गई है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे छोटे तालाब ऐसे मालूम होते हैं मानो वनलक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापित की हो ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेनाके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुतसे बाणासन अर्थात् धनुषोंसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार आपकी सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोंसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गेंडा हाथियोंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोंके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोंके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नहीं दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समृद्धिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाईका पता भी नहीं चला ॥८४॥ उस समय घोड़ोंके समूहके खुरोंके आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुड़सवारोंके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो कषाय रंगसे रंगे हुए ही हों ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसाती हुई स्त्रियां वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढकनेवाले वस्त्रों को बड़ी कठिनाईसे धारण कर रही थीं ॥८७॥ गेरू रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

---

१ लोचनेषु । २ पक्षी । ३ प्रवृद्धः । ४ तव सेवनाय । ५ पानीयशालिका । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । ६ लिङ्ग अर्जुन, पक्षे चापः । ७ खड्गमृगैः, पक्षे आयुधिभिः । ८ [illegible] गजसमूहम् । ९ अज्ञातान्तरमवधि यस्मिन् [illegible] कर्मणि । १० अश्ववाराहाणाम् । 'अश्ववारास्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ११ कञ्चुकाः । 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । १२ स्यूतानि । १३ कषायरञ्जितानि । १४ गैरिक ।

ततो [1]मध्यन्दिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रमंशुमान्। विजिगीषुरिवारूढप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥८९॥
सरस्तीरतरुच्छायाम् आश्रयन्ति स्म पत्रिणः[2]। शरदातपसन्तापात् सङ्कुचत्पत्र[3]सम्पदः ॥९०॥
हंसाः कलमषण्डेषु पुञ्जीभूतान् स्वशावकान्। पक्षैराच्छादयामासुः असोढजरठातपान् ॥९१॥
वन्याः स्तम्बेरमा भेजुः सरसीरवगाहितुम्। मदस्रुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥९२॥
शाखाभङ्गैः[4] कृतच्छायाः प्रयान्तो गजयूथपाः। [5]शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥९३॥
यूथं वनवराहाणाम् उपर्युपरि पुञ्जितम्। तदा प्रविश्य [6]वेशन्तम् अधिशिश्ये सकर्दमम् ॥९४॥
मृणालैरङ्गमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे। प्रविष्टाः शरणायेव शशाङ्ककरपञ्जरम् ॥९५॥
चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततम्। सर्वाङ्गलग्नमुष्णां[7]शु विनीलमिव कञ्चुकम् ॥९६॥
पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽब्जिनीवने। राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मज्जनम् ॥९७॥
बिसभङ्गैः कृताहारा मृणालैरवगुण्ठिताः[8]। बिसिनीपत्रतल्पेषु शिश्यिरे हंसशावकाः ॥९८॥
इति शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे। पुलिनेषु प्रतप्तेषु न हंसा धृतिमादधुः ॥९९॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंमें लग कर सिन्दूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥८८॥ तदनन्तर मध्याह्नका समय निकट आनेपर सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान होने लगा। उस समय वह सूर्य किसी विजिगीषु राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा प्रताप (प्रभाव) धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रताप (प्रकृष्ट गर्मी) धारण कर रहा था और जिस प्रकार विजिगीषु राजाका मण्डल (स्वदेश) शुद्ध अर्थात् आन्तरिक उपद्रवोंसे रहित होता है उसी प्रकार सूर्यका मण्डल (बिम्ब) भी मेघ आदिका आवरण न होनेसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) था ॥८९॥ शरद् ऋतुके घामके संतापसे जिनके पंखोंकी शोभा संकुचित हो गई है ऐसे पक्षी सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेने लगे ॥९०॥ जो मध्याह्नकी गर्मी सहन करनेमें असमर्थ है और इसीलिये जो कमलोंके समूहमें आकर इकट्ठे हुए हैं ऐसे अपने बच्चोंको हंस पक्षी अपने पंखोंसे ढँकने लगे ॥९१॥ मदका प्रवाह गर्म हो जानेसे जिन्हें भ्रमरोंके समूहने छोड़ दिया है ऐसे जंगली हाथी अवगाहन करनेके लिये सरोवरोंकी ओर जाने लगे ॥९२॥ सूर्यकी किरणोंसे पीडित हुए हाथी वृक्षोंकी डालियां तोड़ तोड़कर अपने ऊपर छाया करते हुए जा रहे थे और उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो शाखाओंका उद्धार ही कर रहे हों ॥९३॥ उस समय जंगली शूकरोंका समूह कीचड़ सहित छोटे छोटे तालावोंमें प्रवेश कर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे हो शयन कर रहे थे ॥९४॥ अपने शरीरको मृणालके तन्तुओंसे लपेटकर बैठे हुए हंस ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अपनी रक्षा करनेके लिये चन्द्रमाकी किरणोंसे बने हुए पिंजड़ेमें ही घुस गये हों ॥९५॥ जो उष्णता सहन करनेमें असमर्थ हैं ऐसे किसी तरुण चकवाने अपने सर्व शरीरमें लगे हुए, मोटे मोटे तथा विस्तृत शेवालको धारण कर रक्खा था और उससे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीले रंगका कुरता ही धारण कर रहा हो ॥९६॥ जिसने कमलिनियोंके वनमें सफेद कमलरूप छत्रसे छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस मध्याह्नके समय अपनी हंसियोंके साथ जलमें गोते लगा रहा था ॥९७॥ जिन्होंने मृणालके टुकड़ोंका आहार किया है और मृणालके तन्तुओंसे ही जिनका शरीर ढका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलिनीके पत्ररूपी शय्या पर सो रहे थे ॥९८॥ इस प्रकार शरद्ऋतुका घाम तीव्र संताप फैला रहा

---

१ मध्याह्नकाले। २ पक्षिणः म०। ३ पक्ष। ४ शाखाखण्डैः। ५ पल्लवानि गृहीत्वा आगच्छताम्। ६ पल्वलम्। अल्पसरः इत्यर्थः। 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इत्यभिधानात्। ७ उष्णमसहमानः। 'नाडीव्रणवारणश्च ताम्' ८ आच्छादिताः।

मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तताप तरणिर्भुवम् । नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकम् ॥१००॥
स्वेदबिन्दुभिराबद्धजालकानि[1] नृपस्त्रियः । वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवाम्बुशीकरैः ॥१०१॥
नृपवल्लभिकावक्त्रपङ्कजेष्वपुषच्छ्रियम् । घर्मबिन्दूद्गमो निर्यल्लावण्यरसपूरवत् ॥१०२॥
गलद्घर्माम्बुबिन्दूनि मुखानि नृपयोषिताम् । अवश्यायततानीव[2] राजीवानि विरेजिरे ॥१०३॥
नृपाङ्गनामुखाब्जानि घर्मबिन्दुभिराबभुः । मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥१०४॥
रथवाहा[3] रथानूहुः आयस्ता[4] फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिग्मांशौ समेऽपि[5] प्रस्खलत्खुराः ॥१०५॥
ह्रस्ववृत्तखुरास्तुङ्गा तनुस्निग्धतनूरुहाः । पृथ्वासना[6] महावाहाः प्रययुर्वायुरंहसः[7] ॥१०६॥
महाजवजुषो वक्त्राद् उद्वमन्त खुरानिव । महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा[8] द्रुतं जग्मुर्महाहयाः ॥१०७॥
समुच्छ्रितपुरोभागा शुद्धावर्ता[9] मनोजवाः । अपर्याप्तेषु[10] मार्गेषु द्रुतमीयुस्तुरङ्गमाः ॥१०८॥
मेधासत्त्वजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । गर्हमाणा[11] इव स्प्रष्टुं महीमश्वा द्रुतं ययुः ॥१०९॥
अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगितं[12] ययुः । सोपानत्कं[13] पदं स्थाणुकण्टकोपललङ्घनम् ॥११०॥

था और उससे तपे हुए नदियोंके किनारोंपर हंसोंको संतोष नहीं हो रहा था ॥९९॥ उस समय सूर्य यद्यपि मध्यस्थ था, आकाशके बीचोबीच स्थित था, पक्षपात रहित था तथापि वह पृथिवीको बहुत ही संतप्त कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र प्रतापी पदार्थोंका मध्यस्थ रहना भी संताप करनेवाला होता है ॥१००॥ जिस प्रकार कमलिनियां (कमलकी लताएं) जलकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती हैं उसी प्रकार महाराज भरतकी स्त्रियां पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंका जाल-सा बन रहा है ऐसे अपने मुख धारण कर रही थीं ॥१०१॥ रानियोंके मुख-कमलोंपर जो पसीनेकी बूंदें उठी हुई थीं वे निकलते हुए सौन्दर्य रूपी रसके प्रवाहके समान शोभाको पुष्ट कर रही थीं ॥१०२॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रही हैं ऐसे रानियोंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हुए कमल ही हों ॥१०३॥ जिन पसीनेकी बूंदोंसे रानियोंके मुख-कमल सुशोभित हो रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो केशपाशको अलंकृत करनेवाले मोती ही पिघल पिघलकर तरल रूप हो गये हों ॥१०४॥ उस समय सूर्य बड़ी तेजीके साथ तप रहा था इसलिये जो घोड़े रथोंको ले जा रहे थे उनके मुख परिश्रमसे खुल गये थे, उनमें फेन निकल आया था और उनके खुर समान जमीनपर भी स्खलित होने लगे थे ॥१०५॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने रोम हैं, जो बहुत ऊंचे हैं, जिनका आसन अर्थात् पीठ बहुत बड़ी है, और जिनका वेग वायुके समान है ऐसे बड़े बड़े उत्तम घोड़े भी जल्दी जल्दी दौड़े जा रहे थे ॥१०६॥ जो तीव्र वेगसे सहित हैं, जो अपने आगेके खुरोंको मुखसे उगलते हुएके समान जान पड़ते हैं, जिनका वक्षःस्थल बड़ा है और जिनकी नाकके नथने कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे बड़े बड़े घोड़े जल्दी जल्दी जा रहे थे ॥१०७॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊंचा है, जिनके शरीरपरके भंवर अत्यन्त शुद्ध हैं, और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़े उस छोटेसे मार्गमें बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१०८॥ जो बुद्धि-बल और वेगसे सहित हैं, विनयवान् हैं तथा सुन्दर गमनके धारक हैं ऐसे घोड़े पृथिवीको (रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त—पक्षमें—रजोधर्मसे युक्त समझ) उसके स्पर्श करनेमें घृणा करते हुए ही मानो बड़े वेगसे जा रहे थे ॥१०९॥ पैदल चलनेवाले

---

१ जालसमूहानि । जालकानि वा । २ प्रालेय । 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम् । प्रालेयं मिहिका च' इत्यभिधानात् । ३ रथाश्वाः । ४ उत्तान्ताः ।—रायस्ते इत्यपि पाठः । ५ समानभूतलेऽपि । ६ पृथुलपृष्ठभागाः । ७ वायुवेगाः । ८ घोणाः । ९ दक्षिणभ्रमणशुभावर्ताः । १० असम्पूर्णेषु सत्सु । ११ कुत्समानाः । १२ वेगवद् यथा भवति तथा । १३ सपादत्राणं ।

शाक्तिकाः[1] सह याष्टीकैः[2] प्रासिकाः[3] धन्विभिः समम्। नैस्त्रिंशिकाश्च[4] तेऽन्योन्यं स्पर्धयेव ययुर्द्रुतम् ॥१११॥
पुरः प्रधाविते[5] प्रेङ्खद्वारबाणाः[6] प्रपल्ल्या। जातपक्षा इवोड्डीय भटा जग्मुरतिद्रुतम् ॥११२॥
प्रयात धावतापेत मार्गं मा रुध्वमग्रतः। इत्युच्चैर्बल्गरव्ध्वाना [8]पौरस्त्यानत्यगुर्भटाः ॥११३॥
इतोऽपसर्पतास्वीयाद् इतो धावत हास्तिकात्। इतो रथादपस्रस्ता दूरं नश्यत नश्यत ॥११४॥
अमुष्माज्जनसङ्घट्टाद् उत्थापयत डिम्भकान्[9]। इतो [10]हस्त्युरसादश्वान् अपसारयत द्रुतम् ॥११५॥
इतः [11]प्रस्थानमारुध्य स्थितोऽयं घातुको गजः। मध्येऽध्व[12] [13]प्राजितुर्दोषात् [14]पर्यस्तोऽयमितो रथः ॥११६॥
[15]क्रमेलकोऽयमुद्भ्रान्त[16] प्रतीपं[17] पथि धावति। उत्सृष्टभारो लम्बोष्ठो जनानिव विडम्बयन् ॥११७॥
विस्रस्तां वेसरादेनां पतन्तीमवरोधिकाम्। सन्धारयन् प्रपातेऽस्मिन्[18] सौविदल्लः[19] पतत्ययम् ॥११८॥
यवीयानेष[20] पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः। पातितोऽप्यश्वसङ्घट्टैः नात्मानं वेद[21] शून्यधीः ॥११९॥
[22]हरिद्रारञ्जितश्मश्रुः कज्जलाङ्कितलोचनः। [23]कुट्टिनीमनुयन्नेव[24] प्रवयास्तरुणायते[25] ॥१२०॥
इति प्रयाणसञ्जल्पं अज्ञाताध्वपरिश्रमाः। सैनिकाः शिबिरं प्रापन् सेनान्याः प्राङ्निवेशितम् ॥१२१॥

सैनिक जूता पहने हुए पैरोसे ठूठ, काटे तथा पत्थर आदिको लाघते हुए घोडे और रथोसे भी जल्दी जा रहे थे ॥११०॥ शक्ति नामके हथियारको धारण करनेवाले लट्ठ धारण करनेवालो के साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए ही मानो बडी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१११॥ आगे आगे दौडनेसे जिनके कवचके अग्र भाग कुछ कुछ हिल रहे है ऐसे योद्धा लोग इतनी जल्दी जा रहे थे मानो पख उत्पन्न होनेसे वे उडे ही जा रहे हो ॥११२॥ चलो, दौडो, हटो, आगेका मार्ग मत रोको इस प्रकार जोर जोरसे बोलनेवाले योद्धा लोग अपने सामनेके लोगोको हटा रहे थे ॥११३॥ अरे, इन घोडोके समूहसे एक ओर हटो, इन हाथियोके समूहसे भागो, और बिचले हुए इन रथोसे भी दूर भाग जाओ ॥११४॥ अरे, इन बच्चोको लोगोकी इस भीडसे उठाओ और इन हाथियोके आगेसे घोडोको भी शीघ्र हटाओ ॥११५॥ इधर यह दुष्ट हाथी रास्ता रोककर खडा हुआ है और इधर यह रथ सारथिकी गलतीसे मार्गके बीचमें ही उलट गया है ॥११६॥ इधर देखो, जिसने अपना भार पटक दिया है जिसके लबे ओठ है और जो बहुत घबडा गया है ऐसा यह ऊट मार्गमें इस प्रकार उल्टा दौडा जा रहा है मानो लोगोकी विडम्बना ही करना चाहता हो ॥११७॥ इधर इस ऊँची जमीनपर घबडाये हुए खच्चरपरसे गिरती हुई अन्त पुरकी स्त्रीको कोई कचुकी बीचमें ही धारण कर रहा है परन्तु ऐसा करता हुआ वह स्वय गिर रहा है ॥११८॥ यह तरुण पुरुष वेश्याका मुख देखनेसे आश्चर्य-चकित होता हुआ घोडेके धक्केसे गिर गया है, परन्तु वह मूर्ख 'मै' गिर गया हू इस तरह अब भी अपने आपको नही जान रहा है ॥११९॥ जिसने अपने बाल खिजाबसे काले कर लिये है, जिसकी आखोमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनीके पीछे पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढा ठीक तरुण पुरुषके समान आचरण कर रहा है ॥१२०॥ इस प्रकार चलते समयकी बात

---

१ शक्तिः प्रहरणं येषां ते शाक्तिकाः। २ यष्टिहेतिकैः। ३ कौन्तिकाः। ४ असिहेतिकाः। ५ प्रधावने। ६ चलत्कञ्चुकाः। ७ पुरोगामिनः। ८ भो विगतभयाः। ९ बालकान्। डिम्भवान् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स०। १० हस्तिमुख्यात्। ११ गमनम्। -प्रयान- स०। १२ मार्गमध्ये। १३ सारथेः। 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः।' इत्यभिधानात्। १४ उत्तानितः। १५ उष्ट्रः। १६ भीतिं गतः। १७ प्रतिकूलम्। अभिमुखमित्यर्थः। १८ प्रपातस्तु तटो भृगुः। १९ कञ्चुकी। २० युवा। २१ जानाति। २२ पीतप्रतीकाशार्थं प्रयुक्तौषधविशेषरञ्जितः। २३ शम्भलीम्। 'कुट्टिनी शम्भली समे' इत्यभिधानात्। २४ अनुगच्छन्। २५ वृद्धः। 'प्रवया स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यभिधानात्।

ततोऽवरोधनवधूमुखच्छायाविलङ्घिनि । मध्यन्दिनातपे[1] सम्राट् सम्प्राप शिबिरान्तकम् ॥१२२॥
छत्ररत्नकृतच्छायो दिव्यं रथमधिष्ठितः । न तदातपसम्बाधां विदामास[2] विशाम्पतिः ॥१२३॥
वर्षीयोभिरयासन्नैः[3] प्रारब्धसु[4]खसङ्कथः । प्रयातमपि[5] नाध्वानं विवेद भरताधिपः ॥१२४॥
नोदघात[6] कोऽप्यभूदङ्गे रथाङ्गपरिवर्तनैः[7] । रथवेगेऽपि नास्याभूत् क्लेशो[8] दिव्यानुभावतः ॥१२५॥
रथवेगानिलोद्वस्तं[9] व्यायत तद्ध्वजांशुकम् । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत्[10] ॥१२६॥
रथोद्धतगतिक्षोभाद् उद्भूताङ्गपरिश्रमाः । कथं कथमपि प्रापन् रथिनोऽन्ये रथं प्रभोः ॥१२७॥
समध्वशेषमध्वन्यैः[11] तुरङ्गैरत्यवाहयन्[12] । सादिनः प्रभुणा सार्धं शिबिरं प्रविविक्षवः[13] ॥१२८॥
दूराद्दूष्यकुटीर्भेजान् उत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः[14] सौधशोभापहासिनः ॥१२९॥
रौप्यदण्डेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥१३०॥
किमेतानि स्थलाब्जानि हंसयूथान्यमूनि वा । इत्याशङ्कय स्थूलाग्राणि[15] दूराद्ददृशिरे जनैः ॥१३१॥
सामन्तानां निवेशेषु कायमानानि[16] नैकधा[17] । निवेशितानि विन्यासैः निदध्यौ[18] प्रभुरप्रतः ॥१३२॥
परितः कायमानानि वीक्ष्य कण्टकिनीर्वृतीः । निष्कण्टके निजे राज्ये मेने तानेव कण्टकान् ॥१३३॥

चीतसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नही हुआ है ऐसे सैनिक लोग सेनापतिके द्वारा पहले से ही तैयार किये हुए शिविर अर्थात् ठहरनेके स्थानपर जा पहुचे ॥१२१॥ तदनन्तर जब मध्याह्नका सूर्य अन्त पुरकी स्त्रियोके मुखकी कान्तिको मलिन कर रहा था तब सम्राट् भरत शिविरके समीप पहुचे ॥१२२॥ जिनपर छत्ररत्नके द्वारा छाया की जा रही है और जो देवनिर्मित सुन्दर रथपर बैठे हुए है ऐसे महाराज भरतको उस दोपहरके समय भी गर्मीका कुछ भी दुख मालूम नही हुआ था ॥१२३॥ जिन्होने समीपमें चलनेवाले वृद्ध जनोके साथ साथ अनेक प्रकारकी कथाए प्रारम्भ की है ऐसे भरतेश्वरको बीते हुए मार्गका भी पता नही चला था ॥१२४॥ दिव्य सामर्थ्य होनेके कारण रथके पहियोकी चालसे उनके शरीरमें कुछ भी उद्घात (दचका) नही लगा था और न रथका तीव्र वेग होनेपर भी उनके शरीरमें कुछ क्लेश हुआ था ॥१२५॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुए वायुसे ऊपरकी ओर फहराता हुआ उनकी ध्वजा का लम्बा वस्त्र ऐसा जान पडता था मानो पीछे आनेवाली सेनाके लिये मार्ग ही सूचित कर रहा हो ॥१२६॥ रथकी उद्धत गतिके क्षोभसे जिनके अग अगमें पीडा उत्पन्न हो रही है ऐसे रथ पर सवार हुए अन्य राजा लोग बडी कठिनाईसे महाराज भरतके रथके समीप पहुच सके थे ॥१२७॥ जो घुडसवार लोग महाराज भरतके साथ ही शिविरमें प्रवेश करना चाहते थे उन्होने बचे हुए मार्गको अपने उन्ही चलते हुए श्रेष्ठ घोडोसे बडी शीघ्रताके साथ तय किया था ॥१२८॥ जो राजभवनोकी शोभाकी ओर भी हँस रहे है ऐसे शिविरके चारो ओर खडे किये हुए रावटी तम्बू आदि डेराओको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥१२९॥ उन्होने चादीके खमोपर खडे किये हुए बहुत बडे बडे कपडेके उन मण्डपोको भी देखा था जो कि सज्जन पुरुषो के समान लोगोका सताप दूर कर रहे थे ॥१३०॥ क्या ये स्थलकमल है अथवा हसोंके समूह है इस प्रकार आशका कर लोग दूरसे ही उन तम्बुओके अग्रभागोको देख रहे थे ॥१३१॥ सामन्त लोगोकी ठहरनेकी जगहपर अनेक प्रकारकी रचना कर जो तम्बू वगैरह बनाये गये थे उन्हें भी महाराज भरतने सामनेसे देखा था ॥१३२॥ तम्बुओके चारो ओर जो कटीली

१ दिनाधिपे ट० । मध्याह्नसूर्ये । २ विविदे । ३ कुलवृद्धादिभि । ४ मुख स० । ५ अतिदूर गमन् । ६ पीडा । ७ रथचक्रभ्रमणै । ८ क्लम ट० । श्रम । ९ उद्धतम् । १० अदर्शयत । ११ अध्वनि गामुभि । १२ अतिक्रम्य प्रापन् । १३ प्रवेष्टुमिच्छव । १४ सेनारचनाया समन्तात् । १५ पटकुटयग्राणि । 'दूष्य स्थूल पटकुटीगुणलयनिर्येणिका तुल्या' इति वैजयन्ती । १६ कुटीभेदा । १७ नानाप्रकार । १८ ददर्श ।

तरुशाखाप्रससक्तपर्याणादि[1]परिच्छदान् । [2]स्कन्धावाराद् बहिः कांश्चिद् आवासान् प्रभुरैक्षत ॥१३४॥
[3]बहिर्निवेशमित्यादीन् विशेषान् स विलोकयन् । प्रवेशे शिबिरस्यास्य महाद्वारमथासदत् ॥१३५॥
तदतीत्य समं सैन्यैः सगच्छन् किञ्चिदन्तरम् । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद वणिक्पथम् ॥१३६॥
कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनम् । वणिग्भिरूढरत्नार्घं[4] स जगाहे वणिक्पथम् ॥१३७॥
प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशीन्निधीनिव । पश्यन् मेने निधीयत्ता[5] प्रसिद्ध्यैव तथास्थिताम्[6] ॥१३८॥
समौक्तिकं स्फुरद्रत्नं जनतोत्कलिकाकुलम्[7] । रथा वणिक्पथाम्भोधिं पोता इव ललङ्घिरे ॥१३९॥
चलदश्वीयकल्लोलैः स्फुरन्निस्त्रिंशरोहितैः[8] । राजमार्गोऽम्बुधेर्लीलां महेभमकरैरधात् ॥१४०॥
राजन्यकेन सद्धं समन्तादनुपालयम् । सदासौ विपणीमार्गं सत्यं राजपथोऽभवत् ॥१४१॥
ततः पर्यन्तविन्यस्तरत्नभासुरतोरणम् । रथकट्या[9] परिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदम् ॥१४२॥
आरुध्यमानमश्वीयैः हास्तिकेनातिदुर्गमम् । बहुनागवनं[10] जुष्टं[11] कलभैश्च करेणुभिः ॥१४३॥
छत्रषण्डकृतच्छायं महोद्यानमिव क्वचित् । क्वचित्सामन्तमण्डल्या रचितास्थानमण्डलम् ॥१४४॥

वाडिया बनाई गई थी उन्हे देखकर महाराज भरतने अपने निष्कण्टक राज्यमें ये ही कांटे हैं ऐसा माना था । भावार्थ–भरतके राज्यमें वाडीके कांटे छोडकर और कोई कांटे अर्थात् शत्रु नही थे ॥१३३॥ जहांपर वृक्षोकी डालियोके अग्र भागपर घोडोके पलान आदि अनेक वस्तुए टगी हुई है और जो शिविरके बाहिर बने हुए है ऐसे कितने ही डेरे महाराज भरतने देखे ॥१३४॥ इस प्रकार शिविरके बाहर बनी हुई अनेक प्रकारकी विशेष वस्तुओको देखते हुए महाराज शिविरमें प्रवेश करनेके लिये उसके बडे दरवाजेपर जा पहुचे ॥१३५॥ बडे दरवाजेको उल्लघन कर सैनिकोके साथ कुछ दूर और गये तथा जिसमे समुद्रके समान गभीर शब्द हो रहे है ऐसे बाजारमें वे जा पहुचे ॥१३६॥ जिसकी बहुत अच्छी सजावट की गई है जिसमें तोरण बधे हुए है, अनेक प्रकारकी ध्वजाए फहरा रही है और व्यापारी लोग जिसमें रत्नो का अर्घ लेकर खडे हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥१३७॥ वहांपर प्रत्येक दुकानपर निधियोके समान रत्नोकी राशि देखते हुए महाराज भरतने माना था कि निधियो की सख्या प्रसिद्धि मात्रसे ही निश्चित की गई है । भावार्थ–प्रत्येक दूकानपर रत्नोकी राशिया देखकर उन्होने इस बातका निश्चय किया था कि निधियोकी सख्या नौ है यह प्रसिद्धि मात्र है, वास्तवमें वे असख्यात है ॥१३८॥ जो मोतियोसे सहित है जिसमें अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे है और जो मनुष्योके समूहरूपी लहरोसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्र को रथोने जहाजके समान पार किया था ॥१३९॥ उस समय वह राजमार्ग चलते हुए घोडो के समुदायरूपी लहरोसे, चमकती हुई तलवाररूपी मछलियोसे और बडे बडे हाथीरूपी मगरो से ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥१४०॥ उस समय वह बाजारका रास्ता महाराज के नम्र तथा चारो ओरसे अनेक राजकुमारोसे भरा हुआ था इसलिये वास्तवमें राजमार्ग हो रहा था ॥१४१॥ तदनन्तर जिसके समीप ही रत्नोके देदीप्यमान तोरण लग रहे है, घेरकर खडे हुए रथोके समूहसे जिसकी बाहरकी शोभा बढ रही है–जो घोडोके समूहसे भरा हुआ है, हाथियोके समूहसे जिसके भीतर जाना कठिन है, जो हाथियोकी बडी भारी सेनासे सुशोभित है, हाथियोंके बच्चे और हथिनियोसे भी भरा हुआ है । अनेक छत्रोंके समूहकी छाया होनेसे

---

१ पल्ययनादिपरिच्छदवान् । २ शिबिरात् । ३ कटकाद् बहिः । ४ धृतरत्नार्घम् । ५ प्रमाणम् । ६ सर्वनिधिकथनं मिथ्यैव । तथास्थितान् म० । ७ नरसमूहम् । ८ मत्स्यविशेषैः । ९ रथसमूहपरिवेष्टनेन कृतबाह्यपरिच्छदम् । १० ईषदगम्यमानगजवनम् । भाण्डागारसदृशमिति यावत् । ११ सेवितम् ।

प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिः अपर्यन्तैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैः तटमाविर्भवद्ध्वनि ॥१४५॥
जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालकम् । कृतमङ्गलनिर्घोषं वाग्देव्येव कृतास्पदम् ॥१४६॥
चिरानुभूतमप्येवम् अपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपाङ्गणं पश्यन् किमप्यासीत् सविस्मयः ॥१४७॥
निधयो यस्य पर्यन्ते मध्ये रत्नान्यनन्तशः । महत् शिबिरस्यास्य विशेषं कोऽनुवर्णयेत् ॥१४८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं श्रीमान्निति विश्वतः स्वशिबिरं लक्ष्म्या निवासायितं
पश्यन्प्राप्तधृतिर्विलङ्घ्य विशिखा[१] स्वर्गापहासिश्रियः ।
सम्भ्राम्यत्प्रतिहारपद्धजनतासम्बाधमुक्तेतनं
प्राविक्षत् कृतसन्निवेशमचिरादात्मालयं श्रीपतिः[२] ॥१४९॥
तत्राविष्कृतमङ्गले सुरसरिद्वीचीमुषा वायुना
सम्मृष्टाङ्गणवेदिके विकिरता सापच्छिदः शीकरान् ।
शस्ते वास्तुनि[३] विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते
लक्ष्मीवान् सुखमावसन्निधिपतिः प्राचीं[४] दिशं निर्जयन् ॥१५०॥

जो कहींपर किसी बड़े भारी बगीचाके समान जान पड़ता है और कहीं अनेक राजाओंकी मण्डलीसे युक्त होनेके कारण सभामण्डपके समान मालूम होता है, जो प्रवेश करते हुए और बाहर निकलते हुए अनेक कर्मचारियोंसे लहरोंसे शब्द करते हुए किसी महासागरके किनारेके समान जान पड़ता है। जहांपर बड़े बड़े द्वारपाल लोग मनुष्योंकी भीड़को दूर हटानेमें लगे हुए हैं, जहां अनेक प्रकारके मंगलमय शब्द हो रहे हैं और इसीलिये जो ऐसा जान पड़ता है मानो सरस्वती देवीने ही उसमें अपना निवास कर रखा हो तथा जो चिरकालसे अनुभूत होनेपर भी अपनी अनोखी शोभासे अपूर्वके समान मालूम हो रहा है ऐसे राजभवनके आंगनको देखते हुए महाराज भरत भी कुछ कुछ आश्चर्यचकित हो गये थे ॥१४२–१४७॥ जिसके चारों ओर निधियां रक्खी हुई हैं और बीचमें अनेक प्रकारके रत्न रखे हुए हैं ऐसे उस बड़े भारी शिविर की विशेषताका कौन वर्णन कर सकता है ॥१४८॥ इस प्रकार लक्ष्मीके निवासस्थानके समान सुशोभित अपने शिविरको चारों ओरसे देखते हुए जो अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे हैं ऐसे लक्ष्मीपति श्रीमान् भरतने, चारों ओर दौड़ते हुए द्वारपालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीड़ का उपद्रव दूर किया जा रहा है, जिसपर अनेक पताकाएं फहरा रही हैं, और जिसमें अनेक प्रकारकी रचना की गई है ऐसे अपने तम्बूमें शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१४९॥ जिसमें मंगल-द्रव्य रखे हुए हैं, गङ्गा नदीकी लहरोंसे उत्पन्न हुए तथा सन्तापको दूर करनेवाले जलकी बूंदोंको बरसाते हुए वायुसे जिसके आंगनकी वेदी साफ की गई है, जो प्रशंसनीय है, विस्तृत है तथा स्थपति (शिलावट) रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र खड़ा किया गया है, बनाया गया है ऐसे तम्बूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले, निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतने सुखपूर्वक निवास किया

---

१ रथ्या । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । २ विहितसम्यग्रचनम् । ३ भरतेश्वरः । ४ सम्मार्जित । ५ गृहे । ६ पूर्वाम् ।

रात्रावाश्वसयेषु शान्तजनताक्षोभेषु पीताम्भसाम्
अश्वाना पटमण्डपेषु निवहे स्वैरं तृणग्रासिनि ।
गङ्गानीरसरोवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके
जिष्णोस्तत्कटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥१५१॥
तत्रासीनमुपायनैः फलधनैः कन्याप्रदानादिभि
प्राच्या मण्डलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः[1] ।
सद्द्वा[2] प्रविहाय मानमपरे [3]प्राणंसिषुश्चक्रिणं
दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदयं[4] नाकिनः ॥१५२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
भरतराजविजयप्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥

अष्टाविंशतितमं पर्व

अथान्येद्युर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः ॥१॥
अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्तपरचक्रपराक्रमम् । दण्डश्च दण्डितारातिः द्वयमस्य पुरोऽभवत् ॥२॥
रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः । जयाङ्गमिदमेवास्य द्वयं शेषः परिच्छदः ॥३॥
विजयार्धं प्रतिस्पर्धिवर्ष्माणं नागहस्तिनम् । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥
प्राचीं दिशमथो जेतुम् आपयोधेस्समुद्यतम् । नूनं स्वैरमव्याजाद् ऊहे विजयपर्वतः ॥५॥
सुरेभं शरदभ्राभम् आरूढो जयकुञ्जरम् । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं सुरराडिव ॥६॥
सितातपत्रमस्योच्चैः विभृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव तद्व्याजजृम्भितम् ॥७॥
लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समन्ततः । व्यधूयतास्य विध्वस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥
जयद्विरदमारूढो ज्वलद्भिरस्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणाम् अगमत् स शरव्यताम् ॥९॥
महामुकुटबद्धानां सहस्राणि समन्ततः । तमनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ॥१०॥

अथानन्तर—दूसरे दिन सवेरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएं कर चुके हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूहके पराक्रमको नष्ट करनेवाला तथा स्वयं दूसरोंके द्वारा उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोंके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोंके द्वारा रक्षित था। वास्तवमें चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, शेष सामग्री तो केवल शोभाके लिये थी ॥३॥ अबकी बार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयार्ध पर्वतके साथ स्पर्धा कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीने छलसे विजयार्ध पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरद् ऋतुके बादलोंके समान सफेद और देवोंके द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेश्वरके ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके बहानेसे यशकी उत्पत्तिका स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरद्ऋतुकी चांदनीके समान सन्तापको नष्ट करनेवाली चमरोंकी पंक्ति महाराज भरतके चारों ओर ढुराई जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथी पर आरूढ हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोंसे देदीप्यमान होनेवाले भरतेश्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोंके लक्ष्य बन रहे थे। भावार्थ—उनकी ओर विजयलक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुटबद्ध बड़े बड़े राजा लोग चारों ओर भरत महाराजके पीछे पीछे चल रहे थे ॥१०॥

---

१ अनुगमनात्। २ अभिभवः। परराष्ट्रं वा। ३ परिकरः। ४ परिकरः। ५ विजयार्धगिरिणा स्पर्धमानदेहम्। ६ पूज्यगजम्। ७ ननु स०। ८ धरति स्म। ९ विजयगिरिः। १० शुभ्रच्छत्रम्। ११ ऐरावतम्। १२ शक्रवत्। १३ लक्ष्यताम्। 'लक्ष्यं लक्षं शरव्यं च' इत्यभिधानात्। १४ [illegible]।

राजावासवसथेषु शान्तजनताक्षोभेषु पीताम्भसाम्
अश्वानां पटमण्डपेषु नियहे स्वैरं तृणग्रासिनि ।
गङ्गातीरसरोवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके
जिष्णोस्तत्कटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥१५१॥
तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः
प्राच्या मण्डलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः[1] ।
सरुद्धाः[2] प्रविहाय मानमपरे [3]प्राणंसिषुश्चक्रिणं
दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदय[4] नाकिनः ॥१५२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
भरतराजविजयप्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥

॥१५०॥ जिस समय राजाओके तम्बुओमें मनुष्योंकी भीड़का क्षोभ शान्त हो गया था, घोडो के समूह जल पीकर कपडेके बने हुए मण्डपोंमें अपने इच्छानुसार घास खाने लगे थे, और हाथियो के समूह गङ्गा नदीके किनारेके सरोवरोंमें अवगाहन कराकर—स्नान कराकर-वनोमें बांध दिये गये थे उस समय विजयी महाराज भरतकी वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो चिर कालसे ही वहा रह रही हो ॥१५१॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ महिमाको धारण करनेवाले तथा समवसरण सभामें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी देव लोग आराधना करते है उसी प्रकार श्रेष्ठ वैभवको धारण करनेवाले तथा उस मण्डपमें बैठे हुए महाराज भरतको पूर्वदिशाके राजाओने अपनी कुल-परम्परासे आया हुआ धन भेंटमें देकर, कन्याए प्रदान कर तथा और भी अनेक योग्य वस्तुए देकर उनकी आराधना-सेवा की थी । इसी प्रकार उनकी सेनाके द्वारा रोके हुए अन्य कितने ही राजाओंने अहंकार छोड़कर दूरसे ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्तीके लिये प्रणाम किया था ॥१५२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसग्रहके
भाषानुवादमें भरतराजका राजाओकी विजयके लिये प्रयाण करना
इस बातका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवा पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ सेनाभि । २ परिवृता । ३ नमस्कुर्वन्ति स्म । ४ प्रचुराभ्युदयम् ।

अष्टाविंशतितमं पर्व

अथान्येद्युर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः[1] ॥१॥
अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्तपरचक्र[2]पराक्रमम् । दण्डश्च दण्डितारातिः द्वयमस्य[3] पुरोऽभवत् ॥२॥
रक्ष्यं देवसहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः । जयाङ्गमिदमेवास्य द्वयं शेषः परिच्छदः[4] ॥३॥
विजयार्ध[5]प्रतिस्पर्धिवर्ष्माणं यागहस्तिनम्[6] । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥
प्राचीं दिशमथो जेतुम् आपयोधेः समुद्यतम् । नूनं[7] स्तम्बेरमव्याजाद् ऊहे[8] विजयपर्वतः[9] ॥५॥
सुरेभं[10] शरदभ्राभम् आरूढो जयकुञ्जरम् । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभे[11] सुरराडिव ॥६॥
सितातपत्रमस्योच्चैः विधृतं विधुमावधे । यशसां प्रसवागारमिव [12]सद्व्याजजृम्भितम् ॥७॥
लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समन्ततः । व्यधूयतास्य विध्वस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥
जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणाम् अगमत् स शरव्यताम्[13] ॥९॥
महामुकुटबद्धानां सहस्राणि[14] समन्ततः । समनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ॥१०॥

अथानन्तर–दूसरे दिन सबेरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूहके पराक्रमको नष्ट करनेवाला तथा स्वयं दूसरोंके द्वारा उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोंके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोंके द्वारा रक्षित था। वास्तवमें चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, शेष सामग्री तो केवल शोभाके लिये थी ॥३॥ अबकी बार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयार्ध पर्वतके साथ स्पर्धा कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीके छलसे विजयार्ध पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरद् ऋतुके बादलोंके समान सफेद और देवोंके द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेश्वरके ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके बहानेसे यशकी उत्पत्तिका स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरद्ऋतुकी चाँदनीके समान सतापको नष्ट करनेवाली चमरोंकी पंक्ति महाराज भरतके चारों ओर ढुलाई जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथी पर आरूढ़ हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोंसे देदीप्यमान होनेवाले भरतेश्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोंके लक्ष्य बन रहे थे। भावार्थ–उनकी ओर विजयलक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुटबद्ध बड़े बड़े राजा लोग चारों ओर भरत महाराजके पीछे पीछे चल रहे थे ॥१०॥

---

१ अनुगमनात् । २ अरिनिकर । परराष्ट्र वा । ३ चरित । ४ परिकर । ५ विजयार्धगिरिणा स्पर्धमानदेहम् । ६ पूज्योत्तमगजम् । ७ ननु त० । ८ धरति स्म । ९ विजयार्धगिरिः । १० शुभ्रम् । ११ ऐरावतम् । १२ छत्रव्याज । १३ लक्ष्यताम् । 'लक्ष्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यभिधानात् । १४ अनुगमिताः इत्यर्थः ।

दूरमद्य प्रयातव्यं निवेष्टव्यमुपार्णवम्[1] । 'त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठपन् ॥११॥
त्वर्यतां प्रस्थितो देवो दवीयश्च[3] प्रयाणकम् । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचुक्षुभत् ॥१२॥
अद्यासिन्धु[4] प्रयातव्यं गङ्गाद्वारे निवेशनम् । 'संसाध्यो मागधोऽद्यैव विलङ्घ्य पयसां निधिम् ॥१३॥
समुद्रमद्य पश्यामः समुद्गच्छत्तरङ्गकम्[6] । [7]समुद्रं लङ्घतेऽद्यैव समुद्रं[8] शासनं विभोः ॥१४॥
अन्योन्यस्येति सञ्जल्पैःसम्प्रास्थिषत[9] सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानःतदोद्यन् द्या[10]मधिध्वनत्[11] ॥१५॥
ततः प्रचलिता सेना सानुगङ्गं धृतायतिः । मिमानेव तदायामं पप्रथे प्रथितध्वनिः ॥१६॥
सचामरा चलद्धंसा सबलाका[12] पताकिनी[13] । अन्वियाय चमूर्गङ्गां सतुरङ्गा तरङ्गिणीम्[14] ॥१७॥
राजहंसैः कृताध्यासा क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । चमूरब्धिं प्रति प्रायात्[15] सा द्वितीयेव जाह्नवी ॥१८॥
[16]विपरीतामतद्वृत्तिः[17] निम्नगा[18]मुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥१९॥

'आज बहुत दूर जाना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिये जल्दी करो' इस प्रकार सेनापति लोग सैनिकोंको जल्दी जल्दी उठा रहे थे ॥११॥ 'अरे जल्दी करो, महाराज प्रस्थान कर गये, और आजका पड़ाव बहुत दूर है' इस प्रकार सेनापतियोंके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥१२॥ 'आज समुद्र तक चलना है, गङ्गाके द्वारपर ठहरना है और आज ही समुद्रको उल्लंघन कर मागधदेवको वश करना है ॥१३॥ आज हम लोग, जिसमें ऊंची ऊंची लहरें उठ रही हैं ऐसे समुद्रको देखेंगे और आज ही समुद्रको उल्लंघन करनेके लिये महाराजकी मुहर सहित आज्ञा है' ॥१४॥ इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए सैनिकोंने प्रस्थान किया, उस समय प्रयाण-कालमें बजनेवाले नगाड़ोंके उठे हुए शब्दने आकाशको शब्दायमान कर दिया था ॥१५॥ तदनन्तर, जिसका शब्द सब ओर फैल रहा है ऐसी वह सेना गङ्गा नदीके किनारे किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी मानो उसकी लम्बाईका नाप करती हुई ही चल रही हो ॥१६॥ उस समय वह सेना ठीक गङ्गा नदीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा नदीमें हंस चलते हैं उसी प्रकार उस सेनामें चमर ढुलाये जा रहे थे, जिस प्रकार गङ्गा नदीमें बगुला उड़ा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें ध्वजाएं फहराई जा रही थीं और जिस प्रकार गङ्गा नदीमें अनेक तरङ्ग उठा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें अनेक घोड़े उछल रहे थे ॥१७॥ वह सेना समुद्रकी ओर इस प्रकार जा रही थी मानो दूसरी गङ्गा नदी ही जा रही हो क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा नदीमें राजहंस निवास करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ राजा लोग निवास कर रहे थे और जिस प्रकार गङ्गा नदीकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती उसी प्रकार उस सेनाकी गति भी कहीं स्खलित नहीं हो रही थी ॥१८॥ अथवा उस सेनाने गङ्गा नदीको जीत लिया था क्योंकि गङ्गा नदी विपरीत अर्थात् उल्टी प्रवृत्ति करनेवाली थी (पक्षमें वि-परीत –पक्षियोंसे व्याप्त थी) परन्तु सेना विपरीत नहीं थी अर्थात् सदा चक्रवर्तीके आज्ञानुसार ही काम करती थी, गङ्गा नदी निम्नगा अर्थात् नीच पुरुषको प्राप्त होनेवाली थी (पक्षमें ढालू स्थानकी ओर बहनेवाली थी) परन्तु सेना उसके विरुद्ध उन्नतगा अर्थात् उन्नत पुरुष–चक्रवर्तीको प्राप्त होनेवाली थी और इसी प्रकार गङ्गा त्रिमार्गगा अर्थात् तीन मार्गोंसे गमन करनेवाली थी (पक्षमें त्रिमार्गगा, यह गंगाका एक नाम है) परन्तु

१ अर्णवसमीपे । २ वेगं कुरुध्वम् । ३ दूरतरम् । ४ आ समुद्रम् । ५ साधनीय । संसाध्यो द०, अ०, द०, म० । ६ उत्पतत्तरङ्गाविकम् । ७ समुद्रलङ्घनेऽद्यैव स०, द०, इ० । ८ मुद्रया सहितम् । ९ सम्भूयप्रस्थितवन्तः । १० नभः । ११ ध्वनिमकार्षीत् । १२ बिसकण्ठिकासहितम् । १३ सपताकावती । १४ तरङ्गवतीम् । १५ अगच्छत् । १६ पक्षिभिः निम्नगाम् । प्रतिकूलगामिनि ध्वनि । १७ विपरीतवृत्तिरहितेत्यर्थः । १८ नीचपुरुषगामिनि ध्वनि ।

अनुगङ्गातटं यान्ती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वनरेणुभिराकीर्णं सम्ममार्जेव खाङ्गणम् ॥२०॥
दुर्विगाहा महाग्राहा[1] सैन्यान्युत्तेरुरन्तरे । गङ्गानुगा [2]धुनीर्बह्वी बहुराजकुलस्थिती[3] ॥२१॥
मार्गे [4]बहुविधान् देशान् सरितः पर्वतानपि । [5]धनधीन् वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात् प्रभुः ॥२२॥
अगोष्पदेष्वरण्येषु[6] दृशं व्यापारयन् विभुः । भूमिच्छिद्र[7]पिधानाय क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥२३॥
पथि प्रणेमुरागत्य सम्भ्रान्ता मण्डलाधिपाः । दण्डोपनतवृत्तस्य[8] विषयोऽयमिति[9] प्रभुम् ॥२४॥
स[10] चक्रं धेहि[11] राजेन्द्र सपुर[12] प्राज[13] सारथे । सञ्जल्प इति नास्यासीद् प्रयत्नावनतद्विषः ॥२५॥
प्रतियोद्धुमशक्तास्ते [14]प्रधनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् समौलिभिरताडयन् ॥२६॥
[15]विभुत्वमरिचक्रेषु भूपरागानुरञ्जनम्[16] । स्वचक्र इव सोऽधत्त महता चित्रमीहितम् ॥२७॥

सेना अनेक मार्गोंसे गमन करनेवाली थी ॥१९॥ गङ्गा नदीके किनारे किनारे जाती हुई वह सेना अपनी फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुए आकाशरूपी आँगनको ध्वजाओंके वस्त्रोंसे साफ ही कर रही हो ॥२०॥ महाराज भरतकी सेनाओंने उत्तरकी ओर बहनेवाली तथा आनेवाली जिन अन्य अनेक नदियों और सेनाओंको पार किया था वे परस्परमें एक दूसरेके अनुरूप थी अर्थात् नदियां सेनाओंके समान थी और सेनाएं नदियोंके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार नदियां दुर्विगाह्य अर्थात् कठिनतासे प्रवेश करने योग्य होती है उसी प्रकार सेनाएँ भी कठिनतासे प्रवेश करने योग्य होती है, जिस प्रकार नदियां महाग्राह अर्थात् बड़े बड़े मगरमच्छोंसे सहित होती हैं उसी प्रकार सेनाएं भी महाग्राह अर्थात् बड़े भारी आग्रहसे सहित होती हैं, और जिस प्रकार नदियां बहुराज कुलस्थिति अर्थात् (बहुराज कुल स्थिति) अनेक राजाओंकी पृथिवीको ग्रहण करनेवाली स्थितिसे सहित होती हैं उसी प्रकार सेनाएं भी बहुराज कुलस्थिति अर्थात् अनेक राजवंशोंकी स्थितिसे सहित होती हैं ॥२१॥ धनवान् महाराज भरत मार्गमें पड़ते हुए अनेक देश, नदियां, पर्वत, वन, किले और खान आदि सबको उल्लंघन करते हुए आगे चले जा रहे थे ॥२२॥ गाय आदि जानवरोंके संचारसे रहित वनोंमें दृष्टि डालते हुए भरतेश्वर ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथिवीके छिद्रों राजा जिसे दण्ड रत्न प्राप्त होता है यह देश उसीका होता है इस निश्चयसे आकर महाराज को ढकनेके लिये क्षणभर प्रयत्न ही कर रहे हों ॥२३॥ मार्गमें घबड़ाये हुए अनेक मण्डलेश्वर राजा भरतको प्रणाम कर रहे थे ॥२४॥ मार्गमें महाराज भरतेश्वरसे समस्त शत्रु बिना प्रयत्नके ही नम्रीभूत होते जाते थे इसलिये उन्हें कभी यह शब्द नहीं कहने पड़ते थे कि हे राजेन्द्र, आप चक्ररत्न धारण कीजिये और हे सारथे, तुम रथ चलाओ ॥२५॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतेश्वरसे लड़नेके लिये समर्थ नहीं हो सके थे इसलिये नमस्कार के बहाने अपने मुकुटोंसे ही उनके पैरोंकी ताड़ना कर रहे थे ॥२६॥ महाराज भरत जिस प्रकार अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्यों में भी विभुत्व अर्थात् पृथिवीका अभाव धारण करते थे—उनकी भूमि छीन लेते थे, (विगता भूर्येषां तेषां भावः विभुत्वम्) और जिस प्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरंजन अर्थात्

१ महानक्रा, पक्षे महाग्रहीताराः । २ नदीः । ३ राजकुलस्थिते समाः । ४ बहुसम्पत्तान् । बहून्मितान् ल०, द० । बहुविधान् ट० । ५ सरोवरान् । धनवान् ल०, प०, इ० । वनवान् अ०, स० । ६ अगम्येषु । ७ भूगर्तान्छादनाय । ८ दण्डेन प्राप्ता वृत्तिर्यस्य तस्य । ९ ग्रामः । १० प्रसिद्धस्त्वम् । ११ धारय । १२ यानमुख्यम् । 'धू स्त्री क्लीवे यानमुखम्' इत्यभिधानात् । १३ प्रेरय 'अज प्रेरणे च' । १४ युद्धेषु । प्रधनेषु ल०, द०, इ०, प०, स०, अ० । १५ प्रभुत्वम्, व्याप्तिश्च । १६ स्वराष्ट्रपक्षे भूपानामनुरागरञ्जनम् । अरिराष्ट्रपक्षे भुवः परागरञ्जनम् ।

सन्ध्यादिविषये[1] नास्य समकक्षो[2] हि पार्थिव । [3]षाड्गुण्यमत एवास्मिन् चरितार्थं[4]मभूत प्रभौ[5] ॥२८॥
प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान् विषयाधिपान् । सम्भावयन् प्रसादेन सोऽत्यगाद् विषयान् बहून् ॥२९॥
नास्त्रे[6] व्यापारितो हस्तो मौर्वी धनुषि नार्पिता । केवल प्रभुशक्त्यैव प्राची दिग्विजिताऽमुना ॥३०॥
गोकुलानामुपान्तेषु सोऽपश्यद् युववल्लवान्[7] । वनवल्लीभिराबद्धजूटकान्[8] गोऽभिरक्षिण ॥३१॥
मन्थाकर्षश्रमोद्भूतस्वेदबिन्दुचितानना । मथ्नती[9] सकुचोत्कम्प सलील[10]त्रिकनर्तनै ॥३२॥
मन्थरज्जुसमाकृष्टिक्लान्तबाहू[11] श्लथांशुका । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभङ्गु[12]रोदरा ॥३३॥
क्षुब्धाभिघातोच्चलितस्थूल[13]गोरसबिन्दुभि । विरलैरङ्गसलग्नै शोभा कामपि पुष्णती ॥३४॥
मन्थारवानुसारेण किञ्चिदारब्धमूर्छना[14] । विस्रस्तकबरीबन्धा कामस्येव पताकिका ॥३५॥
[15]गोष्ठाङ्गणेषु सल्लापं[16] स्वैरमारब्धमन्यथा । प्रभुर्गोपवधू पश्यन् किमप्यासीत् समुत्सुक ॥३६॥
घने घनगजैर्जुष्टे[17] प्रभुमेन वनेचरा । दन्तैर्वनकरीन्द्राणाम् प्रद्राक्षु सह मौक्तिकै ॥३७॥

राजाओंके प्रेमपूर्ण अनुरागको धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्योंमें भी भू-परागानुरजन अर्थात् पृथिवीकी धूलिसे अनुरजन धारण करते थे, शत्रुओंको धूलिमें मिला देते थे, सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाए आश्चर्य करनेवाली होती ही है ॥२७॥ सधि आदि गुणोंके विषयमें कोई भी राजा महाराज भरतके बराबर नही था इसलिये सन्धि आदि छहो गुण उन्हीमें चरितार्थ हुए थे । भावार्थ—कोई भी राजा इनके विरुद्ध नही था इसलिये इन्हें किसीसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नही करने पडते थे ॥२८॥ प्रत्येक देशमें भेंट लेकर आये हुए वहाके राजाओंका बडी प्रसन्नतासे आदर-सत्कार करते हुए महाराज भरत बहुतसे देशोंको उल्लघन कर आगे बढते जाते थे ॥२९॥ भरतेश्वरने न तो कभी तलवारपर अपना हाथ लगाया था और न कभी डोरी ही धनुषपर चढाई थी । उन्होने केवल अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही पूर्व दिशाको जीत लिया था ॥३०॥ उन्होने गोकुलोंके समीप ही गायोंकी रक्षा करनेवाले तथा वनकी लताओंसे जिन्होंने अपने शिरके बालोंका जूडा बाध रखा है ऐसे तरुण ग्वाला देखे ॥३१॥ मथनियोके खीचनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेकी बूदोंसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीलापूर्वक नितम्बोंको नचा नचा कर स्तनोंको हिलाती हुई दही मथ रही हैं, मथनियोके खीचनेसे जिनकी भुजाए थक गई है, जिनके मथ वस्त्र ढीले पड गये हैं, जिनके स्तनोपरका वस्त्र भी नीचेकी ओर खिसक गया है, जिनके कृश उदरमें त्रिवली की रेखाए साफ साफ दिख रही है, रई (मथानी) के आघातसे उछल उछलकर शरीरमें जहाँ तहाँ लगी हुई दहीकी बडी बडी बूदोंसे जो एक प्रकारकी विचित्र शोभाको पुष्ट कर रही है, मन्थनसे होनेवाले शब्दोंके साथ साथ ही जिन्होंने कुछ गाना भी प्रारम्भ किया है, जिनके केशपाश का बन्धन खुल गया है और इसीलिये जो कामदेवकी पताकाओंके समान जान पडती हैं, तथा गोशालाके आगनोंमें अपने इच्छानुसार वार्तालाप करती हुई जिन्होंने दहीका मथना प्रारम्भ किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखते हुए महाराज भरतेश्वर कुछ उत्कण्ठित हो उठे थे ॥३२–३६॥ जगली हाथियोंसे भरे हुए वनमें रहनेवाले भील लोगोंने जगली हाथियोंके दात और मोती भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥३७॥ जिनका शरीर श्याम है जिनके

श्यामाङ्गीरनभिव्यक्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यक्तसंवृतीः[1] ॥३८॥
चमरीबालकाविद्धकबरीबन्धबन्धुराः । फलिनी[2]फलसन्दृब्धमालारचितकण्ठिकाः ॥३९॥
कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीर्मृदः[3] । सञ्चिन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥४०॥
पुलिन्दकन्यकाः[4] सैन्यसमालोकनविस्मिताः । [5]अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत् प्रभुः ॥४१॥
चमरीबालकान् केचित् केचित् कस्तूरिकाण्डकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छ[6]राजकाः ॥४२॥
तत्रान्तपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥४३॥
अपूर्वैः रत्नसन्दर्भैः [6]कुप्यसारधनैरपि । अन्तपालाः प्रभोराज्ञां सप्रणामैरमानयन् ॥४४॥
ततो विदूरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं सह सेनया । गङ्गाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालङ्घ्यमर्णवम् ॥४५॥
बहिः[7]समुद्रमुद्रिक्तं द्वैप्यं[8] निम्नोपगं[9] जलम् । समुद्रस्येव निष्यन्द[10]म् अब्धेराराद् व्यलोकयत् ॥४६॥
वर्षारम्भो युगारम्भे योऽभूत् कालानुभावतः[11] । ततः प्रभृति संवृद्धं जलं द्वीपान्तमावृणोत् ॥४७॥
अलङ्घ्यत्वात् महीय[12]स्त्वाद् द्वीपपर्यन्तवेष्टनात् । द्वैप्यमम्बु समुद्रिक्तम्[13] अगादुपसमुद्रताम् ॥४८॥
पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा स्थलपथेन[14] सः । गङ्गोपवनवेद्यन्त[15]भागे सैन्यं न्यवीविशत् ॥४९॥

शरीरपर अभी रोमराजी प्रकट नहीं हुई है, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुए चंचल पत्तोंसे जिनके शरीरका संवरण प्रकट हो रहा है, चमरी गायके बालोंसे बंधे हुए केशपाशोंसे जो बहुत ही सुन्दर जान पड़ती हैं, गुंजाफलोंसे बनी हुई मालाओंको जिन्होंने अपना कण्ठहार बनाया है, कस्तूरी मृगके बैठनेसे सुगन्धित हुई मिट्टीको आभूषण बनानेकी इच्छासे जो वनके किसी एक प्रदेशमें इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार वास्तवमें सुन्दर है और जो सेनाके देखनेसे विस्मित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने दूरसे ही देखा था ॥३८–४१॥ कितने ही म्लेच्छ राजाओंने चमरी गायके बाल और कितने ही ने कस्तूरी-मृगकी नाभि भेंट कर भरतके दर्शन किये थे ॥४२॥ वहांपर सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञा प्राप्त कर अन्तपालोंके लाखों किले अपने वश किये । ॥४३॥ अन्तपालोंने अपूर्व अपूर्व रत्नोंके समूह तथा सोना चांदी आदि उत्तम धन भेंट कर भरतेश्वरको प्रणाम किया तथा उसकी आज्ञा स्वीकार की ॥४४॥ तदनन्तर सेनाके साथ साथ बहुत कुछ दूर मार्गको व्यतीत कर वे गङ्गाद्वारको प्राप्त हुए और उसके बाद ही अपने समान अलंघनीय समुद्रको प्राप्त हुए ॥४५॥ उन्होंने समुद्रके समीप ही, समुद्रसे बाहर उछल उछल कर गहरे स्थानमें इकट्ठे हुए द्वीप सम्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्यन्दके समान मालूम होता था अथवा समुद्रके जलके समान ही निश्चल–स्थायी था अर्थात् उपसमुद्रको देखा, समुद्रका जो जल उछल उछलकर समुद्रके समीप ही द्वीपके किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा होता जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है । उप-समुद्र द्वीपके भीतर होता है इसलिये उसका जल द्वैप्य कहलाता है । उपसमुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्रका स्वेद ही इकट्ठा हो गया हो ॥४६॥ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमें जो वर्षा हुई थी तबसे लेकर कालके प्रभावसे बढ़ता हुआ वही जल द्वीपके अन्त भाग तक पहुंच गया था ॥४७॥ जो जल समुद्रसे उछल उछलकर द्वीपमें आया था वह अलंघनीय था, बहुत गहरा था और उसने द्वीपके सब समीपवर्ती भागको घेर लिया था इसलिये वही उप-समुद्र कहलाने लगा था ॥४८॥ उस उपसमुद्रको देखते हुए भरतने गुल्मरूप मार्गसे जाकर

१ अव्यक्तप्रदेशाः । २ गुञ्जाफलानि । ३ अनुपाधि । ४ व्याध । ५ चमरीमृगनाभ्यादि । ६ अर्जुनम् । ७ समुद्रस्य बहिः । ८ द्वीपसम्बन्धि । ९ अगाधभावप्राप्तम् । १० प्रवाहम् । ११ कालसामर्थ्येन । १२ अत्यन्तमहत्त्वात् । १३ उत्कटम् । १४ गुल्मपथेन प० । गुल्मपथे द०, स० । 'गुल्मो मार्गो गुल्मगं इति मुद्रि' इति 'द' टिप्पण्याम् । १५ वेद्यन्तभागे स० ।

वेदिकातोरणद्वारमस्ति [1]तत्रोच्छ्रितं महत् । शनैस्तेन[2] प्रविश्यान्तर्वणं सैन्यं न्यविक्षत ॥५०॥
तत्र वास्तु[3] वशादस्य किञ्चित्सङ्कुचिता यतः । स्कन्धावारनिवेशोऽभूद् अलङ्घ्यव्यूहविस्तृतिः[4] ॥५१॥
नन्दनप्रतिमे[5] तस्मिन् वने रुद्धातपाङ्घ्रिपे । गङ्गाशीतानिलस्पर्शैः तद्बलं सुखमावसत्[6] ॥५२॥
तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये[7] दैवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्त सोऽभ्यर्च्छद् दैविकीं क्रियाम् ॥५३॥
[8]अधिवासितजैनास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मन्त्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥५४॥
साय[9]प्रातिकनिःशेषकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितां पूजां स व्यधात् परमेष्ठिनाम् ॥५५॥
सेनान्यं बलरक्षार्थं नियोज्य विधिवद् विभुः । प्रतस्थे धृतदिव्यास्त्रो जिगीषुर्लवणाम्बुधिम् ॥५६॥
प्रतिग्रहा[10]पसारादिचिन्ताऽभून्नास्य चेतसि । [11]विलिलङ्घयिषोरब्धिम् अहो[12] स्थैर्यं महात्मनाम् ॥५७॥
अजितञ्जयमारुक्षद् रथं दिव्यास्त्रसम्भृतम् । योजितं वाजिभिर्दिव्यैः जलस्थलविलङ्घिभिः ॥५८॥
[13]पत्रश्यामरथं प्रोच्चैः चलच्चक्राङ्ककेतनम् । तमूहुर्जवना[14] वाहा दिव्य[15]सव्येष्टृचोदिताः[16] ॥५९॥
ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा [17]धृतमङ्गलः । त्वं देव विजयस्वेति स इमामृचमापठत् ॥६०॥

गङ्गाके उपवनकी वेदीके अन्तभागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥ वहा वेदिकामें एक बडा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है, उसी द्वारसे धीरे धीरे प्रवेश कर वनके भीतर सेनाको ठहराया ॥५०॥ वहा चक्रवर्तीके शिविरकी जो रचना हुई थी उसकी, उस क्षेत्रके अनुसार, लम्बाई तो अधिक थी परन्तु चौडाई कुछ कम थी और उसकी सेनाके विस्तार को कोई उल्लघन नही कर सकता था ॥५१॥ जो नन्दन वनके समान है तथा जिसके वृक्ष सूर्य के आतापको रोकनेवाले है ऐसे उस वनमे भरतकी वह सेना गङ्गा नदीके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक निवास करती थी ॥५२॥ यद्यपि मागध देवको वश करना यह कार्य पौरुष-साध्य है अर्थात् पुरुषार्थसे ही सिद्ध हो सकता है तथापि उसमे दैवकी प्रमाणता मानकर लवण समुद्रको जीतनेके लिये तत्पर हुए भरत महाराजने भगवान् अरहन्त देवके आराधन करनेका विचार किया ॥५३॥ जिसने मन्त्र तन्त्रोसे विजयके शस्त्रोका सस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मन्त्रके स्मरणसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र शय्यापर बैठा हुआ है, स्वय पवित्र है, सायकाल और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओमे सावधान है और पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे उन भरतने पञ्च परमेष्ठीकी पूजा की ॥५४–५५॥ भरतने विधिपूर्वक सेनाकी रक्षाके लिये सेनापतिको नियुक्त किया और स्वय दिव्य अस्त्र धारण कर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छामे प्रस्थान किया ॥५६॥ समुद्रको उल्लघन करनेकी इच्छा करने वाले भरतके चित्तमें यह भी चिन्ता नही हुई थी कि क्या क्या साथ लेना चाहिये और क्या-क्या यहा छोड देना चाहिये सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोका धैर्य ही आश्चर्यजनक होता है ॥५७॥ जो देवोपनीत अस्त्र-शस्त्रोसे भरा हुआ है और जिसमें जल स्थल दोनोपर समान रूपमे चलनेवाले दिव्य घोडे जुते हुए है ऐसे अजितजय नामके रथपर भरतेश्वर आरूढ हुए ॥५८॥ जो पत्तोके समान हरितवर्ण है, जिसपर बहुत ऊचे चक्रके आकारसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही है और जो दिव्य सारथिके द्वारा प्रेरित है—हाका जा रहा है—ऐसे उस रथको वेग-शाली घोडे ले जा रहे थे ॥५९॥ तदनन्तर हे देव, आपकी जय हो इस प्रकार भरतके लिये

---

१ तत्रोत्तर द०, स० । २ द्वारेण । ३ गृहभामर्थ्यात् । ४ बलविन्यासविस्तार । ५ सदृशे । ६ –मावसत् स० । ७ मागधामरसाधनरूपकार्ये । ८ मन्त्रसंस्कृत । ९ अस्तमनप्रभातसम्बन्धि । १० स्वीकारत्यजनादि । ११ विलङ्घयितुमिच्छोः । १२ मनास्थैर्यं अ०, स०, इ० । १३ वाहनवाजिभि श्यामवर्णीकृतरथम् । अनेक-मङ्गलरूपा. हरिद्वर्णा इत्युक्ता । १४ वेगिन । १५ दिव्यसारथिप्रेरिता । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूत क्षत्ता च सारथि । सव्येष्टृदक्षिणस्थौ च सञ्ज्ञा रथकुटुम्बिन " इत्यभिधानात् । (सव्येष्टेति अदन्त इति केचित्) अर्थ मत्वर्थीयम् । १६ चोदित स० । नोदिता ल०, अ० । १७ धृतमङ्गलम् अ०, स०, इ० ।

जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायकाः[1]। त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलम् ॥६१॥
सन्त्यब्धिनिलया देवाः त्वद्[2]भुक्त्यन्तर्निवासिनः। तान् विजेतुमयं कालः तवेत्युच्चैर्जुघोष च ॥६२॥
ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः। जगतीतल्प[3]मारुक्षद् गङ्गाद्वारस्य चक्रभृत् ॥६३॥
न केवलं समुद्रान्तःप्रवेशद्वारमेव तत्। कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमंस्त रथाङ्गभृत्[4] ॥६४॥
धृतमङ्गलनेपथ्यस्य[5] तद्वेद्यारोहणं विभोः। विजयश्रीसमुद्वाहवेद्यारोहणवद् बभौ ॥६५॥
मद्गृहाङ्गणवेदीयं जगतीति विकल्पयन्। दृशं व्यापारयामास [6]कुल्याबुद्ध्या महोदधौ ॥६६॥
स प्रतिज्ञामिवारूढो जगतीं तां महायतिम्। निस्तीर्णमिव[7] तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥६७॥
मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहतम्। विलङ्घनाभयादुच्चैः फूत्कुर्वन्तमिवारवैः ॥६८॥
वीचिबाहुभिरुन्मुक्तैः सरत्नैः शीकरोत्करैः। पाद्यं स्वस्येव तन्वानं मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥६९॥
असङ्ख्यशङ्खसमाक्रान्तविश्वद्वीपमपारकम्। परैरलङ्घ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणम् ॥७०॥
उत्फेनैर्जृम्भितारम्भैः सापस्मारमिवोल्बणम्। केनाप्यशक्यमायन्तुं क्वचिदप्यनवस्थितम् ॥७१॥

पवित्र आशीर्वाद देकर मंगलद्रव्य धारण किये हुए पुरोहितने इस नीचे लिखी हुई ऋचाको पढ़ा ॥६०॥ समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले धर्मनायक-तीर्थंकर देव सदा जयवन्त रहते हैं इसलिये उनके प्रसादसे तू भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त कर, सबको जीत ॥६१॥ उसी समय पुरोहितने यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव, इस समुद्रमें निवास करनेवाले देव आपके उपभोग करने योग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिये उन्हें जीतनेके लिये आपका यह समय है ॥६२॥ तदनन्तर कुछ वीर पुरुषोंसे घिरे हुए चक्रवर्ती भरत गङ्गाद्वारकी वेदीपर जा चढ़े ॥६३॥ चक्रवर्तीने उस गङ्गाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रके भीतर प्रवेश करनेका द्वार ही नहीं समझा था किन्तु अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझा था ॥६४॥ मंगल वेषको धारण करनेवाले चक्रवर्तीका उस वेदीपर आरूढ़ होना विजय-लक्ष्मीके विवाहकी वेदीपर आरूढ़ होनेके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥६५॥ यह वेदी मेरे घरके आँगनकी वेदी है इस प्रकार कल्पना करते हुए भरतने महासागरपर कृत्रिम नदीकी बुद्धिसे दृष्टि डाली थी। भावार्थ–भरतने अपने बलकी अधिकतासे गङ्गाकी वेदीको ऐसा समझा था मानो यह हमारे घरके आँगनकी ही वेदी है और महासमुद्रको ऐसा माना था मानो यह एक छोटी-सी नहर ही है ॥६६॥ वे उस बड़ी लम्बी वेदीपर इस प्रकार आरूढ़ हुए थे जैसे अपनी प्रतिज्ञापर ही आरूढ़ हुए हों और समुद्रको उन्होंने ऐसा माना था जैसे उसके दूसरे किनारे पर ही पहुंच गये हों ॥६७॥ उस वेदीपरसे उन्होंने समुद्र देखा, उस समुद्रमें बारबार तटको उल्लंघन करनेवाली लहरें उठ रही थीं, पवन उसका ताडन कर रहा था और वह अपने गंभीर शब्दोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उल्लंघनके भयसे रो ही रहा हो। तरंगरूपी भुजाओंसे किनारेपर छोड़े हुए रत्न सहित जलके छोटे छोटे कणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो भरतके लिये मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ ही दे रहा हो। उस समुद्रमें असंख्यात शंख थे, उसने समस्त द्वीपोंको आक्रान्त कर लिया था, वह पाररहित था, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था और न उसे कोई क्षोभित ही कर पाता था इसलिये वह ठीक भरतकी सेनाके समूहका अनुकरण कर रहा था क्योंकि उसमें भी बजाये जानेवाले असंख्यात शंख थे, उसने भी समस्त द्वीप आक्रान्त कर लिये थे–अपने आधीन बना लिये थे, वह भी अपार था, वह भी दूसरोंके द्वारा अलंघनीय तथा क्षोभित करनेके अयोग्य था। वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी)

---

१ तीर्थंकराः। २ त्वत्पालनक्षेत्र। ३ वेदिकावम्। ४ व्याप्तगभृत् द०, ब०, स०। ५ मङ्गलालङ्कारस्य। ६ 'कुल्याया कृत्रिमा सरित्'। ७ पारगाम। ८ उल्लङ्घितवीरागनिवृद्धि। ९ तटे उद्गमनं।

अकस्मादुच्चरद्ध्वानम् अनिमित्तचलाचलम्[1]। अकारणकृतावर्तम् अतिभीतनरायितम् ॥७२॥
हसन्तमिव फेनौघैः लसन्तमिव[3] वीचिभिः। चलन्तमिव कल्लोलैः माद्यन्तमिव घूर्णितैः ॥७३॥
सरत्नमुल्वणविषं[4] मुक्तसूत्कारभीकरम्[5]। ■स्फुरत्तरङ्गनिर्मोकं स्फुरन्तमिव भोगिनम् ॥७४॥
अत्यम्बुपानादुद्रिक्तशीतश्यायमिवाधिकम्[6]। क्षुतानीव विकुर्वाणं ध्वनितानि सहस्रशः ॥७५॥
[7]आद्यूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनीरसम्। रसातिरेकादुद्गारं सन्वानमिव सात्कृतम् ॥७६॥
निजगम्भीरपातालमहागर्तापदेशतः[8]। अतृप्यन्तमिवाम्भोभिः आतालुविवृताननम् ॥७७॥

के रोगीके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार अपस्मारका रोगी फेन सहित आती हुई जृम्भिकाओं अर्थात् जमुहाइयोंसे व्याकुल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी फेन सहित उठती हुई जृम्भिका अर्थात् लहरोंसे व्याकुल था, जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसीके द्वारा पकड़कर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसीके द्वारा नहीं रोका जा सकता और जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसी भी जगह स्थिर नहीं रहता इसी प्रकार वह समुद्र भी किसी जगह स्थिर नहीं था–लहरोंके कारण चंचल हो रहा था। वह समुद्र अकस्मात् ही गम्भीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था और बिना कारण ही उसमें आवर्त अर्थात् भंवर पडते थे, इसलिये उसकी दशा किसी अत्यन्त भयभीत मनुष्यके समान हो रही थी क्योंकि अत्यन्त भयभीत मनुष्य भी अचानक शब्द करने लगता है, चिल्ला उठता है, बिना कारण ही कांपने लगता है और बिना कारण ही आवर्त करने लगता है इधर उधर भागने लगता है। वह समुद्र फेन उठनेसे ऐसा जान पडता था मानो हँस ही रहा हो, ज्वार-भाटाओंसे ऐसा मालूम होता था मानो लास्य (नृत्य) ही कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानो चल ही रहा हो और हिलनेसे ऐसा दिखाई देता था मानो नशेमें झूम ही रहा हो अथवा वह समुद्र किसी सर्पके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार सर्प रत्नसहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी रत्नसहित था, जिस प्रकार सर्पमें उत्कट विष अर्थात् जहर रहता है उसी प्रकार समुद्रमें भी उत्कट विष अर्थात् जल था जिस प्रकार सर्प सू सू आदि फुंकारोंसे भयंकर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सू सू आदि शब्दोंसे भयंकर था, जिस प्रकार सर्पके देदीप्यमान कांचली होती है उसी प्रकार उस समुद्रके भी देदीप्यमान लहरें थीं, और जिस प्रकार सर्प चंचल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चंचल था। अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अधिक पानी पीनेसे उसे सर्दी (जुकाम) ही हो गई हो और इसीलिये हजारों शब्दोंके बहाने *छींकें ही ले रहा हो। अथवा वह समुद्र किसी आद्यून अर्थात् बहुत खानेवाले–पेटू–मनुष्य*के समान जान पडता था, क्योंकि जिस प्रकार आद्यून मनुष्य बहुत खाता है और बादमें भोजनकी अधिकता होनेसे डकार लेता है उसी प्रकार उस समुद्रने भी समस्त नदियोंका जल पी लिया था और बादमें जलकी अधिकता होनेसे वह भी शब्दोंके बहाने डकारें ले रहा था। वह समुद्र अपने गम्भीर पातालरूपी महाउदरके बहानेसे जलसे कभी तृप्त नहीं होता था और इसी लिये मानो उसने तालु पर्यन्त अपना मुख खोल रखा था। भावार्थ–वह समुद्र किसी ऐसे मनुष्यके समान जान पडता था जो बहुत खानेपर भी तृप्त नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार तृप्त नहीं होनेवाला मनुष्य बहुत कुछ खाकर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बहुत कुछ जल ग्रहण कर चुकनेपर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता था–नदियों

१ चञ्चलम्। २ नितराम् अस्थिरस्थितिम्। 'चलाचलोऽस्थिरे' इत्यमरः। विशेष्यनिघ्नवर्गः।
३ नृत्यन्तम्। ४ उत्कटजलम्। ५ शीत्करम् प०। ६ उत्कटपीनसम् 'प्रतिश्यायस्तु पीनसः' इत्यभिधानात्।
७ औदरिकम्। तृप्तिरहितमित्यर्थः। ■ –गर्भान्– म०।

दिशा 'रावणमाक्रान्त्याचलग्राह[2] विभीषणम्[3] । रक्षसामिव सम्पातमतिकाय[4] महोदरम्[5] ॥७८॥
वीचीबाहुभिराघ्नन्तम् अजस्र तटवेदिकाम् । समर्यादत्वमाहत्य श्रावयन्तमिवात्मन ॥७९॥
चलद्भिरचलोदग्रैं कल्लोलैरतिर्वातनम् । सरिद्युवतिसम्भोगाद् असम्मान्तमिवात्मनि ॥८०॥
तरङ्गिततनु वृद्धपृथुक व्यक्तरङ्गितम् । सरत्नमतिकान्ताङ्ग सग्राहमतिभीषणम् ॥८१॥
लावण्येऽपि [illegible] सम्भोग्य गाम्भीर्येऽप्यनवस्थितम् । महत्त्वेऽपि कृताक्रोश व्यक्तमेव जलाशयम् ॥८२॥
न चास्य मदिरासङ्गो न कोऽपि मदनज्वर । तथाप्युद्रिक्तकन्दर्पम् आरूढमधुविक्रियम् ॥८३॥

का अन्य जल ग्रहण करनेके लिये तत्पर रहता था। वह समद्र समस्त दिशाओमें व्याप्त होकर शब्द कर रहा था इसलिये 'रावण' था, उसने अनेक पहाड अपने जलके भीतर डुबा लिये थे इसलिये 'अचलग्राह' था। वह सब जीवोको भय उत्पन्न कराता था इसलिये विभीषण था, अत्यन्त बडा था इसलिये 'अतिकाय' था और बहुत गहरा होनेसे 'महोदर' था इस प्रकार वह ऐसा जान पडता था मानो राक्षसोका समूह ही हो। वह समुद्र अपनी तरङ्गरूपी भुजाओ के द्वारा किनारेकी वेदीपर निरन्तर आघात करता रहता था इसलिये ऐसा जान पडता था मानो धक्का देकर उसे अपने समर्यादपनेको ही सुना रहा हो। वह पर्वतके समान ऊची उठती हुई लहरोसे किनारेको उल्लघन कर रहा था इसलिये ऐसा जान पडता था मानो नदीरूप स्त्रियोके साथ सभोग करनेसे अपने आपमें ही नही समा रहा हो। उसके शरीरमें अनेक तरग-रूपी सिकुडनें उठ रही थी इसलिये वह वृद्ध पुरुषके समान जान पडता था, (पक्षमें अत्यन्त बडा था) अथवा वह समुद्र किसी पृथुक अर्थात् बालकके समान मालूम होता था (पक्षमें पृथु क अधिक है जल जिसमे ऐसा था) क्योकि जिस प्रकार बालक पृथिवीपर घुटनोके बल चलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोके द्वारा पृथिवीपर चल रहा था, जिस प्रकार बालक सरकता है उसी प्रकार वह भी लहरोसे सरकता था, जिस प्रकार बालक अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त सुन्दर था। इसके सिवाय वह समुद्र मगरमच्छ आदि जलचरजीवो से सहित था तथा अत्यन्त भयकर था अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही जलाशय (ड और ल में अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् मूर्ख था क्योकि लावण्य रहनेपर भी वह उपभोग करने योग्य नही था जो लावण्य अर्थात् सुन्दरतासे सहित होता है वह उपभोग करने योग्य अवश्य होता है परन्तु समुद्र वैसा नही था (पक्षमे लावण्य अर्थात् खारापन होनेसे किसीके पीने योग्य नही था) गभीरता होनेपर भी वह स्थिर नही था, जो गभीरता अर्थात् धैर्यसे सहित होता है वह स्थिर अवश्य रहता है परन्तु समुद्र ऐसा नही था (पक्षमें गभीरता अर्थात् गहराई होनेपर भी वह लहरोसे चचल रहता था) और महत्त्वके रहते हुए भी वह चिल्लाता रहता था—गालिया बका करता था, जो महत्व अर्थात् बडप्पनसे सहित होता है वह बडा शान्त रहता है, चिल्लाता नही है परन्तु समुद्र ऐसा नही था (पक्षमें बडा भारी होनेपर भी लहरोके आघातसे शब्द करता रहता था) इन सब कारणोसे स्पष्ट है कि वह जडाशय अवश्य था (पक्षमें जल है आशयमें जिसके अर्थात् जलमे भरा हुआ था)। उस समुद्रके यद्यपि मद्यका सगम नहीं था—मद्य-पानका अभाव था तथापि वह आरूढ मधुविक्रिय था अर्थात् मद्यपानसे उत्पन्न होनेवाले विकार नशाको धारण कर रहा था, इसी प्रकार यद्यपि उसके काम-ज्वर नही था तथापि वह उद्रिक्त-कदर्प था अर्थात् तीव्र काम-विकारको धारण करनेवाला था। भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेष-

---

१ रौतीति रावणस्तम्। शब्द कुर्वन्तमिति यावत्। पक्षे दशास्यम्। २ पर्वतस्वीकारवन्तम्। पक्षे अचलग्राहमिति कञ्चिद् राक्षसम्। ३ भयङ्करम्। पक्षे रावणानुजम्। ४ अतिशय मूर्तिम् महान्तमित्यर्थ। पक्षे अतिकायमिति कञ्चिदसुरम्। ५ महाकुक्षिम्। पक्षे महोदरमिति राक्षसम्। ६ उत्कटकामम्, पक्षे उत्कटजलदर्पम्।

अनाशितम्भवं[1] पीत्वा सुस्वादुसरितां जलम् । गतागतानि कुर्वन्तं सन्तोषादिव वीचिभिः ॥८४॥
नदीवधूभिरासेव्यं कृतरत्नपरिग्रहम् । महा[2]भोगिभिराराध्यं चातुरन्तमिव[3] प्रभुम् ॥८५॥
यादोदोर्घातनिर्घातै[4]र्दूरोच्चलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषद्वीपार्णवविनिर्जयात् ॥८६॥
कुलाचलपृथुस्तम्भजम्बूद्वीपमहौकसः[5] । विनीलरत्ननिर्माणम् एकं सालमिवोच्छ्रितम् ॥८७॥
अनादिमस्तपर्यन्तम् अखिलार्थावगाहनम् । गभीरशब्दसन्दर्भं श्रुतस्कन्धमिवापरम् ॥८८॥
नित्यप्रवृत्तशब्दत्वाद् द्रव्यार्थिकनयाश्रितम् । वीचीनां क्षणभङ्गित्वात् पर्यायनयगोचरम् ॥८९॥
नित्यानुबद्धतृष्णत्वात् शश्वज्जलपरिग्रहात्[6] । गुरूणां[7] च तिरस्कारात् [8]कुराजानमिवान्वहम् ॥९०॥

मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिये प्रारम्भ-कालमें विरोध मालूम होता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो जाता है। परिहार इस प्रकार समझना चाहिये कि वह मदके संगमसे रहित होकर मधु अर्थात् पुष्परसकी विक्रिया धारण कर रहा था अथवा मनोहर जलपक्षियोंकी क्रियाएं धारण कर रहा था और कामज्वरसे रहित होकर भी *उद्रिक्त-क-दर्प* था अर्थात् जलके अहंकार से सहित था। वह समुद्र किनारेपर आती जाती हुई लहरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिससे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका मीठा जल पीकर लहरों द्वारा संतोषसे गमनागमन ही कर रहा हो। अथवा वह समुद्र चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी नदीरूपी अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित था, जिस प्रकार चक्रवर्तीके पास अनेक रत्नोंका परिग्रह रहता है उसी प्रकार उस समुद्रके पास भी अनेक रत्नोंका परिग्रह था, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाभोगी अर्थात् बड़े बड़े राजाओंके द्वारा आराधन करने योग्य होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े सर्पोंके द्वारा आराधन करने योग्य था और जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों ओर प्रसिद्ध रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चारों ओर प्रसिद्ध था—व्याप्त था। जल-जन्तुओंके आघातसे उड़ी हुई और बहुत दूरतक ऊंची उछटी हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे अपनी विजय पताका ही फहरा रहा हो। उस समुद्रका नीले रंगका पानी वायुके वेगसे ऊपरको उठ रहा था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुलाचलरूपी बड़े बड़े खंभोंपर बने हुए जम्बूद्वीपरूपी विशाल घरका नील रत्नोंसे बना हुआ एक ऊंचा कोट ही हो। अथवा वह समुद्र दूसरे श्रुतस्कन्धके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध आदि अन्त-रहित है उसी प्रकार वह समुद्र भी आदि अन्त रहित था, जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध समस्त पदार्थोंका अवगाहन निरूपण करनेवाला है उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त पदार्थोंका अवगाहन-प्रवेशन धारण करनेवाला है, और जिस प्रकार श्रुतस्कन्धमें गंभीर शब्दोंकी रचना है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी गम्भीर शब्द होते रहते थे—अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय लेता हुआ सा जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्दकी प्रवृत्ति हो रही थी अर्थात् निरन्तर गंभीर शब्द होता रहता था। अथवा उसकी लहरें क्षणभंगुर थीं इसलिये वह पर्यायार्थिकके गोचर भी मालूम होता था क्योंकि पर्यायार्थिक नय पदार्थोंको क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य बतलाता है। अथवा वह समुद्र किसी दुष्ट राजाके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट राजा सदा तृष्णासे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सदा तृष्णासे सहित रहता था अर्थात् प्रतिक्षण अनेक नदियोंका जल ग्रहण करते रहने

---

१ अतृप्तिकरम्। २ महासर्प। ३ सार्वत्रिक प्रसिद्धमित्यर्थः। चातुरङ्ग–स०, इ०, अ०, प०। ४ निर्दूनं–स०। ५ महागृहस्य। ६ अङ्गीकारात्। ७ गुरुद्रव्याणामधःकरणात्। ८ कुत्सितराजानम्।

ससत्त्वमतिगम्भीरं भोगिभिधृतवेलकम् । सुराजानमिवात्युच्चैः वृत्तिं मर्यादया धृतम् ॥६१॥
अनेकमन्तरद्वीपमन्तर्वर्तिनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयन्तमलङ्घनं ॥६२॥
गर्जद्भिरतिगम्भीरं नभोव्यापिभिरूर्जितं । आपूर्यमाणमम्भोभिः घनौघं किङ्करैरिव ॥६३॥
[1]रङ्गितैश्चलितैः[2]क्षोभैः उत्थितैश्च[3] विवर्तनैः[4] । ग्रहाविष्टमिवोज्जृम्भं[5] सध्वानं च सघूर्णितम् ॥६४॥
रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशबलितार्णसम् । ग्राहैरध्यासितं विष्वक्सुालोकं च भीषणम् ॥६५॥
नदीनं रत्नभूयिष्ठम् अप्प्राणं[7] चिरजीवितम्[8] । समुद्रमपि[9] चोन्मुद्रं[10] कथके[11]तुममन्मथम्[12] ॥६६॥

पर भी सतुष्ट नही होता था, जिस प्रकार दुष्ट राजा जल (जड) अर्थात् मूर्ख मनुष्योंसे घिरा रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी निरन्तर जल अर्थात् पानीसे घिरा रहता था, और जिस प्रकार दुष्ट राजा गुरु अर्थात् पूज्य महापुरुषोंका तिरस्कार करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी वजनदार पदार्थोंका तिरस्कार करता रहता था अर्थात् उन्हें डुबोता रहता था। अथवा वह समुद्र किसी उत्तम राजाके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रमसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जल जन्तुओंसे सहित था, जिस प्रकार उत्तम राजा अत्यन्त गभीर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अत्यन्त गभीर अर्थात् गहरा था, जिस प्रकार उत्तम राजाके समीप अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार उस समुद्रकी वेला (तट) पर भी अनेक भोगी अर्थात् सर्प विद्यमान रहते थे, जिस प्रकार उत्तम राजाकी वृत्ति उच्च होती है उसी प्रकार उस समुद्रकी वृत्ति भी उच्च थी अर्थात् उसका जल हवासे ऊचा उठ रहा था और जिस प्रकार उत्तम राजा मर्यादा अर्थात् कुल-परम्परासे आई हुई समीचीन पद्धतिसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मर्यादा अर्थात् पालीसे सहित था। वह समुद्र अपने मध्यमें रहनेवाले अनेक अन्तर्द्वीपोंकी रक्षा कर रहा था वे अन्तर्द्वीप उसके अलघनीय तथा हरण करनेके अयोग्य किलोंके समान जान पडते थे। वह अतिशय गम्भीर समुद्र ऐसा जान पडता था मानो सेवकोंके समान निरन्तर बढते हुए, गर्जते हुए और आकाशमें फैले हुए मेघोंके द्वारा ही जलसे भरा गया हो अथवा वह समुद्र किसी ग्रहाविष्ट अर्थात् भूत लगे हुए मनुष्यके समान जान पडता था क्योंकि जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य जमीनपर रेंगता है, चलता है, क्षुब्ध होता है, ऊचा उछलता है और इधर उधर घूमता है अथवा करवटें बदलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोंसे पृथिवीपर रेंग रहा था, चल रहा था, क्षुब्ध था, ऊचा उछलता और इधर उधर घूमता था अर्थात् कभी इधर लहरता था तो कभी उधर लहरता था, तथा ग्रहाविष्ट मनुष्य जिस प्रकार उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई जमुहाइयोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई लहरोंसे सहित था, जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य शब्द करता है उसी प्रकार समुद्र भी शब्द कर रहा था और जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य कापता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी वायुसे कापता रहता था। उस समुद्रका तल भाग रत्नोंकी किरणोंसे चित्र विचित्र हो रहा था, उसका जल मोतियोंसे चित्रित था और वह चारो ओर मगरमच्छोंसे भरा हुआ था इसलिये वह देखनेमें अच्छा भी लगता था और भयानक भी मालूम होता था। वह समुद्र अनेक रत्नो

१ भूप्रसर्पणं । २ चलनं । ३ उत्थानं । ४ भ्रमणं । ५ उज्जृम्भणम् । पक्षे जृम्भिकासहितम् । ६ सरित्पतिम् । निस्वसदृशम् । 'नञ्भावे निषेधे च स्वरूपार्थे व्यतिक्रमे । ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्धतदन्ययो ॥' इत्यभिधानात् । ७ आप प्राणं यस्य स तम् । पक्षे गतप्राणम् । ८ चिरकालस्थायिनम् । –जीविनम् अ०,प० ब०,स० इ० । ९ मुद्रया सहितम् । १० मुद्रारहितम् । महान्तमित्यर्थ । ११ मयार्थ्यजितम् । १२ मन् मना मन्यानीति मन्मथः न मन्मथ अमन्मथस्तं मनोहरमित्यर्थ ।

अदृष्टपारमक्षोभ्यम् असहार्य[1]मनुत्तरम्[2] । सिद्धालयमिव व्यक्तम् अव्यक्तममृतास्पदम्[3] ॥९७॥
क्वचिन्महोपलच्छाया[4]धृतसन्ध्याभ्रविभ्रमम् । कृतान्धतमसारम्भं क्वचिन्नीलाश्मरश्मिभिः ॥९८॥
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः क्वचित्सन्दिग्ध[5]शैवलम् । क्वचिच्च कौङ्कुमीं कान्तिं तन्वानं विद्रुमाङ्कुरैः ॥९९॥
क्वचिच्छुक्तिपुटोद्भेदसमुज्ज्वलितमौक्तिकम् । तारकानिकराकीर्णं हसन्तं जलभृत्पथम् ॥१००॥
वेलापर्यन्तसम्मू[6]र्छत्सर्वरत्नांशुशीकरैः[7] । क्वचिदिन्द्रधनुर्लेखां लिखन्तमिव खाङ्गणे ॥१०१॥
रथाङ्गपाणिरित्युच्चैः सम्भृतं रत्नकोटिभिः । महानिधिमिवापूर्वम् अपश्यन्मकराकरम्[8] ॥१०२॥

से भरा हुआ था इसलिये नदीन अर्थात् दीन नही था यह उचित था (पक्षमें 'नदी इन' नदियोका स्वामी था) परन्तु अप्राण अर्थात् प्राण रहित होकर भी चिरजीवित अर्थात् बहुत समय तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रा सहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रा-रहित था और झषकेतु अर्थात् मछलीरूप पताकासे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् कामदेव नही था यह विरुद्ध बात थी किन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थमें परिवर्तन कर देनेसे कोई विरुद्ध बात नही रहती । वह प्राणरहित होनेपर भी चिरजीवित अर्थात् चिरस्थायी रहनेवाला था अथवा चिरकालसे जल सहित था, समुद्र अर्थात् सागर होकर भी उन्मुद्र अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दको देनेवाला था (उद्–उत्कृष्टा मुद हर्षं राति-ददातीति उन्मुद्र) और झषकेतु अर्थात् समुद्र अथवा मछलियोके उत्पातसे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् काम नही था । अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही सिद्धालयके समान जान पडता था क्योकि जिस प्रकार सिद्धालयका पार दिखाई नही देता है उसी प्रकार उस समुद्रका भी पार दिखाई नही देता था–दोनो ही अदृष्ट-पार थे,जिस प्रकार सिद्धालय अक्षोभ्य है अर्थात् आकुलता-रहित है उसी प्रकार समुद्र भी अक्षोभ्य था अर्थात् क्षोभित करनेके अयोग्य था उसे कोई गँदला नही कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालयका कोई सहार नही कर सकता उसी प्रकार उस समूहका भी कोई सहार नही कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालय अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् तैरनेके अयोग्य था, जिस प्रकार सिद्धालय अव्यक्त अर्थात् अप्रकट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अव्यक्त अर्थात् अगम्य था और सिद्धालय जिस प्रकार अमृतास्पद अर्थात् अमृत (मोक्ष) का स्थान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमृत (जल) का स्थान था । कही तो वह समुद्र पद्मरागमणियो से सध्या कालके बादलोकी शोभा अथवा सदेह धारण कर रहा था और कही नील मणियोकी किरणोसे गाढ अन्धकारका प्रारम्भ करता हुआ सा जान पडता था । कही हरित मणियोकी कान्तिके प्रसारसे उसमें शैवालका सदेह हो रहा था और कही वह मूगाओके अकुरोसे कुकुम की कान्ति फैला रहा था । कही सीपोके सपुट खुल जानेसे उसमे मोती तैर रहे थे और उनसे वह ऐसा जान पडता था मानो ताराओके समूहसे भरे हुए आकाशकी ओर हँस ही रहा हो । तथा कहीपर किनारेके समीप ही समस्त रत्नोकी किरणो सहित जलकी छोटी छोटी बूद पड रही थी उनसे ऐसा जान पडता था मानो आकाशरूपी आगनमे इन्द्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो । इस प्रकार जो ऊँचे तक करोडो रत्नोसे भरा हुआ था ऐसे उस समुद्रको चक्रवर्तीने अपूर्व महानिधिके समान देखा ॥९८–१०२॥

१ अविनाश्यम् । २ न विद्यते उत्तर श्रेष्ठो यस्मात् स तम् । ३ सलिलपीयूषनिवासम् । पक्षे अमरस्थानम् । 'सुधाकरपयोगोपसलिलाज्यमोक्षधन्वन्तरिविषवन्दच्छिद्रसहायादिविजेष्वमृत' इत्यभिधानात् । ४ पद्मराग- माणिक्य । ५ क्षिप्त । सन्देहविपर्यासकृत । ६ समुत्सर्पन्नानारत्नमरीचियुतशीकरैः । ७ –शकरै प० । ८ मकरालयम् स० ।

दृष्ट्वाथ तं महाभाग[1] कृतधीर्धीरनिःस्वनम् । दृष्ट्यैवानुलयच्चक्री गोष्पदायिततयार्णवम् ॥१०३॥
ततोऽनिमनसः सिद्ध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथं प्रचोदयेत्युच्चैः [2]प्राजितारमचोदयत् ॥१०४॥
[3]विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैः ऊह्यमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुतं [4]प्रायाद् यानपात्रायितो रथः ॥१०५॥
रथो मनोरथात् पूर्वं रथात् पूर्वं मनोरथः । इति सम्भाव्यवेगोऽसौ रथो वार्धि व्यगाहत ॥१०६॥
जलस्तम्भः प्रयुक्तो नु जलं नु स्थलतां गतम् । स्यन्दनं यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया[5] ॥१०७॥
तथैव चक्रचीत्कारः तथैवोच्चैः प्रधोरितम्[6] । यथा बहिर्जलं[7] पूर्वम् अहो पुण्यं रथाङ्गिनः ॥१०८॥
महद्भिरपि कल्लोलैः [8]सीच्यमानास्तुरङ्गमाः । रथं निन्युरनायासात् प्रत्युतैषां स[9] विश्रमः[10] ॥१०९॥
रथचक्र[11]समुत्पीडाज्जलौघः[12] समुत्पतन् । न्यधाद् ध्वजांशुके जाड्यं जलानामीदृशी गतिः ॥११०॥
नाङ्गरागस्तुरङ्गाणाम् आर्द्रितः श्रमघर्मतः[13] । क्षालितः खुरवेगोत्थैः केवलं शीकरैरपाम् ॥१११॥
क्षणं रथाङ्गसङ्घट्टाज्जलमब्धेर्द्विधाभवत् । व्यभावि भाविनां वर्त्म चक्रिणामिव सूचितम् ॥११२॥
रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि संसिद्धिं पुण्यसारथिचोदितः ॥११३॥

तदनन्तर–महाभाग्यशाली बुद्धिमान् भरतने गम्भीर शब्द करते हुए उस समुद्रको देखकर, दृष्टि मात्रसे ही उसे गायके खुरके समान तुच्छ समझ लिया ॥१०३॥ और फिर अपने मनोरथकी सिद्धिके लिये सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर 'शीघ्र ही रथ बढ़ाओ' इस प्रकार सारथिके लिये जोरसे प्रेरणा की ॥१०४॥ जिनकी रास ढीली कर दी गई है और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़ोंके द्वारा ले जाया जानेवाला वह रथ लवणसमुद्रमें जहाजकी नाईं शीघ्रताके साथ जा रहा था ॥१०५॥ मनोरथसे पहले रथ जाता है अथवा रथसे पहले मनोरथ जाता है इस प्रकार जिसके वेगकी सम्भावना की जा रही है ऐसा वह रथ समुद्रमें बड़े वेगके साथ जा रहा था ॥१०६॥ क्या वह जलस्तम्भिनी विद्यासे थंभा दिया गया था अथवा स्थलपनेको ही प्राप्त हो गया था क्योंकि चक्रवर्तीके घोड़े स्थल समझकर ही जलमें रथ खींचे लिये जा रहे थे ॥१०७॥ जिस प्रकार जलके बाहर पहियोंका चीत्कार शब्द होता था उसी प्रकार जलके भीतर भी हो रहा था और जिस प्रकार जलके बाहर घोड़े दौड़ते थे उसी प्रकार जलके भीतर भी दौड़ रहे थे, अहा ! चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था ! ॥१०८॥ वे घोड़े बड़ी बड़ी लहरोंसे सींचे जानेपर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे। उन लहरोंसे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता था बल्कि उनका परिश्रम दूर होता जाता था ॥१०९॥ रथके पहियेके आघातसे आकाशकी ओर उछलनेवाले जलके समूहने ध्वजाके वस्त्रमें भी जाड्य अर्थात् भारीपन ला दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जलका ऐसा ही स्वभाव होता है। भावार्थ– संस्कृत काव्योंमें ड और ल के बीच कोई भेद नहीं माना जाता इसलिये जलानाम् की जगह जडानाम् पढ़कर चतुर्थ चरणका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मूर्ख मनुष्योंका यही स्वभाव होता है कि वे दूसरोंमें भी जाड्य अर्थात् मूर्खता उत्पन्न कर देते हैं ॥११०॥ घोड़ोंके शरीर पर लगाया हुआ अंगराग (लेप) परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेसे गीला नहीं हुआ था केवल खुरोंके वेगसे उठे हुए जलके छींटोंसे ही धुल गया था ॥१११॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षण भरके लिये जो समुद्रका जल फटकर दोनों ओर होता जाता था वह ऐसा मालूम होता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिये सूत्र डालकर मार्ग ही तैयार किया जा रहा हो ॥११२॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ चक्रवर्तीका रथ उनके अभिलषित स्थानपर पहुँच

---

१ महाभाग ल० । २ सारथिम् । ३ त्यक्तरज्जुभिः । ४ अगच्छत् । ५ स्थलमिति बुद्ध्या । ६ गतिविशेषाक्रान्तम् । ७ जलाद् बहिः । स्थले इत्यर्थः । ८ सिच्यमाना । ९ सेचनविधिः । १० श्रमहरणकारणम् । ११ समुत्पीडनात् । १२ जलसमूहः । जलानां जडानामिति ध्वनिः । १३ स्वेदैः ।

गत्वा कतिपयान्यब्धौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितोऽन्तर्जलमाक्रम्य ग्रस्ताश्व[1] इव वार्धिना ॥११४॥
द्विषड्योजनमागाह्य स्थिते मध्येऽर्णवं[2] रथे । रथाङ्गपाणिरारुष्टो[3] जग्राह किल कार्मुकम् ॥११५॥
स्फुरज्ज्यं[4] वज्रकाण्डं तद्धनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसन्देहदोलारूढमभूज्जगत् ॥११६॥
स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रक्षोभमनयद्वार्धिं चलत्तिमिकुलाकुलम् ॥११७॥
संहार्यं किममुष्याब्धिः उत विश्वमिदं जगत् । इत्याशङ्क्य क्षणं तस्थे तदा नभसि खेचरैः ॥११८॥
वक्रेऽपि गुणवत्यस्मिन् ऋजुकर्मणि कार्मुके । अमोघं सन्दधे बाणं श्लाघ्यं[6]स्थानकमास्थितः ॥११९॥
अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनन्दनः । मत्साद्भवन्तु[7] मद्भुक्तिवासिनो[8] व्यन्तरामराः ॥१२०॥
इति व्यक्तलिपिन्यासो दूतमुख्य इव द्रुतम् । स पत्री[9] चक्रिणा मुक्तः [10]प्राङ्मुखीमास्थितो गतिम् ॥१२१॥
जितनि[11]र्घातनिर्घोषं ध्वनिं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपप्तन्मागधावासे तत्सैन्यं क्षोभमानयन् ॥१२२॥
किमेष क्षुभितोऽम्भोधिः कल्पान्तपवनाहतः । निर्घातः किंस्विदुद्ध्वान्तो भूमिकम्पो नु जृम्भते ॥१२३॥
इत्याकुला[12]कुलधियः तन्निकायोपगाः सुराः । परिवव्रुरुपेत्यैनं सन्नद्धा मागधं प्रभुम् ॥१२४॥
देव कोऽप्ययं शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभाङ्गणे । तेनायं प्रकृतः[13] क्षोभो न किञ्चित्कारणान्तरम् ॥१२५॥

गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरित हुआ उनका मनोरथ भी सफलताको प्राप्त हो गया ॥११३॥ महाराज भरतका रथ समुद्रमें कुछ योजन जाकर जलके भीतर ही खडा हो गया मानो समुद्रने ऊपरकी ओर बढ़कर उसके घोडे ही थाम लिये हो ॥११४॥ जब वह रथ समुद्र के भीतर बारह योजन चलकर खडा हो गया तब चक्रवर्तीने कुछ कुपित होकर धनुष उठाया ॥११५॥ जिसकी प्रत्यचा (डोरी) स्फुरायमान है और काण्ड वज्रके समान है ऐसा वह धनुष जिस समय चक्रवर्तीने प्रत्यचासे युक्त किया था उसी समय यह जगत् अपने जीवित रहनेके सदेह रूपी झूलापर आरूढ हो गया था अर्थात् समस्त ससारको अपने जीवित रहनेका सदेह हो गया था ॥११६॥ समस्त दिशाओको बार-बार शब्दायमान करते हुए चक्रवर्तीके धनुषकी स्फुरायमान प्रत्यचाके शब्दने इधर-उधर भागते हुए मच्छोके समूहसे भरे हुए समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥११७॥ क्या यह चक्रवर्ती इस समुद्रका सहार करना चाहता है अथवा समस्त ससारका ? इस प्रकार आशका कर विद्याधर लोग उस समय क्षण भरके लिये आकाशमें खडे हो गये थे ॥११८॥ जो टेढा होकर भी गुणवान् (पक्षमे डोरीसे सहित) और सरल कार्य करनेवाला था (पक्षमें सीधा बाण छोडनेवाला था) ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने प्रशसनीय-योग्य आसनसे खडे होकर कभी व्यर्थ न जानेवाला अमोघ नामका बाण रखा ॥११९॥ 'मैं वृषभदेवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूँ इसलिये मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्रमें रहनेवाले सब व्यन्तर देव मेरे अधीन हो' इस प्रकार जिसपर स्पष्ट अक्षर लिखे हुए है ऐसा हुआ वह चक्रवर्ती के द्वारा चलाया हुआ बाण मुख्य दूतकी तरह पूर्व दिशाकी ओर मुख कर चला ॥१२०–१२१॥ और जिसने वज्रपातके शब्दको जीत लिया है ऐसा भारी शब्द करता हुआ तथा मागध देवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ वह बाण आकाश-तलसे मागध देवके निवासस्थानमें जा पडा ॥१२२॥ क्या यह कल्पान्त कालकी वायुसे ताडित हुआ समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? अथवा जोरसे शब्द करता हुआ वज्र पडा है ? अथवा भूमिकप ही हो रहा है ? इस प्रकार जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो रही है ऐसे उसके समीप रहनेवाले व्यन्तरदेव तैयार होकर मागध देवके पास आये और उसे घेरकर खडे हो गये ॥१२३–१२४॥ हे देव, हमारे सभा-

---

१ ग्रसमानं । २ अर्णवमध्ये । ३ क्रुद्धः । ४ स्फुरन्ती ज्या मौर्वी यस्य स तम् । ५ चक्रिणः । ६ स्थानकम् आत्मयोग्यस्थानम् । ७ मदधीना भवन्तु । ८ मम क्षेत्रवासिन इत्यर्थः । ९ बाणः । १० पूर्वां दिशम् । ११ वज्रनि । १२ अत्याकुलबुद्धय । १३ विहित ।

येनायं प्रहितः पत्री नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमे सज्जा वयं[1] प्रभो ॥१२६॥
इत्यारक्षिभटैस्तूर्णम् एत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं[2] भटालापैः इत्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥१२७॥
यूयं त[3] एव मद्भृत्याः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो मयेत्यरिः ॥१२८॥
बिभर्ति यः पुमान् प्राणान् परि[5]भूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेष प्रतीयते ॥१२९॥
सचित्रपुरुषो वास्तु चञ्चापुरुष[6] एव च[7] । यो विनापि गुणैः पौंस्नैः[8] नाम्नैव पुरुषायते ॥१३०॥
स पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । नरब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥१३१॥
विजिगीषुतया देवाः[10] वयं नेच्छाविहारतः[11] । ततोऽरिविजयादेव सम्पदस्तु सदापि नः ॥१३२॥
वस्तुवाहनराज्याङ्गैः आराधयति यः परम् । परभोगीणमैश्वर्यं[12] तस्य मन्ये विडम्बनम् ॥१३३॥
शरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं[13] धनमीप्सति । धनायतोऽस्य दास्यामि निधनं प्रधने[14] समम् ॥१३४॥
विचूर्ण्यैनं शरं तावत् कोपाग्नेः प्रथमेन्धनम् । करवाणीदमेवास्तु[15] 'तनुशल्कैरुपेन्धनम्'[16] ॥१३५॥

भवनके आँगनमें कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है उसीसे यह क्षोभ हुआ है इसका दूसरा कारण नहीं है ॥१२५॥ हे प्रभो, जिस किसी देव अथवा दानवने यह बाण छोड़ा है हम सब लोग उसका प्रतिकार करनेके लिये तैयार हैं ॥१२६॥ इस प्रकार रक्षा करनेवाले वीर योद्धाओंने शीघ्र ही आकर अपने स्वामी मागध देवसे निवेदन किया और मागध देवने भी बड़े जोरसे उन्हें उत्तर दिया कि चुप रहो, इस प्रकार वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे अधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध देव हूं, क्या मुझे कभी पहले अपना शत्रु सहन हुआ है? यह बात तुम लोगोंने पहले भी कभी सुनी है? ॥१२८॥ जो पुरुष पराभवसे मलिन हुए अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलाता किन्तु केवल लिङ्गसे ही पुरुष कहलाता है ॥१२९॥ जो पुरुष, पुरुषोंमें पाये जानेवाले गुणोंके बिना केवल नामसे ही पुरुष बनना चाहता है वह या तो चित्रमें लिखा हुआ पुरुष है अथवा तृण काष्ठ वगैरहसे बना हुआ पुरुष है ॥१३०॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वास्तवमें वही पुरुष कहलाता है, इससे विपरीत जो मनुष्य झूठमूठ ही अपनेको वीर कहता है पृथिवीपर उसका जन्म न लेना ही अच्छा है ॥१३१॥ हम लोग शत्रुओंको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते हैं, इच्छानुसार जहां तहां विहार करने मात्रसे देव नहीं कहलाते इसलिये हम लोगोंकी संपत्ति सदा शत्रुओंकी विजय करने मात्रसे ही प्राप्त हो ॥१३२॥ जो मनुष्य रत्न आदि वस्तु, हाथी घोड़े आदि वाहन और छत्र चमर आदि राज्यके चिह्न देकर किसी दूसरेकी आराधना-सेवा करता है उसका ऐश्वर्य दूसरोंके उपभोगके लिये हो और मैं ऐसे ऐश्वर्यको केवल विडम्बना समझता हूं ॥१३३॥ बाण चलानेवाला यह कोई राजा मुझसे धन चाहता है सो इसके लिये मैं युद्धके साथ साथ निधन अर्थात् मृत्यु दूंगा ॥१३४॥ सबसे पहले मैं इस बाणको चूर कर अपने क्रोधरूपी अग्निका पहला ईंधन बनाऊंगा, यही बाण अपने छोटे छोटे टुकड़ों

---

१ प्रभो वयम् स०, अ०, प०, इ० । २ अलमाध्वं तिष्ठत । ३ तूष्णीं तिष्ठत । ४ त पूर्वस्मिन् विद्यमाना एव । ५ परिभव । ६ तृणपुरुष । 'चञ्चा तृणादिनिर्माणे चञ्चा तु तृणपूरुषे', इत्यभिधानात् । परिकल्पनामाश्रित्य पुनः पुरुष शब्दप्रयोग । ७ वा ल०, च०, अ०, प०, स०, द० इ० । ८ पुरुषसम्बन्धिभिः । ९ अनुमति । 'नद्धो नि गाबे इति अनिप्रयमान्' । १० दीव्यन्ति विजिगीषन्तीति देवाः । ११ स्वैरविहारतः । क्रीडाविहारत इति भावः । १२ परेभ्यो हितम् । १३ अस्मत् । १४ प्रधने द०, इ०, ल०, अ०, प०, स० । युद्धे । 'युद्धमायोधनं जन्य प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यभिधानात् । १५ अल्पखण्डैः (चूर्णीकृतशरीरैः) । तनुशरीरखण्डैः । १६ सम्पूर्णम् अग्निज्वालनम् ।

साक्षेपमिति संरम्भाद् ब्रुवन् गिरमूर्जिताम् । व्यरंसीद् दशनज्योत्स्नां संहरन्मागधामरः ॥१३६॥
ततस्तमूचुरभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरम्पराः । प्रभुं शमयितुं क्रोधाद् विद्या[1]वृद्धैर्विभो[2] स्थितिः ॥१३७॥
यथार्थं[3] वरमर्थ्यं[4] च मितं च बहुविस्तरम् । अनाकुलं च गम्भीरं [5]नाधियामीदृशं वचः ॥१३८॥
सत्यं परिभवः सोढुम् अशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥१३९॥
सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥१४०॥
अलब्धलाभो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । द्वयमेतत् सुखालभ्यं जिगीषोराश्रयं विना ॥१४१॥
बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः परम् ॥१४२॥
न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता[6] । ततः शरः कुतस्त्योऽयं किमीयो[7] वेति मृग्यताम्[8] ॥१४३॥
श्रुतं च बहुशोऽस्माभिः आप्तीयं[9] पुष्कलं वचः । जिनाश्चक्रधरैस्सार्धं वर्त्स्यन्तीहेति भारते ॥१४४॥
नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः । ध्वान्तान्धतमसोद्योतः सम्भाव्योऽन्यत्र किं रवेः[10] ॥१४५॥
अथवा खलु[11] संशय्य चक्रपाणेरयं शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवैनं [12]तन्नामाक्षरमालिका ॥१४६॥

से मेरी क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला हो ॥१३५॥ इस प्रकार वह मागध देव क्रोध से तिरस्कारके साथ साथ कठोर वचन कहकर दांतोकी कान्तिको सकुचित करता हुआ जब चुप हो रहा ॥१३६॥ तब कुल-परम्पराको देखने वाले समीपवर्ती देव उसका क्रोध शमन करनेके लिये उससे कहने लगे सो ठीक ही है क्योकि राजा लोगोकी स्थिति विद्याकी अपेक्षा वृद्ध हुए मनुष्योसे ही होती है, *भावार्थ—जो मनुष्य विद्यावृद्ध अर्थात् विद्याकी अपेक्षा बडे है उन्हीसे राजा लोगोकी मर्यादा स्थिर रहती है किन्तु जो मनुष्य केवल अवस्थासे बडे है उनसे कुछ लाभ नही होता* ॥१३७॥ उन देवोने जो वचन कहे थे वे समयके अनुकूल थे, अर्थसे भरे हुए थे, परिमित थे, अर्थकी अपेक्षा बहुत विस्तारवाले थे, आकुलता-रहित थे और गभीर थे सो ठीक ही है क्योकि मूर्खोके ऐसे वचन कभी नही निकलते है ॥१३८॥ उन देवोने कहा कि हे प्रभो, यह ठीक है कि अभिमानी मनुष्योको अपना पराभव सहन नही हो सकता है परन्तु बलवान् पुरुषोके साथ विरोध करना भी तो अपने पराभवका कारण है ॥१३९॥ यह बिलकुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यशकी रक्षा करनी चाहिये परन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुषका आश्रय लिये विना बुद्धिमान् मनुष्योको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? ॥१४०॥ प्राप्त नही हुई वस्तुका प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनो ही कार्य किसी विजिगीषु राजाके आश्रयके विना सुखपूर्वक प्राप्त नही हो सकते ॥१४१॥ हे प्रभो, बलवान् मनुष्योकी अपेक्षा और भी अधिक बलवान् तथा बुद्धिमान् है इसलिये मै बलवान् हू इस प्रकार कभी गर्व नही करना चाहिये ॥१४२॥ सिद्धि अर्थात् सफलताकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नही करना चाहिये इसलिये यह बाण कहासे आया है ? और किसका है ? पहले इस बातकी खोज करनी चाहिये ॥१४३॥ इस भारतवर्षमे चक्रवर्तियोके साथ तीर्थंकर निवास करेंगे, अवतार लेंगे ऐसे आप्त पुरुषोके यथार्थ वचन हम लोगो ने अनेक बार सुने है ॥१४४॥ विजयको सूचित करनेवाला यह बाण अवश्य ही चक्रवर्तीका ही होगा क्योकि सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला प्रकाश क्या सूर्यके सिवाय किसी अन्य वस्तु मे भी सभव हो सकता है ? अर्थात् नही ॥१४५॥ अथवा इस विषयमे सशय करना व्यर्थ है । यह बाण चक्रवर्तीका ही है क्योकि इसपर खुदे हुए नामके अक्षरोकी माला साफ साफ ही

१ प्रभो स्थितिर्विद्यावृद्धैर्भवति हि। २ प्रभो स०। ३ यथावसरमर्थ्यं च द०, स०, अ०, प०, ग०, इ०। ४ अभिसरणीयम्। ५ बुद्धिहीनानाम्। ६ सिद्धिं वाञ्छता। ७ कस्य सम्बन्धि। ८ विचार्यताम्। ९ आप्तसम्बन्धि। १० रविं विवर्ज्य। ११ तथा मा कार्षीः। १२ चक्रिनामाक्षर।

तदेनं शरमभ्यर्च्य गन्धमाल्याक्षतादिभिः । पूज्यायैव विभोराज्ञा गत्वास्माभिः शरार्पणात् ॥१४७॥
मा गा मागध वैचित्यं[1] कार्यमेतद् विनिश्चिनु । न युक्तं तत्प्रतीपत्वं[2] तव तद्देशवासिनः[3] ॥१४८॥
तदलं देव संरम्भैः[4] तत्प्रातीप्यं[5] न शान्तये । महतः सरितः स्रोतः[6] प्रतीपं तरन् सुखी ॥१४९॥
बलवाननुवर्त्यश्चेद् अनुनेयोऽद्य चक्रभृत् । महत्सु वैतसीं[7] वृत्तिम् आमनन्त्यविपत्करीम् ॥१५०॥
इहामुत्र च जन्तूनाम् उदर्कं पूज्यपूजनम् । तापं त्वनुबध्नाति[8] पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥१५१॥
इति तद्वचनात् किञ्चित् प्रबुद्ध इव[10] तत्क्षणम् । अज्ञातमेवमेतत्स्याद् इत्यसौ प्रत्यपद्यत[11] ॥१५२॥
ससम्भ्रममिवास्याभूत् चित्तं किञ्चित्ससाध्वसम् । साशङ्कमिव[12] सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणम् ॥१५३॥
ततः प्रसेदुष्यां[13] तस्य नचिरादेव[14] शेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात् प्रशेमुषी[15] ॥१५४॥
सोऽयं चक्रभृतामाद्यो भरतोऽलङ्घ्यशासनः । प्रणेयः[16] सर्वथास्माभिः अनुनेयश्च सादरम् ॥१५५॥
चक्रित्वं चरमाङ्गत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्समुच्चितम् ॥१५६॥
इति निश्चित्य [17]सम्भ्रान्तैः अनुयातः सुरोत्तमैः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुम् उच्चचाल स मागधः ॥१५७॥

चक्रवर्तीको प्रकट कर रही है ॥१४६॥ इसलिये गन्ध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजा कर हम लोगोंको आज ही वहां जाकर उनका यह बाण उन्हें अर्पण कर देना चाहिये और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिये ॥१४७॥ हे मागध, आप किसी प्रकारके विकारको प्राप्त मत हूजिये, और हम लोगोंके द्वारा कहे हुए इस कार्यका अवश्य ही निश्चय कीजिये, क्योंकि उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नहीं है ॥१४८॥ इसलिये हे देव, क्रोध करना व्यर्थ है, चक्रवर्तीके साथ वैर करनेसे कुछ शान्ति नहीं होगी क्योंकि नदीके बड़े भारी प्रवाहके प्रतिकूल तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१४९॥ यदि बलवान् मनुष्यको अनुकूल बनाये रखना चाहिये यह नीति है तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिये, क्योंकि बड़े पुरुषोंके विषयमें बेंतके समान नम्र वृत्ति ही दुःख दूर करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१५०॥ पूज्य मनुष्योंकी पूजा करनेसे इस लोक तथा परलोक–दोनों ही लोकोंमें जीवोंकी उन्नति होती है और पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन अर्थात् अनादर करनेसे दोनों ही लोकोंमें पाप बन्ध होता है ॥१५१॥ इस प्रकार उन देवोंके वचनोंसे जिसे उसी समय कुछ कुछ बोध उत्पन्न हुआ है ऐसे उस मागध देवने मुझे यह हाल मालूम नहीं था यह कहते हुए उनके वचन स्वीकार कर लिये ॥१५२॥ उस समय उसके चित्तमें कुछ घबड़ाहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध-सा उत्पन्न हो रहा था ॥१५३॥ तदनन्तर थोड़ी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोधके नष्ट हो जानेसे शान्त हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब हाल देख लिया ॥१५४॥ यह वही चक्रवर्तियोंमें पहला चक्रवर्ती भरत है जिसकी कि आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको हरएक प्रकारसे इसकी पूजा करनी चाहिये और आदर सहित इसकी आज्ञा माननी चाहिये ॥१५५॥ यह चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इन तीनोंमेंसे एक एक गुण ही पूज्य होता है फिर जिसमें तीनोंका समुदाय है उसकी तो बात ही क्या कहनी है ? ॥१५६॥ इस प्रकार निश्चय कर वह मागध देव शीघ्र ही चक्रवर्तीको देखनेके लिये आकाश-मार्गसे चला, उस समय सम्भ्रमको प्राप्त हुए अनेक अच्छे अच्छे देव उसके पीछे पीछे

---

१ चित्तविकारम् । २ चक्रिप्रतिकूलत्वम् । ३-वर्तिनः प० । ४ संरम्भं मा कार्षीः । ५ प्रातिकूल्यम् । ६ प्रवाहस्य । ७ वेतससम्बन्धिनीम् । अनुकूलतामित्यर्थः । ८ पापं न० । ९ जन्तौ । १० इव । ११ अनुमेने । १२ इव अवधारणे । १३ प्रसन्नवती । १४ अचिरेणैव । १५ उपशमवती । १६ पूज्यः । माननीयः, मान्याज्ञमानम् । १७ सम्भ्रमवद्भिः ।

स्फुरन्मणिकिरीटांशुरचितेन्द्रशरासनम् । क्षणेनोल्लङ्घ्य सम्प्रापत् तं देशं यत्र चक्रभृत् ॥१५८॥
पुरोधाय[1] शरं रत्नपटले सुनिवेशितम् । मागधः प्रभुमानसीद् आर्य स्वीकुरु मामिति ॥१५९॥
चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञका[2] । महान्तमपराधं न त्वं क्षमस्वार्थितो[3] मुहुः ॥१६०॥
युष्मत्पादरजःस्पर्शाद् वार्धिरेव न केवलम् । पूता वयमपि श्रीमन् त्वत्पादाम्बुजसेवया ॥१६१॥
रत्नान्यमून्यनर्घाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च । अधो[4] निधीनामाधातुं सोपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥
हारोऽयमतिरोचिष्णुः अवाराहं[5]रशुक्तिजैः । अवेणुद्विपसम्भूतैः दृब्धो मुक्ताफलैर्भुजैः[6] ॥१६३॥
तव वक्षःस्थलाश्लेषा[7]द् उपेया[8]दुपहारताम्[10] । स्फुरन्तौ[11] कुण्डले चामू कर्णासङ्गात्पवित्रताम् ॥१६४॥
इत्यस्मै कुण्डले दिव्ये हारं च वितताार स । त्रैलोक्यसारसन्दोहमिवैकध्य[12]मुपागतम् ॥१६५॥
रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रभोरवाप्तसत्कारः तन्मतात् स्वमगात् पदम् ॥१६६॥
अथ तत्रस्य एवाब्धिं सान्तर्द्वीपं विलोकयन् । प्रभुर्विसिस्मये[13] किञ्चिद् बह्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥१६७॥
ततः कुतूहलाद् वार्धिं पश्यन्तं धूर्गतः[14] पतिम् । तमित्युवाच दन्तांशुसुमनोमञ्जरीः किरन् ॥१६८॥

पृथ्वीवृत्तम्

अयं जलधिरुच्चलत्तरलवीचिबाहूद्धतस्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसङ्ख्यशङ्खाकुलः ।
तवार्घमिव संविधित्सुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्धुतजलानको विशतु शश्वदानन्दथुम्[15] ॥१६९॥

जा रहे थे ॥१५७॥ देदीप्यमान मणियोंसे जड़े हुए मुकुटकी किरणोंसे जिसमें इन्द्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षण भरमें उल्लंघन कर वह मागध देव जहां चक्रवर्ती था उस स्थान पर जा पहुंचा ॥१५८॥ रत्नके पिटारेमें रक्खे हुए बाणको सामने रखकर मागध देवने भरत के लिये नमस्कार किया और कहा कि हे आर्य, मुझे स्वीकार कीजिये—अपना ही समझिये ॥१५९॥ हे भद्र, हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही नहीं आये सो आप हमारे इस भारी अपराधको क्षमा कर दीजिये, हम बार बार प्रार्थना करते हैं ॥१६०॥ हे श्रीमन्, आपके चरणोंकी धूलिके स्पर्शसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं हुआ है किन्तु आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥१६१॥ हे प्रभो, यद्यपि ये रत्न अमूल्य हैं और स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि आपकी निधियोंके नीचे रखनेके काम आवें ॥१६२॥ यह अतिशय देदीप्यमान तथा सूअर, सीप, बांस और हाथीमें उत्पन्न न होनेवाले दिव्य-मोतियोंसे गुथा हुआ हार आपके वक्षःस्थलके आलिंगनसे पूज्यताको प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान—चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानोंकी संगतिसे पवित्रताको प्राप्त हों ॥१६३–१६४॥ इस प्रकार उस मागध देवने एकरूपताको प्राप्त हुए तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंके समुदायके समान सुशोभित होनेवाला हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरतके लिये समर्पित किये ॥१६५॥ तदनन्तर जिसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ऐसे मागध देवने अनेक प्रकारके रत्नोंसे रत्नों के स्वामी भरत चक्रवर्तीकी पूजा की और फिर उनसे आदर-सत्कार पाकर उन्हींकी सम्मतिसे वह अपने स्थानपर चला गया ॥१६६॥

अमुष्य जलमुत्पतद्गगनमेतदालक्ष्यते शशाङ्ककरकोमलच्छविभिरातनं शीकरैः ।
प्रहासमिव विश्वभूपरिचयाय विष्वग्दधत् जिनार्थ[1] इव चात्मनः प्रतिदिशं यशो नागरम् ॥१७०॥
क्वचित्स्फुटितशुक्तिमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्यलिमलीमसं मकरमीनराशिश्रितम् ।
क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुल[2] सङ्कुलं सून्नतं नरेन्द्रकुलमुत्तमस्थितिजिगीषतीवोद्भटम् ॥१७१॥
इतो विशति गाङ्गमम्बु शरदम्बुदाच्छच्छवि सुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैन्धवम्[3] ।
तथापि न जलागमेन धृतिरस्य पोपूर्यते ध्रुवं न जलसङ्ग्रहैरिह जलाशयो[4] धायति[5] ॥१७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

व्याप्योदरं चलत्कुलाचलसन्निकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः ।
कल्लोलकाश्च परिमाणरहिताः समन्तादन्योन्यघट्टनपराः सममावसन्ति[6] ॥१७३॥

रूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान मणियोंके समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, जो शब्द करते हुए असंख्यात शंखोंसे आकुल है, जो प्रत्येक वेगके साथ जोरसे शब्द कर रहा है, वायुके द्वारा कंपित हुआ जल ही जिसके नगाड़े हैं और जो इन सबसे ऐसा जान पड़ता है मानो आपके लिये अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह समुद्र सदा आपके लिये आनन्द देवे ॥१६९॥ आकाशकी ओर उछलता हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल कान्तिवाले जलके छोटे छोटे छींटोंसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पड़ता है मानो दिशारूपी स्त्रियों के साथ परिचय करनेके लिये चारों ओरसे हास्य ही कर रहा हो अथवा अपना यश बाँटकर प्रत्येक दिशामें फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ खुली हुई सीपोंके मोतियोंसे व्याप्त हुआ, भ्रमरके समान काला और मकर मीन, मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंकी राशि—समूहसे भरा हुआ यह समुद्रका जल कहीं ताराओं सहित, भ्रमरके समान श्याम और मकर मीन आदि राशियों से भरे हुए आकाशको जीतता है तो कहीं राजाओंके कुलको जीतना चाहता है क्योंकि जिस प्रकार राजाओंका कुल भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह जल भी भोगी अर्थात् सर्पोंके समूहसे व्याप्त है, जिस प्रकार राजाओंका कुल सून्नत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार यह जल भी सून्नत अर्थात् अत्यन्त ऊंचा है, जिस प्रकार राजाओंका कुल उत्तम स्थिति अर्थात् मर्यादासे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उत्तम स्थिति अर्थात् अवधि (हद्द) से सहित है, और राजाओंका कुल जिस प्रकार उद्भट अर्थात् उत्कृष्ट योद्धाओंसे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥१७१॥ इधर हिमवान् पर्वत से निकला हुआ तथा शरदृतुके बादलोंके समान स्वच्छ कान्तिका धारण करनेवाला गङ्गा नदीका जल प्रवेश कर रहा है और उस ओर सिन्धु नदीका मीठा जल प्रवेश कर रहा है, फिर भी जलके आनेसे इसका सन्तोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जलाशय (जिसके बीचमें जल है, पक्षमें जड आशयवाला—मूर्ख) जल (पक्षमें जड-मूर्ख) के संग्रहसे कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता है। भावार्थ—जिस प्रकार जलाशय अर्थात् मूर्ख मनुष्य जल संग्रह अर्थात् मूर्ख मनुष्योंके संग्रहसे सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जलाशय अर्थात् जलसे भरा हुआ समुद्र या तालाब जल-संग्रह अर्थात् पानीके संग्रह करनेसे सन्तुष्ट नहीं होता ॥१७२॥ इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभाग अथवा पेटमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अत्यन्त पुष्ट हुए तथा चलते हुए कुलाचलोंके समान बड़े बड़े इसके पुत्रोंके समान मारमच्छ और प्रमाण रहित

---

१ चिन्तयितुमिच्छत् । २ सरसमूह पक्षे मानिसमूह । ३ सिन्धुनद्याम्बुवि । ४ जलाधार जडबुद्धिश्च । ५ प्राप्नोति तृप्तिं । ६ तृप्तौ । –६ मावसन्ति स०, द० ।

आपो धनं घृतरसाः सरितोऽस्य दाराः पुत्रीयिता[1] जलचराः सिकताश्च रत्नम् ।
इत्थं विभूति[2]लवदुर्ललितो विचित्रं धत्ते महोदधिरिति प्रथि[3]मानमेषः ॥१७४॥
निःश्वासधूममलिनाः फणमण्डलान्त-[4]स्सुव्य[5]क्तरत्नरुचयः परितो भ्रमन्तः ।
व्यायच्छमानतनवो[6] रुषितै[7]रकस्मात् अत्रोल्मुकश्रि[8]यममी दधते फणीन्द्राः ॥१७५॥
[9]पादैरयं जलनिधिः शिशिरैरपीन्दोः आस्पृश्यमानसलिलः सहसा समुद्यन् ।
रोषादिवोच्चलति[10] मुक्तगभीरभाषो वेलाछलेन[11] न महान् सहतेऽभिभूतिम्[12] ॥१७६॥
नाकौकसां धृतरसं[13] सहकामिनीभिः आक्रीडनानि[14] [15]सुमनोहरकाननानि ।
द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सन्त्यन्तरीपमिव[16] दुर्गनिवेशनानि[17] ॥१७७॥

अनेक लहरें ये सब चारो ओरसे एक दूसरेको धक्का देते हुए एक ही साथ इस समुद्रमें निवास कर रहे हैं ॥१७३॥ हे प्रभो, इस समुद्रके जल ही धन हैं, रस अर्थात् जल अथवा शृङ्गार या स्नेहको धारण करनेवाली नदियां ही इसकी स्त्रियां हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही इसके पुत्र हैं और बालू ही इसके रत्न हैं इस प्रकार यह थोडी सी विभूतिको धारण करता है तथापि महोदधि इस भारी प्रसिद्धिको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ–इस श्लोकमें कविने समुद्रकी दरिद्र अवस्थाका चित्रण कर उसके महोदधि नामपर आश्चर्य प्रकट किया है । दरिद्र अवस्थाका चित्रण इस प्रकार है । हे प्रभो, इस समुद्रके पास आजीविकाके योग्य कुछ भी धन नहीं है । केवल जल ही इसका धन है अर्थात् दूसरोको पानी पिला पिलाकर ही अपना निर्वाह करता है, इसकी नदीरूप स्त्रियोका भी बुरा हाल है वे बेचारी रस-जल धारण करके अर्थात् दूसरेका पानी भर-भरकर ही अपनी आजीविका चलाती है । पुत्र हैं परन्तु वे सब जलचर अर्थात् (जडचर) मूर्ख मनुष्योके नौकर हैं अथवा मूर्ख होनेसे नौकर हैं अथवा पानीमें रहकर शेवाल-बीनना आदि तुच्छ कार्य करते हैं, इसके सिवाय कुल परम्परासे आई हुई सोना-चांदी रत्न आदिकी संपत्ति भी इसके पास कुछ नहीं है–बालू ही इसके रत्न है, यद्यपि इसमें अनेक रत्न पैदा होते हैं परन्तु वे इसके निजके नहीं हैं उन्हें दूसरे लोग ले जाते हैं इसलिये दूसरेके ही समझना चाहिये इस प्रकार यह बिलकुल ही दरिद्र है फिर भी महोदधि (महा + उ + दधि*) अर्थात् लक्ष्मीका बडा भारी निवासस्थान इस नामको धारण करता है यह आश्चर्य की बात है । आश्चर्यका परिहार ऊपर लिखा जा चुका है ॥१७४॥ जो निःश्वासके साथ निकलते हुए धूमसे मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कान्ति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो रही है, जो चारो ओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत लम्बे हैं, और जो अकस्मात् ही क्रोध करने लगते हैं ऐसे ये सर्प इस समुद्रमें अलातचक्रकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥१७५॥ इस समुद्रका जल चन्द्रमाके शीतल पादो अर्थात् पैरो से (किरणोंसे) स्पर्श किया जा रहा है, इसलिये ही मानो यह क्रोधसे गम्भीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके छलसे बदला चुकानेके लिए अकस्मात् आकाशकी ओर उछल कर दौड़ रहा है सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष तिरस्कार नहीं सह सकते ॥१७६॥ इस समुद्रके जलके

१ पुत्रा इव आचरिता । २ विभूतेरैश्वर्यस्य लवो लेशस्तेन दुर्ललितो दुर्गर्व । लवणाम्भोऽत्र विचित्रकारणम् । ३ प्रसिद्धिनाम् । ४ फणामण्डलमध्ये । ५ सुप्रकट । ६ दीर्घभवच्छरीरा । ७ रोषै । ८ अलातचक्रभाम् । ९ किरणैः चरणैरिति ध्वनि । १० –दिवोच्छलतीति म० । ११ जलविकारव्याजेन । 'अत्युच्चकैर्महता वेला' इत्यभिधानात् । १२ पराभवम् । १३ विमानविशेषणम् । मतिरस द० । प्रतरसां म० । १४ आगमकल्पतरु श्रीडनानि येषु तानि । १५ समनोहर इत्यपि क्वचित् पाठ । १६ अन्तर्द्वीपमिव । 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यभिधानात् । १७ महार्दुर्गमप्रदेशानि गिरिदुर्गादिनिवेशनानि च यत्रैतानि । * 'दधि क्षीरसमवायादामावे श्रीवासरवेऽपि' इति मेदिनी

मालिनीवृत्तम्

अयमनिभृतवेलो रुद्धरोधोऽन्तरालैः[1] अनिलबलविलोलैरूर्मिकल्लोलजालैः ।
तटवनमभिहन्ति व्यक्तमस्मै[2] प्रकुप्यन् मम किल बहिरस्मान्नास्ति वृत्तिर्मुधेति[4] ॥१७८॥
अविगणितमहत्त्वा यूयमस्मान् स्वपादैः अभिहथ[5] किमलङ्घ्य वो वृथा तोऽङ्ग्यमेतत् ।
वयमिव किमलङ्घ्या किं गभीरा इतीत्थं परिवदति 'विरावैर्नून'मब्धिः कुलाद्रीन् ॥१७९॥

प्रहर्षिणीवृत्तम्

अत्राय भुजगशिशुर्बिलाभिशङ्की व्यात्तास्यं[6] तिमिमभिधावति प्रहृष्टः ।
सोऽपि स्वगलबिलावलग्नमग्नं स्वान्त्रास्थ[7] विहितदयो न जेगिलीति[8] ॥१८०॥

दोधकवृत्तम्

एष महा[9]मणिरश्मिविकीर्णं तोयममुष्य[10] धृतामिष[11]शङ्कः ।
मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद् वह्निभिया पुनरप्यपयाति ॥१८१॥
लोलतरङ्गविलोलितदृष्टिः वृद्धतरोऽप्यमति[12] सुमनः[13] न ।
हा रथमेष तिमिङ्गिलशङ्की पश्यति पश्य तिमि[14] स्तिमिताक्षः[15] ॥१८२॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

इहामी भुजङ्गा भरत्नैः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य भोगान्[16] समुद्वीक्षमाणाः ।
विभान्त्यन्त एते तरङ्गोऽहस्तैः धृता दीपिकौघा महावारिनेव ॥१८३॥

भीतर अपनी देवाङ्गनाओंके साथ बड़े वेगसे आते हुए देवोंके हजारों क्रीड़ा करनेके स्थान हैं, हजारों मनोहर वन हैं और हजारों सुन्दर द्वीप हैं तथा वे सब ऐसे जान पड़ते हैं मानो इसके भीतर बने हुए किले ही हों ॥१७७॥ ज्वार-भाटाओंसे चञ्चल हुआ यह समुद्र इन वनके बाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है इसलिये इसपर प्रकट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके वनको वायुके वेगसे अतिशय चञ्चल और पृथिवी तथा आकाशके मध्य भागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे व्यर्थ ही ताडन कर रहा है ॥१७८॥ हे प्रभो, यह गरजता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता है मानो अपने ऊँचे शब्दोंसे कुलपर्वतोंको यही कह रहा है कि हे कुलपर्वतो, तुम्हारी ऊँचाई बहुत है इसीलिए क्या तुम अपने पैरों अर्थात् अन्तके भागोंसे हम लोगोंकी ताडना कर रहे हो? तुम्हारी यह व्यर्थकी ऊँचाई क्या उल्लंघन करनेके अयोग्य है? क्या तुम हमारे समान अलंघ्य अथवा गम्भीर हो? ॥१७९॥ इधर यह सांपका बच्चा अपना बिल समझ कर प्रसन्न होता हुआ, मुख फाड़े हुए मच्छके मुखमें दौड़ा जा रहा है और वह भी अपने गलेरूप बिलमें लगे हुए इस सांपके बच्चेको अपने अन्तरंगमें सचित हुई निर्दयताके कारण निगल रहा है ॥१८०॥ इधर यह मछलियोंका समूह पद्मराग मणिकी किरणोंसे व्याप्त हुए इस समुद्रके जलको मांस समझकर उसे लेनेके लिये दौड़ता है और फिर अकस्मात् ही अग्नि समझकर वहांसे लौट आता है ॥१८१॥ हे देव, इधर देखिये, चञ्चल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चञ्चल हो रही है और जो बहुत ही बूढ़ा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला बड़ा मच्छ समझकर निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हमारा ख्याल है कि यह बड़ा मूर्ख है ॥१८२॥ इधर

१ अस्थिर । अचलमित्यर्थः । २ आकाशान्तरैः । 'भूम्याकाशान्तरमध्यान्तरेषु रोधम्' । ३ तटवनाय । ४ वृथा । ५ अभिताडयथ । ६ परिभर्त्सयति । ७ इव । ८ विवृताननम् । ९ मत्स्य । मत्स्यस्य चावलग्नं च तुदाऽन्तः इत्यमरः । १० निजगुरोरन्तर्विद्यमानतया (?) । ११ भृशं गिरति । १२ पद्मराग । १३ समुद्रस्य । १४ पतन । १५ ज्योतिर्बुद्धिः । १६ आघ्नातम् । १७ मन्द । १८ 'स्तिमिता यादृशनिश्चलामिषनिधानात्' । १९ शरीराणि । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृत्यावहेश्च फणकाययोः' ।

भुजङ्गप्रयातैरिद वारिराशेः जलं लक्ष्यतेऽन्तःस्फुरद्रत्नकोटि ।
महानीलवेश्मेव दीपैरनेकैः ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततध्वान्तनुद्भिः[1] ॥१८४॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वाताघातात् पुष्कर[2]वाद्यध्वनिमुच्चैः तन्वानेऽब्धौ मन्द्रगभीरं कृतलास्याः ।
द्वीपोपान्ते सन्ततमस्मिन् सुरकन्याः रंरम्यन्ते मत्तमयूरैः सममेताः[3] ॥१८५॥
नीलं श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतनादा[4] विद्युद्वन्तः[5] स्फुरितभुजङ्गोत्फणरत्नम् ।
आश्लिष्यन्तो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तिं[6] नोपव्रजि[7]तुमलं ते[8] घनकाले ॥१८६॥
पश्याम्भोधेरनुतटमेनां वनराजीं राजीवास्य[9] प्रशमिततापां विततापाम्[10] ।
वेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः[11] परिधौतां नीलां शाटीमिव[12] सुमनोभिः प्रविकीर्णाम् ॥१८७॥

तोटकवृत्तम्

परितः[13] सरसीः सरसैः कमलैः सुहिता[14] सुचिरं विचरन्ति मृगाः ।
[15]उपतीरममुष्य निसर्गसुखां वसतिं [16]निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥१८८॥
अनुतीरवनं[17] मृगयूथमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं रुचिभिः ।
परिवीक्ष्य दवानलशङ्कि भृशं परिधावति[18] धावति तीरभुवः ॥१८९॥

रत्नसहित फणाके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊंचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए ये सर्प ऐसे जान पडते है मानो इस महासमुद्रने अपने तरंगोरूपी बड़े बड़े हाथोसे दीपकोके समूह ही धारण कर रखे हो ॥१८३॥ जिसके भीतर करोड़ो रत्न देदीप्यमान हो रहे है ऐसा यह महासमुद्रका जल सर्पोके इधर-उधर जानेसे ऐसा दिखाई देता है मानो फैले हुए अन्धकारको नष्ट करते हुए, जलते हुए और चलते हुए अनेक दीपकोसे सहित महानील मणियोका बना हुआ घर ही हो ॥१८४॥ जिस समय यह समुद्र वायुके आघातसे पुष्कर (एक प्रकारका बाजा) के समान गभीर और ऊचे शब्द करता है उस समय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोके साथ साथ नृत्य करती हुई ये देवकन्याए निरन्तर क्रीडा किया करती है ॥१८५॥ वर्षाऋतुमें बादलोके समूह और इस समुद्रका जल दोनो एक समान रहते है क्योकि वर्षाऋतुमे बादलोके समूह काले रहते है और समुद्रका जल भी काला रहता है, बादलोके समूह जोरसे गरजते हुए आनन्दित होते है और समुद्रका जल भी जोरसे शब्द करता हुआ आनन्दित होता है—लहराता रहता है, बादलोके समूहमें बिजली चमकती है और समुद्रके जलमे भी सर्पोके ऊचे उठे हुए फणाओ पर रत्न चमकते रहते हैं, इस प्रकार बादलोके समूह अपने समान इस समुद्रके जलका आलिंगन करते हुए वर्षाऋतुमें किसी दूसरी जगह नही जा सकते यह स्पष्ट है ॥१८६॥ कमलके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले हे देव, समुद्रके किनारे किनारेकी इन वनपक्तियोको देखिये जिनमें कि सूर्यका संताप बिलकुल ही शान्त हो गया है, जहा तहा विस्तृत जल भरा हुआ है, जो फूलोंसे व्याप्त हो रही है और जो बडी बडी लहरोके उछलते हुए जलकी बूदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साड़ियोके समान जान पड़ती है ॥१८७॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें उपद्रव रहित तथा स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर सरस कलमी धानोको खाते हुए ये हरिण बहुत काल तक इन तालाबोके चारो ओर घूमा करते है ॥१८८॥ इस किनारेके वनमें कान्ति

१ ध्वान्तान्धकारनाशकैः । २ जलमिति वाद्य अथवा चर्मानद्धवाद्यभेद । ३ सममेतैः स०, द० । ४ धृतमोदा म० । ५ तडिद्वन्त । ६ व्यक्त स० । ७ गन्तुम् । ८ मेघसमूहा । ९ कमलास्य । १० विस्तृतजलाम् । ११ जलकणैः । 'कणिका कथ्यतेऽन्यत्र सूक्ष्मवस्त्वग्निमन्थयो' ॥ १२ वस्त्रम् । १३ परितः समन्ततः । १४ पोषिता । १५ तटे । १६ निरुपद्रवाम् । १७ तटवने । १८ परिमण्डले (वेलायाम्)

प्रहर्षिणी

लावण्याद्यमभिसारयन्[1] सरित्स्त्रीराश्लिष्यन्प्रतनु[2]जलांशुकास्तरङ्गैः ।
आश्लिष्यन्मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं सम्भोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥१९०॥

वसन्ततिलका

रोधोभुवोऽस्य[3] तनुशीकरवारिसिक्ता सम्मार्जिता विरलमुच्चलितैस्तरङ्गैः ।
भान्तीह सन्ततलताविगलत्प्रसून-नित्योपहारसुभगाः सुमदां[4] निषेव्याः ॥१९१॥

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गोद्यानश्रियमिव हसत्युत्प्रसूने[5] वनेऽस्मिन् मन्दाराणां सरति[6] पवने मन्दमन्दं वनान्तात् ।
मन्दाक्रान्ता[7] मलतिनपद[8] किञ्चिदारब्धगाना[9] वल्गन्त्यस्मै[10] खगयुवतयस्तीरदेशेऽस्य मुग्धाः ॥१९२॥

प्रहर्षिणी

अभ्यर्ण[11]स्थितिनिरयमानिमिषा[12]सुराराद् अभ्येति द्रुतमभिलाषुकोऽम्बुयोनिम्[13] ।
शैलोच्चानपि निगिलन्तिमीनिनोऽन्यो व्यत्यास्ते[14] सममुना युयुत्समानः[15] ॥१९३॥

पृथ्वी

जलादजगरस्तिमिं ग्रसमपि[16] स्थलादम्बुजो[17] विकर्षति[18] युयुत्सया[19] कृतदृढग्रहो[17] दुर्ग्रहः[18] ।
तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्ष्ययोरेनयो ध्रुवं न समकक्ष्ययोरिह जयेतरप्रक्रमः[20] ॥१९४॥

से प्रकाशमान सुवर्णमय स्थानोंको देखकर जिसे दावानलकी शंका हो रही है ऐसा यह हरिणों का समूह बहुत शीघ्र किनारेकी पृथिवीकी ओर लौटता हुआ दौड़ा जा रहा है ॥१८९॥ यह समुद्र, जिनके जलरूपी सूक्ष्म वस्त्र कुछ कुछ नीचेकी ओर खिसक गये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियों को लावण्य अर्थात् सुन्दरताके कारण (पक्षमें खारापनके कारण) अपनी ओर बुलाता हुआ तथा तरंगोंके द्वारा बार-बार उनका आलिंगन करता हुआ भी कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यन्त रसिक अर्थात् कामी (पक्षमें जल सहित) होता है वह इस संसार में अनेक बार संभोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है ॥१९०॥ जो छोटी छोटी बूँदोंके पानी के सींचनेसे स्वच्छ हो गई हैं, निरन्तर लताओंसे गिरते हुए फूलोंके उपहारसे जो सदा सुन्दर जान पड़ती हैं, और जो देवोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं ऐसी ये समुद्रके किनारेकी भूमियाँ विरल विरल रूपसे उछलती हुई लहरोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥१९१॥ स्वर्गके उपवनकी शोभाकी ओर हँसनेवाले तथा फूलोंसे भरे हुए इस वनमें मन्दार वृक्षोंके वनके मध्य भागसे यह वायु धीरे धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ कुछ गाना प्रारम्भ किया है ऐसी ये धीरे धीरे चलनेवाली विद्याधरियाँ इस समुद्रके किनारेके प्रदेशोंपर लीलापूर्वक पैर रखती उठाती हुई टहल रही हैं ॥१९२॥ इधर, इस जलमें उत्पन्न हुए अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कार कर उनके मारनेकी इच्छा करता हुआ यह इसी जलमें उत्पन्न हुआ बड़ा मच्छ बहुत शीघ्र दूरसे उनके सम्मुख आ रहा है और पर्वतके समान बड़े बड़े मच्छोंको निगलता हुआ यह दूसरा बड़ा मच्छ उस पहले बड़े मच्छके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ खड़ा है ॥१९३॥ इधर, यह अजगर जलमेंसे किसी बड़े मच्छको अपनी ओर खींच रहा है और मगरमच्छ जमीनसे पकड़ने-

1 अभिमानिकाया कुर्वन् । 2 स्वच्छ । 3 तटभूमयः । 4 देवानाम् । 5 हसतीति हसत् तस्मिन् । 6 सर्पति गच्छति तस्मिन् । 7 मन्दगमना । 8 मन्दं मन्द । 9 आरब्धुमिच्छ । 10 अभिसर्पन्ति । 11 निकटस्थ जलचर वा । 12 वेगयोगेन स्थित । 13 जलचरम् । 14 सन्निध । 15 आवर्तते । 16 ग्रसितुमिच्छया । 17 परस्परविजिगीषुग्रहणम् । ग्रहः स्वीकारः । 18 युयुत्सुनाक्रमः । 19 गमनवन्दा । 20 अजयः ।

वनं[1] वनगजैरिद जलनिधे समास्फालितं वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसाराविणम् ।
मृदङ्गपरिवादनश्रियमुपादधद्दिक्तटे तनोति तटमुच्चलत्सपदि दत्तसम्मार्जनम् ॥१९५॥
तरत्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशल्का[2]चितं स्फुरत्परुषनिस्वनं विवृतरन्ध्रपातालकम् ।
भयानकमितो जलं जलनिधेर्लसत्पन्नगप्रमुक्ततनु[3]कृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलम् ॥१९६॥
इतो धुतवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन् उपैति शनकैस्तटद्रुमसुगन्धिपुष्पाहरः[4] ।
इतश्च परुषोऽनिलः स्फुरति धूतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुनन् ॥१९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अस्योपान्तभुवश्चकासति तरां वेलोच्चलन्मौक्तिकैः आकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृशम् ।
सेवन्ते सह सुन्दरीभिरमरा याः स्वर्गलोकान्तरम् मन्वाना[5] धृतसम्मदास्तटवनच्छायातरूनाश्रिताः ॥१९८॥
एते ते मकरादयो जलचरा मत्वैव कुक्षिम्भरिम्[6] वारां राशिमनन्तरायमधिकं पुत्रा इवास्यौरसाः[7] ।
भागस्य[8] प्रतिलिप्सया नु[9] [10]जनकस्याक्रोशतोऽप्यग्रतो युध्यन्ते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धनम् ॥१९९॥
लोकानन्दिभिरप्रमा[11]परिगतैरुच्चावचैर्भोगिनां[12] स आरूढैरधिमस्तकं[13] सुचितमैः सन्तापविच्छेदिभिः ।
पातालैर्विवृताननैर्मुहुरपि प्राप्तव्ययैरक्षयैः आससारममुष्य नास्ति विगमो[14] रत्नैर्जलौघैरपि ॥२००॥

वाला यह दुष्ट मच्छ भी लडनेकी इच्छासे उसे जमीनपरसे अपनी ओर खीच रहा है तथापि एक समान बल रखनेवाले इन दोनोमें परस्पर किसीकी जीत नही हो रही है सो ठीक ही है क्योकि इस संसारमें जो समान शक्तिवाले है उनमे परस्पर जय और पराजयका निर्णय नही होता है ॥१९४॥ जंगली हाथियोके द्वारा अतिशय ताडन किया हुआ यह समुद्रका जल, जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट रूपसे गर्जना कर रहे है ऐसे किसी वनके समान तथा मृदंग बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और दिशाओमें उछलता हुआ किनारेको बहुत शीघ्र शुद्ध कर रहा है ॥१९५॥ जिसमें अनेक मछलियोके शरीर तैर रहे है, जो खुली हुई सीपोके टुकडोसे व्याप्त है, जिसमें कठोर शब्द हो रहे है, जिसने अपने रन्ध्रोमे पातालको भी धारण कर रखा है, और जो तैरते हुए सापोसे छूटी हुई काचलियोसे लोगोको ऐसा संदेह उत्पन्न करता है मानो लहरोके समूहसे ही व्याप्त हो ऐसा यह समुद्रका जल इधर बहुत भयानक हो रहा है ॥१९६॥ इधर, वनको हिलाता हुआ, शीतल जलकी बूंदोको बरसाता हुआ और वृक्षोके सुगन्धित फूलोकी सुगन्धिका हरण करता हुआ वायु धीरे धीरे किनारेकी ओर बह रहा है और इधर बडे बडे मच्छोके शरीरको कपाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोके शब्दोसे भयंकर यह प्रचण्ड वायु बह रहा है ॥१९७॥ जो बडी बडी लहरोसे उछलते हुए मोतियोसे व्याप्त होकर फूलोके उपहारसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, किनारेके वनके छायादार वृक्षोके नीचे बैठे हुए देव लोग हर्षित होकर अपनी अपनी देवांगनाओके साथ जिनकी सेवा करते है और इसीलिये जो दूसरे स्वर्ग लोककी शोभा बढाती है ऐसी ये इस समुद्रके किनारेकी भूमियां अत्यन्त सुशोभित हो रही है ॥१९८॥ ये मगरमच्छ आदि जलचर जीव, जिसके पास अनन्त धन है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन-पोषण करनेवाला पिता समझकर सगे पुत्रोके समान उसका धन बांटकर अपने भाग (हिस्से)को अधिक रूपमे लेनेकी इच्छासे, गर्जनाके शब्दोके बहाने चिल्लाते हुए पिताके सामने ही इकट्ठे होकर क्रोधित होते हुए परस्परमें लड रहे है, हाय ! ऐसे धनको धिक्कार हो ॥१९९॥ सब ओरसे पडे हुए अनेक पातालो अर्थात् विवरो और

---

१ प्रथम । २ [illegible] । ३ [illegible]—म० द०, इ०, अ०, प०, स०, ब० । [illegible]
४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । [illegible]
[illegible] । [illegible] । ८ [illegible] । ९ भाग [illegible] । १० इव । ११ प्रमाणरहितैः ।
१२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ [illegible] ।

स्रग्धरा

वज्रोद्व्यामनुष्य स्वयमिव जठरं व्यक्तमुद्बुद्बुदाम्बुस्फूर्जत्पातालरन्ध्रोच्छ्वसदनिलबलाद्दिक्ष्वगावर्तमानम्[1] ।
प्रस्तीर्णानेकरत्नान्यपहरति जने नूनमुत्तप्तमन्तः प्रायो रायां[2] वियोगो जनयति महतामप्युरुमन्तर्विदाहम् ॥२०१॥

प्रहर्षिणी

आयुष्मन्निति बहुविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः ।
गम्भीरप्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते[3] विना जडिम्ना[4] ॥२०२॥

वसन्ततिलका

इत्थं नियन्तरि[5] परां श्रियमम्बुराशेः आवर्णयत्यनुगुणैर्वचनैर्विचित्रैः ।
प्राप प्रमोदमधिकं नचिराच्च[6] सम्राट् सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥२०३॥

बडवानलोंके द्वारा बार बार ह्रास होनेपर भी जिनका कभी क्षय नहीं हो पाता है, जो लोगोंको आनन्द देनेवाले हैं, प्रमाण-रहित हैं, अनेक प्रकारके हैं, सर्पोंके फणाओंपर आरूढ है, अत्यन्त पवित्र हैं, और संतापको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे रत्नों तथा जलके समूहोंकी अपेक्षा इस समुद्रका जब तक संसार है तब तक कभी भी नाश नहीं होता। भावार्थ–यद्यपि इस समुद्रके अनेक रत्न इसके विवरों-बिलोंमें घुसकर नष्ट हो जाते हैं और जलके समूह बडवानलमें जलकर कम हो जाते हैं तथापि इसके रत्न और जलके समूह कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं हो पाते क्योंकि जितने नष्ट होते हैं उससे कहीं अधिक उत्पन्न हो जाते हैं ॥२००॥ बहुत बड़े पाताल रूपी छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढ़ते हुए वायुके जोरसे जो चारों ओर घूम रहा है और जिसमें जलके अनेक बबूले उठ रहे हैं ऐसा यह समुद्रका उदर अर्थात् मध्यभाग वज्रकी कड़ाहीमें खौलता हुआ सा जान पड़ता है अथवा लोग इसके जहां तहां फैले हुए अनेक रत्न ले जाते हैं इसलिये मानो यह भीतर ही भीतर संतप्त हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग प्रायः करके बड़े बड़े पुरुषोंके हृदयमें भी भयकर दाह उत्पन्न कर देता है ॥२०१॥ हे आयुष्मन्, जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपके पास अच्छे अच्छे रत्न हैं उसी प्रकार इस समुद्रके पास भी अच्छे अच्छे रत्न हैं, जिस प्रकार संसारके समस्त प्राणी आपके उपजीव्य हैं अर्थात् आपकी सहायतासे ही जीवित रहते हैं उसी प्रकार इस समुद्रके भी उपजीव्य हैं अर्थात् समुद्रमें उत्पन्न हुए रत्न मोती तथा जल आदिसे अपनी आजीविका करते हैं, जिस प्रकार आप गंभीर प्रकृतिवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी गभीर (गहरी) प्रकृतिवाला है और जिस प्रकार आप अनल्पसत्त्व योग अर्थात् अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्व योग अर्थात् बड़े बड़े जलचर जीवोंसे सहित है अथवा जिस प्रकार आप अनालस्त्व योग अर्थात् आलस्यके सम्बन्धसे रहित हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनालसत्व योग अर्थात् नाल (नरा) रहित जीवोंके सम्बन्धसे सहित है इस प्रकार यह समुद्र ठीक आपका अनुकरण कर रहा है। यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि यह जलकी ऋद्धिसे सहित है और आप जल अर्थात् मूर्ख (जड) मनुष्योंकी ऋद्धिसे रहित हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सारथिने समुद्रकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब सम्राट् भरत बहुत ही अधिक आनन्दको प्राप्त हुए तथा शीघ्र ही अपनी छावनीमें जानेके लिये उद्यत हुए ॥२०३॥

---

१ –वर्त्यमानम् द०, प०, म०। २ धनानाम्। ३ अनुकरोति। ४ जडत्वेन। ५ सारथौ। ६ आशु।

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रोद्घोषितमङ्गलैर्जयजयेत्यानन्दितो वन्दिभिः गत्वान्तः शिबिरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन् ।
[१]अन्तर्वंशिकलोकवारवनितादत्ताक्षताशासनः[२] प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोन्नमत्केतनम् ॥२०९॥

वसन्ततिलका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः ।
आशीष्वमाध्वमिह[३] सम्मुखमेत्य तूर्णम् इत्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥२१०॥
जीवेति नन्दतु भवानिति वर्धयेथा[४] देवेति निर्जयरिपूनिति गां[५] जयेति ।
त्वं [६]स्ताच्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति पुण्याशिषा शतमलम्भि तदा स वृद्धैः ॥२११॥
जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिः देव प्रशाधि[७] वसुधामिति सिद्धरत्नः ।
त्वं जीवताच्चिरमिति प्रथमं चिरायुः प्रायोजि मङ्गलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥२१२॥
देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घ्यपारम् उल्लङ्घ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात्[८] ।
पुण्यैकसारथिरिहेति विनान्तरायं पुण्ये प्रसेदुषि[९] नृणां किमिवास्त्यलङ्घ्यम् ॥२१३॥

रहे हैं ऐसा वह भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुंचा ॥२०८॥ वहां पर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए वन्दीजन जिन्हें आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुंचे वहां परिवारके लोगों तथा वेश्याओंने उन्हें मंगलाक्षत तथा आशीर्वाद दिये। इस प्रकार निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएं फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमें प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होंने शरीरमें कुछ चोट लगे बिना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिये तुम मंगलाक्षत सहित सिद्ध तथा शेषाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामें बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें, समृद्धिमान् हों, सदा बढ़ते रहें, आप शत्रुओंको जीतिये, पृथिवीको जीतिये, आप चिरायु रहिये और समस्त मनोरथोंको प्राप्त कीजिये—आपकी सब इच्छाएं पूर्ण हों इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योंने भरत महाराजके लिये सैकड़ों पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओंको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हें आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओंको जीतिये, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोंको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें आशीर्वाद मिला था कि हे देव! आप पृथिवीका शासन कीजिये, और इसी प्रकार वे पहलेसे ही चिरायु थे तथापि आशीर्वादमें उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें—चिरायु हों। इस प्रकार मंगल समझकर लोगोंने उन्हें पुनरुक्त (कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिये फिरसे कहे हुए,) वचनोंसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उल्लंघनकर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर बिना किसी विघ्न-बाधाके यहां वापिस आ गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल पुण्यके रहते

---

१ कञ्चुकी । 'अन्तर्वंशिका अन्तःपुराधिकारिणः ।' 'अन्तःपुरेष्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः' इत्यभिधानात् । २ आशीर्वचनः । ३ आशीषं कुरुध्वम् । ४ भुवम् । ५ भव । ६ भाविन् । ७ शासु अनुशिष्टौ लोट् । ८ उपागमत् । ९ प्रसन्ने सति ।

मालिनी

अथ रथपरिवृत्त्यै[1] सारथौ कृच्छ्रकृच्छ्रात् विषमवलन[2]भुग्नग्रीवमश्वाननुनीतौ[3] ।
धुवति मरुति मन्दं वीचिवेगोपशान्ते शिबिरमभिनियोनामीशिता सम्प्रतस्थे ॥२०४॥
कथमपि रथचक्रं [4]सारयित्वाम्बुरुद्धम् [5]प्रवहणकृतकोपान् वाजिनोऽनुप्रसाद्य[6] ।
रथमधि जलमब्धौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानु[7]व्रज्ययेवोच्चचाल ॥२०५॥
अयमयमुदभारो[8] वारिराशेर्वरूथं स्थगयति रथवेगादेष भिन्नोर्मिरब्धिः ।
इति किल [9]तटसद्भिस्तर्क्यमाणो रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः[10] प्राप पारंसमुद्रम्[11] ॥२०६॥

शिखरिणी

[12]तरङ्गात्यस्तोऽयं [13]समघटितसर्वाङ्गघटनो रथः क्षेमात् प्राप्तो रथचरण[14]हेतिश्च कुशली ।
तुरङ्गा धौताङ्गा जलधिसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जजल्पुस्तटजुषः[15] ॥२०७॥
नृपैर्गङ्गाद्वारे प्रणतमणिमौल्यर्पितकरं अधस्तात्तद्वेद्याः सजयजयघोषैरधिकृतैः[16] ।
बहिर्द्वार[17] सैन्यैर्युगपदसकृद्घोषितजयं विभुर्दृष्ट प्रापत् स्वशिबिरबहिस्तोरणभुवम् ॥२०८॥

अथानन्तर–जब सारथिने बडी कठिनाईसे रथ लौटानेके लिये विषम रूपसे घूमनेके कारण गलेको कुछ टेढा कर घोडोको हाका, मन्द मन्द वायु बहने लगा और लहरोका वेग शान्त हो गया तब निधियोके स्वामी भरतने छावनीकी ओर प्रस्थान किया ॥२०४॥ पानीसे रुके हुए रथके पहियोको किसी तरह बाहर निकालकर और बार बार हाकने अथवा बोझ धारण करनेके कारण कुपित हुए घोडोको प्रसन्न कर सारथि समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चला रहा था, और वह समुद्र भी उस रथके पीछे पीछे जानेके लिये ही मानो उछल रहा था ॥२०५॥ अरे, यह समुद्रकी बडी भारी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढक लेगी और इधर रथके वेग से समुद्रकी लहरे भी फट गई है इस प्रकार किनारे पर खडे हुए लोग जिसके विषयमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क कर रहे है ऐसा वह वेगशाली घोडोसे खीचा हुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुचा ॥२०६॥ जिसके समस्त अगोकी रचना एक समान सुन्दर है ऐसा यह रथ लहरो को उल्लघन करता हुआ कुशलतापूर्वक किनारे तक आ गया है, चक्ररत्नको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरत भी सकुशल आ गये है और समुद्रके जलसे जिनके समस्त अग धुल गये है तथा जिनके खुर भी नही घिसे है ऐसे घोडे भी राजी-खुशी आ पहुचे है । अहा ! विजयी चक्रवर्तीका बडा भारी पुण्य है, इस प्रकार किनारे पर खडे हुए लोग परस्परमे वार्तालाप कर रहे थे ॥ ॥२०७॥ जो वेदीके नीचे गङ्गाद्वारपर नियुक्त किये गये है, जिन्होने नवाये हुए मणिमय मुकुटो पर अपने अपने हाथ जोडकर रखे है और जो जय जय शब्दका उच्चारण कर रहे है ऐसे राजा लोग, तथा दरवाजेके बाहर एक साथ बार बार जयघोष करनेवाले सैनिक लोग जिसे देख

---

१ परिवर्तनाय । २ विषमाकर्षणकुटिलग्रीव यथा भवति तथा । ३ प्रेरितमिच्छौ सति । ४ गमयित्वा । ५ प्रेरण । ६ प्रसाद नीत्वा । ७ अनुगमनेन । ८ जलसमूह । ९ तीरस्थै । १० वेगास्वाकृष्ट । ११ समुद्रस्य पारम् । १२ तरङ्गान् त्यस्त तरङ्गात्यस्त इति द्वितीयातत्पुरुष । यस्यचिना सर्वांगनत्वात् । १३ समान यथा भवति तथा घटित । १४ चक्रायुध । १५ तटसेविन । तीरस्था इत्यर्थ । १६ अधिकारिभि । १७ द्वारस्य बाह्ये ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रोद्घोषितमङ्गलैर्जयजयेत्यानन्दितो वन्दिभिः गत्वातः शिबिरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन्।
'अन्तर्वंशिकलोकयारवनितादत्ताशिषाशासनः[२] प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोल्लसत्केतनम् ॥२०९॥

वसन्ततिलका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः।
आशीध्वमाध्वमिह[३] सम्मुखमेत्य तूर्णम् इत्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥२१०॥
जीवेति नन्दतु भवानिति वर्धिषीष्ठा देवेति निर्जयरिपूनिति गां[४] जयेति।
त्वं 'स्तात्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति'[५] पुण्याशिषां शतमलम्भि तदा स वृद्धैः ॥२११॥
जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिः देव प्रशाधि[६] वसुधामिति सिद्धरत्नः।
त्वं जीवतात्चिरमिति प्रथमं चिरायुः आयोजि मङ्गलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥२१२॥
देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घ्यपारम् उल्लङ्घ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात्[७]।
पुण्यैकसारथिरिहेति विनान्तरायैः पुण्ये प्रसेदुषि[८] नृणां किमिवास्त्यलङ्घ्यम् ॥२१३॥

रहे हैं ऐसा वह भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुंचा ॥२०८॥ वहां पर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए वन्दीजन जिन्हें आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुंचे वहां परिवारके लोगों तथा वेश्याओंने उन्हें मंगलाक्षत तथा आशीर्वाद दिये। इस प्रकार निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएं फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमें प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होंने शरीर में कुछ चोट लगे बिना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिये तुम मंगलाक्षत सहित सिद्ध तथा शेषाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामें बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें, समृद्धिमान् हों, सदा बढ़ते रहें, आप शत्रुओंको जीतिये, पृथिवीको जीतिये, आप चिरायु रहिये और समस्त मनोरथोंको प्राप्त कीजिये—आपकी सब इच्छाएं पूर्ण हों इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योंने भरत महाराजके लिये सैकड़ों पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओंको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हें आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओंको जीतिये, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोंको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें आशीर्वाद मिला था कि हे देव! आप पृथिवीका शासन कीजिये, और इसी प्रकार वे पहलेहीसे चिरायु थे तथापि आशीर्वाद में उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें—चिरायु हों। इस प्रकार मंगल समझकर लोगोंने उन्हें पुनरुक्त (कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिये फिरसे कहे हुए,) वचनोंसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उलंघनकर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर बिना किसी विघ्न-बाधाके यहां वापिस आ गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल पुण्यके रहते

---

१ कञ्चुकी। 'अन्तर्वंशिका अन्तःपुराधिकारिणः।' 'अन्तःपुरेष्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः' इत्यभिधानात्। २ आशीर्वचन। ३ आशिषं कुरुध्वम्। ४ भूयम। ५ भव। ६ पालि। ७ भाग्य मनुष्यो भव्। ८ उपागमत्। ९ प्रसन्ने सति।

पुण्यादयं भरतचक्रधरो जिगीषुः उद्भिन्नवेलमनिलाहतवीचिमालम् ।
प्रोल्लङ्घ्य वार्धिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यम् ॥२१४॥
पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमं[1] पृथ्वीं स्वसादकृत[2] चक्रधरः पृथुश्रीः ।
दुर्लङ्घ्यमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात् परं न खलु साधनमिष्टसिद्ध्यै ॥२१५॥
चक्रायुधोऽयमरिचक्रभयङ्करश्रीः आक्रम्य [3]सिन्धुमतिभीषणनक्रचक्रम् ।
चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्यं पुण्यात् परं न हि वशीकरणं जगत्याम् ॥२१६॥
पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते[4] नॄन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु नियन्ति तापम् ।
पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥२१७॥
पुण्यं परं शरणमापदि दुर्विलङ्घ्यं पुण्यं दरिद्रति[5] जने धनदायि पुण्यम् ।
पुण्यं सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिनुध्वम् ॥२१८॥
पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् ।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥२१९॥

हुए मनुष्योंको क्या अलघनीय (प्राप्त न होने योग्य) रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१३॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भरत चक्रवर्तीने पुण्यके प्रभावसे, जिसमें ज्वार-भाटा उठ रहे हैं और जिसमें लहरोंके समूह वायुसे ताडित हो रहे हैं ऐसे समुद्रको उल्लंघन कर शीघ्र ही मागध देवको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि अतिशय बलवान् पुण्यके रहते हुए संसारमें अजय्य अर्थात् जीतनेके अयोग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१४॥ बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रवके उल्लघन करनेके अयोग्य समुद्रको उल्लघन कर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथिवीको अपने आधीन कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिके लिये पुण्यसे बढकर और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिये जिनकी सम्पत्ति बहुत ही भयकर है ऐसे चक्रवर्ती भरतने अत्यन्त भयकर मगर-मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्रको उल्लघन कर अन्य किसीके वश न होने योग्य मागध देवको निश्चित रूपसे वश कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि लोकमें पुण्यसे बढकर और कोई वशीकरण (वश करनेवाला) नहीं है ॥२१६॥ पुण्य ही मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान होकर शीघ्र ही समस्त संतापको नष्ट कर देता है और पुण्य ही जल तथा स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिये हे भव्य जनो, तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए पुण्यकर्म करो ॥२१७॥ पुण्य ही आपत्तिके समय किसीके द्वारा उल्लघन न करनेके योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्योंके लिये धन देनेवाला है और पुण्य ही सुखकी इच्छा करनेवाले लोगोंके लिये सुख देनेवाला है, इसलिये हे सज्जन पुरुषो ! तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए इस पुण्यरूपी रत्नका सचय करो ॥॥२१८॥ जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेसे उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा पुण्य है, व्रत पालन करनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ, चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके पुण्योंका

---

१ सीमां म०, द०, ब०, अ०, प०, स०। २ स्वाधीन चकार। ३ समुद्रम्। ४ प्राप्नोति। –मिवाप्नुवन्ति म०, ल०। ५ दरिद्रयति।

इत्यं स्वपुण्यपरिपाक[1]जमिष्टलाभं संश्लाघयन्[2] जनतया[3] श्रुतपुण्यघोषः ।
चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत्[4] ॥२२०॥

हरिणी

धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि[5] स्पृशति पवने मन्द मन्द तरङ्गविभेदिनि ।
अनुसरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिजयश्लाघाशीर्भिर्जिनाननुचिन्तयन् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंशं पर्व ।

सचय करना चाहिये ॥२१९॥ इस प्रकार जिसने लोगोंके समूहसे पुण्यकी घोषणा सुनी है ऐसे चक्रवर्ती भरत, अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए इष्ट वस्तुओंके लाभकी प्रशंसा करते हुए सभा-भवनमें पहुंचे और वहां राजाओंके समूहके मध्यमें इन्द्रके समान बड़े भारी राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुए ॥२२०॥ जिस समय किनारेके वनको हिलानेवाला, रक्त अशोक वृक्षकी कोंपलोंके सम्पुटको भेदन करनेवाला और लहरोंको भिन्न भिन्न करनेवाला वायु धीरे धीरे वह रहा था उस समय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और आशीर्वादके साथ साथ जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण करते हुए भरतने गङ्गा नदीके किनारे किनारे ठहरी हुई सेनाके साथ सुखसे निवास किया था ॥२२१॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें पूर्वसमुद्रके द्वारको विजय करनेका वर्णन करनेवाला अट्ठाईसवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ उदयजम् । २ स श्लाघयन् ल० । ३ जनसमूहेन । ४ अधिवसति स्म । ५ पल्लवपुटोद्भेदिनि ।

एकोनत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीम् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधि ॥१॥
[1]यतोऽस्य [2]पटढक्कानां ध्वनिरामन्द्रमुच्चरन् । मूर्छितः[3] काहलारावैः अब्धिध्वानं तिरोदधे[4] ॥२॥
प्रयाणभेरीनिःस्वानः सम्मूर्छन्[5] गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत् क्षोभं हृदयानि च विद्विषाम् ॥३॥
विबभुः पवनोद्धूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव कल्लोलान् उद्वेला[6]नाजुहूषवः[7] ॥४॥
एकतो लवणाम्भोधिः अन्यतोऽप्युपसागरः । तन्मध्ये [8]यान्बलौघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥५॥
हस्त्यश्वरथपादातदेवाश्च सनभश्चराः । षडङ्गं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी[9] ॥६॥
पुरः प्रतस्थे दण्डेन[10] चक्रेण तदनन्तरम् । ताभ्यां विशोधिते मार्गे तद्बलं प्रययौ सुखम् ॥७॥
तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितम्[11] । दण्डोऽपि दण्डपक्षस्य कालदण्ड[12] इवापरः ॥८॥
प्रययौ निकषाम्भोधिं[13] समया तटवेदिकाम्[14] । अनुवेलावनं सम्राट् सैन्यं संश्रावयन्[15] दिशः ॥९॥
अनुवार्धितटं [16]कर्षन्नलङ्घ्यां स्वामनीकिनीम् । आज्ञालतां नृपाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥१०॥
चलिते चलितं पूर्वं निर्याते निःसृतं पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन्[17] सेनानीभिरिवारिभिः ॥११॥

अथानन्तर–चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करते हुए समुद्रके किनारे किनारे चले ॥१॥ जिस समय चक्रवर्ती जा रहा था उस समय तुरहीके शब्दोंसे मिली हुई बड़े बड़े नगाड़ोंकी गंभीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥२॥ हाथियोंकी चिंघाड़ोंसे मिले हुए प्रस्थानके समय बजनेवाले नगाड़ोंके शब्द समस्त दिशाओं तथा शत्रुओंके हृदयोंको क्षोभ प्राप्त करा रहे थे ॥३॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे उड़ती हुई विजय-पताकाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको ही बुला रही हों ॥४॥ उस सेनाके एक ओर (दक्षिणकी ओर) तो लवण समुद्र था और दूसरी (उत्तर की) ओर उपसागर था उन दोनोंके बीच जाता हुआ वह सेनाका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥५॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर सब ओर फैल गई थी ॥६॥ सेनामें सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा साफ किये हुए मार्गमें सुखपूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥७॥ चक्रवर्तीका वह एक चक्र ही शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेके लिये करोंतके समान था तथा दण्ड ही दण्ड देने योग्य शत्रुओंके लिये दूसरे यमदण्डके समान था ॥८॥ सम्राट् भरत समुद्रके समीप समीप किनारेकी वेदीके पास पास किनारेके अनुसार अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंको गुंजाते हुए–सचेत करते हुए चले ॥९॥ अपनी अलंघनीय सेनाको समुद्रके किनारे किनारे चलाते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी आज्ञारूपी लताको राजारूपी पर्वतोंके मस्तकपर चढ़ाते जाते थे ॥१०॥ महाराज भरतके शत्रु उनके सेनापतियोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार महाराजके चलनेकी इच्छा होते ही सेनापति

---

१ गच्छतः । २ पट ब०, द०, ट० । ३ मिश्रितः । ४ आच्छादयति स्म । ५ मिश्रीभवन् । ६ उज्जृम्भितान् । ७ स्पर्धया आह्वातुमिच्छवः । ८ गच्छन् । ९ द्यावापृथिव्यौ । 'भूद्यावौ रोदसी रोदसी च' इत्यमरः । १० दण्डरत्नेन । ११ करपत्रमिव आचरितम् । १२ यमस्य दण्डः । १३ अम्भोधेः समीपम् । निकषा सविधे मध्ये । १४ तटवेदिकायाः समीपे । १५ साधयन् । १६ प्रापयन् । १७ भरते ।

निष्क्रान्त इति सम्भ्रान्तैरायात इति भीवशैः। प्राप्त[1] इत्यनवस्थैश्च[2] प्रणेमे सोऽरिभूमिपैः ॥१२॥
[3]महापगारयस्येव तरोरस्य बलीयसः। यो यः [4]प्रतीपमभवत् स स निर्मूलतां ययौ ॥१३॥
[5]प्रतीपवृत्तिमादर्शे छायात्मानं[6] च नात्मनः। विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ[7] किमुत द्विषम् ॥१४॥
चमूरवश्रवादेव[8] कैश्चिदस्य विरोधिभिः। [9]चमूरुवृत्तमारब्धम् अतिदूरं पलायितैः[10] ॥१५॥
[11]महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद् भयादुत्सृष्टमण्डलैः[12]। भुजङ्गैरिव निर्मोकः तत्यजेऽपि परिच्छदः[13] ॥१६॥
प्रदुष्टान् भोगिनः[14] कांश्चित् प्रभुरुद्धृत्य मन्त्रतः[15]। वल्मीकेष्विव दुर्गेषु [16]कुल्यानन्यानतिष्ठिपत्[17] ॥१७॥

पहले ही चलनेके लिये तैयार हो जाते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको चलनेके लिये तत्पर सुनकर स्वयं चलनेके लिये तत्पर हो जाते थे अर्थात् स्थान छोडकर भागनेकी तैयारी करने लगते थे अथवा भरत की ही शरणमें आनेके लिये उद्यत हो जाते थे, जिस प्रकार महाराज के नगरसे बाहर निकलते ही सेनापति उनसे पहले बाहर निकल आते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको नगरसे बाहिर निकला हुआ सुनकर स्वयं अपने नगरसे बाहर निकल आते थे अर्थात् नगर छोडकर बाहर जानेके लिये तैयार हो जाते थे अथवा भरतसे मिलनेके लिये अपने नगरोंसे बाहर निकल आते थे और जिस प्रकार महाराजके प्रस्थान करते ही सेनापति उनसे पहले प्रस्थान कर देते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजका प्रस्थान सुनकर उनसे पहले ही प्रस्थान कर देते थे अर्थात् अन्यत्र भाग जाते थे अथवा चक्रवर्तीसे मिलनेके लिये आगे बढ आते थे ॥११॥ चक्रवर्ती भरत नगरसे बाहर निकला यह सुनकर जो व्याकुल हो जाते थे, चक्रवर्ती आया यह सुनकर जो भयभीत हो जाते थे और वह समीप आया यह सुनकर जो अस्थिरचित्त हो जाते थे ऐसे शत्रु राजा लोग उन्हें जगह जगह प्रणाम करते ॥१२॥ जिस प्रकार किसी महानदीके बलवान् वेगके विरुद्ध खडा हुआ वृक्ष निर्मूल हो जाता है—जड सहित उखड जाता है उसी प्रकार जो राजा उस बलवान् चक्रवर्तीके विरुद्ध खडा होता था—उसके सामने विनयभाव धारण नहीं करता था वह निर्मूल हो जाता था—वंशसहित नष्ट हो जाता था ॥१३॥ एक पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह भरत जब कि दर्पणमें उलटे पडे हुए अपने प्रतिबिम्बको भी सहन नहीं करता था तब शत्रुओंको किस प्रकार सहन करता ? ॥१४॥ कितने ही विरोधी राजाओंने तो उनकी सेनाका शब्द सुनते ही बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति प्रारम्भ की थी ॥१५॥ और कितने ही वैभवशाली बडे बडे राजाओंने भयसे अपने अपने देश छोडकर छत्र चमर आदि राज्य-चिह्नोंको उस प्रकार छोड दिया था जिस प्रकार कि बडे बडे फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपने वलयाकार आसनको छोडकर कांचली छोड देते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्पोंको मन्त्रके जोरसे उठाकर वामीमें डाल देते हैं उसी प्रकार भरतने अन्य कितने ही भोगी-विलासी दुष्ट राजाओंको मन्त्र (मन्त्रियोंके साथ की हुई सलाह) के जोरसे उखाडकर किलोंमें डाल दिया था, उनके स्थानपर अन्य कुलीन राजाओंको बैठाया

१ समीपं प्राप्तः। २ अवस्थामतिक्रान्तैः। त्यक्तपूर्वस्वभावैरित्यर्थः। ३ महानदीवेगस्य। ४ प्रतिकूलम्। ५ प्रतिकूलवृत्तिम्। ६ छायास्वरूपम्। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः। ७ सहते स्म। ८ सेनाध्वनिसमाकर्णनात्। ९ कम्भाजादिरेणजकरणविशेषवर्तनम्। 'कदली कन्दली चीनश्चमूरप्रियकावपि। समूरश्चेति हरिणा अमी अजिनयोनयः।' इत्यभिधानात्। १० पलायिभिः ल०, प०, द०,। ११ पक्षे महाकायैः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यभिधानात्। १२ त्यक्तभूभागैः। पक्षे त्यक्तवलयैः। १३ परिच्छदोऽपि छत्रचामरादिराजचिह्नोऽपि परित्यक्तः। १४ पक्षे सर्पान्। १५ मन्त्रशक्तितः। १६ सत्कुलजान्। १७ स्थापयति स्म।

अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यषेवि सुखशीतला ॥१८॥
केषाञ्चित् पत्रनिर्मोक्षं[1] छायापायं[2] च भूभुजाम् । पादपानामिव ग्रीष्मः [3]समभ्यर्णश्चकार सः ॥१९॥
ध्वस्तोष्मप्रसरा[4] गाढम् उच्छ्वसन्तोऽन्तराकुलाः । प्राप्तेऽस्मिन्[5] वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषताम्[6] ॥२०॥
[7]वैरकाम्यति यः[8] स्मास्मिन् प्रागेव विननाश सः । [9]विदिध्यापयिषुर्वह्निं शलभः कुशली किमु ॥२१॥
वस्तुवाहनसर्वस्वम् आच्छिद्य[10] प्रभुराहरन्[11] । अरित्वमरिचक्रेषु[12] व्यक्तमेव चकार सः ॥२२॥
स्वयमर्पितसर्वस्वा नमन्तश्चक्रवर्तिनम् । पूर्वमप्यरयः पश्चाद् अधिकारित्व[13]माचरन् ॥२३॥
साधनै[14]रमुनाक्रान्ता या धरा धृतसाध्वसा[15] । साधनैरेव तं तोषं नीत्वाऽभूद्धृतसाध्वसा ॥२४॥
कुल्याः [16]कुलधनान्यस्मै दत्त्वा स्वां भुवमार्जिजन्[17] । कुल्या[18] धनजलौघस्य जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥२५॥
प्रजाः करभराक्रान्ता यस्मिन् स्वामिनि दुःस्थिताः[19] । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदण्डं[20] न्यधाद् विभुः ॥२६॥

था ॥१७॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं थी और जो अपना संताप नष्ट करना चाहते थे ऐसे कितने ही राजाओंने सुख तथा शान्ति देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥१८॥ जिस प्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु वृक्षोंके पत्र अर्थात् पत्तोंका नाश कर देता है और उनकी छाया अर्थात् छाहरीका अभाव कर देता है उसी प्रकार समीप आये हुए भरतने कितने ही राजाओंके पत्र अर्थात् हाथी घोड़े आदि वाहनों (सवारियों) का नाश कर दिया था और उनकी छाया अर्थात् कान्तिका अभाव कर दिया था। भावार्थ–भरतके समीप आते ही कितने ही राजा लोग वाहन छोड़कर भाग जाते थे तथा उनके मुखकी कान्ति भयसे नष्ट हो जाती थी ॥१९॥ महाराज भरतके समीप आते ही शत्रु राजाओंका सब तेज (पक्षमें गर्मी) नष्ट हो गया था उनके भारी भारी श्वासोच्छ्वास चलने लगे थे और वे अन्तःकरणमें व्याकुल हो रहे थे, केवल उनका मरना ही बाकी रह गया था ॥२०॥ जिस पुरुषने भरतके साथ शत्रुता करनेकी इच्छा की थी वह पहले ही नष्ट हो चुका था, सो ठीक ही है क्योंकि अग्निको बुझानेकी इच्छा करनेवाला पतंगा क्या कभी सकुशल रह सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२१॥ महाराज भरतने शत्रुओंके हीरा मोती आदि रत्न तथा सवारी आदि सब धन छीन लिया था और इस प्रकार उन्होंने समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको स्पष्ट रूपसे अरि अर्थात् धन-रहित कर दिया था ॥२२॥ अपने आप समस्त धन भेंट कर चक्रवर्तीको नमस्कार करनेवाले राजा लोग यद्यपि पहले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे बड़े भारी अधिकारी हुए थे ॥२३॥ जो पृथिवी पहले भरतकी सेनासे आक्रान्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथिवी अब अपने धनसे भरतको सन्तोष प्राप्त कराकर निर्भय हो गई थी ॥२४॥ उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए अनेक राजाओंने भरतेश्वरके लिये अपनी कुलपरम्परासे चला आया धन देकर फिरसे अपनी पृथिवी प्राप्त की थी सो ठीक ही है क्योंकि कुल्य अर्थात् कुलपरम्परासे आया हुआ धन और कुल्या अर्थात् नेहरमें उत्पन्न हुआ जल ये दोनों ही पृथिवीसे उत्पन्न हुए पदार्थ, जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके होते हैं ॥२५॥ जिस राजाके रहते हुए प्रजा करके बोझसे दब कर दुःखी हो रही थी,

---

१ वाहन[illegible] । [illegible] पर्णविनाशम् । २ कान्तिहानिम् । ३ समीपस्थः । ४ निरस्तप्रभावप्रसराः । ५ [illegible] । ४ भरते । ६ [illegible] । ७ वैर [illegible] । ८ [illegible] द० । ([illegible] टिप्पणी) । ९ शमयितुमिच्छुः । १० आकृष्य । ११ स्वीकुर्वन् । १२ [illegible] वित्तं धनं यस्य [illegible] । १३ [illegible] । १४ [illegible] । १५ [illegible] । १६ कुलजाः । १७ उपार्जयन्ति स्म । [illegible] । १८ [illegible] । [illegible] । अथवा [illegible] । [illegible] । १९ दुःस्थिताः [illegible] । २० [illegible] ।

निजग्राह[1] नृपान् दृप्तान्[2] अनुजग्राह[3] सत्क्रियान्। न्याय्यः[4] क्षात्रो[5]ऽयमित्येव प्रजाहितचिकीर्षया ॥२७॥
योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम्। प्रजापालेष्वपि[6] प्रायस्तस्य चिन्त्यत्वमीयतुः ॥२८॥
पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य[7] मता वर्णाश्रमाः[8] प्रजाः[9]। पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजा यत्नेन ते[10] धृताः[11] ॥२९॥
पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकम्। तद्द्वयं साध्यसिद्ध्यङ्गं सेनाङ्गानि विभूतये ॥३०॥
इति मण्डलभूपालान् बलात् प्राणमयन्नमम्[12]। [13]मानमेवाभनक्[14] तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥३१॥
प्रतिप्रयाणमभ्येत्य [15]प्राणंसिषुरमुं नृपाः। प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहन्तः स्वेषु मूर्धसु ॥३२॥
प्रणताननुजग्राह सातिरेकैः[16] फलैः प्रभुः। किमु कल्पतरोः सेवास्त्यफलाल्पफलापि वा ॥३३॥
[17]सम्प्रेक्षितैः स्मितैर्हासैः सविश्रम्भैश्च[18] जल्पितैः[19]। सम्राट् सम्भावयामास नृपान् सम्माननैरपि[20] ॥३४॥
स्मितैः प्रसादैः सञ्जल्पैः विस्रम्भं हसितैर्मुदम्। प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्ति स्म नृपेषु सः ॥३५॥

भरतने उसे हटाकर उसके पदपर किसी अन्य नीतिमान् राजाको बैठाया था ॥२६॥ उन्होंने अहंकारी राजाओंको दण्डित किया था और सत्कार अथवा उत्तम कार्य करनेवाले राजाओं पर अनुग्रह किया था सो ठीक ही है क्यों कि प्रजाका हित करनेकी इच्छामें क्षत्रियोंका यह ऐसा न्याय ही है ॥२७॥ राजा भरतने जगत्की स्थितिके लिये केवल प्रजाके विषयमें ही योग (नवीन वस्तुको प्राप्त करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) की चिन्ता नहीं की थी किन्तु प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाओंके विषयमें भी प्रायः उन्हें योग और क्षेमकी चिन्ता रहती थी ॥२८॥ किसी एक देशके राजाकी प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण रूप मानी जाती है परन्तु चक्रवर्तीकी प्रजा नम्रीभूत हुए राजा लोग ही माने जाते हैं इसलिये चक्रवर्तीको प्रजाके साथ साथ राजाओंकी चिन्ता करना भी उचित है ॥२९॥ भरतके समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही मुख्य साधन था, और चक्ररत्न उस पुण्यकी पुष्टि करनेवाला था, पुण्य और चक्ररत्न ये दोनों ही उसके साध्य (सिद्ध करने योग्य विजय रूप कार्य) की सिद्धिके अंग थे, बाकी हाथी घोडे आदि सेनाके अंग केवल वैभवके लिये थे ॥३०॥ इस प्रकार मण्डलेश्वर राजाओंसे बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्तीने उनका केवल मान भंग ही किया था, अपनी सेवाके लिये जो उनका प्रेम था उसे नष्ट नहीं किया था ॥३१॥ प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पडावपर आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥३२॥ प्रणाम करनेवाले राजाओंको महाराज भरतने बहुत अधिक फल देकर अनुगृहीत किया था सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा क्या कभी फलरहित अथवा थोडा फल देनेवाली हुई है ? ॥३३॥ सम्राट् भरतने कितने ही राजाओंकी ओर देखकर, कितने ही राजाओंकी ओर मुसकराकर, कितने ही राजाओंकी ओर हंसकर, कितने ही राजाओंके साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर, और कितने ही राजाओंका सन्मान कर उन्हें प्रसन्न किया था ॥३४॥ उन्होंने कितने ही राजाओंपर मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी, कितने ही राजाओंपर वार्तालाप कर अपना विश्वास प्रकट किया था, कितने ही राजाओंपर हंसकर अपना हर्ष प्रकट किया था और कितने ही राजाओंपर प्रेमपूर्ण

---

१ निग्रहं करोति स्म। २ दर्पाविष्टान्। ३ स्वीकृतवान्। ४ न्यायादनपेतः। ५ क्षत्रियधर्मः। ६ पार्थिवेषु। ७ एकदेशवतः। ८ क्षत्रियादिवर्णा ब्रह्मचर्यादि आश्रमाः। ९ प्रजा इति प०, ल०। १० पार्थिवाः। ११ स्वीकृताः। १२ प्रह्वीभूतानकुर्वन्। १३ गर्वमेव। १४ मर्दयति स्म। 'भञ्जो आमर्दने'। १५ नमस्कुर्वन्ति स्म। १६ नैरन्तर्यघनात् गाधिकैः। १७ स्निग्धावलोकनैः। सप्रेक्षितैः ल०। १८ सविश्वासैः। 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। १९ वचनैः। २० वस्त्राभरणादिपूजनैः।

[1]अतार्पीत् प्रणतानेव [2]समताप्सीद् विरोधिनः । शमप्रतापौ क्ष्मां जेतुं[3] पार्थिवस्योचितौ गुणौ ॥३६॥
प्रसन्नया दृशैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूभङ्गेणास्फुटत्[4] कोपः सत्यं महनटो[5] नृपः ॥३७॥
[6]अङ्गान्मणिभिरत्यङ्गैर्वङ्गांस्तुङ्गैर्मतङ्गजैः । तैश्च तैश्च कलिङ्गेशान् सोऽभ्यनन्ददुपानतान्[7] ॥३८॥
[8]मागधायितमेवास्य स्फुटं [9]मागधैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलाषुकैः ॥३९॥
कुरूनवन्तीन् पाञ्चालान् काशीश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनायासाद् आचकर्ष[11] चमूपतिः ॥४०॥
[12]व्रजन् मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुह्मकान् । पुण्ड्रानौण्ड्रांश्च गौडांश्च [13]मतमश्रावयद् विभोः ॥४१॥
दशार्णान् कामरूपांश्च काश्मीरानप्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान् सोऽचिराद् वशमानयत् ॥४२॥
ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान्[14] गजान् । गिरीनिव महोच्छ्रायान् [15]प्रश्च्योतन्मदनिर्झरान् ॥४३॥
[16]दशार्णकवनोद्भूतानपि चेदिककूशजान्[17] । दिङ्नागस्पर्धिनो नागान् [18]प्रादुर्नाग[19]वनाधिपाः ॥४४॥
विभोर्बलभरक्षोभम् असहन्तीव दुःसहम् । सुषुवेऽनन्तरत्नानि गर्भिणीव[20] वसुन्धरा ॥४५॥

दृष्टि डालकर अपना प्रेम प्रकट किया था ॥३५॥ उन्होंने नम्रीभूत राजाओंको सतुष्ट किया था और विरोधी राजाओंको अच्छी तरहसे सतप्त किया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवीको जीतनेके लिये शान्ति और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण माने गये हैं ॥३६॥ राजा भरत नमस्कार करनेवाले पुरुषपर अपनी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्नता प्रकट करते थे और साथ ही शत्रुके उपर भौंह टेढी कर क्रोध प्रकट करते जाते थे इसलिये यह उक्ति सच मालूम होती है कि राजा लोग नट तुल्य होते हैं ॥३७॥ उत्तम उत्तम मणियोंको भेट कर नमस्कार करते हुए अग देशके राजाओंपर ऊचे ऊचे हाथियोंको भेट कर नमस्कार करते हुए वग देशके राजाओं पर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेट कर नमस्कार करते हुए कलिंग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥३८॥ भरतेश्वरके प्रसादकी इच्छा करनेवाले मगध देशके राजा उनके उत्कृष्ट गुण गा रहे थे इसलिये वे ठीक मागध अर्थात् बन्दीजनोंके समान जान पडते थे ॥३९॥ भरत महाराजके सेनापतिने कुरु, अवती, पाचाल, काशी, कोशल और वैदर्भ देशोंके राजाओंको विना किसी परिश्रमके अपनी ओर खीच लिया था अर्थात् अपने वश कर लिया था ॥४०॥ मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स सुह्म, पुण्ड्र, औण्ड्र और गौड देशोंमे जा जा कर सेनापतिने सब जगह भरत महाराजकी आज्ञा सुनाई थी ॥४१॥ उसने दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके समस्त राजाओंको बहुत शीघ्र वश कर लिया था ॥४२॥ वहाके राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने झर रहे हैं ऐसे, पूर्व देशमे उत्पन्न होनेवाले तथा कलिंग और अगार देशमें उत्पन्न होनेवाले, पर्वतोंके समान ऊचे ऊचे हाथी महाराज भरतके लिये भेंटमे दिये थे ॥४३॥ जिनमें हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसे वनोंके स्वामियोंने दिग्गजोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले, दशार्णक वनमें उत्पन्न हुए तथा चेदि और करूश देशमें उत्पन्न हुए हाथी महाराजके लिये प्रदान किये थे ॥४४॥ उस समय भरतेश्वरको पृथिवीपर जहा तहा अनेक रत्न भेटमे मिल रहे थे इसलिये ऐसा जान पडता था मानो गर्भिणीके समान पृथिवीने चक्रवर्तीकी सेनाके बोझसे उत्पन्न हुए दु सह क्षोभको न सह सकनेके कारण ही अनन्त रत्न उत्पन्न किये हुए हों ॥४५॥

---

१ तर्पयामास । २ सन्तापयति स्म । ३ जेतुं ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४ व्यक्तो बभूव । ५ नटवद्रूप । ६ अङ्गदेशाधिपान् । ७ अनर्घ्यैः । ८ आनतान् । ९ मागधीयित -प०, इ० । स्तुतिपाठका इवाचरितान् । १० मगधाधिपैः । ११ स्वीकृतवान् । १२ गच्छन् । १३ शासनम्, आज्ञामित्यर्थः । १४ प्राक्कलिङ्गमध्यादिविन्ध्यदेशाङ्गारजान् । १५ गलत् । १६ दशार्णदेशसम्बन्धि । १७ चेदिकरूशजान् प०, द० । १८ ददति स्म । १९ गजवन । २० गर्भस्थितिरिव ।

आपाण्डरगिरिप्रस्थाद् आ च वैभारपर्वतात् । आनीलाद् गोरथादस्य विचेरुर्जयकुञ्जराः ॥४६॥
वङ्गाङ्गपुण्ड्रमगधान् [2]मलदान् काशिकोसलान् । सेनानीः परिबभ्राम जिगीषुर्जयसाधनैः ॥४७॥
कालिन्दकालकूटौ च किरातविषयं तथा । मल्लदेशं च सम्प्रापन्मतादस्य[4] चमूपतिः ॥४८॥
धुनीं सुमागधीं गङ्गां गोमतीं च कपीवतीम् । रथास्फां[5] च नदीं तीर्त्वा चेरुरस्य चमूगजाः ॥४९॥
गम्भीरामतिगम्भीरां कालतोयां च कौशिकीम् । नदीं कालमहीं ताम्राम् अरुणां निघुरामपि[7] ॥५०॥
स लौहित्यसमुद्रं[8] च कम्बुकं च महत्सरः । चमूमतङ्गजास्तस्य भेजुः प्राच्यं[9] वनोपगाः ॥५१॥
दक्षिणेन[10] नदं शोणम् उत्तरेण च नर्मदाम् । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीम् ॥५२॥
विचेरुः स्वखुरोद्धूतधूलीरुद्धदिगङ्गणाः । [11]जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथाः[12] जयसाधनवाजिनः ॥५३॥
औदुम्बरीं[13] च पनसां तमसां प्रमृशामपि । [14]पपुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥५४॥
चेदिपर्वतमुल्लङ्घ्य चेदिराष्ट्रं[15] विजिग्यिरे[16] । पम्पा[17]सरोऽम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरङ्गमाः ॥५५॥
तमृष्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिताः । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुः जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥५६॥
नागप्रियाद्रिमाक्रम्य [18]कृतपारिजया विभोः । सेनाचराः स्वसाच्चक्रुः गजांश्चेदिकसेरुजान्[19] ॥५७॥
नदीं वृत्रवतीं[20] क्रान्त्वा वन्येभक्षतरोधसम्[21] । भेजुर्दिव्रषवर्णामस्य चमूवीरास्तुरङ्गमैः ॥५८॥

हिमवान् पर्वतके निचले भागसे लेकर वैभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराज के विजयी हाथी घूम रहे थे ॥४६॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाला भरतका सेनापति अपनी विजयी सेनाके साथ साथ वंग, अंग, पुण्ड्र, मगध, मालव, काशी और कोशल देशोंमें सब जगह घूमा था ॥४७॥ भरतकी सम्मतिसे वह सेनापति कालिन्द, कालकूट, भीलोंका देश, और मल्ल देशमें भी पहुंचा था ॥४८॥ उनकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रेवस्या नदीको तैरकर जहां-तहां घूम रहे थे ॥४९॥ पूर्व दिशाके पास पास जानेवाले उनकी सेनाके हाथी अत्यन्त गहरी गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निघुरा आदि नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामके बड़े बड़े सरोवरोंमें घूमे थे ॥५०–५१॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उठी हुई धूलिसे समस्त दिशाएँ भर दी हैं, जो बड़े वेगशाली हैं और जिनके नथनें चचल हो रहे हैं ऐसे महाराज भरतकी विजयी सेनाके घोड़े शोण नामके नदकी दक्षिण ओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर, बीजा नदीके दोनों ओर और मेखला नदीके चारों ओर घूमे थे ॥५२–५३॥ भरतके हाथियोंने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदीका पान किया था ॥५४॥ चक्रवर्तीके घोड़ोंने पम्पा सरोवरके जलको पार किया था तथा चेदि नामके पर्वतको उल्लंघन कर चेदि नामके देशको जीता था ॥५५॥ सबको जीतनेवाले भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक पर्वतको उल्लंघन कर कोलाहल पर्वत तक जा पहुंचे थे और फिर माल्य पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुंचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने लीलापूर्वक नागप्रिय पर्वतको उल्लंघन कर चेदि और कसेरु देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंको अपने आधीन कर लिया था ॥५७॥ उनकी सेनाके वीर पुरुष घोड़ोंके द्वारा वृत्रवती नदीको पार कर जिसके किनारे जगली हाथियोंसे खूंदे गये हैं ऐसी चित्र-

---

१ चरन्ति स्म । २ मलवान् इ०, अ० । मालवान् प० । मानवान् ल०, द० । ३ आनात । ४ चक्रिण । ५ रथस्यां अ० । रेवस्या प०, ट० । रवस्या द० । ६ अवनीयं । ७ निघुरामपि स० । ८ लौहित्यसमुद्रनामसरोवरम् । ९ पूर्वं । १० शोणनदस्य दक्षिणस्यां दिशि । ११ चेरिन । १२ नासिका । १३ उदुम्बरी स०, इ०, अ०, प०, द०, ल० । १४ 'ययु' इत्यपि पाठ । पानमकुर्वन् । १५ चदिराम् । १६ जयन्ति स्म । १७ पम्पासरोजलमतिक्रान्ता । १८ दहनी । १९ –सेरजान् ल०, द० । २० वैत्रवती इ० । छत्रवती प० । वृत्तवती अ०, स० । २१ वनगजभग्नतटाम् ।

रुद्ध्वा माल्यवतीतीरवनं वन्येभसङ्कुलम् । यामुनं च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिशः ॥५९॥
अनुवेणुमतीतीरं गत्वास्य जयसाधनम्[1] । वत्सभूमिं समाक्रम्य [2]दशार्णामप्यलङ्घयत् ॥६०॥
विशालां नालिकां सिन्धुं परां निष्कुन्दरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥६१॥
ऊहां[3] च समतोयां च कञ्जामपि कपीवतीम् । निर्विन्ध्यां च धुनीं जम्बूमतीं च सरिदुत्तमाम् ॥६२॥
वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्करावतीम् । सिप्रां च कृतमालां च परिञ्जां पनसामपि ॥६३॥
नदीमवन्तिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगाम् । कागन्धुमापगां[4] व्याघ्रीं धुनीं चर्मण्वतीमपि ॥६४॥
शतभोगां च नन्दां च नदीं करभवेगिनीम् । चुल्लितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीम् ॥६५॥
सरितोऽमूरगाधापा विष्वगाक्रुध्य तद्बलम् । तुरङ्गमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥६६॥
तं रश्चिकं गिरिं क्रान्त्वा रुद्ध्वा वैडूर्यभूधरम् । भटाः कूटाद्रिमुल्लङ्घ्य पारियात्रमशिश्रियन् ॥६७॥
गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्[5] सानून् सितगिरेरपि[6] । गदागिरेर्निकुञ्जेषु[7] बलान्यस्य विशश्रमुः[8] ॥६८॥
[9]वातपृष्ठदरीभागा[10]नृक्षवत्[10] कुक्षिभिः[11] समम् । तत्सैनिकाः श्रयन्ति स्म कम्बलाद्रितटान्यपि ॥६९॥
वासवन्तं महाशैलं विलङ्घ्यासुरधूपने[12] । स्थित्वास्य सैनिकाः प्रापन् मदेभानङ्गरेयिकान्[13] ॥७०॥
निःसपत्नमिति भ्रेमुः इतश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान् वनविभागेषु [14]कर्षन्तोऽस्य निर्जगजे ॥७१॥
दुस्तरा सुतरा जाता सम्भुक्ता सरितो बलैः । स्वारोहाश्च[15] दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥७२॥

वती नदीको प्राप्त हुए थे ॥५८॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुए माल्यवती नदीके किनारेके वनको घेरकर तथा यमुना नदीका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उस ओरकी समस्त दिशाएं जीत ली थीं ॥५९॥ उनकी विजयी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे किनारे जाकर वत्स देशकी भूमिपर आक्रमण किया और फिर दशार्णा (धसान) नदीको भी उल्लंघन किया—पार किया ॥६०॥ भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिन्धु, पारा, निष्कुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, नदियोंमें श्रेष्ठ जम्बूमती, वसुमती, समुद्र तक जानेवाली शर्करावती, शिप्रा, कृतमाला, परिंजा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कागधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, और कौशिकी इन अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारों ओरसे घेरकर जिनके किनारे घोड़ोंके खुरोंसे खुद गये हैं ऐसी उन नदियोंको बहुत चौड़ा कर दिया था ॥६१–६६॥ सैनिकोंने तैरश्चिक नामके पर्वतको लांघकर वैडूर्य नामका पर्वत जा घेरा और फिर कूटाचलको उल्लंघन कर पारियात्र नामका पर्वत प्राप्त किया ॥६७॥ भरतकी वह सेना पुष्पगिरिके शिखरोंपर चढ़कर स्मितगिरिके शिखरोंपर जा चढ़ी और फिर वहांसे चलकर उसने गदा नामक पर्वतके लतागृहोंमें विश्राम किया ॥६८॥ भरतके सैनिकोंने ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओंके साथ साथ वातपृष्ठ पर्वतकी गुफाओंका आश्रय लिया और फिर वहांसे चलकर कम्बल नामक पर्वतके किनारोंपर आश्रय प्राप्त किया ॥६९॥ वे सैनिक वासवन्त नामके महापर्वतको उल्लंघन कर असुरधूपन नामक पर्वतपर ठहरे और फिर वहांसे चलकर मदेभ तथा अंगिरेयिक पर्वतपर जा पहुंचे ॥७०॥ सेनाके लोग उन देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनके प्रदेशोंमें हाथी पकड़ते हुए जहां तहां घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियां दुस्तर अर्थात् कठिनाईसे तैरने योग्य थीं वे ही नदियां सैनिकोंके द्वारा उपभुक्त होनेपर सुतर अर्थात् सुखसे

१ बलम् । २ 'दशार्णान्' इत्यपि क्वचित् । ३ कुहां म० । ४ कागधुन्यापगाम् । ५ सानून् । ६ स्मितगिरे–म० । ७ निकुञ्जेषु । ८ विश्रमन्ति स्म । ९ वातपृष्ठगिरिः कन्दरप्रदेशान् । १० भल्लूका इव । ११ कन्दरमिव गुहाभिः सह इत्यर्थः । १२ असुरधूपन इति पर्वतविशेषे । १३ मदेभस्य आनङ्गरेयिकस्य अद्रेः । १४ स्वीकुर्वन्तः । १५ सुखारोहाः ।

राष्ट्राण्यचयस्तेषां राष्ट्रीयाश्च महीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चामुना[1] फलैः ॥७३॥
नृपानवारपारीणान्[2] [3]द्वैप्यानप्युपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य[4] प्रापोपवनजान्[5] गजान् ॥७४॥
रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सितम् । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्ञया ॥७५॥
महान्ति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलरुद्धानि किमसाध्यं महीयसाम् ॥७६॥
इत्य स पृथिवीमध्यात् [6]पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां [7]दाक्षिणात्यजिगीषया ॥७७॥
यतो यतो बलं जिष्णोः प्रचलत्युद्धनायकम् । ततस्ततः स्म सामन्ता नमन्त्यानम्रमौलयः ॥७८॥
त्रिकलिङ्गाधिपानौद्रान् कच्छान्ध्रविषयाधिपान् । प्रातरान्[8] केरलांश्चोलान् पुन्नागांश्च व्यजेष्ट सः ॥७९॥
कूटस्थानौलिकांश्चैव स माहिषकमेकुरान् । पाण्ड्यानन्तरपाण्ड्यांश्च दण्डेन[9] वशमानयत् ॥८०॥
नृपानेतान् विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः । हृत्वा तत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत् परां मुदम् ॥८१॥
सेनानीरपि सम्राजः[10] विभोराज्ञां समुद्वहन् । गिरीन् ससरितो देशान् [11]कालिङ्गकवनाश्रितान् ॥८२॥
स साधनैः समं भेजे तैलामिक्षुमतीमपि । नदीं नक्ररवां वङ्गां श्वसनां च महानदीम् ॥८३॥

तैरने योग्य हो गई थी । इसी प्रकार जो पर्वत दुरारोह अर्थात् कठिनाईसे चढने योग्य थे वे ही पर्वत सैनिकोंके द्वारा शिखरोंके चूर्ण हो जानेसे स्वारोह अर्थात् सुखपूर्वक चढने योग्य हो गये थे ॥७२॥ देश, उनकी सीमाएं और देशोंके राजा लोग सम्राट् भरतेश्वरको फल प्रदान करनेके लिये ही उत्पन्न हुए थे तथा बदलेमें भरतने भी उन्हें अनेक फलोंसे युक्त किया था । भावार्थ—सम्राट् भरत जहां जहां जाते थे वहां वहांके लोग उन्हें अनेक प्रकारके उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिये अनेक प्रकारकी सुविधाएं प्रदान करते थे ॥७३॥ जो राजा लोग उपसमुद्रके उस पार रहते थे अथवा उप-समुद्रके भीतर द्वीपोंमें रहते थे उन सबको बलवान् भरतने सेनाके द्वारा अपने वश किया था तथा वनमें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको पकड पकडकर उनका पोषण किया था ॥७४॥ महाराज भरतने उन राजाओंसे अपने इच्छानुसार अनेक प्रकारके रत्न लेकर संतुष्ट हो अपनी आज्ञासे उनके स्थानोंपर उन्हींको फिरसे विराजमान किया था ॥७५॥ जो बडे बडे किले पहाडोंके ऊपर थे और जो जमीनके नीचे बने हुए थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके वशीभूत हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥७६॥ इस प्रकार भरतने पूर्व दिशाके समस्त राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशाके राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथिवीके मध्यभागसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७७॥ उत्कृष्ट सेनापति सहित विजयी भरतकी सेना जहां जहां जाती थी वहां वहांके राजा लोग सामन्तों सहित मस्तक झुका झुकाकर उन्हें नमस्कार करते थे ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देशोंके सब राजाओंको जीता था ॥७९॥ तथा कूट, औलिक, महिष, कमेकुर, पाण्ड्य और अन्तरपाण्ड्य देशके राजाओंको दण्डरत्नके द्वारा अपने वशीभूत किया था ॥८०॥ सम्राट् भरतने इन सब राजाओंको शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणोंमें प्रणाम कराया और उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द प्राप्त किया ॥८१॥ चक्रवर्तीकी आज्ञा धारण करता हुआ सेनापति भी कालिंगक वनके समीपवर्ती अनेक पहाडों, नदियों तथा देशोंमें घूमा था ॥८२॥ वह अपनी सेनाओंके साथ साथ तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा और श्वसना आदि महानदियोंको प्राप्त हुआ था

---

१ सनाथ्या । २ उभयतीरे भवान् । 'पारावारपरेभ्य इति ख' इति प्रागुत्तीयेऽर्थे ख । 'पारावारे परे तीरे' इत्यमरः । ३ द्वीपे जातान् । ४ पाशं कृत्वा । ५ पुत्राय वनजान् ल०, द०, ब०, अ० । ६ पूर्वदिग्भवान् । ७ दक्षिणदिशि जातान् । ८ भरान् ल०, द० । ९ बलेन । १० प्रभोः—ल० । ११ कलिङ्गदेशसम्बन्धि ।

धुनीं वैतरणीं माषवती च समहेन्द्रकाम् । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥८४॥
सप्तगोदावरं तीर्थं[1] पश्यन् गोदावरीं शुचिम् । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानसः ॥८५॥
[2]सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवेणां[3] च निम्नगाम् । सन्नीरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं बलैः ॥८६॥
कुब्जां धैर्यां च चूर्णीं च वेणां सूकरिकामपि । [4]अम्बर्णां च नदीं पश्यन् दाक्षिणात्यानशुश्रुवत्[5] ॥८७॥
महेन्द्राद्रिं समाक्रामन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् । [6]नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलम् ॥८८॥
गोशीर्षं दर्दुराद्रिं च गिरिं पाण्ड्यकवाटकम् । स शीतगुहमासीदन्[7] श्रीकटनाह्वयम् ॥८९॥
श्रीपर्वतं च किष्किन्धं निर्जयञ्जयसाधनैः । तत्र तत्रोचितैर्लाभैः प्रवर्धत चमूपतिः ॥९०॥
कर्णाटकान् स्फुटाटोप[8]विकटोद्भट[9]वेषकान् । हरिद्राञ्जनताम्बूलप्रियान् प्रायो यशोधनान् ॥९१॥
आन्ध्रान् [10]रन्ध्रप्रहारेषु कृतलक्षान्[11] कदर्यकान्[12] । पाषाणकठिनानङ्गैः न परं हृदयैरपि ॥९२॥
कालिङ्गकान् गज[13]प्रायसाधनान् सकलाधनान् । प्रायेण साधुशालीढ्रान् जठरानुड्ड[14]मरप्रियान् ॥९३॥
[15]चौलिकान्शालिकप्रायान्[16] प्रायशोऽनृजुचेष्टितान्[17] । केरलान् सरलालापान् कलागोष्ठीषु[18] चुञ्चुकान्[19] ।
पाण्ड्यान् प्रचण्डदोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलान् । प्रायो गजप्रियान् धन्विकुन्तभूयिष्ठसाधनान् ॥९५॥

॥८३॥ तथा वैतरणी, माषवती और महेन्द्रका इन नदियोंको अपने सैनिकोंके साथ पार कर वह शुष्क नदीपर जा पहुंचा था ॥८४॥ सप्तगोदावर नामके तीर्थ और पवित्र गोदावरीको देखता हुआ वह पवित्र हृदयवाला सेनापति मानस सरोवरको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८५॥ तदनन्तर उसने सेनाओंके साथ साथ सुप्रयोगा नदीको पार कर कृष्णवर्णा, सन्नीरा और प्रवेणी नामकी नदीको पार किया ॥८६॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अम्बर्णा नदीको देखते हुए उसने दक्षिण दिशाके राजाओंको चक्रवर्तीकी आज्ञा सुनाई ॥८७॥ फिर महेन्द्र पर्वतको उल्लंघन कर विन्ध्याचलके समीपवर्ती प्रदेशोंको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढ़कर वह सेनापति मलय पर्वतपर गया ॥८८॥ वहांसे अपनी सेनाके साथ साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पाण्ड्य, कवाटक और शीतगुह नामके पर्वतोंपर पहुंचा तथा श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किन्ध पर्वतोंको जीतता हुआ वहांके राजाओंसे यथायोग्य लाभ पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥८९–९०॥ प्रकट रूपसे धारण किये हुए आडम्बरोंसे जिनका वेष विकट तथा शूरवीरताको उत्पन्न करनेवाला है, जिन्हें हल्दी, ताम्बूल और अंजन बहुत प्रिय हैं, तथा जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, जो कठिन प्रहार करनेमें सिद्धहस्त हैं जो बड़े कृपण हैं और जो केवल शरीरकी अपेक्षा ही पाषाणके समान कठोर नहीं हैं किन्तु हृदय की अपेक्षा भी पाषाणके समान कठोर हैं ऐसे आंध्र देशके राजाओंको, जिनके प्राय हाथियों की सेना है और जो कला-कौशल रूप धनसे सहित हैं ऐसे कलिङ्ग देशके राजाओंको, जो प्राय. कलिङ्ग देशके समान हैं, मूर्ख हैं और लड़नेवाले हैं ऐसे ओण्ड्र देशके राजाओंको, जिन्हें प्राय झूठ बोलना बहुत प्रिय है और जिनकी चेष्टाएं कुटिल हैं ऐसे चोल देशके राजाओंको, मधुर गोष्ठी करनेमें प्रवीण तथा सरलतापूर्वक वार्तालाप करनेवाले केरल देशके राजाओंको, जिनके भुजदण्ड अत्यन्त बलिष्ठ हैं, जिन्होंने शत्रुओंके समूह नष्ट कर दिये हैं, जिन्हें हाथी बहुत प्रिय हैं और जो युद्धमें प्राय धनुष तथा भाला आदि शस्त्रोंका अधिकतासे प्रयोग करते हैं ऐसे पाण्ड्य

१ तीर्थं अ०, ग०, ल० । २ 'सुप्रवेणाम्' इत्यपि क्वचित् । ३ कृष्णवर्णां ल० । ४ अम्बर्णां ल० । ५ श्रावयति स्म । ६ नागपर्वते स्थित्वा । ७ आगमत् । ८ गर्व । ९ मनोहर । 'विकट सुन्दर प्रांशो विशालविकरालयोः' इत्यभिधानात् । १० दुःख । ११ कृतव्याजान् । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्य च' इत्यमरः । १२ कृपणान् । 'कदर्ये कृपणे क्षुद्रकिंपचानमितंपच' इत्यमरः । १३ कलि-बहुमतान् । १४ युद्ध । १५ द्राविडान् । १६ अतीव अनृत । १७ वक्रवर्तनान् । १८ कलगोष्ठीषु चञ्चुरान् प०, द० । १९ प्रतीतान् ।

[1]दृप्तापदानानन्यांश्च तत्र तत्र [2]समुदुत्थितान् । जयसैन्यैरवस्कन्द्य[3] सेनानीरनयद् वशम् ॥९६॥
ते च सत्कृत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमन्ति स्म दूराद्दूरीकृतायतिम्[4] ॥९७॥
करग्रहेण सम्पीड्य दक्षिणाशां वधूमिव । [5]प्रसभं हृततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात् प्रभुः ॥९८॥
लवङ्गलवलीप्रायम्[6] एलागुल्मलतान्तिकम्[7] । वेलोपान्तवनं पश्यन् महतीं धृतिमाप सः ॥९९॥
तमातिथेयैर्विरे मन्दमान्दोलितसरोजलाः । एलासुगन्धयः सौम्या वेलान्तवनवायवः ॥१००॥
मरुद्धूतशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्देशो दिशाम्पतिम् ॥१०१॥
पवनाधूतशाखाग्रैः व्यक्तषट्पदनिस्वनैः । विश्रान्त्यै सैनिकानस्य व्याहरन्निव[8] पादपाः ॥१०२॥
अथ तस्मिन् वनाभोगे[9] सैन्यमावासयद् विभुः । वैजयन्तमहाद्वारनिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥१०३॥
सनागं[10] बहुपुन्नागं[11] सुमनोभि[12]रधिष्ठितम् । बहुपत्ररथं[13] जिष्णोः बलं तद्वनमावसत्[14] ॥१०४॥

देशके राजाओंको और जिन्होंने प्रतिकूल खडे होकर अपना पराक्रम दिखलाया है ऐसे अन्य देशके राजाओंको सेनापतिने अपनी विजयी सेनाके द्वारा आक्रमण कर अपने आधीन किया था ॥९१–९६॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कार कर तथा भयसहित कुछ भेंट देकर जिन्होंने उनका भविष्यत्काल अर्थात् आगे राजा बना रहने देना स्वीकार कर लिया है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही प्रणाम किया था ॥९७॥ जिस प्रकार पुरुष करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण संस्कार से किसी स्त्रीको वशीभूत कर लेता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भरतने करग्रह अर्थात् टैक्स वसूलीसे दक्षिण दिशाको अपने वश कर लिया था और फिर जबरदस्ती उसके सार पदार्थोंको छीनकर दक्षिण समुद्रकी ओर प्रयाण किया था ॥९८॥ वहां वह चक्रवर्ती, जिनमें प्राय लवंग और चन्दनकी लताएं लगी हुई हैं तथा जो इलायचीके छोटे छोटे पौधोंकी लताओंसे सहित हैं ऐसे किनारेके समीपवर्ती वनको देखता हुआ बहुत भारी संतोषको प्राप्त हुआ था ॥९९॥ जो तालाबोंके जलको हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगन्धि मिली हुई है और जो सौम्य है ऐसे किनारेके वनकी वायु उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रही थी ॥१००॥ वायुसे हिलती हुई शाखाओंके अग्रभागसे जिसने फूलोंकी अंजलि बिखेर रखी है ऐसा वह वनका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानो इस चक्रवर्तीकी अगवानी ही कर रहा हो ॥१०१॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पडता था मानो वे वृक्ष हाथ हिला हिलाकर भ्रमरोंके शब्दोंके बहाने पुकार पुकारकर विश्राम करनेके लिये भरतके सैनिकोंको बुला ही रहे हो ॥१०२॥

अथानन्तर–चक्रवर्तीने उस वनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयन्त नामक महाद्वारके निकट अपनी सेना ठहराई ॥१०३॥ वह वन और भरतकी सेना दोनों ही समान थे क्योंकि जिस प्रकार वन सनाग अर्थात् मोथाके पौधोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी सनाग अर्थात् हाथियोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन बहुपुन्नाग अर्थात् नागकेशरके बहुत वृक्षोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुषोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन सुमन अर्थात् फूलोंसे सहित था उसी प्रकार वह सेना भी सुमन अर्थात् देव अथवा अच्छे हृदयवाले पुरुषोंसे सहित थी, और जिस प्रकार वन बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सहित होता

---

१ दृप्तपराक्रमान् । 'अपदानं कर्मणि स्यादनिवृत्तेऽवगण्यने ।' इत्यभिधानात् । २ अभ्युत्थितान् । ३ आक्रम्य । ४ अङ्गीकृतनम्रपदम् । ५ बलात्कारेण । ६ चन्दनलता । ७ 'लताऽन्तिकम्' इत्यपि क्वचित् । ता विस्तृतम् । ८ आह्वयन्ति स्मेव । ९ विस्तारे । १० अगान्तगजम् । पुन्नागवृक्ष च । ११ पुरुषश्रेष्ठ नागकेसर च । १२ देवैः कुसुमैश्च । १३ बहुवाहनस्यन्दनम् बहुविहगम् । 'पत्रिणोऽपि पतगपत्ररथाण्डजा ' इत्यभिधानात् । १४ एवंविधं बलमेवंविधं वनमावसत् ।

सच्छायान्[1] सफलास्तुङ्गान् बहुपत्र[2]परिच्छदान् । असेवन्त जना प्रीत्या [3]पार्थिवांस्तापविच्छिद ॥१०५॥
सच्छायानप्यसम्भाव्य फलान् प्रोज्झ्य महाद्रुमान् । सफलान् विरलच्छायान् अप्यहो शिथियुर्जना ॥१०६॥
[4]आकालिकीमनाहृत्य बहिश्छायां तदातनीम् । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रियञ्जना[5] ॥१०७॥
वनस्थलीस्तरुच्छायानिरुद्धद्युमणित्विष । [6]सजानयस्तरस्तीरेष्वध्यासिषत सैनिका ॥१०८॥
सप्रेयसीभिराबद्धप्रणयैराश्रिता नृपैं । कल्पपादपजां लक्ष्मीं व्यक्तमूहुर्वनद्रुमा ॥१०९॥
कपय कपिकच्छूनाम्[7] उद्धुनाना फलच्छटा[8] । सैनिकानाकुलाश्चक्रु निविष्टान् वीरुधामध ॥११०॥
सरःपरिसरेष्वासन् प्रभोराश्वीयमन्दुरा । सुन्दरा स्वैरमाहार्यै[10] बाष्पच्छेद्यैस्तृणाङ्कुरै[11] ॥१११॥

है उसी प्रकार वह सेना भी अनेक सवारियो और रथोसे सहित थी, इस प्रकार भरतकी वह सेना अपने समान वनमे ठहरी ॥१०४॥ उस वनके पार्थिव अर्थात् वृक्ष (पृथिव्या भव, 'पार्थिव') अर्थात् राजाओ (पृथिव्या अधिप 'पार्थिव')के समान थे, क्योकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सच्छाया अर्थात् उत्तम छाया (छाँहरी) से सहित थे, जिस प्रकार राजा लोग सफल अर्थात् आयसे सहित होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सफल अर्थात् फलोसे सहित थे । जिस प्रकार राजा लोग तुङ्ग अर्थात् ऊची प्रकृतिके—उदार होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी तुग अर्थात् ऊचे थे, जिस प्रकार राजा लोग बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक सवारी आदिके वैभवसे सहित होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक पत्तोके परिवारसे सहित थे और जिस प्रकार राजा लोग ताप अर्थात् दरिद्रतासम्बन्धी दु खको नष्ट करनेवाले होते है उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी ताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गर्मीको नष्ट करनेवाले थे, इस प्रकार भरतके सैनिक, राजाओकी समानता रखनेवाले वृक्षोका आश्रय बडे प्रेमसे ले रहे थे ॥१०५॥ सेनाके कितने ही लोग उत्तम छायासे सहित होनेपर भी जिनसे फल मिलने की सभावना नही थी ऐसे बडे बडे वृक्षोको छोडकर थोडी छाया वाले किन्तु फलयुक्त वृक्षो का आश्रय ले रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार धनाढय होनेपर भी उचित वृत्ति न देनेवाले कृपण स्वामीको छोडकर सेवक लोग अल्पधनी किन्तु उचित वृत्ति देनेवाले उदार स्वामीका आश्रय लेने लगते है उसी प्रकार सैनिक लोग फलरहित बडे बडे वृक्षोको छोडकर फलसहित छोटे छोटे वृक्षोका आश्रय ले रहे थे ॥१०६॥ सेनाके लोग उस समयकी थोडी देर रहनेवाली बाहिरकी छाया छोडकर वृक्षोके नीचे आगे आनेवाली छायामें बैठे थे ॥१०७॥ वनस्थली में वृक्षोकी छायामे जिनपर सूर्यका धूप रुक गया है ऐसे कितने ही सैनिक अपनी अपनी स्त्रियों सहित तालाबोके किनारोंपर बैठे हुए थे ॥१०८॥ परस्परके प्रेमसे बधे हुए राजा लोग अपनी अपनी स्त्रियो सहित जिनके नीचे बैठे हुए है ऐसे वनके वृक्ष कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुई शोभा को स्पष्ट रूपसे धारण कर रहे थे । भावार्थ—वनके वे वृक्ष कल्पवृक्षोके समान जान पडते थे और उनके नीचे बैठे हुए स्त्री-पुरुष भोगभूमिके आर्य तथा आर्याओके समान मालूम होते थे ॥१०९॥ वहा करेंचके फल-समूहोंको हिलाते हुए वानर उन लताओके नीचे बैठे हुए सैनिको को व्याकुल कर रहे थे क्योकि करेंचके फलके रोयें शरीरपर लग जानेसे खुजली उठने लगती है ॥११०॥ तालाबोंके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य तथा भापसे ही टूटनेवाले घासके

1 सच्छाया सत्कान्तयश्च । 2 बहुदलपरिवारान् बहुवाहनपरिवाराश्च । 3 वृक्षान् नृपतीश्च । 4 अविद्यमान । 5 -माशिश्रियुर्जना म० द० । 6 स्त्रीसहिता । 7 मर्कटीनाम् । [illegible] धारिवन्तुरच मर्कटी इत्यभिधानात् । 8 फलमञ्जरी । 9 लतानाम् । 10 सर्वत्रप्रदेशेषु सुलभैरित्यर्थ । 11 कोमलै ।

अवतारितपर्याण[1]मुखभाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरत्प्रोथैर्मुखैरश्वाः क्ष्मां [2]जघ्रुर्विविवृत्सवः[3] ॥११२॥
सान्द्रपद्मरजःकीर्णे[4] सरसामन्तिकस्थले । मन्दं [5]दुधुवुरङ्गानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥११३॥
विबभावम्बरे कञ्जरजःपुञ्जोऽनिलोद्धतः[6] । अयत्न[7]रचितोऽश्वानामिवोच्चैः पटमण्डपः ॥११४॥
रजस्वलां[8] महीं स्पृष्ट्वा[9] जुगुप्सव इवोत्थिताः । द्रुतं विविशुरम्भांसि सरसीनां महाहयाः ॥११५॥
वारि[10] वारिजकिञ्जल्कसनाथमवगाहिनाम् । धौतमप्यङ्गरागं स्वं भेजुरम्भोजरेणुभिः ॥११६॥
सरोऽवगाहनिर्धूतश्रमाः पीताम्भसो हयाः । आमीलिताक्षमध्यूषुः विततान् पटमण्डपान् ॥११७॥
नालिकेरद्रुमेष्वासीद् उचितो [11]वर्ष्मशालिनः । निवेशो हास्तिकस्यास्य विनीतस्तालीवनेषु च ॥११८॥
प्रपतन्नालिकेरौघस्पृष्टा वनभूमयः । हस्तिनां स्थानतामीयुः तरैव[12] प्रान्तसारितैः[13] ॥११९॥
द्विपानुदन्यत[14]स्तोकवमथुव्यञ्जितश्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरांस्यभिनिषादिनः[15] ॥१२०॥
मौर्वङ्गमेन[17] शुष्यन्तमार्गमज्जनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसीरवगाहने[18] ॥१२१॥

अङ्गोंसे सुन्दर, सफेद वर्णके घोड़ोंकी घुड़सालें थीं ॥१११॥ जिनपरसे पलान और लगाम आदि सामग्री उतार ली गई है ऐसे घोड़े जमीनपर लोटनेकी इच्छा करते हुए, जिनमें नाकके नथने हिल रहे हैं ऐसे मुखोंसे जमीनको सूँघ रहे थे ॥११२॥ कमलोंकी सान्द्र परागसे भरे हुए, तालाबके समीपवर्ती प्रदेशपर लोटकर वे घोड़े धूलि झाड़नेके लिये धीरे धीरे अपने शरीर हिला रहे थे ॥११३॥ जो कमलोंकी परागका समूह वायुसे उड़कर आकाशमें छा गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो घोड़ोंके लिये बहुत ऊँचा कपड़ेका मण्डप ही बनाया गया हो ॥११४॥ बड़े बड़े घोड़े पृथिवीको रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) देखकर ग्लानि करते हुए से उठे और शीघ्र ही सरोवरोंके जलमें घुस गये ॥११५॥ कमलकी केशरसे भरे हुए जलमें प्रविष्ट हुए घोड़ोंका अङ्गराग (शोभाके लिये शरीरपर लगाया हुआ एक प्रकारका लेप) यद्यपि धुल गया था तथापि उन्होंने कमलोंके परागसे अपने उस अङ्गरागको पुनः प्राप्त कर लिया था। भावार्थ—कमलोंकी केशरसे भरे हुए पानीमें स्नान करनेसे उनके शरीरपर जो कमलोंकी केशरके छोटे छोटे कण लग गये थे उनसे अङ्गरागकी कमी नहीं मालूम होती थी ॥११६॥ सरोवरोंमें घुसकर स्नान करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है और जिन्होंने इच्छानुसार जल पी लिया है ऐसे घोड़े कपड़ेके बड़े बड़े मडवोंमें कुछ कुछ नेत्र बन्द किये हुए खड़े थे ॥११७॥ ऊँचे ऊँचे शरीरोंसे सुशोभित होनेवाले, महाराज भरतके हाथियोंके डेरे नारियल और ताड़ वृक्षके वनोंमें बनाये गये थे जो कि सर्वथा उचित थे ॥११८॥ जो वनकी भूमि ऊपरसे पड़ते हुए नारियलोंके समूहसे ऊँची नीची हो रही थी वही नारियलोंके एक ओर हटा देनेसे हाथियोंके योग्य स्थान बन गई थी ॥११९॥ जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो वमथु अर्थात् सूँड़से निकाले हुए जलके छींटोंसे अपना परिश्रम प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग पानी पिलानेके लिये तालाबोंपर ले गये थे ॥१२०॥ जो धीरे धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत

---

१ पर्याणमनवरीतादिरश्मिका। २ आघ्रापयन्ति स्म। ३ विवर्तितुमिच्छवः। ४ –कीर्णे ल०। ५ कम्पयन्ति स्म। ६ –निलाहत– द०। ७ अव नु न०। ८ कुसुमरजोवतीम् ऋतुमतीमिति ध्वनिः। ९ दृष्ट्वा ल०, द०। १० जलानाश्रय। ११ प्रमाणम्। 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यभिधानात्। १२ त्वरैव। १३ स्वकरेणाकारेण पर्यन्तप्रसारितैः। १४ तृषितान्। 'उदन्या तु पिपासा तृट्' इत्यभिधानात्। १५ करसीकरप्रवर्तिना। वमथुः करशीकरः' इत्यभिधानात्। १६ हस्त्यारोहाः। 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः। १७ मन्दगमनेन। स्वच्छन्दगमनेन वा। उपमर्दनेनैव। 'मन्दो नातिमहत्युच्चैः' १८ अवगाहनार्थम्।

प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्नं नागो नवग्रहः[1]। नैच्छत् प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारी[2]विशङ्कया ॥१२२॥
वनं विलोकयन् स्वैरं कवलोचितपल्लवम्। गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥१२३॥
स्वैरं न पपुरम्भांसि नागृह्णन् कवलानपि। केवलं वनसम्भोगसुखानां[3] सस्मरुर्गजाः ॥१२४॥
उत्पुष्करान्[4] स्फुरद्ग्रैवम[5]कक्ष्यानिन्युर्द्विपान् सरः। सशयूनिव[6] नीलाद्रीन् सविद्युत इवाम्बुदान् ॥१२५॥
वनद्विपमदामोदवाहिने गन्धवाहिने[7]। व्रजः कुप्यञ्जलोपान्तं निन्ये कृच्छ्रान्निषादिना ॥१२६॥
अकस्मात् कुपितो दन्ती शिरस्तिर्यग्विधूनयन्। अनङ्कुशवशस्तीव्रम् आधोरणमखेदयत् ॥१२७॥
वन्यानेकपसम्भोगसङ्क्रान्तमदवासनाम्। [8]विसोढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणीमिव ॥१२८॥
पीतं वनद्विपैः पूर्वम् अम्बु तद्दानवासितम्। द्विपः करेण सञ्जिघ्रन्[9] [10]नापादास्फालयत् परम् ॥१२९॥
पीताम्भसो महासारैः वृद्धिं निन्युः सरोजलम्। गजा मुधा धनादानं नूनं वाञ्छन्ति नोन्नताः ॥१३०॥
उत्पुष्करः सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः। रणद्भिः[11] समुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥१३१॥
पीताम्बुरम्बुदस्पर्धि बृंहितो मदकुञ्जरः। दुधाव[12] गण्डकण्डूयाः[13] चण्डगण्डूषवारिभिः ॥१३२॥

लोग नहलानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥१२१॥ कोई नवीन पकडा हुआ हाथी वार-वार प्रेरित होनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुए जलमें समुद्रकी आशंकासे प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२२॥ बहुत दिनका पकडा हुआ भी कोई हाथी अपने इच्छानुसार खाने योग्य नवीन पत्तोंवाले वनको देखता हुआ विलक्षण रीतिसे उत्कण्ठित हो रहा था ॥१२३॥ कितने ही हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी ही पिया था और न ग्रास ही उठाये थे, वे केवल वनके संभोग-सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥१२४॥ जिनकी सूंड ऊंची उठी हुई है और जिनकी बगलमें सुवर्णकी मालाएं देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग सरोवरोंपर ले जा रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानो अजगर सहित नील पर्वत ही हों अथवा बिजली सहित मेघ ही हों ॥१२५॥ जो जंगली हाथीके मदकी गन्धको धारण करनेवाले वायुसे कुपित हो रहा है ऐसे किसी हाथीको उसका महावत बडी कठिनाईसे जलके समीप ले जा सका था ॥१२६॥ अचानक कुपित हुआ कोई हाथी अपने शिरको तिरछा हिला रहा था, वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको खेद खिन्न कर रहा था ॥१२७॥ जंगली हाथीके संभोगसे जिसमें मदकी वास फैल रही है ऐसी हथिनीको जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी नहीं चाहता है उसी प्रकार जिसमें जंगली हाथियोंकी क्रीडासे मदकी गंध मिली हुई है ऐसी सरोवरीमें कोई मदोन्मत्त हाथी प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२८॥ जिस पानीको पहले वनके हाथी पी चुके थे और इसीलिये जो मदकी गन्धसे भरा हुआ था ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने नहीं पिया था, वे केवल सूंडसे गंध सूंघकर उसे उछाल रहे थे ॥१२९॥ जिन हाथियोंने तालावका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहा बहाकर तालावका वह पानी बढा दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो उन्नत अर्थात् बडे होते हैं वे किसीका व्यर्थ ही धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥१३०॥ कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि सूंड ऊपर उठाकर तालावके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि आकाशमें उडकर शब्द करते हुए भ्रमरोंसे 'वह यहां है', इस प्रकार साफ समझ पडता था ॥१३१॥ जो पानी पी चुका है और जिसकी गर्जना मेघोंके साथ स्पर्धा कर रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी अपने कुल्लोंसे जलकी तेज फटकारसे कपोलोंकी खुजली शान्त कर रहा था

---

१ नवो नूतनो ग्रहः स्वीकारो यस्य सः। २ गजबन्धनहेतुभूतगर्तविशङ्कया। 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यभिधानात्। ३ वनस्य सम्भोगास्वादनसुखानाम्। ४ उद्गतहस्ताग्रान्। ५ सुवर्णमयवरत्रान्। 'दूष्या कक्षा वरत्रा स्यात्' इत्यभिधानात्। ६ अजगरसहितान्। ७ अनिलाय। ८ विगाढुं ल०, द०। ९ आघ्रायन्। १० न पिबति स्म। ११ भृशं गुञ्जद्भिः। १२ अपनयति स्म। १३ कपोलकण्डूयनम्।

विमुक्त व्यक्तसूत्कार करमुत्क्षिप्य वारणै । वारि स्फटिकदण्डस्य लक्ष्मीमूहे समुच्चलत्[1] ॥१३३॥
[2]उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमा केचिन्मतङ्गजा । [3]बिसभङ्गै[4]रघुस्तृप्ति हेलया कवलीकृतै ॥१३४॥
मृणालैरधिदन्ताग्रम् अर्पितैर्विबभुर्गजा । अजस्रमम्बुसत्तेकाद् रदै[5] प्ररोहितैरिव[6] ॥१३५॥
प्रमाद्यन् द्विरद कश्चिन्मृणाल स्वकरोद्धृतम् । ददावालान[7]बुद्ध्यैव नियन्त्रे[8] द्विगुणीकृतम् ॥१३६॥
चरणालग्नमाकर्षन् मृणाल भीलुको गज । बहि सरस्तट[9] व्यास्थद्[10] अन्दुतन्तुक[11]शङ्कया ॥१३७॥
करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिता स्तम्बेरमा बभु । देवतानुस्मृति किञ्चित् कुर्वन्तोऽर्घैरिवोद्धृतै ॥१३८॥
सरस्तरङ्गधौताङ्गा रेजुस्तुङ्गा मतङ्गजा । शृङ्गारिता इवालग्नै सान्द्रैरम्भोजरेणुभि ॥१३९॥
यद् करिभिराबद्ध परिहृत्य[12] सरोजलम् । पतत्रिण सरस्तीर तद्युक्तमबलीयसाम् ॥१४०॥
सरोवगाहनिर्णिक्त[13]मूर्तयोऽपि मतङ्गजा । रज[14]प्रमार्यैरात्मान चक्रुरेव मलीमसम् ॥१४१॥
वय जात्यैव मातङ्गा[15] मदेनोद्दीपिता पुन । कुतस्त्या शुद्धिरस्माकम् इत्यात्त नु[16] रजो गजै ॥१४२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थ सरस्सु रुचिर प्रविहृत्य नागा सन्तापमन्त[17]रुदित प्रशमय्य तोयै ।
तीरद्रुमानुपययु किमपि प्रतोषात् बन्ध नु तत्र नियत न विदाम्ब[18]भूवु ॥१४३॥

॥१३२॥ कितने ही हाथी सूड ऊची उठाकर सू सू शब्द करते हुए ऊपरको पानी छोड रहे थे, उस समय आकाशकी ओर उछलता हुआ वह पानी ठीक स्फटिक मणिके बने हुए दण्डेकी शोभा धारण कर रहा था ॥१३३॥ पानीमें प्रवेश करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक मृणालके टुकडे खाकर सतोष धारण कर रहे थे ॥१३४॥ कितने ही हाथी अपने दांतोके अग्रभागपर रखे हुए मृणालोसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निरन्तर पानीके सीचनेसे उनके दात ही अकुरित हो उठे हो ॥१३५॥ मदसे अत्यन्त उन्मत्त हुआ कोई हाथी अपनी सूडसे ऊपर उठाये हुए मृणालको बांधनेकी सांकल समझकर उसे दुहरी कर महावतको दे रहा था ॥१३६॥ अपने पैरमें लगे हुए मृणालको खीचता हुआ कोई डरपोक हाथी उसे बांधनेकी सांकल समझकर तालावके बाहरी तटपर ही खडा रह गया था ॥१३७॥ अपनी सूडोसे कमलोको उठाकर खडे हुए हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हाथोमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हो ॥१३८॥ जिनके शरीर तालावकी लहरोसे धुल गये है ऐसे ऊँचे ऊँचे हाथी सघन रूपसे लगे हुए कमलोकी परागसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्नान कराकर उनका शृङ्गार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोसे घिरे हुए तालाबके जलको छोडकर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योकि निर्बल प्राणियोको ऐसा ही करना योग्य है ॥१४०॥ तालावोमें प्रवेश करनेसे जिनके शरीर निर्मल हो गये है ऐसे कितने ही हाथी धूल उडाकर फिरसे अपने आपको मैला कर रहे थे ॥१४१॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातग अर्थात् चाण्डाल है (पक्षमें—हाथी है) और फिर मद अर्थात् मदिरासे (पक्षमें—गण्डस्थलसे बहते हुए तरल पदार्थमें) उत्तेजित हो रहे है इसलिये हम लोगोकी शुद्धि अर्थात् पवित्रता (पक्षमें—निर्मलता) कहासे रह सकती है ऐसा समझकर ही मानो हाथियोने अपने ऊपर धूल डाल ली थी ॥१४२॥ इस प्रकार वे हाथी बहुत देर तक सरोवरोमें क्रीडा कर और अन्तरङ्गमें उत्पन्न हुए सतापको जलसे शान्त कर किनारेके वृक्षो

---

१ समुच्छ्वलत् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । २ जलावगाहै । ३ मृणालखण्डै । ४ धृतवन्त । ५ दन्तै ल०, द० । ६ सजातप्ररोहै, अङ्कुरितै । ७ बन्धनरज्जु । ८ आरोहकाय । ९ सरस्तीरबाह्य प्रदेशे । १० प्रक्षिपति स्म । 'असु क्षेपणे' । ११ शृङ्खलासूत्र । 'अथ शृङ्खल । अन्दुको निगलोऽस्त्री स्याद्' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्त्वा । १३ शुद्ध । १४ धूलिप्रक्षेपै । १५ श्वपचा इति ध्वनि । १६ इव । १७ अभ्यन्तरोद्भूतम् । १८ न विदन्ति स्म ।

हृत्वा सरोऽम्बु करिणो निजदानवारि संवर्धित [1]विनिमयादनृणाश्च[2] सन्त ।
तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधशङ्का व्यासङ्गिनो न सरस प्रसभं निरीयु ॥१४४॥
आधोरणा मदमयोमलिनान् करीन्द्रान् निर्णेक्तु[3]मम्बु सरसामवगाहयन्त ।
दोग्धुं केवलमपामुपयोगमात्रं [4]तीरस्थितानन नयंस्तदवीकरन्त[5] ॥१४५॥
स्वैरं नवाम्बु परिपीतमयत्नलभ्यतीरद्रुमेषु न कृत कबलग्रहोऽपि ।
छायास्वलम्भि न[6] तु विश्रमणं प्रभिन्नै[7] स्तम्बेरमैर्बत मद खलु नात्मनीन[8] ॥१४६॥
नाध्वा द्रुत गुरुतरैरपि नातियातो[9] युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभि ।
भारक्षमाश्च करिण सविशेषमेव बद्धास्तथाप्यनिभृता[10] इति धिक्चलत्वम् ॥१४७॥
बध्नीथ[11] न किमिति हन्त विनापराधात जानीत[12] भो[13] प्रतिफलत्यचिरादिदं व ।
इत्युच्चलत्सृणि[14] विधूय शिरांसि बन्धे वैरं नु यन्तृषु गजा स्म विभावयन्ति ॥१४८॥
आघातुको[15] द्विरदिन सविशेषमेव गात्रापरान्तकर[16]वालधिषु न्ययोजि ।
बन्धेन सिन्धुरवरास्त्वितरे[17] तथा नो गाढीभवत्यविरताम्र[18] परत्र[19] बन्ध ॥१४९॥

वे समीप आ गये थे, यद्यपि वहां उनके बाँधनेका स्थान नियत था तथापि क्रीडासे उत्पन्न हुए अतिशय सतोषसे उन्हें उसका कुछ भी ज्ञान नही था ॥१४३॥ हाथियोने तालाबोका जो पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेके लिये ही अपने मदरूपी जल से बढा दिया था, इस प्रकार ऋण रहित हो सुखकी सांस लेते हुए वे हाथी, ये तालाब अपनी लहरेरूपी हाथोसे कहीं हमें रोक न लें ऐसी आशंका कर तालाबोसे शीघ्र ही बाहर निकल आये थे ॥१४४॥ मदरूपी स्याहीसे मलिन हुए हाथियोको निर्मल करनेके लिये तालाबोके जलमे प्रवेश कराते हुए महावत जब उन्हें जलके भीतर प्रविष्ट नही करा सके तब उन्होने केवल जल ही पिलाना चाहा परन्तु बहुत कुछ अनुनय विनय करनेपर भी वे किनारे पर खडे हुए उन हाथियोको केवल जल भी पिलानेके लिये समर्थ नही हो सके थे। भावार्थ—मदोन्मत्त हाथी न तो पानीमें ही घुसे थे और न उन्होने पानी ही पिया था ॥१४५॥ मदोन्मत्त हाथियोने न तो अपने इच्छानुसार बिना यत्नके प्राप्त हुआ पानी ही पिया था, न किनारेके वृक्षोसे कुछ तोडकर खाया ही था, और न वृक्षोकी छायामें कुछ विश्राम ही प्राप्त किया था, खेद है कि यह मद कभी भी आत्माका भला करनेवाला नही है ॥१४६॥ इन हाथियोने शरीर भारी होनेसे शीघ्र ही मार्ग तय नहीं किया यह बात नहीं है अर्थात् इन्होने भारी होनेपर भी शीघ्र ही मार्ग तय किया है, इन्होने युद्धमें भी कभी अपराध नही किया है और ये भार ढोनेके लिये भी सबसे अधिक समर्थ हैं फिर भी केवल चचल होनेसे इन्हें बद्ध होना पडा है इसलिये इस चचलताको ही धिक्कार हो ॥१४७॥ तुम लोग इस प्रकार बिना अपराधके हम लोगोको क्यो बाध रहे हो ? तुम्हारा यह कार्य तुम्हें शीघ्र ही इसका बदला देगा यह तुम खूब समझ लो इस प्रकार बाधनेके कारण महावतोमें जो वैर था उसे वे हाथी अकुशको ऊपर उछालकर मस्तक हिलाते हुए स्पष्ट रूपसे जतला रहे थे ॥१४८॥ जो हाथी जीवोका घात करनेवाले थे वे शरीरके आगे पीछे तथा सूड और पूछ आदि

आलानिता वनतरुष्वतिमात्रमुच्चस्कन्धेषु सिन्धुरवराश्च तथोच्चकैर्यत्[1] ।
तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव सन्धारणाय महतामहतात्मसारम् ॥१५०॥
इत्थं नियन्तृभिरनेकपवृन्दमुच्चैः आलानितं तरुषु सामि[2] निमीलिताक्षम् ।
तस्थौ सुखं विचतुरैः[3] धृताङ्गहारः[4] लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालम् ॥१५१॥
उत्तारिताखिलपरिच्छदलाघवेन प्रव्यञ्जितद्रुतगतिक्र[5]मलक्ष्यवेगा ।
आपातुमम्बु सरसां परितः प्रसस्रुः उच्छृङ्खलै[6]रनुगताः कलभैः करिण्यः ॥१५२॥
प्राक्पीतमम्बु सरसां कृतमौष्ट्रकेण[9] स्वोद्गाल[10]दूषितमुपात्ततदङ्ग[11]गन्धम् ।
नापातुमैच्छदुदितन्य[12]षितोऽपि वर्ष[13] सर्वो हि वाञ्छति जनो विषयं मनोज्ञम् ॥१५३॥
पीतं पुरा गजतया सलिलं मदाम्बुसंवासितं सरसिजाकरमेत्य तूर्णम् ।
प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च सम्भोगहेतुरुदितो[14] हि सगन्ध[15]भावः ॥१५४॥

प्रहर्षिणी

पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्तरङ्गतापाः सन्तापं बहिरुदितं सरोवगाहैः ।
नीत्वान्तं[16] गजकलभैः समं करिण्यः सम्भोक्तुं सपदि वनद्रुमान् विचेरुः ॥१५५॥

सब जगह बन्धनोंसे मुक्त किये गये थे और जो हाथी किसीका घात नहीं करते थे वे बन्धनसे मुक्त नहीं किये गये थे इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे रहित हैं उन्हींके कर्मबन्धन सुदृढ रूपसे होता है और जो विरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे सहित हैं उनके कर्मका बन्ध नहीं होता ॥१४९॥ जिनके स्कन्ध बहुत ऊँचे गये हैं ऐसे वनके वृक्षोंमें ही सेनाके ऊँचे ऊँचे हाथी बाँधे गये थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको धारण करनेके लिये जिसकी स्वशक्ति नष्ट नहीं हुई है ऐसा बहुत बड़ा ही आश्रय चाहिये ॥१५०॥ इस प्रकार महावतोंके द्वारा ऊँचे वृक्षोंमें बाँधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आँखें बन्द किये हुए सुखसे खड़ा था, उस समय वह अपना सब शरीर हिला रहा था, लीलापूर्वक ग्रास ले रहा था और कान फड़फड़ा रहा था ॥१५१॥ पलान आदि सब सामान उतार लेनेसे हलकी होकर जिन्होंने जल्दी जल्दी चलकर अपनी शीघ्र गति प्रकट की है, तथा चंचल बच्चे जिनके पीछे पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियाँ तालावोंका पानी पीनेके लिये चारों ओरसे जा रही थीं ॥१५२॥ तालावोंके जिस पानीको पहले ऊँटोंके समूह पी चुके थे, जो ऊँटोंके उगालसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊँटोंके शरीरकी गंध आने लगी थी ऐसे पानीको हाथी का बच्चा प्यासा होनेपर भी नहीं पीना चाहता था, सो ठीक ही है क्योंकि सभी कोई अपने मनके विषयभूत पदार्थके अच्छे होनेकी चाह रखते हैं ॥१५३॥ जिसे पहले हाथियोंके समूह पी चुके थे और जिसमें उनके मद जलकी गंध आ रही है ऐसे पानीको हथिनियाँ तथा उनके बच्चे बहुत शीघ्र तालावपर जाकर बड़े प्रेमसे पी रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि समानता ही साथ साथ खाने पीने आदि संभोगका कारण होता है ॥१५४॥ जिन्होंने जल पीकर अन्तरङ्गका संताप दूर किया है और तालाबमें घुसकर बाहिरी संताप नष्ट किया है ऐसी हथिनियाँ अपने

---

१ आधोरणैः । २ यस्मात् कारणात् । ३ अर्धं । ४ विदूरस्थानि विगतानि चत्वारि यस्य तत् । ५ अङ्गविक्षेपम् । ६ पादः । ७ स्वच्छन्दवृत्तिभिः । ८ सम्पूर्णम् । ९ उष्ट्रसमूहेन । १० निजोद्गार । ११ उष्ट्रशरीरगन्धम् । १२ भृशं तृषितः । १३ तरुणगजः । विकार अ० । १४ उक्तः । १५ परिमाणं च मित्रत्वं च । १६ नाशम् ।

मालिनी

अनुनिपतितसमाजेनानुयातस्तुरङ्गैः अकृशविभवयोगान्निर्जयन् लोकपालान्।
प्रतिदिशमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः शिबिरमविशदुच्चैर्वन्दिनां पुण्यघोषैः ॥१६३॥
अथ सरसिजिनीनां गन्धमादाय सान्द्रं धुततटवनवीथिर्मन्दमावान्[1] समन्तात्।
श्रममखिलमनौत्सीत्[2] कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव सगन्धैः[3] सिन्धुना[4] गन्धवाहः ॥१६४॥
अविदितपरिमाणैरन्वितो रत्नशङ्खैः[5] स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः[6] सेवनीयः।
सततमुपचितात्मा[7] रुद्धदिक्चक्रवालो जलनिधिमनुजह्रे[8] तस्य सेनानिवेशः ॥१६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो[9] निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधिं जेतास्त्रैरतितर्जितामरसभं व्यन्तराधीश्वरम्।
जित्वा मागधवत् क्षणाद्वरतनुं तत्ताह्वमम्भोनिधेः द्वीपं शश्वदलञ्चकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ॥१६६॥
लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरच्चूडारत्नमुदंशु दिव्यकटकान् सूत्रं च रत्नोज्ज्वलम्।
सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान्[10] श्रीवैजयन्तार्णवद्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटकं प्राविक्षदुत्तोरणम् ॥१६७॥

सेनाओंमें क्षण भरके लिये बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ घोड़ोंपर बैठे हुए अनेक राजाओंका समूह जिसके पीछे पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने बड़े भारी वैभवसे लोकपालोंको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशामें वन्दीजनोंके मंगल गानोंके साथ साथ आशीर्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिबिरमें प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके वनकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियोंकी उत्कट गंध लेकर धीरे धीरे चारों ओर बह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी भाई सम्बन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान (पड़ाव) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शंख और रत्नोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शंख आदि निधियों तथा रत्नोंसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तकपर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् सर्पोंसे सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओंके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओंको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सब दिशाओंको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजयशील शस्त्रोंसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमें जाकर मागधदेवके समान व्यन्तरोंके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त कालतक स्थिर रहनेवाले अपने यशसे सदाके लिये अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूड़ारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएं प्राप्त कीं। तदनन्तर उत्तम रत्नोंसे जिसकी पूजा की गई है ऐसे ऐश्वर्यशाली

---

१ आगच्छन्। २ अपनयति स्म। ३ बन्धु। ४ समुद्रेण। ५ शङ्खादिनवनिधिभिः। पक्षे मौक्तिकादिरत्नशङ्खैः। ६ पक्षे सर्पैः। ७ वर्द्धितस्वरूपः। ८ अनुकरोति स्म। ९ निवासित-[illegible]। १० पूज्यः।

वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभङ्गान् गुल्मौघानपि सरसां कङ्कगरांश्च[1] ।
सुस्वादून् मृदुविटपान् वनद्रुमाणां तद्यूथं कवलयति स्म धेनुकानाम्[2] ॥१५६॥
कुञ्जेषु [3]प्रतनुतृणाङ्कुरान् प्रमृद्नन्[4] वप्रान्तानपि[5] रदनैः शनैर्विनिघ्नन् ।
वल्ल्यग्रसनचणः[6] फलेग्रहिः[7] सन् बालोलः कलभगणश्चिरं विजह्रे ॥१५७॥
प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखाः[8] भङ्गाध्युच्चैर्वनगहनं निषीद[9] कुञ्जे ।
सम्भोग्यानुपसरसल्लकीवनान्तान् इत्येवं[10] व्यहृत[11] वने करेणुवर्गः ॥१५८॥
सम्भोगैर्वनमिति निर्विशन्[12] यथेष्टं स्वातन्त्र्यान्मुहुरपि [13]धूर्गतैर्निषिद्धः[14] ।
बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः सम्प्रापत् समुचितमात्मनो निवेशम् ॥१५९॥
वित्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरङ्गैः पर्यस्तो[15] रथ इह [16]भग्नधूर्निरक्षः[17] ।
एतास्ता द्रुतमपयान्त्यपेत्य मार्गाद् वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्यः[18] ॥१६०॥
वित्रस्तः[19] करभनिरीक्षणाद् गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः ।
[20]उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्माद् विस्रस्तस्तनजघनांशुका पुरन्ध्री ॥१६१॥
इत्युच्चैर्व्यतिवदतां[21] पृथग्जनानां सञ्जल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च[22] ।
[23]व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां सङ्क्षोभः क्षणमभवच्चमूषु राज्ञाम् ॥१६२॥

बच्चोंके साथ खानेके लिये शीघ्र ही वनके वृक्षोंकी ओर चली गईं ॥१५५॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्पसहित नवीन पत्तोंके अग्रभागोंको, छोटे छोटे पौधोंको, रसीले कङ्गरि वृक्षोंको और वनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट तथा कोमल शाखाओंको खा रहा था ॥१५६॥ लतागृहोंमें पतली घासके अंकुरोंको खूंदता हुआ खेतोंकी मेंडको अपने दाँतोंसे धीरे धीरे तोड़ता हुआ, लताओंके अग्रभागके खानेमें चतुर तथा फलोंको तोड़ता हुआ वह चंचल हाथियोंके बच्चोंका समूह चिरकाल तक क्रीडा करता रहा था ॥१५७॥ पत्तेवाली नवीन लताओंको ग्रहण कर, ऊँची ऊँची शाखाओंसे युक्त सघन वनमें जा, लतागृहमें बैठ और खानेके योग्य सल्लकी वनोंके समीप जा इस प्रकार महावतोंकी आज्ञासे वह हथिनियोंका समूह वनमें इधर-उधर विहार कर रहा था ॥१५८॥ इस प्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीडाओंके द्वारा वनका अपने इच्छानुसार उपभोग कर रहा है, स्वतन्त्रतापूर्वक आगे चलनेसे महावत लोग जिसे रोक रहे हैं और जो बाँधनेके योग्य है ऐसा वह हथिनियोंका समूह बच्चोंके साथ अपने ठहरने योग्य स्थानपर जा पहुंचा ॥१५९॥ इधर हाथियोंसे डरे हुए इन घोड़ोंने यह रथ कुमार्गमें ले जाकर पटक दिया है, इसका धुरा और भौंरा टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेमें तत्पर ये खच्चरियाँ अपना मार्ग छोड़कर बहुत शीघ्र भागी जा रही हैं ॥१६०॥ इधर यह ऊंट देखनेसे डरा हुआ हाथी दौड़ा जा रहा है और उससे अपना डरपोकपना प्रकट कर रहा है तथा इधर जिसके स्तन और जघन परका वस्त्र खिसक गया है ऐसी यह स्त्री डरे हुए खच्चरसे गिर रही है ॥१६१॥ इस प्रकार जोर जोरसे बोलते हुए साधारण पुरुषोंकी बातचीतके शब्दोंसे, क्षोभको प्राप्त हुए गधे, ऊंट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुए सैनिकोंके कठोर शब्दोंसे राजाओंकी

---

१ वृक्षान् । 'कङ्कगरो द्रुम करीवे' इत्यभिधानात् । २ करिणीनाम् । 'करिणी धेनुका वशा' इत्यमरः । गुर्विणीनाम् । ३ कोमल । ४ मर्दयन् । ५ सान्वन्तान् । 'स्नुर्वप्र सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । ६ ग्रसनसमर्थः । ७ फलानि गृह्णन् । ८ भङ्ग कुरु । ९ आस्स्व । १० सादिजनानुनयं । ११ विहरति स्म । १२ अनुभवन् । १३ सादिभिः । १४ निषिद्धः । १५ उत्तान यथा पतित । १६ भग्नदारुयुग । १७ निर्गतावयवः । १८ वेसरा । १९ भय गत । २० चकितात् । २१ परस्परभाषमाणानाम् । २२ वृषभैः । २३ परस्पराह्वयं ।

मालिनी

अवनिपतिसमाजेनानुयातस्तुरङ्गैः अनुपमविभवयोगाज्जिनंयन् लोकपालान् ।
प्रतिदिशमुपशृण्वन्नाशिषश्चत्वराणि शिबिरमविशदुच्चैर्वन्दिनां पुण्यघोषैः ॥१६३॥
अथ सरसिजिनीनां गन्धमादाय सान्द्रं धुततटवनवीथिर्मन्दमावान्[1] समन्तात् ।
श्रममखिलमनैषीत्[2] कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव सगन्ध[3] सिन्धुना[4] गन्धवाहः ॥१६४॥
अविदितपरिमाणैरन्वितो रत्नराशैः[5] स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः[6] सेवनीयः ।
सततमुपचितात्मा[7] रुद्धदिक्चक्रवालो जलनिधिमनुजह्रे[8] तस्य सेनानिवेशः ॥१६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो[9] निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधि जेतास्त्रप्रतिसन्हितामरसमस्तव्यन्तराधीश्वरम् ।
जित्वा मागधवत् क्षणाद्वरतनुं तत्राम्बुमम्भोनिधेः द्वीपं शश्वदलञ्चकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ॥१६६॥
लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरच्चूडारत्नमुदग्रदिव्यकटकं सूत्रं च रत्नोज्ज्वलम् ।
सद्रत्नैरिति पूजितः स भगवान्[10] श्रीवैजयन्तार्णवद्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटकं प्राविक्षदुत्तोरणम् ॥१६७॥

सेनाओंमें क्षण भरके लिये बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ घोड़ोंपर बैठे हुए अनेक राजाओंका समूह जिसके पीछे पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने बड़े भारी वैभव से लोकपालोंको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशामें वन्दीजनोंके मंगल गानोंके साथ साथ आशी- र्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिविरमें प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके वनकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियों की उत्कट गन्ध लेकर धीरे धीरे चारों ओर बह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी खास सम्बन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान (पड़ाव) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शंख और रत्नोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शंख आदि निधियों तथा रत्नोंसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तकपर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् सर्पोंसे सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओंके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओंको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सब दिशाओंको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजयशील शस्त्रोंसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमें जाकर मागधदेवके समान व्यन्तरोंके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले अपने यश से सदाके लिये अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूडारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएं प्राप्त कीं। तदनन्तर उत्तम रत्नोंसे जिनकी पूजा की गई है ऐसे ऐश्वर्यशाली

---

१ आगच्छन् । २ अपनयति स्म । ३ बन्धुः । ४ समुद्रेण । ५ शङ्खादिरत्नैर्निधिभिः । पक्षे मौक्तिकादिरत्नानां । ६ पक्षे सर्पैः । ७ वर्द्धितस्वरूपः । ८ अनुकरोति स्म । ९ स्थापित- बलः । १० पूज्यः ।

स्वच्छं स्व हृदयं स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छद्मना स्व चान्तर्गतरागमाशु प्रथयन्नुद्यत्प्रवालाङ्कुरैः।
सर्वस्वं च समर्पयन्नुपनयन्नन्तर्धनं[1] दक्षिणो वारां राशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥१६८॥
आस्थाने[2] जयदुन्दुभीन्नदन्[3] प्राभातिके मङ्गले गम्भीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन्।
सुव्यक्तं स जलाशयोऽप्यजल[4]धीर्वाराम्पतिः श्रीपतिं निर्भृत्य[5]स्थितिरन्वियाय सुचिरं शक्रो यथाद्यं जिनम् ॥१६९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंशं पर्व।

भरतने वैजयन्त नामक समुद्रके द्वारसे वापिस लौटकर अनेक प्रकारके तोरणोंसे सुशोभित किये गये अपने शिविरमें प्रवेश किया ॥१६७॥ उस समय वह दक्षिण दिशाका लवणसमुद्र ठीक मन्त्रीकी तरह छलरहित हो भरतकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार मन्त्री अपने स्वच्छ हृदयको प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके छलसे अपने स्वच्छ हृदय (मध्यभाग)को प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपने अन्तरङ्गका अनुराग (प्रेम) प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उत्पन्न होते हुए मूगाओंके अकुरोंसे अपने अन्तरङ्गका अनुराग (लाल वर्ण) प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है उसी प्रकार समुद्र भी अपना सर्वस्व (जल) समर्पण कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना गुप्त धन उनके समीप रखता था उसी प्रकार वह समुद्र भी अपना गुप्त धन (मणि आदि) उनके समीप रख रहा था, और जिस प्रकार मन्त्री दक्षिण (उदार सरल) होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी दक्षिण (दक्षिणदिशावर्ती) था ॥१६८॥ अथवा जिस प्रकार इन्द्र दास होकर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवकी सेवा करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी दास होकर राज्यलक्ष्मीके अधिपति भरत चक्रधरकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र आस्थान अर्थात् समवसरण सभामें जाकर विजय दुन्दुभि बजाता था उसी प्रकार वह समुद्र भी भरतके आस्थान अर्थात् सभामण्डपके समीप अपनी गर्जनासे विजय-दुन्दुभि बजा रहा था, जिस प्रकार इन्द्र प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले मंगल-पाठके लिये जय जय शब्दका उच्चारण करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले भरतके मंगल पाठके लिये अपने गंभीर शब्दोंसे जय जय शब्दका स्पष्ट उच्चारण कर रहा था, जिस प्रकार इन्द्र जलाशय (जडाशय) अर्थात् केवल ज्ञानकी अपेक्षा अल्प ज्ञानी होकर भी अपने ज्ञानकी अपेक्षा अजलधी (अजडधी) अर्थात् विद्वान् (अजडा धीर्यस्य स) अथवा अजड (ज्ञानपूर्ण परमात्मा) का ध्यान करनेवाला (अजडं ध्यायतीत्यजडधीः) था उसी प्रकार वह समुद्र भी जलाशय अर्थात् जलयुक्त होकर भी अजलधी अर्थात् जल प्राप्त करनेकी इच्छासे (नास्ति जले धीर्यस्य स) रहित था, इस प्रकार वह समुद्र चिरकाल तक भरतेश्वरकी सेवा करता रहा ॥१६९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला
उनतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ अगाधम्। २ अन्तर्धनम्। ३ समवसरणे। ४ गदन् ध्वनन्। ५ पटुबुद्धि। ६ भृत्यवृत्ति।

त्रिंशत्तमं पर्व

[1]अथापरान्त[2] निर्जेतुम् उद्यत[3] प्रभुरुद्ययौ । दक्षिणा[4]परदिग्भाग वशीकुर्वन् स्वसाधनै ॥१॥
पुर प्रयातमश्वीयं अन्वक्[5]प्रचलित रथ्यं । मध्ये हस्तिघटा [6]प्रायात् सर्वत्रैवात्र पत्तय ॥२॥
[7]सदेवबलमित्यस्य चतुरङ्गं विभोर्बलम् । विद्यामृतां बलै सार्द्धं षड्भिरङ्गैर्विपप्रथे[8] ॥३॥
प्रचलद्बलसंक्षोभाद् उच्चचाल किलार्णव । महतामनुवृत्ति नु श्रावयन्ननुजीविनाम्[9] ॥४॥
बले प्रसह्य[10] निर्भुक्ता[11] प्रह्वन्ति स्म[12] महीभुज[13] । सरित कर्दमन्ति[14] स्म स्थलन्ति स्म महाद्रय ॥५॥
सुरसा[15] कृतनिर्वाणा[16] स्पृहणीया बुभुक्षुभि[17] । महद्भि समुद्योगै[18] फलन्ति[19] स्मास्य सिद्धय[20] ॥६॥
अभेद्या दृढसन्धाना[21] विपक्षजय[22]हेतव । [23]शक्तयोऽस्य स्फुरन्ति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥७॥
फलेन[24] योजितास्तीक्ष्णा सपक्षा[25] दूरगामिन । नाराचै[26] सममेतस्य योधा अगमुर्जयाङ्गताम् ॥८॥

अथानन्तर—पश्चिम दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यभाग (नैऋत्य दिशा) को जीतते हुए निकले ॥१॥ उनकी सेनामें घोडोंके समूह सबसे आगे जा रहे थे, रथ सबसे पीछे चल रहे थे, हाथियोंका समूह बीचमें जा रहा था और प्यादे सभी जगह चल रहे थे ॥२॥ हाथी, घोडे, रथ, प्यादे इस प्रकार चार तरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ साथ चल रही थी। इस प्रकार वह सेना अपने छह अगोंके द्वारा चारों ओर विस्तार पा रही थी ॥३॥ उस चलती हुई सेनाके क्षोभसे समुद्र भी क्षुब्ध हो उठा था—लहराने लगा था और ऐसा जान पडता था मानो 'सबको महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिये' यही बात सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥४॥ सेनाके द्वारा जबर्दस्ती आक्रमण किये हुए राजा लोग नम्र हो गये थे, नदियोंमें कीचड रह गया था और बडे बडे पहाड–समान जमीनके सदृश–हो गये थे ॥५॥ जिनका उपभोग अत्यन्त मनोरम है, जो सतोष उत्पन्न करनेवाली है, और जो उपभोगकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी समस्त सिद्धिया इसके बडे भारी उद्योगोंके साथ ही साथ फल जाती थी अर्थात् सिद्ध हो जाती थी ॥६॥ जिन्हें कोई भेद नही सकता है, जिनका सगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओंके क्षयका कारण है ऐसी भरतकी शक्ति तथा सेना दोनों ही शत्रु राजाओंपर अपना प्रभाव डाल रहे थे ॥७॥ भरतके योद्धा उनके बाणोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभसे युक्त किये जाते थे उसी प्रकार बाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोकसे युक्त किये जाते थे, जिस प्रकार योद्धा तीक्ष्ण अर्थात् तेजस्वी थे उसी प्रकार बाण भी तीक्ष्ण अर्थात्

---

१ 'रूप्याद्रिनायननमौलिविराजिरत्नमन्दोहनिर्गलितदीप्तिमयार्घ्यरम्यम्। देव नमामि मनसा जगदेकनाथ भक्त्या प्रणष्टदुरितं जगदेकनाथम् ॥' 'त' पुस्तकेऽधिकोऽयं श्लोक । २ अपरदिगवधिम् । ३ अभ्युदयवान् । ४ नैऋत्यदिग्भागम् । ५ पश्चात् । ६ अगच्छत् । ७ सदेव न० । ८ प्रकाशते स्म । ९ भटानाम् । १० बलात्कारेण । ११ निर्जिता । १२ प्रणता इव आचरन्ति स्म । १३ महीभुज वृक्षा वा । १४ कर्दमा इवाचरिता । १५ सिद्धिपक्षे रागसहिता । फलपक्षे रससहिता । 'गुणे रागे द्रवे रस' इत्यमर । १६ कृतसुखा । १७ भोक्तुमिच्छुभि । आर्थिजनैरित्यर्थ । १८ उद्योगै । १९ फलानीवाचरन्ति स्म । २० कार्यसिद्धय । २१ दृढसम्बन्धा । २२ —जय— न० । २३ प्रभुमन्त्रोत्साहरूपा । २४ लोहफलेन अभीष्टफलेन च । २५ पक्षसहिता सहायाश्च । २६ बाणै ।

दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः शत्रवस्तस्य विपक्षत्वमुपाययुः ॥९॥
आक्रान्ते[2] भूभृतो नित्यं भुञ्जाना फलसम्पदम्[3] । कुपतित्वं[4] ययुश्चित्रं कोपेऽप्यस्य विरोधिनः ॥१०॥
सन्धिविग्रहचिन्तास्य[5] पदविद्यास्वभूत् परम् । धूतान्यपक्षस्य क्व सन्धानं क्व विग्रहः ॥११॥
इत्यजय्यविपक्षोऽपि प्रभुर्दिग्विजयोद्यतः । तन्नूनं भुक्तिमात्मीयां तद्व्याजेन[9] परीयिवान्[10] ॥१२॥
आक्रान्ता सैनिकैरस्य विभो पारेऽर्णवं[11] भुवः । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकेरवनैस्तता ॥१३॥
निपपे[12] नालिकेराणां तरुणानां स्रुतो[13] रसः । सरस्तीरतरुच्छाया विश्रान्तैरस्य सैनिकैः ॥१४॥

पैने थे, जिस प्रकार योद्धा सपक्ष अर्थात् सहायकोंसे सहित थे उसी प्रकार वाण भी सपक्ष अर्थात् पंखोंसे सहित थे, और जिस प्रकार योद्धा दूर तक गमन करनेवाले थे उसी प्रकार वाण भी दूर तक गमन करनेवाले थे, इस प्रकार वे दोनों साथ साथ ही विजयके अंग हो रहे थे ॥८॥ भरत के विपक्ष (विरुद्ध पक्षो येषां ते विपक्षाः) अर्थात् शत्रुओंको उनकी सेनाने दूर भगा दिया था और उनके छत्र चमर आदि सब सामग्री भी छीन ली थी इसलिये वे सचमुच ही विपक्ष-पनेको (विगतः पक्षो येषां ते विपक्षास्तेषां भावस्तत्त्वम्) प्राप्त हो गये थे अर्थात् सहायरहित हो गये थे ॥९॥ यह एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर तथा उनके क्रोधित होनेपर भी अनेक प्रकारकी फल-सम्पदाओंका उपभोग करते हुए कुपतित्व अर्थात् पृथिवीके स्वामीपनेको प्राप्त हो रहे थे। भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेष-मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिये पहले तो विरोध मालूम होता है बादमें उसका परिहार हो जाता है। श्लोकका जो अर्थ ऊपर लिखा गया है उससे विरोध स्पष्ट ही झलक रहा है क्योंकि भरतके क्रोधित होनेपर और उनकी सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर कोई भी शत्रु सुखी नहीं रह सकता था परन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थ बदल देनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है—भरतके विरोधी राजा लोग, उनके कुपित होने तथा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी राजधानी छोड़कर जंगलोंमें भाग जाते थे वहाँ फल खाकर ही अपना निर्वाह करते थे और इस प्रकार कु-पतित्व अर्थात् कुत्सित राजवृत्ति (दरिद्रता)को प्राप्त हो रहे थे ॥१०॥ उस भरतको सन्धि (स्वर अथवा व्यञ्जनोंको मिलाना) और विग्रह (व्युत्पत्ति) की चिन्ता केवल व्याकरण शास्त्रमें ही हुई थी अन्य शत्रुओंके विषयमें नहीं हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे कहाँ सन्धि (अपना पक्ष निर्बल होनेपर बलवान् शत्रुके साथ मेल करना) करनी पड़ती है? और कहाँ विग्रह (युद्ध) करना पड़ता है? अर्थात् कहीं नहीं ॥११॥ इस प्रकार भरतके यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वे जो दिग्विजय करनेके लिये उद्यत हुए थे सो केवल दिग्विजयके छलसे अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें चक्कर लगा आये थे—घूम आये थे ॥१२॥ महाराज भरतके सैनिकोंने, जहाँ सुपारीके वृक्षोंके द्वारा छाया की गई है और जो नारियलके वनोंसे व्याप्त हो रही है ऐसे समुद्रके किनारेकी भूमि पर आक्रमण किया था ॥१३॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायामें विश्राम करनेवाले भरतके सैनिकोंने नारियलके तरुण अर्थात् बड़े बड़े वृक्षों

१ सहायपुरुषरहितत्वम् । २ आक्रान्ता भूभृतो ल० । भूभृतः राजानः पर्वताश्च । ३ अभीष्टफलसम्पदम् वनस्पतिफलसम्पदं च । ४ भूपतित्वं कुत्सितपतित्वं च । ५ संधानयुद्धचिन्ता च । ६ शब्दशास्त्रेषु । ७ निरस्तशत्रुपक्षस्य । ८ पानभत्रम् । ९ दिग्विजयच्छद्मना । १० प्रदक्षिणीकृतवान् । ११ समुद्रतीरम् । पारे मध्येऽग्रे षष्ठ्या । १२ पानं क्रियते स्म । १३ निसृतः ।

स्फुरत्पदपसम्पातपवनाधूननोत्थित । तालीवनेषु[1] तत्सैन्यं शुश्रुवे मर्मर[2]ध्वनि ॥१५॥
सम ताम्बूलवल्लीभि अपश्यत् क्रमुकान् विभु । एककार्यत्वमस्माकमितीव[3] मिलितान्मिथ ॥१६॥
नृपस्ताम्बूलवल्लीनाम् उपघ्नान्[4] क्रमुकद्रुमान् । निध्यायन् वेष्टि[5]तास्ताभि 'मुमुदे दम्पतीयितान् ॥१७॥
स्वाध्यायमिव कुर्वाणान् वनेष्वविरतस्वनान्[6] । [7]वीन्मुनीनिव सोऽपश्यद् यत्रास्त[8]मितवासिन ॥१८॥
पनसानि मृदून्यन्त कण्टकीनि वहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जना [9]आदन् यथेप्सितम् ॥१९॥
नालिकेररस पान पनसान्यशन परम् । मरीचान्युपदशश्च वन्या[10] वृत्तिरहो सुखम ॥२०॥
सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । रुवत[11] प्रभुरद्राक्षीद् गलदश्रुविलोचनान् ॥२१॥
विदश्य[12] मञ्जरीस्तीक्ष्णा मरीचाना सशङ्कितम् । शिरो विधुन्वतोऽपश्यत् प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥२२॥
वनस्पतीन् फलानम्रान् वीक्ष्य लोकोपकारिण । आसा कल्पद्रुमास्तित्वे नि[13]राशङ्कास्तदा जना ॥२३॥
लतायुवतिसंसक्ता प्रसवाढ्या वनद्रुमा । करदा[14] इव तस्यासन् प्रीणयन्त फलैर्जनान् ॥२४॥
नालिकेरासवैर्मत्ता किञ्चिदा[15]घूर्णितेक्षणा । यशोऽस्य जगुरामन्द्रकुहर[16] सिंहलाङ्गना ॥२५॥

से निकला हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहा भरतकी सेनाके लोगोने ताड वृक्षोके वनो में वायुके हिलनेसे उठी हुई बहुत कठोर सूखे पत्तोकी मर्मर-ध्वनि सुनी थी ॥१५॥ वहा सम्राट् भरतने हम लोगोका एक ही समान कार्य होगा यही समझकर जो पानकी वेलोके साथ साथ परस्परमें मिल रहे थे ऐसे सुपारीके वृक्ष देखे ॥१६॥ जो पानोकी लताओके आश्रय थे तथा जो उनके साथ लिपटकर स्त्री-पुरुषके समान जान पडते थे ऐसे सुपारीके वृक्षोको बडे गौरके साथ देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥१७॥ उन वनोमें सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले जो पक्षी निरन्तर शब्द कर रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानो सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले तथा स्वाध्याय करते हुए मुनि ही हों उन्हें भरतने देखा था ॥१८॥ जो भीतर कोमल हैं तथा बाहरी त्वचापर काटोसे युक्त हैं ऐसे अमृतके समान मीठे कटहलके फल सेनाके लोगोने अपने इच्छानुसार खाये थे ॥१९॥ वहा पीनेके लिये नारियलका रस, खानेके लिये कटहलके फल और व्यजनके लिये मिरच मिलती थी, इस प्रकार सैनिकोके लिये वनमें होनेवाली भोजनकी व्यवस्था भी सुखकर मालूम होती थी ॥२०॥ जो सरस अर्थात् गीली मिरचें खाकर कुछ कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनकी आखोसे आसू गिर रहे हैं ऐसे पक्षियोको भी भरतने देखा था ॥२१॥ जो तरुण वानर बहुत तेज मिरचोके गुच्छोको नि शक रूपसे खाकर बादम चरपरी लगनेसे शिर हिला रहे थे उन्हें भी महाराजने देखा ॥२२॥ उस समय वहा फलोसे झुके हुए तथा लोगोका उपकार करनेवाले वृक्षोको देखकर लोग कल्प-वृक्षोके अस्तित्वमें शकारहित हो गये थे ॥२३॥ जो लतारूप स्त्रियोसे लिपटे हुए हैं और अनेक फलोसे युक्त हैं ऐसे वनके वृक्ष अपने फलोसे सेनाके लोगोको सतुष्ट करते हुए ऐसे जान पडते थे मानो भरतके लिये कर ही दे रहे हो ॥२४॥ जो नारियलकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो रही हैं और इसीलिये जिनके नेत्र कुछ कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहल द्वीपकी स्त्रिया वहा गद्गद

---

१ तालवनेषु । २ शुष्कपर्णध्वनि । 'अथ मर्मर, स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यभिधानात् । ३ पर्णैरमुकमेननादेककार्यत्वमिति । ४ आश्रयभूतान् । 'स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रय' इत्यमर । ५ विध्याय से–ल० । ६ –स्वनम् ल० । ७ विहगान । ८ यत्र रविरस्त गतस्तत्र वासिन । ९ भक्षयन्ति स्म । भक्षितवन्त इत्यर्थ । १० वनवास । ११ रव (रुत) कुर्वत । १२ भक्षयित्वा । १३ निरस्तदेहा । १४ कर मिद्धाय ददतीति करदा, कुटुम्बिजना इत्यर्थ । 'आलस्योपहृत पाद पाद' पापण्डमाथिन । राजान सवने पाद पाद कृपिमुपागन ॥ १५ प्रचलायित । १६ गम्भीरगह्वर यथा भवति तथा । गद्गदमहितकम्पन कुहरशब्दोच्चार ।

त्रिकूट[1]मलयोत्सङ्गे गिरौ पाण्डयकवाटके । जगुरस्य यशो मन्द्रमूर्च्छनाः किन्नराङ्गनाः ॥२६॥
मलयोपान्तकान्तारे सह्याचलवनेषु च । यशो वने[2]चरस्त्रीभिः उज्जगेऽस्य जयार्जितम् ॥२७॥
चन्दनोद्यानमाधूय मन्दं गन्धवहो ववौ । मलयाचलकुञ्जेभ्यो हरन्निर्झरशीकरान् ॥२८॥
विष्वग्विसारी[3] दाक्षिण्य[4] समुज्झन्नपि सोऽनिलः । सम्भावयन्नि[5]वातिथ्यैः विभोः श्रममपाहरत् ॥२९॥
एलालवङ्गसवाससुरभिश्वसितै[6]र्मुखैः । स्तनैरापाण्डुभिः सान्द्रचन्दनद्रवचर्चितैः ॥३०॥
सलीलमृदुभिर्यातै[7] नितम्बभरमन्थरैः[8] । स्मितैरनङ्गपुष्पास्त्रस्तबकोद्भेदविभ्रमैः ॥३१॥
कोकिलालापमधुरैः ज्वलितै[9](जल्पितै)रनतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतान्दोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥३२॥
लास्यैः स्खलत्पदन्यासैः मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मदमञ्जुभिरुद्गीतैः जितालिकुलशिञ्जितैः[10] ॥३३॥
तमालवनवीथीषु सञ्चरन्त्यो यदृच्छया । मनोऽस्य जहुरारूढयौवनाः केरलस्त्रियः ॥३४॥
प्रसाध्य दक्षिणामाशां विमुख्यैराज्य[11]पालकान् । समं प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥३५॥

कण्ठसे महाराज भरतका यश गा रही थी ॥२५॥ त्रिकूट पर्वतपर, मलय गिरिके मध्यभाग पर और पाण्डयकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियाँ गंभीर स्वरसे चक्रवर्ती का यश गा रही थी ॥२६॥ इसी प्रकार मलय गिरिके समीपवर्ती वनमें और सह्य पर्वतके वनोंमें भीलोंकी स्त्रियां विजयसे उत्पन्न हुआ महाराजका यश और जोरसे गा रही थी ॥२७॥ उस समय मलय गिरिके लतागृहोंसे झरनोंके जलके छोटे छोटे कण हरण करता हुआ तथा चन्दनके बगीचेको हिलाता हुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥२८॥ वह वायु दक्षिण दिशा को छोडकर चारों ओर वह रहा था और ऐसा जान पडता था मानो अतिथि-सत्कारके द्वारा भरतका सन्मान करता हुआ ही उनका परिश्रम दूर कर रहा था। भावार्थ—इस श्लोकमें दाक्षिण्य शब्दके श्लेष तथा अपि शब्दके सन्निधानसे नीचे लिखा हुआ विरोध प्रकट होता है– 'वह वायु यद्यपि दाक्षिण्य (स्वामीके इच्छानुसार प्रवृत्ति करना) भावको छोडकर स्वच्छन्दता पूर्वक चारों ओर घूम रहा था तथापि उसने एक आज्ञाकारी सेवककी तरह भरतका अतिथि-सत्कार कर उनका सब परिश्रम दूर कर दिया था, जो स्वामीके विरुद्ध आचरण करता है वह उसकी सेवा क्यों करेगा? यह विरोध है परन्तु दाक्षिण्य शब्दका दक्षिण दिशा अर्थ लेनेमें वह विरोध दूर हो जाता है ('दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरलच्छन्दवर्तिषु' इति मेदिनी दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्, पक्षे दक्षिणैव दाक्षिण्यम्) ॥२९॥ तमाल वृक्षोंके वनकी गलियोंमें इच्छानुसार इधर-उधर घूमती हुई केरल देशकी तरुण स्त्रियां इलायची, लौंग आदि सुगन्धित वस्तुओंके सम्बन्धमें जिनके निःश्वास सुगन्धित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जो घिसे हुए चन्दनके गाढ़ लेपमें सुशोभित हो रहे हैं ऐसे स्तनोंसे, नितम्बोंके भारके साथ ईर्ष्या करनेवाले लीलासहित सुकोमल गमनसे, जो कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान सुशोभित हो रहे हैं ऐसे मन्द हास्यसे, कोयलकी कूकके समान मनोहर तथा अव्यक्त वाणीसे, सुकोमल बाहुरूपी लताओंके इधर उधर फिरानेमें सुन्दर चेष्टाओंसे, जिसमें स्खलित होते हुए पैर पड़ रहे हैं ऐसे नृत्योंसे, अधिकतर मोतियोंके बने हुए आभूषणोंसे, भ्रमरसमूहकी गुंजारको जीतनेवाले मदसे मनोहर उत्कृष्ट गीतोंसे चक्रवर्ती भरतका मन हरण कर रही थीं ॥३०–३४॥ इस प्रकार महाराज भरतने अपनी विजयी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको वश कर चोल, केरल और पाण्डय

१ त्रिकूटे म०, द०, स०, अ०, प०, ल० । त्रिकूटगिरिमलयाचलसानौ । २ वनचर–ल० । ३ विसरणशील । ४ दक्षिणदिग्भाग । आनुकूल्यं च । ५ अतिथौ साधुषु उपचारैरित्यर्थं । ६ उच्छ्वासैः । ७ गमनैः । ८ मन्दैः । ९ जल्पितैः वचनैः । १० शिञ्जितैः अ०, प०, द०, स० । ११ निराज्येषु आनान् । धारकत्वसामर्थ्यात् ।

[1]कालिङ्गकैर्गजैरस्य मलयोपान्त[2]भूधराः । [3]तुलयद्भिरिवोन्मानम् आक्रान्ताः स्वेन वर्ष्मणा ॥३६॥
दिशा प्रान्तेषु विश्रान्तैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्वं स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथान्तरम्[4] ॥३७॥
ततोऽ[5]परान्तमारुह्य[6] सह्याचलतटोपगः । पश्चिमार्णववेलान्त[7]पालकानजयद् विभुः[8] ॥३८॥
जयसाधनमस्याब्धेः आरात्तीरे व्यजृम्भत[9] । महासाधनमप्युच्चैः[10] परं[11] पारमवाष्टभत्[12] ॥३९॥
उपसिन्धु[13]रिति व्यक्तम् उभयोस्तीरयोर्बलम् । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुम्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥४०॥
ततः स्म बलसङ्क्षोभाद् इतो वार्धिः प्रसर्पति । इतः स्म बलसङ्क्षोभात् ततोऽब्धिः प्रतिसर्पति ॥४१॥
हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः ततमब्धेर्बभौ जलम् । चिराद् विवृत्तमस्यैव[14] सशैवलमधस्तलम् ॥४२॥
पद्मरागांशुभिर्भिन्नं क्वचनाब्धेर्व्यभाज्जलम् । क्षोभादिवास्य हृच्छीर्णम्[15]उच्छलच्छोणितच्छटम् ॥४३॥
सह्योत्सङ्गे[16] लुठन्नब्धिः नूनं दुःखं न्यवेदयत् । सोऽपि सन्धारयन्नेनं बन्धुकृत्यमिवातनोत् ॥४४॥
असह्यैर्बलसङ्घट्टैः सह्यः[18] सह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव[19] व्यक्तम् अकरोद्[20]रुग्णपादपैः ॥४५॥

इन तीन राजाओको एक साथ जीता और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया ॥३५॥ जो अपने शरीरसे मानो मलय पर्वतकी ऊँचाईकी ही तुलना कर रहे हैं ऐसे कलिंग देशके हाथियोने मलय पर्वतके समीपवर्ती अन्य समस्त छोटे छोटे पर्वतोको व्याप्त कर लिया था ॥३६॥ दिग्विजयके समय दिशाओके अन्त भागमें विश्राम करनेवाले भरतके हाथियोने दिग्गजपना अपने आधीन कर लिया था अर्थात् स्वय दिग्गज वन गये थे इसलिये अन्य आठ दिग्गजोकी कथा केवल शोभा के लिये ही रह गई थी ॥३७॥ तदनन्तर पश्चिमी भागपर आरूढ होकर सह्य पर्वतके किनारे के समीप होकर जाते हुए भरतने पश्चिम समुद्रके किनारेके राजाओको जीता ॥३८॥ भरत की वह विजयी सेना समुद्रके समीप किनारे किनारे सब जगह फैल गई थी और वह इतनी वड़ी थी कि उसने समुद्रका दूसरा किनारा भी व्याप्त कर लिया था ॥३९॥ उस समय हवासे लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा जान पडता था मानो दोनो किनारेपर भरतकी सेना देखकर भयसे ही अत्यन्त आकुल हो रहा हो ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे उस किनारेकी ओर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैली हुई हरे मणियोकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इस समुद्रका शेवाल सहित नीचेका भाग ही बहुत समय बाद उलट-कर ऊपर आ गया हो ॥४२॥ कही कहीपर पद्मराग मणियोकी किरणोसे व्याप्त हुआ समुद्रका जाल ऐसा जान पडता था मानो सेनाके क्षोभसे समुद्रका हृदय ही फट गया हो और उसीसे खूनकी छटाएँ निकल रही हो ॥४३॥ सह्य पर्वतकी गोदमें लोटता हुआ (लहराता हुआ) वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो उससे अपना दु ख ही कह रहा हो और सह्य पर्वत भी उसे धारण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो उसके साथ अपना बन्धुभाव (भाई-चारा) ही वढा रहा हो ॥४४॥ सेनाके असह्य सघटनोसे अत्यन्त पीडित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटे हुए वृक्षोसे ऐसा जान पडता था मानो अपने मस्तकपर लकडियोका गट्ठा रख-

१ कलिङ्गवने जातैः । कलिङ्गवनजाता उन्नतकायाश्च । उक्तञ्च दण्डिना देशविरोध-प्रतिपादनकाले 'कलिङ्गवनसम्भूता मृगप्राया मतङ्गजा' इति । २ मलयदेशसमीपस्थपर्वताः । ३ गुणयद्भिः– अ०, इ०, स० । ४ दिग्गजा सन्तीति कथाभेदः । ५ अपरदिग्भागम् । ६ व्याप्य । ७ वेलान्त–इत्यपि क्वचित् । ८ प्रभुः ल० । ९ विजृम्भितम् ल० । १० –मप्युच्चैः द०, ल०, अ०, प०, स० । ११ अपरतीरम् । १२ अशिश्रियत् । १३ उपसमुद्रः । १४ परिवर्तनम् । चिरकाल-प्रवर्तितम् । १५ हृत् हृदयम् शीर्णं विदीर्णं सत् । १६ –मुच्छ्वल– ल०, द० । १७ सह्यगिरि-सानौ । १८ पश्चिमार्णवपर्वतः । १९ पल्लवं गृहीत्वा आक्रोशम् । २० भुग्न । 'रुग्ण भुग्ने' इत्यमर । भुग्न–ल० । भग्न–द० ।

चलत्सत्त्वो [1]गुहारन्ध्रैः विमुञ्चन्नाकुलं स्वनम् । [2]महाप्राणोऽद्रिरुत्क्रान्तिम् इयायेव बलक्षतः ॥४६॥
चलच्छाखी चलत्सत्त्वः चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नैवाचलतां भेजे सोऽद्रिरेवं चलाचलः ॥४७॥
गजतावन[3]सम्भोगैः तुरङ्गखुरघट्टनैः । सह्योत्सङ्गभुवः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद् ययुः ॥४८॥
प्रापश्चिमार्णवतटाद् आ च मध्यमपर्वतात् । आतुङ्गवरकाद्द्रेः तुङ्गगण्डोपलाङ्कितात् ॥४९॥
स कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य च शैलं सुमन्दरम् । मुकुन्दं चाद्रिमुद्दृप्ता जयेभास्तस्य बभ्रमुः ॥५०॥
तत्रा[4]परान्तकान् नागान् ह्रस्वग्रीवान्[5] परान् रदैः । युक्तान् [6]पीनायतस्निग्धं श्यामान् स्वक्षा[7]न् मृदुत्वचः ॥५१॥
[8]महोत्सङ्गान् दयाङ्गान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान् पद्मगन्धमदच्युतः ॥५२॥
सन्तुष्टान् स्वे वने शूरान् दृढपादान् सुवर्ष्मणः । स भेजे तद्वनाधीशैः ससम्भ्रममुपाहृतान्[10] ॥५३॥
घनरोमावलीस्तुङ्गतटारोहा[11] बहूर्नदीः । पूर्वापराब्धिगाः [12]सोऽत्यैत् सह्याद्रेर्दुहितॄरिव[13] ॥५४॥
सञ्चरद्भीषणग्राहैः भीमां भैम[14]रथीं नदीम् । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दारुवेणां च दारुणाम् ॥५५॥

कर भरतके प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो (पूर्व कालमें यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा सिरपर लकडियोंका गट्ठा रखकर गलेमें कुल्हाडी लटकाकर अथवा मुखमें तृण दबाकर विजयी राजाके सामने जाते थे और उससे क्षमा मांगते थे ।) ॥४५॥ वह पर्वत-रूपी बड़ा भारी प्राणी सेनाके द्वारा घायल हो गया था, उसके शिखर टूट-फूट गये थे, उसका सत्त्व अर्थात् धैर्य विचलित हो गया था—उसके सब सत्त्व अर्थात् प्राणी इधर-उधर भाग रहे थे, वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और इन सब लक्षणोंसे ऐसा जान पडता था मानो बहुत शीघ्र मरना ही चाहता हो ॥४६॥ उस पर्वतके सब वृक्ष हिलने लगे थे, सब प्राणी इधर-उधर चचल हो रहे थे—भाग रहे थे और उसके चारों ओरका मध्यभाग भी शिथिल होकर हिलने लगा था इस प्रकार वह पर्वत नाममात्रसे ही अचल रह गया था, वास्तवमें चल हो गया था ॥४७॥ लोगोंकी वनक्रीडाओंसे तथा घोड़ोंके खुरोंके संघटनसे उस सह्य पर्वतके ऊपरकी भूमि चूर चूर होकर क्षण भरमें स्थलपनेको प्राप्त हो गई थी अर्थात् जमीनके समान सपाट हो गई थी ॥४८॥ चक्रवर्ती भरतके मदोन्मत्त विजयी हाथी, पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वत तक और मध्यम पर्वतसे लेकर ऊंची ऊंची चट्टानोंसे चिह्नित तुंगवरक पर्वत तक, कृष्ण गिरि, सुमन्दर तथा मुकुन्द नामके पर्वतको उल्लंघन कर, चारों ओर घूम रहे थे ॥४९-५०॥ जिनकी गर्दन कुछ छोटी है, जो देखनेमें उत्कृष्ट हैं, मोटे लम्बे और चिकने दांतोंसे सहित हैं, काले हैं, जिनकी सब इन्द्रियां अच्छी हैं, चमडा कोमल है, पीठ चौडी है, शरीर ऊंचा है, जीभ, ओंठ और तालु लाल हैं, जो मानी हैं, जिनकी पूंछ और ओठ लम्बे हैं, जिनसे कमलके समान गंधवाला मद झर रहा है, जो अपने ही वनमें सतुष्ट हैं, शूरवीर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन वनोंके स्वामी बडे हर्ष या क्षोभके साथ भेंट देनेके लिये लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथी भी भरतने प्राप्त किये थे ॥५१-५३॥ घन हो जिनकी रोमावली है और ऊंचे किनारे हो जिनके नितम्ब हैं ऐसी सह्य पर्वतकी पुत्रियोंके समान पूर्व तथा पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियां महाराज भरतने उल्लंघन की थीं—पार की थीं ॥५४॥ चलते-फिरते हुए भयंकर मगरमच्छोंसे भयानक भीमरथी नदी, नाकुओंसे समहसे की हुई आवर्तोंसे भयंकर दारुवेणा नदी, किनारे

नीरां तीरस्थवानीर[1]शाखाप्रस्थगिताम्भसम् । मूलां कूलङ्कषैरोघैः[2] उन्मूलिततटद्रुमाम् ॥५६॥
वाणामविरतावाणां[3] केत[4]म्बामम्बुसम्भृताम् । करीरितां[5] तटोत्सङ्गैः करीरैः सरिदुत्तमाम् ॥५७॥
प्रहरां [6]विषमग्राहैः दूषितामसतीमिव । मुररां कुररैः[7] सेव्याम् अपपङ्कां[8] सतीमिव ॥५८॥
पारां पारेजल[9] कूजत्क्रौञ्चकादम्ब[10]सारसाम् । [11]दमनां समनिम्नेषु[12] [13]समानामस्खलद्गतिम् ॥५९॥
मदस्रुति[14]मिवाबद्धवेणिकां[15] सह्यदन्तिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृताम् ॥६०॥
करीरवण[16]संरुद्धतटपर्यन्तभूतलाम् । तापीमातपसन्तापात् कवोष्णां बिभ्रतीमपः ॥६१॥
रम्यां तीरतरुच्छायासंसुप्तमृगशावकाम् । [17]ख्यातामिवापरान्तस्य[18] नदीं लाङ्गलखातिकाम् ॥६२॥
सरितोऽमूः समं सैन्यैः उत्ततार चमूपतिः । तत्र तत्र [19]समाकर्षन्मदिनो वनसामजान् ॥६३॥
प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धिं पातुमिवोद्यतः । सह्याचलं समुल्लङ्घ्य विन्ध्याद्रिं प्राप तद्बलम् ॥६४॥
भूभृतां[20] पतिमुत्तुङ्गं पृथुवंशं[21] धृतायतिम्[22] । परं लङ्घ्यमद्राक्षीद् विन्ध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः ॥६५॥

पर स्थित वेतोंकी शाखाओंके अग्रभागसे जिसका जल ढका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारे को तोड़नेवाले अपने प्रवाहसे जिसने किनारेके वृक्ष उखाड़ दिये हैं ऐसी मूला नदी, जिसमें निरन्तर शब्द होता रहता है ऐसी वाणा नदी, जलसे भरी हुई केतवा नदी, जिसके किनारेके प्रदेश हाथियोंने तोड़ दिये हैं अथवा जिसके किनारेके प्रदेश करीर वृक्षोंसे व्याप्त हैं ऐसी करीरी नामकी उत्तम नदी, विषमग्राह अर्थात् नीच मनुष्योंसे दूषित व्यभिचारिणी स्त्रीके समान विषम ग्राह अर्थात् बड़े बड़े मगरमच्छोंसे दूषित प्रहरा नदी, सती स्त्रीके समान अपंका अर्थात् कीचड़-रहित, (पक्षमें—कलंकरहित) तथा कुरर पक्षियोंके द्वारा सेवा करने योग्य मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर क्रौञ्च, कलहंस (बदक) और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारा नदी, जो समान तथा नीची भूमिपर एक समान जलसे भरी रहती है तथा जिसकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती है ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुए मदके समान जान पड़ती है, जो अनेक धाराएं बांधकर बहती है, जिसका प्रवाह बीचमें कहीं नहीं टूटता, और जो अत्यन्त चौड़ी है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेके समीपकी भूमि करीर वृक्षोंके वनोंसे भरी हुई है और जो धूपकी गरमीसे कुछ कुछ गरम जलको धारण करती है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हरिणोंके बच्चे सो रहे हैं और जो पश्चिम देशकी परिखाके समान जान पड़ती है ऐसी मनोहर लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियों को सेनापतिने अपनी सेनाके साथ साथ पार किया था। उस समय वह सेनापति मदोन्मत्त जंगली हाथियोंको भी पकड़वाता जाता था ॥५५-६३॥ जो अपनी नदियोंरूपी जीभोंको फैलाकर मानो समुद्रको पीनेके लिये ही उद्यत हुआ है ऐसे उस सह्य पर्वतको उल्लंघन कर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुंची ॥६४॥ चक्रवर्ती भरतने उस विन्ध्याचलको अपने समान ही देखा था क्योंकि जिस प्रकार आप भूभृत् अर्थात् राजाओंके पति थे उसी प्रकार विन्ध्याचल भी भूभृत् अर्थात् पर्वतोंका पति था, जिस प्रकार आप उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त ऊंचा

---

१ वेतस । २ प्रवाहैः । ३ अविच्छिन्नविरवाणाम् । अविरत आरावो यस्याः सा । ४ केतवा —न० । ५ गजप्रेरिताम् । ६ विषममकरैः, पक्षे नीचग्रहणैः । ७ पक्षिविशेषैः । ८ अपगतकर्दमाम् । पक्षे अपगतदोषपङ्काम् । ९ तीरजले । १० कलहंस । ११ मदना म०, द० । १२ समानप्रदेशेषु । निम्नदेशेषु च । १३ जलेन समानाम् । १४ मदस्रवाम् । १५ प्रवाहाम् । कुल्याम् वा । १६ वेणुवन । १७ गाथिताम् । १८ पश्चिमदेशस्य । १९ स्वीकुर्वन् । २० राज्ञां गिरीणां च । २१ महान्वयं महावेणुं च । २२ धृतधनागमम् । धृतायामं च । 'आयतिर्दीर्घतायां स्यात् प्रभुतागामिकालयोः ।'

स्फुटद्वेणुदरोन्मुक्तैः अस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित्। वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुटद्दन्तांशु[1] यद्वने ॥७४॥
गुहामुखस्फुरद्घोरनिर्झरप्रतिशब्दकैः[2]। गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥७५॥
[3]स्फुटन्निम्नोन्नतोद्देशैः चित्रवर्णैश्च धातुभिः[4]। मृगस्पर्शैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥७६॥
ज्वलन्त्योषधयो यस्य घनान्तेषु तमीमुखे। देवताभिरिवोत्क्षिप्ता[5] दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥७७॥
क्वचिन्मृगेन्द्रनिर्भिन्नेभकुम्भोच्चलितमौक्तिकैः। यदुपान्तस्थलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रियम्[6] ॥७८॥
स तमालोकयन् दूरात् आससाद महागिरिम्। आह्वयन्तमिवात्मानं[7] मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥७९॥
स तद्वनगतान् दूराद् अपश्यद् घनकर्बुरान्। [8]सयूथानुद्धनुर्वंशान् किरातान् करिणोऽपि च ॥८०॥
सरिद्वधूस्तदुत्सङ्गे[10] विवृत्तशफरेक्षणाः। तद्वल्लभा इवापश्यत् स्फुरद्विहगमन्मनाः[11] ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुशोभित हो रहा था। भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिये—वहाँका वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होनेपर भी अक्षीवकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोंको देनेवाला था अथवा सोहाजनाके लतामण्डपोंको प्रदान करनेवाला था और विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे सहित होकर भी उत्तम पत्तों तथा नवीन कोंपलोंसे सहित था (अक्षीवं च कुञ्जश्चेत्यक्षीवकुञ्जौ, तौ राति ददातीत्यक्षीवकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीवाणां शोभाञ्जनानां कुञ्जं लतागृहं राति ददाति', 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरं च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'शोभाञ्जने शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः इति सर्वत्रामरः) ॥७३॥ उस पर्वतके वनमें कहीं कहीं पर फटे हुए बाँसोंके भीतरसे निकलकर चारों ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो वनलक्ष्मियाँ ही दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई हँस रही हों ॥७४॥ गुफाओंके द्वारोंसे निकलती हुई झरनोंकी गंभीर प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोंके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोंसे, अनेक रंगकी धातुओंसे और हरिणोंके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी ओषधियाँ प्रकाशमान होने लगती थीं जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवताओंने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हों ॥७७॥ कहीं कहींपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहोंके द्वारा फाड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पड़े हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो वायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षोंसे बुलाता हुआ सा जान पड़ता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होंने उस पर्वतके वनोंमें रहनेवाले झुण्डके झुण्ड भील और हाथी देखे वे भील मेघोंके समान काले थे और धनुषोंके बाँसोंको ऊँचा उठाकर कन्धोंपर रक्खे हुए थे तथा हाथी भी मेघोंके समान काले थे और धनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चंचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुए पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ

---

१ स्फुरद्दन्तांशु—ल०। २ ध्वनि। ३ गैरिकादिभिः। ४ रूपैः। ५ —च्छुरिता—ल०, द०। ६ कुसुमसमूहशोभाम्। ७ आत्मनम्। ८ समूहान्। ९ उद्गतवंशान्—पक्षे उद्गतधनुराकारपृष्ठास्थिकान्। १० उत्सङ्गे। ११ विहगध्वनिरूपमन्मनोक्ति इत्यर्थः। —मन्मना ल०, द०।

भाति य शिखरैस्तुङ्गैः दूरव्यायतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौघैः विश्रमायेव सश्रित ॥६६॥
य पूर्वापरकोटिभ्या विगाह्याम्बुनिधि स्थित । नून[1] दावभयात् सख्य[2]म् अमुना[3] प्रचिकीर्षति[4] ॥६७॥
वर्धयन्ति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टि तटद्रुमान् । स्वपादाश्रयिण पोष्या प्रभुणेतीव शसितुम् ॥६८॥
तटस्थपुट[5]पाषाणस्खलितोच्चलिताम्भस । नदीवधू कृतध्वान निर्झरैर्हसतीव य ॥६९॥
वनाभोगमपर्यन्त यस्य दग्धुमिवाक्षम । भृगुपाताय[6] दावाग्नि शिखराण्यधिरोहति ॥७०॥
ज्वलद्दावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयानीव लक्ष्यन्ते शुचि[7]सन्निधौ ॥७१॥
समातङ्ग[8] वन यस्य सभुजङ्ग[9]परिग्रहम् । विजाति[10]कण्टकाकीर्णं क्वचिद्धत्तेऽतिकष्टताम् ॥७२॥
क्षीव[11]कुञ्जरयोगेऽपि क्वचिदक्षीवकुञ्जरम्[12] । विपत्रमपि[13] सत्पत्रपल्लव भाति यद्वनम् ॥७३॥

था, जिस प्रकार आप पृथुवश अर्थात् विस्तृत—उत्कृष्ट वश (कुल) को धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी पृथुवश अर्थात् बडे बडे बाँसके वृक्षोको धारण करनेवाला था, जिस प्रकार आप धृतायति अर्थात् उत्कृष्ट भविष्यको धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी धृतायति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाला था, और जिस प्रकार आप दूसरोके द्वारा अलघ्य अर्थात् अजेय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी दूसरोके द्वारा अलघ्य अर्थात् उल्लघन न करने योग्य था ॥६५॥ जिनसे बहुत दूरतक फैलनेवाले झरने झर रहे है ऐसे ऊचे ऊचे शिखरोसे वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पताकाओसहित अनेक विमानोके समूह ही विश्राम करनेके लिये उसपर ठहरे हो ॥६६॥ वह पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दिशाके दोनो कोणोसे समुद्रमे प्रवेश कर खडा हुआ था और उससे ऐसा जान पडता था मानो दावानलके डरसे समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥६७॥ उस विन्ध्याचलके झरने 'स्वामीको अपने चरणोका आश्रय लेनेवाले पुरुषोका अवश्य ही पालन करना चाहिये' मानो यह सूचित करनेके लिये ही अपने किनारेके वृक्षोका सदा पालन-पोषण करते रहते थे ॥६८॥ वह पर्वत शब्द करते हुए निर्झरनोसे ऐसा जान पडता था मानो अपने किनारेके ऊँचे नीचे पत्थरोसे स्खलित होकर जिसका पानी ऊपरकी ओर उछल रहा है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोकी हँसी ही कर रहा हो ॥६९॥ उस पर्वतकी शिखरोपर लगा हुआ दावानल ऐसा जान पडता था मानो उसके सीमारहित बहुत बडे वनप्रदेशको जलानेके लिये असमर्थ हो ऊपरसे गिरकर आत्मघात करनेके लिये ही उसके शिखरोपर चढ रहा हो ॥७०॥ आषाढ महीनेके समीप जलती हुई दावाग्निसे घिरे हुए उस पर्वतके शिखर वहाके भीलोको सुवर्णसे बने हुएके समान दिखाई देते थे ॥७१॥ उस पर्वतका वन कही कही मातग अर्थात् हाथियोसे सहित था अथवा मातग अर्थात् चाण्डालोसे सहित था, भुजग अर्थात् सर्पोके परिवारसे युक्त था अथवा भुजग अर्थात् नीच (विटगुडे) लोगोके परिवारसे युक्त था और अनेक प्रकारके काँटोसे भरा हुआ था अथवा अनेक प्रकारके उपद्रवी लोगोसे भरा हुआ था इसलिये वह बहुत ही दुःखदायी अथवा शोचनीय अवस्थाको धारण कर रहा था ॥७२॥ उस पर्वतपरका वन क्षीबकुजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोसे युक्त होकर भी अक्षीबकुजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोसे रहित था और विपत्र अर्थात् पत्तोसे रहित होकर भी सत्पत्रपल्लव अर्थात् पत्तो तथा कोपलोसे सहित

१ इव। २ मित्रत्वम्। ३ समुद्रेण। ४ कर्तुमिच्छति। ५ तटनिम्नोन्नत। ६ प्रपातपतनाय। [illegible] भृगु [illegible]। ७ ग्रीष्मे। ८ मातङ्ग पक्षे मातङ्गाश्रमम्। ९ सर्पा, पक्षे भविट्। १० [illegible]। ११ मत्त[illegible]। १२ अपि च समुद्रलवणम् 'सामुद्र यत् लवणमक्षीव' [illegible]। [illegible] कर्णानि दर्शनानि। १३ वीना पत्राणि पत्राणि यस्मिन् सन्तीति, [illegible]।

स्फुरद्वेणुदरोन्मुक्तं ध्वस्तं[2] मुक्ताफलं क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुरद्दन्तांशु[1] यद्वने ॥७४॥
गुहामुखस्फुरद्घोरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥७५॥
स्फुटं निम्नोन्नतोद्देशैः चित्रवर्णैश्च धातुभिः[3] । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥७६॥
ज्वलन्त्योषधयो यस्य वनान्तेषु तमीमुखे । देवताभिरिवोत्क्षिप्ता[4] दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥७७॥
क्वचिन्मृगेन्द्रनिर्भिन्नकुम्भो[5]च्चलितमौक्तिकैः । यदुपान्तस्थलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रियम्[6] ॥७८॥
स तमालोकयन् दूरात् आससाद महागिरिम् । आह्वयन्तमिवासक्तं[7] मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥७९॥
स तद्वनगतान् दूराद् अपश्यद् वनकुञ्जरान् । सयूथान्[8]उद्धनुर्वंशान्[9] किरातान् करिणोऽपि च ॥८०॥
सरिद्वधूस्तदुत्सङ्गे[10] विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत् स्फुरद्विहगमन्मनाः[11] ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुशोभित हो रहा था। भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिये—वहाँका वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होनेपर भी अक्षीवकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोंको देनेवाला था अथवा सोहाजनाके लतामण्डपोंको प्रदान करनेवाला था और विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पत्तोंसे सहित होकर भी उत्तम पत्तों तथा नवीन कोंपलोंसे सहित था (अक्षीवं च कुञ्जश्चेत्यक्षीवकुञ्जौ, तौ राति ददातीत्यक्षीवकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीवाणां शोभाञ्जनानां कुञ्जं लतागृहं राति ददाति', 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरं च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'शोभाञ्जने शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः इति सर्वत्रामरः) ॥७३॥ उस पर्वतके वनमें कहीं कहीं पर फटे हुए बाँसोंके भीतरसे निकलकर चारों ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो वनलक्ष्मियाँ ही दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई हँस रही हों ॥७४॥ गुफाओंके द्वारोंमें निकलती हुई झरनोंकी गंभीर प्रतिध्वनियों से वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोंके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोंमें, अनेक रंगकी धातुओंमें और हरिणोंके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी औषधियाँ प्रकाशमान होने लगती थीं जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवताओंने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हों ॥७७॥ कहीं कहींपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहोंके द्वारा फाड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पड़े हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो वायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षोंसे बुलाता हुआ सा जान पड़ता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होंने उस पर्वतके वनोंमें रहनेवाले झुण्डके झुण्ड भील और हाथी देखे वे भील मेघोंके समान काले थे और धनुषोंके बाँसोंको ऊँचा उठाकर कंधोंपर रक्खे हुए थे तथा हाथी भी मेघोंके समान काले थे और धनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुए पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ

---

१ स्फुरद्दन्तांशु—ब०। २ व्यक्त। ३ गैरिकादिभिः। ४ उद्धृता। ५ —च्छलत—त०, द०। ६ पुष्पप्रकराभाम्। ७ आसक्तम्। ८ ससमूहान्। ९ उद्गतधनुषा वंशान्। उद्गतवंशपृष्ठ-भागान्। १० तन्मध्ये। ११ [illegible] —[illegible] त० द०।
१२

मध्ये विन्ध्यमयं क्षिप्त[1] नर्मदां सरिदुत्तमाम् । प्रततामिव तत्कीर्तिम् आसमुद्रमपारिकाम् ॥८२॥
तरङ्गितपयोवेणीं भुवो [2]वेणीमिवायताम् । पताकामिव विन्ध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनीम् ॥८३॥
सा धुनी बलसंक्षोभाद् उड्डीनविहगावलिः । विभोरुपागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यभात् ॥८४॥
नर्मदा[3] सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोषिताम् । [4]यदुपोढतरन्तीस्ताः शफरीभिरघट्टयत ॥८५॥
तामुत्तीर्य जनक्षोभाद् उत्पतत्पतगावलिम्[5] । बलं विन्ध्योत्तरप्रस्थान् आक्रामत् कृतुपास्थया[6] ॥८६॥
तस्या[7] [8]दक्षिणतोऽपश्यद् विन्ध्य[9]मुत्तरतोऽप्यसौ । [10]द्विधाकृतमिवात्मानम् अर्पयन्तं दिशोर्द्वयोः ॥८७॥
स्कन्धावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्युतत् । प्रथिम्ना[11] विन्ध्यमावेष्ट्य स्थितो विन्ध्य इवापरः ॥८८॥
गजैर्गण्डोपलै[12]रश्वैः अश्ववक्त्रैश्च[13] विद्रुतैः । स्कन्धावारः स विन्ध्यश्च भिदां[14] नावापतुर्मिथः ॥८९॥
बलोपभुक्तनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विन्ध्यो वन्ध्यस्तदाभवत् ॥९०॥
वैणवैस्तण्डुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्यूषु[15] सैनिकाः स्वैरं रम्या विन्ध्याचलस्थलीः[16] ॥९१॥

देखा ॥८१॥ तदनन्तर उन्होंने विन्ध्याचलके मध्य भागमें समुद्र तक फैली हुई और किसीसे न रुकनेवाली उसकी कीर्तिके समान नर्मदा नामकी उत्तम नदी देखी ॥८२॥ जिसके जलका प्रवाह अनेक लहरोंसे भरा हुआ है ऐसी वह नर्मदा नदी पृथिवीरूपी स्त्रीकी लम्बी चोटीके समान जान पड़ती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको जीत लेनेकी सूचना करनेवाली विन्ध्याचलकी विजय-पताकाके समान मालूम होती थी ॥८३॥ सेनाके क्षोभसे जिसके ऊपर पक्षियोंकी पंक्तियां उड़ रही हैं ऐसी वह नदी क्षण भरके लिये ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने चक्रवर्तीके आनेपर तोरण ही बांधे हों ॥८४॥ चूंकि वह नर्मदा नदी जलको पार करनेवाली रानियोंके लिये मछलियोंके द्वारा धक्का देती थी इसलिये वह सचमुच ही उन्हें नर्मदा अर्थात् क्रीड़ा प्रदान करनेवाली हुई थी ॥८५॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड़ रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली समझकर विन्ध्याचलके उत्तरकी ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहां भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों ही ओर विन्ध्याचलको देखा, उस समय दोनों ओर दिखाई देनेवाला वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपने दो भाग कर दोनों दिशाओंको ही अर्पण कर रहा हो ॥८७॥ भरतकी सेनाका पड़ाव नर्मदा नदीके दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने विस्तारसे विन्ध्याचलको घेरकर मानो दूसरा विन्ध्याचल ही ठहरा हो ॥८८॥ उस समय सेनाका पड़ाव और विन्ध्याचल दोनों ही परस्परमें किसी भेद (विशेषता) को प्राप्त नहीं हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सेनाके पड़ावमें हाथी थे उसी प्रकार विन्ध्याचलमें भी हाथियोंके समान ही गंडोपल अर्थात् बड़ी बड़ी काली चट्टानें थीं और सेनाके पड़ावमें जिस प्रकार अनेक घोड़े इधर उधर फिर रहे थे उसी प्रकार उस विन्ध्याचलमें भी अनेक अश्ववक्त्र अर्थात् घोड़ोंके मुखके समान मुखवाले किन्नर जातिके देव इधर-उधर फिर रहे थे (कवि-सम्प्रदायमें किन्नरोंके मुखोंका वर्णन घोड़ोंके मुखोंके समान किया जाता है) ॥८९॥ सेनाने उस विन्ध्याचलके समस्त फल पत्ते और वृक्षोंका उपभोग कर लिया था और लताओं तथा छोटे छोटे पौधोंको पुष्परहित कर दिया था इसलिये वह विन्ध्याचल उस समय वन्ध्याचल अर्थात् फल-पुष्प आदिसे रहित हो गया था ॥९०॥ मोतियोंसे मिले हुए बांसी चावलोंसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हुए सैनिक लोगोंने वहां इच्छा-

कृतावासञ्च तत्रैनं ददृशुस्तद्वनाधिपाः । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैः अगदैश्च[1] महौषधैः ॥९२॥
उपानिन्युः[2] करीन्द्राणां दन्तान्सम्यक् समौक्तिकान् । किरातवर्या[3] [4]वर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभौ ॥९३॥
पश्चिमार्णेन[5] विन्ध्याद्रिम् उल्लङ्घ्योत्तीर्य नर्मदाम् । विजेतुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलम् ॥९४॥
गत्वा किञ्चिदु[6]दग्भूयः प्रतीचीं[7] दिशमानशे । प्राक् प्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्रं चरमं[8] बलम् ॥९५॥
तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतैः[9] महीरजः । न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥९६॥
लाटा ललाट[10]संघृष्टभूपृष्ठाश्चाटुभाषिणः । लालाटिक[11]पदं भेजुः प्रभोराज्ञावशीकृताः ॥९७॥
केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे [12]पाञ्चनदैर्गजैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षाञ्चक्रिरे चक्रचालिनः ॥९८॥
चक्रसन्दर्शनादेव त्रस्ता निर्मण्ड[13]लग्रहाः । ग्रहा[14] इव नृपाः केचित् चक्रिणो वशमाययुः ॥९९॥
दिग्यानिव[15] द्विपान् क्ष्मापान् पृथुवंशान्मदोद्धुरान् । प्रचक्रे [16]प्रगुणांश्चक्री बलादाक्रम्य दिक्पतीन् ॥१००॥
नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट्र[17]वामीदाननतो पदान् । स[18]मासयन् प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थली[19] ॥१०१॥

नुसार निवास किया था सो ठीक ही है क्योंकि विन्ध्याचलपर रहना बहुत ही रमणीय होता है ॥९१॥ विन्ध्याचलके वनोंके राजाओंने वनोंमें उत्पन्न हुई रोग दूर करनेवाली और प्रशंसनीय बड़ी बड़ी औषधियां भेंट कर वहांपर निवास करनेवाले राजा भरतके दर्शन किये ॥९२॥ भीलोंके राजाओंने बड़े बड़े हाथियोंके दांत और मोती महाराज भरतको भेंट किये, सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिये ॥९३॥ विन्ध्याचलको पश्चिमी किनारेके अन्तभागसे उल्लंघन कर और नर्मदा नदीको पार कर चक्रवर्तीकी सेनाने पश्चिम दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान किया ॥९४॥ वह सेना पहले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढ़ी और फिर पश्चिम दिशामें व्याप्त हो गई । सेनामें सबसे आगे महाराज भरतका दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी॥९५॥उस समय वेगसे चलते हुए घोड़ोंके समूहके खुरोंसे उड़ी हुई पृथिवीकी धूलिने केवल शत्रुओंके ही तेजको नहीं रोका था किन्तु सूर्यका तेज भी रोक लिया था ॥९६॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलको घिसा है और जो मधुर भाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञासे वश किये हुए लाट देशके राजा उनके लालाटिक पदको प्राप्त हुए थे। (ललाटं पश्यति लालाटिक—स्वामी क्या आज्ञा देते हैं ? यह जाननेके लिये जो सदा स्वामीके मुखकी ओर ताका करते हैं उन्हें लालाटिक कहते हैं।) ॥९७॥ चक्ररत्नसे विचलित हुए कितने ही वनके राजाओंने सोरठ देशमें उत्पन्न हुए और कितने ही राजाओंने पंजाबमें उत्पन्न हुए हाथी भेंट देकर भरतके दर्शन किये ॥९८॥ जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हो गये हैं और जिन्होंने अपने देशका अभिमान छोड़ दिया है ऐसे कितने ही राजा लोग सूर्य चन्द्र आदि ग्रहोंके समान चक्रवर्तीके वश हो गये थे । भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ग्रह भरतके वशीभूत थे—अनुकूल थे उसी प्रकार उस दिशाके समस्त राजा भी उनके वशीभूत हो गये थे ॥९९॥ चक्रवर्ती भरतने दिग्गजोंके समान पृथुवंश अर्थात् उत्कृष्ट वंशमें उत्पन्न हुए (पक्षमें—पीठपरकी चौड़ी रीढ़से सहित) और मदोद्धुर अर्थात् अभिमानी (पक्षमें—मदजलसे उत्कट) राजाओंको जबर्दस्ती आक्रमण कर अपने वश किया था ॥१००॥ सैकड़ों ऊंट और घोड़ियोंकी भेंट लेकर आये हुए सोरठ देशके राजाओं

१ व्याधिघातकैः । २ उपायनीकृत्य नयन्ति स्म । उपानिन्युः अ०, इ०, प०, स०, द० । ३ श्रेष्ठाः । ४ चर्या ल० । ५ विनौ म०, अ० । ६ पश्चिमान्तेन ल०, द० । ७ उत्तरदिशम् । ८ पश्चिमाम् । ९ पश्चात् । १० खुरोद्धूतमहीरजः ल० । ११ मस्तक–ट०, प०, द० । १२ विशिष्टम् पदम् । 'लालाटिकः प्रभोर्भालदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । १३ पञ्चनदोद्भवैः । १४ देशग्रहरहिताः । १५ आदित्यग्रहाः । १६ दिशि भवान् । १७ प्रणतान् । १८ उष्ट्रान्वमनमुष्ट्रीसदान् । १९ तोषयन् । २० ऊर्जयन्तगिरिस्थलीं ।

सुराष्ट्रेषूर्जयन्ताद्रिम् अद्रिराजमिवोच्छ्रितम् । ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भावितीर्थमनुस्मरन् ॥१०२॥
क्षौमांशुकदुकूलैश्च चीनपट्टाम्बरैरपि । पटीभेदैश्च[1] वैदेशा ददृशुस्तमुपायनैः ॥१०३॥
कांश्चित् सम्मानदानाभ्यां कांश्चिद्विस्रम्भभाषितैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कांश्चिद् भूपान्विभुररञ्जयत् ॥१०४॥
गजप्रवेकैर्जात्यश्वैः रत्नैरपि पृथग्विधैः[4] । समानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगतं प्रभुम् ॥१०५॥
तरस्विभिर्वपुर्मेधावयःसत्त्वगुणान्वितैः । तुरङ्गमैस्तुरुष्कार्घ्यैः[5] विभुमाराधयन् परे ॥१०६॥
केचित्काम्बोजबाह्लीकतैतिलारट्टसैन्धवैः[6] । वानायुजैः[7] सगान्धारैः वापेयैरपि[8] वाजिभिः ॥१०७॥
कुलोपकुलसम्भूतैः नानादिग्देशचारिभिः । आजानेयैः[9] समप्राङ्गैः प्रभुमैक्षन्त पार्थिवाः ॥१०८॥
प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवलम् । यशोलाभश्च दुःसाध्यान् बलात् साधयतो नृपान् ॥१०९॥
जलस्थलपथान् विष्वग् आरुध्य जयसाधनैः । प्रत्यन्तपालभूपालान् अजयत्तच्चमूपतिः ॥११०॥
विलङ्घ्य विविधान् देशान् अरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र विभोराज्ञां[10] सेनानीराशुश्रुवत्[11] ॥१११॥
प्राच्यानिव स भूपालान् प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । श्रावयन् हृततन्मानधनः प्रापापराम्बुधिम् ॥११२॥

से सेवा कराते हुए अथवा उनसे प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार (मुलाकात) करते हुए चक्रवर्ती भरत गिरनार पर्वतके मनोहर प्रदेशोंमें जा पहुंचे ॥१०१॥ भविष्यत् कालमें होनेवाले तीर्थंकर नेमिनाथका स्मरण करते हुए वे चक्रवर्ती सोरठ देशमें सुमेरु पर्वतके समान ऊंचे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े ॥१०२॥ उन उन देशोंके राजाओंने उत्तम उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क तथा और भी अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे वस्त्र भेंट देकर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१०३॥ भरतने कितने ही राजाओंको सम्मान तथा दानसे, कितने ही राजाओंको विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातचीतसे और कितने ही राजाओंको प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे अनुरक्त किया था ॥१०४॥ कितने ही राजाओंने संतुष्ट होकर उत्तम हाथी, कुलीन घोड़े और अनेक प्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आये हुए महाराज भरतकी पूजा की थी—॥१०५॥ अन्य कितने ही राजाओंने वेगसे चलनेवाले, तथा शरीर, बुद्धि, अवस्था और बल आदि गुणोंसे सहित तुरुष्क आदि देशोंमें उत्पन्न हुए घोड़ोंके द्वारा भरतकी सेवा की थी ॥१०६॥ कितने ही राजाओंने उसी देशके घोड़े घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, तथा एक देशके घोड़े और अन्य देशकी घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, नाना दिशाओं और देशोंमें संचार करनेवाले, कुलीन और पूर्ण अंगोपाङ्ग धारण करनेवाले, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार और वाण देशमें उत्पन्न हुए घोड़े भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥१०७–१०८॥ इस प्रकार भरतको प्रत्येक पड़ावपर केवल रत्नोंकी ही प्राप्ति नहीं हुई थी किन्तु अपने पराक्रमसे बड़े बड़े दुःसाध्य (कठिनाइयोंसे जीते जाने योग्य) राजाओंको जीत लेनेसे यशकी भी प्राप्ति हुई थी ॥१०९॥ भरतके सेनापतिने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा चारों ओरसे जल तथा स्थलके मार्ग रोककर पहाड़ी राजाओंको जीता ॥११०॥ सेनापतिने अनेक प्रकारके देश, बड़े बड़े जंगल, नदियां और पर्वत उल्लंघन कर सब जगह शीघ्र ही सम्राट् भरतकी आज्ञा स्थापित की ॥१११॥ इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम क्रमसे पूर्व दिशाके राजाओंके समान पश्चिम दिशाके राजाओंको भी वश करता हुआ तथा उनके अभिमान और धनका हरण करता हुआ पश्चिम समुद्रकी ओर

१ गूढवस्त्रभेद पटी । २ स्नेह । ३ श्रेष्ठैः । ४ नानाविधैः । ५ तुरुष्कदेशजातार्घ्यैः । ६ तैतिल-आरट्टसिन्धुदेशजैः । ७ वानायुदेशे जातैः । ८ वापिदेशभवैः, पाणेयैः द०, वाणयैः ल० । ९ कुलीनैः । 'आजानेयाः कुलीनाः स्युः' इत्यभिधानात्, जात्यश्वैरित्यर्थः । १० प्रभो– ल० । ११ श्रावयति स्म ।

वेलासरित्करा[1]नब्धिः अतिदूरं प्रसारयन् । नूनं[2] प्रत्यग्रहीदेव नानारत्नार्घमुद्वहन् ॥११३॥
शूर्पोन्मेयानि[3] रत्नानि वार्धेरित्यप्रशंसिनी[4] । यानपात्रमहामानैः उन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥११४॥
नाम्नैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघूकृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैः बहु मेने तदा नृपैः ॥११५॥
पतत्यत्र पतङ्गोऽपि[5] तेजसा याति मन्दताम् । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्या[6] जयतो नृपान् ॥११६॥
धारयंश्चक्ररत्नस्य[7] पारयन् सङ्गरोदधेः[8] । द्विषा[9]मुद्वे[10]जयंस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥११७॥
अनुवार्धि तटं गत्वा सिन्धुद्वारे न्यवेशयत् । स्कन्धावारं स लक्ष्मीवान् अक्षोभ्यं स्वमिवाशयम् ॥११८॥
सिन्धोस्तटवने रम्ये न्यविक्षन्नस्य सैनिकाः । चमूद्विरदसम्भोगनिकुञ्जी[11]भूतपादपे ॥११९॥
मन्त्राधिवासि[12]तानोऽग्र-पुरश्चरण[13]कर्मवित् । पुरोधा धर्मचक्रेशान्[14]प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥१२०॥
सिद्धशेषाक्षतैः पुण्यैः गन्धोदकविमिश्रितैः । अभ्यनन्दत्सुयज्वा[15] स पुण्याशीर्भिश्च चक्रिणम् ॥१२१॥
ततोऽसौ धृतदिव्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत्[16] । जगाहे लवणाम्भोधिं गोष्पदावज्ञया प्रभुः ॥१२२॥

चला ॥११२॥ उस समय वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो किनारे पर बहनेवाली नदियां रूपी हाथोंको बहुत दूर तक फैलाकर नाना प्रकारके रत्नरूपी अर्घको धारण करता हुआ महाराज भरतकी अगवानी ही कर रहा हो अर्थात् आगे बढकर सत्कार ही कर रहा हो ॥११३॥ जो लोग कहा करते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं वे उसकी ठीक ठीक प्रशंसा नहीं करते बल्कि अप्रशंसा ही करते हैं क्योंकि यहां तो इतने अधिक रत्न हैं कि जो बडे बडे जहाजरूप नापोंसे भी नापे जा सकते हैं ॥११४॥ यह समुद्र 'लवण समुद्र' इस नामसे बिलकुल ही तुच्छ कर दिया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है इस प्रकार उस समय भरत आदि राजाओंने उसे बहुत बडा माना था ॥११५॥ जिस दिशामें जाकर सूर्य भी अपने तेजकी अपेक्षा मन्द (फीका) हो जाता है उसी दिशामें पश्चिमी राजाओंको जीतते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥११६॥ चक्ररत्नको धारण करता हुआ, युद्ध-रूपी समुद्रको पार करता हुआ और शत्रुओंको उद्विग्न करता हुआ वह भरत उस समय ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥११७॥ जो राज्यलक्ष्मीसे युक्त है ऐसे उस भरत ने समुद्रके किनारे किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाला अपनी सेनाका पडाव सिन्धु नदीके द्वारपर लगवाया। भावार्थ—जहां सिन्धु नदी समुद्रमें जाकर मिलती है वहां अपनी सेनाके डेरे लगवाये ॥११८॥ सेनाके हाथियोंके उपभोगसे जहांके वृक्ष निकुञ्ज अर्थात् लतागृहोंके समान हो गये हैं ऐसे सिन्धु नदीके किनारेके मनोहर वनमें भरतकी सेनाके लोगोंने निवास किया ॥११९॥ तदनन्तर कार्यके प्रारम्भमें करने योग्य समस्त कार्यों को जाननेवाले पुरोहितने वहांपर मन्त्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्रके स्वामी अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और फिर गन्धोदकसे मिले हुए पवित्र सिद्ध शेषाक्षतों और पुण्यरूप अनेक आशीर्वादोंसे चक्रवर्ती भरतको आनन्दित किया ॥१२०–१२१॥ तदनन्तर

---

१ वेलासरित एव कराः तान्। २ इव। ३ प्रस्फोटनेन उन्मातुं योग्यानि। प्रस्फोटनं शूर्प-मस्त्रीत्यभिधानात्। ४ सेना। -रित्यप्रशंसिनि स०। प्रशंसनोऽपि न प्रशस्या। (प्रशस्ताऽपि न प्रशस्या)। ५ सूर्यः। ६ प्रतीच्यानिति पाठः। ७ चक्ररत्नं धारयन्। ८ प्रतियोगसमुद्रं समाप्तं कुर्वन्। ९ शत्रून्। १० कम्पयन्। (एज कम्पने इति धातुः। 'दारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिलिम्पविन्दो-पसर्गात् इति कर्तरि णप् प्रत्ययः'। 'मध्ये कर्तरि शप्' इति शप् विधानात् एजयादेशः)। ११ नितरां ह्रस्वीभूत। १२ समन्त्रक पूजितचक्ररत्नः (अनः शकटम् तस्यावयवम् चक्रम्)। १३ पूर्वसेवा। १४ धर्मचक्रेशिनः। १५ पुरोहितः। सुष्ठु दृष्टवान्। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति अतीतार्थे सुयजधातुभ्यां ङ्वनिप्रत्ययः। १६ मागधविजये यथा।

प्रभा[1]समजयत्तत्र प्रभास व्यन्तराधिपम् । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासा तर्जयन्प्रभु ॥१२३॥
जयश्रीशफरीजाल[2] मुक्ताजाल ततोऽमरात् । लेभे सान्तानिकीं[3] माला हेममालाञ्च चक्रभृत् ॥१२४॥
इति पुण्योदयाज्जिष्णु व्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात् पुण्यधन प्राज्ञा शश्वदर्जयतोर्जितम् ॥१२५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

खड्ग[4] तुङ्ग तुरङ्गसाधनखुरक्षुण्णा[5]न्महीस्थण्डिलाद्[6]
उद्भूतै रणरे[7]णुभिर्जलनिधे कालुष्यमापादयन्[8] ।
सिन्धुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामर
तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणाम् ॥१२६॥
लक्ष्म्यान्दोल[9]लतामिवोरसि दधत् सन्तानपुष्पस्रज
मुक्ताहेममयेन जालयुग[10]लेनालङ्कृतोच्चैस्तनु ।
लक्ष्म्युद्वाह[11]गृहादिवाप्रतिभयो[12] निर्यन्निधेरम्भसा
लक्ष्मीशो रुरुचे भृश नववरच्छाया[13] परामुद्वहन् ॥१२७॥

जिसने दिव्य अस्त्र धारण किये है ऐसे भरतने पहलेके समान रथपर चढकर गोष्पदके समान तुच्छ समझते हुए लवण समुद्रमे प्रवेश किया ॥१२२॥ अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाके समूहको तिरस्कृत करते हुए भरतने वहा जाकर अतिशय कान्तिमान् प्रभास नामके व्यन्तरोके स्वामी को जीता ॥१२३॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने उस प्रभासदेवसे जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकडने के लिये जालके समान मोतियोका जाल, कल्पवृक्षके फूलोकी माला और सुवर्णका जाल भेंट स्वरूप प्राप्त किये ॥१२४॥ इस प्रकार विजयी भरतने अपने पुण्यकर्मके उदयसे अच्छे अच्छे देवोको भी जीता इसलिये हे पण्डित जन, तुम भी उत्कृष्ट फल देनेवाले पुण्यरूपी धनका सदा उपार्जन करो ॥१२५॥ अनुपम लक्ष्मीके धारक भरत, उछलते हुए बडे बडे घोडोकी सेना के खुरोसे खुदी हुई पृथिवीसे उडती हुई रथकी धूलिके द्वारा समुद्रको कलुपता प्राप्त कराते हुए (गँदला करते हुए) सिन्धुद्वारपर पहुचे और वहा उन्होने विधिपूर्वक प्रभास नामके देवको जीतकर उससे सारभूत धन प्राप्त किया । ॥१२६॥ जो अपने वक्षस्थलपर लक्ष्मीके भूला की लताके समान कल्पवृक्षके फूलोकी माला धारण किये हुए है, जिसका ऊँचा शरीर मोती और सुवर्णके बने हुए दो जालोसे अलकृत हो रहा है, जो निर्भय है और लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा यह भरत लक्ष्मीके विवाहगृहके समान समुद्रसे निकल रहा है और नवीन वरकी उत्कृष्ट शोभाको धारण करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१२७॥ इस प्रकार समुद्र-पर्यन्त पूर्व दिशाके राजाओको, वैजयन्त पर्वत तक दक्षिण दिशाके राजाओको और पश्चिम समुद्र

---

१ प्रकृष्टदीप्तिम् । २ जयश्रीरेव शफरी मत्सी तस्या जालम् पाश । ३ कल्पवृक्षजाताम् । ४ सुवर्णम् । ५ चूर्णीकृतात् । ६ स्यंदनसमुद्धतात् । ७ रथरेणुभि । ८ सम्पादयन् । ९ लक्ष्म्या प्रेङ्खोलनरज्जुम् । १० मालायुगलेन । ११ विवाह । १२ भयरहित । १३ नूतनवरशोभाम् ।

प्राच्या[1]नाजलधे[2]रपाच्यनृपतीं[3]नावेजयन्ताज्जयन्
निर्जित्यापरसिन्धुमीमघटितामाशां प्रतीचीमपि
दिक्पालानिव पार्थिवान्प्रणमयन्नाकम्पयन्नाकिनो
दिक्‌चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्थं स भूभृत्प्रभुः ॥१२८॥
पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥१२९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे
पश्चिमार्णवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंशं पर्व।

की सीमा तक पश्चिम दिशाको जीतकर दिक्पालोंके समान समस्त राजाओंसे नमस्कार कराते हुए तथा देवोंको भी कम्पायमान करते हुए राजाधिराज भरतने समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥१२८॥ पुण्यसे सबको विजय करनेवाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इन्द्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इस प्रकार यह जीव पुण्यसे ही चारों प्रकारकी लक्ष्मीका पात्र होता है, इसलिये हे सुधी जन! तुम लोग भी जिनेन्द्र भगवान्‌के पवित्र आगमके अनुसार पुण्यका उपार्जन करो ॥१२९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला
तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ पूर्वदिग्देशजान्। २ पूर्वसमुद्रपर्यन्तम्। ३ दक्षिणदिशानृपान्। ४ प्रतीतान्।

एकत्रिंशत्तमं पर्व

कौबेरीमथ निर्जेतुम् आशामभ्युद्यतो विभुः। प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन् दिशः ॥१॥
धौरितै[1]र्गत[2]मुत्साहैः सत्त्वं शिक्षां च लाघवैः। जातिं वपुर्गुणैस्तज्ज्ञाः सदश्वानां विजज्ञिरे ॥२॥
धौरितं गतिचातुर्यम् उत्साहस्तु पराक्रमः। शिक्षाविनयसंपत्तौ रोमच्छाया वपुर्गुणः ॥३॥
पुरोभागा[3]निवात्येतु[4] पश्चाद्भागैः[5] कृतोद्यमाः। प्रययुर्द्रुतमध्वानम् अध्वनीना[6] स्तुरङ्गमाः ॥४॥
खुरोद्धूतान् महीरेणून् स्वाङ्गस्पर्शभयादिव। केचिद् ध्वतीं[7]युरध्वन्य[8] महाश्वाः कृतविभ्रमाः ॥५॥
छायात्मनः[10] सहोत्थानं[11] केचित्सोढुमिवाक्षमाः। खुरैरघट्टयन् वाहाः स तु सौक्ष्म्यान्नबाधितः ॥६॥
केचिन्नृत्तमिवातेनुः महीरङ्गे तुरङ्गमाः। क्रमैश्चङ्क्रमणारम्भे[12] कृतमड्डुक[13]वादनैः ॥७॥
स्थिरप्रकृतिसत्त्वानाम् अश्वानां चलताऽभवत्। प्रचलत्खुरसंक्षुण्णभुवां गतिषु केवलम् ॥८॥
कोट्योऽष्टादशास्य स्युः वाजिनां वायुरंहसाम्[14]। आजानेयप्रधानानां[15] योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥९॥
रुद्धरोधोवनाक्षुण्णतटभूर्हासयंत्यप। सिन्धोः[16] प्रतीपतां[17] भेजे प्रयान्ती सा पताकिनी ॥१०॥

अथानन्तर–उत्तर दिशाको जीतनेके लिये उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत जिनमें अनेक घोड़े हैं ऐसी सेनाओंसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए निकले ॥१॥ उस समय घोड़ोंके गुण जानने वाले लोगोंने धौरित नामकी गतिसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, स्फूर्तिके साथ हलकी चाल चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥२॥ गतिकी चतुराईको धौरित; उत्साहको पराक्रम, विनयको शिक्षा और रोमोंकी कान्तिको शरीरका गुण कहते हैं ॥३॥ अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोड़े मार्गमें बहुत जल्दी जल्दी जा रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पीछेके भागोंसे अगले भागोंको उल्लंघन ही करना चाहते हों ॥४॥ अपने खुरोंसे उड़ती हुई पृथिवीकी धूलिका कहीं हमारे ही शरीरके साथ स्पर्श न हो जावे ? इस भयसे ही मानो अनेक बड़े बड़े घोड़े अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मार्गमें उस धूलिको उल्लंघन कर रहे थे ॥५॥ कितने ही घोड़े अपनी छायाका भी अपने साथ चलना नहीं सह सकते थे इसलिये ही मानो वे उसे अपने खुरोंसे तोड़ रहे थे परन्तु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥६॥ कितने ही घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो चलनेके प्रारम्भमें बजने हुए नगाड़े आदि बाजोंके साथ साथ अपने पैरोंसे पृथ्वीरूपी रङ्गभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥७॥ जिनका स्वभाव और पराक्रम स्थिर है परन्तु जिन्होंने अपने चलते हुए खुरोंसे पृथ्वी खोद डाली है ऐसे घोड़ोंकी चचलता केवल चलनेमें ही थी अन्यत्र नहीं थी ॥८॥ जिनका वेग वायुके समान है, जो उत्तम जातिके हैं और जो योग्य हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोड़ों की संख्या अठारह करोड़ थी ॥९॥ जिसने किनारेके वन रोक लिये हैं, जिसने किनारेकी पृथिवी

---

१ धाराभि । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमू पञ्च धारा ।' पदैरुत्पत्योत्प्लुत्य गमनम् आस्कन्दितम्। कङ्कशिखिक्रोडनकुलगतैः सदृशम् धौरितकम्। मध्यमवेगेन चक्रवद् भ्रमणम् रेचितम्। पद्भिर्वल्गनम् वल्गितम्। मृगसाम्येन लङ्घनं प्लुतम्। आस्कन्दितादीनि पञ्चपदानि धारागतिवाच्यानि। धारेत्यश्वगतिः सा आस्कन्दितादिभेदेन पञ्चविधा भवतीत्यर्थः। २ गमनम्। ३ बुबुधिरे। ४ पूर्वकायान्। ५ अतिगन्तुम्। ६ अपरकायैः। ७ अध्वनि समर्थाः। ८ अतीत्यागच्छन्। ९ मार्गे। १० छायास्वरूपस्य। ११ छायात्मा। १२ शीघ्रगमनारम्भे। १३ वाद्यविशेष। १४ तरस्विनाम्। १५ आजानेयमुख्यानाम्। १६ सिन्धुनद्या। १७ प्रतिकूलताम्।

प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिन्धुः सैन्याधिनायकान् । तरङ्गपवनैर्मन्दम् आसिषेवे सुखाहरैः ॥११॥
गङ्गावर्णनयोपेता फेनार्घा सम्मुखागताम् । तां पश्यन्नुत्तराशां जितां मेने निधीश्वरः ॥१२॥
अनुसिन्धुतटं सैन्यैः उदीच्यान् साधयन्नृपान् । विजयार्धाचलोपान्तम् आससाद शनैर्मनुः ॥१३॥
स गिरिर्मणिनिर्माणनवकूटविराजितः । ददृशे प्रभुणा दूराद् धृतार्घ इव राजतः ॥१४॥
स शैलः पवनाधूतचलच्छाखाग्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुम् आजुहावेव पादपैः ॥१५॥
सोऽचलः शिखरोपान्तनिपतन्निर्झराम्बुभिः । प्रभोरुपागमे पाद्यं संविधित्सुरिवाबभौ ॥१६॥
स नगो नागपुंनागपूगादिद्रुमसङ्कटैः । रम्यैस्तटवनोद्देशैः आह्वत् प्रभुमिवासितुम् ॥१७॥
रजोवितानं यत्पौष्पं पवनैः परितो वनम् । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत् कूजत्कोकिलडिण्डिमः ॥१८॥
किमत्र बहुना सोऽद्रिः विभुं दिग्विजयोद्यतम् । प्रत्यैच्छदिव सत्प्रीत्या सत्काराङ्गैरनिस्पृहैः ॥१९॥
पिनद्धतोरणामुच्चैः अतीत्य वनवेदिकाम् । नियन्त्रितं बलाध्यक्षैः जगाहेऽन्तर्वनं बलम् ॥२०॥
वनोपान्तभुवः सैन्यैः आरुद्धा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुद्धश्वासास्तदाभवन् ॥२१॥

तोड दी है और जो जल्दी गमन करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना मानो सिन्धु नदीके साथ शत्रुता ही धारण कर रही थी। भावार्थ–वह सेना सिन्धु नदीको हानि पहुँचाती हुई जा रही थी ॥१०॥ वह सिन्धु नदी मानो चक्रवर्ती भरतके आनेसे सन्तुष्ट होकर ही सुख देनेवाले अपनी लहरोंकी पवनसे धीरे धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ जो गङ्गा नदीके समस्त वर्णनसे सहित है और फेनोंसे भरी हुई है ऐसी सामने आई हुई सिन्धु नदीको देखते हुए निधिपति–भरत उत्तर दिशाको जीती हुईके समान समझने लगे थे ॥१२॥ सिन्धु नदीके किनारे किनारे अपनी सेनाओंके द्वारा उत्तर दिशाके राजाओंको वश करते हुए कुलकर–भरत धीरे धीरे विजयार्ध पर्वतके समीप जा पहुंचे ॥१३॥ जो मणियोंके बने हुए नौ शिखरोंसे बहुत विशाल मालूम होता था ऐसा वह चाँदीका विजयार्ध पर्वत भरतने दूरसे ऐसा देखा मानो शिखरोंके बहानेसे अर्घ ही धारण कर रहा हो ॥१४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभागरूपी भुजाएँ वायुसे हिल रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो दूरसे सन्मुख आये हुए विजयी भरतको बुला ही रहा हो ॥१५॥ शिखरोंके समीपसे ही पड़ते–झरनोंके जलसे वह पर्वत ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो चक्रवर्ती भरतके आनेपर उनके लिये पाद्य अर्थात् पैर धोनेका जल ही देना चाहता हो ॥१६॥ वह पर्वत नाग, नागकेसर और सुपारी आदिके वृक्षोंसे भरे हुए तथा मनोहर अपने किनारेके वनके प्रदेशोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो विश्राम करनेके लिये स्वामी भरतको बुला ही रहा हो ॥१७॥ जो अपने वनके चारों ओर वायुसे उड़ते हुए फूलोंकी परागका चँदोवा तान रहा है और शब्द करते हुए कोकिल ही जिसके नगाड़े हैं ऐसा वह पर्वत भरतका सन्मान करनेके लिये सामने खड़े हुएके समान जान पड़ता था ॥१८॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है? इतना ही बहुत है कि वह पर्वत बड़े प्रेमसे प्रकट किये हुए सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजय करनेके लिये उद्यत हुए भरतका मानो सत्कार ही कर रहा था ॥१९॥ जिसके चारों ओर तोरण बँधे हुए हैं ऐसी वनकी ऊँची वेदीको उल्लंघन कर सेनापतियोंके द्वारा नियन्त्रित की हुई (वश की हुई) सेनाने वनके भीतर प्रवेश किया ॥२०॥ समस्त दिशाओंमें फैलनेवाली सेनाओंने उस वनके समीप

अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वानं बलध्वनिम् । श्रुत्वा [1]बलवदुत्त्रेसुः[2] तिर्यञ्चो वनगोचराः ॥२२॥
बलक्षोभादिभो[3] निर्यन् बलक्षोऽभाद्[4] वनान्तरात् । सुरेभः[5] सुविभक्ताङ्गः[6] सुरेभ[7] इव वर्ष्मणा ॥२३॥
प्रबोधजृम्भणादास्यं व्याददौ[8] किल केसरी । न मेऽस्त्यंतर्भयं किञ्चित् पश्यतेत्येव दर्शयन् ॥२४॥
शरभो रभसादूर्ध्वम् उत्पत्योत्तानितः पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठ्यैः[9] अभूद्विधिर्मातृकौशलात्[10] ॥२५॥
[11]विषाणोल्लिखितस्कन्धो रुषिताऽऽताम्रितेक्षणः[12] । खुरोत्खातावनिः सैन्यैः ददृशे महिषो विभीः[13] ॥२६॥
चमूरवश्रवोद्भूत[14]साध्वसाः क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्सङ्गान् युगक्षय[15] इवाश्रयन् ॥२७॥
अनुद्रुता[16] मृगाः शावैः पलायाञ्चक्रिरेऽभितः । विनस्ता वेपमानाङ्गाः[17] सिक्ताभयरसैरिव ॥२८॥
वराहाररतिं[18] मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः[19] । विनेशु[20]र्विस्फुटद्यूथाः[21] चमूक्षोभादितोऽमुतः ॥२९॥
[22]वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणा[23]रातिगुहान्तानधिशिश्रियरे ॥३०॥

की समस्त भूमियाँ भर गई थीं, उनके पक्षीरूपी प्राण उड़ गये थे और उस समय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो श्वासोच्छ्वाससे रहित ही हो गई हों। अर्थात् सेनाओंके बोझसे दबकर मानो मर ही गई हों ॥२१॥ जो पहले कभी सुननेमें नहीं आया था और जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही थी ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर वनमें रहनेवाले पशु बहुत ही भयभीत और दुःखी हो गये थे ॥२२॥ जो अपने शरीरकी अपेक्षा ऐरावत हाथीके समान था, जिसके समस्त अंगोपाङ्गोंका विभाग ठीक ठीक हुआ था, और जो मधुर गर्जना कर रहा था ऐसा कोई सफेद रंगका हाथी सेनाके क्षोभसे वनके भीतरसे निकलता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥२३॥ मेरे मनमें कुछ भी भय नहीं है जिसकी इच्छा हो सो देख ले इस प्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह जागकर जमुहाई लेता हुआ मुँह खोल रहा था ॥२४॥ अष्टापद बड़े वेगसे ऊपरकी ओर उछलकर ऊपरकी ओर मुँह करके नीचे पड़ गया था परन्तु बनानेवाले (नामकर्म) की चतुराईसे पीठपरके पैरोंसे ठीक ठीक आ खड़ा हुआ था—उसे कोई चोट नहीं आई थी ॥२५॥ जो पत्थरमें अपने कन्धे घिस रहा है, जिसके नेत्र क्रोधित होनेसे कुछ कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोंसे पृथिवी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय भैंसा सेनाके लोगोंने देखा था ॥२६॥ सेनाके शब्द सुननेसे जिनके भय उत्पन्न हो रहा है ऐसे छोटे छोटे पशु प्रलयकालके समान विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंके मध्य भागका आश्रय ले रहे थे। भावार्थ—जिस प्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्धकी गुफाओंमें जा छिपते हैं उसी प्रकार उस समय भी अनेक जीव सेनाके शब्दोंसे डरकर विजयार्धकी गुफाओंमें जा छिपे थे ॥२७॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे दौड़ रहे हैं और जिनका शरीर कँप रहा है ऐसे डरे हुए हरिण चारों ओर भाग रहे थे तथा वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो भयरूपी रससे सींचे ही गये हों ॥२८॥ सेनाके क्षोभसे जिन्होंने जलसे भरे हुए छोटे छोटे तालाब (तलैया) छोड़ दिये हैं और जिनके झुण्ड बिखर गये हैं ऐसे सूअर अपने उत्तम आहारमें प्रेम छोड़कर इधर उधर घूम रहे थे ॥२९॥ कितने ही अन्य हाथी भयसे भागकर वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें छिपकर जा खड़े हुए थे और हरिण सिंहोंकी गुफाओं

१ अधिकम् । २ त्रसम् । ३ धवल । ४ रेजे। ५ शोभनध्वनि । ६ सुष्ठ्ववयव । ७ ऐरावत । ८ विवृतमकरोत् । ९ पृष्ठवर्तिभिः । १० निर्माणकर्म अथवा विधि । ११ पाषाणो ल० । १२ रक्तलोचन । १३ निर्भीति । १४ सेनाध्वन्याकर्णनाज्जात । १५ प्रलयकाले यथा । १६ अनुगता । १७ कम्पमानगात्राः । १८ उत्कृष्टाहारप्रीतिम् । १९ त्यक्तवेशन्ताः । २० नश्यन्ति स्म । विविशुः ल० । २१ विप्रकीर्णवृन्दाः । २२ वृक्षविशेषाच्छादना गत्वा । २३ सिंह ।

इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृशम् । प्रत्यापत्तिं[1] चिराद् ईयुः[2] सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि[3] ॥३१॥
[4]प्रयायानुवनं किञ्चिद् अन्तरं तदनन्तरम् । [5]रूप्याद्रेर्मध्यमं कूटं सन्निकृष्य[6] स्थितं बलम् ॥३२॥
ततस्तस्मिन् वने मन्दं मरुता दोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षाः स्कन्धावारं न्यवेशयन् ॥३३॥
स्वैरं जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे[7] । स्वयं गलत्प्रसूनौघ[8]घनशाखि घने वने ॥३४॥
सरस्तीरतरूपान्तलतामण्डपगोचराः । रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामयत्नतः ॥३५॥
वनप्रवेशम् उन्मुग्धाः[9] प्राहुर्वैराग्यकारणम् । तत्प्रवेशो [10]यतस्तेषाम् अभवद् रागवृद्धये ॥३६॥
अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुम् । प्रयान्मागधवद् द्रष्टुं विजयार्द्धाधिपः सुरः ॥३७॥
तिरीटशिखरोदग्रो लम्बप्रालम्बनिर्झरः[11] । स भास्वत्कटको[12] रेजे राजताद्रिरिवापरः ॥३८॥
सितांशुकधरः स्रग्वी हरिचन्दनचर्चितः । स बभौ धृतरत्नार्घो निधिः शङ्ख इवोच्छ्रितः ॥३९॥
ससम्भ्रमं च सोऽभ्येत्य प्रह्वतामगमत्प्रभोः । ससत्कारं च तं चक्री भद्रासनमलम्भयत् ॥४०॥

के भीतर ही जा ठहरे थे ॥३०॥ इस प्रकार वनके प्राणोंके समान अत्यन्त चंचल हुए प्राणी सेनाका क्षोभ शान्त होनेपर बहुत देरमें अपने अपने स्थानोंपर वापिस लौटे थे ॥३१॥ तदनन्तर वह सेना वन ही वन कुछ दूर जाकर विजयार्ध पर्वतके पाँचवें कूटके समीप पहुँचकर ठहर गई ॥३२॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे, जिसके वृक्ष मन्द मन्द वायुसे हिल रहे थे ऐसे उस वनमें सेनाके डेरे लगवा दिये थे ॥३३॥ जिसमें अपने आप फूलोंके समूह गिर रहे हैं और जो घने घने लगे हुए वृक्षोंसे सघन है ऐसे विजयार्ध पर्वतके किनारेके वनमें सैनिक लोगोंने अपने इच्छानुसार डेरे ले लिये थे ॥३४॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतागृहोंके स्थान थे वे विना प्रयत्न किये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥३५॥ 'वनमें प्रवेश करना वैराग्यका कारण है, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही कहते हैं क्योंकि उस वनमें प्रवेश करना उन सैनिकोंकी रागवृद्धिका कारण हो रहा था। भावार्थ—वनमें जानेसे सेनाके लोगोंका राग बढ़ रहा था इसलिये वनमें जाना वैराग्यका कारण है ऐसा कहनेवाले पुरुष मूर्ख ही हैं ॥३६॥

अथानन्तर—महाराज भरतको वहाँ नियमानुसार ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध नामका देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिये आया ॥३७॥ उस समय वह देव किसी दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध पर्वत शिखरसे ऊंचा है उसी प्रकार वह देव भी मुकुटरूपी शिखरसे ऊंचा था, जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर झरने झरते हैं उसी प्रकार उस देवके गलेमें भी झरनों के समान हार लटक रहे थे और जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतका कटक अर्थात् मध्यभाग देदीप्यमान है उसी प्रकार उसका कटक अर्थात् हाथोंका कड़ा भी देदीप्यमान था ॥३८॥ जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए है, मालाएँ पहिने है, जिसके शरीरपर सफेद चन्दन लगा हुआ है और जो रत्नोंका अर्घ धारण कर रहा है ऐसा वह देव खड़ी की हुई शंख नामक निधिके समान सुशोभित हो रहा था ॥३९॥ उस देवने बड़ी शीघ्रताके साथ आकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया और

1 पुनरागमनम् पूर्वस्थितिनिवर्तम् । 2 जग्मुः । 3 प्रशान्ते सति । 4 गत्वा । 5 रौप्याद्रेः प०, द०, स० । रूप्याद्रे: अ० म० द० । 6 समीपं गत्वा । 7 अद्रितटे । 8 'निपु [illegible] इति सूत्रेण [illegible] इत्यर्थः । [illegible] । 9 मूढाः । 10 यस्मात् कारणात् । 11 प्रमुखनिर्झरः । 12 वलयवान् एव सानु ।

[1]गोपायिताऽहमस्याद्रेः मध्यमं कूटमावसन्। स्वैरचारी चिरादद्य त्वयाऽस्मि परवान्[2] विभो ॥४१॥
विद्धि मां विजयार्द्धाख्यम् अमुं च गिरिमूर्जितम्। अन्योन्य[3]संश्रयाद् आवाम् अलङ्घ्याचलस्थिती ॥४२॥
देव दिग्विजयस्यार्द्धं विभजन्नेष सानुमान्। विजयार्द्धधृतिं धत्ते [4]तात्स्थ्यात् तद्रूढयो[5] वयम् ॥४३॥
आयुष्मन् युष्मदीयाज्ञां मूर्ध्ना स्रजमिवोद्वहन्। [6]पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विज्ञाप्यं किमतः परम् ॥४४॥
इति ब्रुवंस्तथोत्थाय [7]शिवैस्तीर्थाम्बुभिः प्रभुम्। [8]सोऽभ्यषिञ्चत् सुरैः सार्द्धं स्वं नियोगं निवेदयन् ॥४५॥
तदा प्रणेदुरामन्द्रम् आनकाः पथि वार्मुचाम्। विचेरुर्मरुतो मन्दम् आधूतवनवीथयः ॥४६॥
ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः। जगुश्च मङ्गलान्यस्य जयशंसीनि किन्नराः ॥४७॥
कृताभिषेकमेनं च शुभ्रनेपथ्यधारिणम्। युयोज रत्नलाभेन लम्भयन् स जयाशिषः ॥४८॥
स तस्मै रत्नभृङ्गारं सितमातपवारणम्। प्रकीर्णक[9]युगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरम् ॥४९॥
इति प्रसाधितस्तेन वचोभिः सानुवर्तनैः। प्रसादतरलां दृष्टिं तत्र व्यापारयत् प्रभुः ॥५०॥
विसर्जितश्च सानुज्ञं प्रभुणा कृतसत्क्रियः। भृत्यत्वं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात् सुरः ॥५१॥
विजयार्द्धे जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतम्। मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥५२॥

चक्रवर्तीने भी उसे सत्कारपूर्वक उत्तम आसनपर बैठाया ॥४०॥ भरतसे उस देवने कहा कि मैं इस पर्वतका रक्षक हूँ और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूँ। हे प्रभो, मैं आजतक अपनी इच्छानुसार रहता था–स्वतन्त्र था परन्तु आज बहुत दिनमें आपके आधीन हुआ हूँ ॥४१॥ मुझे तथा इस ऊँचे पर्वतको आप विजयार्ध जानिये अर्थात् हम दोनोंका नाम विजयार्ध है और हम दोनों ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे अलंघ्य तथा निश्चल स्थितिसे युक्त हैं ॥४२॥ हे देव, यह पर्वत दिग्विजयका आधा आधा विभाग करता है इसलिये ही यह विजयार्ध नामको धारण करता है और उसपर रहनेसे मेरा भी विजयार्ध नाम रूढ हो गया है ॥४३॥ हे आयुष्मन्, मैं आपकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलनेवाले एक सैनिकके समान ही हूँ, इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूँ ? ॥४४॥ इस प्रकार कहता हुआ और 'दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्तियोंका अभिषेक करना मेरा काम है' इस तरह अपने नियोगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक देवोंके साथ साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे सम्राट् भरतका अभिषेक करने लगा ॥४५॥ उस समय आकाशमें गंभीर शब्द करते हुए नगाड़े बज रहे थे और वन गलियोंको कम्पित करता हुआ वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥४६॥ लीलापूर्वक भौंहोंको नचाती हुई नृत्य करनेवाली देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतकी विजयको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥४७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है और जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुए उस देवने अनेक रत्नोंकी प्राप्तिसे युक्त किया अर्थात् अनेक रत्न भेंट किये ॥४८॥ उस देवने उनके लिये रत्नोंका भृङ्गार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन भी भेंट किया था ॥४९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे हुए सत्कारसे तथा विनयसहित वचनोंसे प्रसन्न हुए भरतने उस देवपर प्रसन्नतासे चंचल हुई अपनी दृष्टि डाली ॥५०॥ अनन्तर भरतने जिसका आदर-सत्कार किया है और 'जाओ' इस प्रकार आज्ञा देकर जिसे बिदा किया है ऐसा वह विजयार्ध देव उनका दासपना स्वीकार कर अपने स्थानपर वापिस चला गया ॥५१॥ विजयार्ध पर्वतके जीत लेनेपर समस्त दक्षिण भारत जीत लिया गया

---

१ रक्षिता। २ नाथवान् परवश इत्यर्थः। 'परवान्नाथवानपि' इत्यभिधानात्। ३ परस्परमाधाराधेयसम्बन्धवशात्। ४ तस्मिन् तिष्ठति इति तत्स्थः तस्य भावः तात्स्थ्यम् तस्मात्। ५ विजयार्द्ध इति रूढाः। ६ पत्तिसदृशः। ७ मङ्गलैः। ८ विजयार्द्धकुमारः। ९ चामरयुगलम्।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुभिर्दिव्यैश्चक्रेज्यां निरवर्तयत् ॥५३॥
विजयार्द्धजयेऽप्यासीद् अमन्दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्द्धजयाशंसा[1] प्रत्यागूर्णस्य[2] चक्रिणः ॥५४॥
ततः प्रतीपमागत्य[3] रूप्याद्रेः[4] पश्चिमां गुहाम् । निकषा[5] वनमावेष्ट्य बलैरीशो न्यविक्षत ॥५५॥
दक्षिणेन तमद्रीन्द्रं[6] मध्ये वेदिक[7]योर्द्वयोः । बलं निविविशे भर्त्तुः सिन्धोस्तटवनाद् बहिः ॥५६॥
भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्वाश्चर्ये धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥५७॥
चिरासनेऽपि[8] तत्रास्य नासीत् स्वल्पोऽप्युपक्षयः[9] । [10]प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥५८॥
कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यात् मध्ये[11] नद्योर्द्वयोः स्थिताः ॥५९॥
दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलाः[12] । प्रणमन्तः स्फुटीचक्रुः प्रभौ भक्तिं महीभुजः ॥६०॥
कुङ्कुमागरुकर्पूर[13]सुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेशं भक्त्यानर्चुर्नृपाः परम् ॥६१॥
दिग्वशात्पूर्यमाणस्य रैराशिभिरनारतम् । कोश[14]प्रावेश्यरत्नानाम् इयत्तां कोऽस्य निर्णयेत् ॥६२॥
देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैः बलं सुकृतरक्षणम् । यवसेन्धन[15]सन्धानैः तदोपजगृ[16]हुश्चिरम् ॥६३॥
उत्तरार्द्धजयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन् । पार्थिवाः कुरुराजाद्याः[17] समग्रबलवाहनाः ॥६४॥

ऐसा मानते हुए चक्रवर्तीने चक्ररत्नकी पूजा की ॥५२॥ उन्होंने चक्ररत्नकी पूजा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जल, अक्षत, फल और दिव्य नैवेद्यके द्वारा की थी ॥५३॥ विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेनेपर भी उत्तरार्धको जीतनेकी आशामें उद्यत हुए चक्रवर्तीका विजयका उद्योग शिथिल नहीं हुआ था ॥५४॥ तदनन्तर-वह भरत कुछ पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वतकी पश्चिम गुहाके समीपवर्ती वनको अपनी सेनाके द्वारा घेरकर ठहर गया ॥५५॥ विजयार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर पर्वत तथा वन दोनोंकी वेदियोंके बीचमें सिन्धु नदीके किनारेके वन के बाहर भरतकी सेना ठहरी थी ॥५६॥ अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए इस पर्वतपर बहुत कुछ देखने योग्य है यही समझकर चक्रवर्तीने वहां बहुत दिन तक रहना अच्छा माना था ॥५७॥ वहाँपर बहुत दिनतक रहनेपर भी भरतका थोडा भी खर्च नहीं हुआ था, बल्कि अपूर्व अपूर्व वस्तुओंके लाभ होनेसे वह समुद्रके समान भर गया था ॥५८॥ भरतको वहां रहता हुआ सुनकर गङ्गा और सिन्धु दोनों नदियोंके बीचमें रहनेवाले अनेक राजा लोग अपनी अपनी पृथिवीसे उनके दर्शन करनेके लिये आये थे ॥५९॥ दूरसे झुके हुए चचल मुकुटोंपर जिन्होंने अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे नमस्कार करते हुए राजा लोग महाराज भरतमें अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओंसे भक्तिपूर्वक चक्रवर्तीका उत्तम सन्मान किया था ॥६१॥ धनकी राशियों से निरन्तर चारों ओरसे भरते हुए भरतके खजानेमें प्रविष्ट हुए रत्नोंकी मर्यादा (संख्या) का भला कौन निर्णय कर सकता था ? भावार्थ-उनके खजानेमें इतने अधिक रत्न इकट्ठे हो गये थे कि उनकी गणना करना कठिन था ॥६२॥ उस समय समीपवर्ती देशोंके राजाओंने, सेनापतियोंके द्वारा जिसकी अच्छी तरह रक्षा की गई है ऐसी भरतकी सेनाकी चिरकाल तक भूसा, ईंधन आदि वस्तुएँ देकर उपकृत किया था ॥६३॥ महाराज भरत विजयार्ध पर्वतके उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरु देशके राजा जयकुमार

---

१ इच्छामुद्दिश्य । २ उद्यतस्य । ३ पश्चिमदिशाम् । ४ रौप्याद्रेः प० । रूप्याद्रेः अ० स० इ० । ५ वनस्य समीपम् । ६ तस्य अद्रीन्द्रस्य दक्षिणस्यां दिशि । ७ पर्वतसिन्ध्वोर्वेदिकयोः । ८ बहुकालनिवसनेऽपि । ९ धनव्ययः । १० पुनः किन्तु च । ११ गङ्गासिन्धुनद्योर्मध्ये । १२ कुड्मला द०, ल०, अ०, स०, इ० । १३ [illegible] । १४ भाण्डार- प्रवेशयोग्य । १५ तृण । १६ उपकारं चक्रुः । १७ [illegible] ।

आहूताः केचिदाजग्मुः प्रभुणा मण्डलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुः विभुं धारभटाः[1] परे ॥६५॥
विदेशः[2] किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूमिपाः[3] । इति संचिन्त्य सामन्तैः प्रायः सज्जं[4] धनुर्बलम् ॥६६॥
धन्विनः शरनाराचसंभृतेषुधिबन्धनैः । न्यवेदयन्निवात्मान् ऋणदासमधीशिनाम् ॥६७॥
धनुर्धरा धनुः सज्ज्यम्[5] आस्फाल्य[6] चकृषुः[7] परे । चिकर्षव इवारीणां जीवाकर्षं सहुङ्कृताः ॥६८॥
करवालान् करे कृत्वा तुलयन्ति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण[8] नूनं तान् प्रमिमित्सवः[9] ॥६९॥
[10]सवर्मिता भृशं रेजुः भटाः प्रोल्लासितासयः[11] । निर्मोकैरिव [12]विश्लिष्टैः लल[13]ज्जिह्वा महाहयः ॥७०॥
साटोपं स्फुटिताः[14] केचिद् वल्गन्ति स्माभितो भटाः । अस्पृध्यत[15] [16]पुरोऽरातीन् पश्यन्त[16] इव सम्मुखम् ।
[17]अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च[18] [19]शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः[20] सतनुत्रकैः । दधुर्जयनशालानां[21] लीलां [22]रथ्याः सुसम्भृताः ॥७२॥
रथिनो[23] रथकट्यासु[24] गुर्वीरायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवम्[25] ॥७३॥

तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी समस्त सेना और सवारियाँ लेकर उसी समय आ पहुंचे ॥६४॥ कितने ही मण्डलेश्वर राजा भरतके बुलाये हुए आये थे और कितने ही उत्तम उत्तम योद्धा बिना बुलाये ही उनके समीप आ उपस्थित हुए थे ॥६५॥ अब विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचार कर सामन्तोंने प्राय धनुष-बाणको धारण करने वाली सेना तैयार की थी ॥६६॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा छोटे-बड़े बाणोंसे भरे हुए तरकसोंके बाँधनेसे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने स्वामियोंसे यही कह रहे हों कि हम लोग आपके ऋणके दास हैं अर्थात् आज तक आप लोगोंने जो हमारा भरणपोषण किया है उसके बदले हम लोग आपकी सेवा करनेके लिये तत्पर हैं ॥६७॥ हुंकार शब्द करते हुए कितने ही धनुषधारी लोग अपने डोरी सहित धनुषको आस्फालन कर खींच रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शत्रुओंके जीवोंको ही खींचना चाहते हों ॥६८॥ कितने ही योद्धा लोग हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानो स्वामीसे प्राप्त हुए सत्कारके भारके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥६९॥ जो कवच धारण किये हुए हैं और जिनकी तलवारें चमक रही हैं ऐसे कितने ही योद्धा इतने अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी काँचली कुछ ढीली हो गई है और जीभ बार-बार बाहर लपक रही है ऐसे बड़े बड़े सर्प ही हों ॥७०॥ कितने ही योद्धा अभिमानसहित हाथमें तलवार उठाये और गर्जना करते हुए चारों ओर इस प्रकार घूम रहे थे मानो शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥७१॥ आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महास्तम्भ आदि व्यस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहके टोप और कवच आदिसे भरे हुए रथोंके समूह ठीक आयुधशालाओंकी शोभा धारण कर रहे थे ॥७२॥ रथोंमें सवार होनेवाले योद्धा यद्यपि भारी भारी शस्त्रोंको रथोंपर रखकर जा रहे थे तथापि

---

१ वीरभटाः । 'शूरवीरश्च विज्ञानी भरश्चारभटो मतः' इति हलायुधः । २ नानादेशः । ३ भूभुजः म०, द०, अ०, प०, स०, ल०, इ० । ४ सन्नद्धीकृतम् । ५ ज्यासहितम् । ६ आताड्य, टणत्कारं कृत्वा । स्फाल्य चकृषुः ब०, द०, अ०, स०, प०, म०, ल०, द० । ७ आकर्षयन्ति स्म । ८ भारेण सह । ९ प्रमातुमिच्छवः । १० धृतकवचाः । ११ प्रकर्षेणोल्लासितखड्गाः । १२ शिथिलैः । १३ चलत् । १४ आस्फालितभुजाः । १५ खड्गं उद्युक्ताः । १६ शत्रून् प्रत्यक्षमालोकयन्निव । १७ दिव्यायुधैः । १८ गदामुद्गरायुधैः । १९ सामान्यायुधैः । २० शीर्षकैः । २१ शस्त्रशालानाम् । २२ वीथ्याः । २३ रथिकाः । २४ रथसमूहेषु । २५ अतिशयगौरवम् । अति भारयुक्तमिति ध्वनिः, अत्यर्थं वेगं गता इत्यर्थः ।

हस्तिना पदरक्षार्थं सुभटा योजिता नृपैः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताश्चाभिनिषादिनः ॥७४॥
प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः पत्तिषु नायकाः । अश्वीयेऽ[1] च ससन्नाहाः[2] सोत्तरङ्गा[3]स्तुरङ्गिणः ॥७५॥
आचरय्य बलान्येके स्वानीकाश्चक्रिरे नृपाः । दण्डमण्डलभोगासंहृतव्यूहं[4] सुयोजितम् ॥७६॥
चक्रिणाऽवसरे[5] कोऽस्य योऽस्माभिः साध्यतेऽल्पकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पणम्[6] ॥७७॥
प्रभोरवसरे सार्यं[7] प्रसार्यं नो यशोधनम् । विरोधिबलमुत्सार्यं सन्धार्यं पुरुषव्रतम् ॥७८॥
द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरेऽन्योन्यं भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥७९॥
गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो महत्यः सरितोऽन्तरा[10] । इत्यपायेक्षिणः केचिद् अयानं[11] बहु मेनिरे ॥८०॥
इति नानाविधैर्भावैः सजल्पैश्च सचूरयिताः । प्रस्थिताः सैनिकाः प्रापन् सेश्वराः[12] शिबिरं प्रभोः ॥८१॥

वे पैदल चलनेवाले सैनिकोंकी अपेक्षा अधिक गौरव अर्थात् भारीपन (पक्षमें श्रेष्ठता) को प्राप्त हो रहे थे। भावार्थ—पैदल चलनेवाले सैनिक अपने शस्त्र कन्धेपर रखकर जा रहे थे और रथोंपर सवार होनेवाले सैनिक अपने सब शस्त्र रथोंपर रखकर जा रहे थे तो भी वे पैदल चलनेवालोंकी अपेक्षा अधिक भारी हो रहे थे यह बड़े आश्चर्यकी बात है परन्तु अति गौरव शब्दका अर्थ अतिशय श्रेष्ठता लेनेपर वह आश्चर्य दूर हो जाता है। पैदल सैनिकोंकी अपेक्षा रथपर सवार होनेवाले सैनिक श्रेष्ठ होते ही हैं ॥७३॥ राजाओंने हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये जिन शूरवीर योद्धाओंको नियुक्त किया था वे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करते थे और उन हाथियोंके चारों ओर विद्यमान रहते थे अथवा समय पर महावत भी बनाये जाते थे ॥७४॥ जो राजाओंके साथ भी युद्ध करनेवाले थे ऐसे श्रेष्ठ शूर वीर पैदल सेनाके सेनापति बनाये गये थे और जो घुड़सवार कवच पहिने हुए तथा लहराते हुए नदीके प्रवाहके समान थे उन्हें घुड़सवार सेनाका सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा लोग अच्छी तरह रचे हुए दण्डव्यूह, (दण्डके आकार सेनाको सीधी रेखामें खड़ा रखना) मण्डल व्यूह (मण्डलके आकार गोल चक्कर लगाकर खड़ा रखना), भोग व्यूह (अर्धगोलाकार खड़ा करना) और असंहृत व्यूह (फैलाकर खड़ा करना) में अपनी सेनाकी रचना कर उसे देख रहे थे ॥७६॥ इस चक्रवर्तीका ऐसा कौन-सा कार्य है जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकते हों अर्थात् कार्यका सिद्ध करना तो दूर रहा उसका स्मरण भी नहीं कर सकते, फिर भी हम लोग जो स्वामीके पीछे पीछे चल रहे हैं सो यह हम लोगोंकी इस समयपर होने वाली भक्ति ही है। हम लोगोंको स्वामीका कार्य सिद्ध करना चाहिये, अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिये, शत्रुओंकी सेना दूर हटानी चाहिये, पुरुषार्थ धारण करना चाहिये, अनेक देश देखने चाहिये और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिये, इस प्रकार प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा योद्धा लोग परस्परमें बातचीत कर रहे थे ॥७७–७९॥ यह दुर्गम पर्वत उल्लंघन करना है और बीचमें बड़ी बड़ी नदियाँ पार करनी हैं इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं का विचार करते हुए कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा समझते थे ॥८०॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भावों और परस्परकी बातचीतके साथ जल्दी उठकर जिन्होंने प्रस्थान किया है ऐसे सैनिक लोग अपने अपने स्वामियों सहित चक्रवर्तीके शिविरमें जा पहुंचे ॥८१॥

१ अश्वसमूहः। २ सकवचाः। ३ ऊर्मिसमानाः। ४ दण्डादानि चत्वारि व्यूहभेदनामानि। अन्नाभिधानम् तिर्यग्वृत्तिस्तु दण्डः स्याद् भोगोऽन्यावृत्तिरेव च। मण्डलः सर्वतो वृत्तिः प्राप्तनिर्गहतः'। ५ समये। ६ स्मयन द०, ल० अ०, प० इ० स०। ७ अनुगमनम्। ८ प्रापणीयं। ९ उक्तैः। १० मध्ये मध्ये। ११ वाहनरहितगमनम् अथवा अगमनम्। १२ निजस्वामिसहिताः।

प्रचेलुः सर्वसामग्र्या नृपाः[1] सम्भृतकोष्ठिकाः[2] । प्रभोश्चिरं जयोद्योगम् आकलय्याहिमाचलम् ॥८२॥
भटैर्लाकुटिकैः[3] केचिद्वृता लालाटिकैः[4] परे । नृपाः पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥८३॥
समन्तादिति सामन्तैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारितः[5] ॥८४॥
सामवायिक[6]सामन्तसमाजैरिति सर्वतः । सरिदोघैरिवाम्भोधिः आपूर्यत विभोर्बलम् ॥८५॥
सवनं[7] सावनिं[8] सोऽद्रिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुः अनीकैरिव[9] नाकिनाम् ॥८६॥
विजयार्द्धाचलप्रस्था[10] विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गावासश्रियं तेनुः विभक्तैर्नृपमन्दिरैः[11] ॥८७॥
प्रस्वेलित[12]रथं विष्वक् प्रहेषिततुरङ्गमम् । प्रबृंहितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद् गिरिम्[13] ॥८८॥
बलध्वानं गुहारन्ध्रैः प्रतिश्रुद्भूत[14]मुद्वहन् । सोऽद्रिरुद्विक्ततद्घोषो[15] ध्रुवं फूत्कारमातनोत् ॥८९॥
अथान्तरे ज्वलन्मौलिप्रभापिञ्जरिताम्बरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरत् सुरः ॥९०॥
स ततोऽवतरन्नद्रेः बभौ [16]सानुचरोऽमरः । सवनः[17] कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥९१॥

भरतेश्वरका हिमवान पर्वत तक विजय प्राप्त करनेका उद्योग बहुत समयमें पूर्ण होगा ऐसा समझकर राजा लोग सब प्रकारकी सामग्रीसे कोठे भर भरकर निकले ॥८२॥ कितने ही राजा लाठी धारण करनेवाले योद्धाओंके साथ, और कितने ही ललाटकी ओर देखनेवाले उत्तम सेवकोंके साथ, अपनी सेना पीछे छोड़कर भरतके निकट आये ॥८३॥ इस प्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारों ओरसे आते हुए अनेक सामन्तोंने एक जगह इकट्ठे होकर, जिनकी आज्ञा सब जगह देदीप्यमान है ऐसे चक्रवर्तीका जयजयकार किया ॥८४॥ जिस प्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार सहायता देनेवाले सामन्तोंके समूहसे भरतकी सेना सभी ओरसे भर गई थी ॥८५॥ जिस प्रकार भगवान्के जन्म-कल्याणके समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवोंकी सेनाओंसे भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्ध पर्वत भी वन और भूमि सहित चारों ओरसे सेनाओंसे भर गया था ॥८६॥ भरतकी सेनाओंसे अधिष्ठित हुए विजयार्ध पर्वतके शिखर अलग अलग तने हुए राजमण्डपोंसे स्वर्गकी शोभा धारण कर रहे थे ॥८७॥ जिसमें चारों ओरसे रथ चल रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने उस विजयार्ध पर्वतको एक शब्दोंके ही आधीन कर दिया था अर्थात् शब्दमय बना दिया था ॥८८॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेनाके शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो सेनासे घिर जानेके कारण फू फू शब्द ही कर रहा हो अर्थात् रो ही रहा हो ॥८९॥

इसी बीचमें भरतने, देदीप्यमान मुकुटकी कान्तिसे जिसने आकाशको भी पीला कर दिया है और जो पर्वतपरसे नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥९०॥ जिसके आभूषण तथा वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वह देव अपने सेवकों सहित उस पर्वतसे उतरता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसके आभूषण और वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वनसहित

दिव्यः प्रभान्वयः[1] कोऽपि सम्मूर्छति[2] किमम्बरे । तडित्पुञ्जः किमर्च्चिरिति[3] दृष्टः क्षणं जनैः ॥९२॥
किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ॥९३॥
कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै[4] कृतमालः सचम्पकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्ये[5] प्रभुणाऽग्रतः ॥९४॥
संप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मै आसनं प्रत्यपादयत्[6] ॥९५॥
प्रभुणाऽनुमतश्चायं कृतासनपरिग्रहः । क्षणं विसिस्मिये पश्यन् धाम[7] चक्र्य[8]तिमानुषम्[9] ॥९६॥
समाभाषितश्च सम्राजा पूर्वं [10]पूर्वार्द्धभाषिणा । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्वचः ॥९७॥
क्व वयं क्षुद्रका देवाः क्व भवान्दिव्यमानुषः । पौतन्य[11]मुचितं मन्ये[12] वाचाटयति[13] नः स्फुटम् ॥९८॥
आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुं जिह्रीमः[14] शासितुस्तव । त्वदायत्ता यतः[15] कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥९९॥
लोकस्य कुशलाधाने[16] निरूढं[17] यस्य कौशलम् । कुशलं[18] दक्षिणस्यास्य बाहोस्ते क्ष्मा जिगीषतः ॥१००
देवानां प्रिय देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥१०१॥
गीर्वाणा[19] वयमन्यत्र[20] जिगीषो शीतगीश्वराः[21] । त्वयि कुण्ठगिरो[22] जाताः प्रस्खलद्गद्गदाः ॥१०२

कल्पवृक्ष ही हो ॥९१॥ क्या कोई दिव्य प्रभाका समूह आकाशमें फैल रहा है ? अथवा क्या बिजलीका समूह है ? अथवा क्या अग्निकी ज्वाला है ? इस प्रकार अनेक कल्पनाओंसे लोगोंने जिसे क्षण भर देखा था जो पहले तो यह कोई कान्तिका समूह है इस प्रकार सामान्य रूपसे देखा गया था, परन्तु बादमें अवयवोंके प्रकट होनेसे जिसका पुरुषका-सा आकार साफ साफ प्रकट हो रहा था, जो अपना कृतमाल नाम प्रकट करनेके लिये चम्पाके फूलोंकी माला पहिने हुआ था और जो उससे फूले हुए कृतमाल वृक्षके समान जान पडता था ऐसे उस देवको चक्रवर्ती भरतने अपने सामने खडा हुआ देखा ॥९२–९४॥ आनेके साथ ही नमस्कार करते हुए उस देवको अकस्मात् अपने सामने देखकर भरतने उसे यथा योग्य सत्कारके साथ आसन दिया ॥९५॥ भरतकी आज्ञासे वह देव आसनपर बैठा और उनके लोकोत्तर तेजको देखता हुआ क्षण भरके लिये आश्चर्य करने लगा ॥९६॥ प्रथम ही, पहले बोलनेवाले सम्राट् भरतने जिसके साथ बातचीत की है ऐसा वह देव नीचे लिखे अनुसार विनयसहित वचन कहने लगा ॥९७॥ हे देव, हम क्षुद्र देव कहाँ ? और आप दिव्य मनुष्य कहाँ ? तथापि मैं ऐसा मानता हूँ कि हम लोगोंका यथायोग्य देवपना ही हम लोगोंको स्पष्ट रूपसे वाचालित कर रहा है अर्थात् जबर्दस्ती बुलवा रहा है ॥९८॥ हे आयुष्मन्, आप जैसे शासन करनेवालोंका कुशल-मंगल पूछनेके लिये हम लोग लज्जित हो रहे हैं क्योंकि इस जगत्का सब तरहका कल्याण करना आपके ही आधीन है ॥९९॥ जगत्का कल्याण करनेके लिये जिसकी चतुराई प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथिवीको जीतना चाहती है ऐसी आपकी इस दाहिनी भुजाकी कुशलता है न ? ॥१००॥ हे देव, आप देवोंके भी प्रिय हैं, आपने समस्त जगत्को जीत लिया है इसलिये यह देवपना आपके ही योग्य है हम लोग तो नाममात्रके ही देव हैं—केवल देव जातिमें जन्म होनेसे ही देव कहलाने लगे हैं। यहाँ पर 'देवानां' 'प्रिय' ये दोनों ही पद पृथक्-पृथक् हैं, अथवा ऐसा

१ प्रभासन्तानः । २ व्याप्नोति । ३ अग्निशिखासन्तानः । ४ कृतमालनामा । कृतमाल आरग्वधः । 'आरग्वधे राजवृक्ष शम्याकचतुरङ्गुलाः । आरेवतव्याधिघातकृतमालसुवर्णकाः ॥' इत्यभिधानात् । ५ दृश्यते स्म । ६ प्रापयत् । ७ तेजः । ८ चक्रिणः । ९ मानुषमतीतम् । १० सत्कृतभाषिणा । पूर्वाभि— अ० प० स० द० ल० । ११ पूतनाया अपत्य पौतनः तस्य भावः पौतन्यम् । देवत्वमित्यर्थः । १२ नूनम् । १३ वाचालं करोति । १४ लज्जामहे । १५ यस्मात्कारणात् । १६ क्षेमकरणे । १७ प्रख्यातम् । १८ क्षेमं किम् । १९ गीरेव शापानुग्रहसमर्था वाणी साधनं निग्रहानुग्रहयोरेषामिति गीर्वाणा देवा इत्यर्थः । २० जिगीषो त्वत्तः अन्यत्र । २१ शीतगीश्वराः ट० । मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । शीते रोगे एते शीतमयः तेषामीश्वराः क्रियासु मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । २२ मन्दवचसः ।

[1]राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र राजतेऽनन्यगामिनी । अखण्डमण्डलां कृत्स्नां षट्खण्डां गां नियच्छति[2] ॥१०३॥
चक्रात्मना ज्वलत्येष प्रतापस्तव दुःसहः । प्रथते दण्डनीतिश्च दण्डरत्नछलाद् विभोः ॥१०४॥
ईशितव्या[3] मही कृत्स्ना स्वतन्त्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरत्नर्द्धिरैश्वर्यं कः परस्त्वादृशः प्रभुः ॥१०५॥
भ्रमत्येकाकिनी लोके शश्वत्कीर्तिरनर्गला[4] । सरस्वती च वाचाला कथं ते ते[5] प्रिये[6] प्रभोः ॥१०६॥
इति प्रतीतमाहात्म्यं त्वां सभाजयितु[7] दिवः । त्वद्बलध्वानसंक्षोभसाध्वसाद् वयमागताः ॥१०७॥
कूटस्था वयमस्याद्रेः स्वपदा[8]दविचालिनः । भूमिमेतावतीं[9] तावत् त्वया देवावतारिताः ॥१०८॥
विप्रकृष्टान्तरावासवासिनो व्यन्तरा वयम् । सविधेयास्त्वये[10]दानीं प्रत्यासन्नाः पदातयः ॥१०९॥
विद्धि मां विजयार्द्धस्य मर्मज्ञममृताशनम् । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन् कृतालयम् ॥११०॥
मयि स्वसात्कृते[11] देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरेर्गर्भविदस्म्यहम् ॥१११॥
गर्भज्ञोऽहं गिरेरस्येत्यत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाब्धिवलये कृत्स्ने नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥११२॥

कार्य करना चाहिये कि हे प्रिय, समस्त जगत्को जीतनेसे आप देवोंके भी देव हैं ॥१०१॥ हम गीर्वाण हैं और आपके अतिरिक्त विजयकी इच्छा करनेवाले किसी दूसरे पुरुषके विषयमें यद्यपि हम वचनरूपी तीक्ष्ण बाणोंको धारण करते हैं तथापि आपके विषयमें हम लोग कुण्ठितवचन हो रहे हैं, हमारा अहंकार जाता रहा है और हमारे वचन गद्गद् स्वरसे निकल रहे हैं ॥१०२॥ हे राजेन्द्र, आप छह खण्डोंमें बँटी हुई समस्त प्रदेश सहित इस संपूर्ण पृथिवीका शासन करते हैं इसलिये दूसरी जगह नहीं रहनेवाली राजोक्ति आपमें ही सुशोभित हो रही है–आप ही वास्तवमें राजा हैं ॥१०३॥ हे विभो, चक्ररत्नके बहानेसे यह आपका दुःसह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्नके छलसे आपकी दंड नीति प्रसिद्ध हो रही है ॥१०४॥ यह समस्त पृथिवी आपके आधीन है–पालन करने योग्य है, आप इसके स्वतन्त्र ईश्वर हैं और निधियाँ तथा रत्न ही आपका ऐश्वर्य है इसलिये आपके समान ऐश्वर्यशाली दूसरा कौन है ? ॥१०५॥ हे प्रभो, आपकी कीर्ति स्वच्छन्द होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल है अर्थात् बहुत बोलनेवाली है फिर भी न जाने ये दोनों ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों हैं ? ॥१०६॥ इस प्रकार जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेके लिये हम लोग आपकी सेनाके शब्दके क्षोभसे भयभीत हो आकाशसे यहाँ आये हैं ॥१०७॥ हे देव, हम लोग इस पर्वतकी शिखरपर रहते हैं और अपने स्थानसे कभी भी विचलित नहीं होते परन्तु इस भूमि पर आपके द्वारा ही अवतारित हुए हैं—उतारे गये हैं ॥१०८॥ हम लोग दूर दूर तक अनेक स्थानोंमें रहनेवाले व्यन्तर हैं अब आप हम लोगोंको अपने समीप रहनेवाले सेवक बना लीजिये ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्ध पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव जानिये ॥११०॥ हे देव, आपने मुझे वश कर लिया है इसलिये इस महापर्वतको अपने आधीन हुआ ही समझिये क्योंकि मैं गुफाओं और वन सहित इस पर्वतका समस्त भीतरी हाल जानता हूँ ॥१११॥ अथवा मैं 'इस पर्वतका भीतरी हाल जाननेवाला हूँ' यह बहुत ही थोड़ा कहा गया है; क्योंकि समस्त द्वीप और समुद्रोंके भीतर ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जो हम लोगोंका जाना

१ गर्जति शब्दं । २ वाग्मिनि । ३ ऐश्वर्यवती भवितुं योग्या । ४ प्रतिबन्धरहिता । ५ कीर्तिः सरस्वती । ६ विदन्तं (बम्बत्) । ७ सेवितुम् । ८ स्वस्थानात् । ९ एतावद्भूमिपर्यन्तम् । 'दवनात्यन्त सत्कार्यकारी भावेऽत्रधार्यं' । १० सविधवर्तिनः योग्या । ११ स्वाधीने कृते ।

वटस्थान् वटस्थांश्च कूटस्थान् कोटरोटजान्[3]। अक्षपाटान् क्षपाटांश्च[5] विद्धि नः सार्व सर्वगान् ॥११३॥
इति प्रशान्तमोजस्वि[7] वचः सम्भाष्य सादरम्। सोऽमरो विततारास्मै भूषणानि चतुर्दश ॥११४॥
तान्यनन्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री परां मुदम्। भेजे तत्कृत[10]सत्कारैः सुरः सोऽप्याप सम्मदम् ॥११५॥
तं रूप्याद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशंसिनम्। प्रविसर्ज्य स्वसेनान्यं प्राहिणोत् प्रभुरग्रतः ॥११६॥
त्वमुद्घाटय गुहाद्वारं यावन्निर्वाति[11] सा गुहा। तावत् पाश्चात्यखण्डस्य[12] निर्जयाय कुरूद्यमम् ॥११७॥
इति चक्रधरादेशं[13] मूर्ध्ना माल्यमिवोद्वहन्। कृतमालामरोद्दिष्टकृत्स्नोपायप्रयोगवित् ॥११८॥
कृती कतिपयैरेव तुरङ्गैः सपरिच्छदैः। प्रतस्थे वाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥
किंचिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम्। विगाह्य विजयार्द्धस्य समासदत् तटवेदिकाम् ॥१२०॥
तत्सोपानेन रूप्याद्रेः आरुह्य जगतीतलम्। प्रत्यङ्मुखो[14] गुहोत्सङ्गम्[15] आससाद चमूपतिः ॥१२१॥
जयताच्चक्रवर्तीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठितः[16]। दण्डेन[17] ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्ध्वनि ॥१२२॥
दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरर्गले[18]। तद्गर्भाद् बलवानूष्मा निर्ययौ किल सन्ततः[19] ॥१२३॥
अघट्टनाभिघातोत्थ 'क्रेङ्कारमुखरीपुटम्'[21]। सवेदनमिवास्वेदि[22] निर्गतासु गुहोष्मणा ॥१२४॥

हुआ न हो ॥११२॥ हे सार्व अर्थात् सबका हित करनेवाले, वटके वृक्षोंपर, छोटे छोटे गड्ढों में, पहाड़ोंकी शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलों और पत्तोंकी झोंपड़ियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जाने वाले समझिये ॥११३॥ इस प्रकार आदर सहित शान्त और ओजपूर्ण वचन कहकर उस देवने भरतके लिये चौदह आभूषण दिये ॥११४॥ जो किसी दूसरेको प्राप्त नहीं हो सकते थे ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती परम हर्षको प्राप्त हुए और चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारोंसे वह देव भी अत्यन्त हर्षको प्राप्त हुआ ॥११५॥ तदनतर विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वारमें प्रवेश करनेका उपाय बतलाने वाले उस देवको भरत चक्रवर्तीने विदा किया और गुफाका द्वार खोलनेके लिये सबसे आगे अपना सेनापति भेजा ॥११६॥ चक्रवर्तीने सेनापतिसे कहा कि तुम गुफाका द्वार उघाड़कर जब तक गुफा शान्त हो तब तक पश्चिम खण्डको जीतनेका उद्योग करो ॥११७॥ इस प्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ और कृतमाल देवके द्वारा बतलाये हुए समस्त उपायोंके प्रयोगको जाननेवाला वह चतुर सेनापति कुछ घोड़े और सैनिकों के साथ दण्डरत्न हाथमें लेकर अश्वरत्नपर आरूढ होकर चला ॥११८–११९॥ और कुछ थोड़ी दूर जाकर,तथा सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर विजयार्ध पर्वतके तटकी वेदी पर जा पहुंचा ॥१२०॥ प्रथम ही वह सेनापति सीढ़ियोंके द्वारा विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर चढ़ा और फिर पश्चिम की ओर मुड़कर गुफाके आगे जा पहुंचा ॥१२१॥ अश्वरत्न पर बैठे हुए सेनापतिने चक्रवर्तीकी जय हो इस प्रकार कहकर दण्डरत्नसे गुफा द्वारका ताड़न किया जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ ॥१२२॥ दण्डरत्नकी चोटसे गुफाका द्वार खुल जानेपर उसके भीतरसे बड़ी भारी गर्मी निकलने लगी ॥१२३॥ दण्डरत्नके प्रहारसे उत्पन्न हुए खेंदकार शब्दको धारण करते हुए दोनों किवाड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वेदनासे सहित होनेके

---

१ न्यग्रोधस्थान्। २ पाषाणस्थान्। 'गर्तावटौ भुवि श्वभ्रे' इत्यभिधानात्। 'वटनं गर्तावटयोरवटः भुवो विवरवाचकः' इति व्याख्यानम्। ३ वृक्षविवरपर्णशालासु जातान्। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यभिधानात्। ४ वासरेष्वटतः। ५ क्षपा रात्रि तस्यामटन्तीति क्षपाटाः तान् राक्षसानित्यर्थः। 'पललादा रात्रिचरा राक्षसा जरतोऽपि च' इत्यभिधानात्। ६ सहितान्। ७ तेजोऽन्वितम्। ८ ददौ। ९ नितरामन्यैर्दुर्लभानि। १० चक्रिकृत। ११ उपशान्तिमेति। १२ पश्चिमखण्डस्य। १३ आज्ञाम्। १४ पश्चिमाभिमुखः। १५ गर्भाग्रम्। १६ आरूढः। १७ दण्डरत्नेन। १८ अर्गलरहिते सति। १९ विस्तृतः। २० ध्वनिविशेष। २१ कवाटसम्पुटम् 'कवाटमररं तुल्ये' इत्यभिधानात्। २२ स्विद्यति स्म स्वेदितेत्यर्थः।

उद्घाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्वमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥१२५॥
कवाटपुटविश्लेषाद् उच्चचार महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्रेः आक्रोश इव विस्फुरन् ॥१२६॥
गुहोष्मणा स नाश्लेषि[1] विदूरमपवाहितः[2] । तरस्विनाऽश्वरत्नेन[3] देवताभिश्च रक्षितः ॥१२७॥
निपेतुरमरस्त्रीणां दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥१२८॥
तद्वेदीं ससोपानां रूप्याद्रेः समतीयिवान् । सोऽभ्येत्[1] सतोरणां सिन्धोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥१२९॥
वेदिकां तामतिक्रम्य सजगाहे[1] परां[1] भुवम् । नानाकरपुरग्रामसीमारामैरलङ्कृताम् ॥१३०॥
प्रविष्टमात्र एवास्मिन् प्रजास्त्रासमुपाययुः । सम[1] दारपवैरन्याः घटन्ते स्म[1] पलायितुम् ॥१३१॥
केचित् कृतधियो धीराः सार्घाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीषुरभ्येत्य सबलं बलनायकम् ॥१३२॥
न भेतव्यं न भेतव्यम् आध्वमाध्वं यथासुखम्[1] । इत्थं स्वाज्ञाकरां[10] विष्वक् भ्रमुराश्वासितप्रजाः ॥१३३॥
म्लेच्छखण्डमखण्डाज्ञः परिक्रामन् प्रदक्षिणम् । तत्र तत्र विभो राज्ञा म्लेच्छराजैरजिग्रहत्[11] ॥१३४॥
इव चक्ररक्षेव स चैव निकटं[12] प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनैः ॥१३५॥
भरतस्याधिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनम्[13] । शासनं शिरसा दध्वं[14] यूयमित्य वशाच्च[15] तान् ॥१३६

कारण चिल्ला ही रहे हो, उन्हे दुःखसे पसीना ही आ गया हो और गुफाके भीतरकी गरमीमें उनके प्राण ही निकले जा रहे हो ॥१२४॥ जिसके किवाड खुल गये है ऐसे द्वारसे गरमीको निकालता हुआ वह विजयार्ध पर्वत ऐसा जान पडता था मानो बहुत दिन बाद उसने उच्छ्वास ही लिया हो ॥१२५॥ दोनो किवाडोके खुलनेसे एक बडा भारी शब्द हुआ था और वह ऐसा जान पडता था मानो दण्डरत्नके द्वारा ताडित हुए पर्वतके रोनेका शब्द ही हो ॥१२६॥ वेगशाली अश्वरत्न जिसे बहुत दूर तक भगा ले गया है और देवताओने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमी छू भी नही सकी थी ॥१२७॥ उस समय उस सेनापतिपर देवागनाओके कटाक्षोके साथ साथ आकाशसे फूलोके समूह पड रहे थे और वे जयलक्ष्मीके हासके समान जान पडते थे ॥१२८॥ सेनापति सीढियो सहित विजयार्ध पर्वतके किनारेकी वेदीको उल्लघन करता हुआ तोरण सहित सिन्धु नदीके पश्चिम ओर वाली वनकी वेदिकाके सम्मुख पहुचा ॥१२९॥ उसने उस वेदिकाको भी उल्लघन कर अनेक खानि, पुर, ग्राम, सीमा और बाग बगीचोसे सुन्दर म्लेच्छखण्डकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥१३०॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही वहाँकी समस्त प्रजा घबडा गई, उसमेसे कितने ही लोग स्त्रियो तथा गाय भैस आदिके साथ भागनेके लिये तैयार हो गये ॥१३१॥ कितने ही बुद्धिमान् तथा धीर वीर पुरुष पवित्र अक्षत आदिका बना हुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके सम्मुख

जाता वयं चिरादद्य सनाथा इत्युदाशिषः[1]। केचिच्चक्रधरस्याज्ञाम् अशाठ्यात्[2] प्रत्यपत्सत[3] ॥१३७॥
संधिविग्रहयानादिषाड्गुण्यकृतविक्रमाः । बलात् प्रणामिताः केचिद् ऐश्वर्यलवदुर्मदाः ॥१३८॥
काश्चिद् गैरिधिनान् म्लेच्छान् अवस्कन्दनिरोधनैः[4]। सेनानीर्वशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिकं क्षतः[5] ॥१३९॥
केचिद् बलैरवष्टब्धाः[6] तत्पीडां सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नापीलितात् खलात् ॥१४०॥
इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः । तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥१४१॥
धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः । अन्यथाऽन्यैः[7] समाचारैः आर्यावर्तेन[8] ते समाः ॥१४२॥
इति प्रसाध्य तां भूमिम् अभूमिं[9] धर्मकर्मणाम् । म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत् पुनः ॥१४३॥
रराज राजराजस्य साश्वरत्नचमूपतिः । सिद्धदिग्विजयो जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥१४४॥
सतोरणामतिक्रम्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विजयार्द्धस्य[10] ससोपानाम् अध्यारोहत्तटवेदिकाम् ॥१४५॥
आरूढो जगतीमद्रेः व्यूढोरस्को[11] महाभुजः । षण्मासैः प्रशान्तोष्म सोऽध्यवात्सीद्[12] गुहामुखम्[13] ॥१४६॥
तत्रासीनश्च संशोध्य बह्वपायं गुहोदरम् । कृतारक्षाविधिः सम्यक् प्रत्यायाच्छिबिरं[14] प्रभोः ॥१४७॥

'आज हम लोग बहुत दिनमें सनाथ हुए हैं इसलिये जोर जोरसे आशीर्वाद देते हुए कितने ही बुद्धिमान् लोगोंने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत की थी ॥१३७॥ जिन्होंने सन्धि, विग्रह और यान आदि छह गुणोंमें अपना पराक्रम दिखाया था और जो थोड़ेसे ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे सेनापतिने जबर्दस्ती प्रणाम कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर रहनेवाले कितने ही म्लेच्छ राजाओंको सेनापतिने उनका चारों ओरसे आवागमन रोककर वश किया था सो ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी लोग अधिक दुःखी किये जानेपर ही नम्रीभूत होते हैं ॥१३९॥ कितने ही राजा लोग सेनाओंके द्वारा घिरकर उससे उत्पन्न हुए दुःखको सहन करनेके लिये असमर्थ हो चक्रवर्तीके शासनमें स्थित हुए थे, सो ठीक ही है क्योंकि बिना पेले खल अर्थात् खलीसे स्नेह अर्थात् तेल उत्पन्न नहीं होता (पक्षमें बिना दुःखी किये हुए खल अर्थात् दुर्जनसे स्नेह अर्थात् प्रेम उत्पन्न नहीं होता) ॥१४०॥ इस प्रकार उपायोंको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोंके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको वश किया और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्मक्रियाओंसे रहित हैं इसलिये म्लेच्छ माने गये हैं, धर्मक्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्य खण्डमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥१४२॥ इस प्रकार वह सेनापति, धर्मक्रियाओंसे रहित उस म्लेच्छभूमिको वश कर म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ फिर वापिस लौटा ॥१४३॥ जिसने दिग्विजय कर लिया है, सबको जीतना ही जिसका स्वभाव है, और जो अश्वरत्नसे सहित है ऐसा वह राजाधिराज भरतका सेनापति ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मूर्तिमान् प्रताप ही हो ॥१४४॥ तोरणोंसहित सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर वह सेनापति सीढ़ियों सहित विजयार्ध पर्वतके वनकी वेदीपर जा चढ़ा ॥१४५॥ जिसका वक्षःस्थल बहुत बड़ा है और जिसकी भुजाएँ बहुत लम्बी हैं ऐसा वह सेनापति पर्वतकी वेदिकापर चढ़कर छह महीनेमें जिसकी गर्मी शान्त हो गई है ऐसी गुफाके द्वारपर ठहर गया ॥१४६॥ वहाँ ठहरकर उसने अनेक विघ्नोंसे भरे हुए गुफाके भीतरी भागको शुद्ध (साफ) कराया और फिर अच्छी तरहसे उसकी रक्षा

---

१ उद्गता आशिषो येषां ते । २ निष्कपटवृत्तया भूत्वा । ३ अङ्गीकारं कृतवन्तः । ४ धाटीनिरोधनैः । 'निग्रहस्तु निरोधः स्याद्' इत्यमरः । अन्यायाधनात्मकनिग्रहैः । उक्तं च विदग्धचूडामणौ 'अवस्कन्दनं स्वस्थानाबाधनम्' (घेरना नाम) । ५ अधिकं पीडिता भूत्वा । ६ वेष्टिताः । ७ विवाहादिभिः । ८ पुण्यभूम्या आर्यखण्डेनेत्यर्थः । 'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः' इत्यभिधानात् । ९ अस्थानम् । १० प्रविष्टः । ११ विशालवक्षस्थलः । १२ तस्थौ । १३ गुहाद्वारम् । १४ स्कन्धावारं प्रत्यगात् ।

अथ सम्मुखमागत्य [1]सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगृह्यत सेनानी सजयानकनिस्वनम् ॥१४८॥
विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिकाम् । महावीथीमतिक्रम्य आविक्षत् स नृपालयम् ॥१४९॥
तुरङ्गमवराद्दूरात् कृतावतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमण्डपम् ॥१५०॥
दूरानतचलन्मौलिसदञ्जकरकुड्मलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैः वीक्ष्यमाणः सविस्मितैः ॥१५१॥
मुखरैर्जयकारेण म्लेच्छराजैः ससाध्वसम् । प्रणेमे प्रभुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभूतलैः ॥१५२॥
तदुपाहृतरत्नाद्यैः [3]अर्घ्यमभ्युपढौकितैः[4] । नामादेशं[5] च [6]तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥१५३॥
सप्रसादं च सम्मान्य सत्कृतास्ते महीभुजः । प्रभोरनुमताद् भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिषुः[7] ॥१५४॥
इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात् प्रत्यन्तपालकान्[8] । विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्याद्दृते कुतः ॥१५५॥

मालिनी

अथ नृपतिसमाजैर्नार्चितः सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन् म्लेच्छनाथान् ।
पुनरपि विजयायायोजि सोऽग्रेसरत्वे जय इव जयचिह्नैर्मानितो रत्नभर्त्रा ॥१५६॥
जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात् पदमिदमधिराज्ञां प्राप्यते हेलयैव ।
समुचितनिधिरत्नप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरि सपत्नप्रसारम् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

छत्रं चन्द्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोज्ज्वलद्-
दण्डं चामरयुग्मकं सुरसरिड्डिण्डीरपिण्डच्छवि ।
रत्नाद्रेरिव सन्निभक्तमपरं कूटं मृगेन्द्रासनं
लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाद्रत्नान्यथान्यान्यपि ॥१५८॥
गीर्वाणः कृतमाल इत्यभिमतः सम्पूज्य तं सादरं
[1]प्रादादाभरणानि यानि न पुनस्तेषामिहास्त्युन्मितिः[2] ।
सम्राट् तैरचनैः[3] दलङ्कृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो
मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमयं सोऽध्यासितो विष्टरम् ॥१५९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे
विजयार्द्धगुहाद्वारोद्घाटनवर्णनं नामैकत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३१ ॥

के द्वारा जिसमें सुखोंका सार प्रकट रहता है, और जिसमें अनेक सम्पदाओंका प्रसार रहता है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लीला मात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान्‌का शासन सदा जयवन्त रहे ॥१५७॥ महाराज भरतने विजयार्ध पर्वतके स्वामीको जीतकर उससे चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय देदीप्यमान दण्डोंसे युक्त तथा गङ्गा नदीके फेनके समान कान्तिवाले दो मनोहर चमर, सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुए उसके शिखरके समान सिंहासन तथा और भी अन्य अनेक रत्न प्राप्त किये थे ॥१५८॥ 'कृतमाल' इस नामसे प्रसिद्ध देवने सत्कार कर महाराज भरतके लिये जो आभूषण दिये थे इस भरतक्षेत्रमें उनकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं है। उन अनुपम आभूषणोंसे जिनका शरीर अलंकृत हो रहा है और जो मणियोंके बने हुए सिंहासनपर विराजमान हैं ऐसे महाराज भरतेश्वर उस समय मेरु पर्वतकी शिखरपर स्थित फूले हुए कल्पवृक्षके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें विजयार्ध पर्वतकी गुफाका द्वार उघाड़नेका वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

---

१ ददौ । २ उपमा । ३ वनौ ।

द्वात्रिंशत्तमं पर्व

अथान्येद्युरुपारूढसंभ्रमैर्बलनायकैः । प्रत्यपाल्यत[1] सन्नद्धैः प्रयाणसमयः प्रभोः ॥१॥
गजताश्वीयरथ्यानां[2] पादातानां[3] च संकुलैः । न नृपाजिरमेवासीत् रुद्धमद्रेर्वनान्यपि ॥२॥
जयकुञ्जरमारूढः परीतो[4] नृपकुञ्जरैः । रेजे [5]निर्यन्प्रयाणाय सम्राट् शक्र इवामरैः ॥३॥
किञ्चित् पश्चान्मुखं[6] गत्वा सेनान्या शोधिते पथि । ध्वजिनी संकुचन्त्यासीद् ईर्याशुद्धिं श्रितेव सा ॥४॥
प्रगुणस्थानसोपानां[7] रूप्याद्रेः श्रेणिमक्रमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीम् आरूढा सा पताकिनी[8] ॥५॥
तमिस्रेति गुहा यासौ गिरिव्याससमायतिः[9] । उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ ततोऽध्यर्धमिव[10] विस्तृतिः[11] ॥६॥
वज्रकपाटयोर्युग्मं या स्वोच्छ्रायमितोच्छ्रिति । दधे[12] पृथक्[13] स्वविष्कम्भसाधिकत्र्यंशविस्तृति[13] ॥७॥
परार्ध्यमणिनिर्माणरुचिमद्द्वारबन्धना । [14]तदधस्तलनिस्सर्पत्सिन्धुस्रोतोविराजिता ॥८॥
अशक्योद्घाटनाऽन्येषां मुक्त्वा चक्रिचमूपतिम् । तन्निरर्गलितत्वाच्च[15] प्रागेव कृतनिर्वृतिः[16] ॥९॥

अथानन्तर—दूसरे दिन जिन्हें जल्दी हो रही है और जो हरएक प्रकारसे तैयार है ऐसे सेनापति लोग चक्रवर्तीके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१॥ हाथियोंके समूह की सेना, घोड़ोंके समूहकी सेना और पैदल चलनेवाले सैनिक, इन सबकी भीड़से केवल महाराजका आगन ही नहीं भर गया था किन्तु विजयार्ध पर्वतके वन भी भर गये थे ॥२॥ विजयी हाथीपर चढ़ा हुआ और अनेक श्रेष्ठ राजाओंसे घिरा हुआ चक्रवर्ती जब विजयके लिये निकला तब ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ और देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥३॥ भरतकी वह सेना कुछ पश्चिमकी ओर जाकर सेनापतिके द्वारा शुद्ध किये हुए मार्गमें संकुचित होकर चल रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह ईर्यापथ शुद्धिको ही प्राप्त हुई हो ॥४॥ जिस प्रकार मुनियोंकी विशुद्धता उत्तम गुणस्थान (आठवें, नौवें दशवें रूपी सीढ़ियोंसे युक्त श्रेणी (उपशम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी) पर चढ़ती है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी सेना, जिसपर उत्तम सीधी सीढ़ियां बनी हुई हैं ऐसी विजयार्ध पर्वत की श्रेणीपर जा चढ़ी थी ॥५॥ वहां तमिस्रा नामकी वह गुफा थी जो कि पर्वतकी चौड़ाई के बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊंची थी और उससे डेवढ़ी अर्थात् बारह योजन चौड़ी थी जो अपनी ऊँचाईके बराबर ऊंचे और कुछ अधिक छह छह योजन चौड़े वज्रमयी किवाड़ोंके युगल धारण कर रही थी जिसके दरवाजेकी चौखट महामूल्य रत्नोंसे बनी हुई होनेसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो अपने नीचेसे निकलते हुए सिन्धु नदीके प्रवाहसे सुशोभित थी, चक्रवर्तीके सेनापतिको छोड़कर जिसे और कोई उघाड़ नहीं सकता था, जो सेनापतिके द्वारा पहले ही उघाड़ दी जानेसे शान्त पड़ गई थी—भीतरकी गरमी निकल जानेसे ठण्डी पड़ गई थी । जो यद्यपि जगत्की सृष्टिके समान अनादि थी तथापि किसीके द्वारा बनाई हुईके समान मालूम

---

१ प्रतीक्ष्यते स्म । २ सैन्यानाम् ल० । ३ पदातीनाम् ल० । ४ परिवृत । ५ निर्गच्छन् । ६ पश्चिमाभिमुखम् । ७ ऋजुसस्थानसोपाना प्रकृष्टगुणस्थानसोपानाञ्च । ८ सेना । ९ पञ्चाशद्योजनायामेति भाव । १० अष्टयोजनोत्सेधात् । ११ द्वादशयोजनविस्तारेत्यर्थः । १२ यमलकवाटे एवं कवाटम् । १३ द्वादशयोजनविस्तारवद् गुहाया साधिकद्वितीय विस्तारम् । यमलरूपकवाटे एकैककवाटस्य साधिकषड्योजनविस्तृतिरित्यर्थः । १४ द्वारबन्धादधस्तलनिर्गच्छत् । देहल्या अधस्तले निर्गच्छदिति भाव । १५ सेना पमूपतिना समुद्घाटितकवाटत्वात् । १६ कृतोपशान्ति ।

जगत्स्थितिरिवानाद्या घटितेव[1] च केनचित्[2] । जैनी श्रुति[3]रिवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता ॥१०॥
व्यायता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेवोल्लाघतां[4] कृच्छ्रात् मुक्तोष्मा शोधितोदरा[5] ॥११॥
कुटीव च प्रसूताया निषिद्धान्यप्रवेशिना । कृतरक्षाविधिर्द्वारे धृतमङ्गलसंविधिः ॥१२॥
तामालोक्य बलं[6] जिष्णोः दूरादासीत्स साध्वसम् । तमसा सूचिभेद्येन कज्जलेनेव सम्भृताम् ॥१३॥
चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्ततः ॥१४॥
काकिणीमणिरत्नाभ्यां प्रतियोजनमालिखत् । गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मण्डलद्वयम् ॥१५॥
तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्योत्स्नातपसन्निधिम् । गुहामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत ततो बलम् ॥१६॥
चक्ररत्नज्वलद्दीपे ससेनान्या[7] पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा ययौ ॥१७॥
परिसिन्धु[8]नदीस्रोतः प्राक् पश्चाच्चोभयोः[9] पथोः । बलं प्राय[10]ज्जलं सिन्धोः उपभुज्योपभुज्य तत् ॥१८॥
पथि द्वये[11] स्थिता तस्मिन् सेनान्यान्या नियन्त्रिता[12] । सा चमूः संशयद्वैध[13] तदा प्रापद् दिगाश्रयम्[14] ॥१९॥
ततः प्रयाणकैः कैश्चित् प्रभूतयवसोदकैः[15] । गुहार्द्धसम्मिता[16] भूमिं व्यतीयाय[17] पताकिनाम् ॥२०॥

होती थी, अत्यन्त गम्भीर (गहरी) होनेके कारण जिसे मुनि लोग जिनवाणीके समान मानते थे क्योंकि जिनवाणी भी अत्यन्त गम्भीर (गूढ अर्थोंसे भरी हुई) होती है। जो जीवित रहने की आशाके समान लम्बी थी, मूर्छाके समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतरका प्रदेश शुद्ध हो जानेसे जो नीरोग अवस्थाको प्राप्त हुईके समान जान पड़ती थी, जिसमें चक्रवर्तीकी सेनाको छोड़कर अन्य किसीका प्रवेश करना मना था, जिसके द्वारपर रक्षाकी सब विधि की गई थी, जिसके समीप मंगलद्रव्य रक्खे हुए थे और इसलिये जो प्रसूता (बच्चा उत्पन्न करनेवाली) स्त्रीकी कुटी (प्रसूति-गृह) के समान जान पड़ती थी ॥६–१२॥ सुई की नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ़ अन्धकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही भयभीत हो गई थी ॥१३॥ तदनन्तर जिसे चक्रवर्ती ने आज्ञा दी है ऐसे सेनापतिने पुरोहितके साथ साथ, उस अन्धकारसे निकलनेका उपाय करने के लिये फिर प्रयत्न किया ॥१४॥ उन्होंने गुफाकी दोनों ओरकी दीवालोंपर काकिणी और चूड़ामणि रत्नसे एक एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल लिखे ॥१५॥ तदनन्तर उन मण्डलोंके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश किया जा रहा है, चांदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं तथा जिसका सब अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे गुफाके मध्य भागमें सेनाने प्रवेश किया ॥१६॥ आगे आगे सेनापतिके साथ साथ चक्ररत्नरूपी देदीप्यमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे पीछे उसी मार्गसे दो भागोंमें विभक्त होकर सेना चल रही थी ॥१७॥ वह सेना, सिन्धु नदीके प्रवाहके पूर्व तथा पश्चिमकी ओरके दोनों मार्गोंमें सिन्धु नदीके जलका उपयोग करती हुई जा रही थी ॥१८॥ उन दोनों मार्गोंपर चलती हुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय दिशाओं सम्बन्धी संशयरूपी द्विविधताको प्राप्त हो रही थी अर्थात् उसे इस बातका संशय हो रहा था कि पूर्वदिशा कौन है ? और पश्चिम दिशा कौन है ? ॥१९॥ तदनन्तर जिनमें घास और पानी अधिक है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज

---

१ निर्मितेव । २ केनचित् पुरुषेण । ३ परमागमः । ४ ऋजुत्वं गतेव । उल्लाघो निर्गतो गदात् । ५ शोधितान्तरा स० । ६ गुहाम् । ७ सेनापतिसमन्विते । ८ सिन्धुनदीप्रवाहं वर्जयित्वा । परित्यज्य पर्यन्तात् । ९ पश्चात् पूर्वापर । १० अगच्छत् । ११ द्विप्रकारवती । १२ नियमिता । १३ संशयभेद गमनविनाश वा । १४ उपदेशाश्रयम् वा संशयभेद प्राप । पूर्वादिदिग्भेदे सेना सन्देहवती जातेत्यर्थः । १५ तृण, पानी । घासो यत्र तृणमत्र भूमिर्जलप्रधानात् । १६ गुहायामर्द्धसम्मिताम् । १७ अगमत् ।

नागैरं सममन्येद्यु प्रभुर्गजघटावृत । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥
तत कतिपयैरेव प्रयाणैरतिवाहितै[1] । गिरिदुर्गं विलङ्घ्योदग्गुहाद्वा[2]रमवासदत् ॥३३॥
निरर्गलीकृत द्वार [3]पौरस्त्यैरिभसाधनै । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रे अध्युवास वनावनिम्[4] ॥३४॥
अधिशय्य गुहागर्भं चिर मातुरिवोदरम् । लब्ध जन्मान्तर मेने[5] निर्मृतै सैनिकैर्बहि ॥३५॥
गुहेयमतिगृध्येव[6] गिलित्वा[7] जनतामिमाम् । जरणाशक्तितो[8] नूनम् उज्जगाल[9] बहि पुन ॥३६॥
व्यजनैरिव शाखाग्रै वीजयन् वनवीरुधाम् । गुहोष्मणा चिर खिन्ना चमूमाश्वासयन्मरुत् ॥३७॥
तद्वन पवनाधूत चलच्छाखाकरोत्करं । प्रभोरपागमे तोषान्ननर्तेव धृतार्तवम्[10] ॥३८॥
पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतु मध्यम खण्ड साधनै प्रभुरुद्ययौ ॥३९॥
न करै पीडितो लोको न भुव शोषितो रस । नार्केणेव जनस्तप्त प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक्[11] ॥४०॥
कौबेरीं दिशमास्थाय[12] तपत्येकान्ततो[13] करै । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥४१॥
कृतव्यूहानि[14] सैन्यानि सहतानि[15] परस्परम् । नातिभूमिं ययुर्जिष्णो न स्वैर परिबभ्रमु ॥४२॥

पर जा पहुची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओके साथ साथ उसी जलमय महामार्गसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग)को उल्लघन कर वे उस गुफाके उत्तर द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोकी सेनाके द्वारा उघाडे हुए उत्तर द्वारको उल्लघन कर चक्रवर्तीने विजयार्ध पर्वतके वनकी भूमिमें निवास किया ॥३४॥ माताके उदरके समान गुहाके गर्भमें चिरकाल तक निवास कर वहाँसे बाहर निकले हुए सैनिकोने ऐसा माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको बाहर प्रकट करती हुई वह गुफा ऐसी जान पडती थी मानो पहले वह बडी भारी तृष्णा इस मनुष्य समूहको निगल गई थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अब उसे फिर बाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय पखोके समान वनलताओकी शाखाओसे अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पडता था मानो चिरकालतक गुफाकी गरमीसे दुखी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥ जिसने ऋतु सम्बन्धी अनेक फल-फूल धारण किये है और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन उस समय ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर सतुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखारूपी हाथोके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जब सेनापति पहलेकी तरह यहाके भी पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तब महाराज भरत अपनी सेनाओके द्वारा मध्यम म्लेच्छ खण्डको जीतनेके लिये उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोसे लोगोको पीडित करता है, पृथिवीका रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योको सतप्त करता है उस प्रकार उन्होने अपने कर अर्थात् टैक्ससे लोगोको पीडित नही किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नहीं सुखाया था—नष्ट नहीं किया था और न मनुष्योको सतप्त अर्थात् दुखी ही किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामें पहुँचकर अपनी किरणोसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका सताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोकी रचना की गई है और जो परस्परमें मिली हुई है ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे बहुत दूर ही जाती थी और न स्वच्छदतापूर्वक

१ अपनीतै । २ उत्तरगुहाद्वारम् । ३ पुरोगतै । ४ वनभूमिम् । ५ मन्यते स्म । ६ अतितृष्णया । ७ निगरण कृत्वा । ८ जीर्णीकरणसामर्थ्याभावात् । ९ उद्गिरति स्म । १० ऋतौ भवम् आर्तवम् पुष्पादि । धृतमार्तव येन तत् । ११ उत्तरदिग्भागे । १२ उत्तरस्या दिशि स्थित्वा । १३ नितराम् । १४ विहितव्यूहरचनानि । १५ सबद्धानि मिलितानि वा ।

य[1]त्रोन्मग्नजला सिन्धुं निमग्नजलया समम्। प्रविष्टा तिर्यगुद्देशं[2] तं[3] प्राप बलमर्कजित् ॥२१॥
तयोरारात्तटे सैन्यं निवेश्य भरतेश्वरः। वैषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षाञ्चक्रे सकौतुकम् ॥२२॥
एकाऽध पातयत्यन्या [4]दार्वाद्युत्प्लावयत्यरम्। मिथोविरुद्धसाद्गत्ये सङ्गते ते कथंचन ॥२३॥
नद्योरुत्तरणोपायः को नु स्यादिति तर्कयन्। द्रुतमाह्वापयामास तत्रस्थः स्थपतिं पतिः ॥२४॥
[5]तयोरारात्तटे पश्यन् उत्पतन्निपतज्जलम्। दृष्ट्यैव तुलयामास[6] जलाञ्जलिमिव[7] क्षणम् ॥२५॥
उपर्युच्छ्वासयत्येनां महान् वायुः स्फुरन्नधः। वायुस्तदन्यथावृत्तिः[8] अमुष्यां च विजृम्भते ॥२६॥
उपनाहादृते[9] कोऽन्यः प्रतीकारोऽनयोरिति। भिषग्वर इवारेभे संक्रमोपक्रमं[10] कृती ॥२७॥
क्ष्मालयेष्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः। ततानानाययामास[11] दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥२८॥
सारदारुभिरुत्तम्भ्य[12] स्तम्भानन्तर्जलस्थितान्[13]। स्थपतिः स्थापयामास [14]तेषामुपरि संक्रमम्[15] ॥२९॥
बलव्यसनमाशङ्क्य[16] चिरवृत्तौ[17] स धीरधीः। क्षणान्निष्पादयामास संक्रमं प्रभुशासनात् ॥३०॥
ततः कलकलः सैन्ये निष्ठिते सेतुकर्मणि। तदैव च बलं कृत्स्नम् उत्ततार परं तटम्[18] ॥३१॥

भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥२०॥ और जहा पर 'उन्मग्नजला' नदी 'निमग्नजला' नदीके साथ साथ दोनो तरफकी दीवालोके कुण्डोसे निकलकर सिन्धु नदीमे प्रविष्ट होती है उस स्थानपर चक्रवर्तीकी सेना जा पहुँची ॥२१॥ महाराज भरतेश्वर उन दोनो नदियो के किनारेके समीप ही सेना ठहराकर कौतुकके साथ उन दोनों नदियोकी विषमता देखने लगे ॥२२॥ इन दोनोमेसे एक अर्थात् निमग्नजला तो लकडी आदिको शीघ्र ही नीचे ले जा रही है और दूसरी अर्थात् उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थको शीघ्र ही ऊपरकी ओर उछाल रही है। यद्यपि ये दोनो परस्पर विरुद्ध है तथापि किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदीमें मिल रही है ॥२३॥ इन नदियोके उतरनेका उपाय क्या है ? इस प्रकार विचार करते हुए चक्रवर्तीने वहा खडे खडे ही शीघ्र ही अपने स्थपति (सिलावट) रत्नको बुलाया ॥२४॥ जिनका पानी ऊपर तथा नीचेकी ओर जा रहा है ऐसी उन दोनो नदियोको देखते हुए सिलावट रत्नने उन्हे अपनी दृष्टिमात्रसे ही क्षणभरमे अञ्जलि भर जलके समान तुच्छ समझ लिया ॥२५॥ उसने समझ लिया कि इस उन्मग्नजला नदीको इसके नीचे रहनेवाला महावायु ऊपरकी ओर उछालता है और इस निमग्नजला नदीको उसके ऊपर रहनेवाला महावायु नीचेकी ओर ले जाता है ॥२६॥ इसलिये इन दोनोका पुल बाँधनेके सिवाय और क्या उपाय हो सकता है ऐसा विचार कर उत्तम वैद्यके समान कार्यकुशल सिलावट रत्नने उन नदियोंके पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बाँधनेका उपाय प्रारम्भ कर दिया ॥२७॥ उसने अपनी दिव्य शक्तिकी सामर्थ्यसे निर्जन वनोंमें जो कुछ बडे बडे वृक्ष थे वे मँगवाये। भावार्थ—अपने आश्रित देवोके द्वारा गहन जंगलोंसे बडे बडे वृक्ष मँगवाये ॥२८॥ उसने मजबूत लकडियोके द्वारा जलके भीतर मजबूत खम्भे खडे कर उनपर पुल तैयार कर दिया ॥२९॥ अधिक समय लगनेपर सेनाको दुःख होगा इस बातका विचार कर उस गंभीर बुद्धिके धारक सिलावटने भरतेश्वरकी आज्ञासे क्षण भरमें ही पुल तैयार कर दिया था ॥३०॥ पुल तैयार होते ही सेनाओने आनन्दसे कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्तीकी समस्त सेना उतरकर नदियोंके उस किनारे

---

१ तस्मिन् प्रदेशे। २ पूर्वापरभित्तिद्वयकुण्डात् निर्गत्य। ३ प्रदेशम्। ४ काष्ठादि। ५ स तन्नदीद्वयम् म०, द०, अ०, प०, स०। ६ दर्शनेनैव। ७ उत्पतन्निपतत्त्वादञ्जलिपुटजलवत्। ८ अधोगमनवृत्तिः। ९ बन्धनात्। १० सेतुप्रक्रमम्। ११ आनयति स्म। १२ विन्यस्य। १३ जल स्थितान् म०, द०। अधो स्थितान् द०। १४ स्तम्भानाम्। १५ सेतुम्। १६ बलस्य पीडा भविष्यतीति विचार्य। १७ चिरकालेनोत्पत्ते सति। १८ परतीरम्।

नायकैः सममन्येद्युः प्रभुर्गजघटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैरतिवाहितैः[1] । गिरिदुर्गं विलङ्घ्योदग्गुहाद्वारमवासदत्[2] ॥३३॥
निरर्गलीकृतं द्वारं पौरस्त्यैरिभसाधनैः[3] । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रेः अध्युवास वनावनिम्[4] ॥३४॥
अधिवास्य गुहागर्भं चिरं मातुरिवोदरम् । लब्धं जन्मान्तरं मेने[5] निःसृतैः सैनिकैर्बहिः ॥३५॥
गुहेयमतिगृध्नेव[6] गिलित्वा[7] जनतामिमाम् । जरणाशक्तितो[8] नूनम् उज्जगाल[9] बहिः पुनः ॥३६॥
व्यजनैरिव शाखाग्रैः वीजयन् वनवीरुधाम् । गुहोष्मणा चिरं खिन्नां चमूमाश्वासयन्मरुत् ॥३७॥
तद्वनं पवनाधूतं चलच्छाखाकरोत्करैः । प्रभोरुपागमे तोषादनर्तीव धृतार्तवम्[10] ॥३८॥
पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतुं मध्यमं खण्डं साधनैः प्रभुरुद्यमी ॥३९॥
न करैः पीडितो लोको न भुवः शोषितो रसः । नार्केणेव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक्[11] ॥४०॥
कौबेरीं दिशमास्थाय[12] तपत्येकान्ततः[13] करैः । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥४१॥
कृतव्यूहानि[14] सैन्यानि संहतानि[15] परस्परम् । नातिभूमि ययुर्जिष्णोः न स्वैरं परिबभ्रमुः ॥४२॥

पर जा पहुंची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोंके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओं के साथ साथ उसी जलमय महामार्गसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग)को उल्लंघन कर वे उस गुफाके उत्तर द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोंकी सेनाके द्वारा उघाड़े हुए उत्तर द्वारको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने विजयार्ध पर्वतके वनकी भूमिमें निवास किया ॥३४॥ माताके उदर के समान गुहाके गर्भमें चिरकाल तक निवास कर वहाँसे बाहर निकले हुए सैनिकोंने ऐसा माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको बाहर प्रकट करती हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह बड़ी भारी तृष्णा इस मनुष्य समूहको निगल गई थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अब उसे फिर बाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय पंखोंके समान वनलताओंकी शाखाओंके अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो चिरकालतक गुफाकी गरमीसे दुःखी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥ जिसने ऋतु सम्बन्धी अनेक फल-फूल धारण किये हैं और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर संतुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखा रूपी हाथोंके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जब सेनापति पहलेकी तरह यहाँके भी पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तब महाराज भरत अपनी सेनाओंके द्वारा मध्यम म्लेच्छ खण्डको जीतनेके लिये उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे लोगोंको पीडित करता है, पृथिवी का रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योंको सन्तप्त करता है उस प्रकार उन्होंने अपने कर अर्थात् टेक्ससे लोगोंको पीडित नहीं किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नहीं सुखाया था-नष्ट नहीं किया था और न मनुष्योंको सन्तप्त अर्थात् दुःखी ही किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामें पहुँचकर अपनी किरणोंसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका सन्ताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोंकी रचना की गई है और जो परस्परमें मिली हुई हैं ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे बहुत दूर ही जाती थीं और न स्वच्छन्दतापूर्वक

---

१ अपनीतैः । २ उत्तरगुहाद्वारम् । ३ पुरोगतैः । ४ वनभूमिम् । ५ मन्यते स्म । ६ अतिवाञ्छया । ७ निगरणं कृत्वा । ८ जीर्णीकरणाभावात् । ९ उद्गिरति स्म । १० ऋतौ भवम् आर्तवम् पुष्पादि । धृतमार्तवं येन तत् । ११ उत्तरदिग्भाग । १२ उत्तरस्यां दिशि स्थित्वा । १३ नितराम् । १४ विहितरचनानि । १५ सबद्धानि मिलितानि वा ।

प्रसाधितानि दुर्गाणि कृतं चाशक्यसाधनम्। परचक्रमवष्टब्धं[1] चक्रिणो जयसाधनैः ॥४३॥
बलवान्नाभियोक्तव्यो[2] रक्षणीयाश्च संश्रिताः। यतितव्यं क्षितित्राणे जिगीषोर्वृत्तमीदृशम्[3] ॥४४॥
इत्यलङ्घ्यबलश्चक्री चक्ररत्नमनुव्रजन्। कियतीमपि तां[1] भूमिम् अवाष्टम्भीत्[4] स्वसाधनैः ॥४५॥
तावच्च परचक्रेण[5] स्वचक्रस्य[6] पराभवम्। चिलातावर्तनामानौ प्रभू शुश्रुवतुः किल ॥४६॥
अभूतपूर्वमेतन्नौ[7] परचक्रमुपस्थितम्। व्यसनं प्रतिकर्तव्यम् इत्यास्तां सङ्गतौ मिथः ॥४७॥
ततो धनुर्धरप्रायं सहाश्वीयं सहास्तिकम्। इतोऽमुतश्च संजग्मे[8] तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥४८॥
धृतोच्चविग्रहारम्भौ संरम्भं प्रतिपद्य तौ। विक्रम्य[9] चक्रिणः सैन्यं भेजतुर्विजिगीषुताम् ॥४९॥
तावच्च सुधियो धीराः कृतकार्याश्च मन्त्रिणः। निषिध्य तौ रणारम्भाद् वचः पथ्यमिदं जगुः ॥५०॥
न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता[10]। अनालोचितकार्याणां दवीयस्यो[11]ऽर्थसिद्धयः ॥५१॥
कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी कुतस्त्यो वा कियद्बलः[12]। बलवान् इत्यनालोच्य नाभिषेण्यः[13] कथञ्चन[14] ॥५२॥
विजयार्धचलोल्लङ्घी नैष सामान्यमानुषः। दिव्यो[15] दिव्यानुभावो[16] वा भवेदेष न संशयः ॥५३॥

इधर उधर ही घूमती थी ॥४२॥ चक्रवर्तीकी विजयी सेनाओंने अनेक किले अपने वश किये, जिन्हें कोई वश नहीं कर सकता था, ऐसे राजाओंको वश किया और शत्रुओंके देश घेरे ॥४३॥ बलवान्‌के साथ युद्ध नहीं करना, शरणमें आये हुएकी रक्षा करना, और अपनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करना यही विजयकी इच्छा करनेवाले राजाके योग्य आचरण है ॥४४॥ इस प्रकार जिनकी सेना अथवा पराक्रमको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे पीछे जाते हुए अपनी सेनाके द्वारा वहाँकी कितनी ही भूमिको अपने आधीन कर लिया ॥४५॥ इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेनाका पराभव होता सुना ॥४६॥ हमारे देशमें शत्रुओंकी सेना आकर उपस्थित होना यह हम दोनोंके लिये बिलकुल नई बात है, इस आये हुए संकटका हमें प्रतिकार करना चाहिये ऐसा विचार कर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिल गये ॥४७॥ तदनन्तर जिसमें प्रायः करके धनुष धारण करनेवाले योद्धा हैं, तथा जो हाथियों और घोड़ोंके समूहसे सहित है ऐसी उन दोनों राजाओंकी सेना इधर उधरसे आकर इकट्ठी मिल गई ॥४८॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा पराक्रम प्रकट कर चक्रवर्तीकी सेनाओंके साथ विजिगीषुपनको प्राप्त हुए अर्थात् उन्हें जीतनेकी इच्छासे उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गये ॥४९॥ इसीके बीच, बुद्धिमान् धीर-वीर तथा सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले मन्त्रियोंने उन दोनों राजाओंको युद्धके उद्योगसे रोककर नीचे लिखे अनुसार हितकारी वचन कहे ॥५०॥ हे प्रभो, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोंको विना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिये क्योंकि जो विना विचारे कार्य करते हैं उनके कार्योंकी सिद्धि बहुत दूर हो जाती है ॥५१॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन राजा है ? कहाँसे आया है ? इसकी सेना कितनी है और यह कितना बलवान् है इन सब बातोंका विचार किये विना ही उसकी सेनाके सम्मुख किसी भी तरह नहीं जाना चाहिये ॥५२॥ विजयार्ध पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य प्रभावका धारक होगा इसमें

---

१ स्थानम्। २ अभियोक्तव्यः। ३ महनीयम्। ४ वेष्टयति स्म। ५ परसैन्येन। ६ स्वराष्ट्रस्य। ७ आवयोः। ८ संगतमभूत्। ९ अधिकां शक्तिं विधाय। १० सिद्धिमिच्छता। ११ दूरगाः। १२ वियद्बल अ०, म०, द०। १३ भाया अभियातव्यः। १४ सर्वथा। १५ देवः। १६ दिव्यसामर्थ्यः।

तदास्तां समरारम्भः सम्भाव्यो दुर्गसंश्रयः। तदाश्रितैरनायासात् जेतुं शक्यो रिपुर्महान् ॥५४॥
स्वभावदुर्गमेतन्नः क्षेत्रं केनाभिभूयते। हिमवद्विजयार्द्धाद्रिगङ्गा[1]सिन्धुतटावधि ॥५५॥
अन्यच्च देवताः सन्ति सत्यमस्मत्कुलोचिताः। नागा[2]मेघमुखा नाम ते निरुन्धन्तु शात्रवान् ॥५६॥
इति तद्वचनाज्जातजयाशंसौ जनेश्वरौ। देवतानुस्मृतिं सद्यः चक्रतुः कृतपूजनौ ॥५७॥
ततस्ते जलदाकारधारिणो घनगर्जिताः। परितो वृष्टिमातेनुः सानिलामनिलाशनाः[3] ॥५८॥
तज्जलं जलदोद्गीर्णं बलमाप्लाव्य जैष्णवम्[4]। अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च समन्तादभ्युदद्रवत्[5] ॥५९॥
न चेल[6]क्नोपमस्यासीत् शिबिरे वृष्टिरीशितुः। बहिरेकार्णवं कृत्स्नम् अकरोद् व्याप्य रोदसी ॥६०॥
छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत्। ताभ्यामावेष्ट्य तद्रुद्धं बलं स्यू[7]तमिवाभवत् ॥६१॥
मध्ये रत्नद्वयस्यास्य स्थितमासप्तमाद् दिनात्। जलप्लवे बलं भर्तुः व्यक्तमण्डायितं[8] तदा ॥६२॥
चक्ररत्नकृतोद्योते रुद्धद्वादशयोजने। तत्राण्डके[9] स्थितं जिष्णोः निराबाधमभूद् बलम् ॥६३॥
प्रविभक्तचतुर्द्वारं सेनान्यान्तःसुरक्षितम्। बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल तद्बलम् ॥६४॥
तदा पटकुटीभेदा [10]कोटिकाश्च विटङ्कटाः[11]। कृताः स्थपतिरत्नेन रथाश्चाम्बर[12]गोचराः ॥६५॥

कुछ भी सन्देह नहीं है ॥५३॥ इसलिये युद्धका उद्योग दूर रहे, हम लोगोंको किसी किलेका आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि किलेका आश्रय लेनेवाले पुरुष बड़ेसे बड़े शत्रुको सहज ही जीत सकते हैं ॥५४॥ हिमवान् पर्वतसे विजयार्ध पर्वत तक और गङ्गा नदीसे सिन्धु नदीके किनारे तक का यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किलेके समान है, इसका पराभव कौन कर सकता है ? इसे कौन जीत सकता है ? ॥५५॥ और दूसरी बात यह भी है कि हमारी कुल-परम्परासे चले आये नागमुख और मेघमुख नामके जो देव हैं वे अवश्य ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥५६॥ इस प्रकार मन्त्रियोंके वचनोंसे जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे उन दोनों राजाओंने शीघ्र ही पूजन कर देवताओंका स्मरण किया ॥५७॥ स्मरण करते ही नागमुख देव, बादलोंका आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारों ओर झंझा वायुके साथ साथ जलकी वृष्टि करने लगे ॥५७॥ मेघोंके द्वारा बरसाया हुआ वह जल भरतेश्वरकी सेनाको डुबोकर ऊपर नीचे तथा अगल बगल चारों ओर बहने लगा ॥५८॥ यद्यपि वह जल इतना अधिक बरसा था कि उसने आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर बाहर एक समुद्र सा बना दिया था परन्तु चक्रवर्तीके शिबिर (छावनी)में कपड़ेका एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नहीं हुई थी ॥५९-६०॥ उस समय भरतकी सेनाके ऊपर छत्ररत्न था और नीचे चर्मरत्न था, उन दोनों रत्नोंसे घिरकर रुकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानो चारों ओरसे सी ही दी गई हो अर्थात् चर्मरत्न और छत्ररत्न इन दोनोंमें चारों ओरसे टाके लगाकर बीचमें ही रोक दी गई हो ॥६१॥ उस जलके प्रवाहमें भरतकी वह सेना सात दिनतक दोनों रत्नोंके भीतर ठहरी थी और उस समय वह ठीक अण्डाके समान जान पड़ती थी ॥६२॥ जिसमें चक्ररत्नके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है ऐसे उस बारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बूमें ठहरी हुई भरतकी सेना सब तरहकी पीड़ासे रहित थी ॥६३॥ उस बड़े तम्बूमें चारों दिशाओंमें चार दरवाजे विभक्त किये गये थे, उनके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे जयकुमार उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥६४॥ उस समय स्थपति रत्नने अनेक प्रकारके कपड़ेके तम्बू, घासकी बड़ी बड़ी झोपड़ियाँ और आकाशमें चलनेवाले रथ भी तैयार किये थे ॥६५॥

१ गाङ्गसिन्धु-म० । २ नागमेघ-म० । ३ नागाः । ४ जिष्णोश्चक्रिणः सम्बन्धि । ५ अभिपातीति स्म । ६ पटमात्रं यथा भवति । ७ छत्रम् तनुत्राणम् सम्बद्धमिवाभवत् । ८ अण्डमिवाचरितम् । ९ पटकुटीरे । १० कोटिका - कुटीराः, तृणानि । विटिकास्च म०, द०, अ०, प०, स० । ११ विरचिताः । १२ रथाः नभस्गोचराः प० ।

बहि. कलकलं श्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवा । कर व्यापारयामासुः क्रुद्धाः कौक्षेयकं[1] प्रति ॥६६॥
ततश्चक्रधरादिष्टा[2] गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासु[3]: आरुष्टा[4] हुङ्कृतैः क्षणात् ॥६७॥
बलवान् कुरुराजोऽपि[5] मुक्तसिंहगर्जित. । दिव्यास्त्रैरजयन्नागान् रथं दिव्यमधिष्ठितः ॥६८॥
तदा रणाङगणे वर्षन् शरधारामनारतम् । स रेजे धृतसन्नाहः[6] प्रावृषेण्य[7] इवाम्बुदः ॥६९॥
तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रेजिरे समराजिरे[8] । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिताः ॥७०॥
ततो निववृते[9] जित्वा नागान् मेघमुखानसौ । कुमारो रणसंरम्भात् प्राप्तमेघस्वरश्रुति.[10] ॥७१॥
कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्य[11]स्तनितोर्जितं. । गर्जितैर्निर्जयन् मेघमुखान् ख्यातस्तदाख्यया ॥७२॥
तोषितैरवदानेन[12] घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । दध्वनद्दुन्दुभिध्वानबधिरीकृतदिङ्मुखैः ॥७३॥
ततो दृष्टापदानोऽय[13] तुष्टुवे[14] चक्रिणा मुहु. । नियोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराग्रणीपदे ॥७४॥
इन्द्रजाल इवामुष्मिन् व्यतिक्रान्तेऽहिविप्लवे । [15]प्रत्यापत्तिमगाद् भूयो बलमाविर्भवज्जयम् ॥७५॥
विध्वस्ते पन्नगानीके विबलौ म्लेच्छनायकौ । चक्रिणश्चरणावेत्य भयभ्रान्तौ प्रणेमतुः ॥७६॥
धनं यशोधन चास्मै कृतागः परिशोधनम्[16] । दत्वा प्रसीद देवेति तौ भृत्यत्वमुपेयतुः ॥७७॥

बाहर कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इस प्रकार कहते हुए राजाओने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारकी ओर बढाया ॥६६॥ तदनन्तर, उस समय जिन्हें चक्रवर्तीने आदेश दिया है ऐसे गणबद्ध जातिके देवोने क्रुद्ध होकर अपने हुंकार शब्दोके द्वारा क्षणभरमे नागमुख देवोको हटा दिया ॥६७॥ अतिशय बलवान् कुरुवशी राजा जयकुमारने भी दिव्य रथपर बैठकर सिंह-गर्जना करते हुए, दिव्य शस्त्रोके द्वारा उन नागमुख देवोको जीता ॥६८॥ उस समय युद्धके आगनमे निरन्तर बाणोकी वर्षा करता हुआ और शरीरपर कवच धारण किये हुए वह जयकुमार वर्षाऋतुके बादलके समान सुशोभित हो रहा था ॥६९॥ जयकुमारके द्वारा छोडे हुए वे देदीप्यमान बाण युद्धके आगनमे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छिपे हुए नागमुखो को देखनेके लिये जलाये हुए दीपक ही हो ॥७०॥ तदनन्तर वह जयकुमार नागमुख और मेघ-मुख देवोको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे वापिस लौटा ॥७१॥ उस समय वह जयकुमार बिजली गिरानेके पहले भयकर शब्द करते हुए बादलोकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥७२॥ बार-बार बजते हुए दुन्दुभियोके शब्दोसे जिन्होने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी है ऐसे देवों ने इस जयकुमारके पराक्रमसे सन्तुष्ट होकर इसका जयजयकार किया था ॥७३॥ तदनन्तर जिसका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे इस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी बार-बार प्रशंसा की और उस वीरका सत्कार कर उन्होंने उसे मुख्य शूरवीरके पदपर नियुक्त किया ॥७४॥ इन्द्र-जालके समान वह नागमुख देवोका उपद्रव शान्त हो जानेपर जिसकी जीत प्रकट हो रही है ऐसी वह भरतकी सेना पुन स्वस्थताको प्राप्त हो गई अर्थात् उपद्रव टल जानेपर सुखका अनुभव करने लगी ॥७५॥ नागमुख देवोकी सेनाके भाग जानेपर वे दोनो ही चिलात और आवर्त नामके म्लेच्छ राजा निर्बल हो गये और भयसे घबडाकर चक्रवर्तीके चरणोके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥७६॥ उन्होने अपराध क्षमा कराकर भरतके लिये बहुत सा धन तथा यशरूपी धन दिया और 'हे देव, प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहकर उनकी दासता स्वीकार

---

१ खड्गम् । २ आज्ञापिताः । ३ पालयितान् धनु । ४ क्रुद्धा । ५ जयकुमारः । ६ धृतकवच । ७ प्रावृषि भव । ८ समराङ्गणे । ९ व्यावृतत् । १० प्राप्तमेघस्वरसंज्ञ । ११ मेघ । १२ पराक्रमेण । १३ दृष्टावदानोऽय म०, स०, द० । दृष्टावदानोऽय द०, प० । दृष्टसामर्थ्य. । १४ स्तूयते स्म । १५ पूर्वस्थितिम् । स्वरूपात् प्रच्युतस्य पुन स्वरूपे अवस्थानम्, आश्वासमित्यर्थः । १६ कृतदोषस्य परिशोधन यस्मात् तत् ।

निस्सपत्ना महीमेनां कुर्वन्सर्वाऽनिधीश्वरः[1]। आ हिमाद्रितटाद् भूयः प्रयाणमकरोद् बलैः ॥७८॥
सिन्धुरोधोभुवः[2] क्षुन्दन्[3] प्रयाणे जयसिन्धुरैः । सिन्धुप्रपात[4]मासीदन्[5] सिन्धुदेव्या न्यषेचि[6] सः ॥७९॥
ज्ञात्वा समागतं जिष्णुं देवी स्वावासगोचरम् । उपेयाय[7] समुद्धृत्य रत्नार्घं सपरिच्छदा[8] ॥८०॥
पुण्यैः[9] सिन्धुजलैरेनं हेमकुम्भशतोद्धृतैः । साभ्यषिञ्चत् स्वहस्तेन भद्रासननिवेशितम् ॥८१॥
कृतमङ्गलनेपथ्यम् अभ्यनन्दज्जयाशिषा । देव त्वद्दर्शनादद्य पूताऽस्मीत्यवदच्च तम् ॥८२॥
तत्र भद्रासनं दिव्यं लब्ध्वा तदुपढौकितम् । कृतानुव्रजनां[10] किञ्चित् सिन्धुदेवीं व्यसर्जयत् ॥८३॥
हिमाचलमनुप्राप्तः तत्तटानि जयं[11] जयम् । कैश्चिदेव प्रयाणकैः प्रापत् हिमवत्कूटसन्निधिम्[12] ॥८४॥
पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः । अध्यशेत[13] शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन्[14] ॥८५॥
विधिरेष न चाशक्तिररिति[15] सम्भावितो नृपैः । स राज्यमकरोच्चाप[16] वज्रकाण्डमयत्नतः ॥८६॥
तत्रामोघं शरं दिव्यं [17]समधत्तोर्ध्वगामिनम् । वैशाखस्थानमास्थाय[18] स्वनामाक्षरचिह्नितम् ॥८७॥
मुक्तसिंहप्रणादेन यदा मुक्तः शरोऽमुना[19] । तदा सुरगणैस्तुष्टैः मुक्तोऽस्य कुसुमाञ्जलिः ॥८८॥

की ॥७७॥ इस समस्त पृथिवीको शत्रुरहित करते हुए प्रथम निधिपति–चक्रवर्तीने फिर अपनी सेनाके साथ साथ हिमवान् पर्वतके किनारे तक गमन किया ॥७८॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिन्धु नदीके किनारेकी भूमिको खूदते हुए भरतेश्वर जब सिन्धुप्रपात पर पहुँचे तब सिन्धु देवीने उनका अभिषेक किया ॥७९॥ वह देवी भरतको अपने निवास स्थानके समीप आया हुआ जानकर रत्नोंका अर्घ लेकर परिवारके साथ उनके पास आई थी ॥८०॥ और उसने अपने हाथसे सुवर्णके सैकडो कलशोंमें भरे हुए सिन्धु नदीके पवित्र जलसे भद्रासनपर बैठे हुए महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥८१॥ अभिषेक करनेके बाद उस देवीने मगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए महाराज भरतको विजयसूचक आशीर्वादोसे आनन्दित किया तथा यह भी कहा कि हे देव, आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूँ ॥८२॥ वहा उस सिन्धु देवीका दिया हुआ दिव्य भद्रासन प्राप्त कर भरतने आगेके लिये प्रस्थान किया और कुछ दूर तक पीछे पीछे आती हुई सिन्धु देवीको विदा किया ॥८३॥ हिमवान् पर्वतके समीप पहुचकर उसके किनारोको जीतते हुए भरत कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूट के निकट जा पहुचे ॥८४॥ वहाँ उन्होंने पुरोहितके साथ साथ उपवास कर और दिव्य अस्त्रों की पूजा कर डाभकी पवित्र शय्यापर शयन किया ॥८५॥ अस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि ही है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नही है, ऐसा विचार कर राजाओंने जिनका सन्मान किया है ऐसे भरतराजने विना प्रयत्नके ही अपना वज्रकाण्ड नामका धनुष डोरीसे सहित किया ॥८६॥ और वैशाख नामका आसन लगाकर अपने नामके अक्षरोसे चिह्नित तथा ऊपरकी ओर जानेवाला अपना अमोघ (अव्यर्थ) दिव्य बाण उस धनुषपर रखा ॥८७॥ जिस समय सिंहनाद करते हुए भरतने वह बाण छोडा था उस समय देवोंके समूहने सतुष्ट होकर उनपर फूलोंकी अञ्जलियाँ छोडी थीं , अर्थात् फूलोंकी वर्षा की थी ॥८८॥

---

१ उत्कृष्टनिधिपतिः । 'वरे त्वग्रमित्यभिधानात् । २ सिन्धुनदीतीरभूमीः । ३ सञ्चूर्णयन् । ४ सिन्धुनदीपतनकुण्डम् । ५ आगच्छन् । ६ न्यषेवि द० । सेवते स्म । ७ उपाययौ । ८ सपरिकरा । ९ पवित्रैः । १० विहितानुगमनाम् । ११ जयन् जयन् ल०, अ०, इ०, । जय जयन् प०, स० । १२ हिमवन्नामकूट । १३ अधिशेते स्म । १४ मन्त्रैरभिपूजयन् । १५ अशक्यभावो न । १६ मौर्वीसहितम् । १७ सन्धानमकरोत् । १८ वैशाखस्थाने स्थित्वा वितस्त्यन्तरेण स्थितं पादद्वये विशाखं, तथा चोक्तं धनुर्वेदे । वामपादप्रसारं दक्षिणसङ्कोचे प्रत्यालीढं दक्षिणजङ्घाप्रसारे वामसङ्कोचे चालीढम् । तुल्यपादयुगं समपदम् । वितस्त्यन्तरेण स्थितं पादद्वयं विशाखं, मण्डलाकृति पादद्वयं मण्डलम् । १९ चक्रिणा ।

स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । [1]सम्प्राप्यद्धिमवत्कूटं तद्वेश्माकम्पयन् पतन् ॥८९॥
स मागधवदाध्याय[2] ज्ञातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिः तन्निवा[3]सी सुरोत्तमः ॥९०॥
सम्प्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभृत् । दरोपरुद्ध[4]संरम्भो धनुर्ज्यासकृत्स्पृशन् ॥९१॥
तुङ्गोऽयं हिमवानद्रिः अलङ्घ्यश्च पृथग्जनैः[5] । लङ्घितोऽद्य त्वया देव त्वद्वृत्तमतिमानुषम्[6] ॥९२॥
वि[7]प्रकृष्टान्तराः क्वास्मदावासाः क्व भवच्छरः[8] । तथाप्याकम्पितास्तेन[9] पततैकपदे[10] वयम् ॥९३॥
त्वत्प्रतापः शरव्याजात् उत्पतन् गगनाङ्गणम् । गणबद्धपदे कर्तुम् अस्मान् नाहूतवान् ध्रुवम् ॥९४॥
विजिताब्धिः समाक्रान्तविजयार्द्धगुहोदरः । हिमाद्रिशिखरेष्वद्य जृम्भते ते जयोद्यमः[11] ॥९५॥
जयवादोऽनुवादोऽयं[12] सिद्धदिग्विजयस्य ते । जयतात् नन्दताज्जिष्णो वर्द्धिषीष्ट भवानिति ॥९६॥
समुच्चरन् जयध्वानमुखरः सुरैः समम् । प्रभुं सभाजयामास[13] सोपचारं सुरोत्तमः ॥९७॥
अभिषिच्य च राजेन्द्रं राजवद्विधिना[14] ददौ । गोशीर्षचन्दनैः[15] सोऽस्मै सममौषधिमालया[16] ॥९८॥
त्वद्भुक्तिवासिनो[17] देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वामानमन्त्येते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥९९॥

जिसकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती ऐसा वह बाण ऊपरकी ओर दूरतक जाकर वहाँपर रहनेवाले देवके भवनमें पड़कर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत्कूटपर जा पहुँचा ॥८९॥ मागध देवके समान कुछ विचार कर जिसने चक्रवर्तीका आगमन समझ लिया है ऐसा वहाँका रहनेवाला देव अपना मस्तक झुकाता हुआ चला ॥९०॥ और जिसने अपना कुछ क्रोध रोक लिया है ऐसा वह देव धनुषकी डोरीका स्पर्श करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा जहाँपर कि चक्रवर्ती विराजमान थे ॥९१॥ वह देव भरतसे कहने लगा कि हे देव, यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुषोंके द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है फिर भी आज आपने उसका उल्लंघन कर दिया है इसलिये आपका चरित्र मनुष्योंको उल्लंघन करनेवाला अर्थात् लोकोत्तर है ॥९२॥ हे देव, बहुत दूर बने हुए हम लोगोंके आवास कहाँ ? और आपका बाण कहाँ ? तथापि पड़ते हुए इस बाणने हम सबको एक ही साथ कम्पित कर दिया ॥९३॥ हे देव, यह आपका प्रताप बाणके व्याजसे आकाशमें उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो हम लोगोंको गणबद्ध (चक्रवर्तीके आधीन रहनेवाली एक प्रकारकी देवोंकी सेना) देवोंके स्थानपर नियुक्त होनेके लिये बुला ही रहा था ॥९४॥ जिसने समुद्रको भी जीत लिया है और विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंके भीतर भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान् पर्वतके शिखरोंपर भी फैल रहा है ॥९५॥ हे प्रभो, आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिये हे जयशील, आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और सदा बढ़ते रहें इस प्रकार आपका जयजयकार बोलना पुनरुक्त है ॥९६॥ इस प्रकार उच्चारण करता हुआ जो जय जय शब्दोंसे वाचाल हो रहा है ऐसा वह उत्तम देव अन्य अनेक उत्तम देवोंके साथ साथ सब तरहके उपचारोंसे भरतकी सेवा करने लगा ॥९७॥ तथा राजाओंके योग्य विधिसे राजाधिराज भरतका अभिषेक कर उसने उनके लिये औषधियोंके समूहके साथ गोशीर्ष नामका चन्दन समर्पित किया ॥९८॥ और कहा कि हे देव, आपके क्षेत्रमें रहनेवाले ये देव आपकी प्रसन्नताकी इच्छा करते हुए दूरसे ही मस्तक झुकाकर आपके लिये नमस्कार

पश्येह[1] देव तदस्मासु प्रसादतरलां दृशम् । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिलाभोऽनुजीविनाम्[2] ॥१००॥
निर्देशैः[3] रुचिरैर्देवास्मान् सम्भावयितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायः सन्मानं[4] किङ्करैर्मतः ॥१०१॥
सत्यमिति[5] तद्वचः[6] स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्य यथास्वं कृतमाननान् ॥१०२॥
हिमवज्जयशंसीनि मङ्गलान्यस्य किन्नराः । जगुस्तत्कुञ्जदेशेषु[7] स्वरैरारब्धमूर्च्छनाः ॥१०३॥
धुनन् किन्नरस्त्रीणाम् आधुन्वानः स्तनांशुकान्[8] । सरोवीचिभिदो मन्दम् आववुस्तद्वनानिलाः ॥१०४॥
स्थलाब्जिनीवनाद्विष्वक् किरन् किञ्जल्कजं रजः । हिमो हिमाद्रिकुञ्जेभ्यस्तं सिषेवे समीरणः ॥१०५॥
स्थलाम्भोरुहिणीवास्य कीर्तिः साकं[9] जयश्रिया । हिमाचलनिकुञ्जेषु पप्रथे[10] दिग्जयार्जिता ॥१०६॥
हिमाचलस्थलेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपश्यतः । कृतोपहारकृत्येषु[11] स्थलाम्भोजविकस्वरैः ॥१०७॥
स उच्चैर्वृत्तिमाक्रान्तदिक्चक्रं विस्तृतायतिम्[12] । स्वमिवानघरत्नाढ्यं हिमाद्रिं बहुमंस्त[13] सः ॥१०८॥

कर रहे हैं ॥९९॥ इसलिये हे देव, हम लोगोंपर प्रसन्नतासे चञ्चल हुई दृष्टि डालिये क्योंकि स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही सेवक लोगोंको आजीविका प्राप्त होना है। भावार्थ—स्वामी लोग सेवकोंपर प्रसन्न रहें यही उनकी उचित आजीविका है ॥१००॥ हे स्वामिन्, आप उचित आज्ञाओंके द्वारा हम लोगोंको सम्मानित करनेके योग्य हैं अर्थात् आप हम लोगोंको उचित आज्ञाएँ दीजिये क्योंकि सेवक लोग स्वामीकी आज्ञा मिलनेको आजीविका (तनख्वाह)की प्राप्तिसे भी कहीं बढ़कर मानते हैं ॥१०१॥ इस प्रकारके उस देवके वचनोंकी प्रशंसा करते हुए भरतने उन सब उत्तम देवोंका सत्कार किया और सबको अपने आधीन कर विदा कर दिया ॥१०२॥ उस समय अपने इच्छानुसार स्वरोंका चढ़ाव-उतार करनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतागृहोंके प्रदेशोंमें 'भरतने हिमवान् देवको जीत लिया है' इस बातको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥१०३॥ उस समय वहां किन्नर देवोंकी स्त्रियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोंको बार-बार हिलाता हुआ तथा तालावकी तरंगोंको छिन्न भिन्न करता हुआ उस हिमवान् पर्वतके वनोंका वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१०४॥ स्थल कमलिनियोंके वनके चारों ओर केशरसे उत्पन्न हुआ रज फैलाता हुआ तथा हिमवान् पर्वतके लतागृहोंमें आया हुआ शीतल वायु महाराज भरतकी सेवा कर रहा था ॥१०५॥ दिग्विजय करनेमें प्राप्त हुई भरतकी कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ साथ स्थलकमलिनियोंके समान हिमवान् पर्वतके लतागृहोंमें फैल रही थी ॥१०६॥ जिन्होंने फूले हुए स्थल-कमलोंसे उपहारका काम किया है ऐसे हिमवान् पर्वतके स्थलोंमें चारों ओर देखते हुए भरतको बहुत ही सन्तोष होता था ॥१०७॥ वह हिमवान् पर्वत ठीक भरतके समान था क्योंकि जिस प्रकार भरत उच्चैर्वृत्ति अर्थात् उत्कृष्ट व्यवहार धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह पर्वत भी उच्चैर्वृत्ति अर्थात् बहुत ऊँचा था, जिस प्रकार भरतने अपने तेजसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं उसी प्रकार उस पर्वतने भी अपने विस्तारसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं, जिस प्रकार भरत आयति अर्थात् उत्तम भवितव्यता (भविष्यत्काल) धारण करते थे उसी प्रकार वह पर्वत भी आयति अर्थात् लम्बाई धारण कर रहा था और जिस प्रकार भरतके पास अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं उसी प्रकार उस पर्वतके पास भी अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं। इस प्रकार अपनी समानता रखनेवाले उस हिमवान्

---

१ दृक् । २ जीवितनाम । 'आजीवो जीविका वार्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यभिधानात् । ३ शासनानाम् । ४ शासनैः । 'अववादस्तु निर्देशो निदेशः शासनं च सः । शिष्टिश्चाज्ञा च' इत्यभिधानात् । ५ जीवितनाम । ६ पूजयन् । ७ तद्देवस्य वचनम् । ८ हिमवच्छिखरकुञ्जप्रदेशेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यभिधानात् । ९ उरोजाच्छादनवस्त्राणि । १० सह । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यभिधानात् । ११ प्रसृताऽभवत् । १२ विहितपुष्पोपहारव्यापारेषु । १३ उन्नतागमम् । १४ बहुमानमगमत् ।

अत्रान्तरे[1] गिरीन्द्रेऽस्मिन् व्यापारितदृशं प्रभुम्। विनोदयितुमित्युच्चैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥१०९॥
हिमवानयमुत्तुङ्गः सङ्गतः सततं श्रिया[2]। कुलक्षोणीभृतां धुर्यो[3] धत्ते युष्मदनुक्रियाम्[4] ॥११०॥
अहो महानयं शैलो दुरारोहो दुरुत्तरः[5]। शरसन्धानमात्रेण सिद्धो[6] युष्मन्महोदयात् ॥१११॥
चित्रैरलङ्कृता रत्नैः अस्य श्रेणी हिरण्मयी। शतयोजनमात्रोच्चा टङ्कच्छिन्नेव भात्यसौ ॥११२॥
स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम्। स्थितोऽयं गिरिराभाति मानदण्डायितो भुवः ॥११३॥
[7]द्विविस्तृतोऽयमद्रीन्द्रो भरताद् भरतर्षभ[8]। मूले चोपरिभागे च तुल्यविस्तारसम्मितः[9] ॥११४॥
अस्यानुसानु रम्येयं वनराजी विराजते। शश्वदध्युषिता सिद्धविद्याधरमहोरगैः ॥११५॥
तटाभोगा[10] विभान्त्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः। चित्रिता इव संक्रान्तैः स्वर्वधूप्रतिबिम्बकैः ॥११६॥
पर्यटन्ति तटेष्वस्य सप्रेयस्यो[11] नभश्चराः। स्वैरसम्भोगयोग्येषु हारिभिर्लतिकागृहैः ॥११७॥
विविक्त[12]रमणीयेषु सानुष्वस्य कृतोत्सवाः। न धृतिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥११८॥

पर्वतको भरतने बहुत कुछ माना था–आदरकी दृष्टिसे देखा था ॥१०८॥ इसी बीचमें, जब कि महाराज भरत अपनी दृष्टि हिमवान् पर्वतपर डाले हुए थे–उसकी शोभा निहार रहे थे तब पुरोहित उन्हें आनन्दित करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट वचन कहने लगा ॥१०९॥ हे प्रभो, यह हिमवान् पर्वत बहुत ही उत्तुङ्ग अर्थात् ऊँचा है, सदा श्री अर्थात् शोभासे सहित रहता है और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् कुलाचलोंमें श्रेष्ठ है इसलिये आपका अनुकरण करता है–आपकी समानता धारण करता है क्योंकि आप भी तो उत्तुङ्ग अर्थात् उदारमना हैं, सदा श्री अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे सहित रहते हैं और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् वंशपरम्परासे आये हुए राजाओंमें श्रेष्ठ हैं ॥११०॥ अहा, कितना आश्चर्य है कि यह बडा भारी पर्वत, जो कि कठिनाईसे चढने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, डोरीपर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रतापसे आपके वश हो गया है ॥१११॥ इसकी सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित हो रही है सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पडती है मानो टाँकीसे गढ कर ही बनाई गई हो ॥११२॥ अपने पूर्व और पश्चिमके कोणोंसे लवण समुद्रमें प्रवेश कर पडा हुआ यह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो पृथिवीके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥११३॥ हे भरतश्रेष्ठ, यह श्रेष्ठ पर्वत भरतक्षेत्रसे दूने विस्तारवाला है और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागोंमें इसका एक समान विस्तार है ॥११४॥ जिसमें सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार निरन्तर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर वनकी पंक्ति इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर शोभायमान हो रही है ॥११५॥ देदीप्यमान मणियोंसे चित्र विचित्र हुए इस पर्वतके किनारेके प्रदेश बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे हैं और भीतर पडते हुए देवाङ्गनाओंके प्रतिबिम्बोंसे ऐसे जान पडते हैं मानो उनमें अनेक चित्र ही खींचे गये हों ॥११६॥ सुन्दर लतागृहोंसे अपनी इच्छानुसार उपभोग करने योग्य इस पर्वतके किनारोंपर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहल रहे हैं ॥११७॥ जो देव लोग अपनी अप्सराओंके साथ इस पर्वतके निर्जन पवित्र और रमणीय किनारोंपर क्रीडा कर लेते हैं फिर उन्हें किसी दूसरी जगह संतोष नहीं होता

---

१ अस्मिन्नवसरे। २ श्रीदेव्या लक्ष्म्या च। ३ मुख्यः। ४ तवानुकरणम्। ५ अवतरितुमशक्यः। ६ राद्धा ल०। ७ द्विगुणविस्तारः। ८ भरतश्रेष्ठ। ९ तुल्या विस्तार- ल०, द०। १० तटविभागाः। ११ प्रियतमासहिताः। १२ पवित्र। विविक्तौ पूतविजनौ इत्यभिधानात्।

पर्यन्तेऽस्य[1] वनोद्देशा विकासि कुसुमस्मिताः । हसन्तीवामरोद्यानश्रियमात्मीयया श्रिया ॥११९॥
स्वेन मूर्ध्ना बिभर्त्येष श्रियं नित्यानपायिनीम् ।
स्मार्ताः[2] स्मरन्ति यां शच्याः[3] सौभाग्यमदकर्षिणीम् ॥१२०॥
मूर्ध्नि पद्महृदोऽस्यास्ति श्रुतो यो बहुवर्णनः । प्रसन्नवारिरुत्फुल्लहैमपङ्कजमण्डनः ॥१२१॥
हृदस्यास्य पुरःपश्चात्तोरण[4]द्वारनिर्गते । गङ्गासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥१२२॥
सरितं रोहितास्यां च दधात्येष शिलोच्चयः । तदुदक्तोरण[5]द्वारादभिसृत्योदङ्मुखीं[6] गताम् ॥१२३॥
महापगाभिरित्याभिरलङ्घ्याभिर्विराजते । त्रिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥१२४॥
शिखरैरेष कूटाख्यैः शीलयन्निव खाङ्गणम् । सिद्धाध्वानं[7] रुणद्धीद्धं परार्ध्यैरिद्धदिङ्मुखैः ॥१२५॥
[8]परश्शतमिहाद्रीन्द्रे सन्त्यावासाः सुधाशिनाम् । येऽनल्पाः कल्पजां[9] लक्ष्मीं हसन्तीव स्वसम्पदा ॥१२६॥
इत्यनेकगुणेऽप्यस्मिन् दोषोऽप्येको महानिरौ । यत् पर्यन्तगतान् धत्ते गुरुरप्यगुरुद्रुमान्[10] ॥१२७॥
अलङ्घ्यमहिमोदग्रो गरिमाक्रान्तविष्टपः । जगद्गुरोः पुरोराभाम्[11] अयं धत्ते धराधरः ॥१२८॥

है ॥११८॥ जो फूले हुए फूलरूपी हास्यसे सहित हैं ऐसे इसके किनारेके वनके प्रदेश ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपनी शोभासे देवोंके बगीचेकी शोभाकी हँसी ही कर रहे हों ॥११९॥ यह पर्वत अपने मस्तक (शिखर) से उस शोभाको धारण करता है, जो कि, सदा नाशरहित है और स्मृतिके जानकार पण्डित लोग जिसे इन्द्राणीके सौभाग्यका अहंकार दूर करनेवाली कहते हैं ॥१२०॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका वह सरोवर है जिसमें कि श्री देवीका निवास है, शास्त्रकारोंने जिसका बहुत कुछ वर्णन किया है, जिसमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, और जो फूले हुए सुवर्ण कमलोंसे सुशोभित है ॥१२१॥ यह पर्वत उसके इस पद्मसरोवरके पूर्व तथा पश्चिम तोरणसे निकली हुई गङ्गा और सिन्धुनामकी महानदियोंको धारण करता है ॥१२२॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर गई हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥१२३॥ यह पर्वत इन अलंघ्य तीन महानदियोंसे ऐसा सुशोभित होता है मानो उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियोंसे अपना भूभृद्भाव अर्थात् राजापना (पक्षमें पर्वतपना) ही प्रकट कर रहा हो ॥१२४॥ देदीप्यमान तथा दिशाओंको व्याप्त करनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे यह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो आकाशरूपी आँगनको कीलोंसे युक्त कर देवोंका मार्ग ही रोक रहा हो ॥१२५॥ इस पर्वतराजपर देवोंके अनेक आवास हैं जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी बहुत भारी शोभा की भी हँसी करते हैं ॥१२६॥ इस प्रकार इस पर्वतमें अनेक गुण होनेपर भी एक बड़ा भारी दोष है और वह यह कि यह स्वयं गुरु अर्थात् बड़ा होकर भी अपने चारों ओर लगे हुए अगुरु द्रुम अर्थात् छोटे छोटे वृक्षोंको धारण करता है (परिहार पक्षमें अगुरु द्रुमका अर्थ अगुरु चन्दनके वृक्ष लेना चाहिये) ॥१२७॥ यह पर्वत जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योंकि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव अपनी अलंघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अपनी अलंघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् ऊँचा है और जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपनी गरिमा अर्थात् गुरुपने से समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया था उसी प्रकार इस पर्वतने भी अपनी गरिमा अर्थात् भारीपनसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है। भावार्थ–जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवका गुरुपना समस्त लोकमें प्रसिद्ध है उसी प्रकार इस पर्वतका भारीपना भी लोकमें प्रसिद्ध

---

१ पर्यन्तस्थ स०। २ स्मृतिवेदिनः। ३ यूना श्री (देवी) येन सः। ४ पूर्वपश्चिमदिक्स्थतोरण। ५ तस्य पद्मसरोवरस्योत्तरदिक्स्थतोरण। ६ उत्तरदिङ्मुखीम्। ७ देवमार्गम्। ८ अपरिमिताः। 'परश्शताः' शताधिकाः। ९ स्वर्गजाम्। १० कालागुरुद्रुमान् लघुतरुनिति ध्वनिः। ११ उपमाम्।

इत्यस्याद्रेः परां शोभां शंसत्युच्चैः[1] पुरोधसि। प्रशशंस तमद्रीन्द्रं सम्प्रीतो भरताधिपः ॥१२९॥
स्वभुक्तिक्षेत्रसीमानं सोऽभिनन्द्य[2] हिमाचलम्। प्रत्यावृतत् प्रभुर्द्रष्टुं[3] वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥१३०॥
यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः। तदर्धविस्तृतिर्मूर्ध्नि भुवो मौलिरिवोद्गतः ॥१३१॥
यत्प्रोत्सङ्गभुवो रम्याः कदली[4]षण्डमण्डिताः। सम्भोगाय नभोगानां कल्पन्ते स्म[5] लतागृहैः ॥१३२॥
सनागमं[6] सनागैश्च[7] सपुन्नागं परिष्कृतम्। [8]यदुपान्ते वनं सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥१३३॥
स्वतटस्फटिकोत्सर्पत्प्रभाविश्वहरिन्मुखम्[9]। शरदभ्रैरिवारब्धवपुषं[10] खनभोगुषम्[11] ॥१३४॥
तं शैलं भुवनस्यैकं ललाममिव[12] निरूपयन्[13]। कलयामास लक्ष्मीवान् स्वयशःप्रतिमानकम्[14] ॥१३५॥
तमेकपाण्डुरं[15] शैलम् आकल्पान्तमनश्वरम्। स्वयशोराशिनीकाशं[16] पश्यन्नभिननन्द सः ॥१३६॥
सोऽचलः प्रभुमायान्तं[17] मायान्तमखिलद्विषाम्। प्रत्यग्रहीदिवाभ्येत्य [18]विष्वद्र्यग्भिर्वनानिलैः ॥१३७॥
तत्तटोपान्तविश्रान्तखचरोरगकिन्नरैः। प्रोद्गीयमानममलं शुश्रुवे[19] स्वयशोऽमुना ॥१३८॥
जयलक्ष्मीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमाः। तत्तटीभित्तयो जह्रुः मनोऽस्य स्फटिकामलाः ॥१३९॥

है, अथवा इस पर्वतने अपने विस्तारसे लोकका बहुत कुछ अंश व्याप्त कर लिया है ॥१२८॥ इस प्रकार जब पुरोहित उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन कर चुका तब भरतेश्वरने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥१२९॥ अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रकी सीमा स्वरूप हिमवान् पर्वतकी प्रशंसा कर महाराज भरत कुतूहलवश वृषभाचलको देखनेके लिये लौटे ॥१३०॥

जो सौ योजन ऊँचा है, मूल तथा ऊपर क्रमसे सौ और पचास योजन चौड़ा है एवं ऊपरकी ओर उठा हुआ होनेसे पृथिवीके मस्तकके समान जान पड़ता है। जिसके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलोंके समूहसे सुशोभित लतागृहोंमें आकाशगामी देव तथा विद्याधरोंके उपभोग करने योग्य हैं, नाग सहजना और नागकेशरके वृक्षोंसे घिरे हुए तथा सेवन करने योग्य जिस पर्वतके समीपके वनोंको देव लोग कभी नहीं छोड़ते हैं। अपने तटपर लगे हुए स्फटिक मणियोंकी फैलती हुई प्रभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जिसका शरीर शरद्‌ऋतुके बादलोंसे बना हुआ-सा जान पड़ता है और जो सदा देव तथा विद्याधरोंसे सहित रहता है, ऐसे उस पर्वतको लोकके एक आभूषणके समान देखते हुए श्रीमान् भरतने अपने यशका प्रतिबिम्ब माना था ॥१३१–१३५॥ जो एक सफेद रंगका है और जो कल्पान्त काल तक कभी नष्ट नहीं होता ऐसे उस वृषभाचलको अपने यशकी राशिके समान देखते हुए महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए थे ॥१३६॥ उस समय वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त शत्रुओंकी मायाको नष्ट करनेवाले चक्रवर्ती भरतको अपने समीप आता हुआ जानकर चारों ओर बहनेवाले वनके वायुके द्वारा सामने जाकर उनका स्वागत-सत्कार ही कर रहा हो ॥१३७॥ वहाँपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम करते हुए विद्याधर नागकुमार और किन्नर देवोंके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥१३८॥ स्फटिकके समान

शशिमेवदातमस्याभोद्विद्वाभित्तिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे धृतिर्दिग्विजयार्जिनः[1] ॥१४०॥
काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिषत्ययम्[2] । तदा राजसहस्राणां[3] नामान्यैक्षताधिराट् ॥१४१॥
असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रान्ता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् स विसिस्मिये ॥१४२॥
ततः किञ्चित् स्खलद्गर्वो विलक्षीभूय[5] चक्रिराट् । अनन्यशासनामेनां न मेने भरतावनिम् ॥१४३॥
स्वयं कस्यचिदेकस्य निरस्यन्नामशासनम् । स मेने निखिलं लोकं प्रायः स्वार्थपरायणम् ॥१४४॥
अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले[6] । प्रशस्तिमित्युदात्तार्थं व्यलिखत् स यशोधनः ॥१४५॥
स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरन्त[7]महीभर्ता[8] भरतः शातमातुरः[9] ॥१४६॥
श्रीमानानम्रनिःशेषखचरामरभूचरः । प्राजापत्यो[10] मनुर्मान्यः शूरः शुचिरुदात्तधीः ॥१४७॥
चरमाङ्गधरो धीरो धौरेयश्चक्र[11]धारिणाम् । परिक्रान्तं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥१४८॥
यस्याष्टादशकोट्योऽश्वा जलस्थलविलङ्घिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥१४९॥
यस्य दिग्विजये विश्वग्रेणुभिरुत्थितैः । तदिङ्मुखं समारुद्धं कपोतगलकर्बुरैः ॥१५०॥

निर्मल और विजयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिये मंगलमय दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारे की दीवालें भरतका मन हरण कर रही थीं ॥१३९॥ समस्त पृथिवीको जीतनेवाले चक्रवर्ती भरतको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवालोंपर अपने नामके अक्षर लिखनेमें बहुत कुछ संतोष हुआ था ॥१४०॥ चक्रवर्ती भरतने काकिणी रत्न लेकर ज्योंही वहां कुछ लिखनेकी इच्छा की त्योंही उन्होंने वहां लिखे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नाम देखे ॥१४१॥ असंख्यात करोड़ कल्पोंमें जो चक्रवर्ती हुए थे उन सबके नामोंसे भरे हुए उस वृषभाचलको देखकर भरत को बहुत ही विस्मय हुआ ॥१४२॥ तदनन्तर जिसका कुछ अभिमान दूर हुआ है ऐसे चक्रवर्ती ने आश्चर्यचकित होकर इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीको अनन्यशासन अर्थात् जिसपर दूसरेका शासन न चलता हो ऐसा नहीं माना था। भावार्थ—वृषभाचलकी दीवालोंपर असंख्यात चक्रवर्तियोंके नाम लिखे हुए देखकर भरतका सब अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार किया कि इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीपर मेरे समान अनेक शक्तिशाली राजा हो गये हैं ॥१४३॥ चक्रवर्ती भरतने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्तिको स्वयं—अपने हाथसे मिटाया और वैसा करते हुए उन्होंने प्रायः समस्त संसारको स्वार्थपरायण समझा ॥१४४॥

अथानन्तर—यश ही जिसका धन है ऐसे चक्रवर्तीने अपने हाथके तलभागके समान चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखी ॥१४५॥ स्वस्ति श्री इक्ष्वाकु वंशरूपी आकाशका चन्द्रमा और चारों दिशाओंकी पृथिवीका स्वामी मैं भरत हूँ, मैं अपनी माताके सौ पुत्रोंमें से एक बड़ा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैंने समस्त विद्याधर देव और भूमिगोचरी राजाओंको नम्रीभूत किया है, प्रजापति भगवान् वृषभदेवका पुत्र हूँ, मनु हूं, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धिका धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, धीर वीर हूँ चक्रवर्तियोंमें प्रथम हूँ और इसके सिवाय जिन विजयीने दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीमण्डल की परिक्रमा दी है अर्थात् समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल में चलनेवाले अठारह करोड़ घोड़े हैं, जिसकी विजयी सेनामें चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी

---

१ सन्तोषः । २ काकिणीरत्नमिति । ३ लिखितुमिच्छति । ४ अतिक्रान्तानां राज्ञामिदं । ५ विस्मयान्वितो भूत्वा । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यभिधानात् । ६ दर्पणे समाने इत्यर्थः । ७ चातुरन्तो द०, प०, इ०, अ०, स० । ८ निःशेषखचरामरभूचराणां नाथः । ९ शतस्य माता शतमाता शतमातुः अपत्यं पुमान् शातमातुरः । १० प्रजापतेः पुरोरपत्यं पुमान् । ११ मुख्य ।

प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलम् । सुरैरगायत कुलक्षोणीध्रकुक्षिषु ॥१५१॥
दिग्जये यस्य सैन्यानि विश्रान्त्यधिवितटम् । चक्रानुभ्रान्तिततान्तानि[1] मान्त्या हैमवतीरयत्सी ॥१५२॥
नप्ता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । षट्खण्डमण्डितामेनां यः स्म शास्ति महीम् ॥१५३॥
मत्वाऽसौ गत्वरीं[2] लक्ष्मीं जित्वरः[3] सर्वभूभृताम् । जगद्विसृत्वरीं[4] कीर्तिम् प्रतिष्ठिपदिहाचले ॥१५४॥
इति प्रशस्तिमालीया विलिखन्[5] स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकरैर्मुक्तैं नृपोऽवर्षि रेऽमरैः ॥१५५॥
तत्रोच्चैरुच्चरद्ध्वानास्त्रदुन्दुभयोऽध्वनन् । दिवि देवा जयेत्याशी दशताप्युच्चैरघोषयन् ॥१५६॥
स्वर्धुनीसीकरासारवाहिनो गन्धवाहिन । मन्द विचेरुरापूत[6]साद्रम दारनन्दना ॥१५७॥
न केवल शिलाभित्तौ यस्य नामाक्षरावली । लिखितानेन चान्द्रेऽपि बिम्बे तत्लाञ्छनच्छलात् ॥१५८॥
लिखित[7] साक्षिणे भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखित सोऽचलो भुक्ति दिग्जये साक्षिणोऽमरा ॥१५९॥
अहो महानुभावोऽय चक्री दिक्चक्रनिर्जये । येनाक्रान्त महीचक्रम् प्राक्पश्चात्तिरिकात्[8] ॥१६०॥
खचराद्रिरलघ्योऽपि हेलयालघितोऽमुना । कीर्ति स्वलाञ्जिनीवास्य दृष्टा हैमाचलस्थले ॥१६१॥

है, जिसकी दिग्विजयके समय चारो ओर उठी हुई कबूतरके गलेके समान कुछ कुछ मलिन सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओके साथ साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओको वश करनेवाले जिसका चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल यश कुलपर्वतोके मध्यभागमें देव लोग बार-बार गाते है, दिग्विजयके समय चक्रके पीछे पीछे चलनेसे थकी हुई जिसकी सेनाओने हिमवान् पर्वतकी तराईको उल्लघन कर दिशाओके अन्तभागमें विश्राम लिया है, जो श्री नाभिराजका पौत्र है, श्री वृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खण्डोसे सुशोभित इस समस्त पृथिवीका पालन किया है और जो समस्त राजाओको जीतनेवाला है ऐसे मुझ भरतने लक्ष्मीको नश्वर समझकर जगत्में फैलनेवाली अपनी कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापित किया है ॥१४६–१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्तीने अपनी प्रशस्ति स्वय अक्षरोके द्वारा लिखी, जिस समय चक्रवर्ती उक्त प्रशस्ति लिख रहे थे उस समय देव लोग उनपर फूलोकी वर्षा कर रहे थे ॥१५५॥ वहाँ जोर जोरसे शब्द करते हुए गम्भीर नगाडे बज रहे थे, आकाशमें देव लोग जय जय इस प्रकार सैकडो आशीर्वाद रूप शब्दोका उच्चारण कर रहे थे ॥१५६॥ और गङ्गा नदीके जलकी बूदोके समूहको धारण करता हुआ तथा कल्पवृक्षोके सघन वनको हिलाता हुआ वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१५७॥ भरतके नामके अक्षरोकी पक्ति केवल शिलाकी दीवालपर ही नही लिखी गई थी किन्तु उन्होने काले चिन्हके बहानेसे चन्द्रमाके मण्डलमें भी लिख दी थी। भावार्थ–चन्द्रमाके मण्डलमें जो काला काला चिह्न दिखाई देता है वह उसका चिह्न नही है, किन्तु भरतके नामके अक्षरोकी पक्ति ही है, यहा कविने अपह्नुति अलकारका आश्रय लेकर वर्णन किया है ॥१५८॥ अन्य प्रशस्तियोके समान भरतकी इस प्रशस्तिमें भी लेख, साक्षी और उपभोग करने योग्य क्षेत्र ये तीनो ही बातें थी क्योकि लेख तो वृषभाचलपर लिखा ही गया था, दिग्विजय करनेमें छह खण्ड भरत उपभोग करने योग्य क्षेत्र था और देव लोग साक्षी थे ॥१५९॥ अहा, यह चक्रवर्ती बडा प्रतापी है क्योकि इसने समस्त दिशाओको जीतते समय पूर्व पश्चिम और दक्षिण तीनो समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डलपर आक्रमण किया है–समस्त भरत को अपने वश कर लिया है। यद्यपि विजयार्ध पर्वत उल्लघन करने योग्य नही है तथापि इसने

---

१ चक्रानुगमनेन खिन्नानि । २ गमनशीलाम् । ३ जयनशील । ४ विसरणशीलाम् । ५ व्यलिखत् प०, अ०, द०, स० । ६ आकीर्ण । ७–राध्मात स० । ८ पत्रम् । ९ पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रपर्यन्तम् ।

इति दृष्टापदानं[1] तं तुष्टुवुर्नाकिनायकाः । दिष्ट्या[2] स्म वर्धयन्त्येनं साङ्गनाश्च नभश्चराः ॥१६२॥
भूयः प्रोत्साहितो देवैः जयोद्योगमनूनयन्[3] । गङ्गापातमभीयाय[4] व्याहूत इव तत्स्वनैः ॥१६३॥
गलद्गङ्गाम्बुनिष्ठ्यूताः शीकरा मदशीकरैः । सम्मूर्च्छन्[5] नृपेभाणां[6] व्यात्युक्षीं[7] वा सिसांसवः[8] ॥१६४॥
पतद्गङ्गाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुकः । प्रत्यग्राहि स तत्पाते गङ्गादेव्या धृतार्घया ॥१६५॥
सिंहासने निवेश्यैनं प्राङ्मुखं सुखशीतलैः । सोऽभ्यषिञ्चज्जलैर्गाङ्गैः शशाङ्ककरहासिभिः ॥१६६॥
कृतमङ्गलसङ्गीतनान्दीतूर्यरवाकुलम् । निर्वर्त्य मज्जनं जिष्णुः भेजे मण्डनमप्यतः ॥१६७॥
प्रयास्मै व्यतरत् प्रांशु[10] रत्नांशुस्थगिताम्बरम् । सेन्द्रचापमिवाद्रीन्द्रशिखरं हरिविष्टरम् ॥१६८॥
चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो जीवतासन्दताद् भवान् । इत्यनन्तरमाशास्य तिरोऽभूत् सा विसर्जिता ॥१६९॥
अनुगङ्गातटं सैन्यैः प्राव्रजन्विषयाधिपैः । सिषेवे पवमानैश्च गङ्गाम्बुकणवाहिभिः ॥१७०॥
गङ्गातटवनोपान्तनिवेशेषु विशाम्पतिम् । सुखयामासुरन्वीपमाया[11]ता वनमारुताः[12] ॥१७१॥

उसे लीला मात्रमें ही उल्लंघन कर दिया है और इसकी कीर्ति स्थलकमलिनीके समान हिमालय पर्वतकी शिखरपर आरूढ़ हो गई है । इस प्रकार जिनका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे उन भरत महाराजकी बड़े बड़े देव भी स्तुति कर रहे थे और अपनी अपनी स्त्रियोंसे सहित विद्याधर लोग भी भाग्यसे उन्हें बढ़ा रहे थे अर्थात् आशीर्वाद दे रहे थे ॥१६०–१६२॥

तदनन्तर–जिन्हें देवोंने फिर भी उत्साहित किया है ऐसे महाराज भरत अपने विजयके उद्योगको कम न करते हुए गङ्गापात (जहाँ हिमवान् पर्वतसे गङ्गा नदी पड़ती है उसे गङ्गापात कहते हैं) के सम्मुख इस प्रकार गये मानो उसके शब्दोंके द्वारा बुलाये ही गये हों ॥१६३॥ ऊपरसे गिरती हुई गङ्गा नदीके जलके समीपसे उछटे हुए छोटे छोटे जलकण राजाओंके हाथियोंके मदकी बूंदोंके साथ इस प्रकार मिल रहे थे मानो वे दोनों परस्पर फाग ही खेलना चाहते हों अर्थात् एक दूसरेको सींचना ही चाहते हों ॥१६४॥ पड़ते हुए गङ्गाजलकी भंवरोंसे जिसका कौतूहल बढ़ रहा है ऐसे भरतका गङ्गापातके स्थानपर अर्घ धारण करनेवाली गङ्गा देवीने सामने आकर सत्कार किया ॥१६५॥ गङ्गादेवीने चक्रवर्ती भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सिंहासनपर बैठाया और फिर सुखकारी, शीतल तथा चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाले गङ्गा नदीके जलसे उनका अभिषेक किया ॥१६६॥ जिसमें मंगल संगीत, आशीर्वाद वचन और तुरही आदि बाजोंके शब्द मिले हुए हैं ऐसे अभिषेकको समाप्त कर विजयशील भरतने उसी गङ्गादेवीसे सब वस्त्राभूषण भी प्राप्त किये ॥१६७॥ तदनन्तर देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर लिया है और जो इन्द्रधनुष सहित सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान जान पड़ता है ऐसा एक सिंहासन गङ्गादेवीने भरतके लिये समर्पित किया ॥१६८॥ और फिर 'सदा बढ़नेवाले हे महाराज भरत, आप चिर कालतक बढ़ते रहिये, चिरकाल तक जीवित रहिये और चिरकाल तक आनन्दित रहिये अथवा समृद्धिमान् रहिये' इस प्रकार आशीर्वाद देकर भरत महाराजके द्वारा विदा की हुई वह गङ्गादेवी तिरोहित हो गई ॥१६९॥

अथानन्तर–सेनाके साथ साथ गङ्गाके किनारे किनारे जाते हुए भरतकी अनेक देशोंके स्वामी-राजाओंने और गङ्गा नदीके जलकी बूंदोंको धारण करनेवाले वायुने सेवा की थी ॥१७०॥ गङ्गा किनारेके वनोंके समीपवर्ती भागोंमें पीछेसे आता हुआ वनका वायु भरतको

---

१ दृष्टसामर्थ्यम् । दृष्टावदानं प०, अ० । दृष्टवदानं स० । २ भाग्येन । ३ अपूर्णं पूर्णम् संवर्द्धयन्नित्यर्थः । ४ अभिमुखमगच्छत् । ५ प्रमरन्तिस्म । ६ नृपगजानाम् । ७ परस्परसेचनम् । ८ सिस्नासितुमिच्छवः । ९ ददौ । १० उन्नतं । ११ अनुगच्छन्तः । १२ वनमारुताः ल० ।

वने वनचरस्त्रीणाम् उद्धुन्वन्नलकावलीः । मुहुस्स्खलन् कलापेषु नृत्यतां वनशिखण्डिनाम् ॥१७२॥
विलोलितालिरा धुन्वन्नुत्फुल्ला वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मरुदाववौ ॥१७३॥
प्रतिप्रयाणमानम्रा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमाराधयाञ्चक्रुः आक्रान्ता जयसाधनैः ॥१७४॥
कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनाम् उत्तरां भरतावनिम् । प्रत्यासीददथो जिष्णुः विजयार्द्धाचलस्थलीम्[1] ॥१७५॥
तत्रावासितसैन्य[2] च सेनान्यं[3] प्रभुरादिशत् । अपावृत[4] गुहाद्वारं प्राच्यखण्डं[5] जयेत्यरम्[6] ॥१७६॥
यावदभ्येति सेनानीम्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किलातीयुर्मासाः षट् सुखसंगिनः ॥१७७॥
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः निवसन्तोऽम्बरेचराः । विद्याधराधिपैः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहाययुः[7] ॥१७८॥
विद्याधरधराधीशैरारादानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाव्याजादाज्ञास्य शिरसा धृता ॥१७९॥
नमिश्च विनमिश्चैव विद्याधर[8]धराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या विभुं[9] द्रष्टुमुपेयतुः ॥१८०॥
विद्याधरधरासारधनोपायनसम्पदा । तदुपानीतया[10]ऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्धृतिः ॥१८१॥
तदुपाहृतरत्नौघैः कन्यारत्नपुरःसरैः । सरिदोघैरिवोदन्वान् आपूर्यत तदा प्रभुः ॥१८२॥
स्वसारं[11] च नमेर्धन्यां सुभद्रां नामकन्यकाम् । उदुवाह[12] स लक्ष्मीवान् कल्याणैः खचरोचितैः ॥१८३॥

को सुखी कर रहा था ॥१७१॥ वहाके वनमे भीलोकी स्त्रियोके केशोके समूहको उड़ाता हुआ, नृत्य करते हुए वनमयूरोकी पूछपर बार-बार टकराता हुआ, भ्रमरोको इधर-उधर भगाता हुआ, फूली हुई वनकी लताओको कुछ कुछ हिलाता हुआ और पहाडी झरनोके स्पर्शसे शीतल हुआ वायु चारो ओर बह रहा था ॥१७२-१७३॥ विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दबाय हुए उन देशोमे निवास करनेवाले राजा लोग नम्र होकर प्रत्येक पडावपर महाराज भरतकी आराधना करते थे ॥१७४॥ इस प्रकार उत्तर भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको वशकर विजयी महाराज भरत फिरसे विजयार्ध पर्वतकी तराईमे आ पहुँचे ॥१७५॥ वहाँ पर उन्होने सेना ठहराकर सेनापतिके लिये आज्ञा दी कि 'गुफाका द्वार उघाडकर शीघ्र ही पूर्व खण्डकी विजय प्राप्त करो' ॥१७६॥ जब तक सेनापति म्लेच्छराजाओको जीतकर वापिस आया तब तक सुखपूर्वक रहते हुए महाराज भरतके छह महीने वहीपर व्यतीत हो गये ॥१७७॥ विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधर लोग अपने अपने स्वामियोके साथ महाराज भरतका दर्शन करनेके लिये वहीपर आये ॥१७८॥ दूरसे ही मस्तक झुकानेवाले विद्याधर राजाओने नखोकी किरणोके समूहके बहानेसे महाराज भरतकी आज्ञा अपने शिरपर धारण की थी। भावार्थ—नमस्कार करते समय विद्याधरराजाओके मस्तक पर जो भरत महाराजके चरणोके नखोकी किरणे पडती थी उनसे वे ऐसे मालूम होते थे मानो भरतकी आज्ञा ही अपने मस्तकपर धारण कर रहे हो ॥१७९॥ नमि और विनमि दोनो ही विद्याधरोके राजा अपने मुख्य धनकी सामग्रीके साथ भरतके दर्शन करनेके लिये समीप आये ॥१८०॥ नमि और विनमि जो अन्य किसीको नही मिलनेवाली विद्याधरोके देशकी मुख्य धनरूप सामग्री भेटमे लाये थे उससे महाराज भरतको भारी सतोष हुआ था ॥१८१॥ जिस प्रकार नदियोके प्रवाहसे समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार उस समय नमि और विनमिके द्वारा उपहारमें लाये हुए कन्यारत्न आदि और रत्नोके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा पूर्ण हो गई थी ॥१८२॥ श्रीमान् भरतने राजा नमिकी बहिन सुभद्रा नामकी उत्तम कन्याके साथ

तां मनोज्ञ[1]रसस्येव स्रुतिं संप्राप्य चक्रभृत् । स्वं मेने सफलं जन्म परमानन्दनिर्भरः ॥१८४॥
तावन्निर्जितनिःशेषम्लेच्छराजबलो बलैः । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभुमैक्षत ॥१८५॥
कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत् प्रत्यायातुमपाङ्महीम्[2] ॥१८६॥
जयप्रयाणशंसिन्यः तदाभेर्यः प्रदध्वनुः । विष्वग्बलार्णवे क्षोभम् आतन्वन्त्यो महीभृताम् ॥१८७॥
तां काण्डकप्रपाताख्यां प्रागेवोद्घाटितां गुहाम् । प्रविवेश बलं जिष्णोः चक्ररत्नपुरोगमम् ॥१८८॥
गङ्गापगोभयप्रान्तमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहां सेना कृतद्वारां चमूभृता[3] ॥१८९॥
मुच्यमाना गुहा सैन्यैः चिरादुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोधान्निःसृत्योज्जीवितेव सा ॥१९०॥
नाट्यमालामरस्तत्र रत्नार्घैः प्रभुमर्घयत् । प्रत्युद्गम्य गुहाद्वारि पूर्णकुम्भादिमंगलैः ॥१९१॥
कृतोपच्छन्दनं[4] चामुं नाट्यमालं सुरर्षभम्[5] । व्यसर्जयद्यथोद्देशं[6] सत्कृत्य भरतर्षभः ॥१९२॥
कृतोदयमिनं ध्वान्तात्परितो गगनेचराः । परिचेरुर्नभोमार्गम् आरुध्य धृतसायकाः ॥१९३॥

मालिनीवृत्तम्

नमिविनमिपुरोगैरन्वितः खेचरेन्द्रैः खचरगिरिगुहान्तर्ध्वान्तमुत्सार्य दूरम् ।
रविरिव किरणौघैर्द्योतयन्दिग्विभागान् निधिपतिरुदियाय[8] प्रीणयन् जीवलोकम् ॥१९४॥
सरसकिसलयान्तःस्पन्दमन्दे मुरस्त्रीस्तनतटपरिलग्नक्षौमसंक्रान्तवासे[9] ।
सरति[10] मरुति मन्दं कन्दरेष्वद्रिभर्तुः निधिपतिशिबिराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥१९५॥

विद्याधरोंके योग्य मंगलाचारपूर्वक विवाह किया ॥१८३॥ रसकी धाराके समान मनोहर उस सुभद्राको पाकर उत्कृष्ट आनन्दसे भरे हुए चक्रवर्तीने अपना जन्म सफल माना था ॥१८४॥ इतनेमें ही जिसने अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेच्छ राजाओंकी सेना जीत ली है ऐसे सेनापतिने जयलक्ष्मीको आगे कर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१८५॥ जिसने अपना कार्य पूर्ण किया है ऐसे सेनापतिका सन्मान कर और आये हुए म्लेच्छ राजाओंको विदाकर सम्राट् भरतेश्वर दक्षिणकी पृथिवीकी ओर आनेके लिये तैयार हुए ॥१८६॥ उस समय विजयके लिये प्रस्थान करनेकी सूचना देनेवाली भेरियाँ राजाओंकी सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करती हुई चारों ओर बज रही थीं ॥१८७॥ चक्ररत्न जिसके आगे चल रहा है ऐसी भरतकी सेनाने पहलेसे ही उघाड़ी हुई काण्डकप्रपात नामकी प्रसिद्ध गुफामें प्रवेश किया ॥१८८॥ उस सेनाने गङ्गा नदीके दोनों किनारोंपर की दो बड़ीबड़ी गलियोंमेंसे, सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहलेसे ही खोल दिया गया है ऐसी उस गुफाको पार किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोड़ी हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो और वह सेना भी गुफाके रोधसे निकलकर ऐसी मालूम होती थी मानो फिरसे जीवित हुई हो ॥१९०॥ वहाँ नाट्यमाल नामके देवने दक्षिण गुफाके द्वारपर पूर्णकलश आदि मंगलद्रव्य रखकर तथा रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरत महाराजकी अगवानी की थी—सामने आकर सत्कार किया था ॥१९१॥ भरत महाराजने अनेक प्रकारकी स्तुति करनेवाले उस नाट्यमाल नामके श्रेष्ठ देवका सत्कार कर उसे अपने स्थानपर जानेके लिये विदा कर दिया ॥१९२॥ धनुष बाण धारण करनेवाले विद्याधर चारों ओरसे आकाशमार्गको घेरकर, सूर्यके समान अन्धकारसे परे रहकर उदय होनेवाले चक्रवर्तीकी परिचर्या करते थे ॥१९३॥ जिनमें नमि और विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरों सहित तथा विजयार्ध पर्वतकी गुफाके भीतरी अन्धकारको दूर हटाकर सूर्यके समान किरणोंके समूहसे दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका अधिपति चक्रवर्ती समस्त जीवलोकको आनन्दित करता हुआ उदित हुआ अर्थात् गुफाके बाहर निकला ॥१९४॥ रम-

---

१ मनोज्ञां रसस्येव । २ दक्षिणभूमिम् । ३ सेनान्या । ४ कृतसान्त्वनम् । ५ मुख्यदेवम् । ६ निजदेशमनतिक्रम्य । ७ पुरःसरैः । ८ उदेति स्म । ९ सुगन्धे । १० वाति सति ।

किसलयपुटभेदी देवदारुद्रुमाणाम् असकृदमरसिन्धोः सीकराण्याधुनानः ।
श्रमसलिलमुष्णा[1]दुष्णसम्भूतं[2] जिष्णोः खचरगिरितटान्तात्[3] आपतन्[4] मातरिश्वा ॥१९६॥
सपदि विजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखण्डः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रात्[5] ।
जिनमिव जयलक्ष्मीं सन्निधानं निधीनां पति[6]मुपतस्थौ नम्रमौलिश्चमूभृत् ॥१९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य च [7]सुरं प्रालेयशैलेशिनं देव्यौ च प्रणमय्य दिव्यमुभयं स्वीकृत्य भद्रासनम् ।
हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्खण्डभूषां भुवम् ॥१९८॥
पुण्यादित्ययमाहिमाद्र्यगिरेरातोयधेः प्राक्तना[10]दाचापा[11]च्चपयोनिधेर्जलनिधेरा च प्रतीच्यादितः ।
चक्रे क्ष्मामरिचक्र[12]भीकरकरश्चक्रेण चक्री वशे तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियो जैने मते सुस्थिताः ॥१९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥३२॥

युक्त नवीन कोमल पत्तोके भीतर प्रवेश करनेसे मन्द हुआ तथा देवांगनाओके स्तनतटपर लगे हुए रेशमी वस्त्रोंमें जिसकी सुगन्धि प्रवेश कर गई है ऐसा वायु जिस समय उस विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंमें धीरे धीरे बह रहा था उस समय निधियोके स्वामी चक्रवर्तीकी सेनाके डेरोकी रचना शुरू हुई थी ॥१९५॥ देवदारु वृक्षोके कोमल पत्तोके सपुटको भेदन करनेवाला तथा गङ्गा नदीके जलकी बूदोको बार-बार हिलाता हुआ और विजयार्ध पर्वतके किनारेके अन्त भागसे आता हुआ वायु गर्मीसे उत्पन्न हुए महाराज भरतके पसीनेको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीके द्वारा आज्ञा प्राप्त होने मात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाओके द्वारा बहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खण्ड जीत लिये है और जो जयलक्ष्मीको ले आया है ऐसा सेनापति अपना मस्तक झुकाये हुए, निधियोके स्वामी भरत महाराजके समीप आ उपस्थित हुआ। उस समय भरत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान मालूम होते थे क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके समीप सदा जयलक्ष्मी विद्यमान रहती है उसी प्रकार उनके समीप भी जयलक्ष्मी सदा विद्यमान रहती थी ॥१९७॥ विजयी भरतने (चिलात और आवर्त नामके) दोनो म्लेच्छराजाओ को जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही समय मे जीता, तथा (गङ्गा सिन्धु नामकी) दोनो देवियोसे प्रणाम कराकर (उनके द्वारा दिये हुए) दो दिव्य भद्रासन स्वीकृत किये, और विजयार्ध पर्वतको लीला मात्रमें जीतकर उसके समीपवर्ती राजाओको जीतते हुए उन्होंने सेनापतिके साथ-साथ छह खण्डोसे सुशोभित भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवी को जीता ॥१९८॥ जिनका हाथ अथवा टैक्स शत्रुओके समूहमें भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके द्वारा पुण्यसे ही हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्व दिशाके समुद्र तक और दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथिवी अपने वश की थी। इसलिये बुद्धिमान् लोगोको जैन मतमें स्थिर रहकर सदा पुण्य उपार्जन करना चाहिये ॥१९९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी
भाषानुवादमें उत्तरार्ध भरतकी विजयका वर्णन करनेवाला
बत्तीसवा पर्व समाप्त हुआ।

---

१ अपनयन्। २ उष्णगन्धजातम्। ३ आगच्छन्। ४ आगतान्। ५ नायम्। ६ प्राप्तयानिरयं। ७ गाधिदेव म०, द०। ८ हिमवद्गिरिशानम्। ९ गङ्गासिन्धुदेव्यौ। १० पूर्वात्। ११ दक्षिणसमुद्रात्। १२ [illegible]। [illegible]।

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व

श्रीमानानमिताशेषनृपविद्याधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृतत्स्वां पुरीं प्रति ॥१॥
नवास्य निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धैर्विद्याधरैः सार्द्धं षट्खण्डधरणीभुजः[3] ॥२॥
जित्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणाम्भोधिमेखलाम् । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगरं प्रति ॥३॥
प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्बुदा । निर्ययौ विजयार्द्धाद्रितटाद् गङ्गेव सा चमूः ॥४॥
करिणीनौभिरश्वीयकल्लोलैर्जनतोर्मिभिः । दिशो रुन्धन्बलाम्भोधिः प्रससर्प स्फुरद्ध्वनिः ॥५॥
चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः । बृंहितैश्च गजेन्द्राणां शब्दाद्वैतं तदाभवत् ॥६॥
भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो मेदुरामन्द्रनिःस्वनाः । अकालस्तनिताशङ्काम् आतन्वानाः शिखण्डिनाम् ॥७॥
तदाऽभूद्रुद्धमश्वीयं हास्तिकेन प्रसर्पता । न्यरोधि पत्तिवृन्दं च प्रयान्त्या रथकट्यया ॥८॥
पादातकृतसंबाधात् पथः[4] पर्यन्तपातिनः[5] । हया गजा रथाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥९॥
पर्वतोदग्रमारूढो गजं विजयपर्वतम् । प्रतस्थे विचलन्मौलिः चक्री शक्रसमद्युतिः ॥१०॥
अनुगङ्गातटं देशान् विलङ्घ्य ससरिद् गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्यं[6] प्रापत्तच्चक्रिणो बलम् ॥११॥

अथानन्तर–जिन्होंने समस्त राजा विद्याधर और देवोंको नम्रीभूत किया है तथा समस्त दिग्विजयमें सफलता प्राप्त की है ऐसे श्रीमान् चक्रवर्ती भरत अपनी अयोध्यापुरीके प्रति लौटे ॥१॥ इन महाराज भरतको नौ निधियां और चौदह रत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरोंके साथ साथ छह खण्डोंके समस्त राजा भी इनके वश हुए थे ॥२॥ लवण समुद्र ही जिसकी मेखला है ऐसी इस समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अपने अयोध्या नगरकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥ ढुलते हुए चमर ही जिसकी लहरें हैं और ऊपर चमकते हुए छत्र ही जिसके बबूले हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्ध पर्वतके तटसे निकली ॥४॥ हथिनीरूपी नावोंसे, घोड़ोंके समूहरूपी लहरोंसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी छोटी तरङ्गोंसे दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारों ओर फैल गया ॥५॥ उस समय चलते हुए रथोंके पहियोंके चीत्कार शब्दसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे और हाथियोंकी गर्जनासे शब्दाद्वैत हो रहा था अर्थात् सभी ओर एक शब्द ही शब्द नजर आ रहा था ॥६॥ जिनका शब्द अतिशय गम्भीर है ऐसी प्रस्थान-कालको सूचित करनेवाली भेरियां मयूरोंको असमयमें ही बादलोंके गरजनेकी शंका बढ़ाती हुई शब्द कर रही थीं ॥७॥ उस समय दौड़ते हुए हाथियोंके समूहसे घोड़ोंका समूह रुक गया था और चलते हुए रथोंके समूहसे पैदल चलनेवाले सिपाहियोंका समूह रुक गया था ॥८॥ पैदल सेनाके द्वारा जिन्हें कुछ बाधा की गई है ऐसे हाथी घोड़े और रथ–थोड़ी दूरतक कुछ तिरछे चलकर ठीक रास्तेपर आ रहे थे। भावार्थ–सामने पैदल मनुष्योंकी भीड़ देखकर हाथी घोड़े और रथ बगलसे बरककर आगे निकल रहे थे ॥९॥ जिनका मुकुट कुछ कुछ हिल रहा है और जिनकी कान्ति इन्द्रके समान है ऐसे चक्रवर्तीने पर्वतके समान ऊंचे विजय पर्वत नामके हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥१०॥ चक्रवर्तीकी वह सेना गङ्गा नदीके किनारे किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतोंको उल्लंघन करती हुई

---

१ सिता विता–न०, इ०, द०, अ०, स०, प० । २ षट्खण्डस्थितमहीपाला । ३ मेघध्वनि । ४ मार्गान् । मयाधान्य अ०, प०, स०, इ०, द० । ५ मार्गं विहाय पर्यन्ते वर्तमाना भूत्वा । ६ समारचयि-यनम् ग० ।

कैलासाचलमभ्यर्णम् अथालोक्य रथाङ्गभृत् । निवेश्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ॥१२॥
प्रयान्तमनुजग्मुस्तं भरतेशं महाद्युतिम् । रोचिष्णुमौलयः क्ष्मापाः सौधर्मेन्द्रमिवामराः ॥१३॥
अचिराच्च [1]तमासाद्य शारदाम्बुदसच्छविम् । जिनस्येव यशोराशिम् अभ्यनन्दद्विशाम्पतिः ॥१४॥
निपतन्निर्झरारावैः आह्वयन्तमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्यारात् सेवध्वमिति सादरम् ॥१५॥
मरुदान्दोलितोदग्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यन्तं विकासिकुसुमस्मितैः ॥१६॥
तटनिर्झरसम्पातैः दधतं पाद्यमिवोद्यतम् । वन्दारोर्[2]भव्यवृन्दस्य विश्वगापततो[3] जिनम् ॥१७॥
शिखरोल्लि[4]खिताम्भोदपटलोद्गी[5]र्णवारिभिः । दावभीत्येव सिञ्चन्तं स्वपर्यन्तलतावनम् ॥१८॥
शुचिग्राव[6]विनिर्माणैः शिखरैः स्थगिताम्बरैः । गतिप्रसरमर्कस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥१९॥
क्वचित् किन्नरसम्भोग्यं[7] क्वचित् पन्नगसेवितम् । क्वचिच्च [8]खचराक्रीडं[9] वनैराविष्कृतश्रियम् ॥२०॥
क्वचिद्विरलनीलांशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशाङ्कमण्डलाशङ्काम् आतन्वन्तं[10] नभोजुषाम् ॥२१॥
हरिन्मणिप्रभाजालैः भाजालैश्च प्रभाश्मनाम्[11] । क्वचिदिन्द्रधनुर्लेखाम् आलिखन्तं नभोऽङ्गणे ॥२२॥

क्रमसे कैलास पर्वतके समीप जा पहुची ॥११॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने कैलास पर्वतको समीप ही देखकर सेनाओको वही पासमे ठहरा दिया और स्वय जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेके लिये प्रस्थान किया ॥१२॥ जिस प्रकार सौधर्म इन्द्रके पीछे पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते है उसी प्रकार आगे आगे जाते हुए अतिशय कान्तिमान् महाराज भरतके पीछे पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजा लोग जा रहे थे ॥१३॥ जिसकी कान्ति शरदृऋतुके बादलोके समान है और इसीलिये जो जिनेन्द्र भगवान्‌के यशके समूहके समान जान पडता है ऐसे उस कैलास पर्वतको बहुत शीघ्र पाकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥१४॥ जो पडते हुए झरनोके शब्दोसे ऐसा जान पडता है मानो समीप आकर तीनो जगत्‌के गुरु भगवान् वृषभदेवकी सेवा करो इस प्रकार देव लोगोको आदरपूर्वक बुला ही रहा हो—जिनकी ऊँची ऊँची शाखाओके अग्रभाग वायुके द्वारा हिल रहे है और जिनपर फूले हुए फूल उनके मन्द हास्यके समान मालूम होते है ऐसे अपने किनारेपरके वृक्षोसे जो ऐसा जान पडता है मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रहा हो—जो किनारोपरसे झरनोके पडनेसे ऐसा जान पडता है मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना करनेके लिये चारो ओरसे आते हुए भव्य जीवोके समूहके लिये पैर धोनेके लिये जल देनेको ही उद्यत हुआ हो—जो शिखरोसे विदीर्ण हुए बादलोके समूहसे गिरते हुए जलसे ऐसा जान पडता है मानो दावानलके डरसे अपने समीपवर्ती लताओके वनको सीच ही रहा हो—जो स्फटिक मणिके सफेद पत्थरोसे बने हुए और आकाशको घेरनेवाले अपने ऊँचे ऊँचे शिखरोसे ऐसा जान पडता है मानो सूर्यकी गतिके फैलावको रोक ही रहा हो—जिनमे कही तो किन्नर जातिके देव सभोग कर रहे है, कही नागकुमार जातिके देव सेवा कर रहे है और कही विद्याधर लोग क्रीडा करते है ऐसे अनेक वनोसे जिसकी शोभा प्रकट हो रही है—जो कहीपर कुछ कुछ नीलमणियोकी किरणोसे मिले हुए स्फटिक मणियोके पत्थरोसे देवोको चन्द्रमण्डलकी आशका उत्पन्न करता रहता है। जो कहीपर हरे रगके मणियोकी प्रभाके समूहसे और स्फटिक मणियोकी प्रभाके समूहसे आकाशरूपी आगनमे इन्द्रधनुषकी रेखा लिख रहा था। कहीपर पद्मराग मणियोकी किरणोसे मिले हुए स्फटिक मणियोकी किरणोसे जिसके किनारेका समीपभाग कुछ कुछ लाली लिये हुए सफेद रगका हो गया है और

---

१ कैलासम् । २ वन्दनशीलस्य । ३ आगच्छत । ४ विदारित । ५ उद्गत । ६ स्फटिकपाषाण । ७ सम्भोगि द०, अ०, स० । ८ खेचरा—प० । ९ खचराणाम् आसमन्तात् क्रीडा येषु तानि । १० मानवान–द०, स०, अ०, म०, ल० । ११ पद्मरागाणाम् ।

पद्मरागांशुभिर्भिन्नैः[1] स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तश्वेततां प्राप्तैः[2] किलासिनमिव[3] क्वचित् ॥२३॥
क्वचिद्विश्लिष्टशैलेयपटलैर्बहुदद्रुणम्[4] । मृगेन्द्रनखरोल्लेखसहैर्गण्डोपलैस्ततम् ॥२४॥
क्वचिद् गुहान्तराद् गुञ्जन्मृगेन्द्रप्रतिनादिनो । तटीर्दधानमुद्वद्धमदं परिहृता गजैः ॥२५॥
क्वचित् सितोपलोत्सङ्गचारिणीरमराङ्गना । बिभ्राणं शरदभ्रान्तर्वर्तिनीरिव विद्युतः ॥२६॥
तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या परीतं भूभृतां पतिम् । स्वमिवालङ्घ्यमालोक्य चक्रपाणिरगान्मुदम् ॥२७॥
गिरेरधस्तले दूराद् वाहनादिपरिच्छदम् । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥२८॥
पद्भ्यामारोहतोऽस्याद्रिं नासीत् खेदो मनागपि । हितार्थिना हि खेदाय नात्मनीना[7] क्रियाविधिः ॥२९॥
आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिविनिर्मितैः । विविक्तैर्मणिसोपानैः स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥३०॥
अधित्यकासु[8] सोऽस्याद्रेः प्रस्थाय वनराजिषु । लम्भितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥३१॥
क्वचिदुत्फुल्लमन्दारवनवीथीविहारिणीः । विचिन्वन्[10] सुमनोभूषाः सोऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥
क्वचिद्वलात[?]ससुप्तनिजशावानुशायिनीः । मृगीरपश्यदारब्ध[11]मृदुरोमन्थमन्थराः ॥३३॥
क्वचिन्नि[12]कुञ्जसंसुप्तान् बृहतः शयु[13]पोतकान् । पुरीतत्[14]मिव रानद्रेरिवापश्यत्स पुञ्जितान् ॥३४॥
क्वचिद् गजमदामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददर्श हरिरारोपाद् दन्तिवप्रप्रदारकुरैः[15] ॥३५॥

इसलिये जो ऐसा जान पडता है मानो उसे किलास (कुष्ठ) रोग ही हो गया हो । जिनपर कहीं कहीं अनेक धातुओंके टुकडे टूट-टूटकर पडे हैं तथा जो सिंहोंके नखोंका आघात सहनेवाली हैं और इसलिये जो ऐसी जान पडती हैं मानो उनपर बहुतसा दाद हो गया हो ऐसी अनेक चट्टानों से जो व्याप्त हो रहा है । कहीं कहींपर जिनमें गुफाओंके भीतर गरजते हुए सिंहोंकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही है और इसीलिये जिन्हें मदोन्मत्त हाथियोंने छोड दिया है ऐसे अनेक किनारोंको जो धारण कर रहा है—और जो कहीं कहींपर शरद्‌ऋतुके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिज-लियोंके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवागनाओंको धारण कर रहा है —इस प्रकार अद्‌भुत शोभासे सहित उस कैलास पर्वतको देखकर चक्रवर्ती भरत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुए । और उसका खास कारण यह था कि वह चक्रवर्तीके समान ही अलंघ्य था और भूभृत अर्थात् पर्वतों (पक्षमें राजाओं) का अधिपति था ॥१५–२७॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वतके नीचे दूरसे ही सवारी आदि परिकरको छोडकर पैदल चलने लगे ॥२८॥ पैदल ही पर्वतपर चढते हुए भरतको थोडा भी खेद नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आत्माका हित करनेवाली क्रियाओंका करना खेद के लिये नहीं होता है ॥२९॥ स्वर्गकी सीढियोंके समान देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाई हुई पवित्र मणिमयी सीढियोंके द्वारा महाराज भरत उस कैलास पर्वतपर चढ रहे थे ॥३०॥ चढते चढते वे उस पर्वतके ऊपरकी भूमिपर जा पहुंचे और वहां उन्होंने वनकी पंक्तियोंमें वनकी शीतल वायुके द्वारा मानो अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया था ॥३१॥ वहां उन्होंने कहीं तो फूले हुए मन्दार वनकी गलियोंमें घूमती हुई तथा फूलोंके पवित्र आभूषण धारण किये हुई वनदेवियोंको देखा ॥३२॥ कहीं वनके भीतर अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई और धीरे धीरे रोमन्थ करती हुई हरिणियोंको देखा ॥३३॥ कहीं लतागृहोंमें सोते हुए और एक जगह इकट्ठे हुए अजगरके उन बडे बडे बच्चोंको देखा जो कि उस पर्वतकी अंतडियोंके समूहके समान जान पडते थे ॥३४॥ और कहींपर हाथियोंके मदसे सुवासित बडी बडी भारी चट्टानोंको हाथी

१ मिश्रितैः । २ पाण्डुरत्वम् । 'श्वेत रक्तस्तु पाटलः' इत्यभिधानात् । ३ किलासम् । 'सिध्मं किलासम्' इत्यभिधानात् । ४ शिलाजित्कुसुमस्तूपैः । ५ दद्रुरोगिणम् । 'दद्रुणो दद्रुरोगी स्यात्' इत्यभिधानात् । ६ स्फटिकशिलासमूह । ७ आत्महितः । ८ ऊर्ध्वभूमिषु । ९ प्राप्तिः । १० निचिन्वन् । ११ आरब्ध । १२ निकुञ्ज म०, द०, अ० प०, इ०, स० । १३ अजगरशिशून् । १४ अन्त्रसमूहान् । १५ दन्तोत्सव ।

किञ्चिदन्तरमारुह्य पश्यन्नद्रेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं च पुरोधसा ॥३६॥
पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहुविस्मयान् । रमन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादराः ॥३७॥
पर्याप्तमेतदेवास्य प्राभवं भुवनातिगम् । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरः ॥३८॥
महाद्रिरयमुत्सङ्गसङ्गिनी सरिदङ्गना. । शश्वद् बिभर्त्ति कामीव गलन्नीलजलांशुका ॥३९॥
क्रीडाहेतोरहिं[1]स्रोऽपि मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्घ्यान्मुञ्चत्यपारयन्[2] ॥४०॥
सर्वद्वन्द्व[3]सहान्सार्वान्[4] जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष[5] धत्तेऽधिमेखलम् ॥४१॥
हरीन्नखरनिर्भिन्नमदद्विरदमस्तकान् । निर्झरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः[6] ॥४२॥
धत्ते सानुचरान्[7] भद्रान् उच्चैर्वंशान्[8] स्ववग्रहान्[9] । वनद्विपानयं शैलो भवानिव महीभुज.[10] ॥४३॥
ध्वनतो घनमघातान्[11] शरभा रभसादमी । द्विरदाशङ्कयोत्पत्य पतन्तो यान्ति शोच्यताम् ॥४४॥
कपोलकषणस्रस्त[12]त्वचो मदजलाविला.[13] । द्विपानां वनसम्भोगं सूचयन्तीह[14] शाखिनः ॥४५॥

समझकर नखरूपी अकुरोसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ भरत महाराज कुछ दूर आगे चढकर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने अवसर पाकर नीचे लिखे अनुसार वचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उन प्रदेशोंको देखिये जिन पर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीडा कर रहे हैं ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर–सभीके गुरु भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमें रहनेवाली और जिनके नीले जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सदा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिंसक होनेपर भी केवल क्रीडा के लिये पर्वतकी गुफामेंसे एक बडे भारी सर्पको खींच रहा है परन्तु लम्बा होनेसे खींचनेके लिये असमर्थ होता हुआ उसे छोड भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोंको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पडते हैं क्योंकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियों आदिके युगल सहन करते हैं,–धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते हैं और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके संताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए झरनोंसे ऐसा जान पडता है मानो जिन्होंने अपने नखोंसे मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तक विदारण किये हैं ऐसे सिंहोंको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो–डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकों सहित, भद्र, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते हैं–उन्हें अपने आधीन रखते हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोंपर चलनेवाले, पीठपरकी उच्च रीढसे युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोंको धारण करता है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोंको समझकर हाथी समझकर उनपर उछलते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥४४॥ कपोलोंके घिसनेसे जिनकी छाल घिस

शाखामृगा[1] मृगेन्द्राणां गर्जितैरिह तर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥
मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनम् । तृणाग्रकवलग्रासिकुरङ्गकुलसङ्कुलम् ॥४७॥
इतश्च हरिणारातिकठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥
जरज्जरन्त[3]श्रृङ्गाग्रक्षतवल्मीकरोधसः[4] । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः[5] ॥४९॥
मृगैः प्रविष्टवेशान्तैर्वंशस्तम्बोपगैर्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रान्तं वनमेतद् भयानकम् ॥५०॥
वनप्रवेशिभिर्नित्यं नित्यं स्थण्डिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्रीन्द्रो मृगैर्मुनिगणैरपि ॥५१॥
इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं धराधरः । सन्निधानाज्जिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥
गजं पश्य मृगेन्द्राणां सवासमिह[8] कानने । नखरक्षतमार्गेषु[9] स्वैरमास्पृशतामिमान् ॥५३॥
[10]चारणाध्युषितानेते गुहो[11]त्सङ्गानशङ्किताः । विशन्त्यनुगताः शावैः पाकसत्त्वैः[12] समं मृगाः[13] ॥५४॥
अहो परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयाता[14] मुनीन्द्राणाम् अज्ञातभयसम्पदाम् ॥५५॥
सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो[15] नूनं स्वयमर्थनामभिः[16] । पुनरष्टापदख्याति पुरैति[17] त्वदुपक्रमम्[18] ॥५६॥
स्फुरन्मणितटोपान्तं तारकाचक्रमापतत्[19] । न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तत्रोषितद्युमण्डलम् ॥५७॥

गई है और जो मदरूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीडाको साफ साफ सूचित कर रहे हैं ॥४५॥ इधर देखिये, सिंहोंकी गर्जनासे डरे हुए ये बन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोंमें बैठे हुए हैं ॥४६॥ यह वन इधर तो बड़े बड़े मुनियोंके पाठ करनेके शब्दोंसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका ग्रास खानेवाले हरिणोंके समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना पीना छोड़कर हाथियोंके समूह भाग रहे हैं ॥४८॥ इधर, जिनमें वृद्ध जंगली भैंसाओंने सींगोंकी नोकसे वामियोंके किनारे खोद दिये हैं और सूअरोंने छोटे छोटे तालाब खोद डाले हैं ऐसे ये सुन्दर सुन्दर वनके प्रदेश हैं ॥४९॥ छोटे छोटे तालाबोंमें घुसे हुए हरिणों और बाँसकी झाड़ियोंके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोंसे साफ साफ सूचित होता है कि इस भयंकर वनपर अभी अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमें प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोंके समूह इस वनको कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयंकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमें सिंहोंका हाथियोंके साथ सहवास देखिये, ये सिंह अपने नखोंसे किये हुए हाथियोंके घावोंका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे हैं ॥५३॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे चल रहे हैं ऐसे हरिण, सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवोंके साथ साथ चारण मुनियोंसे अधिष्ठित गुफाओंमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओंके समूह भी, जिन्हें वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे पीछे फिर रहे हैं ॥५५॥ सार्थक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोंसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़नेके बाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोंका समूह इन मणियोंकी किरणोंमें अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नहीं हो रहा है। आकाश-

---

१ मर्कटाः । २ सिंह । ३ वृद्धमहिष । ४ वामलूरस्य [illegible] इत्यभिधानात् । ५ अपसरांसि । ६ पर्वतं । [illegible] समीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतमार्गेषु । १० [illegible] । ११ [illegible] १२ सिंहशार्दूलादिक्रूरमृगैः । १३ हरिणादयः । १४ [illegible] । १५ [illegible] । [illegible]
१७ भविष्यत्काले आगमिष्यति । १८ [illegible]

ज्वलत्योषधिजालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नर । तमोविशङ्कयात्राद्रे इन्द्रनीलमयीस्तटी ॥५८॥
हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानत्र भूधरे । तृणाङ्कुरधियोपेत्य मृगा यान्ति विलक्षताम्[1] ॥५९॥
सरोजराग[2]रत्नांशुच्छुरिता[3] वनराजय । तता सन्ध्यातपेनेव पुष्णन्तीह परां श्रियम् ॥६०॥
सूर्यांशुभि परामृष्टा सूर्यकान्ता ज्वलन्त्यमी । प्रायस्तेजस्विसम्पर्कस्तेज पुष्णाति[4] तादृशाम् ॥६१॥
इहेन्दुकरसंस्पर्शात्प्रक्षरन्तोऽप्यनुक्षपम्[5] । चन्द्रकान्ता न हीयन्ते[6] विचित्रा पुद्गलस्थिति ॥६२॥
सुराणामभिगम्यत्वात् सिंहासनपरिग्रहात्[7] । महत्त्वादचलत्वाच्च गिरिरेव जिनायते ॥६३॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशनिर्मलोदारविग्रह । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिप ॥६४॥
इति शंसति[8] तस्याद्रे परां शोभां पुरोधसि । सुखाद्भूत[9] इवानन्दं परं प्राप परन्तप[10] ॥६५॥
किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य प्रसन्नेनान्तरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवर ॥६६॥
निपतत्पुष्पवर्षेण दुन्दुभीनां च निस्वनै । विदाम्बभूव[11] लोकेशम् अभ्यासकृतसन्निधिम्[12] ॥६७॥

किनारेके समीप सचार करते हुए नक्षत्रोके समूहपर मणियोकी कान्ति पड रही है जिससे वे मणियोके समान ही जान पडते हैं, पृथक् रूपसे दिखाई नही देते हैं ॥५७॥ यद्यपि यहाँ रात्रि के समय औषधियोका समूह प्रकाशमान रहता है तथापि किन्नर जातिके देव अधकारकी आशका से इन्द्रनील मणियोके बने हुए इस पर्वतके किनारोके सन्मुख नही जाते हैं ॥५८॥ इस पर्वत पर हरित मणियोके बने हुए किनारोकी फैलती हुई किरणोको हरी घासके अकुर समझकर हरिण आते हैं परन्तु घास न मिलनेसे बहुत ही आश्चर्य और लज्जाको प्राप्त होते हैं ॥५९॥ इधर पद्मराग मणियोकी किरणोसे व्याप्त हुई वनकी पक्तियाँ ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही हैं मानो उनपर सध्याकालकी लाल लाल धूप ही फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणोका स्पर्श पाकर जल रही हैं सो ठीक ही है क्योकि प्राय तेजस्वी पदार्थका सबध तेजस्वी पदार्थके तेजको पुष्ट कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर चन्द्रमाकी किरणोका स्पर्श होनेपर चन्द्रकान्त मणियोसे यद्यपि प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये कुछ भी कम नही होते सो ठीक ही है क्योकि पुद्गलका स्वभाव बडा ही विचित्र है ॥६२॥ अथवा यह पर्वत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान जान पडता है क्योकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके समीप देव आते हैं उसी प्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी सिंहासन अर्थात् सिंहके आसनोको स्वीकार किया है–इसपर जहाँ-तहाँ सिंह बैठे हुए हैं अथवा सिंह और असन वृक्ष स्वीकार किये हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव महान् अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी महान् अर्थात् ऊँचा है और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अचल अर्थात् अपने स्वरूपमे स्थिर हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अचल अर्थात् स्थिर है ॥६३॥ हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्माकी तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥६४॥ इस प्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब शत्रुओको सतप्त करनेवाले महाराज भरत इस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त हुए मानो सुखरूप ही हो गये हो ॥६५॥ विद्वानोमें श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्तसे कुछ ही आगे बढे थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पडा ॥६६॥ ऊपरसे पडती हुई पुष्पवृष्टिसे और दुन्दुभि बाजोके शब्दोसे उन्होने जान

१ विस्मयताम् । २ पद्मराग । ३ मिश्रिता । ४ वर्धयन्ति । ५ रात्रौ रात्रौ । ६ न कृशा भवन्ति । ७ हरिविष्टरस्वीकारात्, पक्षे सिंहानामासनवृक्षाणाञ्च स्वीकारात् । ८ स्तुति कुर्वति सति । ९ गुरावायत । १० पर शत्रून् तापयतीति परन्तपश्चक्री । ११ जानाति स्म । १२ समीपस्थितिम् ।

मन्दारकुसुमोद्गन्धिः आन्दोलितलतावनः । पवनस्तमभीयाय[1] प्रत्युद्यन्निव पावनः ॥६८॥
सुमनोवृष्टिरापप्तद् आपूरितनभोङ्गणा । विरजीकृतभूलोकैः समं शीतैरपां[2] कणैः ॥६९॥
[3]शुश्रुवे ध्वनिरामन्द्रो दुन्दुभीनां नभोऽङ्गणे । श्रुतः केकिभिरुद्ग्रीवैः घनस्तनितशङ्किभिः ॥७०॥
गुल्फदघ्न[4]प्रसूनौघसम्मर्दमृदुना पथा[5] । तमद्रिरोधमध्यास्त[6] प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥७१॥
ततोऽधिरुह्य तं शैलम् अपश्यत् सौम्य[7]मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥७२॥
समेत्या[8]वसरापेक्षास्तिष्ठन्त्य[9]स्मिन् सुरासुराः । इति तज्ज्ञैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम्[10] ॥७३॥
शाक्रज्वलधनुर्लेखाम् अखण्डपरिमण्डलाम् । जनयन्तं निजोद्योतैः धूलीसालमयासदत्[11] ॥७४॥
हेमस्तम्भाग्रविन्यस्तरत्नतोरणभासुरम् । धूलीसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥७५॥
मानस्तम्भस्य पर्यन्ते[12] सरसीः ससरोरुहाः । जैनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीत[13]लापो ददर्श सः ॥७६॥
धूलीसालपरिक्षेपस्यान्तर्भागे समन्ततः । वीथ्यन्तरेषु सोऽपश्यद् देवावासोचिता भुवः[14] ॥७७॥
प्रतीत्य परतः किञ्चिद् ददर्श जलखातिकाम् । सुप्रसन्नामगाधां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥७८॥
वल्लीवनं ततोऽद्राक्षीन्नानापुष्पलतानतम् । पुष्पासवरसामत्तभ्रमद्भ्रमरसङ्कुलम् ॥७९॥

लिया था कि त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव समीप ही विराजमान हैं ॥६७॥ मन्दार वृक्षोंके फूलोंसे सुगन्धित और लताओंके वनको कम्पित करनेवाला वायु उनके सामने इस प्रकार आया था मानो उनकी अगवानी ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथिवीको धूलि रहित कर दिया है ऐसी जलकी शीतल बूँदोंके साथ साथ आकाशरूपी आँगनको भरती हुई फूलोंकी वर्षा पड़ रही थी ॥६९॥ जिन्हें मेघोंकी गर्जना समझनेवाले मयूर, अपनी गर्दन ऊँची कर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आँगनमें होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्द भी महाराज भरतने सुने थे ॥७०॥ राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज भरत, पैरकी गाँठों तक ऊँचे फैले हुए फूलोंके संमर्दसे जो अत्यन्त कोमल हो गया है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बाकी बचे हुए उस पर्वत पर चढ़ गये थे ॥७१॥ तदनन्तर उस पर्वतपर चढ़कर भरतने उसके मस्तकपर पहले कही हुई रचनासे सहित जिनेन्द्रदेवका समवसरणमण्डल देखा ॥७२॥ इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्य ध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिये जानकार गणधरादि देवोंने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥७३॥

अथानन्तर–महाराज भरत, जो अपने प्रकाशसे अखण्ड मण्डलवाले इन्द्रधनुषकी रेखाको प्रकट कर रहा है ऐसे धूलिसालके समीप जा पहुँचे ॥७४॥ सुवर्णके खंभोंके अग्रभागपर लगे हुए रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ऐसे धूलिसालको उल्लंघन कर उन्होंने मानस्तम्भकी पूजा की ॥७५॥ जिनमें स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ है और कमल फूल रहे हैं ऐसी जिनेन्द्र भगवान्‌की वाणीके समान मानस्तम्भके चारों ओरकी बावड़ियाँ भी महाराज भरतने देखीं ॥७६॥ धूलिसालकी परिधिके भीतर चारों ओरसे गलियोंके बीच बीचमें उन्होंने देवोंके निवास करने योग्य पृथिवी भी देखी ॥७७॥ कुछ और आगे चलकर उन्होंने जलसे भरी हुई परिखा देखी। वह परिखा सज्जन पुरुषोंके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और गम्भीर थी ॥७८॥ तदनन्तर जो अनेक प्रकारके फूलोंकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है और जो फूलोंके आसवरूपी रससे मत्त होकर फिरते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त है ऐसा लता-

---

१ अभिमुखं जगाम । २ जलानाम् । ३ गगने श्रूयते स्म । ४ घुटिकप्रमाण । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यभिधानात् । ५ मार्गेण । ६ श्रमरहित । ७ कैलासस्य । ८ समा[illegible]य । ९ प्रतीक्ष्यावसरमालोकयन्तः । १० समवसरणम् । ११ आगमत् । १२ पर्यन्तभूमौ । १३ स्वच्छजला, पक्षे निर्मला । १४ देवावासादिभूमीः ।

ततः किञ्चित्पुरो गच्छन् सालमाद्यं व्यलोकयत् । निषधाद्रितटस्पर्धिवपुषं रत्नभासुरम् ॥८०॥
सुरदौवारिकारक्ष्यतत्प्रतोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मङ्गलद्रव्यभेदांस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥८१॥
ततोऽन्तः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्रस्त्रीवर्तनोचितम् ॥८२॥
स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीथ्युभयान्तयोः । सुगन्धीन्धनसन्दोहोद्गन्धिधूपं व्यलोकयत् ॥८३॥
कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन्नसौ वनचतुष्टयम् । निदध्यौ[1] विगलत्पुष्पैः कृतार्घमिव शाखिभिः ॥८४॥
प्रफुल्ल[2]वनमाशोकं साप्तपर्णं च चाम्पकम् । आम्रेडितं वन[3] प्रेक्ष्य सोऽभूदाम्रेडितोत्सवः[4] ॥८५॥
तत्र चैत्यद्रुमांस्तुङ्गान् जिनबिम्बैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् पूजितान्नसुरेशिनाम् ॥८६॥
तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामन्द्रमूर्च्छनैः । लेभे परां धृतिं चक्री गायन्तीनां जिनोत्सवम् ॥८७॥
सुगन्धिपवनामोदनिःश्वासा कुसुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलालापैः सञ्जजल्पेव[5] चक्रिणा ॥८८॥
भृङ्गीसङ्गीतसम्मूर्च्छत्[6] कोकिलानकनिस्स्वनैः । वनङ्गविजयं जिष्णोर्वनानीवोद्घोषयन् ॥८९॥
त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशारभसोत्थितम् । तत्राशृणोन्महाघोषमना घोषमिवोदधेः ॥९०॥
वनवेदीमथापश्यद् वनरुद्धावनेः परम् । वनराजीविलासिन्याः काञ्चीमिव कणन्मणिम्[7] ॥९१॥
तद्गोपुरावनिं क्रान्त्वा ध्वजरुद्धावनिं सुरान्[8] । माजुहूषुमिवापश्यन्मरुद्धूतैर्ध्वजांशुकैः ॥९२॥

वन देखा ॥७९॥ वहाँसे कुछ आगे जाकर उन्होंने पहला कोट देखा जो कि निषध पर्वतके किनारेके साथ स्पर्धा कर रहा था और रत्नोंकी दीप्तिसे सुशोभित था ॥८०॥ देवरूप द्वारपाल जिसकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे गोपुरद्वारके समीप रखे हुए आठ मङ्गलद्रव्य भी उन्होंने देखे ॥८१॥ तदनन्तर भीतर प्रवेश करते हुए चक्रवर्ती भरत इन्द्राणीके नृत्य करनेके योग्य दोनों ओरकी दो नाट्यशालाओंको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए ॥८२॥ वहाँसे कुछ आगे चलकर मार्गके दोनों ओर बगलमें रखे हुए तथा सुगन्धित ईंधनके समूहके द्वारा जिनसे अत्यन्त सुगन्धित धूम निकल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥८३॥ इस दूसरी कक्षामें उन्होंने चार वन भी देखे जो कि झड़ते हुए फूलोंवाले वृक्षोंसे अर्घ देते हुएके समान जान पड़ते थे ॥८४॥ फूले हुए अशोक वृक्षोंका वन, सप्तपर्ण वृक्षोंका वन, चम्पक वृक्षोंका वन और आमोंका सुन्दर वन देखकर भरत महाराजका आनन्द भी दूना हो गया था ॥८५॥ श्रीमान् भरतने उन वनोंमें जिनप्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित बहुत ऊँचे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥८६॥ उन्हीं वनोंमें किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्‌का उत्सव गा रही थीं, उनके गंभीर तानवाले गीतोंसे चक्रवर्ती भरतने परम संतोष प्राप्त किया था ॥८७॥ सुगन्धित पवन ही जिसका सुगन्धिपूर्ण निःश्वास है और फूल ही जिसका मद हास्य है ऐसी वह वनकी लक्ष्मी कोयलोंके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो चक्रवर्तीके साथ वार्तालाप ही कर रही हो ॥८८॥ भ्रमरियोंके संगीतसे मिले हुए कोकिलारूपी नगाड़ोंके शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्‌ने जो कामदेवको जीत लिया है उसीकी घोषणा कर रहे हों ॥८९॥ वहाँपर तीनों लोकोंके जनसमूहके निरन्तर प्रवेश करनेकी उतावलीसे जो समुद्रके जलकी गर्जनाके समान बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था उसे भी भरत महाराजने सुना था ॥९०॥ तदनन्तर उन वनोंसे रुकी हुई पृथिवीके आगे उन्होंने वनपंक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमयी मेखलाके समान मणियोंसे जड़ी हुई वनकी वेदी देखी ॥९१॥ वनवेदीके मुख्य द्वारकी भूमिको उल्लंघन कर चक्रवर्ती भरतने ध्वजाओंसे रुकी हुई पृथिवी देखी, वह पृथिवी उस समय ऐसी मालूम हो रही थी मानो वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके वस्त्रोंके द्वारा

---

१ ददर्श । २ प्रफुल्लवन– ल० । ३ आम्रेडितवन ल० । आमृमिति स्तुतम् । ४ द्विस्त्रिगुणितोत्सव । ५ सञ्जल्प इव । ६ सम्मिश्रीभवत् । ७ रणद्रत्नाम् । ८ सुरान् ल०, द० । ९ आह्वातुमिच्छुम् ।

सावनिः [1]सावनीवोद्यद् ध्वजमालाततांबरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराजजयोर्जिता ॥९३॥
केतवो हरिवस्त्राब्जबर्हिणेभगरुत्मताम् । [2]स्रगुक्षहंसचक्राणां दशधोक्ता जिनेशिनः ॥९४॥
तानेकशः[3] शतं चाष्टौ ध्वजान् प्रतिदिशं स्थितान् । वरिवस्यन्[4] ययौ चक्री स तद्भावनेः परम् ॥९५॥
द्वितीयमार्जुनं सालं सगोपुरचतुष्टयम् । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालादिपूर्ववत्[5] ॥९६॥
तत्र पश्यन्सुरस्त्रीणां नृत्यं गीतं निशामयन्[6] । धूपामोदं च मन्जिघ्रन्[7] सुप्रीताक्षो[8]ऽभवद् विभुः ॥९७॥
कक्षान्तरे ततस्तस्मिन् कल्पवृक्षवनावलिम्[9] । स्रगम्बराभरणादीष्टफलदां स निरूपयन्[10] ॥९८॥
सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धबिम्बैरधिष्ठितान् । परीत्य प्रणमन् प्रार्चीद् अर्चितान्नाकिनायकैः ॥९९॥
वनवेदीं ततोऽतीत्य चतुर्गोपुरमण्डनाम् । प्रासादरुद्धामवनीं स्तूपांश्च प्रभुरैक्षत ॥१००॥
प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुःपञ्चभूम्याद्याः [11]नानाच्छन्दैरलङ्कृताः ॥१०१॥
स्तूपाश्च रत्ननिर्माणाः सान्तरा रत्नतोरणैः । समन्ताज्जिनबिम्बैस्ते निचिताश्चकाशिरे ॥१०२॥
तां पश्यन्नर्चयंस्तांश्च तांश्च स कीर्तयन् । तां च कक्षां व्यतीयाय[12] विस्मयं परमीयिवान् ॥१०३॥

उन्हें बुला ही रही हो ॥९२॥ वह ध्वजाभूमि यज्ञभूमिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार यज्ञभूमिका आकाश अनेक फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे व्याप्त होता है उसी प्रकार उस ध्वजाभूमिका आकाश भी अनेक फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे व्याप्त हो रहा था, जिस प्रकार यज्ञभूमि धर्मचक्र तथा हाथी आदिके मांगलिक चिह्नोंसे सहित होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी चक्र और हाथीके चिह्नोंसे सहित थी, तथा जिस प्रकार यज्ञभूमि जिनेन्द्रदेवके जय अर्थात् जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी जिनेन्द्रदेवके जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त थी अथवा कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेनेसे प्रकट हुई थी ॥९३॥ जिनराजकी वे ध्वजाएं सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड़, माला, बैल, हंस और चक्र इन चिह्नोंके भेदसे दश प्रकारकी थीं ॥९४॥ वे ध्वजाएँ प्रत्येक दिशामें एक-एक प्रकारकी एक सौ आठ स्थित थीं, उन सबकी पूजा करते हुए चक्रवर्ती महाराज उस ध्वजाभूमिसे आगे गये ॥९५॥ आगे चलकर उन्होंने चार गोपुर दरवाजों सहित चांदीका बना हुआ दूसरा कोट देखा और उसे उल्लंघन कर उसके आगे पहिलेके समान ही नाट्यशाला आदि देखीं ॥९६॥ वहां देवाङ्गनाओंके नृत्य देखते हुए, उनके गीत सुनते हुए और धूपकी सुगन्ध सूंघते हुए महाराज भरतकी इन्द्रियां बहुत ही संतुष्ट हुई थीं ॥९७॥ आगे चलकर उन्होंने उसी कक्षाके मध्यमें माला, वस्त्र और आभूषण आदि अभीष्ट फल देनेवाले कल्प वृक्षोंके वनकी भूमि देखी ॥९८॥ उसी वनभूमिमें उन्होंने सिद्धोंकी प्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्रोंके द्वारा पूजित सिद्धार्थ वृक्षोंकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ तदनन्तर चार गोपुर दरवाजोंसे सुशोभित वनकी वेदीको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने अनेक महलोंसे भरी हुई पृथिवी और स्तूप देखे ॥१००॥ वहां देवोंके रहनेके लिये जो महल बने हुए थे वे तीन खण्ड, चार खण्ड, पांच खण्ड आदि अनेक प्रकारके थे तथा नाना प्रकारके उपकरणोंसे सजे हुए थे ॥१०१॥ जिनके बीच बीचमें रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं और जिनपर चारों ओरसे जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे वे रत्नमयी स्तूप भी बहुत अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०२॥ उन स्तूपोंको देखते हुए, उनकी पूजा करते हुए और उन्हींका वर्णन करते हुए जिन्हें परम आश्चर्य प्राप्त हो रहा है ऐसे भरतने क्रम-क्रमसे उस कक्षाको उल्लंघन

---

१ यज्ञसम्बन्धिभूमिरिव । सवन. यज्ञः । २ मालावृषभ । ३ एकैकस्मिन् (दिशि) । ४ पूजयन् । ५ प्रथमशालोक्तवत् । ६ शृण्वन् । ७ आघ्राणयन् । ८ प्रीतेन्द्रियः । ९ वनावलिम् म०, द० । १० पश्यन् । ११ सर्वतोभद्र-सर्वतोभद्रनन्द्यावर्तवर्धमानादिरचनाविशेषैः । १२ व्यतीतवान् ।

नभःस्फटिकनिर्माणं प्राकारवलयं ततः । [1]प्रत्यासत्तेर्जिनस्येव सम्प्राप्तशुद्धि ददर्श सः ॥१०४॥
तत्र कल्पोपमैर्[2]देवैः[3] महाद्वारपालकैः । सादरं सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश सभां विभोः ॥१०५॥
समन्ताद्योजनायामविष्कम्भपरिमण्डलम् । श्रीमण्डपं जगद्विश्वम् अपश्यन्मान्तमात्मनि ॥१०६॥
तत्रापश्यन्मुनीन्निद्धबोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्यिकाः नृपकान्ताश्च ज्योतिर्व्यौरगामरीः ॥१०७॥
भावनव्यन्तरज्योतिःकल्पेन्द्रान्पार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसम्प्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥१०८॥
गणानिति क्रमात् पश्यन्परीयाय परन्तपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलां श्रितः ॥१०९॥
तत्रानर्च मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम् । यक्षेन्द्रैर्विधृतं मूर्ध्ना भानुबिम्बानुकारि यत् ॥११०॥
द्वितीयमेखलायां च [4]प्रार्चदष्टौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपञ्चास्यस्रग्वस्त्रगरुडाङ्कितान् ॥१११॥
मेखलायां तृतीयस्याम् अथैक्षिष्ट जगद्गुरुम् । वृषभं स कृती यस्यां श्रीमद्गन्धकुटी स्थिता ॥११२॥
तद्गर्भे रत्नसन्दर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृङ्ग इवोत्तुङ्गे सुनिविष्टं महातनुम् ॥११३॥
छत्रत्रयकृतच्छायमप्यच्छायमघच्छिदम् । स्वतेजोमण्डलाक्रान्तनृसुरासुरमण्डलम्[5] ॥११४॥
अशोकशाखिचिह्नेन व्यञ्जयन्तमिवाञ्जसा । स्वपादाश्रयिणां शोकनिरासे[6] शक्तिमात्मनः ॥११५॥
चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यन्तं कान्तविग्रहम् । रुक्माद्रिमिव पर्यन्त[7]पतन्निर्झरसङ्कुलम् ॥११६॥

किया ॥१०३॥ आगे चलकर उन्होंने आकाशस्फटिकका बना हुआ तीसरा कोट देखा । वह कोट ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्रदेवकी समीपताके कारण उसे शुद्धि ही प्राप्त हो गई हो ॥१०४॥ वहां महाद्वारपालके रूपमें खड़े हुए कल्पवासी देवोंसे आदरसहित आज्ञा लेकर भरत महाराजने भगवान्‌की सभामें प्रवेश किया ॥१०५॥ वहां उन्होंने चारों ओरसे एक योजन लम्बा, चौड़ा, गोल और अपने भीतर समस्त जगत्‌को स्थान देनेवाला श्रीमण्डप देखा ॥१०६॥ उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंके दर्शन करनेसे उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियां, आर्यिकाओंसे सहित रानी आदि स्त्रियां, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी देवियां, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ऐसे बारह सभा देखे तथा इन्हींको देखते हुए महाराज भरतने तीन कटनीदार पीठकी प्रथम कटनीका आश्रय लेकर उसकी प्रदक्षिणा दी ॥१०७–१०९॥ उस प्रथम कटनीपर चक्रवर्तीने, जिन्हें यक्षोंके इन्द्रोंने अपने मस्तकपर धारण कर रखा है और जो सूर्यके बिम्बका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे चारों दिशाओंके चार धर्मचक्रोंकी प्रसन्नताके साथ पूजा की ॥११०॥ दूसरी कटनीपर उन्होंने चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुडके चिह्नोंसे चिह्नित आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर विद्वान् चक्रवर्तीने, जिसपर शोभायुक्त गन्धकुटी स्थित थी ऐसी तीसरी कटनीपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको देखा ॥११२॥ उस गन्धकुटीके भीतर जो रत्नोंकी बनावटसे बहुत ही सुन्दर और मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊंचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, जिनका शरीर बड़ा–जिनपर तीन छत्र छाया कर रहे थे परन्तु जो स्वयं छायारहित थे, पापोंको नष्ट करनेवाले थे, जिन्होंने अपने प्रभामण्डलसे मनुष्य, देव और धरणेन्द्र सभीके समूहको व्याप्त कर लिया था–जो अशोक वृक्षके चिह्नसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले जीवोंका शोक दूर करनेके लिये अपनी शक्ति ही प्रकट कर रहे हों–जिनके समीपका भाग चारों ओरसे ढुलते हुए चामरोंसे व्याप्त हो रहा था, जो सुन्दर शरीरके धारक थे और इसीलिये जो उस सुमेरु

---

१ सामीप्यात् । २ कल्पजैः । ३ दिव्यैः । ४ अपूजयत् । ५ समूहम् । ६ शोकविच्छेदे । ७ गारुत्मान् ।

तेजसा चक्रवालेन स्फुरता परितो वृतम्। परिवेषवृतस्यार्कमण्डलस्यानुकारकम् ॥११७॥
वियद्दुन्दुभिनिर्ध्वानैर्घोषैरुद्घोषितोदयम्। सुमनोवर्षिभिर्दिव्यजीमूतैरूर्जितश्रियम् ॥११८॥
स्फुरद्गम्भीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगज्जनम्। प्रावृषेण्यं पयोवाहमिव धर्माम्बुवर्षिणम् ॥११९॥
नानाभाषात्मिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि। प्रथयन्तमयत्नेन हृद्ध्वान्तं नुदतीं नृणाम् ॥१२०॥
अमेयवीर्यमाहार्यविरहेऽप्यतिसुन्दरम्। सुवाग्विभवमुत्सर्पत्सौरभं शुभलक्षणम् ॥१२१॥
अस्वेदमलमच्छायम् अपक्ष्मस्पन्दसुन्दरम्। सुसंस्थानं मनोज्ञं च दधानं वपुरूर्जितम् ॥१२२॥
इत्यचिन्त्यमाहात्म्यं दूरादालोकयन् जिनम्। प्रह्वोऽभूत् स महीस्पृष्टजानुरानन्दनिर्भरः ॥१२३॥
दूरानतचलन्मौलिः प्रालोलमणिकुण्डलः। स रेजे प्रणमन् भक्त्या जिनं रत्नैरिवार्घयन् ॥१२४॥
ततो विधिवदानर्च जलगन्धस्रगक्षतैः। चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्सया ॥१२५॥
कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेष्ठिनम्। स्तोतुं स्तुतिभिरत्युच्चैः प्रारेभे भरताधिपः ॥१२६॥
त्वां स्तोष्ये परमात्मानम् अपारगुणमच्युतम्। चोदितोऽहं बलाद् भक्त्या शक्त्या मन्दोऽप्यमन्दया ॥१२७॥

पर्वतके समान जान पड़ते थे जोकि निर्झरोंके समीप मानने पड़ते हुए झरनोंसे व्याप्त हो रहा है—जो चारों ओरसे फैलते हुए कान्तिमण्डलसे व्याप्त हो रहे थे और उनसे ऐसे जान पड़ते थे मानो गोल परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलका अनुकरण ही कर रहे हों—गम्भीर शब्द करनेवाले आकाशदुन्दुभियोंके द्वारा जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा था तथा फूलोंकी वर्षा करनेवाले दिव्य मेघोंके द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही थी—जिन्होंने चारों ओर फैलती हुई अपनी गंभीर गर्जनासे तीनों लोकोंके जीवोंको सभाको सन्तुष्ट कर दिया था और इसीलिये जो धर्मरूपी जलकी वर्षा करते हुए वर्षाऋतुके मेघके समान जान पड़ते थे, जो उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा एकरूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओंके कर्णकुहरके समीप अनेक भाषाओंरूप परिणमन करनेवाली और जीवोंके हृदयका अन्धकार दूर करनेवाली दिव्य ध्वनिको बिना किसी प्रयत्नके प्रसारित कर रहे थे—जो अनन्त वीर्यको धारण कर रहे थे, आभूषणरहित होनेपर भी अतिशय सुन्दर थे, वाणीरूपी उत्तम विभूतिके धारक थे, जिनके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी, जो शुभ लक्षणोंसे सहित थे, पसीना और मलसे रहित थे, जिनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती थी, जो आंखोंके पलक न लगनेसे अतिशय सुन्दर थे, समचतुरस्र संस्थानके धारक थे, और जो छेदन भेदन रहित अतिशय बलवान् शरीरको धारण कर रहे थे—ऐसे अचिन्त्य माहात्म्यके धारक श्री जिनेन्द्र भगवान्‌को दूरसे ही देखते हुए भरत महाराज आनन्दसे भर गये तथा उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर श्री भगवान्‌को नमस्कार किया ॥११९–१२३॥ दूरसे ही नम्र होनेके कारण जिनका मुकुट कुछ कुछ हिल रहा है और मणिमय कुण्डल चञ्चल हो रहे हैं ऐसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करते हुए चक्रवर्ती भरत ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हें रत्नोंके द्वारा अर्घ ही दे रहा हो ॥१२४॥ तदनन्तर उन्होंने मोक्षरूपी फल प्राप्त करनेकी इच्छासे विधिपूर्वक जल, चन्दन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा की ॥१२५॥ पूजाकी विधि समाप्त कर चुकनेके बाद भरतेश्वरने परमेष्ठी वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर अच्छे अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१२६॥ हे भगवन्, आप परमात्मा हैं, अपार गुणोंके धारक हैं, अविनश्वर हैं और मैं शक्तिसे हीन हूँ तथापि बड़ी भारी भक्तिसे जबर्दस्ती प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता

---

१ विन्दन् द०। २ नभसि ध्वनद्दुन्दुभि। ३ सुरमेघैः। ४ प्रावृषि भवम्। ५ नयनस्पन्द विर-हितेक्षि। ६ नतस्कन्ध। ७ महीस्पृष्ट म०।

क्व ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगण्या[1] क्व मादृशः । तथापि प्रयते[2] स्तोतुं भक्त्या त्वद्गुणनिघ्नया[3] ॥१२८॥
फलाय त्वद्गता भक्तिः अनल्पाय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्प्रपुष्णाति ननु संपत्परम्पराम् ॥१२९॥
घातिकर्ममलापायात् प्रादुरासन् गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्तेर्भानोर्यथांऽशवः ॥१३०॥
यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जाताः[4] घातिकर्मविनिर्जयात् ॥१३१॥
केवलाख्यं परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात्[5] । तदा लोकमलोकं च त्वमबुद्धा[6] विनावधेः ॥१३२॥
सार्वज्ञ्यं[7] तव वक्तीश वचःशुद्धिरशेषगा[8] । न हि वाग्विभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः[9] ॥१३३॥
वक्तृप्रामाण्यतो देव वचःप्रामाण्यमिष्यते । न ह्यशुद्धतराद् वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥१३४॥
सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आप्तप्रतीतिममलां त्वय्युद्भावयितुं क्षमा ॥१३५॥
स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति[10] ते सार्व[11] भारती ॥१३६॥

हूँ ॥१२७॥ हे देव, जो गणधर देवोंके द्वारा भी गम्य नहीं हैं ऐसे कहाँ तो आपके अनन्त गुण और कहाँ मुझ सरीखा मन्द पुरुष ? तथापि आपके गुणोंके आधीन रहनेवाली भक्तिसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१२८॥ हे भगवन्, आपके विषय में की हुई थोड़ी भक्ति भी बहुत भारी फल देनेके लिये समर्थ रहती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी सम्पत्ति सेवक जनोंकी सम्पत्तिकी परम्पराको पुष्ट करती ही है ॥१२९॥ हे नाथ, जिस प्रकार मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यकी अनेक किरणें प्रकट हो जाती हैं उसी प्रकार घातिया कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे आपके अनेक गुण प्रकट हुए हैं ॥१३०॥ हे प्रभो, घातिया कर्मोंको जीत लेनेसे आपके यथार्थ दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव, जिस समय आपके केवल ज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी उसी समय आपने मर्यादाके बिना ही समस्त लोक और अलोकको जान लिया था ॥१३२॥ हे ईश, सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारके सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाली आपके वचनोंकी शुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगत्में मन्द बुद्धिवाले जीवोंके इतना अधिक वचनोंका वैभव कभी नहीं हो सकता है ॥१३३॥ हे देव, वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनोंकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि अत्यन्त अशुद्ध वक्तासे उज्ज्वल वाणी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है ॥१३४॥ हे नाथ, समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभङ्गरूप वाणी ही आपमें आप्तपनेकी निर्मल प्रतीति उत्पन्न करानेके लिये समर्थ है ॥१३५॥ हे सबका हित करनेवाले, आपकी सप्तभङ्गरूप वाणी इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थ कथंचित् हैं ही, कथंचित् नहीं ही हैं, कथंचित् दोनों प्रकार ही हैं, कथंचित् अवक्तव्य ही हैं, कथंचित् अस्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं, कथंचित् नास्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं और कथंचित् अस्तित्व तथा नास्तित्व–दोनों रूप होकर अवक्तव्य हैं । विशेषार्थ–जैनागममें प्रत्येक वस्तुमें एक एक धर्मके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात सात भङ्ग माने गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं–१ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ स्यादस्ति च नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादस्ति चावक्तव्यं च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च और ७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संसारका

१ –मप्यगण्या म० । २ प्रयत्नं करिष्ये । ३ त्वद्गुणाधीनया । ४ निर्गताः जाताः । ५ उदेति स्म । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] । १० स्यादस्त्येवेत्यादिना सप्तभङ्गी [illegible], [illegible] । १ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ [illegible] स्यादस्ति नास्त्येव, ४ [illegible] ५ [illegible] स्यादस्ति नास्ति [illegible] ? स्यादस्त्यवक्तव्यम्, ६ [illegible], ७ स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति । ११ सर्वहित ।

विरुद्धाबद्धवाग्जालसंबद्धव्यामुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनाप्तेषु सार्वज्ञ्यं त्वयि तिष्ठते[1] ॥१३७॥
रविः पयोधरोत्सङ्गसुप्तरश्मिर्विकासिभिः । सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद् उद्भवैर्वाग्विभवैर्भवान् ॥१३८॥

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा अस्तित्व रूप ही है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप ही है और एक साथ दोनो धर्म नही कहे जा सकनेके कारण अवक्तव्य रूप भी है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमे मुख्यतासे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन धर्म पाये जाते है। इन्ही मुख्य धर्मोंके सयोगसे सात सात धर्म हो जाते है। जैसे 'जीवोऽस्ति' जीव है। यहांपर जीव और अस्तित्व क्रियामें विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है। विशेषण विशेष्यमें ही रहता है इसलिये जीवका अस्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नही है, इसी प्रकार 'जीवोनास्ति'-जीव नही है यहांपर भी जीव और नास्तित्वमें विशेष्यविशेषण सम्बन्ध है इसलिये ऊपर कहे हुए नियमसे नास्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नही है। जीवके इन अस्तित्व और नास्तित्व रूप धर्मोको एक साथ कह नही सकते इसलिये उसमें एक अवक्तव्य नामका धर्म भी है। इन तीनो धर्मोंमेसे जब जीवके केवल अस्तित्व धर्मकी विवक्षा करते है तब 'स्याद् अस्त्येव जीव.' ऐसा पहला भङ्ग होता है, जब नास्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'नास्त्येव जीव.' ऐसा दूसरा भङ्ग होता है, जब दोनोकी क्रम क्रमसे विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति च नास्त्येव जीव.' इस प्रकार तीसरा भङ्ग होता है, जब दोनोकी अक्रम अर्थात् एक साथ विवक्षा करते है तब दो विरुद्ध धर्म एक कालमे नही कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यमेव' ऐसा चौथा भङ्ग होता है, जब अस्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति चावक्तव्य च' ऐसा पाँचवां भङ्ग होता है, जब नास्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते है तब 'स्यान्नास्ति चा वक्तव्य च' ऐसा छठवां भङ्ग हो जाता है और जब अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य इन धर्मोंकी विवक्षा करते है तब 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य' च ऐसा सातवां भङ्ग हो जाता है। सयोगकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक धर्म सात सात भङ्गके रूप रहता है इसलिये उन्हें कहनेके लिये जिनेन्द्र भगवान्ने सप्त-भङ्गी (सात भङ्गोके समूह) रूप वाणी के द्वारा उपदेश दिया है। जिस समय जीवके अस्तित्व धर्मका निरूपण किया जा रहा है उस समय उसके अवशिष्ट धर्मोका अभाव न समझ लिया जावे इसलिये उसके साथ विवक्षा सूचक स्याद् शब्दका भी प्रयोग किया जाता है तथा सन्देह दूर करनेके लिये नियमवाचक एव या च आदि निपातोका भी प्रयोग किया जाता है जिससे सब मिलाकर 'स्यादस्त्येव जीव.' इस वाक्यका अर्थ होता है कि जीव किसी अपेक्षासे है ही। इसी प्रकार अन्य वाक्योका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जैनधर्म अपनी व्यापक दृष्टिसे पदार्थके भीतर रहनेवाले उसके समस्त धर्मोंका विवक्षानुसार कथन करता है इसलिये वह स्याद्वादरूप कहलाता है। वास्तव में इस सर्वमुखी दृष्टिके बिना वस्तुका पूर्ण स्वरूप कहा भी तो नही जा सकता॥१३६॥ हे देव, जिनकी बुद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे विरुद्ध तथा सम्बन्धरहित वचनोके जालमें फसकर व्यामुग्ध हो गई है ऐसे कुदेवोमें श्रद्धान नही करने योग्य सर्वज्ञता आपमें विराजमान है। भावार्थ—सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसके वचनोमें कही भी विरोध नही आता है। संसारके अन्य देवी-देवताओं के वचनोंमें पूर्वापर विरोध पाया जाता है और इसीसे उनकी भ्रान्त बुद्धिका पता चल जाता है इन सब कारणोको देखते हुए 'वे सर्वज्ञ थे' ऐसा विश्वास नही होता परन्तु आपके वचनो अर्थात् उपदेशोमें कही भी विरोध नही आता तथा आपने वस्तुके समस्त धर्मोंका वर्णन किया है इससे आपकी बुद्धि-ज्ञान-निर्भ्रान्त है और इसीलिये आप सर्वज्ञ है ॥१३७॥ जिस प्रकार मेघोके

१ प्रमाणभूते निर्णयाय निष्ठनीयं । 'ष्ठेयप्रमाणे' इति ष्ठेयविषये आत्मने पदे-विवादपदे निर्णेता प्रमाणभूत पुरुष स्थेय ।

यथान्धतमसे दूरात्त्वं ते विरुतैः शिखी[1] । तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैराप्तोचितमर्हसि[2] ॥१३९॥
आस्तामाध्यात्मिकीयं ते ज्ञानसंपन्महोदया । बहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तृतां[3] त्वयि ॥१४०॥
परार्घ्यमासनं सैंहं कल्पितं सुरशिल्पिभिः । रत्नरुग्धारितं[4] भाति तावकं[5] मेरुशृङ्गवत् ॥१४१॥
[6]सुरैरुच्छ्रितमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितम् । त्रिजगत्प्राभवे[7] चिह्नं न प्रतीमः कथं[8] वयम् ॥१४२॥
चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शंसन्त्यनन्यसामान्यम् ऐश्वर्यं भुवनातिगम् ॥१४३॥
परितस्त्वत्सभां देव वर्षन्त्येते सुराम्बुदाः । सुमनोवर्षमुद्गन्धि व्याहूतमधुपव्रजम् ॥१४४॥
सुरदुन्दुभयो मन्द्रं ध्वनन्त्येते[9] नभोऽङ्गणे । सुरकिङ्करहस्ताग्रताडितास्त्वज्जयोत्सवे ॥१४५॥
सुरैरासेवितोपान्तो जनताशोकतापनुत्[10] । प्रायस्त्वामयमन्वेति[11] तवाशोकमहीरुहः ॥१४६॥
त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः प्रसरन्त्यभितः सभाम् । धृतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवम् ॥१४७॥

बीचमे जिसकी समस्त किरणे छिप गई है ऐसा सूर्य यद्यपि दिखाई नही देता तथापि फूले हुए कमलोसे उसका अस्तित्व सूचित हो जाता है उसी प्रकार आपका प्रत्यक्ष रूप भी दिखाई नही देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनोके वैभवके द्वारा आपके प्रत्यक्ष रूपका अस्तित्व सूचित हो रहा है । भावार्थ–आपके महान् उपदेश ही आपको सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे है ॥१३८॥ अथवा जिस प्रकार सघन अन्धकारमे यद्यपि मयूर दिखाई नही देता तथापि अपने शब्दोंके द्वारा दूर से ही पहिचान लिया जाता है उसी प्रकार आपका आप्तपना यद्यपि प्रकट नही दिखाई देता तथापि आप अपने स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोसे आप्त कहलानेके योग्य है ॥१३९॥ अथवा हे देव, जिसका बडा भारी अभ्युदय है ऐसी यह आपकी अध्यात्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी सम्पत्ति दूर रहे, आपकी यह बाह्य विभूति ही हम लोगोको आपके हितोपदेशीपनका उपदेश दे रही है । भावार्थ–आपकी बाह्य विभूति ही हमे बतला रही है कि आप मोक्षमार्गरूप हितका उपदेश देनेवाले सच्चे वक्ता और आप्त है ॥१४०॥ हे भगवन्, देवरूप कारीगरोके द्वारा बनाया हुआ और रत्नोकी किरणोसे मिला हुआ आपका यह श्रेष्ठ सिंहासन मेरु पर्वतकी शिखर के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४१॥ देवोके द्वारा ऊपरकी ओर धारण किया हुआ यह आपका प्रकाशमान छत्रत्रय आपकी तीनों लोकोकी प्रभुताका चिह्न है ऐसा हम क्यों न विश्वास करें ? भावार्थ–आपके मस्तकके ऊपर आकाशमें जो देवोंने तीन छत्र लगा रखे है वे ऐसे मालूम होते है मानो आप तीनो लोकोके स्वामी है यही सूचित कर रहे हो ॥१४२॥ देवोके द्वारा ढुलाये हुए ये चमर तीनो जगत्को उल्लघन करनेवाले आपके असाधारण ऐश्वर्यको सूचित कर रहे है ॥१४३॥ हे देव, ये देवरूपी मेघ आपकी सभाके चारो ओर अत्यन्त सुगन्धित तथा भ्रमरोके समूहको बुलानेवाली फूलोकी वर्षा कर रहे है ॥१४४॥ हे प्रभो, आपके विजयोत्सवमें देवरूप किंकरोंके हाथोके अग्र भागसे ताडित हुए ये देवोके दुन्दुभि बाजे आकाश रूप आगनमें गम्भीर शब्द कर रहे है ॥१४५॥ जिसका समीप भाग देवोके द्वारा सेवित है अर्थात् जिसके समीप देव लोग बैठे हुए है और जो जनसमूहके शोक तथा सतापको दूर करने वाला है ऐसा यह अशोकवृक्ष प्राय आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योकि आपका समीप भाग भी देवोके द्वारा सेवित है और आप भी जनसमूहके शोक और सतापको दूर करनेवाले है ॥१४६॥ जिसने प्रातःकालके सूर्यकी कान्ति धारण की है और जो नेत्रोका उत्सव बढा रही है ऐसी यह आपके शरीरकी देदीप्यमान कान्ति सभाके चारो ओर फैल रही है । भावार्थ–

१ बर्हि । २ श्रुतेर्योग्यो भवसि । ३ शिक्षकत्वम् । ४ रत्नकान्तिमिश्रितम् । ५ त्वत्सम्बन्धि । ६ देवरुद्धृतम् । ७ त्रैलोक्यप्रभुत्वे । ८ कथ न विश्वास कुर्म. । ९ नदन्त्येते स० । १० गतापहारि । ११ अनुकरोति ।

दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । निरस्यति मनोध्वान्तम् अवाचामपि[1] देहिनाम् ॥१४८॥
प्रातिहार्यमयी भूति इयमष्टतयी प्रभो । महिमानं तवाचष्टे विस्पष्टं विष्टपातिगम् ॥१४९॥
त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयस । चूलिकेव विभात्युच्चै सेव्या गन्धकुटी तव ॥१५०॥
वन्दारूणा मुनीन्द्राणा स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहु । स्तोतुकामेव भक्त्या त्वा सैषा भात्यतिसंमदात् ॥१५१॥
परार्ध्यरत्ननिर्माणाम् एनामत्यन्तभास्वराम् । त्वामध्यासीनमानम्रा नाकभाजो भजन्त्यमी ॥१५२॥
रश्मिसामग्रयोऽमीषा नम्राणा भान्ति मौलय । सदीपा इव रत्नार्घा स्थापितास्त्वत्पदान्तिके[2] ॥१५३॥
नताना सुरकोटीना चकास्त्यधिमस्तकम् । प्रसादांशा इवालग्ना युष्मत्पादनखांशव ॥१५४॥
नखदर्पणसंक्रान्तबिम्बान्यमरयोषिताम् । दधत्यमूनि वक्त्राणि त्वत्पादाग्रेऽम्बुजश्रियम् ॥१५५॥
वक्त्रेष्वमरनारीणा सन्धत्ते कुङ्कुमश्रियम् । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरन्ती जपारुणा ॥१५६॥
गणाध्युषित[3]भूभागमध्यवर्ती त्रिमेखल । पीठाद्रिरयमाभाति तवाविष्कृतमङ्गल ॥१५७॥
प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरलङ्कृत । द्वितीयोऽपि तवामीभि दिक्ष्वष्टासु महाध्वजै ॥१५८॥
श्रीमण्डपनिवेशस्ते योजनप्रमितोऽप्ययम् । त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशोपग्रहक्षम[4] ॥१५९॥
धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तम्भा सरांसि च । खातिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छद ॥१६०॥

आपके भामण्डलकी प्रभा सभाके चारों ओर फैल रही है ॥१४७॥ समस्त भाषाओंके भेदोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् समस्त भाषाओं रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्य ध्वनि जो वचन नहीं बोल सकने ऐसे पशु पक्षी आदि तिर्यञ्चोंके भी हृदयके अन्धकारको दूर कर देती है ॥१४८॥ हे प्रभो, आपकी यह प्रातिहार्यरूप आठ प्रकारकी विभूति आपकी लोकोत्तर महिमाको स्पष्ट रूपमें प्रकट कर रही है ॥१४९॥ मेरु पर्वतके समान ऊंचे तीन कटनीदार पीठपर सबके द्वारा सेवन करने योग्य आपकी यह ऊँची गन्धकुटी मेरुकी चूलिकाके समान सुशोभित हो रही है ॥१५०॥ वन्दना करनेवाले उत्तम मुनियोंके स्तोत्रोंकी प्रतिध्वनिसे यह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती है मानो भक्तिवश हर्षसे आपकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥१५१॥ हे प्रभो, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे बनी हुई और अतिशय देदीप्यमान इस गन्धकुटीमें विराजमान हैं ऐसे आपकी, स्वर्गमें रहनेवाले देव नम्र होकर सेवा कर रहे हैं ॥१५२॥ हे देव, जो अग्रभागमें लगे हुए मणियोंसे सहित हैं ऐसे इन नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुट ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपके चरणोंके समीप दीपकसहित रत्नोंके अर्घ ही स्थापित किये गये हो ॥१५३॥ नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके मस्तकोंपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ रही थीं वे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हों ॥१५४॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जिनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीपमें कमलोंकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥१५५॥ जवाके फूलके समान लाल वर्ण जो यह आपके पैरोंके तलवोंकी कान्ति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखोंपर कुङ्कुमकी शोभा धारण कर रही है ॥१५६॥ जो बारह सभाओंसे भरी हुई पृथिवीके मध्यभागमें वर्तमान है और जिनपर अनेक मङ्गल द्रव्य प्रकट हो रहे हैं ऐसा यह तीन कटनीदार आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥१५७॥ इस पीठकी पहली परिधि धर्मचक्रोंसे अलंकृत है और दूसरी परिधि भी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन बड़ी बड़ी ध्वजाओंसे सुशोभित है ॥१५८॥ यद्यपि आपके श्रीमण्डपकी रचना एक ही योजन लम्बी-चौड़ी है तथापि वह तीनों जगत्के जनसमूहके निरन्तर प्रवेश कराते रहने रूप उपकार में समर्थ है ॥१५९॥ हे प्रभो यह धूलीसालकी परिधि, ये मानस्तम्भ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखा, लता-

---

१ तिरश्चाम् । २ तव पादसमीपे । ३ द्वादशगणाश्रित । ४ उपकारक्षम । त्रिजगज्जनताना- स्थानदाने समर्थ इत्यर्थ ।

सालत्रितयमुत्तुङ्गचतुर्गोपुरमण्डितम् । मङ्गलद्रव्यसन्दोहो निधयस्तोरणानि च ॥१६१॥
नाटचशालाद्वयं दीप्तं ससद्धूपघटीद्वयम् । वनराजिपरिक्षेपश्चैत्यद्रुमपरिष्कृतः[1] ॥१६२॥
वनवेदीद्वयं प्रोच्चैर्ध्वजमालाततावनिः । कल्पद्रुमवनाभोगः[2] स्तूपहर्म्यावलीरपि ॥१६३॥
सदोऽवनि[3]रियं देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसन्दोह इयं यत्र निवेशितः ॥१६४॥
बहिर्विभूतिरित्युच्चैः आविष्कृतमहोदया । लक्ष्मीमाध्यात्मिकीं व्यक्तं व्यनक्ति जिन तावकीम् ॥१६५॥
सभापरिच्छदः सोऽयं सुरैस्तव विनिर्मितः । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहन्त्य[4]प्रतर्कितः[5] ॥१६६॥
इत्यत्यद्भुतमाहात्म्यः त्रिजगद्वल्लभो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमानं[6] मां [7]पुनीतात्पूतशासनः ॥१६७॥
अलं स्तुतिप्रपञ्चेन तवाचिन्त्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति सङ्क्षेपतः स्तुवे ॥१६८॥
जयेश जय निर्दग्धकर्मेन्धन जयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताज्जय जित्वर[8] ॥१६९॥
जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानन्तगुणोज्ज्वल । जय विश्वजगद्बन्धो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥
जयाखिलजगद्वेदिन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥
जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमन्मथ । जय जन्मजरातङ्कविजयिन् विजितान्तक ॥१७२॥

वनोका समूह–ऊँचे ऊँचे चार गोपुर, दरवाजोसे सुशोभित तीन कोट, मङ्गल द्रव्योका समूह, निधियां, तोरण–दो-दो नाटचशालाएँ, दो-दो सुन्दर धूप घट, चैत्यवृक्षोसे सुशोभित वन पक्तियोकी परिधि–दो वनवेदी, ऊची ऊची ध्वजाओकी पक्तिसे भरी हुई पृथिवी, कल्पवृक्षो के वनका विस्तार, स्तूप और मकानोकी पक्ति–इस प्रकार मनुष्य देव और धरणेन्द्रोको पवित्र करनेवाली आपकी यह सभाभूमि ऐसी जान पडती है मानो तीनो जगत्की अच्छी अच्छी वस्तुओका समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो ॥१६०–१६४॥ हे जिनेन्द्र, जिससे आपका महान् अभ्युदय या ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसी यह आपकी अतिशय उत्कृष्ट बाह्य विभूति आपकी अन्तरङ्ग लक्ष्मीको स्पष्ट रूपमे प्रकट कर रही है ॥१६५॥ हे नाथ, जिसके विषयमें कोई तर्क-वितर्क नही कर सकता ऐसी यह देवोके द्वारा रची हुई आपके समवसरणकी विभूति आपके वैराग्यके अतिशयको नष्ट नही कर सकती है । भावार्थ–समवसरण सभाकी अनुपम विभूति देखकर आपके हृदयमे कुछ भी रागभाव उत्पन्न नही होता है ॥१६६॥ इस प्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनो लोकोके स्वामी हे, और जिनका शासन अतिशय पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा उपस्थान (पूजा) करनेवाले मुझे पवित्र कीजिये ॥१६७॥ हे भगवन्, आपकी स्तुतिका प्रपञ्च करना व्यर्थ है क्योकि आपके गुण अत्यन्त अचिन्त्य है इसलिये मै सक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हू कि हे ईशान, आपकी जय हो और आपको नमस्कार हो ॥१६८॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे कर्मरूप ईधनको जलानेवाले, आपकी जय हो, हे जरारहित, आपकी जय हो, हे लोकोके गुरु, आपकी जय हो, हे सबका हित करने वाले, आपकी जय हो, और हे जयशील, आपकी जय हो ॥१६९॥ हे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी जयनशील, आपकी जय हो । हे अनन्तगुणोसे उज्ज्वल, आपकी जय हो । हे समस्त जगत् के बन्धु, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्का हित करनेवाले, आपकी जय हो ॥१७०॥ हे समस्त जगत्को जाननेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त सुखोको प्राप्त करनेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्मे श्रेष्ठ, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के गुरु, आपकी जय हो ॥१७१॥ हे मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे कामदेवको भर्त्सना करने

---

१ अलङ्कृत. 'परिष्कारो विभूषणम्' इत्यभिधानात् । २ नवाभोग द०, इ०, । ३ समवसरणभूमि । ४ न नाशयति । ५ उत्तर्कीन उत्प्रेक्षितुमशक्य इत्यर्थं । ६ स्तोत्रेणार्चयन्तम् । ७ पवित्र कुरु । ८ जयशील ।

जय निर्मद निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल[1] पुष्कल ॥१७३॥
जय प्रबुद्ध सन्मार्ग जय दुर्मार्गरोधन । जय कर्मारिमर्माविद्ध[2] धर्मचक्र जयोद्धुर[3] ॥१७४॥
जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोद्धुर जयाचिह्न[4] सद्धर्मरथसारथे ॥१७५॥
जय निस्तीर्णसंसारपारावारगुणाकर । जय निःशेषनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥१७६॥
नमस्ते परमानन्तसुखरूपाय तायिने[5] । नमस्ते परमानन्दमयाय परमात्मने ॥१७७॥
नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारभासिने[6] । नमस्ते नयनानन्दिपरमौदारिकत्विषे ॥१७८॥
नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताञ्जलिकुड्मलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशैः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥१७९॥
नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताञ्जलिबन्धनैः । नुताय[7] मेरुशैलाग्रस्नाताय सुरसत्तमैः ॥१८०॥
नमस्ते मुकुटोपान्तलग्नहस्तपुटोद्भटैः[8] । लौकान्तिकैरधीष्टाय[9] परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥१८१॥
नमस्ते स्वकिरीटाग्ररत्नप्रान्तचुम्बिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलेज्याय नाकिनाम् ॥१८२॥
नमस्ते परनिर्वाणकल्याणेऽपि प्रवत्स्यति[10] । पूजनीयाय वह्नीन्द्रैर्ज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥

वाले, आपकी जय हो । हे जन्मजरारूपी रोगको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे मृत्युको जीतनेवाले, आपकी जय हो ॥१७२॥ हे मदरहित, मायारहित, आपकी जय हो । हे मोह रहित, ममतारहित, आपकी जय हो । हे निर्मल और निर्द्वन्द्व, आपकी जय हो । हे शरीर-रहित, और पूर्ण ज्ञानसहित, आपकी जय हो ॥१७३॥ हे समीचीन मार्गको जाननेवाले, आप की जय हो । हे मिथ्या मार्गको रोकनेवाले, आपकी जय हो । हे कर्मरूपी शत्रुओंके मर्मको वेधन करनेवाले, आपकी जय हो । हे धर्मचक्रके द्वारा विजय प्राप्त करनेमें उत्कट, आपकी जय हो ॥१७४॥ हे यज्ञके अधिपति, आपकी जय हो । हे कर्मरूप ईंधनको ध्यानरूप अग्नि में होम करनेवाले, आपकी जय हो । हे पूज्य तथा महान् वैभवको धारण करनेवाले, आपकी जय हो । हे उत्कृष्ट दयारूप चिह्नसे सहित तथा हे समीचीन धर्मरूपी रथके सारथि, आपकी जय हो ॥१७५॥ हे संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाले, हे गुणोंकी खानि, आपकी जय हो । हे समस्त विद्यारूपी समुद्रका पान करनेवाले, हे प्रभो, आपकी जय हो ॥१७६॥ आप उत्कृष्ट अनन्त सुखरूप हैं तथा सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । आप परम आनन्दमय और परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७७॥ आप समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी दीप्तिके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो । आपके परमौदारिक शरीरकी कान्ति नेत्रोंको आनन्द देनेवाली है इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७८॥ हे देव, स्वर्गावतरण अर्थात् गर्भकल्याणकके उत्सवके समय इन्द्रोंने अपने हाथों की अञ्जलिरूपी बिना खिले कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिये आपको नमस्कार हो ॥१७९॥ अपने नम्र हुए मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर रखनेवाले उत्तम उत्तम देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा सुमेरु पर्वतके अग्रभागपर जिनका जन्माभिषेक किया गया है ऐसे आपके लिये नमस्कार है ॥१८०॥ दीक्षाकल्याणकके उत्सवके समय अपने मुकुट के समीप ही हाथ जोड़कर लगा रखनेवाले लौकान्तिक देवोंने जिनका अधिष्ठान अर्थात् स्तुति की है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१८१॥ अपने मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंका चुम्बन करनेवाले देवोंके हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा जिनके केवलज्ञानकी पूजा की गई है ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१८२॥ हे भगवन्, जब आपका मोक्षकल्याणक होगा

---

१ शरीरबन्धनरहित । २ मम विध्यति ताडयतीति मर्मावित तस्य सम्बुद्धि । 'नहिवृतिवृषिव्यधिसहितनिरुचि क्वौ कारकस्येति' दीर्घ । ३ उद्भट । ४ दयाचिह्न द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० । ५ पालकाय । ६ ज्ञानकिरणसमूहप्रकाशिने । ७ स्तुताय । ८ भूमर्द्धनि समर्थं वा । ९ अधिकमिष्टाय सत्कारानुमतायेत्यर्थः । १० भाविनि ।

नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥१८४॥
नमस्ते नतनाकीन्द्रचूलारत्नार्चिताङ्घ्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जितश्रिये ॥१८५॥
नमोऽस्तु तुभ्यमिद्धर्द्धे सपर्यामर्हते[1] पराम् । रहोरजोऽरिघाताच्च[2] प्राप्तनामर्हद्वये[3] ॥१८६॥
जितान्तक नमस्तुभ्यं जितमोह नमोऽस्तु ते । जितानङ्ग नमस्ते स्ताद् विरागाय स्वयम्भुवे ॥१८७॥
त्वां नमस्यन्[4] जनैर्नम्यो नम्यते सुकृती पुमान् । मा जयेज्जितजेत[5]व्यस्त्वज्जयोद्घोषणात्कृती ॥१८८॥
त्वत्स्तुते पूतवागस्मि त्वत्स्मृते पूतमानसः । त्वन्नते पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥१८९॥
अहमद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफलं मम । सुनिर्वृत्ते[6] दृशौ मेऽद्य सुप्रसन्नं मनोऽद्य मे ॥१९०॥
त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसम्भृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृत[7] ॥१९१॥
त्वत्पादनखभाजालसलिलैरस्तकल्मषः । अधिमस्तकमालग्नैरभिषिक्त इवास्म्यहम् ॥१९२॥
एषा न सार्वभौमश्री इयमप्रतिशासना । एकत्वच्च भवत्पादसेवालोकैकपावनी ॥१९३॥

यद्दिग्भ्रान्तिविमूढेन[1] महदेनो[2] मयार्जितम्। तत्त्वत्सन्दर्शनाल्लीनं[3] तमो नैशं [4]रवेर्यथा ॥१९४॥
त्वत्पदस्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रताम्। किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैवं सुप्रयुक्तया ॥१९५॥
भगवंस्त्वद् गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमार्जितम्। तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदापि मे ॥१९६॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाधिराट् धरणिपं समभिद्धबोधम्।
आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुड्मललग्नमौलिः ॥१९७॥
श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मारिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात्।
सम्प्रीतिमाप परमां भरताधिराजः प्रायो धृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥१९८॥
आपृच्छ्य च स्वगुरुमादिगुरुं निधीशो व्यालोलमौलितटताडितपादपीठः।
भूयोऽनुगम्य च मुनीन् प्रणतेन मूर्ध्ना स्वावासभूमिमभिगन्तुमना बभूव ॥१९९॥
भक्त्यार्पितां स्रजमिवाधिपदं जिनस्य स्वां दृष्टिमञ्चितलसत्सुमनोविकासाम्[6]।
शेषास्पदं[7] च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छ्रात् चक्राधिपो जिनसभाभवनात्प्रतस्थे ॥२००॥

समस्त लोकको पवित्र करनेवाली आपके चरणोंकी सेवा प्राप्त हुई है ॥१९३॥ हे भगवन्, दिशाभ्रम होनेसे विमूढ होकर अथवा दिग्विजयके लिये अनेक दिशाओंमें भ्रमण करनेके लिये मुग्ध होकर मैंने जो कुछ पाप उपार्जन किया था वह आपके दर्शन मात्रसे उस प्रकार विलीन हो गया है जिस प्रकार कि सूर्यके दर्शनसे रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है ॥१९४॥ हे देव, आपके चरणोंके स्मरणमात्रसे ही जब मनुष्य पवित्रताको प्राप्त हो जाता है तब फिर इस प्रकार भक्तिसे की हुई आपके गुणोंकी स्तुतिसे क्यों नहीं पवित्रताको प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१९५॥ हे भगवन्, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो मैंने पुण्य उपार्जन किया है उससे यही चाहता हूं कि आपके चरणकमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥१९६॥ इस प्रकार चर अचर जीवोंके गुरु सर्वोत्कृष्ट भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर जिसने आनन्दके आँसुओंकी बूंदोंसे सामनेका प्रदेश सींच दिया है, जिसका ज्ञान प्रकाशमान हो रहा है और जिसने दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने भक्तिपूर्वक भगवान्को नमस्कार किया ॥१९७॥ कर्मरूपी शत्रुओंके समूहको जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे पुराण पुरुष भगवान् वृषभदेवसे पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर भरताधिपति महाराज भरत बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रायः अपना हित करनेमें ही सन्तोष होता है ॥१९८॥ तदनन्तर अपने चञ्चल मुकुटके किनारेसे जिन्होंने भगवान्के पाद पीठका स्पर्श किया है ऐसे निधियोंके स्वामी भरत महाराज अपने पिता आदिनाथ भगवान्से पूछकर तथा वहाँ विराजमान अन्य मुनियोंको नम्र हुए मस्तकसे नमस्कार कर अपनी निवासभूमि अयोध्याको जानेके लिये तत्पर हुए ॥१९९॥ चक्राधिपति भरतने जिसमें अनुक्रमसे खिले हुए सुन्दर फूल गुथे हुए हैं और जो श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें भक्तिपूर्वक अर्पित की गई है ऐसी मालाके समान, सुन्दर मनकी प्रसन्नतासे युक्त अपनी दृष्टिको शेषाक्षत समझ बड़ी कठिनाईसे हटाकर भगवान्‌के सभाभवन अर्थात् समवसरणसे प्रस्थान किया ॥२००॥

---

१ दिग्विजयभ्रमणमूढेन। २ महत्पापम्। ३ नष्टम्। ४ आदित्यस्य। ५-मभिगम्य म०।
६ शोभनमनोविकासाम्, सुपुष्पविकासाञ्च। ७ सिद्धशेषास्पदा।

आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिद्धां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः ।
पृथ्वीश्वरैरनुगत. प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृतत्स्वसदनं मनुवंशकेतुः ॥२०१॥
पुण्योदयान्निधिपतिर्विजिताखिलाशस्तन्निर्जितौ[1] गमितषष्टिसमा[2]सहस्रः ।
प्रीत्याऽभिवन्द्य जिनमाप परं प्रमोदं[3]तत्पुण्यसङ्ग्रहविधौ सुधियो यतध्वम्[4] ॥२०२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण-
सङ्ग्रहे भरतराजकैलासाभिगमनवर्णनं नाम
त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३३ ॥

भगवान्के समवसरणकी प्रकाशमान विभूतिको देखनेसे जिनके दोनों नेत्र खुल रहे हैं, जिनकी भुजायें युग (जुवांरी)के समान लम्बी हैं, मस्तक झुकाये हुए अनेक राजा लोग जिनके पीछे पीछे चल रहे हैं और जो कुलकरोंके वंशकी पताकाके समान जान पड़ते हैं ऐसे भरत महाराज अपने घरकी ओर लौटे ॥२०१॥ चूंकि पुण्यके उदयसे ही चक्रवर्तीने समस्त दिशाएं जीतीं, तथा उनके जीतनेमें साठ हजार वर्ष लगाये और फिर प्रीतिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त किया। इसलिये हे बुद्धिमान् जन, पुण्यके संग्रह करनेमें प्रयत्न करो ॥२०२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण
संग्रहके भाषानुवादमें भरतराजका कैलाश पर्वतपर जानेका
वर्णन करनेवाला तैंतीसवां पर्व समाप्त हुआ।

---

१ निखिलदिग्जये। २ संवत्सर। ३ तस्मात् कारणात्। ४ प्रयत्नं कुरुध्वम्।

चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व

अथावरुह्य[1] कैलासाद् अद्रीन्द्रादिव[2] देवराट्। चक्री प्रयाणमकरोद् विनीताभिमुखं कृती ॥१॥
सैन्यैरनुगतो रेजे [3]प्रयाच्चक्री निजालयम्। गङ्गौघ[4] इव दुर्वारः सरिदोघैरपाम्पतिम् ॥२॥
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैश्चक्रिणो बलम्। अयोध्यां प्रापदाबद्धतोरणां चित्रकेतनाम् ॥३॥
चन्दनद्रवसंसिक्तसुसम्मृष्ट[5]महीतला। पुरी स्नातानुलिप्तेव सा रेजे पत्युरागमे ॥४॥
नातिदूरे[6] निविष्टस्य प्रवेशसमये प्रभोः[7]। चक्रमस्तारि चक्रं न नाक्रंस्त[8] पुरगोपुरम्[9] ॥५॥
सा पुरी गोपुरोपान्तस्थितचक्रांशुरञ्जिता। धृतसन्ध्यातपेवासीत् कुङ्कुमापिञ्जरच्छविः ॥६॥
सत्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति। धृतदिव्येव[10] सा जज्ञे ज्वलच्चक्रा पुरः[11] पुरी ॥७॥
ततः कतिपये[12] देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः। स्थितमेकपदे[13] चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥
सुराः जातरुषः केचित् किमित्युच्चरद्गिरः। अलातचक्रवद्[14] भ्रेमुः करवालार्पितैः करैः ॥९॥
किमम्बरमणेर्बिम्बमम्बरात्परिलम्बते। प्रतिसूर्यः किमुद्भूत इत्यन्ये [15]मुमुहुर्मुहुः ॥१०॥

अथानन्तर—सुमेरु पर्वतसे इन्द्रकी तरह कैलास पर्वतसे उतरकर उस बुद्धिमान् चक्रवर्तीने अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया ॥१॥ सेनाके साथ-साथ अपने घरकी ओर प्रस्थान करता हुआ चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानो नदियोंके समूहके साथ किसीसे न रुकनेवाला गङ्गाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥२॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम तय कर चक्रवर्तीकी वह सेना जिसमें तोरण बँधे हुए हैं और अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसी अयोध्या नगरीके समीप जा पहुँची ॥३॥ जिसकी बुहारकर साफ की हुई पृथिवी घिसे हुए गीले चन्दनसे सींची गई है ऐसी वह अयोध्यानगरी उस समय इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो उसने पतिके आनेपर स्नान कर चन्दनका लेप ही किया हो ॥४॥ महाराज भरत नगरीके समीप ही ठहरे हुए थे वहाँसे नगरीमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुओंके समूहको नष्ट कर दिया है ऐसा उनका चक्ररत्न नगरके गोपुरद्वारको उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका—बाहर ही रुक गया ॥५॥ गोपुरके समीप रुके हुए चक्रकी किरणोंसे अनुरक्त होनेके कारण जिसकी कान्ति कुंकुमके समान कुछ कुछ पीली हो रही है ऐसी वह नगरी उस समय इस प्रकार जान पड़ती थी मानो उसने संध्याकी लालिमा ही धारण की हो ॥६॥ जिसके आगे चक्ररत्न देदीप्यमान हो रहा है ऐसी वह नगरी उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो यह भरतराज सचमुच ही सब चक्रवर्तियोंमें मुख्य हैं इसलिये उसने दिव्य शक्ति धारण की हो अथवा अपनी बातकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये उसने तप्त अयोगोलक आदिको धारण किया हो ॥७॥ तदनन्तर चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एक स्थानपर खड़ा हुआ देखकर आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥८॥ जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही देव, क्या है ? क्या है ? इस प्रकार चिल्लाते हुए हाथमें तलवार लेकर अलातचक्रकी तरह चारों ओर घूमने लगे ॥९॥ क्या यह आकाशमें सूर्यका बिम्ब लटक पड़ा है ? अथवा कोई दूसरा ही सूर्य उदित हुआ है ? ऐसा विचार कर कितने ही लोग बार बार मोहित हो रहे थे ॥१०॥

---

१ अवतीर्य। २ मेरोः। ३ गच्छन्। ४ गाङ्गौघ ल०,। ५ सुष्ठुसम्मार्जित। ६ समीपे। ७ विभो ल०, द०। ८ प्रवेशं नाकरोत्। ९ पुरगोपुरे ब०, स०। १० शपथ। ११ अग्रभागे। १२ सेचन। १३ युगपत् सपदि वा। १४ चक्रवत्काष्ठाग्निभ्रमणवत्। १५ मुह्यन्ति स्म।

कस्याप्यकालचक्रेण[1] पतितव्य[2] विरोधिन । क्रूरेणेव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण वक्रितम् ॥११॥
अथवाद्यापि जेतव्य[3] पक्ष कोऽप्यस्ति चक्रिण । चक्रस्खलनत केऽश्चिदित्य तज्ज्ञैर्वितर्कितम् ॥१२॥
सेनानीप्रमुखास्तावत् प्रभवे[4] तन्न्यवेदयन् । तद्वार्ताऽऽकर्णनाच्चक्री किमप्यासीत्सविस्मय ॥१३॥
अचिन्तयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थितेऽस्खलत्यद्य क्वचिदप्यस्खलद्‌गति ॥१४॥
सम्प्रधार्यमिद[5] तावदित्याहूय पुरोधसम । धीरो धीरतरा वाचमित्युच्चैराजगौ मनु ॥१५॥
वदनोऽस्य मुखाम्भोजाद् व्यक्ताकूता[6] सरस्वती । निर्ययौ सदलङ्कारा शम्फलीव[7] जयश्रिय ॥१६॥
यदमाक्रान्तदिक्चक्रम् अरिचक्रभयङ्करम् । कस्मान्नास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यक्कृतार्करुक् ॥१७॥
विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवार्धिषु । यदासीदस्खलद्‌वृत्ति रूप्याद्रेश्च गुहाद्वये ॥१८॥
चक्र तदधुना कस्मात् स्खलत्यस्मद्‌गृहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन भवितव्य जिगीषुणा ॥१९॥
किमसाध्यो द्विषत्कश्चिदस्त्यस्मद्‌भुक्तिगोचरे[8] । सनाभि[9] कोऽपि किं वाऽस्मान् द्वेष्टि दुष्टान्तराशय ॥२०
य कोऽप्यकारणद्वेषी खलोऽस्मान्नाभिनन्दति । प्राय स्खलन्ति चेतांसि महत्स्वपि दुरात्मनाम् ॥२१॥
विमत्सराणि चेतांसि महता परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥२२॥
अथवा दुर्मदाविष्ट कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदोच्छित्त्यै[10] नून चक्रेण वक्रितम् ॥२३॥

आज यह चक्र क्रूरग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिये अकालचक्रके समान किसी विरोधी शत्रु पर अवश्य ही पडेगा ॥११॥ अथवा अब भी कोई चक्रवर्तीके जेतव्य पक्षमे है–जीतने योग्य शत्रु विद्यमान है इस प्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग विचार कर रहे थे ॥१२॥ सेनापति आदि प्रमुख लोगोने यह बात चक्रवर्तीसे कही और उसके सुनते ही वे कुछ आश्चर्य करने लगे ॥१३॥ वे विचार करने लगे कि जिसकी आज्ञा कही भी नही रुकती ऐसे मेरे रहते हुए भी, जिसकी गति कही भी नही रुकी ऐसा यह चक्ररत्न आज क्यो रुक रहा है ? ॥१४॥ इस बातका विचार करना चाहिये यही सोचकर धीर वीर मनु ने पुरोहितको बुलाया और उससे नीचे लिखे हुए बहुत ही गम्भीर वचन कहे ॥१५॥ कहते हुए भरत महाराजके मुखकमलसे स्पष्ट अभिप्रायवाली और उत्तम उत्तम अलकारोसे सजी हुई जो वाणी निकल रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानो विजयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥१६॥ जिसने समस्त दिशाओके समूहपर आक्रमण किया है जो शत्रुओके समूहके लिये भयकर है और जिसने सूर्यकी किरणोका भी तिरस्कार कर दिया है ऐसा यह चक्र मेरे ही नगरके द्वारमें क्यो नही आगे बढ रहा है–प्रवेश कर रहा है ? ॥१७॥ जो समस्त दिशाओको विजय करनेमें पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्रमें कही नही रुका, तथा जो विजयार्धकी दोनो गुफाओमें नही रुका वही चक्र आज मेरे घरके आगनमें क्यो रुक रहा है ? प्राय मेरे साथ विरोध रखनेवाला कोई विजिगीषु (जीतकी इच्छा करनेवाला) ही होना चाहिये॥१८–१९॥क्या मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्र (राज्य) में ही कोई असाध्य शत्रु मौजूद है अथवा दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्र का ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥२०॥ अथवा बिना कारण ही द्वेष करनेवाला कोई दुष्ट पुरुष मेरा अभिनन्दन नही कर रहा है–मेरी वृद्धि नही सह रहा है सो ठीक ही है क्योकि दुष्ट पुरुषोके हृदय प्राय कर बडे आदमियोपर भी बिगड जाते है ॥२१॥ महापुरुषोके हृदय दूसरोकी वृद्धि होनेपर मात्सर्यसे रहित होते है परन्तु क्षुद्र पुरुषोके हृदय दूसरोकी वृद्धि होनेपर ईर्ष्या सहित होते है ॥२२॥ अथवा दुष्ट अहकारसे घिरा हुआ कोई मेरे ही घरका

---

१ अकालचक्रेण । २ [illegible] मत्प्रत्यमित्यर्थ । ३ जेतव्याः [illegible] । ४ चक्रिणे । ५ विचार्यम् । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ भुक्तिगोचरे । ९ सनाभि । 'सनाभिस्तु सगोत्रक' इत्यभिधानात् । [illegible] । १० अस्माकं भव ।

खलूपेक्ष्य[1] लघीयानप्युच्छेद्यो लघु[2] तादृशः । क्षुद्रो रेणुरिवाक्षिस्थो रुजत्यरिरुपेक्षितः ॥२४॥
बलादुद्धरणीयो हि क्षोदीयानपि[3] कण्टकः । अनुद्धृतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो[4] भृशम् ॥२५॥
चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमम् । गतिस्खलनमेतस्य न विना कारणाद् भवेत् ॥२६॥
ततो नाल्पमिदं कार्यं यच्चक्रेणायं सूचितम् । सूचिते[6] खलु राज्याङ्गे[7] विकृतिर्नाल्पकारणात् ॥२७॥
तदत्र कारणं चिन्त्यं त्वया धीमन्विदन्तया[8] । अनिरूपितकार्याणा[9] नेह नामुत्र सिद्धयः ॥२८॥
त्वयीद कार्यविज्ञान तिष्ठते[10] दिव्यचक्षुषि । तमसां छेदने कोऽन्यः प्रभवेदशुमालिनः ॥२९॥
निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय[11] मिताक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभवो मितभाषिणः ॥३०॥
ततः प्रसन्नगम्भीरपदालङ्कारकोमलाम् । भारतीं भरतेशस्य प्रबोधायेति सोऽब्रवीत् ॥३१॥
अस्ति माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्ठवम् । अस्त्यर्थानुगमोऽन्यत्र[12] यन्नास्ति त्वद्वचोमये[13] ॥३२॥
शास्त्रज्ञा वयमेकान्तात् नाभिज्ञा कार्यवस्तुषु । शास्त्रप्रयोगवित् कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥
त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विद्यास्त्व[14]दुपक्रमम्[15] । तद्विदस्तत्प्रयुञ्जाना, न जिह्रीमः क्वयं वयम् ॥३४॥

मनुष्य नम्र नहीं हो रहा है, जान पडता है यह चक्र उसीका अहकार दूर करनेके लिये वक्र हो रहा है ॥२३॥ शत्रु अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, द्वेष करने वाला छोटा होनेपर भी शीघ्र ही उच्छेद करने योग्य है क्योंकि आँखमें पडी हुई धूलिकी कणिका के समान उपेक्षा किया हुआ छोटा शत्रु भी पीडा देनेवाला हो जाता है ॥२४॥ काटा यदि अत्यन्त छोटा हो तो भी उसे जबरदस्ती निकाल डालना चाहिये क्योंकि पैरमें लगा हुआ काँटा यदि निकाला नही जावेगा तो वह अत्यन्त दु खका देनेवाला हो सकता है ॥२५॥ यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नोंमें मुख्य रत्न है इसकी गतिका स्खलन विना किसी कारण के नहीं हो सकता है ॥२६॥ इसलिये हे आर्य, इस चक्रने जो कार्य सूचित किया है वह कुछ छोटा नही है क्योंकि यह राज्यका उत्तम अङ्ग है इसमें किसी अल्पकारणसे विकार नहीं हो सकता है ॥२७॥ इसलिये हे बुद्धिमान् पुरोहित, आप इस चक्ररत्नके रुकनेमें क्या कारण है इसका अच्छी तरह विचार कीजिये क्योंकि विना विचार किये हुए कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमें होती है और न परलोक हीमें होती है ॥२८॥ आप दिव्य नेत्र हैं इसलिये इस कार्य का ज्ञान आपमें ही रहता है अर्थात् आप ही चक्ररत्नके रुकनेका कारण जान सकते हैं क्योंकि अन्धकारको नष्ट करनेमें सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२९॥ इस प्रकार महाराज भरत थोडे ही अक्षरोंके द्वारा इस निमित्तज्ञानीके लिये अपना कार्य निवेदन कर चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु लोग प्राय थोडे ही बोलते हैं ॥३०॥ तदनन्तर निमित्तज्ञानी पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिये प्रसन्न तथा गम्भीर पद और अलंकारोंसे कोमल वचन कहने लगा ॥३१॥ जो माधुर्य, जो ओज, जो पदोंका सुन्दर विन्यास और जो अर्थकी सरलता आपके वचनोंमें नहीं है वह क्या किसी दूसरी जगह है ? अर्थात् नहीं है ॥३२॥ हम लोग तो केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं कार्य करनेकी युक्तियोंमें अभिज्ञ नहीं हैं परन्तु राजनीतिमें शास्त्रके प्रयोगको जाननेवाला आपके समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥३३॥ आप राजाओंमें प्रथम राजा हैं और राजाओंमें ऋषिके समान श्रेष्ठ होनेसे राजर्षि हैं यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है इसलिये उसे जाननेवाले हम लोग

---

१ नोपेक्षणीय । २ अतिशयेन लघु । ३ शीघ्रम् । ४ पीडा करोति । ५ अतिशयेन क्षुद्र । ६ सुष्ठु सूचिते । ७ चक्रे । ८ प्रतीयमानस्वरूपतया । ९ अविचारित । १० निश्चित भवति । ११ नैमित्तिकाय । १२ व्यक्त प०, ल० । १३ तव वचन प्रपञ्चे । १४ राजविद्या । १५ त्वदुपक्रमात् ल० । त्वया पूर्वं प्रवर्तित कार्यविज्ञानम् ।

तथापि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरवं लोके ततः स्मो वक्तुमुद्यताः ॥३५॥
इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञशासनम्[1] । नास्ति चक्रस्य विश्रान्तिः यावच्छेषे दिशां जये ॥३६॥
ज्वलदर्चिः करालं वो जैत्रमस्त्रमिदं ततः । सस्तम्भितमिवातथ्यं[2] पुरद्वारि विलम्बते ॥३७॥
अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमिति श्रुतिः । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥३८॥
तथाप्यस्त्येव जेतव्यः पक्षः कोऽपि तवाधुना । योऽन्तर्गृहे कृतोत्थानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥३९॥
बहिर्मण्डलमेवासीत् परिक्रान्तमिदं त्वया । अन्तर्मण्डलसंशुद्धिर्मनागद्यापि जायते ॥४०॥
जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युत्थितास्ते[3] सजातीया विघाताय न नु प्रभो ॥४१॥
स्वपक्षैरेव तेजस्वी महानप्युपरुद्ध्यते[4] । प्रत्यर्कमर्ककान्तेन[5] ज्वलतेदमुदाहृतम्[6] ॥४२॥
विबलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्णं प्रतिष्कसम्[7] । दण्डः परश्वधस्येव[8] निबर्हयति[9] पार्थिवम्[10] ॥४३॥
भ्रातरोऽमी तवाजय्या बलिनो मानशालिनः । [11]यवीयांस्तेषु धौरेयो धीरो बाहुबली बली ॥४४॥
एकान्नशतसंख्यास्ते[12] सोदर्या वीर्यशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिताः ॥४५॥

आपके ही सामने उसका प्रयोग करते हुए क्यो न लज्जित हो ॥३४॥ तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोकमे हमारे गौरवको बढा रहा है इसलिये ही मै कुछ कहनेके लिये तैयार हुआ हूँ ॥३५॥ हे देव, हम लोगोने निमित्तज्ञानियोका ऐसा उपदेश सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी बाकी रहता है तब तक चक्ररत्न विश्राम नही लेता अर्थात् चक्रवर्तीकी इच्छाके विरुद्ध कभी भी नही रुकता है ॥३६॥ जो जलती हुई ज्वालाओसे भयकर है ऐसा वह आपका विजयी शस्त्र नगरके द्वारपर गुप्त रीतिसे रोके हुएके समान अटक कर रह गया है ॥३७॥ हे देव, आपके प्रजाका शासन करते हुए शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रम ही रह गये है अर्थात् व्यवहारमे न आपका कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है सब आपके सेवक है ॥३८॥ तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है और वह उदरमे किसी भयकर रोगके समान आपके घरमे ही प्रकट हुआ है ॥३९॥ आपके द्वारा यह बाह्यमण्डल ही आक्रान्त–पराजित हुआ है परन्तु अन्तर्मण्डलकी विशुद्धता तो अब भी कुछ नही हुई है । भावार्थ–यद्यपि आपने बाहरके लोगोको जीत लिया है तथापि आपके घरके लोग अब भी आपके अनुकूल नही है ॥४०॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्षको जीत लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नही है–उन्होने आपको लिये नमस्कार नही किया है । वे आपके विरुद्ध खडे हुए है और सजातीय होनेके कारण आपके द्वारा विघात करने योग्य भी नही है ॥४१॥ तेजस्वी पुरुष बडा होनेपर भी अपने सजातीय लोगो के द्वारा रोका जाता है यह बात सूर्यके सन्मुख जलते हुए सूर्यकान्त मणिके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥४२॥ सजातीय पुरुष निर्बल होनेपर भी किसी बलवान् पुरुषका आश्रय पाकर राजा को उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार निर्बल दण्ड कुल्हाडीका तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदिको नष्ट कर देता है ॥४३॥ ये आपके बलवान् तथा अभिमानी भाई अजेय है और इनमे भी अतिशय युवा धीर वीर तथा बलवान् बाहुबली मुख्य है ॥४४॥ आपके ये निन्यानवे भाई बडे बलशाली है, हमलोग भगवान् आदिनाथको छोडकर और

---

१ विभिन्नशास्त्रम् । २ –मिवातथ्यं स० इ०, अ० । –मिवाव्यक्त प०, ल० । ३ विरुद्धाचरणा । ४ बाध्यते । ५ सूर्यकान्तपाषाणेन । ६ उदाहरणं कृतम् । ७ प्रतिश्रयम् प०, ल० । सहायम् । ८ परशो । 'परशुश्च परश्वधः' इत्यभिधानात् । ९ नाशयति (तृह बर्ह हिंसायाम्) । १० पृथिव्यां भवम् । वृक्षं नृपञ्च । ११ कनिष्ठ । 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १२ एकोन–स०, द०, इ०, प० । १३ बाहुबलिना सहितेन सह इयम् । सम्या–वृषभसेनो प्रागेव दीक्षावग्रहणात् ।

तदत्र[1] प्रतिकर्त्तव्यम् आशु चक्रधर त्वया। ऋणव्रणाग्निशत्रूणां शेषं नोपेक्षते कृती ॥४६॥
राजन् राजन्वती भूयात् त्वय्येवेयं वसुन्धरा। माभूद्राजवती[2] तेषां भूम्ना द्वैराज्यदुःस्थिता[3] ॥४७॥
त्वयि राजनि राजोक्तिर्देव नान्यत्र राजते। सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा बिभृयुः कथम् ॥४८॥
देव त्वामनुवर्तन्तां भ्रातरो धूतमत्सराः। ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनम् ॥४९॥
तच्छासनहरा[4] गत्वा सोपायमुपजप्य[5] तान्। त्वदाज्ञानुवशान् कुर्युर्विगृह्य[6] ब्रुवुरन्यथा ॥५०॥
मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेयाद्यदि ते वशम्। स नाशयेद्धतात्मानम् आत्मगृह्यं[7] च राजकम् ॥५१॥
राज्यं कुलकलत्रं च नेष्टं साधारणं[8] द्वयम्। भुङ्क्ते सार्द्धं परैर्यस्तत्[9] नरः पशुरेव सः ॥५२॥
किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमन्तु ते। यान्तु वा शरणं देवं त्रातारं जगतां जिनम् ॥५३॥
न तृतीया गतिस्तेषामेषैवा[10] द्वितयी गतिः[11]। प्रविशन्तु त्वदास्थानं वनं वामी मृगैः समम् ॥५४॥
स्वकुलान्युल्मुकानीव[12] दहन्त्यननुवर्तनैः। अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्यानन्दथुं परम्[13] ॥५५॥

किसीको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा वे निश्चय कर बैठे हैं ॥४५॥ इसलिये हे चक्रधर, आपको इस विषयमें शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिये क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ऋण, घाव, अग्नि और शत्रुके बाकी रहे हुए थोडे भी अंशकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥४६॥ हे राजन्, यह पृथिवी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजासे पालन की जानेवाली हो, आपके भाइयोंके अधिक होनेसे अनेक राजाओंके सम्बन्धसे जिसकी स्थिति बिगड गई है ऐसी होकर राजवती अर्थात् अनेक साधारण राजाओंसे पालन की जानेवाली न हो। भावार्थ–जिस पृथिवीका शासक उत्तम हो वह राजन्वती कहलाती है और जिसका शासक अच्छा न हो, नाम मात्रका ही हो वह राजवती कहलाती है। पृथिवीपर अनेक राजाओंका राज्य होनेसे उसकी स्थिति छिन्न भिन्न हो जाती है इसलिये एक आप ही इस रत्नमयी वसुधराके शासक हों, आपके अनेक भाइयोंमें यह विभक्त न होने पावे ॥४७॥ हे देव, आपके राजा रहते हुए राजा यह शब्द किसी दूसरी जगह सुशोभित नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि सिंहके रहते हुए हरिण मृगेन्द्र शब्दको किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥४८॥ हे देव, आपके भाई ईर्ष्या छोडकर आपके अनुकूल रहें क्योंकि आप उन सबमें बडे हैं और इस कालमें मुख्य हैं इसलिये उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रमें कहा हुआ है ॥४९॥ आपके दूत जावें और युक्तिके साथ बातचीत कर उन्हें आपके आज्ञाकारी बनावें, यदि वे इस प्रकार आज्ञाकारी न हों तो विग्रह कर (बिगडकर) अन्य प्रकार भी बातचीत करें ॥५०॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश नहीं होगा तो खेद है कि वह अपने आपको तथा अपने आधीन रहनेवाले राजाओंके समूहका नाश करावेगा ॥५१॥ राज्य और कुलवती स्त्रियाँ ये दोनों ही पदार्थ साधारण नहीं हैं, इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है। जो पुरुष इन दोनोंका अन्य पुरुषोंके साथ उपभोग करता है वह पशु ही है ॥५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको प्रणाम करें या जगत्की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी शरणको प्राप्त हों ॥५३॥ आपके उन भाइयोंकी तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपके शिविरमें प्रवेश करें या मृगोंके साथ वनमें प्रवेश करें ॥५४॥ सजातीय लोग परस्परके विरुद्ध आचरणसे अंगारेके समान

१ कारणात्। २ कुत्सितराजवती। 'सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यभिधानात्। ३ द्वयो राज्ञो राज्येन दुःस्थिता। ४ त्वच्छासन–द०, ल०। दूता। ५ उक्त्वा। ६ विवादं कृत्वा। ७ आत्मना स्वीकरणीयम्। ८ सर्वेषामनुभवनीयम्। ९ द्वयम्। १०–मर्षैषां ल०। ११ उपाय। १२ स्वगोत्राणि। तव आनर इत्यय। १३ पर. अ०, प०, स०।

प्रशान्तमत्सराः शान्तास्त्वां नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधन्तां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥५६॥
इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चुक्रोध तत्क्षणम् ॥५७॥
धारुष्टकलुषां दृष्टिं क्षिपन्दिक्ष्विव दिग्बलिम् । सधूमामिव कोपाग्नेः शिखां भ्रूकुटिमुत्क्षिपन् ॥५८॥
भ्रातृभा[1]ण्डकृतामर्षविषवेगमिवोद्वमन् । वाक्छलेनो[2]च्छलन् रोषाद् बभाषे परुषा गिरः ॥५९॥
किं किमात्थ[3] दुरात्मानो भ्रातरः प्रणता न माम् । पश्य मद्दण्डचण्डोल्कापातात्तान् शल्कसात्[4] कृतान् ॥६०॥
अदृष्टमश्रुतं कार्यमिदं वैरमकारणम् । अवध्याः किल कुल्यत्वादिति[5] तेषां मनीषितम् ॥६१॥
यौवनोन्मादजस्तेषां भटवातोऽस्ति[6] दुर्मदः[7] । ज्वलच्चक्राभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥६२॥
अकरां[8] भोक्तुमिच्छन्ति गुरुदत्तामिमां[9] मान्तके[10] । तत्कि[11] भटावलेपेन[12] भुक्ति ते श्रावयन्तु[13] मे ॥६३॥
प्रतिशय्यानिपातेन[14] भुक्ति ते साधयन्तु वा । शितास्त्रकण्टकोत्सङ्गपतिताङ्गा रणाङ्गणे ॥६४॥
क्व वयं जितजेतव्या भोक्तव्ये[15] सङ्गताः क्व ते । तथापि संविभागो[16]ऽस्तु तेषां मदनुवर्तने ॥६५॥

जलाते रहते हैं और वे ही लोग परस्परमें अनुकूल रहकर नेत्रोंके लिये अतिशय आनन्द रूप होते हैं ॥५५॥ इसलिये ये आपके भाई मात्सर्य छोडकर शान्त हो मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करें और आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हुए सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते रहें ॥५६॥ इस प्रकार शास्त्रके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्ती भरतने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार कर उसी क्षण क्रोध किया ॥५७॥ जो क्रोधसे कलुषित हुई अपनी दृष्टिको दिशाओंके लिये बलि देते हुएके समान सब दिशाओंमें फेंक रहे हैं, क्रोधरूपी अग्निकी धूमसहित शिखाके समान भृकुटियाँ ऊँची चढ़ा रहे हैं, भाईरूपी मूलधनपर किये हुए क्रोधरूपी विषके वेगको जो वचनोंके छलसे उगल रहे हैं और जो क्रोधसे उछल रहे हैं ऐसे महाराज भरत नीचे लिखे अनुसार कठोर वचन कहने लगे ॥५८–५९॥ हे पुरोहित, क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करते हैं, अच्छा तो तू उन्हें मेरे दण्ड रूपी प्रचण्ड उल्कापातसे टुकडे किया हुआ देख ॥६०॥ उनका यह कार्य न तो कभी देखा गया है, न सुना गया है, उनका यह वैर विना कारण ही किया हुआ है, उनका ख्याल है कि हम लोग एक कुलमें उत्पन्न होनेके कारण अवध्य हैं ॥६१॥ उन्हें यौवनके उन्मादसे उत्पन्न हुआ योद्धा होनेका कठिन वायुरोग हो रहा है, इसलिये जलते हुए चक्रके संतापसे पसीना आना ही उसका प्रतिकार–उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिताजीके द्वारा दी हुई पृथिवीको विना कर दिये ही भोगना चाहते हैं परन्तु केवल योद्धापनेके अहंकारसे क्या होता है ? अब या तो वे लोगोंको सुनावें कि भरत ही इस पृथिवीका उपभोग करनेवाला है हम सब उसके आधीन हैं या युद्धके मैदानमें तीक्ष्ण शस्त्ररूपी काँटोंके ऊपर जिनका शरीर पडा हुआ है ऐसे वे भाई प्रतिशय्या–दूसरी शय्या अर्थात् रणशय्यापर पडकर उसका उपभोग प्राप्त करें। भावार्थ–जीतेजी उन्हें इस पृथिवीका उपभोग प्राप्त नहीं हो सकता ॥६३–६४॥ जिसने जीतने योग्य समस्त लोगोंको जीत लिया है ऐसा कहाँ तो मैं, और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें स्थित कहाँ वे लोग ? तथापि मेरे आज्ञानुसार चलनेपर उनका भी विभाग (हिस्सा)

---

१ 'भाण्ड भूषणमात्रेऽपि भाण्डमूला वणिग्धने । नदीमात्रे सुरङ्गाणां भूषणे भाजनेऽपि च' । २ उच्छलन् । ३ वदसि । ४ खण्ड । ५ कुले भवा कुल्यास्तेषां भावः तस्मात् । ६ वय भटा इति गर्व । ७ दुर्निवार । ८ अबलिम् । 'भागधेय करोबलिः' इत्यभिधानात् । ९ भूमिम् । १० कुत्सिता । ११ नहि । १२ भटगर्वेण । १३ गाधयन्त्वित्यर्थं । १४ पूर्वं शय्यायाः प्रतिशय्या–अन्य शय्या तस्यां निपातेन मरणशरस्या इत्यर्थः । १५ भुक्तिक्षेत्रे । १६ सम्यक्क्षेत्रादिविभाग ।

न भोक्तुमन्यथाकारं[1] महीं तेभ्यो ददाम्यहम् । कथङ्कारमिदं[2] चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये[3] ॥६६॥
इदं महदनाख्येयं[4] यत्प्राज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाह्वोऽपि[5] भजते विकृतिं कृती ॥६७॥
अबाहुबलिनानेन[6] राजकेन नतेन किम् । नगरेण गरेणेव[7] भुक्तेनापोदनेन[8] किम् ॥६८॥
किं किङ्करैः करालास्त्रप्रतिनिर्जितशात्रवैः । अनाज्ञावशमेतस्मिन् नवविक्रमशालिनि[10] ॥६९॥
किं वा सुरभटैरेभिः उद्भटारभटीरसैः[11] । मय्येवमसमां स्पर्धां तस्मिन्कुर्वति गर्विते ॥७०॥
इति जल्पति संरम्भाच्च[12]क्रपाणावुपक्रमम्[13] । तस्योपचक्रमे कर्तुं पुनरित्थं पुरोहितः ॥७१॥
जितजेतव्यता देव घोषयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वशिना हि सः ॥७२॥
बालास्ते बालभावेन[14] विलसन्त्वपथे[15]ऽप्यलम् । देवे जितारिषड्वर्गे न तमः[16] स्थातुमर्हति ॥७३॥
क्रोधान्धतमसे मग्नं यो नात्मानं समुद्धरेत् । स कृत्यसंशयद्वैधाब्धे[17]स्तरीतुमलन्तराम् ॥७४॥
किं तरां स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् । यः स्वान्तप्रभवान् जेतुम् अरीन्न प्रभवेत्प्रभुः ॥७५॥
तद्देव विरमामुष्मात् संरम्भादपकारिणः । जितात्मानो जयन्ति क्ष्मां क्षमया हि जिगीषवः ॥७६॥

हो सकता हूँ ॥६५॥ और किसी तरह उनके उपभोगके लिये मैं उन्हें यह पृथिवी नहीं दे सकता हूं । उन्हें जीते विना यह चक्ररत्न किस प्रकार विश्राम ले सकता है ? ॥६६॥ यह बड़ी निन्दाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला है, और कार्यकुशल है वह बाहुबली भी विकारको प्राप्त हो रहा है ॥६७॥ बाहुबलीको छोड़कर अन्य सब राजपुत्रोंने नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके विना विषके समान इस नगरका उपभोग भी किया तो क्या हुआ ॥६८॥ जो नवीन पराक्रमसे शोभायमान बाहुबली हमारी आज्ञाके वश नहीं हुआ तो भयंकर शस्त्रोंसे शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले सेवकोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥६९॥ अथवा अहंकारी बाहुबली जब इस प्रकार मेरे साथ अयोग्य ईर्ष्या कर रहा है तब अतिशय शूरवीरतारूप रसको धारण करनेवाले मेरे इन देवरूप योद्धाओं से क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ इस प्रकार जब चक्रवर्ती क्रोधसे बहुत बढ़ बढ़कर बातचीत करने लगे तब पुरोहितने उन्हें शान्त कर उपायपूर्वक कार्य प्रारम्भ करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार उद्योग किया ॥७१॥ हे देव, मैंने जीतने योग्य सबको जीत लिया है ऐसी घोषणा करते हुए भी आप क्रोधके वेगसे व्यर्थ ही क्यों जीते गये ? जितेन्द्रिय पुरुषोंको तो क्रोधका वेग पहले ही जीतना चाहिये ॥७२॥ वे आपके भाई बालक हैं इसलिये अपने बालस्वभाव से कुमार्गमें भी अपने इच्छानुसार क्रीडा कर सकते हैं परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे आपमें यह अन्धकार ठहरने के योग्य नहीं है अर्थात् आपको क्रोध नहीं करना चाहिये ॥७३॥ जो मनुष्य क्रोधरूपी गाढ़ अन्धकारमें डूबे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं करता वह कार्यके संशयरूपी द्विविधासे पार होनेके लिये समर्थ नहीं है । भावार्थ–क्रोधसे कार्यकी सिद्धि होनेमें सदा सन्देह बना रहता है ॥७४॥ जो राजा अपने अन्तरङ्गसे उत्पन्न होनेवाले शत्रुओंको जीतनेके लिये समर्थ नहीं है वह अपने आत्माको नहीं जाननेवाला कार्य और अकार्यको कैसे जान सकता है ? ॥७५॥ इसलिये हे देव, अपकार करनेवाले इस क्रोधसे दूर रहिये क्योंकि जीतनेकी इच्छा रखनेवाले जिते-

---

१ अन्यथा । २ कथम् । ३ तेषां जयाभावे । ४ अवाच्यम् । ५ बाहुबलिनामा । ६ बाहुबलिराज-रहितेन । ७ गरलेनेव । ८ पोदनपुररहितेन । ९–र्जित– म०, द० । १० बाहुबलिनि । ११ अधिकभयानकरसैः । १२ क्रोधात् । १३ युद्धारम्भम् । १४ बालत्वेन । १५ [illegible] इत्यर्थः । १६ अज्ञानम् । १७ कार्यसन्देहद्वैविध्यात् ।

विजितेन्द्रियवर्गाणां सुश्रुतश्रुतसम्पदाम्। परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ॥७७॥
लेखसाध्ये च कार्येऽस्मिन् विफलोऽतिपरिश्रमः। तृणाङ्कुरे नखच्छेद्ये कः परशुमुद्धरेत् ॥७८॥
ततस्तितिक्षमाणेन[1] साध्यो भ्रातृगणस्त्वया। सोपचारं प्रयुक्तेन वचोहरगणेन सः ॥७९॥
अद्यैव च प्रहेतव्याः समं लेखैर्वचोहराः। गत्वा ब्रूयुश्च तानेतं[3] धर्मिणं भजतप्रजम् ॥८०॥
कल्पानोकहसेवेव तत्सेवाऽभीष्टदायिनी। गुरुकल्पोऽग्रजश्चक्री स मान्यः[4] सर्वथापि वः ॥८१॥
विदूरस्थैर्न युष्माभिः ऐश्वर्यं तस्य राजते। तारागणैरनासन्नैरिव बिम्बनिशां पतेः ॥८२॥
साम्राज्यं नास्य तोषाय युष्मदभिर्विना भवेत्। सहभोग्यं हि बन्धूनाम् अधिराज्यं सतां मुदे ॥८३॥
इदं वाचिकमन्यत्तु लेखार्थादवधार्यताम्। इति सोपायनैर्लेखैः प्रत्याय्यास्ते[5] मनस्विनः ॥८४॥
यशस्य[6]मिदमेवार्य कार्यं श्रेयस्यमेव[8] च। चिन्त्यमुत्तरकार्यं च साम्ना तेष्ववशेषु वै ॥८५॥
बिभ्यता जन[9]निर्वादाद् अनुष्ठेयमिदं त्वया। स्थायुक[10] हि यशो लोके ग[11]त्वर्यो ननु संपदः ॥८६॥
इति तद्वचनाच्चक्री वृत्तिमारभटीं जहौ। अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥८७॥
आस्तां भुजबली तावद् यत्नसाध्यो[12] महाबलः। शेषैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृभिस्तद् द्विजिह्वताम्[13] ॥८८॥

न्द्रिय पुरुष केवल क्षमाके द्वारा ही पृथिवीको जीतते हैं ॥७६॥ जिन्होंने इन्द्रियोंके समूहको जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदाका अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोकको जीतने की इच्छा रखते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है ॥७७॥ जो लेख लिख कर भी किया जा सकता है ऐसे इस कार्यमें अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योंकि जो तृणका अंकुर नखसे तोडा जा सकता है उसके लिये भला कौन कुल्हाडी उठाता है ॥७८॥ इसलिये आपको शान्त रहकर भेंटसहित भेजे हुए दूतोंके द्वारा ही यह भाइयोंका समूह वश करना चाहिये ॥७९॥ आज ही आपको पत्रसहित दूत भेजना चाहिये, वे जाकर उनसे कहें कि चलो और अपने बड़े भाईकी सेवा करो ॥८०॥ उनकी सेवा कल्पवृक्षकी सेवाके समान आपके सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली होगी। वह आपका बडा भाई पिताके तुल्य है, चक्रवर्ती है और सब तरहसे आप लोगोंके द्वारा पूज्य है ॥८१॥ जिस प्रकार दूर रहनेवाले तारागणोंसे चन्द्रमाका बिम्ब सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार दूर रहनेवाले आप लोगोंसे उनका ऐश्वर्य सुशोभित नहीं होता है ॥८२॥ आप लोगोंके बिना यह राज्य उनके लिये संतोष देनेवाला नहीं हो सकता क्योंकि जिसका उपभोग भाइयोंके साथ साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषोंको आनन्द देनेवाला होता है ॥८३॥ 'यह मौखिक संदेश है, बाकी समाचार पत्रसे मालूम कीजिये' इस प्रकार भेंटसहित पत्रोंके द्वारा उन प्रतापी भाइयोंको विश्वास दिलाना चाहिये ॥८४॥ हे आर्य, आपके लिये यही कार्य यश देनेवाला है और यही कल्याण करनेवाला है यदि वे इस तरह शान्तिसे वश न हो तो फिर आगेके कार्यका विचार करना चाहिये ॥८५॥ आपको लोकापवादसे डरते हुए यही कार्य करना चाहिये क्योंकि लोकमें यश ही स्थिर रहनेवाला है, सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जानेवाली हैं ॥८६॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोंसे चक्रवर्तीने अपनी क्रोधपूर्ण वृत्ति छोड़ दी सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की चित्तकी वृत्ति अनुकूल वचन कहनेसे ही ठीक हो जाती है ॥८७॥ इस समय जो प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकता ऐसा महाबलवान् बाहुबली दूर रहे पहले शेष भाइयोंके द्वारा ही

---

१ धन्नुम्। २ सहमानेन। ३ आगच्छत। ४ पूज्य। ५ संदेशवाक्। 'संदेशवाग् वाचिकं स्यादित्यभिधानात्'। ६ विश्वास्याः। ७ यशस्करम्। ८ श्रेयस्करम्। ९ जनापवादात्। १० स्थिरतरम्। ११ गमनशीलाः। १२ इत आरभ्य महामुख अ०, प०, स०, द०, ल०। १३ बाहुबलिनः कुटिलताम्।

इति निर्धार्य कार्यज्ञान् कार्ययुक्तौ विविक्तधीः । प्राहिणोत् स निसृष्टार्थान्[1] दूतानानुजसन्निधिम् ॥८९॥
गत्वा च ते[2] यथोद्देशं दृष्ट्वा तांस्तान् यथोचितम् । ऊचुः सन्देशमीशस्य तेभ्यो दूता यथास्थितम् ॥९०॥
अथ ते सह सम्भूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानित्यूचुरारूढप्रभुत्वमदकर्कशाः ॥९१॥
यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं नोऽभिसम्मतम् । गुरोरसन्निधौ पूज्यो ज्यायान् भ्राताऽनुजैरिति ॥९२॥
प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतपत्येष[3] विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं हि नः ॥९३॥
तदत्र गुरुपादाज्ञा तन्त्रा[4] न स्वैरिणो[5] वयम् । न देयं भरतेशेन नादेयमिह किञ्चन ॥९४॥
यत्तु नः संविभागार्थम् इदमामन्त्रणं कृतम् । चक्रिणा तेन सुप्रीता[6] आकण्ठं वयमागताः[7] ॥९५॥
इति सत्कृत्य तान्दूतान् सन्मानैः प्रभुवत्ततः । विहितोपायना[10] सद्यः प्रतिलेखं व्यसर्जयन् ॥९६॥
दूतसात्कृतसन्मानाः[11] प्रभुसात्कृतवाचिकाः[12] । गुरुसात्कर्तुं तत्कार्यं[13] प्रापुस्ते गुरुसन्निधिम् ॥९७॥
गत्वा च गुरुमद्राक्षुः मितोचितपरिच्छदाः[14] । महागिरिमिवोत्तुङ्गं कैलासशिखरासनम्[15] ॥९८॥
प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निदं वाक्यं कुमारा मारविद्विषम् ॥९९॥
त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानस्त्वत्तः प्राप्ताः परां श्रियम् । त्वत्प्रसादैषिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे[16] ॥१००॥

उनकी कुटिलताकी परीक्षा करूँगा। इस प्रकार निश्चय कर कार्य करनेमें जिसकी बुद्धि कभी भी मोहित नहीं होती ऐसे चक्रवर्तीने कार्यके जाननेवाले निःसृष्टार्थ दूतोंको अपने भाइयों के समीप भेजा ॥८८–८९॥ उन दूतोंने भरतके आज्ञानुसार जाकर उनके योग्यरीतिसे दर्शन किये और उनके लिये चक्रवर्तीका संदेश सुनाया ॥९०॥ तदनन्तर–प्राप्त हुए ऐश्वर्यके मद से जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे सब भाई दूतोंके द्वारा कार्यका निवेदन हो चुकनेपर परस्परमें मिलकर उनसे इस प्रकार वचन कहने लगे ॥९१॥ कि जो आदिराजा भरतने कहा है वह सच है और हम लोगोंको स्वीकार है क्योंकि पिताके न होनेपर बड़ा भाई ही छोटे भाइयोंके द्वारा पूज्य होता है ॥९२॥ परन्तु समस्त संसारको जानने देखनेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हींका दिया हुआ है ॥९३॥ इसलिये हम लोग इस विषयमें पिताजीके चरणकमलोंकी आज्ञाके आधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इस संसारमें हमें भरतेश्वरसे न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥९४॥ तथा चक्रवर्तीने हिस्सा देनेके लिये जो हम सबको आमन्त्रण दिया है अर्थात् बुलाया है उससे हम लोग बहुत संतुष्ट हुए हैं और गले तक तृप्त हो गये हैं ॥९५॥ इस प्रकार राजाओंकी तरह योग्य सन्मानोंसे उन दूतों का सत्कार कर तथा भरतके लिये उपहार देकर और बदलेके पत्र लिखकर उन राजकुमारोंने दूतोंको शीघ्र ही विदा कर दिया ॥९६॥ इस प्रकार जिन्होंने दूतोंका सन्मान कर भरतके लिये योग्य उत्तर दिया है ऐसे वे सब राजकुमार, पूज्य पिताजीका दिया हुआ कार्य उन्हींको सौंपनेके लिये उनके समीप पहुंचे ॥९७॥ जिनके पास परिमित तथा योग्य सामग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने किसी महापर्वतके समान ऊंचे और कैलासकी शिखरपर विराजमान पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥९८॥ उन राजकुमारोंने विधिपूर्वक प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजा की और फिर कामदेवको नष्ट करनेवाले भगवान्से नीचे लिखे वचन कहे ॥९९॥ हे देव, हम लोगोंने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पाई है और अब भी आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हैं, हम लोग आपको छोड़कर और किसीकी

[1]गुरुप्रसाद इत्युच्चैः जनो वक्त्येव केवलम् । वयं तु तद्रसाभिज्ञास्त्वत्प्रसादार्जित[2]श्रियः ॥१०१॥
त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम् । त्वद्वचःकिङ्कराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु[3] नापरम् ॥१०२॥
इति स्थिते प्रणामार्थं भरतोऽस्माञ्जुहूषति[4] । तन्नात्र कारणं विद्मः किं मदः किमु मत्सरः ॥१०३॥
युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्ललितं[5] शिरः । नान्यप्रणमने देव धृतिं बध्नाति जातु नः ॥१०४॥
किमम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरं वारि मानसे । निषेव्य राजहंसोऽयं रमतेऽन्यसरोजले ॥१०५॥
किमप्सरःशिरोजान्त[6]सुमनोगन्धलालितः । तुम्बीवनान्त[7]मभ्येति[8] प्राणान्तेऽपि मधुव्रतः ॥१०६॥
मुक्ताफलाच्छमापाय[9] गगनाम्बु नवाम्बुदात् । शुष्यत्सरोऽम्बु किं वाञ्छेदुदन्यन्नपि[10] चातकः ॥१०७॥
इति युष्मत्पदाब्जन्म[11]रजोरञ्जितमस्तकाः । प्रणन्तुमसदाप्ता[12]नामिहामुत्र[13] च नेश्महे[14] ॥१०८॥
परप्रणामविमुखीं भयसङ्गविवर्जिताम् । वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पार्श्वमुपागताः ॥१०९॥
तद्देव कथयास्माकं हितं पथ्यं च वर्त्म यत् । येनेहामुत्र च स्याम[15] त्वद्भक्तिदृढवासनाः ॥११०॥
परप्रणामसञ्जातमानभङ्गभयातिगाम्[16] । पदवीं तावकीं[17] देव भजेमहि[18] भवे भवे ॥१११॥
मानखण्डनसम्भूतपरिभूति[19]भयातिगाः । योगिनः सुखमेधन्ते वनेषु हरिभिः समम् ॥११२॥

उपासना नहीं करना चाहते ॥१००॥ इस संसारमें लोग यह 'पिताजीका प्रसाद है'–ऐसा केवल कहते ही हैं परन्तु आपके प्रसादसे जिन्हें उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग इस वाक्यके रसका अनुभव ही कर चुके हैं ॥१०१॥ आपको प्रणाम करनेमें तत्पर, आपके प्रसन्नता को चाहनेवाले और आपके वचनोंके किंकर हम लोगोंका चाहे जो हो परन्तु हम लोग और किसीकी उपासना नहीं करना चाहते हैं ॥१०२॥ ऐसा होनेपर भी भरत हम लोगोंको प्रणाम करनेके लिये बुलाता है सो इस विषयमें उसका मद कारण है अथवा मात्सर्य यह हम लोग कुछ नहीं जानते ॥१०३॥ हे देव, जो आपको प्रणाम करनेके अभ्यासके रससे मस्त हो रहा है ऐसा यह हमारा शिर किसी अन्यको प्रणाम करनेमें संतोष प्राप्त नहीं कर रहा है ॥१०४॥ क्या यह राजहंस मानसरोवरमें कमलोंकी परागकी समूहसे पीले हुए जलकी सेवा कर किसी अन्य तालाबके जलकी सेवा करता है ? अर्थात् नहीं करता है ? ॥१०५॥ क्या अप्सराओं के केशोंमें लगे हुए फूलोंकी सुगन्धसे सन्तुष्ट हुआ भ्रमर प्राण जानेपर भी तूबीके वनमें जाता है अर्थात् नहीं जाता है ॥१०६॥ अथवा जो चातक नवीन मेघसे गिरते हुए मोतीके समान स्वच्छ आकाशगत जलको पी चुका है क्या वह प्यासा होकर भी सूखते हुए सरोवरके जलको पीना चाहेगा ? अर्थात् नहीं ॥१०७॥ इस प्रकार आपके चरणकमलोंकी परागसे जिनके मस्तक रंग रहे हैं ऐसे हम लोग इस लोक तथा परलोक–दोनों ही लोकोंमें आप्तभिन्न देव और मनुष्यों को प्रणाम करनेके लिये समर्थ नहीं हैं ॥१०८॥ जिसमें किसी अन्यको प्रणाम नहीं करना पड़ता, और जो भयके सम्बन्धसे रहित है ऐसी वीरदीक्षाको धारण करनेके लिये हम लोग आपके समीप आये हुए हैं ॥१०९॥ इसलिये हे देव, जो मार्ग हित करनेवाला और सुख पहुंचाने वाला हो वह हम लोगोंको कहिये जिससे इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें हम लोगों की वासना आपकी भक्तिमें दृढ़ हो जावे ॥११०॥ हे देव, जो दूसरोंको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुए मानभङ्गके भयसे दूर रहती है ऐसी आपकी पदवीको हम लोग भवभवमें प्राप्त होते रहें ॥१११॥ मानभङ्गसे उत्पन्न हुए तिरस्कारके भयसे दूर रहनेवाले योगी लोग वनों

---

१ गुरुप्रसादसामर्थ्यं । २ प्रसादोर्जित–द०, स० । ३ यत्किञ्चिद् भवति तदस्तु । ४ आह्वातुमिच्छति । ५ लालितम् । ६ देवस्त्रीणां केशाभ्यपुष्पगन्धलालितः । ७ अलाबुवनमध्यम् । ८ अभिगच्छति । ९–मापीय द०, स० । आपाय – पीत्वा । १० पिपासुरपि । ११ पदकमल । १२ नमस्कर्तुम् । १३ अनाप्तानाम् । १४ समर्था न भवाम । १५ भवाम । लोट् । १६ अतिक्रान्ताम् । १७ तव सम्बन्धिनीम् । १८ प्राप्नुम । भजप्राप्तावात्मनेपदम् । १९ परिभव ।

ब्रुवाणानिति साक्षेपं स्थापयन्पथि शाश्वते। भगवानिति तानुच्चैः अन्वशादनुशासिता[1] ॥११३॥
महामना[2] वपुष्मन्तो[3] वयसत्त्वगुणान्विताः। कथमन्यस्य संवाह्या यूयं भद्रा द्विपा इव ॥११४॥
भङ्गिना[4] किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम्। किञ्च भो यौवनोन्मादैः ऐश्वर्यबलदूषितैः ॥११५॥
किं बलैर्बलिनां गम्यैः किं [5]हार्यैर्वस्तुवाहनैः। तृष्णाग्निबोधनैरेभिः किं धनैरिन्धनैरिव ॥११६॥
भुक्त्वापि सुचिरं कालं यैर्न तृप्तिः क्लमः[6] परम्। विषयैस्तैरलं भुक्तैर्विषमिश्रैरिवाशनैः ॥११७॥
किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः। स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितम्भव.[7] ॥११८॥
यत्र[8] शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः। कलत्रं सर्वभोगीणा[9] धरा राज्यं धिगीदृशम् ॥११९॥
भुनक्तु नृपशार्दूलो[10] भरतो भरतावनिम्। 'यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्रालं वोऽतितिक्षया[11]' ॥१२०॥
तेनापि[12] त्याज्यमेवेदं राज्यं भङ्गि[13] यदा सदा। हेतोरशाश्वतस्यास्य युध्यध्वे बत किं मुधा ॥१२१॥
[14]तदलं स्पर्द्धया दध्वं यूयं धर्ममहातरोः। दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्[15] ॥१२२॥
पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत्। तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम् ॥१२३॥
दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेयं प्राणवल्लभा। इति ज्याय[16]स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम् ॥१२४॥

मे सिंहोंके साथ सुखसे बढते रहते हैं ॥११२॥ इस प्रकार आक्षेपसहित कहते हुए राजकुमारों को अविनाशी मोक्षमार्गमें स्थित करते हुए हितोपदेशी भगवान् वृषभदेव इस प्रकार उपदेश देने लगे ॥११३॥ महा अभिमानी और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य अवस्था, बल और गुणोंसे सहित तुम लोग उत्तम हाथियोंके समान दूसरोंके सवाहर्य अर्थात् सेवक (पक्ष मे वाहन करने योग्य सवारी) कैसे हो सकते हो ? ॥११४॥ हे पुत्रो, इस विनाशी राज्यसे क्या हो सकता है ? इस चंचल जीवनसे क्या हो सकता है ? और ऐश्वर्य तथा बलसे दूषित हुए इस यौवनके उन्मादसे क्या हो सकता है ? ॥११५॥ जो बलवान् मनुष्योंके द्वारा जीती जा सकती हैं ऐसी सेनाओंसे क्या प्रयोजन है ? जिनकी चोरी की जा सकती है ऐसे सोना चांदी हाथी घोड़ा आदि पदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? और ईंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाले इस धनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥११६॥ चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती, उल्टा अत्यन्त परिश्रम ही होता है ऐसे विष मिले हुए भोजन के समान इन विषयोंका उपभोग करना व्यर्थ है ॥११७॥ हे पुत्रो, तुमने जिसका कभी आस्वादन नहीं किया हो ऐसा भी क्या कोई विषय बाकी है ? यह सब विषयोंका वही आस्वाद है जिसका कि तुम अनेक बार आस्वादन (अनुभव) कर चुके हो फिर भला तुम्हें इनसे संतोष कैसे हो सकता है ? ॥११८॥ जिसमें शस्त्र मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई वगैरह शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथिवी ही स्त्री हो जाती है ऐसे राज्यको धिक्कार हो ॥११९॥ जब तक पुण्यका उदय है तब तक राजाओंमें श्रेष्ठ भरत इस भरत क्षेत्रकी पृथिवीका पालन करें इस विषयमें तुम लोगोंका क्रोध करना व्यर्थ है ॥१२०॥ यह विनश्वर राज्य भरतके द्वारा भी जब कभी छोडा ही जावेगा इसलिये इस अस्थिर राज्यके लिये तुम लोग व्यर्थ ही क्यों लडते हो ॥१२१॥ इसलिये ईर्ष्या करना व्यर्थ है, तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिसपर मुक्तिरूपी महाफल लगता है ॥१२२॥ जो दूसरोंकी आराधनासे उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है बल्कि दूसरे पुरुष ही जिसकी आराधना करते हैं ऐसा तपश्चरण ही महाअभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोंके मानकी रक्षा करनेवाला है ॥१२३॥ जिसमें दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, गुण ही सेवक

---

१ उपदेशं। २ महाभिमानिन प्रमाणवत्। ३ संवाह्या। ४ विनश्वरेण। ५ हार्यं [illegible]। ६ ग्लानिः। ७ तृप्ति। ८ राज्ये। ९ सर्वेषां भोगेभ्यो हिता। १० नृपश्रेष्ठ। ११ [illegible]। १२ भरतेनापि। १३ तस्मिन् काले विनश्वरमिति। १४ तस्मात्। १५ [illegible]। १६ [illegible]।

इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यं परं निर्वेदमागताः। महाप्राव्राज्यमास्थाय[1] निष्क्रान्तास्ते गृहाद्वनम्[2] ॥१२५॥
निर्दिष्टां गुरुणा साक्षाद्दीक्षां नववधूमिव। नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपार्थिवाः ॥१२६॥
या कचग्रहपूर्वेण प्रणयेनाति[3]भूमिगा[4]। तया पाणिगृहीत्येव[5] दीक्षया ते धृतिं[6] दधुः ॥१२७॥
तपस्तीव्रमथासाद्य ते चकासुर्नृपर्षयः। स्वतेजोरुद्धविश्वाशा[7] ग्रीष्ममर्कां[8]शवो यथा ॥१२८॥
तेऽतितीव्रैस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनुं दधुः। तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णामिव दीप्तां तपोगुणैः ॥१२९॥
स्थिताः सामयिके वृत्ते[9] जिनकल्पविशेषिते। ते तेपिरे तपस्तीव्रं ज्ञानशुद्धयुपबृंहितम् ॥१३०॥
वैराग्यस्य परां[10] कोटीम् आरूढास्ते युगेश्वराः। स्वसाच्चक्रुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुत्सुकाः ॥१३१॥
तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता[11] मुक्तिलक्ष्म्यां कृतस्पृहाः। ज्ञानसंपत्प्रसक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥१३२॥
द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धमधीत्यैते महाधियः। तपो भावनयात्मानमलञ्चक्रुः प्रकृष्टया ॥१३३॥
स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः। इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियमादधुः ॥१३४॥
आचाराङ्गेन निःशेषं साध्वाचारमवेदिषुः। चर्याशुद्धि[12]मतो[13] रेजुः प्रतिक्रम[14]विवर्जिताम् ॥१३५॥

है; और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इस प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है ॥१२४॥ इस प्रकार भगवान्‌के वचन सुनकर वे सब राजकुमार परम वैराग्यको प्राप्त हुए और महादीक्षा धारण कर घरसे वनके लिये निकल पड़े ॥१२५॥ साक्षात् भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई दीक्षाको नई स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१२६॥ उनकी वह दीक्षा किसी राजकन्याके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार राजकन्या कचग्रह अर्थात् केश पकड़कर बड़े प्रणय अर्थात् प्रेमसे समीप आती है उसी प्रकार वह दीक्षा भी कचग्रह अर्थात् केश लोचकर बड़े प्रणय अर्थात् शुद्ध नयोंसे उनके समीप आई हुई थी इस प्रकार राजकन्याके समान सुशोभित होनेवाली दीक्षाके दोनों हाथ पाकर (पक्षमें पाणिग्रहण संस्कार कर) वे राजकुमार अन्तःकरणमें सुखको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ अथानन्तर जिन्होंने अपने तेजसे समस्त दिशाओंको रोक लिया है ऐसे वे राजर्षि तीव्र तपश्चरण धारण कर ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी किरणोंके समान अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२८॥ वे राजर्षि जिस शरीरको धारण किये हुए थे वह तीव्र तपश्चरणसे कृश होनेपर भी तपके गुणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा ही गया हो ॥१२९॥ वे लोग जिनकल्प नामके सामायिक चारित्रमें स्थित हुए और ज्ञानकी विशुद्धिसे बढ़ा हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥१३०॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त हुए उन तरुण राजर्षियोंने राज्यलक्ष्मीसे इच्छा छोड़कर तपरूपी लक्ष्मीको अपने वश किया था ॥१३१॥ वे राजकुमार तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा आलिङ्गित हो रहे थे, मुक्तिरूपी लक्ष्मीमें उनकी इच्छा लग रही थी और ज्ञानरूपी संपदामें आसक्त हो रहे थे। इस प्रकार वे राज्यलक्ष्मीको बिलकुल ही भूल गये थे ॥१३२॥ उन महाबुद्धिमानोंने द्वादशाङ्गरूप श्रुतस्कन्धका अध्ययन कर सर्वोत्कृष्ट भावनासे अपने आत्माको अलंकृत किया था ॥१३३॥ स्वाध्याय करनेसे मनका निरोध होता है और मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है यही समझकर उन धीर-वीर मुनियोंने स्वाध्यायमें अपनी बुद्धि लगाई थी ॥१३४॥ उन्होंने आचारांगसे

ततोऽमी श्रुतनिःशेषश्रुतार्थाः श्रुतचक्षुषः । श्रुतार्थभावनोत्कर्षाद् दधुः शुद्धिं तपोविधौ ॥१४८॥
वाग्देव्या सममालापो मया मौनमनारतम् । इतीर्ष्यन्तीव सन्ताप व्यधत्तैषु तपःक्रिया ॥१४९॥
तनुतापमसह्यं ते सहमानाः मनस्विनः । बाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥१५०॥
ग्रीष्मेऽर्ककरसन्तापं सहमानाः सुदुःसहम् । ते भेजुरातपस्थानम् आरूढगिरिमस्तकाः ॥१५१॥
शिलातलेषु तप्तेषु निवेशितपदद्वयाः । प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रग्रावगोचरे[1] ॥१५२॥
तप्तपांसुचिता भूमिः दावदग्धा वनस्थली । याता जलाशयाः शोषं दिशो धूमान्धकारिताः ॥१५३॥
इत्यत्युग्रतरे ग्रीष्मे सम्प्लुष्ट[2]गिरिकानने । तस्थुरातपयोगेन ते सोढजरठातपाः[3] ॥१५४॥
मेघान्धकारिताशेषदिक्चक्रे जलदागमे । योगिनो गमयन्ति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥१५५॥
मुसलस्थूलधाराभिः वर्षत्सु जलवाहिषु[4] । निशामनैषुर[5]व्यथ्या[6] वार्षिकी[7] ते महर्षयः ॥१५६॥
ध्यानगर्भ[8]गृहान्तःस्था धृतिप्रावारसंवृताः[9] । सहन्ते स्म महासत्त्वास्ते घनाघनदुर्दिनम् ॥१५७॥
ते हिमानी[10]परिश्लिष्टा तनुयष्टिं हिमागमे । दधु[11]रभ्यवकाशेषु[12] शयाना मौनमास्थिताः ॥१५८॥
[13]प्रनग्नमुषिता[14] एव नग्नास्तेऽनग्निसेविनः । धृतिसर्वमितै[15]र्दग्धैः सेहिरे हिममारुतान् ॥१५९॥

किया था ॥१४७॥ तदनन्तर जिन्होंने समस्त श्रुतके अर्थोंका श्रवण किया है और श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे मुनि श्रुतज्ञानकी भावनाके उत्कर्षसे तपश्चरणमें विशुद्धता धारण करने लगे ॥१४८॥ ये लोग सरस्वती देवीके साथ तो बातचीत करते हैं और मेरे साथ निरन्तर मौन धारण करते हैं इस प्रकार ईर्ष्या करती हुईके समान तपश्चरणकी क्रिया उन्हें बहुत संताप देती थी ॥१४९॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुए वे तेजस्वी मुनि अतिशय कठिन अन्तरङ्ग और बाह्य दोनों प्रकारका तप चिरकाल तक करते रहे ॥१५०॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतोंके शिखरपर आरूढ होकर अत्यन्त असह्य सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुए वे आतापन योगको प्राप्त हुए थे अर्थात् धूपमें बैठकर तपस्या करते थे ॥१५१॥ पर्वतोंके अग्रभागकी चट्टानोंकी तपी हुई शिलाओंपर दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजाएं लटका कर खड़े होते थे ॥१५२॥ जिस ग्रीष्मऋतुमें पृथिवी तपी हुई धूलिसे व्याप्त हो रही है, वनके सब प्रदेश दावानलसे जल गये हैं, तालाब सूख गये हैं और दिशाएं धूएंसे अन्धकारपूर्ण हो रही हैं इस प्रकारके अत्यन्त कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन जल गये हैं ऐसी ग्रीष्मऋतुमें तीव्र संताप सहन करते हुए वे मुनिराज आतापन योग धारण कर खड़े होते थे ॥१५३-१५४॥ जिसमें समस्त दिशाओंका समूह बादलोंके छा जानेसे अन्धकारयुक्त हो गया है ऐसी वर्षाऋतुमें वे योगी वृक्षोंके नीचे ही अपनी रात्रियां बिता देते थे ॥१५५॥ जब बादल मूसलके समान मोटी मोटी धाराओंसे पानी बरसाते थे तब वे महर्षि वर्षाऋतुकी उन रात्रियोंको निश्चल होकर व्यतीत करते थे ॥१५६॥ ध्यानरूपी गर्भगृहके भीतर स्थित और धैर्यरूपी ओढ़नीको ओढ़े हुए वे महाबलवान् मुनि बादलोंसे ढके हुए दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥१५७॥ शीतऋतुके दिनोंमें मौन धारण कर खुले आकाशमें शयन करते हुए वे मुनि बहुत भारी बर्फसे अत्यन्त दुःखी हुए अपने शरीरको लकड़ीके समान निश्चल धारण करते थे ॥१५८॥ वे मुनि नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे, वस्त्रोंसे रहित हुए के समान सदा निर्द्वन्द्व रहते थे

हैमनीषु[1] निशासु स्थण्डिलाश्ने[2] हिमोच्चयैः । प्रावारितमिवाङ्गं स्वं धीराः स्वैरमशेरत ॥१६०॥
त्रिकालविषयं योगमास्थायेदं[3] दुरुद्वहम् । सुचिरं धारयन्ति स्म धीरास्ते धृतियोगतः ॥१६१॥
दधानास्ते तपस्तापमन्तर्दीप्तं दुरासदम् । रेजुस्तरङ्गिभिरङ्गैः प्रायोऽनुकृतवार्धयः ॥१६२॥
ते स्वभुक्तोज्झितं भूयो नैच्छन् भोगपरिच्छदम् । निर्भुक्तमाल्यनिःसारं मन्यमाना मनीषिणः ॥१६३॥
फेनोर्मिहिमसन्ध्याभ्रचलं जीवितमङ्गिनाम् । मन्वाना दृढमासक्तिं भेजुस्ते पथि शाश्वते ॥१६४॥
संसारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैने मार्गे विमुक्त्यङ्गे ते परां धृतिमादधुः ॥१६५॥
इतोऽन्यदुत्तरं[1] नास्तीत्यास्थाय दृढभावनाः । तेऽमी मनोवचःकायैः श्रद्दधुर्गुरुशासनम् ॥१६६॥
तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते सूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥१६७॥
संवेगजनितश्रद्धाः शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरे । दुरापा भावयामासुस्ते महाव्रतभावनाम् ॥१६८॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्[4] । रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन् ॥१६९॥
यावज्जीवं व्रतेष्वेषु ते दृढीकृतसङ्गराः[6] । त्रिविधेन प्रतिक्रान्त[7]दोषाः शुद्धिं परां दधुः ॥१७०॥
सर्वारम्भविनिर्मुक्ता निर्ममाः[8] निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयन् जैनं व्युत्सृष्टतनुयष्टयः ॥१७१॥

और धैर्यरूपी कवचसे ढके हुए अंगोंसे शीतल पवनको सहन करते थे ॥१५९॥ शीतऋतुकी रात्रियोंमें बर्फके समूहसे ढके हुए वे धीर वीर मुनिराज स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार शयन करते थे मानो उनके अंग वस्त्रसे ही ढके हों ॥१६०॥ इस प्रकार वे धीरवीर मुनि तीनों काल-सम्बन्धी कठिन योग लेकर अपने धैर्यगुणके योगसे उन्हें चिर कालतक धारण करते थे ॥१६१॥ अन्तरङ्गमें देदीप्यमान और अतिशय कठिन तपके तेजको धारण करते हुए वे मुनि तरङ्गोंके समान अपने अङ्गोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो समुद्रका ही अनुकरण कर रहे हों ॥१६२॥ वे बुद्धिमान् अपने द्वारा उपभोग कर छोड़ी हुई भोगसामग्रीको भोगमें आई हुई मालाके समान सारहीन मानते हुए फिर उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥१६३॥ वे प्राणियोंके जीवनको फेन, ओस अथवा संध्याकालके बादलोंके समान चञ्चल मानते हुए अविनाशी मोक्षमार्गमें दृढ़ता के साथ आसक्तिको प्राप्त हुए थे ॥१६४॥ संसारके निवाससे विरक्त हुए और घरके आवास से छूटे हुए वे मुनिराज मोक्षके कारणभूत जिनेन्द्रदेवके मार्गमें परम सन्तोष धारण करते थे ॥१६५॥ इससे बढ़कर और कोई शासन नहीं है इस प्रकारकी मजबूत भावनाएं जिन्हें प्राप्त हो रही हैं ऐसे वे राजर्षि मन वचन कायसे भगवान्‌के शासनका श्रद्धान करते थे ॥१६६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए और अनादिसे चले आये यथार्थ जैनधर्ममें अनुरक्त हुए वे मोक्षाभिलाषी मुनिराज मोक्षके लिये कमर कसकर खड़े हुए थे ॥१६७॥ संवेग होनेसे जिन्हें शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गमें श्रद्धान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे मुनि कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य महाव्रतकी भावनाओंका निरन्तर चिंतवन किया करते थे ॥१६८॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन छह महाव्रतोंका वे निरन्तर पालन करते थे ॥१६९॥ जिन्होंने ऊपर कहे हुए छह व्रतोंकी जीवनपर्यन्तके लिये दृढ़प्रतिज्ञा धारण की है और मन, वचन तथा कायसे उन व्रतोंके समस्त दोष दूर कर दिये हैं ऐसे वे मुनिराज परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१७०॥ जिन्होंने सब प्रकारके आरम्भ छोड़ दिये हैं, जो ममता रहित हैं, परिग्रहरहित हैं और शरीररूप लकड़ीसे भी जिन्होंने ममत्व छोड़ दिया है ऐसे वे

सर्वोपधिविनिर्मुक्ता युक्ता[१] धर्मे जिनोदिते । नैच्छन् बालाग्रमात्रं च द्विधाम्नातं[२] परिग्रहम् ॥१७२॥
निर्मूर्च्छास्ते[३] स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । सन्तोषभावनापास्ततृष्णाः सन्तो विजह्रिरे[४] ॥१७३॥
वसन्ति स्मानिकेतास्ते[५] यत्रास्तं भानुमानितः[६] । तत्रैकत्र[७] क्वचिद्देशे नैःसङ्ग्यं परमास्थिताः[८] ॥१७४॥
विविक्तैकान्तसेवित्वात्[१०] ग्रामेष्वेकाहवासिनः[११] । पुरेष्वपि न पञ्चाहात्परं तस्थुर्नृपर्षयः[१२] ॥१७५॥
शून्यागारश्मशानादिविविक्तालयगोचराः[१३] । ते वीरवसतीर्भेजुः उज्झिताः सप्तभिर्भयैः ॥१७६॥
तेऽभ्यनन्दन् महासत्त्वाः पापसत्त्वैरधिष्ठिताः । गिर्यग्रकन्दरारण्यवसतीः प्रतिवासरम् ॥१७७॥
सिंहर्क्षवृकशार्दूलतरक्ष्वादि[१४]निषेविते । वनान्ते ते वसन्ति स्म तदारसितभीषणे[१५] ॥१७८॥
स्फुरत्तुरगशार्दूलगर्जितप्रतिनिस्वने । आगुञ्जत्पर्वतप्रान्ते[१६] ते स्म तिष्ठन्त्यसाध्वसाः ॥१७९॥
कण्ठीरवकिशोराणां[१७] कठोरैः[१८] कण्ठनिस्वनैः । प्रोन्नादिनि[१९] वने ते स्म निवसन्त्यस्तभीतयः ॥१८०॥
नृत्यत्कबन्धपर्यन्तसञ्चरड्डाकिनीगणाः । प्रवृद्धकौशिक[२१]ध्वाननिरुद्धो[२२]पान्तकाननाः ॥१८१॥
[२३]शिवानाम[२४]शिवैर्ध्वानैः आरुद्धाखिलदिङ्मुखाः । महापितृवनोद्देशा निशास्वेभिः[२५] सिषेविरे[१] ॥१८२॥

मुनि जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥१७१॥ सब प्रकार के परिग्रहसे रहित होकर जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्मका आचरण करते हुए वे राजकुमार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे हुए परिग्रहोंमेंसे बालकी नोकके बराबर भी किसी परिग्रहकी चाह नहीं करते थे ॥१७२॥ जिन्हें अपने शरीरमें भी ममत्व नहीं है, जो धर्मके मार्गमें स्थित हैं और संतोषकी भावनासे जिन्होंने तृष्णाको दूर कर दिया है ऐसे वे उत्तम मुनिराज सब जगह विहार करते थे ॥१७३॥ परिग्रह-त्याग व्रतको उत्कृष्ट रूपसे पालन करने वाले वे गृहरहित मुनिराज जहाँ सूर्य डूब जाता था वहीं किसी एक स्थानमें ठहर जाते थे ॥१७४॥ वे राजर्षि एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना पसन्द करते थे इसलिये गाँवोंमें एक दिन रहते थे और नगरोंमें पाँच दिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥१७५॥ वे मुनि सात भयोंसे रहित होकर शून्यगृह अथवा श्मशान आदि एकान्त-स्थानोंमें वीरताके साथ निवास करते थे ॥१७६॥ वे महाबलवान् राजकुमार सिंह आदि दुष्ट जीवोंसे भरी हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलोंमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥१७७॥ सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदिसे भरे हुए और उन्हींके शब्दोंसे भयंकर वनके बीचमें वे मुनिराज निवास करते थे ॥१७८॥ चारों ओर फैलते हुए व्याघ्रकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोंसे गूँजते हुए पर्वतके किनारों पर वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ सिंहोंके बच्चोंकी कठोर कण्ठगर्जनासे शब्दायमान वनमें मुनिगण भयरहित होकर निवास करते थे ॥१८०॥ जहाँ नाचते हुए शिररहित धड़ोंके समीप डाकिनियोंके समूह फिर रहे हैं जिनके समीपके वन उल्लुओंके प्रचण्ड शब्दोंसे भर रहे हैं और जहाँ शृगालोंके अमङ्गलरूप शब्दोंसे सब दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं ऐसी बड़ी बड़ी श्मशानभूमियोंमें रात्रिके समय वे मुनिराज निवास करते थे ॥१८१–१८२॥

सिंहा इव नृसिंहास्ते[1] तस्थुर्गिरिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतं स्वान्तं अनुद्विग्नं[2] समाहिताः ॥१८३॥
पापसत्त्वशताकीर्णां वनभूमिं भयानकाम्[4] । तेऽध्यवात्सुस्तमिस्रासु निशासु ध्यानमास्थिताः[7] ॥१८४॥
न्यषेवन्त वनोद्देशान् निषेव्यान्वनदन्तिभिः । ते तद्दन्ताग्रनिर्भिन्नतरुस्कन्धपुटितान्तरान्[8] ॥१८५॥
वनेषु वनमातङ्गबृंहितप्रतिनादिनीः । दरीस्तेऽध्यूषुराक्रुष्टैः आक्रान्ताः करिशत्रुभिः[10] ॥१८६॥
स्वाध्याययोगसंसक्ता न स्वपन्ति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनोद्युक्ता जागरूकाः[11] सदाप्यमी ॥१८७॥
पल्यङ्केन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा[12] । शयाना वैकपार्श्वेन शर्वरीरत्यवाहयन्[13] ॥१८८॥
त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बराः । नैष्किञ्चन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥१८९॥
निर्व्यपेक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीथ्यनुगामिनः[14] । व्यहरन् वसुधामेनां सग्रामनगराकराम् ॥१९०॥
विहरन्तो महीं कृत्स्नां ते कस्याप्यनभिद्रुहः[15] । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥१९१॥
जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृशः । सावद्यं परिजह्रुस्ते प्रासुकावसथाशनाः[16] ॥१९२॥
स्याद्यत्किञ्चिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयशुद्ध्यर्थं यावज्जीवमवर्जयन् ॥१९३॥
त्रसान् हरितकायांश्च पृथिव्यप्पवनानलान् । जीवकायानपायेभ्यस्ते[17] स्म रक्षन्ति यत्नतः ॥१९४॥

सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ और पर्वतोंकी गुफाओंमें ठहरनेवाले वे मुनिराज जिनेन्द्रदेवके उपदेशके अनुसार चलनेवाले खेदरहित चित्तसे शान्त होकर निवास करते थे ॥१८३॥ वे मुनिराज अँधेरी रातोंके समय सैंकड़ों दुष्ट जीवोंसे भरी हुई भयंकर वनकी भूमियोंमें ध्यान धारण कर निवास करते थे ॥१८४॥ जो जंगली हाथियोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं तथा जिनके मध्यभाग हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे टूटे हुए वृक्षोंसे ऊँचे नीचे हो रहे हैं ऐसे वनके प्रदेशोंमें वे महामुनि निवास करते थे ॥१८५॥ जिनमें जंगली हाथियोंकी गर्जनाकी प्रतिध्वनि हो रही है और उस प्रतिध्वनिसे कुपित हुए सिंहोंसे जो भर रही हैं ऐसी वनकी गुफाओंमें वे मुनि निवास करते थे ॥१८६॥ वे मुनिराज स्वाध्याय और ध्यानमें आसक्त होकर रात्रियोंमें भी नहीं सोते थे, किन्तु सूत्रोंके अर्थके चिन्तवनमें तत्पर होकर सदा जागते रहते थे ॥१८७॥ वे मुनिराज पर्यंकासनसे बैठकर, वीरासनसे बैठकर अथवा एक करवटसे ही सोकर रात्रियाँ बिता देते थे ॥१८८॥ जिन्होंने परिग्रहका भार छोड़ दिया है, शरीरसे ममत्व दूर कर दिया है, जो वस्त्ररहित हैं और परिग्रहत्यागसे जो अत्यन्त विशुद्ध हैं ऐसे वे धीरवीर मुनि मोक्षका मार्ग ही खोजते रहते थे ॥१८९॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, आशाओंसे रहित और आकाशकी तरह निर्लेप वे मुनिराज गाँव और नगरोंके समूहसे भरी हुई इस पृथिवीपर विहार करते थे ॥१९०॥ समस्त पृथिवीपर विहार करते हुए और किसी भी जीवसे द्रोह नहीं करते हुए वे मुनि दयालु होनेसे समस्त प्राणियोंको पुत्रके तुल्य मानते थे और उनके साथ माताके समान व्यवहार करते थे ॥१९१॥ वे जीव और अजीवके विभागको जाननेवाले थे, ज्ञानके प्रकाशसे उनके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे अथवा ज्ञानका प्रकाश ही उनका स्फुरायमान नेत्र था, वे प्रासुक अर्थात् जीवरहित स्थानमें ही निवास करते थे और उनका भोजन भी प्रासुक ही था, इस प्रकार उन्होंने समस्त सावद्य योगका परिहार कर दिया था ॥१९२॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयकी विशुद्धिके लिये, संसारमें जितने सावद्य (पापारम्भसहित) कार्य हैं उनका जीवन पर्यन्तके लिये त्याग कर दिया था ॥१९३॥ वे त्रसकाय, वनस्पति

---

१ पुरुषश्रेष्ठाः । २ अखेदि । ३ [illegible] । ४ भयङ्करम् । ५ निवसन्ति स्म । ६ अन्धकारवतीषु 'तमिस्रा तामसी रात्रिः' इत्यभिधानात् । ७ आश्रिताः । ८ निम्नोन्नतप्रदेशान् । ९ अधिवसन्ति स्म । १० सिंहैः । ११ जा[illegible]शीलाः । १२ वा । १३ नयन्ति स्म । १४ वायुवन्निरपेक्षा इत्यर्थः । १५ [illegible] । १६ निरवद्यान्नाहाराः । १७ [illegible] ।

अदीनमनसः शान्ताः परमोपेक्षयान्विताः। [1]मुक्तिशाठ्यास्त्रिभिर्गुप्ताः कामभोगेष्वविस्मिताः ॥१९५॥
जिनाज्ञानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः। गर्भवास[2]जरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥१९६॥
श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः। ज्ञानदीपिकया साक्षाच्चक्रुस्ते पदमक्षरम् ॥१९७॥
ते चिरं भावयन्ति स्म सन्मार्गं मुक्तिसाधनम्। परदत्तविशुद्धान्नभोजिनः पाण्यमत्रकाः[3] ॥१९८॥
शङ्कितामिहृतो[4] द्दिष्ट[5]क्रयक्रीतादि[6] लक्षणम्। सूत्रे[7] निषिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥१९९॥
भिक्षां नियतवेलायां गृहपङ्क्त्यनतिक्रमात्। शुद्धामाददिरे धीरा मुनिवृत्तौ[8] समाहिताः ॥२००॥
शीतमुष्णं विरूक्षं च स्निग्धं सलवणं न वा। तनुस्थित्यर्थमाहारमाजह्रुस्ते[10] गतस्पृहाः ॥२०१॥
अक्षम्रक्षणमात्रं ते प्राणधृत्यै[11] विपप्वुः[12]। धर्मार्थमेव[13] च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम् ॥२०२॥
न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ[14] व्यपोढप्राप्यलब्धितः। मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धुतकल्मषाः ॥२०३॥

काय, पृथिवीकाय, जलकाय, वायु काय और अग्नि काय इन छह कायके जीवोंकी बड़े यत्न से रक्षा करते थे ॥१९४॥ उन मुनियोंका हृदय दीनतासे रहित था, वे अत्यन्त शान्त थे, परम उपेक्षासे सहित थे, मोक्ष प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था, तीन गुप्तियोंके धारक थे और काम भोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे ॥१९५॥ वे सदा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चला करते थे, उनका हृदय संसारसे उदासीन रहा करता था और वे गर्भमें निवास करना, बुढ़ापा और मृत्यु इन तीनोंके परिवर्तनसे सदा भयभीत रहते थे ॥१९६॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं और जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं ऐसे वे चतुर मुनिराज ज्ञानरूपी दीपिका के द्वारा अविनाशी परमात्मपदका साक्षात्कार करते थे ॥१९७॥ जो दूसरेके द्वारा दिये हुए विशुद्ध अन्नका भोजन करते हैं तथा हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षके कारणस्वरूप समीचीन मार्गका निरन्तर चिन्तवन करते रहते थे ॥१९८॥ शंकित अर्थात् जिसमें ऐसी शंका हो जावे कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध, अभिहृत अर्थात् जो किसी दूसरेके यहांसे लाया गया हो, उद्दिष्ट अर्थात् जो खासकर अपने लिये तैयार किया गया हो, और क्रयक्रीत अर्थात् जो कीमत देकर बाजारसे खरीदा गया हो इत्यादि आहार जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये निषिद्ध बताया है। वे मुनिराज प्राण जानेपर भी ऐसा निषिद्ध आहार लेनेकी इच्छा नहीं करते थे ॥१९९॥ मुनियोंकी वृत्तिमें सदा सावधान रहनेवाले वे धीरवीर मुनि घरोंकी पंक्तियोंका उल्लंघन न करते हुए निश्चित समयमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥२००॥ जिनकी लालसा नष्ट हो चुकी है ऐसे वे मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिये ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, नमक सहित अथवा बिना नमकका जैसा कुछ प्राप्त होता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥२०१॥ वे मुनि प्राण धारण करनेके लिये अक्षम्रक्षण मात्र ही आहार लेते थे और केवल धर्मसाधन करनेके लिये ही प्राण धारण करते थे। भावार्थ–जिस प्रकार गाड़ी ओंगनेके लिये थोड़ी सी चिकनाईकी आवश्यकता होती है भले ही वह चिकनाई किसी भी पदार्थकी हो इसी प्रकार शरीररूपी गाड़ीको ठीक ठीक चलानेके लिये कुछ आहारकी आवश्यकता होती है भले ही वह सरस या नीरस कैसा ही हो। अल्प आहार लेकर मुनिराज शरीरको स्थिर रखते हैं और उससे संयम धारण कर मोक्षकी प्राप्ति करते हैं वे मुनिराज भी ऐसा ही करते थे ॥२०२॥ वे पाप रहित मुनिराज, आहार मिल जानेपर संतुष्ट नहीं होते थे और नहीं मिलनेपर तपश्चरण

---

१ मुक्तिसाध्या अ०, प०, द०, स०। मुक्तिसाध्या ल०। २ जन्म। ३ पाणिपात्रका द०, ल०, म०, इ०। पाणिपुटभाजना। ४ स्थूलनष्टाशनादिक दत्त्वा स्वीकृत कलमौदनादिक। ५ आत्मानमुद्दिश्य। ६ धनादिकं दत्त्वा स्वीकृतम्। ७ परमागमे। ८ निषेधितम्। ९ यत्याचारे। १० आददुः। ११ प्राणधारणार्थम्। १२ भुञ्जते स्म। १३ धर्म निमित्तम्। १४ लाभे सति।

स्तुतिं निन्दां सुखं दुःखं तथा मानं[1] विमाननाम्[2]। समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥२०४॥
वाचंयमत्व[3]मास्थाय चरन्तो गो[4]चरार्थिनः। निर्यान्ति स्माप्यलाभेन नाभञ्जन् मौनसङ्गरम्[5] ॥२०५॥
महोपवासम्लानाङ्गा यतन्ते स्म तनुस्थितौ। तत्राप्यशुद्धमाहारं [6]नैषिषुर्मनसाऽप्यमी ॥२०६॥
गोचरागता[7] योग्यं भुक्त्वान्नमविलम्बितम्[8]। प्रत्याख्याय[9] पुनर्धीरा निर्ययुस्ते तपोवनम् ॥२०७॥
तपस्तापतनूभूततनवोऽपि मुनीश्वराः। अनवृद्धात्तपोयोगान्न चे[10]लुर्दृढ[11]सङ्गराः ॥२०८॥
तीव्रं तपस्यतां[12] तेषां गात्रेषु श्लथताऽभवत्। प्रतिज्ञा या तु सद्ध्यानसिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥
नाभूत्परिषहैर्भङ्गस्तेषां चिरमुपोषुषाम्। गताः परिषहा एव भङ्गं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥
तपस्तनूनपात्ताप[13]द्भूस्तेषां परा द्युतिः। निष्टप्तस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्न व्यतिरेकिणी[14] ॥२११॥
तपोऽग्नितप्तदीप्ताङ्गास्तेऽन्तःशुद्धिं परां दधुः। तप्तायां तनुमूषायां शुद्ध्यत्यात्मा हि हेमवत् ॥२१२॥
त्वगस्थिमात्रदेहास्ते ध्यानशुद्धिमधुस्तराम्। सर्वं हि परिकर्मेदं[15] बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥
योगजाः सिद्धयस्तेषाम् अणिमादिगुणर्द्धयः। प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम् ॥२१४॥

रूपी अधिक लाभ समझते हुए विषाद नहीं करते थे ॥२०३॥ सब पदार्थोंमें समान दृष्टि रखने वाले वे मुनि स्तुति, निन्दा, सुख, दुःख तथा मान-अपमान सभीको समान रूपसे देखते थे ॥२०४॥ वे मुनि मौन धारण करके ईर्यासमितिसे गमन करते हुए आहारके लिये जाते थे और आहार न मिलनेपर भी मौनव्रतकी प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं करते थे ॥२०५॥ अनेक महोपवास करनेसे जिनका शरीर म्लान हो गया है ऐसे वे मुनिराज केवल शरीरकी स्थितिके लिये ही प्रयत्न करते थे परन्तु अशुद्ध आहारकी मनसे भी कभी इच्छा नहीं करते थे ॥२०६॥ गोचरीवृत्तिके धारण करनेवालोंमें मुख्य वे धीरवीर मुनिराज शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजन कर तथा आगेके लिये प्रत्याख्यान कर तपोवनके लिये चले जाते थे ॥२०७॥ यद्यपि तपश्चरणके संतापसे उनका शरीर कृश हो गया था तथापि दृढ़ प्रतिज्ञाको धारण करनेवाले वे मुनिराज प्रारम्भ किये हुए तपसे विराम नहीं लेते थे ॥२०८॥ तीव्र तपस्या करनेवाले उन मुनियोंके शरीरमें यद्यपि शिथिलता आ गई थी तथापि समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिये जो उनकी प्रतिज्ञा थी वह शिथिल नहीं हुई थी ॥२०९॥ चिरकाल तक उपवास करनेवाले उन मुनियोंका परीषहोंके द्वारा पराजय नहीं हो सका था बल्कि परीषह ही उन्हें जीतनेके लिये असमर्थ होकर स्वयं पराजयको प्राप्त हो गये थे ॥२१०॥ तपरूपी अग्निके संतापसे उनके शरीरकी कान्ति बहुत ही उत्कृष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि तपे हुए सुवर्णकी दीप्ति बढ़ ही जाती है ॥२११॥ तपश्चरणरूपी अग्निमें तप्त होकर जिनके शरीर अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे वे मुनिराज अन्तरङ्गकी परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शरीररूपी मूसा (साँचा) तपाये जानेपर आत्मा सुवर्णके समान शुद्ध हो ही जाती है ॥२१२॥ यद्यपि उनके शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डी ही रह गई थी तथापि वे ध्यानकी उत्कृष्ट विशुद्धता धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि समस्त बाह्य साधन केवल आत्मशुद्धिके लिये ही हैं ॥२१३॥ योगके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ उन मुनियोंमें प्रकट हो गई थीं सो ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तप बहुत बड़े बड़े फल उत्पन्न करता है ॥२१४॥

---

१ पूजाम्। २ अवमानाम्। ३ मौनित्वम्। ४ आहार। ५ मौनप्रतिज्ञाम्। ६ इच्छां न चक्रुः। ७ गोचरवृत्तिधारका मुख्या वा। ८ शीघ्रम्। ९ प्रत्याख्यानं कृत्वा। १० –नारेभु– ज०, ग०, ब०, प०, ख०। ११ दृढप्रतिज्ञाः। १२ तपः कुर्वताम्। १३ तपोऽग्निरूपाग्निसन्तापात्। १४ न व्यतिरेकिणी ग०, ख०। १५ उपवासादि।

तपोमयः प्रणीतो[1]ऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन् । विधिज्ञास्ते[2] सुयज्वानो मन्त्रः स्वायम्भुवं वचः ॥२१५॥
महाध्वर[3]पतिर्देवो वृषभो दक्षिणा[4] दया । फलं कामितसंसिद्धिः अपवर्गः क्रियावधिः[5] ॥२१६॥
[6]इतीमामार्षभीमिष्टि[7]म् अभिसन्धाय तेऽञ्जसा । प्रावीवृत[8]न्ननूचानाः[9] तपोयज्ञमनुत्तरम् ॥२१७॥
इत्यमूमनगाराणां परां सङ्गीर्य[10] भावनाम् । तां तथा [11]निर्वहन्ति स्म निसर्गोऽयं महीयसाम् ॥२१८॥
किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्यविप्लुता । तां कृत्स्ना ते स्वसाच्चक्रुः त्यक्तराजन्यविक्रियाः[12] ॥२१९॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं पुराणपुरुषादधिगम्य बोधं
तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसाः ।
ये राज्यभूमिमवधूय[13] विधूतमोहाः
प्राव्राजिषुर्भरतराजमनन्तुकामाः[14] ॥२२०॥
ते धीरवा[15] मुनिवराः पुरुधैर्यसारा
धीरानगारचरितेषु[16] कृतावधानाः ।
योगीश्वरानु[17]गतमार्गमनुप्रपन्नाः
शं[18] नो[19] दिशन्त्वखिललोकहितैकतानाः[20] ॥२२१॥

जिसमें तपश्चरण ही संस्कार की हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधानको जाननेवाले वे मुनि ही होम करनेवाले थे । श्री जिनेन्द्रदेवके वचन ही मन्त्र थे, भगवान् वृषभदेव ही यज्ञके स्वामी थे, दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होना ही फल था और मोक्षप्राप्त होना ही कार्यकी अन्तिम अवधि थी । इस प्रकार भगवान् ऋषभदेवके द्वारा कहे हुए यज्ञका सकल्प कर उन तपस्वियोंने तपरूपी श्रेष्ठ यज्ञकी प्रवृत्ति चलाई थी ॥२१५–२१७॥ इस तरह वे मुनि, मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञा कर उसका अच्छी तरह निर्वाह करते थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥२१८॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन सब मुनियोंने राज्यअवस्थामें होनेवाले समस्त विकार भावोंको छोडकर अनादि कालसे जितनी भी वास्तविक क्रियाएं चली आती थी उन सबको अपने आधीन कर लिया था ॥२१९॥

इस प्रकार पुराण पुरुष-भगवान् आदिनाथसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कर जो उनके तीर्थरूपी मानससरोवरके प्रिय राजहंस हुए थे, जिन्होंने राज्यभूमिका परित्याग कर सब प्रकारका मोह छोड दिया था, जो भरतराजको नमस्कार नहीं करनेकी इच्छासे ही दीक्षित हुए थे, उत्कृष्ट धैर्य ही जिनका बल था, जो धीरवीर मुनियोंके आचरण करनेमें सदा सावधान रहते थे, जो योगिराज भगवान् वृषभदेवके द्वारा अंगीकार किये हुए मार्गका पालन करते थे और जो

---

१ संस्कृताग्नि 'प्रणीत संस्कृतानल' इत्यभिधानात् । २ तपोधना । ३ महायज्ञ । ४ होमाग्ने याचकादीनां देय द्रव्यम् । ५ क्रियावसान । ६ ऋषभसम्बन्धिनीम् । ७ यजनम् । ८ चक्रु । ९ प्रवचने साङ्गे अधीतिन । 'अनूचान प्रवचने साङ्गेऽधीती' इत्यभिधानात् । १० प्रतिज्ञा कृत्वा । ११ सवहन्ति स्म अ०, स० । १२ त्यक्तराजसम्बन्धिविकारा । १३ त्यक्त्वेत्यर्थः । १४ नमस्कार न कर्तुकामा । १५ पुरो मार्गन्धिन । १६ सन्धानाग्रे । १७ अनोहत्य । १८ सुखम् । १९ वो प०, अ०, स० । न अस्माकम् । २० अनन्तिसन्नत्यमुख्य ।

शार्दूलविक्रीडितम्

नत्वा विश्वसृजं चराचरगुरुं देवं [1]दिवीशार्चितं
नान्यस्य प्रणतिं व्रजाम इति ये दीक्षां परां संश्रिताः ।
ते नः सन्तु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्रिया
बद्धेच्छा वृषभात्मजा जिनजुषाम[2]ग्रेसराः श्रेयसे ॥२२२॥
स श्रीमान् भरतेश्वरः [3]प्रणिधिभिर्यान्प्रह्वतां नानयत्
सम्भोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्धं च यैर्नोशकत्[4] ।
निर्वाणाय पितृषभं जिनवृषं ये शिश्रियुः[5] श्रेयसे
ते नो मानधना हरन्तु दुरितं निर्दग्धकर्मेन्धनाः ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३४ ॥

समस्त लोकका हित करनेवाले थे ऐसे वे भगवान् वृषभदेवके पुत्र तुम सबका कल्याण करें ॥२२०–२२१॥ त्रस और स्थावर जीवोंके गुरु तथा इन्द्रोंके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर अब हम किसी दूसरेको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा विचारकर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की थी, जिन्होंने योग्य तपश्चरणरूपी विभूतिको स्वीकार कर मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्रति अपनी इच्छा प्रकट की थी और जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके पुत्र हम सबके कल्याणके लिये हों ॥२२२॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत अपने दूतोंके द्वारा जिन्हें नम्रता प्राप्त नहीं करा सका और न विभाग कर जिनके साथ समस्त पृथिवीका उपभोग ही कर सका तथा जिन्होंने निर्वाणके लिये अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेवका आश्रय लिया ऐसे अभिमानरूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम सब लोगोंके पापोंका नाश करें ॥२२३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषानुवादमें
भरतराजके छोटे भाइयोंकी दीक्षा का वर्णन करनेवाला
चौंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ इन्द्र। २ जिनं जुषन्ते सेवन्ते इति जिनजुषः तेषाम्। ३ चरैः। 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात्। ४ समर्थो नाभूत्। ५ आश्रयन्ति स्म।

पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत् किञ्चित् चिन्ताकुलं मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये[1] यूनि दोर्दर्पशालिनि ॥१॥
अहो भ्रातृगणोऽस्माकं नाभिनन्दति[3] नन्दथुम्[4] । सनाभित्वादवध्यत्वं मन्यमानोऽयमात्मनः[5] ॥२॥
अवध्य[6] शतमित्यास्था नूनं भ्रातृ[7]शतस्य मे । यत[8] प्रणामविमुखं गतवत्प्र[9] प्रतीपताम्[10] ॥३॥
न तथाऽस्मादृशां खेदो भवत्यप्रणते द्विषि । दुर्गर्विते यथा ज्ञातिवर्गेऽन्तर्गृहवर्तिनि ॥४॥
मुखैरनिष्टवाग्वह्निदीपितैरतिधूमिता । दहन्त्यलातवच्च स्वा[11] प्रातिकूल्यानिलेरिता ॥५॥
प्रतीपवृत्तय[12] कामं सन्तु चान्ये कुमारका । बाल्यात् प्रभृति येऽस्माभि स्वातन्त्र्येणोपलालिता ॥६॥
युवा तु दोर्बली प्राज्ञ क्रमज्ञ प्रश्रयी[13] पटु । कथं नाम गतोऽस्मासु विक्रिया[14] सुजनोऽपि सन् ॥७॥
कथं च सोऽनुनेतव्यो[15] बली मानधनोऽधुना । जयाङ्ग यस्य दोर्दर्पं श्लाघ्यते रणमूर्द्धनि ॥८॥
सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धत । महानिव गजो माद्यन् दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥९॥
न स सामान्यसन्देशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो[16] मन्त्रविद्याचणैर्विना[17] ॥१०॥

अथानन्तर भुजाओके गर्वसे शोभायमान युवा बाहुबलीको वश करनेके लिये चक्रवर्तीका मन कुछ चिन्तासे आकुल हुआ ॥१॥ वह विचारने लगा कि यह हमारे भाइयोंका समूह एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपने आपको अवध्य मानता हुआ हमारे आनन्दका अभिनन्दन नहीं करता है अर्थात् हमारे आनन्द-वैभवसे ईर्ष्या रखता है ॥२॥ हमारे भाइयोंके समूहका यह विश्वास है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसीलिये ये प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु हो रहे हैं ॥३॥ किसी शत्रुके प्रणाम न करनेपर मुझे वैसा खेद नहीं होता जैसा कि घरके भीतर रहनेवाले मिथ्याभिमानी भाइयोंके प्रणाम नहीं करनेसे हो रहा है ॥४॥ अनिष्ट वचनरूपी अग्निसे उद्दीपित हुए मुखोंसे जो अत्यन्त धूम सहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूपी वायुसे प्रेरित हो रहे हैं ऐसे ये मेरे निजी भाई अलातचक्रकी तरह मुझे जला रहे हैं ॥५॥ जिन्हें हमने बालकपनसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है ऐसे अन्य कुमार यदि मेरे विरुद्ध आचरण करनेवाले हों तो खुशीसे हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान्, परिपाटीको जाननेवाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषयमें विकारको कैसे प्राप्त हो गया ? ॥६-७॥ जो अतिशय बलवान् है, मानरूपी धनसे युक्त है, और विजयका अङ्गस्वरूप जिसकी भुजाओंका बल युद्धके अग्रभागमें बड़ा प्रशंसनीय गिना जाता है ऐसे इस बाहुबलीको इस समय किस प्रकार अपने अनुकूल बनाना चाहिये ॥८॥ जो भुजाओंके बलसे शोभायमान है और अभिमानरूपी मदसे उद्धत हो रहा है ऐसा यह बाहुबली किसी मदोन्मत्त बड़े हाथीके समान अनुनय अर्थात् शान्तिसूचक कोमल वचनोंके बिना वश नहीं हो सकता ॥९॥ यह अहंकारी बाहुबली सामान्य सदेशोंसे वश नहीं हो सकता क्योंकि शरीरमें घुसा हुआ दुष्ट पिशाच

---

१ बाहुबलिकुमारे । २ वशीकर्तुं योग्ये सति । ३ नाभिवर्द्धयति । ४ आनन्दम् । ५ भ्रातृत्वम् । ६ वयमत्र एकगुरुपेणावध्य इति बुद्धया । ७ भ्रातृगणस्य प०, ल०, द० । ८ यस्मात् कारणात् । ९ प्राप्तम् । १० प्रतिकूलत्वम् । ११ बाधका । १२ प्रतिकूलवर्तना । १३ विनयवान् । १४ विकारम् । १५ वशीकार्यं । १६ प्रवेशित । १७ प्रवीणै । समर्थैरित्यर्थ ।

शेषक्षत्रियपूनां च तस्य चास्त्यन्तरं[1] महत्। मृगसामान्य[2]मानायैः[3] धर्तुं किं शक्यते हरिः ॥११॥
सोऽभेद्यो नीतिचुञ्चुत्वाद् दण्डसाध्यो न विक्रमी। नैव सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥१२॥
ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन्। घृताहुतिप्रसेकेन यथेद्धार्चिर्मखानिलः[4] ॥१३॥
स्वभावपरुषे चास्मिन् प्रयुक्तं साम नार्थकृत्[5]। वपुषि द्विरदस्येव योजितं त्वच्यमौषधम्[6] ॥१४॥
प्रायो व्याख्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः। [7]मदाज्ञाविमुखैस्त्यक्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः[8] ॥१५॥
भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे मतम्[9]। तथाप्यप्रणते तस्मिन् विधेयं चिन्त्यमुत्तरम् ॥१६॥
ज्ञातिव्याजनिगूढान्तर्विक्रियो[10] निष्प्रतिक्रियः। सोऽन्तर्गृहोत्थितो वह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम्[11] ॥१७॥
अन्त[12]प्रकृतिजः कोपो विघाताय प्रभोर्मतः। तरुशाखाग्रसंघट्टजन्मा वह्निर्यथा गिरेः ॥१८॥
तदाशु प्रतिकर्तव्य स बली वक्रतां श्रितः। क्रूरे ग्रह इवामुष्मिन् प्रशान्ते शान्तिरेव नः ॥१९॥
इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मन्त्रविशारदम्। तत्रासौ प्राहिणोच्चक्री निसृष्टार्थसमाह्वितम्[13] ॥२०॥

मन्त्रविद्यामे चतुर पुरुषोके विना वश नही हो सकता ॥१०॥ शेष क्षत्रिय युवाओंमें और बाहुबलीमें बड़ा भारी अन्तर है, साधारण हरिण यदि पाशसे पकड़ लिया जाता है तो क्या उससे सिंह भी पकड़ा जा सकता है? अर्थात् नही। भावार्थ–हरिण और सिंहमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर अन्य कुमारो तथा बाहुबलीमें है ॥११॥ वह नीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है, अर्थात् फोड़ा नही जा सकता, पराक्रमी है इसलिये युद्धमें भी वश नही किया जा सकता और उसका आशय अत्यन्त विकारयुक्त हो रहा है इसलिये उसके साथ शान्तिका भी प्रयोग नही किया जा सकता। भावार्थ–उसके साथ भेद, दण्ड और साम तीनो ही उपायोंसे काम लेना व्यर्थ है ॥१२॥ जिस प्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहुति पडनेसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वह तेजस्वी बाहुबली स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकृत होकर और भी अधिक प्रज्वलित हो रहा है क्रोधित हो रहा है ॥१३॥ जिस प्रकार हाथीके शरीरपर लगाई हुई चमड़ाको कोमल करनेवाली औषधि कुछ काम नही करती उसी प्रकार स्वभावसे ही कठोर रहनेवाले इस बाहुबलीके विषयमें साम उपायका प्रयोग करना भी कुछ काम नही देगा ॥१४॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख है, जिन्होंने राज्यभोग छोड़ दिये है और जो वनमे जानेके लिये उन्मुख है ऐसे बाकी समस्त राजकुमारोंने इसका अभिप्राय प्राय प्रकट ही कर दिया है ॥१५॥ यद्यपि यह सच है तथापि फिर भी कोमल वचनोके द्वारा उसकी परीक्षा करेंगे। यदि ऐसा करनेपर भी नम्रीभूत नही हुआ तो फिर आगे क्या करना चाहिये इसका विचार करना चाहिये ॥१६॥ भाईपनेके कपटसे जिसके अन्तरङ्गमें विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतिकार नही है ऐसा यह बाहुबली घरके भीतर उठी हुई अग्निके समान समस्त कुलको भस्म कर देगा ॥१७॥ जिस प्रकार वृक्षोकी शाखाओंके अग्रभागकी रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतका विघात करनेवाली होती है उसी प्रकार भाई आदि अन्तरङ्ग प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्रकोप राजाका विघात करनेवाला होता है ॥१८॥ यह बलवान् बाहुबली इस समय प्रतिकूलताको प्राप्त हो रहा है इसलिये इसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिये क्योकि क्रूर ग्रहके समान इसके शान्त हो जानेपर ही मुझे शान्ति हो सकती है ॥१९॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्तीने कार्यको जाननेवाले मन्त्र करनेमें चतुर तथा निःसृष्टार्थतासे सहित

---

१ भेद। 'अन्तरमवकाशावधि परिधानान्तर्द्धि भेदतादर्थ्ये' इत्यभिधानात्। २ सामान्य कृत्वा। ३ जालैः। 'आनाय पुंसि जाल स्यात्' इत्यभिधानात्। ४ यज्ञाग्नि। ५ कार्यकारी न। ६ त्वचे हितम्। ७ मम शासनम्। ८ वनाभिमुखैः। ९ अभिप्राय। १० अन्तर्गूढविकार। ११ गृह गोत्र च। १२ स्ववर्ग जातः। १३ अमत्कृत् सम्पादितप्रयोजनतया।

उचितं[1] युग्यमारूढो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदन्तिकम् ॥२१॥
आत्मनेव द्वितीयेन स्निग्धेनानुगतो द्रुतम् । निजानुजीविलोकेन[2] हस्तशम्बल[3]वाहिना ॥२२॥
सोऽन्वीप[4] वचित चेदेवम्[5] अहं ब्रूयामकत्थन[6] । विगृह्य[7] यदि स ब्रूयाद् विरहं[8] विग्रहे घटे[9] ॥२३॥
सन्धिं च पणबन्धं[10] च कुर्यात् सोऽन्तरमेव नः । विक्रम्य[11] क्षिप्रमेष्यामि[12] विजिगीषावसङ्गते[13] ॥२४॥
गुणयन्निति सम्पत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वयं निगूढमन्त्रत्वाद् अनिर्भेद्योऽन्यमन्त्रिभिः ॥२५॥
मन्त्रभेदभयाद् गूढं स्वपन्नेकः[14] प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च[15] स पश्यन् दूरमत्यगात्[16] ॥२६॥
क्रमेण देशान् सिन्धूश्च[17] देशसन्धींश्च[18] सोऽतियन्[19] । प्रापत् सङ्ख्यातरात्रैस्तत् पुरं पोदनसाह्वयम् ॥२७॥
बहिः पुरमथासाद्य रम्याः सस्यवतीर्भुवः । पक्वशालिवनोद्देशान् स पश्यन् प्राप नन्दथुम्[20] ॥२८॥
पश्यन् स्तम्बकरिस्तम्बान्[21] प्रभूतफल[22]शालिनः । कृतरक्षान् जनैर्यत्नात् स मेने स्वार्थिनं[23] जनम् ॥२९॥
सकुटुम्बिभि[24]रुद्दात्रैः[25] नृत्यद्भिरभिनन्दितान् । केदारलाव[26]सङ्घर्षतू[27]र्यघोषान्व्यशामयत्[28] ॥३०॥

दूतको बाहुबलीके समीप भेजा । •भावार्थ–जिस दूतके ऊपर कार्य सिद्ध करनेका सब भार सौंप दिया जाता है वह निःसृष्टार्थ दूत कहलाता है । यह दूत स्वामीके उद्देश्यकी रक्षा करता *हुआ प्रसङ्गानुसार कार्य करता है । चक्रवर्ती भरतने ऐसा ही दूत बाहुबलीके पास भेजा था* ॥२०॥ जो उमरमें न तो बहुत छोटा था और न बहुत बड़ा ही था ऐसा वह दूत अपने योग्य रथ पर सवार होकर नम्रताके वेषसे बाहुबलीके समीप चला ॥२१॥ जिसने मार्गमें काम आनेवाली भोजन आदिकी समस्त सामग्री अपने साथ ले रखी है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपने ही समान एक सेवकसे अनुगत होकर वह दूत वहाँसे शीघ्र ही चला ॥२२॥ वह दूत मार्गमें विचार करता जाता था कि यदि वह अनुकूल बोलेगा तो मैं भी अपनी प्रशंसा किये बिना ही अनुकूल बोलूंगा और यदि वह विरुद्ध होकर युद्धकी बात करेगा तो मैं युद्ध नहीं होनेके लिये उद्योग करूँगा ॥२३॥ यदि वह सन्धि अथवा पणबन्ध (कुछ भेंट देना आदि) करना चाहेगा तो मेरा यह अन्तरङ्ग ही है अर्थात् मैं भी यही चाहता हूँ, इसके सिवाय यदि वह चक्रवर्तीको *जीतनेकी इच्छा करेगा तो मैं भी कुछ पराक्रम दिखाकर शीघ्र वापिस लौट आऊँगा* ॥२४॥ इस प्रकार जो अपने पक्षकी सम्पत्ति और दूसरेके पक्षकी विपत्तिका विचार करता जाता था, जो अपने मन्त्रको छिपाकर रखनेसे दूसरे मन्त्रियोंके द्वारा कभी फोड़ा नहीं जा सकता था और जो मन्त्रभेदके डरसे पड़ावपर किसी एकान्त स्थानमें गुप्त रीतिसे शयन करता था ऐसा वह दूत युद्ध करने तथा उससे निकलनेकी भूमियोंको देखता हुआ बहुत दूर निकल गया ॥२५–२६॥ क्रम क्रमसे अनेक देश, नदी और देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करता हुआ वह दूत बाहुबलीके पोदनपुर नामक नगरमें जा पहुँचा ॥२७॥ नगरके बाहर धानोंसे युक्त मनोहर पृथिवीको पाकर और पके हुए चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुआ था ॥२८॥ जो बहुतसे फलोंसे शोभायमान हैं और किसानोंके द्वारा बड़े यत्नसे जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धानके गुच्छोंको देखते हुए दूतने मनुष्योंको बड़ा स्वार्थी समझा था ॥२९॥ जो खेतोंको देखकर आनन्दमें नाच रहे हैं और खेत काटनेके लिये जिन्होंने हँसिया ऊँचे उठा रखे

---

१ वाहनम् । 'यानं स्याद् वाहनं धानं युग्यं पत्रं च धोरणम्' इत्यभिधानात् । २ अनुचरजनेन । ३ पाथेय । ४ अनुकूलम् । ५ अनुकूलवृत्त्या । ६ अनात्मप्रशंसन् ।–मवञ्चन ल० । ७ कलहं कृत्वा । ८ नागम् । ९ करोमि । १० निष्क्रयबन्धम् । प्राभृतमित्यर्थः । ११ विक्रमं कृत्वा । १२ आगच्छामि । १३ जेतुम् इच्छति सति । १४ शयान । १५ युद्धापसरणयोग्यभूमि । १६–मभ्यगात् ल०, प०, अ०, स० । १७ नदी । १८ देशसीम्न । १९ अतीत्य गच्छन् । २० आनन्दम् । २१ व्रीहिगुच्छान् । 'धान्यं व्रीहिः स्तम्बकरिः स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः ।' इत्यभिधानात् । २२ यत्न । २३ निजप्रयोजनपरम् । २४ कृषीवलैः २५ उद्गतदात्रैः । २६ छेदन । २७ सम्मर्द । २८ अशृणोत् ।

यत्किञ्चिच्छुकमुखाकृष्टकणाः[1] कणिशमञ्जरीः । शालिवप्रेषु[2] सोऽपश्यद् विटैर्भुक्ता इव स्त्रियः ॥३१॥
सुगन्धिकलमामोदसंवादि[3]श्वसितानिलैः[4] । वासयन्तीर्दिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥३२॥
पीनस्तनतटोत्सङ्गगलद्घर्माम्बुबिन्दुभिः । मुक्तालङ्कारजां लक्ष्मीं घटयन्तीर्निजोरसि ॥३३॥
सरजोऽब्जरजःकीर्णसीमन्तरुचिरैः कचैः । चूडाम्[5] आबध्नतीः स्वैरग्रथितनीलोत्पलदामकैः ॥३४॥
दधतीरातपक्लान्तमुखसर्पत्तरङ्गिणीः । लावण्यस्येव कणिकाः श्रमघर्माम्बुविप्रुषः ॥३५॥
शुकान् शुकच्छदच्छायैः रुचिराङ्गीस्तनांशुकैः । छोत्कुर्वतीः कलक्वाणं सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥३६॥
भ्रमद्यन्त्रकृतायन्त्रचीत्कारैरिक्षुवाटकान्[6] । फूत्कुर्वत इवाद्राक्षीद् अतिपीडाभयेन सः ॥३७॥
उपक्षेत्रं[7] च गोधेनूः[8] महोध्नीर्भरमन्थराः[9] । वात्सकेनोत्सुकाः स्तन्यं[10] क्षरन्तीर्निचचाय[11] सः ॥३८॥
इति रम्यान् पुरस्यास्य सीमान्तान् स विलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मानं लब्धसद्दर्शनोत्सवम् ॥३९॥
उपशल्यभुवः[12] कुल्याप्रणालीप्रसृतोदकाः । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैः घनास्तस्य[13] मनोऽहरन् ॥४०॥
वापीकूपतडागैश्च सारामैरम्बुजाकरैः । पुरस्यास्य बहिर्देशाः तेनादृश्यन्त हारिणः ॥४१॥
पुरगोपुरमुल्लङ्घ्य स निचायन् वणिक्पथान् । तत्र [14]पूगीकृतान् मेने रत्नराशीन्निधीनिव ॥४२॥

हैं ऐसे कुटुम्ब सहित किसानोंके द्वारा प्रशंसनीय, खेत काटनेके मदर्पके लिये बजती हुई तुरई-के शब्दोंको भी वह दूत सुन रहा था ॥३०॥ कहीं धानके खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओं ने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी बालोंके समूह इस प्रकार देखता था मानो विट पुरुषोंके द्वारा भोगी हुई स्त्रियाँ ही हों ॥३१॥ जो सुगन्धित धानकी सुगन्धिके समान सुवासित अपनी श्वासकी वायुसे दशों दिशाओंको सुगन्धित कर रही थीं, जिन्होंने धानकी बालोंसे अपने कानों के आभूषण बनाये थे, जो अपने वक्षःस्थलपर स्थूल स्तनतटके समीपमें गिरती हुई पसीनेकी बूँदोंसे मोतियोंके अलंकारसे उत्पन्न होनेवाली शोभाको धारण कर रही थीं, जो परागसहित कमलोंकी रजसे भरे हुए माँगसे सुन्दर तथा अच्छी तरह गुथी हुई नीलकमलोंकी मालाओंसे सुशोभित केशोंसे चोटियाँ बाँधे हुई थीं, जो घामसे दुःखी हुए मुखपर लगी हुई सौन्दर्यके छोटे छोटे टुकड़ोंके समान पसीनेकी बूँदोंको धारण कर रही थीं, जिनके शरीर तोतेके पंखोंके समान कान्ति वाली-हरी हरी चोलियोंसे सुशोभित हो रहे थे, और जो मनोहर शब्द करती हुई छो छो करके तोतोंको उड़ा रही थीं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ उस दूतने देखीं ॥३२–३६॥ जो चलते हुए कोल्हुओंके चीत्कार शब्दोंके बहाने अत्यन्त पीड़ासे मानो रो ही रहे थे ऐसे ईखके खेत उस दूतने देखे ॥३७॥ खेतोंके समीप ही, बड़े भारी स्तनके भारसे जो धीरे धीरे चल रही हैं, जो बछड़ोंके समूहसे उत्कण्ठित हो रही हैं और जो दूध झर रही हैं ऐसी नवीन प्रसूता गायें भी उसने देखीं ॥३८॥ इस प्रकार इस नगरके मनोहर सीमाप्रदेशों को देखता हुआ और उन्हें देखकर आनन्द प्राप्त करता हुआ वह दूत अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥३९॥ जिनके चारों ओर नहरकी नालियोंसे पानी फैला हुआ है और जो धान ईख और जीरेके खेतोंसे घिरी हुई हैं ऐसी उस नगरके बाहरकी पृथिवियाँ उस दूतका मन हरण कर रही थीं ॥४०॥ बावड़ी, कुए, तालाब, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उस दूतको बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥४१॥ नगरके गोपुरद्वारको

---

१ धान्यानां । २ केदारेषु । ३ परिस्पर्धि । ४ उच्छ्वास । ५ शिखाम् । 'शिखा चूडा केशपाश' इत्यभिधानात् । ६ इक्षुक्षेत्रसमूह । ७ क्षेत्रसमीपे । ८ गोसमूहान् । 'धेनुः स्यान्नवसूतिका' इत्यभिधानात् । ९ महापीनापीनमन्दगमना । १० क्षीरम् । ११ ददर्श । 'चायृञ् पूजानिशामनयोः' । १२ ग्रामान्तभूमि । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यभिधानात् । १३ दूतस्य । १४ पुञ्जीकृतान् । 'पूगः स्यात्पुञ्जराशी' इत्यभिधानात् । पुञ्जीकृतानि यथं पुञ्जीकृतान् ल० । पूगीकृतान् अ०, प०, स०, द० ।

नृपोपा[1]यनवाजीभलालामदजलाविलम्[2] । कृतच्छटमिवालोक्य सोऽभ्यनन्दन्नृपाङ्गणम् ॥४३॥
स निवेदितवृत्तान्तो महादौवारपालकैः । नृपं नृपासनासीनम् उपासी[3]दद् मनोहरम् ॥४४॥
पृथुवक्षस्त[4]टं तुङ्गमुकुटोदग्रशृङ्गकम् । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशैलमिवैकम् ॥४५॥
ललाटपट्टमारूढपट्टबन्धं सुविस्तृतम् । जयश्रिय इवोद्वाहपट्टं दधतमुच्चकैः ॥४६॥
दधानं तुलिताशेषराजन्यकयशोधनम् । तुलादण्डमिवोदूढभूभारं भुजदण्डकम् ॥४७॥
मुखेन पङ्कजच्छायां नेत्राभ्यामुत्पलश्रियम् । दधानमप्यना[5]सन्नविजातिमजलाशयम्[6] ॥४८॥
बिभ्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्द्वयम् । [7]वाग्देवीकमलावत्योर्गतं नित्यावकाशताम् ॥४९॥
रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्राम[8]ं महाफलम् । निवेशयन्तमात्माङ्गे मनःसु च महीयसाम् ॥५०॥
स्फुरदाभरणोद्योतच्छद्मना निखिला दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिम्पन्तमलघीयसा ॥५१॥
मुखेन चन्द्रकान्तेन[9] पद्मरागेण[10] चारुणा । चरणेन विराजन्तं वज्रसारेण[11] वर्ष्मणा ॥५२॥

उल्लघन कर बाजारके मार्गोको देखता हुआ वह दूत वहाँ इकट्ठी की हुई रत्नोकी राशियोको निधियोके समान मानने लगा ॥४२॥ जो राजाको भेटमे आये हुए घोडे और हाथियोकी लार तथा मदजलसे कीचडसहित हो रहा था और उससे ऐसा मालूम होता था मानो उसपर जल ही छीटा गया हो ऐसे राजाके आँगनको देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥४३॥ जिसने मुख्य मुख्य द्वारपालोके द्वारा अपना वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत राजसिंहासन पर बैठे हुए महाराज बाहुबलीके समीप जा पहुँचा ॥४४॥ वहाँ जाकर उसने महाराज बाहुबलीको देखा, उनका वक्षःस्थल किनारेके समान चौडा था, वे स्वय ऊचे थे और उनका मुकुट शिखरके समान उन्नत था इसलिये वे विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीडा करनेके लिये एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पडते थे–जिसपर यह बधा हुआ है ऐसे लम्बे-चौडे ललाटपट्टको धारण करते हुए वे ऐसे जान पडते थे मानो विजयलक्ष्मीका उत्कृष्ट विवाहपट्ट ही धारण कर रहे हो। वे बाहुबली स्वामी जिसने समस्त राजाओका यशरूपी धन तोल लिया है और जिसने समस्त पृथिवीका भार उठा रक्खा है ऐसे तराजूके दण्डके समान भुजदण्डको धारण कर रहे थे–यद्यपि वे मुखसे कमलकी और नेत्रोसे उत्पलकी शोभा धारण कर रहे थे तथापि उनके समीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोकी जातियाँ थी और न वे स्वय जलाशय अर्थात् सरोवर ही थे। भावार्थ–इस श्लोकमे विरोधाभास अलकार है इसलिये विरोधका परिहार इस प्रकार करना चाहिये कि वे यद्यपि मुख और नेत्रोसे कमल तथा उत्पलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसकर लोगोका निवास नही था और न वे स्वय जलाशय अर्थात् जड आशयवाले मूर्ख ही थे। वे बाहुबली जिनपर क्रमसे सरस्वती देवी और लक्ष्मीदेवीका निरन्तर निवास रहता था ऐसे अत्यन्त विस्तृत (उदार और लम्बे चौडे) मन और वक्षःस्थलको धारण कर रहे थे–वे प्रजाकी रक्षाके कारण तथा बडे बडे फल देनेवाले गुणोके समूहको अपने शरीरमें धारण कर रहे थे और अन्य महापुरुषोके मनमें धारण कराते थे–वे अपने देदीप्यमान आभूषणोकी कान्तिके छलसे ऐसे जान पडते थे मानो अपने विशाल प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओको लिप्त ही कर रहे हो। वे चन्द्रकान्त मणिके समान मुखसे, पद्मराग मणिके समान सुन्दर चरणोसे और वज्रके समान सुदृढ अपने

---

१ उपनीत प्राभृतीकृत। २ कर्दमितम्। ३ उपागमत्। ४ सानुम्। ५ अनासन्नहीन वर्णसङ्करम्। पक्षे पक्षिजातिम। ६ अमन्दबुद्धिम्। ७ सरस्वतीलक्ष्म्यो। ८ गुणसमूहम्। निगम (गाँव) निवेश ध्वनि। ९ चन्द्रवत् कान्तेन। चन्द्रकान्तमणिमयेन ध्वनि। १० पद्मवद्रक्तेन। पद्मरागरत्नेनेति ध्वनि। ११ वज्रवत् स्थिरतरेण। वज्रमणिना ध्वनि।

हरिन्मणिमयस्तम्भमिवैकं हरितत्विषम्। लोकावष्टम्भमाधातु[1] सृष्टमाद्येन वेधसा[2] ॥५३॥
[3]सर्वाङ्गसङ्गतं तेजो दधानं क्षात्रमूर्जितम्। नूनं[4] तेजोमयैरेव घटितं परमाणुभिः ॥५४॥
तमित्यालोकयन् दूराद् धाम्नः[5] पुञ्जमिवोच्छिखम्। चचाल प्रणिधिः[6] किञ्चित् प्रणिधाना[7]न्निधीशितुः ॥५५॥
प्रणमंश्चरणावेत्य दधद्दूरानतं शिरः। ससत्कारं कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥५६॥
तं शासनहरं जिष्णो निविष्टमुचितासने। कुमारो निजगादेति स्मितांशून् विष्वगाकिरन् ॥५७॥
चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं [8]चिन्त्यत्वमागताः। भद्र भद्रं[9] जगद्भर्त्तुर्बहुचिन्त्यस्य चक्रिणः ॥५८॥
विश्वक्ष्मा[10]जयोद्योगम् अद्यापि न समापयन्[11]। स कच्चिद्[12] भूभुजां भर्तुः कुशली दक्षिणो भुजः ॥५९॥
श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः। कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥६०॥
इति प्रशान्तमोजस्वि वचः सारं मिताक्षरम्। वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसरं[13] व्यधात् ॥६१॥
अथोपाचक्रमे वक्तुं वचो हारि[14] वचोहरः। वागर्थाविव सम्पिण्ड्य[15] दर्शयन् दशनांशुभिः[16] ॥६२॥
त्वद्वच[17]स्सम्मुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते। असंस्कृतोऽपि[18] यन्नार्थं प्रत्यक्षयति[19] मादृशः[20] ॥६३॥
वयं वचोहरा नाम प्रभो शासनहारिणः। गुणदोषविचारेषु मन्दास्तच्छन्द[21]वर्तिनः ॥६४॥

शरीरसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे। उनकी कान्ति हरे रङ्गकी थी इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके द्वारा लोकको सहारा देनेके लिये बनाया हुआ हरित मणियोंका एक खम्भा ही हो। समस्त शरीरमें फैले हुए अतिशय श्रेष्ठ क्षात्रतेजको धारण करते हुए महाराज बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो तेजरूप परमाणुओंसे ही उनकी रचना हुई हो। जिसकी ज्वाला ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे तेजके पुजके समान महाराज बाहुबलीको दूरसे देखता हुआ वह चक्रवर्तीका दूत अपने ध्यानसे कुछ विचलित-सा हो गया अर्थात् घबड़ा-सा गया ॥४५–५५॥ दूरसे ही झुके हुए शिरको धारण करनेवाले उस दूतने जाकर कुमारके चरणोंमें प्रणाम किया और कुमारने भी उसे सत्कारके साथ अपने समीप ही बैठाया ॥५६॥ कुमार बाहुबली अपने मन्द हास्यकी किरणोंको चारों ओर फैलाते हुए योग्य आसनपर बैठे हुए उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने लगे ॥५७॥ कि आज चक्रवर्तीने बहुत दिनमें हम लोगोंका स्मरण किया, हे भद्र, जो समस्त पृथिवीके स्वामी हैं और जिन्हें बहुत लोगोंकी चिन्ता रहती है ऐसे चक्रवर्तीकी कुशल तो है न? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको जीतनेका उद्योग आज तक भी समाप्त नहीं किया है ऐसे राजाधिराज भरतेश्वरकी वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल है न? ॥५९॥ सुना है कि भरतने समस्त दिशाएँ वश कर ली हैं और समस्त राजाओंको जीत लिया है। हे दूत, कहो अब भी उनका कुछ कार्य बाकी रहा है या नहीं? ॥६०॥ इस प्रकार जो अत्यन्त शान्त है, तेजस्वी है, साररूप है, और जिसमें थोड़े अक्षर हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिये अवसर दिया ॥६१॥

तदनन्तर दाँतोंकी किरणोंसे शब्द और अर्थ दोनोंको मिलाकर दिखलाता हुआ दूत मनोहर वचन कहनेके लिये तैयार हुआ ॥६२॥ वह कहने लगा कि हे प्रभो, आपके इस वचनरूपी दर्पणमें आगेका कार्य स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ मुझ जैसा मूर्ख भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥६३॥ हे नाथ, हम लोग तो दूत हैं केवल स्वामीका समाचार ले जाने-

१ आधारम्। २ आदिब्रह्मणेत्यर्थः। ३ सप्ताङ्ग अथवा सर्वशरीर। ४ इव। ५ धाम्नः तेजसाम्। ६ चरः। ७ गुणदोषविचारानुस्मरणं प्रणिधानम्, तस्मात्। अभिप्रायादित्यर्थः। ८ चिन्तितुं योग्याश्चिन्त्याः तेषां भावः चिन्त्यत्वम्। ९ कुशलम्। १० शेष इ०। ११ सम्पूर्णं न कुर्वन्। १२ किम्। १३ वचनस्यावसरम्। १४ मनोज्ञम्। १५ पिण्डीकृत्य। १६ दन्तकान्तिभिः। १७ तव वाग्दर्पणे। १८ संस्काररहितः। १९ प्रत्यक्षं करोति। २० मत्सदृशः। २१ चक्रिणो वर्तिनः। –च्छन्दचारिणः अ०, इ०।

ततश्चक्रधरेणार्य यदादिष्टं[1] प्रियोचितम् । प्रयोक्तृगौरवादेव तदग्राह्य साध्वसाधु वा ॥६५॥
गुरोर्वचनमादेयम् अविकल्प्येति[2] या श्रुति । तत्प्रामाण्यादमुष्याज्ञा सविधेया त्वयाधुना ॥६६॥
ऐक्ष्वाक[3] प्रथमो राजा भरतो भवदग्रज । परिक्रान्ता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥६७॥
गङ्गाद्वार समुल्लङ्घ्य यो रथेनाप्रतिष्कश[4] । चलदाविद्धकल्लोल[5]म् अकरोन्मकरालयम् ॥६८॥
शरव्याज प्रतापाग्नि ज्वलत्यस्य जलेऽम्बुधे । पपौ न केवल वार्द्धि मान च त्रिदिवौकसाम् ॥६९॥
मा नाम प्रणति यस्य [6]वाजिपुर्ङ्खसद कथम । आकृष्टा शरपाशेन प्राध्वकृत्य[7] गले बलात् ॥७०॥
[8]शरव्यमकरोद यस्य शरपातो महाम्बुधौ । प्रसभ मगधावास क्रान्तद्वादशयोजन ॥७१॥
विजयार्द्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरं । जयतो विजयार्द्धेश शरेणामोघपातिना ॥७२॥
कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयताम्[9] । [10]कृतमस्योभयश्रेणीन[11]भोगजयवर्णनं ॥७३॥
गुहामुखमपध्वान्त[12] व्यतीत्य जयसाधनं । उत्तरा विजयार्द्धाद्रे यो व्यगाहत ता महीम् ॥७४॥
म्लेच्छराजनिरुद्धनोऽप्याज्ञा प्रच्छाद्य[13] जयसाधनं । सेना या यो जय प्राप बलादाच्छिद्य[14] तद्धनम् ॥७५॥

वाले हैं हम लोग सदा स्वामीके अभिप्रायके अनुसार चलते हैं तथा गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी असमर्थ हैं ॥६४॥ इसलिये हे आर्य चक्रवर्तीने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है वह अच्छी हो या बुरी केवल कहनेवालेके गौरवसे ही स्वीकार करने योग्य है ॥६५॥ गुरुके वचन बिना किसी तर्क वितर्कके मान लेना चाहिये यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिये ॥६६॥ वह भरत इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुआ है अथवा इक्ष्वाकु अर्थात् भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, राजाओंमें प्रथम है आपका बडा भाई है और इसके सिवाय देवोंसे भी नमस्कार कराते हुए उसने समस्त पृथिवी अपने वश कर ली है ॥६७॥ उसने गंगाद्वारको उल्लंघन कर अकेले ही रथपर बैठकर समुद्रको जिसकी चञ्चल लहरें एक दूसरेसे टकरा रही हैं ऐसा कर दिया ॥६८॥ बाणके बहाने से इसकी प्रतापरूपी अग्नि समुद्रके जलमें भी प्रज्वलित रहती है, उस अग्निने केवल समुद्र का ही नहीं पिया है किन्तु देवोंका मान भी पी डाला है ॥६९॥ भला, देव लोग उसे कैसे न नमस्कार करेंगे ? क्योंकि उसने बाणरूपी जालसे गलेमें बाधकर उन्हें जबर्दस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥७०॥ बारह योजन दूरतक जानेवाले उसके बाणने महासागरमें रहनेवाले मागधदेवके निवासस्थानको भी जबर्दस्ती अपना निशाना बनाया था ॥७१॥ व्यर्थ न जाने-वाले बाणके द्वारा विजयार्ध पर्वतके स्वामी विजयार्धदेवको जीतनेवाले उस भरतकी विजय घोषणा देवोंने भी की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि देव उसकी आधीनता प्राप्त कर चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणियोंके विद्याधरोंने भी उसकी जयघोषणा की है ॥७३॥ जिसका अन्ध कार दूर कर दिया गया है ऐसे गुफाके दरवाजेका अपनी विजयी सेनाके साथ उल्लंघन कर उस। विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशाकी भूमिपर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥७४॥ म्लेच्छ राजा यद्यपि उसकी आज्ञा नहीं मानना चाहते थे तथापि उसने सेनापतिके द्वारा अपनी

कृतोऽभिषेको यस्याराद् अभ्येत्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपद्मायितं यशः ॥७६॥
रत्नार्घैः पर्युपासाता[1] यं स्वर्धुन्यधिदेवते[2] । वृषभाद्रितटे येन टङ्कोत्कीर्णं कृतं यशः ॥७७॥
घटदासीकृता लक्ष्मीः सुराः किङ्करतां गताः । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवते धनम् ॥७८॥
स यस्य जयसैन्यानि निर्जित्य निखिला दिशः । भ्रमन्ति स्माखिलाम्भोधितटान्तवनभूमिषु ॥७९॥
त्वामायुष्मन् जगन्मान्यो मानयन्[3] कुशलाशिषा । समादिशन्ति चक्राङ्का प्रथयन्नधिराजताम् ॥८०॥
मदीयं राज्यमाक्रान्तनिखिलद्वीपसागरम् । राजतेऽस्मत्प्रियभ्रात्रा न बाहुबलिना विना ॥८१॥
ता सम्पदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छदः । यैः समं बन्धुभिर्भुक्ता संविभक्तसुखोदयैः ॥८२॥
अन्यच्च नमिताशेषनृसुरासुरखेचरम् । नाधिराज्यं विभात्यस्य[4] प्रणामविमुखे त्वयि ॥८३॥
न दुनोति मनस्तीव्रं रिपुरप्रणतस्तथा । बन्धुरप्रणमन् गर्वाद् दुर्विदग्धो यथा प्रभुम् ॥८४॥
[5]तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु सम्पदाम् ॥८५॥
अवन्ध्यशासनस्यास्य शासनं[6] ये विमन्वते[7] । शासनं[8] द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥८६॥
प्रचण्डदण्डनिर्घात[9]निपातपरिखण्डितान् । तदाज्ञाखण्डनव्यग्रान् पश्यैनान्[10] मण्डलाधिपान् ॥८७॥

सेनासे हराकर और जबरदस्ती उनका धन छीनकर उनपर विजय प्राप्त की है ॥७५॥ अच्छे अच्छे देवोंने आकर उसका अभिषेक किया है और उसका निर्मल यश बड़े बड़े पर्वतोंकी शिखरों पर स्थलकमलोंके समान सुशोभित हो रहा है ॥७६॥ गङ्गा-सिन्धु दोनों नदियोंके देवताओंने रत्नोंके अर्घोंके द्वारा उसकी पूजा की है तथा वृषभाचलके तटपर उसने अपना यश टाँकीसे उकेर कर लिखा है ॥७७॥ उसने लक्ष्मीको घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली दासीके समान किया है, देव उसके सेवक हो रहे हैं, समस्त रत्न उसके स्वाधीन हैं और निधियाँ उसे धन प्रदान करती रहती हैं ॥७८॥ और उसकी विजयी सेनाओंने समस्त दिशाओंको जीतकर सब समुद्रोंके किनारेके वनोंकी भूमिमें भ्रमण किया है ॥७९॥ हे आयुष्मन्, जगत्में माननीय वही महाराज भरत अपने चक्रवर्तीपनेको प्रसिद्ध करते हुए कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे आपका सन्मान कर आज्ञा कर रहे हैं ॥८०॥ कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ, यह हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबलीके बिना शोभा नहीं देता है ॥८१॥ सम्पत्तियाँ वही हैं, ऐश्वर्य वही है, भोग वही हैं और सामग्री वही है जिसे भाई लोग सुखके उदयको बाँटते हुए साथ साथ उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि आपके प्रणाम करनेसे विमुख रहनेपर जिसमें समस्त मनुष्य, देव, धरणेन्द्र और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा उनका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥८३॥ प्रणाम नहीं करनेवाला शत्रु स्वामीके मनको उतना अधिक दुखी नहीं करता है जितना कि अपनेको झूठमूठ चतुर माननेवाला और अभिमानसे प्रणाम नहीं करनेवाला भाई करता है ॥८४॥ इसलिये आप किसी अपराधको क्षमा नहीं करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामके द्वारा उनका सत्कार कीजिये क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाला है और यही सबको इष्ट है ॥८५॥ जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती ऐसे उस भरतकी आज्ञाका जो कोई भी उल्लंघन करते हैं उन शत्रुओंका शासन करनेवाला उसका वह चक्ररत्न है जिसपर स्वयं किसीका शासन नहीं चल सकता ॥८६॥ आप भरतकी आज्ञाका खण्डन करनेमें व्याकुल हुए इन मण्डलाधिपति राजाओंको देखिये जो भयंकर दण्डरूपी वज्रके गिरनेसे खण्ड खण्ड

१ अपूजयताम् । २ गङ्गासिन्धुदेव्यौ । ३ पूजयन् । ४ चक्रिणः । ५ तत्कारणात् । ६ आज्ञाम् । ७ अवज्ञां कुर्वन्ति । ८ शिक्षकम् । ९ दण्डरत्नाशनि । १० पश्यैतान् ब०, अ०, प०, द०, स०, इ० ।

[1]तदेत्य द्रुतमायुष्मन् पूरयास्य मनोरथम्। युवयोरस्तु साङ्गत्यात् सङ्गतं निखिलं जगत् ॥८८॥
इति तद्वचनस्यान्ते कृतमन्दस्मितो युवा। धीरं वचो गभीरार्थम् आचचक्षे विचक्षणः ॥८९॥
साधूक्तं साधुवृत्तत्वं त्वया घटयता प्रभोः। वाचस्पत्यं तदेवेष्टं पोषकं स्वमतस्य यत्[2] ॥९०॥
साम[3] दर्शयता नाम भेददण्डौ विशेषतः। प्रयुञ्जानेन साध्येऽर्थे[4] स्वातन्त्र्यं दर्शितं त्वया ॥९१॥
स्वतन्त्रस्य प्रभोः सत्यं स त्वमन्तश्चरश्चरः[5]। अन्यथा कथमेवास्य[6] व्यनक्ष्यन्तर्गतं गतम्[7] ॥९२॥
निसृष्टार्थतयाऽस्मासु[8] [9]निर्दिष्टस्त्वं निधीशिना। विशिष्टोऽसि न वैशिष्ट्यं परमर्मस्पृगीदृशम् ॥९३॥
अयं खलु खलाचारो यद्बलात्कारदर्शनम्। स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥९४॥
विवृणोति खलोऽन्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम्। संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान् गुणानपि ॥९५॥
अनिराकृतसन्तापा सुमनोभिः[10] समुज्झिताम्। फलहीना श्रयत्यज्ञः[11] खलता[12] खलतामिव[13] ॥९६॥
सतामसम्मता विष्वग् आचिता विरसैः फलैः। मन्ये दुःखलतामेनां खलतां लोकतापिनीम् ॥९७॥
सोपप्रदान[14] सामादौ प्रयुक्तेऽपि बाध्यते। पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये[15] विप्रतिषेधिनि[16] ॥९८॥

हो रहे हैं ॥८७॥ इसलिये हे दीर्घायु कुमार, आप शीघ्र ही चलकर इसके मनोरथ पूर्ण कीजिये आप दोनों भाइयोंके मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥८८॥ इस प्रकार उस दूतके वह चुकनेके बाद चतुर और जवान बाहुबली कुमार कुछ मन्दमन्द हँसकर गंभीर अर्थसे भरे हुए धीर वीर वचन कहने लगे ॥८९॥ वे बोले कि हे दूत, अपने स्वामीकी साधु वृत्तिको प्रकट करते हुए तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टि करनेवाला हो वही कहना ठीक होता है ॥९०॥ साम अर्थात् शान्ति दिखलाते हुए तूने विशेषकर भेद और दण्ड भी दिखला दिये हैं तथा उनका प्रयोग करते हुए तूने यह भी बतला दिया कि तू अपना अर्थ सिद्ध करनेमें कितना स्वतन्त्र है ? ॥९१॥ इस प्रकार कहनेवाला तू सचमुच ही अपने स्वतन्त्र स्वामीका अन्तरङ्ग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तू उसके हृदयगत अभिप्रायको कैसे प्रकट कर सकता था ॥९२॥ चक्रवर्तीने तुझपर समस्त कार्यभार सौंपकर मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इस प्रकार दूसरेका मर्मछेदन करना चतुराई नहीं है ॥९३॥ अपनी जबर्दस्ती दिखलाना वास्तवमें दुष्टोंका काम है तथा अपने गुणोंका वर्णन करना और दूसरोंमें दोष प्रकट करना भी दुष्टोंका ही काम है ॥९४॥ दुष्ट पुरुष, दूसरेके दोष और अपने गुणोंका स्वयं वर्णन किया करते हैं तथा अपने दोष और दूसरेके गुणोंको छिपाते रहते हैं ॥९५॥ खलता अर्थात् दुष्टता खल्वाट अर्थात् आकाशकी बेलके समान है क्योंकि जिस प्रकार आकाशकी बेलसे किसीका संताप दूर नहीं होता उसी प्रकार दुष्टतासे किसीका संताप दूर नहीं होता, जिस प्रकार आकाशकी बेल सुमन अर्थात् फूलोंसे शून्य होती है उसी प्रकार दुष्टता भी सुमन अर्थात् विद्वान् पुरुषोंसे शून्य होती है और जिस प्रकार आकाशकी बेल फलरहित होती है उसी प्रकार दुष्टता भी फलरहित होती है अर्थात् उससे किसीको कुछ लाभ नहीं होता, ऐसी इस दुष्टताका केवल मूर्ख लोग ही आश्रय लेते हैं ॥९६॥ जो सज्जन पुरुषोंको इष्ट नहीं है जो सब ओरसे विरस अर्थात् नीरस अथवा विद्वेषरूपी फलोंसे व्याप्त है तथा लोगोंको संताप देनेवाली है ऐसी इस खलता-दुष्टताको मैं दुःखलता अर्थात् दुःखकी बेल ही समझता हूँ ॥९७॥ यदि न्यायपूर्ण विरोध करनेवाले पुरुषके विषय-

---

१ तत् कारणात्। २ यत्। ३ शान्तिम्। ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने। ५ हृदये सञ्चारी। ६ एतत् कार्यम्। ७ वृत्तिम्। ८ अस्माकम् सन्धानादिप्रयोजनतया। ९ नियुक्तः। १० कुसुमैः। सोमनःप्रदेशैश्च। ११ दुर्जनः म०, द०। १२ दुर्जनत्वम्। १३ आकाशलतामिव। १४ दानसहितम्। १५ न्यायोपेते पुंसि। १६ भेददण्डाभ्यां विरुद्ध तद्वर्णिनि सति।

यथा[1] विषममेवैषाम् उपायाना नियोजनम् । सिद्धयङ्ग तद्विपर्यास[2] फलिष्यति पराभवम् ॥९९॥
नैकान्तशमन साम समाम्नात सहोष्मणि[3] । स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पिषीवाम्बुसेचनम ॥१००॥
उपप्रदानमप्येव प्रायं[4] मन्ये महौजसि । [5]समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्न कुत शम ॥१०१॥
लोहस्येवोपतप्तस्य[6] मृदुता न मनस्विन । दण्डोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि[7] ॥१०२॥
ततो व्यत्यासयन्[8] नानुपायानन्[9] उपायवित् । स्वय प्रयोगवैगुण्यात् सीदत्येव न मादृश[10] ॥१०३॥

में पहले कुछ देनेके विधानके साथ सामका प्रयोग किया जावे और बादमें भेद तथा दण्ड उपाय काममें लाये जावें तो उनके द्वारा पहले प्रयोगमें लाया हुआ साम उपाय बाधित हो जाता है । भावार्थ–यदि न्यायवान् विरोधीके लिये पहले कुछ देनेका प्रलोभन देकर साम अर्थात् शान्ति का प्रयोग किया जावे और बादमें उसीके लिये भेद तथा दण्डकी धमकी दी जावे तो ऐसा करने से उसका पहले प्रयोग किया हुआ साम उपाय व्यर्थ हो जाता है क्योंकि न्यायवान् विरोधी उसकी कटनीतिको सहज ही समझ जाता है ॥९८॥ साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारो उपायोका यथायोग्य स्थानमें नियोग करना कार्यसिद्धिका कारण है और विपरीत नियोग करना पराभवका कारण है । भावार्थ–जो जिसके योग्य है उसके साथ वही उपाय काममें लानेसे सफलता प्राप्त होती है और विरुद्ध उपाय काममें लानेसे तिरस्कार प्राप्त होता है ॥९९॥ प्रतापशाली पुरुषके साथ साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग करना एकान्तरूपसे शान्ति करनेवाला नही माना जा सकता क्योकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध अर्थात् स्नेही होनेपर भी यदि क्रोधसे उत्तप्त हो जावे तो उसके साथ शान्तिका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किन्तु गर्म घीमें पानी सीचनेके समान है । भावार्थ–जिस प्रकार गर्म घीमें पानी डालनेसे वह शान्त नही होता बल्कि और भी अधिक चटपटाने लगता है उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य शान्तिके व्यवहारसे शान्त नही होता बल्कि और भी अधिक बडबडाने लगता है ॥१००॥ इसी प्रकार अतिशय प्रतापशाली पुरुषको कुछ देनेका विधान करना भी मैं निःसार समझता हूँ क्योकि हजारो समिधाएँ (लकडियाँ) देनेपर भी प्रज्वलित अग्नि कैसे शान्त हो सकती है । ॥१०१॥ जिस प्रकार लोहा तपानेसे नर्म नही होता उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देनेसे नर्म नही होता इसलिये उसके साथ दण्डका प्रयोग करना निरर्थक है क्योकि अनुनय विनय कर पकडने योग्य हाथीपर ही दण्ड चल सकता है सिंहपर नहीं । विशेष–लोहा गर्म अवस्था में नर्म हो जाता है इसलिये यहाँ लोहाका उदाहरण व्यतिरेकरूपसे मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार तपा हुआ लोहा नर्म हो जाता है उस प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट में पडकर नर्म नही होता इसलिये उसपर दण्डका प्रयोग करना व्यर्थ है । अरे, दण्ड भी प्रेम पुचकार कर पकडने योग्य हाथीपर ही चल सकता है न कि सिंहपर भी ॥१०२॥ इसलिये इन साम दान आदि उपायोका विपरीत प्रयोग करनेवाले और इसलिये ही उपाय न जाननेवाले आप जैसे लोग इन चारो उपायोके प्रयोगका ज्ञान न होनेसे स्वय दुखी होते हैं ॥१०३॥

---

१ सामभेदादियोग्यपुरुषमनतिक्रम्य । २ वचननियोजनम् । ३ प्रतापे । ४ एतत्कुनाम । ५ इन्धनसमूह । ६ उपतप्तस्य लोहस्य यथा मृदुत्वमस्ति तथा उपतप्तस्य मनस्विना मृदुता नास्तीत्यर्थ । ७ सिंहे । ८ वैपरीत्येन योजयन् । ९–न्नेतानु—स०, द०, अ०, प०, म० । समार्थान् । १० मयादृश द०, स०, अ०, प०, म०, इ० ।

साम्नाऽपि दुष्कर साध्या वयमित्युपसहृते[1] । [2]तत्रोत्सेक प्रयुञ्जानो व्यक्त मुग्धायते भवान् ॥१०४॥
वयसाधिक इत्येव न श्लाघ्यो भरताधिप । जरन्नपि गज कक्षां[3] गाहते[4] किं हरे शिशो ॥१०५॥
प्रणय[5] प्रश्रयश्चेति[6] सङ्गतेषु सनाभिषु । तेष्वेवासङ्गतेष्वङ्ग[7] तद्द्वयस्य[8] हता गति ॥१०६॥
ज्येष्ठ प्रणम्य इत्येतत्काममस्त्वन्यदा सदा । मूर्ध्न्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति क क्रम ॥१०७॥
दूत नो[9] दूयते चित्तम् अन्योत्सेकानुवर्णने[10] । तेजस्वी भानुरेवैक किमन्योऽप्यस्त्यत परम्[11] ॥१०८॥
राजोक्तिमयि तस्मिंश्च[12] सविभक्ताऽदिवेधसा[13] । राजराज[14] ॥ इत्यद्य [15]स्फोटो गण्डस्य[16] मूर्धनि[17] ॥१०९॥
काम स राजराजोऽस्तु[18] रत्नैर्यातोऽतिगृध्नुताम् । वय राजा न इत्येव सौराज्ये[19] स्वे[20] व्यवस्थिता ॥११०॥
बालानिव[21] [22]छलादस्मान् आहूय प्रणमय्य[23] च । पिण्डीखण्ड[24] इवाभाति महीखण्डस्तदर्पित[25] ॥१११॥
स्वदोर्द्रुमफल श्लाघ्य यत्किञ्चन मनस्विनाम् । न [26]चातुरन्तमप्यैश्य[27] परभ्रूलतिकाफलम् ॥११२॥

हे दूत, हम लोग शान्तिसे भी वश नही किये जा सकते यह निश्चय होनेपर भी आप हमारे साथ अहकारका प्रयोग कर रहे है, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आप मूर्ख है ॥१०४॥ भरतेश्वर उमरमे बडे है इतने ही से वे प्रशसनीय नही कहे जा सकते क्योकि हाथी बूढा होनेपर भी क्या सिहके बच्चेकी बराबरी कर सकता है ? ॥१०५॥ हे दूत, प्रेम और विनय ये दोनो परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगोमे ही सभव हो सकते है, यदि उन्ही कुटुम्बियोमें विरोध हो जावे तो उन दोनो हीकी गति नष्ट हो जाती है । भावार्थ–जब तक कुटुम्बियोमें परस्पर मेल रहता है तब तक प्रेम और विनय दोनो ही रहते है और ज्योही उनमे परस्पर विरोध हुआ त्यो ही दोनो नष्ट हो जाते है ॥१०६॥ बडा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समयमें अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तकपर तलवार रख छोडी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? ॥१०७॥ हे दूत, दूसरेके अहकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे हमारा चित्त दु खी होता है, क्योकि ससारमे एक सूर्य ही तेजस्वी है । क्या उससे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ॥१०८॥ आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने 'राजा' यह शब्द मेरे लिये और भरतके लिये–दोनोके लिये दिया है, परन्तु आज भरत 'राजराज' हो गया है सो यह कपोलके ऊपर उठे हुए गूमडेके समान व्यर्थ है ॥१०९॥ अथवा रत्नोके द्वारा अत्यन्त लोभको प्राप्त हुआ वह भरत अपने इच्छानुसार भले ही 'राजराज' रहा आवे, हम अपने धर्मराज्यमें स्थिर रहकर राजा ही बने रहेंगे ॥११०॥ वह भरत बालकोके समान छलसे हम लोगोको बुलाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथिवी देना चाहता है तो उसका दिया हुआ पृथिवीका टुकडा खलीके टुकडेके समान तुच्छ मालूम होता है ॥१११॥ तेजस्वी मनुष्योके लिये जो कुछ थोडा बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल प्राप्त होता है वही प्रशसनीय है, उनके लिये दूसरेकी भौहरूपी लताका फल अर्थात् भौहके इशारेसे प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथिवीका ऐश्वर्य भी

---

१ विरति गत सति । २ तत्र तूष्णी स्थिते पुसि । उत्सेक साहसम्, गर्वमित्यर्थ । ३ समानताम् । ४ प्राप्नोति । ५ स्नेह । ६ विनय । ७ भो । ८ प्रणयप्रश्रयस्य । ९ अस्माकम् । १० वर्तने ल०, द०, अ०, प०, म० । ११ मानो सकाशादन्य । १२ भरते । १३ आदिब्रह्मणा । १४ भरतेश्वरपक्षे राजा प्रभूणा राजा राजराज, राजा यक्षाणा राजा राजराज लोभाँजित इति ध्वनि । भुजबलिपक्षे नृप शवनय षड्गुणा चतुरोपाया सप्ताङ्गराज्यानि एतैर्गुणै राजन्त इति राजान । १५ पिटक । 'पिटक पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात् । १६ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । १७ उपरीत्यर्थ । १८ कुबेर इति ध्वनि । १९ सुराज्यव्यापारे । २० आत्मीये । २१ बलादिव द० । २२ व्याजात् । २३ नमस्कारयित्वा । २४ पिण्याकशकल । २५ भरतेन दत्त । २६ चत्वारो दिगन्तो यस्य तत् । २७ प्रभुत्वम् ।

परात्रोपहतां लक्ष्मीं यो वाञ्छेत् पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति[1] तामुक्तिं[2] सर्पोक्तिमिव डुण्डुभः[3] ॥११३॥
परावमानमलिना भूतिं[4] धत्ते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य[5] नन्वेष भारो राज्यपरिच्छदः ॥११४॥
मानभङ्गार्जितैर्भोगैः यः प्राणान्धर्तुमीहते । तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा[6] ॥११५॥
छत्रभङ्गाद्विनाप्यस्य [7]छायाभङ्गोऽभिलक्ष्यते । यो मानभङ्गभारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥११६॥
मुनयोऽपि [8]समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थी पुमानुज्झेत् समानताम्[9] ॥११७॥
वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता[10] ॥११८॥
मानमेवाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणश्वरैः । नन्वलङ्कुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यशः ॥११९॥
[11]चारु चक्रधरस्याय त्वयाऽप्युक्त[12] पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं[13] स्तुतिनिन्दापरायणः[14] ॥१२०॥
वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिफल्ग्वपि[15] । प्रक्रान्तायां[16] स्तुताविष्टः सिंहो ग्राममृगो[17] ननु ॥१२१॥
इदं वाचनिकं कृत्स्नं त्वदुक्तं प्रतिभाति नः । क्वास्य दिग्विजयारम्भः क्व धनोच्छ्रन[18] दुञ्चुता ॥१२२॥

प्रशंसनीय नहीं है ॥११२॥ जिस प्रकार पनया सांप 'सर्प' इस शब्दको व्यर्थ ही धारण करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे उपहृत हुई लक्ष्मीको धारण करता है वह 'राजा' इस शब्दको व्यर्थ ही धारण करता है ॥११३॥ जो पुरुष राजा होकर भी दूसरे के अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है निश्चयसे उस मनुष्यरूपी पशुके लिये यह राज्यकी समस्त सामग्री भारके समान है ॥११४॥ जिसके दाँत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष मानभंग होनेपर प्राप्त हुए भोगोपभोगोंसे प्राण धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥११५॥ जो राजा मानभंगके भारसे झुके हुए शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके विना ही हो जाता है। भावार्थ–यहाँ छाया शब्दके दो अर्थ हैं अनातप और कान्ति। जब छत्रभंग होता है तभी छाया अर्थात् अनातप का नाश होता है परन्तु यहांपर छत्रभंगके विना ही छायाके नाशका वर्णन किया गया है इसलिये विरोध मालूम होता है परन्तु छत्र भंगके विना ही उसकी छाया अर्थात् कान्तिका नाश हो जाता है, ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार हो जाता है ॥११६॥ जिन्होंने भोगोपभोग की सब सामग्री छोड दी है ऐसे मुनि भी जब अभिमान (आत्मगौरव) से सहित होते हैं तब फिर राज्य भोगनेकी इच्छा करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो अभिमानको छोड देगा ? ॥११७॥ वनमें निवास करना अच्छा है और प्राणोंको छोड देना भी अच्छा है किन्तु अपने कुलका अभिमान रखनेवाले पुरुषको दूसरेकी आज्ञाके आधीन रहना अच्छा नहीं है ॥११८॥ धीर वीर पुरुषोंको चाहिये कि वे इन नश्वर प्राणोंके द्वारा अभिमानकी ही रक्षा करें क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥११९॥ तूने जो बहुत कुछ बढ़ाकर चक्रवर्तीके पराक्रमका वर्णन किया है सो ठीक है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुति निन्दा में तत्पर है अर्थात् स्तुतिरूप होकर भी निन्दाको सूचित करनेवाला है ॥१२०॥ पण्डित लोग नि सार वस्तुको भी अपने वचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्तुति प्रारम्भ करनेपर कुत्तेको भी सिंह कहना पडता है ॥१२१॥ हे दूत, तेरे द्वारा कहा

---

१ अपगतार्थं करोति। २ पार्थिवाख्याम्। ३ राजिल। 'समौ राजिलडुण्डुभौ" इत्यभिधानात्। ४ सम्पदम्। ५ मनुजानडुह। ६ भेद। ७ तेजोहानि। ८ अभिमानान्विता। ९ साभिमानित्वाम्। १० अधीनता। ११ वरं ल०, द०, अ०, प०, म०, इ०। १२ अतिक्रम्योक्त। १३ मन्यवाद अथवा असत्यारोपमर्थवाद। १४ स्तुतिरूपोऽर्थवादो निन्दारूपोऽर्थवादश्चेति द्वये तत्पर। १५ अतिनिस्सारवस्त्वपि। १६ प्रारम्भितायां सत्याम्। १७ सारमेय। १८ धनापनयन।

दधच्चाक्रचरीं[1] वृत्तिं बलिं[2] भिक्षामिवाहरन् । दीनतायाः परां कोटिं[3] प्रभुरारोपितस्त्वया ॥१२३॥
सत्यं दिग्विजये चक्री जितवानमरानिति । [4]प्रत्येयमिदमेतत्तु[5] चिन्त्यमत्र[6] ननु त्वया ॥१२४॥
स किं न दर्भशय्यायां सुप्तो नोपोषितोऽथवा । प्रवृत्तो जलमायायां[7] शरपातं समाचरन् ॥१२५॥
कृतचक्रपरिभ्रान्तिः [8]दण्डेनायतिशालिना । घटयन् [9]पार्थिवानेष सकुलालायते बत ॥१२६॥
आगः[10] परागमालम्ब्य स्वयमेष कलङ्कितः । चिरं कलङ्कयत्येष कुलं [11]कुलभृतामपि ॥१२७॥
नृपानाकर्षतो दूरान्मन्त्रैः तन्त्रैश्च योजितैः । श्लाघ्यते किमदेतस्य पौरुषं लज्जया विना ॥१२८॥
दुनोति नो भृशं दूत श्लाघ्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायितं जले यस्य बलं म्लेच्छबलैस्तदा ॥१२९॥
यशोधनमसंहार्यं क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यताम् । निखनन्तो[12] निधीन् भूमौ बहवो निधनं[13] गताः ॥१३०॥
रत्नैः किमस्ति वा कृत्यं यान्यरत्निमिता[14] भुवम् । [15]न यान्ति यत्कृते यान्ति केवलं निधनं नृपाः ॥१३१॥

हुआ यह समस्त कार्य हम लोगोको केवल वचनाडम्बर ही जान पडता है क्योकि कहा तो इसका दिग्विजयका प्रारम्भ करना और कहा धन इकट्ठा करनेमें तत्पर होना ? ॥१२२॥ जिस प्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर भिक्षा मागता हुआ अतिशय दीनताको प्राप्त होता है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी वृत्ति धारण कर भिक्षाके समान कर वसूल करता हुआ तेरा स्वामी भरत तेरे द्वारा दीनताकी परम सीमाको प्राप्त करा दिया गया है ॥१२३॥ यह ठीक है कि चक्रवर्तीने दिग्विजयके समय देवोको भी जीत लिया है परन्तु यह बात केवल विश्वास करने योग्य है अन्यथा तू यहा इतना तो विचार कर कि जलस्तम्भन करनेमे प्रवृत्त हुए तेरे स्वामी भरतने जब बाण छोडा था तब वह क्या दर्भकी शय्यापर नही सोया था अथवा उसने उपवास नही किया था ॥१२४–१२५॥ जिस प्रकार कुम्हार आयति अर्थात् लम्बाईसे शोभायमान डडे से द्वारा चक्रको घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घट बनाता है उसी प्रकार भरत भी आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यसे शोभायमान डडे (दण्डरत्न)से चक्र (चक्ररत्न) को घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाओको वश करता फिरता है, इसलिये कहना पडता है कि तुम्हारा यह राजा कुम्हारके समान आचरण करता है ॥१२६॥ वह भरत पापकी धूलिको उडाता हुआ स्वय कलकित हुआ है और कुलीन मनुष्योके कुलको भी सदाके लिये कलकित कर रहा है ॥१२७॥ हे दूत, प्रयोगमें लाये हुए मन्त्र-तन्त्रोके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओको बुलानेवाले इस भरतका पराक्रम तू लज्जाके बिना कितना वर्णन कर रहा है ? ॥१२८॥ हे दूत, जिस समय तू इसके युद्धकी प्रशसा करता है उस समय हम लोगोको बहुत दुःख होता है क्योकि उस समय म्लेच्छोकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें हिंडोले भरा रही थी अर्थात् हिंडोलेके समान काँप रही थी ॥१२९॥ क्षत्रियपुत्रको तो जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यशरूपी धनकी ही रक्षा करनी चाहिये क्योकि इस पृथिवीमें निधियो को गाड कर रखनेवाले अनेक लोग मर चुके है । भावार्थ—अमरता यशसे ही प्राप्त होती है ॥१३०॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथिवी तक भी साथ नही जाते और जिनके लिये राजा लोग केवल मृत्यु ही प्राप्त होते है ऐसे रत्नोसे क्या कार्य निकल सकता है ? ॥१३१॥

तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्नपुञ्जेन बत नैश्वर्यमीदृशम् ॥१३२॥
ध्रुवं स्वगुरुणा दत्तां प्राचिच्छित्सति नो भुवम् । प्रत्याख्येयत्वमुत्सृज्य गृध्नोरस्य किमौषधम् ॥१३३॥
दूत तातवितीर्णां नो महीमेनां कुलोचिताम् । भ्रातृजायामिवादित्सोर्नास्य लज्जा भवत्पतेः ॥१३४॥
देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगीषुणा । मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्ष्मातलं च भुजार्जितम् ॥१३५॥
भूयस्तद्बलमालप्य स वा भुङ्क्तां महीतलम् । चिरमेकातपत्राङ्कम् अहं वा भुजविक्रमी ॥१३६॥
कृतं वृथा भटालापैः अर्थसिद्धिबहिष्कृतैः । सद्ग्रामनिकषे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य च ॥१३७॥
ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वास्तु नौ द्वयोः । नीरेकमिदमेकं नो वचो हर वचोहर ॥१३८॥
इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण वचोहरः । द्रुतं विसर्जितोऽगच्छत् पतिं सन्नाहयन् परम् ॥१३९॥
तदा मुकुटसंघट्टाद् उच्छलन्मणिकोटिभिः । कृतोल्मुकशतक्षेपैः इवोत्तस्थे महीक्षिभिः ॥१४०॥
क्षणं समरसंघट्टपिशुनो भटसङ्कटे । श्रूयते स्म भटालापो बले भुजबलीशिनः ॥१४१॥
चिरात् समरसंमर्दः स्वामिनोऽयमभूदिह । किं वयं स्वामिसत्काराद् अनृणीभवितुं क्षमाः ॥१४२॥

जो समस्त राजाओंके द्वारा रत्नोंकी राशिसे तोला गया है ऐसा यह भरत एक प्रकारका तुलापुरुष है खेद है कि ऐसा ऐश्वर्य नहीं होता ॥१३२॥ अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता श्री भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई हमारी पृथिवीको छीनना चाहता है सो इस लोभीका प्रत्याख्यान अर्थात् निरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥१३३॥ हे दूत, पिताजीके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथिवी भरतके लिये भाईकी स्त्रीके समान है अब वह उसे ही लेना चाहता है सो तेरे ऐसे स्वामीको क्या लज्जा नहीं आती ? ॥१३४॥ जो मनुष्य स्वतन्त्र हैं और इच्छानुसार शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं वे अपने कुलकी स्त्रियों और भुजाओंसे कमाई हुई पृथिवीको छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं ॥१३५॥ इसलिये बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्रसे चिह्नित इस पृथिवीको वह भरत ही चिरकालतक उपभोग करे अथवा भुजाओंमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही उपभोग करूं । भावार्थ—मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथिवीका उपभोग नहीं कर सकता ॥१३६॥ जो प्रयोजनकी सिद्धिसे रहित हैं ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ वचनोंसे क्या लाभ है? अब तो युद्धरूपी कसौटी पर ही मेरा और भरतका पराक्रम प्रकट होना चाहिये ॥१३७॥ इसलिये हे दूत, तू यह हमारा सन्देहरहित एक वचन ले जा अर्थात् जाकर भरतसे कह दे कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी भीड़में ही होगा ॥१३८॥ इस प्रकार अभिमान प्रकट करनेवाले कुमार बाहुबलीने उस दूतको यह कहकर शीघ्र ही बिदा कर दिया कि जा और अपने स्वामीको युद्धके लिये जल्दी तैयार कर ॥१३९॥ उस समय जिनके मुकुटोंके संघर्षणसे करोड़ों मणि उछल-उछलकर इधर-उधर पड़ रहे हैं और उन मणियोंसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो अग्निके सैकड़ों फुलिङ्गोंको ही इधर उधर फैला रहे हों ऐसे राजा लोग उठ खड़े हुए ॥१४०॥ उसी क्षण अनेक योद्धाओंसे भरी हुई महाराज बाहुबलीकी सेनामें युद्धकी भीड़को सूचित करनेवाला योद्धा लोगोंका परस्परका आलाप सुनाई देने लगा था ॥१४१॥ इस समय स्वामीके यह युद्धकी तैयारी बहुत दिनमें हुई है, क्या अब हम लोग स्वामीके सत्कारसे ऋणा (ऋण-मुक्त) हो सकेंगे ? भावार्थ—स्वामीने आजतक पालन-पोषण कर जो हम लोगोंका महान्

---

१ कलायम । २ छेत्तुमिच्छति । ३ निराकरणीयत्वम् । 'प्रत्याख्याता निराकृत' इत्यभिधानात् । त्यक्त्वामिषम् (इत्यस्य च औषधमित्यस्य) । ४ लुब्धस्य । ५ अनुजकलत्रम । ६ आदातुमिच्छोः । ७ तव कारणात् । ८ बहुप्रलापेन । ९ निःसन्देहम् । १० स्वोक्तम् । ११ भो दूत । १२ स्वपति प०, ल० । १३ सन्नद्धं कुर्वन् । १४ ज्वलदुल्मुकैः । १५ बलात् । १६ जातमुदितम् ।

पोषयन्ति महीपाला भृत्यानवसरं प्रति । न चेदवसरे सार्यं[1] किमेभिस्तृणमानुषैः ॥१४३॥
कलेवरमिदं त्याज्यम् अर्जनीयं यशोधनम् । जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पीयान् रणोत्सवः ॥१४४॥
मन्दातपशरच्छाये प्रत्यङ्गं बाणजर्जरैः । लप्स्यामहे कदा नाम विश्रमं[2] रणमण्डपे ॥१४५॥
प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं[3] निर्भिद्य सायकैः । शरशय्यामसम्बाधम् अध्याशिष्ये कदा न्वहम् ॥१४६॥
कर्णतालानिलाधूति[4]विधूतसमरश्रमः । गजस्कन्धे निषीदामि[5] कदाहं क्षणमूर्च्छितः ॥१४७॥
दन्तिदन्तार्गल[6]प्रोतोद्गलदन्त्र[7]स्खलद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाहं लक्ष्यतां भजे ॥१४८॥
गजदन्तान्तरालम्बिस्वान्त्रमालावरत्रया[8] । कर्हि[9] दोलामिवारोप्य तुलयामि जयश्रियम् ॥१४९॥
सुधाणैरिति सङ्ग्रामरसिकैरुद्भटैर्भटैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् बले बले ॥१५०॥
ततः कृतभयं भूयो भटभ्रुकुटितर्जितैः । पलायितमिव क्वापि प[10]रिच्छित्तिमगादहः[11] ॥१५१॥
[12]क्रुधेवोद्यद्भटानीकनेत्रच्छायार्पितां रुचम् । दधान इव तिग्मांशु[13] आसीदारक्तमण्डलः ॥१५२॥
क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननद्रुमपल्लवैः । सवर्णालोहितच्छायो ववृतेऽर्कांशुसंस्तरः[14] ॥१५३॥

सत्कार किया है क्या उसका बदला हम कुछ दे सकेंगे ? ॥१४२॥ राजा लोग समयके लिये ही सेवक लोगोंका पालनपोषण करते हैं, यदि समय नहीं साधा गया अर्थात् अवसर पड़नेपर स्वामीका कार्य सिद्ध नहीं किया गया तो फिर तृणसे बने हुए इन पुरुषोंमें क्या लाभ है ? भावार्थ–जो पुरुष अवसर पड़नेपर स्वामीका साथ नहीं देते वे घास-फूसके बने हुए पुरुषों के समान सर्वथा सारहीन हैं ॥१४३॥ अब यह शरीर छोड़ना चाहिये, यशरूपी धन कमाना चाहिये और विजय लाभकर जयलक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिये, यह युद्धका उत्सव कुछ थोड़ा फल देनेवाला नहीं है ॥१४४॥ हम लोग, बाणोंसे जर्जर हुए शरीरके प्रत्येक अंगोंसे, जिसमें घामको मन्द करनेवाली बाणोंकी छाया पड़ रही है ऐसे युद्धके मण्डपमें कब विश्राम करेंगे ? ॥१४५॥ कोई कहता था कि मैं कब अपने बाणोंसे शत्रुओंकी सेनाके द्वारा किये हुए अनेक व्यूहोंको छेदकर बिना किसी उपद्रवके बाणोंकी शय्यापर शयन करूँगा ॥१४६॥ कोई कहता था कि मैं कब युद्धमें क्षण भरके लिये मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताड़पत्रकी वायुके चलने से जिसके युद्धका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसा होता हुआ हाथीके कंधेपर बैठूंगा ? ॥१४७॥ हाथीके दांतरूपी अर्गलोंमें पिरोये जानेसे जिसकी अँतड़ियां निकल रही हैं तथा जिसके मुखसे टूटे फूटे शब्द निकल रहे हैं ऐसा होता हुआ मैं कब जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बन सकूंगा ? भावार्थ–वह दिन कब होगा जब कि मैं मरता हुआ भी विजय प्राप्त करूँगा ? ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दांतोंके बीचमें लटकती हुई अपनी अंतड़ियोंके समूहरूपी मजबूत रस्सीपर झूलाके समान विजयलक्ष्मीको बैठाकर मैं कब उसे तोलूंगा ? ॥१४९॥ इस प्रकार कहते हुए युद्धके प्रेमी बड़े बड़े योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने अपने शस्त्र तथा शिरकी रक्षा करनेवाली टोपियां सँभाल लीं ॥१५०॥

तदनन्तर दिन समाप्त हो गया सो ऐसा मालूम होता था मानो योद्धाओंकी भौंहोंके तिरस्कारसे भयभीत होकर कहीं भाग ही गया हो ॥१५१॥ अथानन्तर सूर्यका मंडल लाल हो गया मानो उसने क्रोधित हुए योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई लाल कान्ति ही धारण की हो ॥१५२॥ उस समय क्षण भरके लिये सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल

---

१ न गम्यते चेत् । २ विश्रामं ल०, द०, अ०, प०, स० । ३ शत्रुकृतसेनारचनाम् । ४ अवधूनन । ५ निषण्णो भवामि । 'कदाकर्ह्योर्वा' इति भविष्यदर्थे लट् । ६ परिघ । ७ -तोद्गलदस्र- ट० । निर्यदन्त्र । ८ निजपुरीतदमालादूष्यया । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्याद्' इत्यभिधानात् । ९ कदा । १० विनाशम् । ११ दिवस । १२ क्रुधारुण्य– ल० । १३ भानु । १४ रविकिरणसमूह ।

करैर्गिर्यग्रसंलग्नैः भानुरालक्ष्यत क्षणम् । पातभीत्या करायतैः[1] करालम्बमिवाप्नुवन् ॥१५४॥
पतन् वारुणीसङ्गात्[2] परिलुप्तविभावसुः[3] । नालम्बत[4] वनाद्रिस्तं भानुं बिभ्यदिवैनसः[5] ॥१५५॥
गतो नु दिनमन्वेष्टुं[6] प्रविष्टो नु रसातलम् । तिरोहितो नु शृङ्गाग्रैः अस्ताद्रेर्नेक्षि भानुमान् ॥१५६॥
विघटय्य तमो नैशं[7] करैराक्रम्य भूभृतः[8] । दिनावसाने[9] पर्यस्यद्[10] अहो रविरनंशुकः[11] ॥१५७॥
तिर्यङ्मण्डलमन्वेव[12] शश्वद् भानुरयं भ्रमन् । दवि[13]ष्ठत्वाज्जनैर्मुग्धैः अधःपातीव[14] लक्ष्यते ॥१५८॥
व्यसनेऽस्मिन्[15] दिनेशस्य शुचेव परिपीडिताः । विच्छायानि मुखान्यूहुः[16] तमोरुद्धा दिगङ्गनाः ॥१५९॥

की शिखरपर लगे हुए वनके वृक्षोंकी कोपलोंके समान कुछ कुछ लाल रंगका दिखाई दे रहा था ॥१५३॥ उस समय वह सूर्य अस्ताचलकी शिखरपर लगे हुए किरणोंसे क्षणभरके लिये ऐसा जान पड़ता था मानो नीचे गिरनेके भयसे अपने किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥१५४॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे पतित हो रहा है और जिसका कान्तिरूपी धन नष्ट हो गया है ऐसे सूर्यको मानो पापसे डरते हुए ही अस्ताचलने आलम्बन नहीं दिया था। भावार्थ—वारुणी शब्दके दो अर्थ होते हैं मदिरा और पश्चिम दिशा। पश्चिम दिशामें पहुँचकर सूर्य प्राकृतिक रूपसे नीचे की ओर ढलने लगता है। यहां कविने इसी प्राकृतिक दृश्यमें श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा अलंकारको पुट देकर उसे और भी सुन्दर बना दिया है। वारुणी अर्थात् मदिराके समागमसे मनुष्य अपवित्र हो जाता है उसका स्पर्श करना भी पाप समझा जाने लगता है, सूर्य भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे मानो अपवित्र हो गया था। उसका स्पर्श करनेसे कहीं मैं भी पापी न हो जाऊँ इस भयसे अस्ताचलने उसे सहारा नहीं दिया—गिरते हुए को हस्तालम्बन देकर गिरनेसे नहीं बचाया। सूर्य डूब गया ॥१५५॥ उस समय सूर्य दिखाई नहीं देता था सो ऐसा जान पड़ता था मानो बीते हुए दिनको खोजनेके लिये गया हो, अथवा पाताललोकमें घुस गया हो अथवा अस्ताचलकी शिखरोंके अग्रभागसे छिप गया हो ॥१५६॥ जिस प्रकार कोई वीर पुरुष दारिद्र्यरूपी अन्धकारको नष्ट कर और अपने कर अर्थात् टैक्स द्वारा भूभृत् अर्थात् राजाओंपर आक्रमण कर दिन अर्थात् भाग्यके अन्तमें अनंशुक अर्थात् बिना वस्त्रके यों ही चला जाता है उसी प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको नष्ट कर तथा कर अर्थात् किरणोंसे भूभृत् अर्थात् पर्वतोंपर आक्रमण कर दिनके अन्तमें अनंशुक अर्थात् किरणोंके बिना यों ही चला गया—अस्त हो गया, यह कितने दुःखकी बात है। ॥१५७॥ यह सूर्य तो मेरु पर्वतके चारों ओर गोलाकार तिरछी गतिसे निरन्तर घूमता रहता है तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं देता इसलिये मूर्ख पुरुषोंको नीचे गिरता हुआ सा जान पड़ता है ॥१५८॥ सूर्यकी इस विपत्तिके समय मानो शोकसे पीड़ित हुई दिशारूपी स्त्रियां अन्धकारसे भर जानेके कारण कान्तिरहित मुख धारण कर रही थीं। भावार्थ—पतिकी विपत्तिके समय जिस प्रकार कुलवती स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्यकी विपत्तिके समय दिशारूपी स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो गये थे। अन्धकार छा जानेसे दिशाओंकी

---

१ विस्तृतार्थैः। 'कराग्रो वन्धुरे मुद्रके विधाने विवृतेऽपि च' इत्यभिधानात्। २ वारुणी पश्चिमदिक्-सङ्गात्। मद्यपानादिति ध्वनिः। ३ कान्तिरेव धनं यस्य। पक्षे विभा च वसु च विभावसुनी, परिलुप्ते विभावसुनी यस्य सः। ४ न धरति स्म। ५ पापात्। ६ गवेषणाय। ७ निशासम्बन्धि। ८ पर्वतानाम्। नृपाणां च। ९ दिवसान्ते। नाश्यमाने च। दिवाव–अ०, द०। १० पतितवान्। ११ कान्तिरहित, वस्त्ररहित इति ध्वनिः। १२ मेरुप्रदक्षिणरूपतिर्यग्भ्रमणेन। १३ दूरात्। १४ अधोगतः। १५ विपत्तौ। १६ धरन्ति स्म।

पद्मिन्यो म्लानपद्मास्या द्विरेफकरुणारुतैः । शोचन्त्य इव संवृत्ता वियोगादहिमत्विषः ॥१६०॥
सन्ध्यातपततान्यासन् वनान्यस्तमहीभृतः । परीतानीव दावाग्निशिखयातिभयानया ॥१६१॥
अनुरक्तापि सन्ध्येयं परित्यक्ता विवस्वता । प्रविष्टेवाग्निमारक्तच्छविरालक्ष्यताम्बरे ॥१६२॥
शनैराकाशवाराशिविद्रुमोद्यानराजिवित् । ववचे दिशि वारुण्यां सन्ध्याशिन्दूरसच्छविः ॥१६३॥
चक्रवाकीमनस्तापदीपनो[1] नु हुताशनः । पप्रथे पश्चिमाशान्ते सन्ध्यारागो जपारुणः ॥१६४॥
[2]सान्ध्यो रागः स्फुरन् दिक्षु क्षणमैक्षि प्रियागमे । मानिनीनां मनोरागः कृत्स्नो [3]मूर्छन्निवैकतः ॥१६५॥
धृतरक्तांशुका सन्ध्याम् अनुयान्तीं दिनाधिपम् । बहुमेने सतीं लोकः कृतानुमरणामिव[4] ॥१६६॥
चक्रवाकीं धृतोत्कण्ठम् अनुयान्तीं कृतस्वनाम् । [5]विजहावेव चक्राह्वो[6] नियतिं को नु लङ्घयेत् ॥१६७॥
रवेः किमपराधोऽयं कालस्य नियतेः किमु । रथाङ्गमिथुनान्यासन् विप्रयुक्तानि यतो मिथः ॥१६८॥
घनं तमो विनार्केण व्यानशे निखिला दिशः । विना तेजस्विना प्रायस्तमो रुन्धे[7] नु सन्ततम् ॥१६९॥
तमो[8]ऽवगुण्ठिता रेजे रजनी तारकाचिता । विनीलवसना भास्वन्मौक्तिकेवाभिसारिका[9] ॥१७०॥

शोभा जाती रही थी ॥१५९॥ कमलिनियोंके कमलरूपी मुख मुरझा गये थे जिससे वे ऐसी जान पडती थीं मानो सूर्यका वियोग होनेसे भ्रमरोंके करुणाजनक शब्दोंके बहाने रुदन करती हुई शोक ही कर रही हों ॥१६०॥ सायंकालके लाल लाल प्रकाशसे व्याप्त हुए अस्ताचलके वन ऐसे जान पडते थे मानो अत्यन्त भयंकर दावानलकी शिखासे ही घिर गये हों ॥१६१॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली (पक्षमें लाल) थी तथापि सूर्यने उसे छोड दिया था इसलिये ही वह लाल रंगकी संध्या आकाशमें ऐसी जान पडती थी मानो उसने अग्निमें ही प्रवेश किया हो। भावार्थ—पतिव्रता स्त्रियां पतियोंके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धताका परिचय देनेके लिये सीताके समान अग्निमें प्रवेश करती हैं यहांपर कविने भी समासोक्ति अलंकारका आश्रय लेकर संध्यारूपी स्त्रीको सूर्यरूपी पतिके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धता—सच्चरित्रताका परिचय देनेके लिये संध्या कालकी लालिमारूपी अग्निमें प्रवेश कराया है ॥१६२॥ सिन्दूरके समान श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली वह संध्या धीरे धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशरूपी समुद्रमें मूंगोंके बगीचोंकी पंक्ति ही हो ॥१६३॥ जवाके फूलके समान लाल लाल वह संध्याकालकी लाली पश्चिम दिशाके अन्तमें ऐसी फैल रही थी मानो चकवियोंके मनके संतापको बढानेवाली अग्नि ही हो ॥१६४॥ समस्त दिशाओंमें फैलती हुई संध्याकालकी लाली क्षण भरके लिये ऐसी दिखाई देती थी मानो पतियोंके आनेपर मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ॥१६५॥ लाल किरणेंरूपी वस्त्र धारणकर सूर्यरूपी पतिके पीछे पीछे जाती हुई संध्याको लोग पतिके साथ मरनेवाली सतीके समान बहुत कुछ मानते थे ॥१६६॥ चकवाने बडी उत्कंठासे अपने पीछे पीछे आती हुई और शब्द करती हुई चकवीको आखिर छोड ही दिया था सो ठीक ही है क्योंकि नियति अर्थात् दैविक नियमका उल्लंघन कौन कर सकता है ? ॥१६७॥ उस समय चकवा चकवियोंके जोडे परस्परमें बिछुड गये थे—अलग अलग हो गये थे, सो यह क्या सूर्यका अपराध है ? अथवा कालका अपराध है ? अथवा भाग्यका ही अपराध है ? ॥१६८॥ सूर्यके विना सब दिशाओंमें गाढ अन्धकार फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके विना प्रायः सब ओर अन्धकार ही भर जाता है ॥१६९॥ अन्धकारसे घिरी हुई और ताराओंसे व्याप्त हुई वह रात्रि ऐसी सुशोभित हो रही

१ उद्दीपनकारी। २ सन्ध्यारागः स०, द०। ३ प्रसर्पन्। ४ सममरणाम्। अग्निप्रवेशमुर्तीमित्यर्थः। ५ मुमुच। ६ चक्राह्वो स०, द०, अ०, स०, इ०। ७ व्याप्नोति। ८ तमसाच्छादिता। ९ वेश्या।

ततान्धतमसे लोके जनैरुन्मीलितेक्षणैः । नादृश्यत पुरः किञ्चित्[१] मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥१७१॥
प्रसह्य[१] तमसा रुद्धो लोकोऽन्तर्व्याकुलीभवन् । दृष्टिवैफल्यदुःखेन[२] बहु मेने शयालुताम्[३] ॥१७२॥
दीपिका रचिता रेजुः प्रतिवेश्म स्फुरत्त्विषः । [४]घनान्धतमसोद्भेदे प्रक्लृप्ता[५] इव सूचिकाः ॥१७३॥
तमो विधूय दूरेण जगदानन्दिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥१७४॥
अखण्डमनुरागेण निजं मण्डलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानन्दम् उदगाद् विधुरम्बरे ॥१७५॥
दृष्ट्वेवाकृष्टहरिणं हरिं हरिणलाञ्छनम् । तिमिरौघः प्रदुद्राव करियूथसदृग् महान् ॥१७६॥
ततताराचली रेजे ज्योत्स्नापूरः सुधाञ्चवे । सबुद्बुद इवाकाशसिन्धोरोघः परिस्तरन् ॥१७७॥
हंसपोत इवाविक्ष्यन्[६] शशी तिमिरशैवलम् । तारासहचरीकान्तं विजगाहे[७] नभःसरः ॥१७८॥
तमो निःशेषमुद्धूय जगदाप्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्वं सुधामयमिवातनोत् ॥१७९॥
तमो दूरं विधूयापि विधुरासीत् कलङ्कवान् । निसर्गजं तमो नूनं महताऽपि सुदुस्त्यजम् ॥१८०॥

थी मानो नील वस्त्र पहिने हुई और चमकीले मोतियोंके आभूषण धारण किये हुई कोई अभिसारिणी स्त्री ही हो ॥१७०॥ जिस प्रकार मिथ्या दर्शनसे दूषित पुरुषोंको कुछ भी दिखाई नहीं देता—पदार्थके स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार गाढ़ अन्धकारसे भरे हुए लोकमें पुरुषोंको आंख खोलनेपर भी सामनेकी कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं देती थी ॥१७१॥ जबर्दस्ती अन्धकारसे घिरे हुए लोग भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और उनकी दृष्टि भी कुछ काम नहीं देती थी इसलिये उन्होंने सोना ही अच्छा समझा था ॥१७२॥ घर घरमें लगाये हुए प्रकाशमान दीपक ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो अत्यन्त गाढ़ अन्धकारको भेदन करनेके लिये बहुत सी सुइयां ही तैयार की गई हों ॥१७३॥ इतने ही में जगत्को आनन्दित करनेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूरसे ही नष्ट कर चन्द्रमा इस प्रकार उदय हुआ मानो लोकको दूधसे नहला ही रहा हो ॥१७४॥ वह चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान संसारको आनन्दित करता हुआ उदय हुआ था, क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा अनुराग अर्थात् प्रेमसे अपने अखण्ड (संपूर्ण) मण्डल अर्थात् देशको धारण करता है उसी प्रकार वह चन्द्रमा भी अनुराग अर्थात् लालिमासे अपने अखण्डमण्डल अर्थात् प्रतिबिम्बको धारण कर रहा था और उत्तम राजा जिस प्रकार चारों ओर अपना कर अर्थात् टैक्स फैलाता है उसी प्रकार वह चन्द्रमा भी चारों ओर अपने कर अर्थात् किरणें फैला रहा था ॥१७५॥ हरिणके चिह्न वाले चन्द्रमाको देखकर अन्धकारका समूह बड़ा होनेपर भी इस प्रकार भाग गया था जिस प्रकार कि हरिणको पकड़े हुए सिंहको देखकर हाथियोंका बड़ा भारी झुण्ड भाग जाता है। ॥१७६॥ जिसमें ताराओंकी पङ्क्ति फैली हुई है ऐसा चन्द्रमाकी चांदनीका समूह उस समय ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो बुद्बुदों सहित ऊपरसे पड़ता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह ही हो ॥१७७॥ हंसके बच्चेके समान वह चन्द्रमा अन्धकाररूपी शैवालको खोजता हुआ तारे रूपी हंसियोंसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अवगाहन कर रहा था—इधर-उधर घूम रहा था ॥१७८॥ समस्त अन्धकारको नष्ट कर जगत्को किरणोंसे भरते हुए चन्द्रमाने उस समय यह समस्त संसार अमृतमय बना दिया था ॥१७९॥ अन्धकारको दूर करके भी वह चन्द्रमा कलंकी बन रहा था सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अन्धकार बड़े पुरुषोंसे छूटना

१ हठात् । २ नेत्रविकलवर्त्तमान । ३ शयनशीलताम् । ४ घनान्धतमसोद्भेदे द० । निबिडान्धकारभेदने । ५ कृता । ६ इवाविक्ष्यन् म०, द०, प० । ७ विवेश ।

भिषजेव करैः स्पृष्टा दिशस्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दृश इवालोकम् आतेनुस्तिमिरच्छिदा ॥१८१॥
इति प्रदोषसमये जाते प्रस्पष्टतारके । सौधोत्सङ्गभुवो भेजुः पुरन्ध्र्यः सह कामिभिः ॥१८२॥
चन्दनद्रवसिक्ताङ्ग्यः स्रग्विण्यः[1] सावतंसिकाः । समग्राभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता इव ॥१८३॥
इन्दुपादैः समुत्कर्षम् अगान्मकरकेतनः । सवेलस्याब्धिवोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिनाम् ॥१८४॥
रमणाः[2] रमणीयाश्च चन्द्रपादाः सचन्दनाः । [3]मदाश्च मदनारम्भम् आतन्वन् रमणीजने ॥१८५॥
शशाङ्ककरजैः शस्त्रैः तर्जयन्निखिलं जगत् । नृपवल्लभिकावासान् मनोभूरभ्यषेणयत्[4] ॥१८६॥
नास्वादि मदिरा स्वैरं नाजघ्रे न करेऽर्पिता । केवलं मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कताम्[5] ॥१८७॥
उत्सङ्गसङ्गिनी भर्तुः काचिन्मदविघूर्णिता । कामिनो मोहनास्त्रेण मतानङ्गेन तर्जिता ॥१८८॥
सखीवचनमुल्लङ्घ्य भङ्क्त्वा मानं निरर्गला[6] । प्रयान्ती रमणावासं काप्यनङ्गेन धीरिता[7] ॥१८९॥
शफलीयवचनैर्दूना काचित् पर्यश्रुलोचना । चक्राह्वेव भृशं तेपे नायाति प्राणवल्लभे ॥१९०॥
शून्यगानस्वनैः[8] स्त्रीणाम् अलिज्याकलझङ्कृतैः[9] । पूर्वरङ्गमिवानङ्गो रचयामास कामिनाम् ॥१९१॥

भी कठिन है ॥१८०॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा तिमिर रोगको नष्ट करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई आँखें धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगती हैं उसी प्रकार चन्द्रमाके द्वारा अन्धकारको नष्ट करनेवाली किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशाएँ धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगी थी ॥१८१॥ इस प्रकार जिसमें तारागण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं ऐसा सायंकालका समय होनेपर सब स्त्रियाँ अपने अपने पतियोंके साथ महलोंकी छतोंपर जा पहुँची ॥१८२॥ जिनके समस्त शरीरपर घिसे हुए चन्दनका लेप लगा हुआ है, जो मालाएँ धारण किये हुई हैं, कानोंमें आभूषण पहने हैं और जिनके समस्त आभरण देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी वे स्त्रियाँ कल्पलताओंके समान सुशोभित हो रही थी ॥१८३॥ उस समय चन्द्रमाकी किरणोंसे जिस प्रकार समुद्र लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त होने लगता है उसी प्रकार कामी मनुष्योंके मनमें काम उद्वेलित होता हुआ बढ रहा था ॥१८४॥ सुन्दर पति, चन्द्रमाकी किरणें और चन्दन सहित मद ये सब मिलकर स्त्रियोंमें कामकी उत्पत्ति कर रहे थे ॥१८५॥ चन्द्रमाकी किरणेंरूपी विजयी शस्त्रोंके द्वारा समस्त जगत्को तिरस्कृत करता हुआ कामदेव राजाकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी सेना सहित जा पहुँचा था ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मदिराका स्वाद लिया, न इच्छानुसार उसे सूँघा और न हाथमें ही लिया, केवल कामदेवके आवेशसे ही उत्कण्ठाको प्राप्त हो गईं, अर्थात् कामसे विह्वल हो उठीं ॥१८७॥ पतिकी गोदमें बैठी हुई और मदसे झूमती हुई कोई स्त्री कामदेवके द्वारा मोहन अस्त्रसे ताडित की गई थी ॥१८८॥ कामदेवसे प्रेरित हुई कोई स्त्री सखीके वचन उल्लंघन कर तथा मान छोडकर स्वतन्त्र हो अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥१८९॥ कोई स्त्री पतिके न आनेपर वापिस लौटी हुई दूतीके वचनोंसे दुखी होकर आँखोंसे आँसू छोड रही थी और चकवीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही थी–तडप रही थी ॥१९०॥ शून्य हृदयसे गाये हुए स्त्रियोंके सुन्दर गीतोंसे तथा भ्रमरपङ्क्तिके मनोहर झंकारोंसे कामदेव कामी पुरुषोंके लिये पूर्वरङ्ग अर्थात् नाटकके प्रारम्भमें होनेवाला एक अंग विशेष ही मानो बना रहा था। भावार्थ–उस समय स्त्रियाँ पतियोंकी प्राप्तिके लिये बेसुध होकर गा रही थी और उडते हुए भ्रमरोंकी गुंजार फैल रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी नट कामक्रीडारूप नाटकके पहले होनेवाले संगीत विशेष ही दिखला रहा हो। नाटकके पहले जो मंगल-संगीत होता है, उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं ॥१९१॥

---

१ मालभारिण्यः । २ प्रियतमाः । ३ मदाश्च ल० । ४ सेनया सहाभ्यगमयत् । ५ उत्कण्ठताम् ।
६ प्रतिबन्धरहिता । ७ धैर्यं नीता । ८ चित्तसमोहनहेतुगीतविशेषैः । ९ कलध्वनिभेदैः ।

[1]गोत्रस्खलनसंवृद्ध[2]मन्युमन्यामनन्यजः[3]। नोपैक्षिष्ट प्रियोत्सङ्गम् अनयन्नवसङ्गताम्[4] ॥१९२॥
नेन्दुपादैर्धृतिं लेभे नोशीरैर्न[5] जलार्द्रया[6]। खण्डिता[7] मानिनी काचिद् अन्तस्तापे बलीयसि ॥१९३॥
काचिदुत्तापिभिर्बाणैः तापिताऽपि मनोभुवा। नितम्बिनी प्रतीकारं नैच्छद्धैर्यावलम्बिनी ॥१९४॥
अनुरक्ततया दूरं नीतया प्रणयोचिताम्। भूमिं[8] यूनाऽन्यया सोढः सन्देशः[9] परुषाक्षरः ॥१९५॥
आलि[10] स्व नालिक[11] ब्रूहि यतः किन्नु विलक्षताम्[12]। प्रियानामा[13]क्षरैः क्षीणैः मोहान्मय्यवतारितैः ॥१९६॥
यया तव हृतं चेतः तया लज्जाऽप्यहारि किम्। येन निस्त्रप[14] भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥१९७॥
सैवानुवर्तनीया ते सुभग[15]मन्यमानिनी। अस्थाने योजिता प्रीतिः जायतेऽनुशयाय[16] ते[17] ॥१९८॥
इति प्राणप्रिया काञ्चित् सन्दिशन्तीं[18] सखीजने। युवा सादरमभ्येत्य नानुनिन्ये[19] न मानिनीम् ॥१९९॥
चन्द्रपादास्तपन्तीव चन्दनं दहतीव माम्। सन्धुक्ष्यत इवाऽमीभिः कामाग्निर्व्यजनानिलैः ॥२००॥

गोत्रस्खलन अर्थात् भूलसे किसी दूसरी स्त्रीका नाम ले देनेसे जिसका क्रोध बढ रहा है ऐसी किसी अन्य नवीन ब्याही हुई स्त्रीकी भी कामदेवने उपेक्षा नही की थी किन्तु उसे भी पतिके समीप पहुँचा दिया था। भावार्थ–प्रौढा स्त्रियोकी अपेक्षा नवोढा स्त्रियोमे अधिक मान और लज्जा रहा करती है परन्तु उस चन्द्रोदयके समय वे भी कामसे उन्मत्त हो सब मान और लज्जा भूलकर पतियोके पास जा पहुची थी ॥१९२॥ जिस किसी स्त्रीका पति वचन देकर भी अन्य स्त्रीके पास चला गया था ऐसी अभिमानिनी खण्डिता स्त्रीके मनका सताप इतना अधिक बढ गया था कि उसे न तो चन्द्रमाकी किरणोसे सतोष मिलता था, न उशीर (खस) से और न पंखेसे ही ॥१९३॥ धीरज धारण करनेवाली कोई स्त्री कामदेवके द्वारा अत्यन्त पीडा देनेवाले बाणोसे दुखी होकर भी उसका प्रतीकार नही करना चाहती थी। भावार्थ–अपने धैर्यगुणसे कामपीडाको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९४॥ कोई तरुण पुरुष प्रेमसे भरी हुई अपनी अन्य स्त्रीको प्रेम करने योग्य किसी दूर स्थानमें ले गया था, वहा वह उसके कठोर अक्षरोसे भरे हुए सदेशको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९५॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखि, सच कह कि क्या वह भ्रमसे मेरे विषयमें कहे हुए और अत्यन्त क्षीण अपनी प्रियाके नामके अक्षरोसे कुछ चकित हुआ था? ॥१९६॥ कोई स्त्री अपने अपराधी पतिसे कह रही थी कि हे निर्लज्ज, जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी छीन ली है? क्योकि तू फिर भी मुझपर प्रेम करना चाहता है ॥१९७॥ कोई स्त्री पतिको ताना दे रही थी कि आप अपने आपको बडा सौभाग्यशाली समझते है इसलिये जाइये उसी मान करनेवाली स्त्रीकी सेवा कीजिये क्योंकि अयोग्य स्थानमें की गई प्रीति आपके सतापके लिये ही होगी। भावार्थ–मुझसे प्रेम करनेपर आपको सताप होगा इसलिये अपनी उसी प्रेयसीके पास जाइये ॥१९८॥ इस प्रकार सखियोके लिये सदेश देती हुई किसी अहंकार करनेवाली प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बडे आदरके साथ नही मना रहा था क्या? अर्थात् अवश्य ही मना रहा था ॥१९९॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि ये चन्द्रमा की किरणें मुझे सताप दे रही है, यह चन्दन जला सा रहा है और यह पखोकी हवा मेरी कामाग्नि

---

१ नामस्खलन। २ प्रवृद्धक्रोधाम्। ३ काम। ४ नववधूमित्यर्थः। ५ नामज्जकैः। 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्'। 'अभय नलद सेव्यममृणाल जलाशयम्। लामज्जकं लघुलयमवदाहेष्टकापथे।'' इत्यभिधानात्। ६ व्यजनेन। ७ वियुक्ता। ८ शयानम् (शय्यागृहम्)। ९ वाचिकम्। १० भो सखि। ११ अनृतम्। १२ विस्मयान्विताम्। १३ दिर्घ्यैः। १४ निर्लज्ज। १५ अतः सुभगेति मन्यमाना रामा। १६ पश्चात्तापाय। १७ तव। १८ सञ्जल्पन्तीम्। वचनं प्रेषयन्तीम्। १९–नैत्र ए०, द०। अनुनयं नाकरोदिति न। (अपि तु अकरोदेव)।

तमानयानुनीयेह नय मा वा तदन्तिकम् । त्वदधीना मम प्राणा प्राणेशे बहुवल्लभे[1] ॥२०१॥
इत्यनङ्गातुरा काचित् सन्दिशन्ती सखीं मिथ[2] । भुजोपरोधमाश्लेषि पत्या प्रत्यग्रखण्डिता[3] ॥२०२॥
राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वैरं रम्यतामिति । कामिनीकलकाञ्चीभि उदघोषीव घोषणा ॥२०३॥
कर्णोत्पलनिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे[4] किमु स्त्रीणां कर्णजाहे[5] मनोभुवा ॥२०४॥
स्तनाङ्गरागसम्मर्दी परिरम्भोऽतिनिर्दय । ववृधे कामिवृन्देषु रभसश्च कचग्रह ॥२०५॥
आरक्तकलुषा दृष्टि मुखमापाटलाधरम्[6] । रतान्ते कामिनामासीत् सीत्कृत चाऽसकृत्कृतम् ॥२०६॥
पुष्पसम्मदसुरभि आस्तस्तजघनांशुका । सम्भोगावसतौ[7] शय्या मिथुनान्यधिशेरत ॥२०७॥
कैश्चिद् वीरभटैर्भाविरणारम्भकृतोत्सवै । प्रियोपरोधात्मन्देच्छैरप्यासेवि रतोत्सव ॥२०८॥
केचित् कीर्त्यङ्गनासङ्गमुखसङ्गकृतस्पृहा । प्रियाङ्गनापरिष्वङ्गम् अङ्गीचक्रुर्न मानिन ॥२०९॥
निर्जितारिभटैर्भोग्या प्रिया नास्माभि[8] रन्यथा । इति जातिभटा केचिन्न भेजु शयनान्यपि ॥२१०॥
शरतल्पगतानल्पसुखसङ्कल्पत परे । नाभ्यनन्दन् प्रियातल्पम् अनल्पेच्छा भटोत्तमा ॥२११॥
स्वकामिनीभिरारब्धवीरालापैर्भटै परे । विभावरी विभाताऽपि[9] सा नावेदि रणोन्मुखै ॥२१२॥

को बढा सी रही है ॥२००॥ इसलिये मनाकर या तो उन्हें यहा ले आ या मुझे ही उनके पास ले चल, यह ठीक है कि प्राणपतिके अनेक स्त्रिया है इसलिये उन्हें मेरी परवाह नही है किन्तु मेरे प्राण तो उन्हीके अधीन है ॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे पीडित होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे सदेश कह ही रही थी कि इतनेमें उस नवीन विरहिणी स्त्रीको पास ही छिपे हुए उसके पतिने दोनो भुजाओसे पकडकर परस्पर आलिगन किया ॥२०२॥ उस समय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोकी करधनिया मानो यही घोषणा कर रही थी कि आप लोग कामदेव के इस राज्यमें इच्छानुसार क्रीडा करो ॥२०३॥ उन स्त्रियोके कर्णफूलके कमलोमें छिपे हुए भ्रमरोके समूह कोलाहल कर रहे थे और उनसे ऐसा जान पडता था कि कामदेव स्त्रियोके कानो के समीप लगकर कुछ गुप्त बातें ही कर रहा हो ॥२०४॥ उस समय कामी लोगोके समूहमें स्त्रियोके स्तनोपर लगे हुए लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यन्त निर्दय आलिंगन बढ रहा था तथा वेगपूर्वक केशोकी पकडा-पकडी भी बढ रही थी ॥२०५॥ सभोगके बाद कामी लोगोके नेत्र कुछ कुछ लाल और कलुषित हो गये थे, मुख कुछ कुछ गुलाबी अधरोसे युक्त हो गया था तथा उससे सी सी शब्द भी बार बार हो रहा था ॥२०६॥ सभोग क्रियाके समाप्त होनेपर स्त्री और पुरुष दोनो ही उस शय्यापर सो गये जो कि फूलोके समर्दसे सुगन्धित हो रही थी और जिसपर सुन्दर अधोवस्त्र पडे हुए थे ॥२०७॥ जिन्हें होनेवाले युद्धके प्रारम्भमें बडा आनन्द आ रहा था ऐसे कितने ही शूरवीर योद्धाओने इच्छा न रहते हुए भी अपनी प्यारी स्त्रियोके आग्रहसे सभोग सुखका अनुभव किया था ॥२०८॥ कीर्तिरूपी स्त्री के समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जिनकी इच्छा लग रही है ऐसे कितने ही मानी योद्धाओ ने अपनी प्यारी स्त्रियोका आलिगन स्वीकार नही किया था ॥२०९॥ 'जब हम लोग शत्रुके योद्धाओको जीत लेंगे तभी प्रियाका उपभोग करेंगे अन्यथा नही' ऐसी प्रतिज्ञा कर कितने ही स्वाभाविक शूरवीर शय्याओपर ही नही गये थे ॥२१०॥ बडी बडी इच्छाओको धारण करनेवाले कितने ही उत्तम शूरवीरोने बाणोकी शय्यापर सोनेसे प्राप्त हुए भारी सुखका सकल्प किया था इसलिये ही उन्होने प्यारी स्त्रियोकी शय्यापर सोना अच्छा नही समझा था ॥२११॥ जिन्होंने अपनी स्त्रियोके साथ अनेक शूरवीरोकी कथाएँ कहना प्रारम्भ किया है ऐसे युद्धके

१ बहुस्त्रीक सति । २ रहसि । ३ नूतनवियुक्ता । ४ रहो बभाषे । भेदकृमन्त्र सूचित । ५ कर्णमूले । ६ ईषद्रक्त । ७ सुरतावसान । ८ नास्माभि-स०, द०, अ०, प०, म०, इ० । ९ प्रभातापि ।

केचिद्रणरसासक्तमनसोऽपि पुरः स्थितम्। कान्तासङ्गरसं स्वैरं भेजुः समरसा भटाः ॥२१३॥
प्रहारकर्कशो दष्टदशनच्छदनिष्ठुरः। रतारम्भो रणारम्भनिर्विशेषो न्यषेवि तैः ॥२१४॥
रतानुवर्तनैर्गाढपरिरम्भैर्मुखार्पणैः[1]। मनांसि कामिनां जह्रुः कामिन्यस्ताः स्मरातुराः ॥२१५॥
दृगर्द्धवीक्षितैः सान्तर्हासैर्मन्मनजल्पितैः[2]। अकाण्डकलहैश्चण्डैः विभ्रमैरसमभ्रुभिः[3] ॥२१६॥
तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः। रसिकोऽभूद् रतारम्भः सम्भोगान्तेषु कामिनाम् ॥२१७॥
तेषां निधुवनारम्भमतिभूमिगतं तदा। सद्रष्टुमसहन्तीव पर्यवर्तत सा निशा ॥२१८॥
अलं बत चिरं रत्वा दम्पती ताम्यथो[5] युवाम्। लम्बितेन्दुमुखी तस्थौ इतीवापरदिग्वधूः ॥२१९॥
विघटय्य[6] रथाङ्गानां मिथुनानि मिथोंऽशुमान्। तापेन तत्कृतेनेव परितोऽभ्युदियाय सः ॥२२०॥
तावदासीद् दिनारम्भो गतं नैशं तमो लयम्। सहस्रांशुर्दिशं प्राचीं परिरेभे[8] करोत्करैः ॥२२१॥
किरणैस्तरुणैरेव तमः शार्वरमुद्धृतम्। तस्यैकं करणीयं तु दिनश्रीपरिरम्भणम्[9] ॥२२२॥
कोककान्तानुरागेण समं पद्माकरे श्रियम्। पुष्णन्नुष्णांशुरुद्यन्[10] अमुष्णात्कौमुदीं श्रियम् ॥२२३॥

सन्मुख हुए अन्य योद्धा लोगोंको सवेरा होते हुए भी वह रात जान नहीं पडी थी। भावार्थ– क्रीडा करते करते रात्रि समाप्त हो गई, सवेरा हो गया फिर भी उन्हें मालूम नहीं हुआ ॥२१२॥ युद्ध और सभोगमें एकसा आनन्द माननेवाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्धके रसमें आसक्त हो रहा था तथापि उन्होंने सामने प्राप्त हुए स्त्रीसंभोगके रसका भी इच्छानुसार उपभोग किया था ॥२१३॥ उन योद्धाओंने रणके प्रारम्भके समान ही संभोगका प्रारम्भ किया था, क्योंकि जिस प्रकार रणका प्रारम्भ परस्परके प्रहारों (चोटों) से कठोर होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी परस्परके प्रहारों अर्थात् कचग्रह, नखक्षत आदिसे कठोर था, और जिस प्रकार रणका प्रारम्भ ओठ चबाये जानेसे निर्दय होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी ओठोंके चुम्बन आदिसे निर्दय था ॥२१४॥ कामसे पीडित हुई कितनी ही स्त्रियां पतियोंका गाढ आलिंगन कर, चुम्बनके लिये उन्हें अपना मुख देकर और उनके साथ संभोग कर उनका मन हरण कर रही थीं ॥२१५॥ आधी नजरसे देखना, भीतर ही भीतर हंसते हुए अव्यक्त शब्द कहना, असमयमें रूस जाना, बडी तेजीके साथ करवट बदलना भौंहोंको आडी तिरछी चलाना और स्वाभाविक स्नेहसे भरा हुआ झूठा छल-कपट दिखाना आदि स्त्रियोंके अनेक व्यापारोंसे संभोगका एक दौर समाप्त हो जानेपर भी कामी पुरुषोंका पुनः संभोग प्रारम्भ हो रहा था और वह बडा ही रसीला था ॥२१६–२१७॥ उस समय वह रात्रि पोदनपुरके स्त्री-पुरुषोंके उस बढे हुए संभोगको देख नहीं सकी थी इसलिये ही मानो उलट पडी थी अर्थात् समाप्त हो चुकी थी–प्रातःकालके रूपमें बदल गई थी ॥२१८॥ जिसका चन्द्रमारूपी मुख नीचेकी ओर लटक रहा है ऐसी पश्चिम दिशारूपी स्त्री मानो यही कहती हुई खडी थी कि हे स्त्री पुरुषो, रहने दो, बहुत देरतक क्रीडा कर चुके, नहीं तो तुम दोनों ही दुःख पाओगे ॥२१९॥ सूर्यने सायंकालके समय चकवा-चकवियोंको परस्पर अलग-अलग किया था उसी संतापसे व्याप्त हुआ मानो वह फिरसे उदय होने लगा ॥२२०॥ इतनेमें ही दिनका प्रारम्भ हुआ, रात्रिका अन्धकार विलीन हो गया और सूर्यने अपनी किरणोंके समूहसे पूर्वदिशाका आलिंगन किया ॥२२१॥ रात्रिका अन्धकार तो सूर्यकी लाल किरणोंसे ही नष्ट हो गया था अब तो सूर्यको केवल दिनरूपी लक्ष्मीका आलिंगन करना बाकी रह गया था ॥२२२॥ सूर्य चकवियोंके अनुरागके साथ ही साथ कमलोंकी शोभा बढा रहा था और उदय

१ गाढं परि- म०। २ मन्मनजल्पितैः। ३ विभ्रमैर्भ्रुवि। ४ अकृतक ल०। ५ ताम्यता म०। ६ विघटय्यमान। ७ व्याप्त। ८ आश्लिष्यत् पक्षा। ९ आलिङ्गनम्। १० -रुद्यन् म० ल०।

तम कवाटमुद्घाटय दिङ्मुखानि प्रकाशयन् । जगदुद्घाटिताक्ष[1] वा व्यधादुष्णकर करै ॥२२४॥
[2]प्रातस्तरामथोत्थाय पद्माकरपरिग्रहम् । तन्वन् भानु प्रतापेन जिगीषोर्वृत्तिमन्वगात्[3] ॥२२५॥
सुकण्ठा पेठुरत्युच्चै प्रभो प्राबोधिकास्तदा । स्वय प्रबुद्धमप्येन प्रबोधेन[4] युयुक्षव[5] ॥२२६॥

हरिणीच्छन्दः

अशिशिरकरो लोकानन्दी जनैरभिनन्दितो
बहुमतकर तेजस्तन्वन्नितोऽयमुदेष्यति ।
नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्युदयोचितम्
विधिमनुसरन्[6] शय्योत्सङ्ग जहीहि मुदे श्रिय ॥२२७॥
कतरकतमे[7] नाक्रान्तास्ते[8] बलैर्बलशालिनो
भुजबलमिद लोक प्रायो न वेत्ति तवाल्पक ।
भरतपतिना सार्द्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो
नृपवर भवान् भूयाद् भर्ता नृवीरजयश्रिय ॥२२८॥
रविरविरलानस्रून्[9] जातानिवाश्रमगाखिना
तुहिनकणिकपातानाशु[10] प्रमृज्य करोत्करै ।
अयमुदयति प्राप्तानन्दैरितोऽम्बुजिनीवनं
उदयसमये प्रत्युद्यातो[11] धृतार्घमिवाऽम्बुजं ॥२२९॥

होते ही चादनीकी शोभाको भी चुराता जाता था–नष्ट करता जाता था ॥२२३॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी किवाड खोलकर दिशाओके मुह प्रकाशित कर दिये थे और समस्त जगत्के नेत्र खोल दिये थे ॥२२४॥ वह सूर्य विजयकी इच्छा करनेवाले किसी राजाकी वृत्तिका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बडे सवेरे उठकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीका हाथ स्वीकार करता है उसी प्रकार सूर्य भी बडे सवेरे उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोके समहको स्वीकार कर रहा था–अपने तेजसे उन्हें विकसित कर रहा था ॥२२५॥ यद्यपि उस समय महाराज बाहुबली स्वय जाग गये थे तथापि उन्हें जगानेका उद्योग करते हुए सुन्दर कण्ठवाले बदीजन जोर जोरसे नीचे लिखे हुए मगलपाठ पढ रहे थे ॥२२६॥ हे पुरुषोत्तम, जो लोगोको आनन्द देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशसा कर रहे है ऐसा यह सूर्य सब लोगोको अच्छा लगनेवाले तेजको फैलाता हुआ इधर पूर्व दिशामे उदय हो रहा है इसलिये आप भी जगत्को प्रकाशित और लक्ष्मीको आनन्दित करनेके लिये सूर्योदयके समय होनेवाली योग्य क्रियाओको करते हुए शय्याका मध्यभाग छोडिये ॥२२७॥ हे राजाओमें श्रेष्ठ, आपकी सेनाओने कितने कितने बलशाली राजाओपर आक्रमण नही किया है, ये छोटे छोटे लोग प्राय आपकी भुजाओके बलको जानते भी नही है। हे नरवीर, आपने भरतेश्वरके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये उद्यम किया है इसलिये विजयलक्ष्मीके स्वामी आप ही हो ॥२२८॥ हे देव, बगीचेमें वृक्षोंपर पडी हुई ओसकी बूंदोंको निरन्तर पडते हुए आसुओके समान अपनी किरणोके समूहसे शीघ्र ही पोछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होते समय ऐसा जान पडता है मानो कमलिनियोके वनने जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलोके द्वारा अर्घ्य लेकर उसकी

१ किरणसमूह। २ [illegible]। ३ अनुसरति स्म। ४ प्रबोधन-द०, स०। ५ [illegible]। ६ अनुसरन्। ७ क ब। ८ नव। ९ -मधुसाना-द०। १० -मापाता-स०, द०। ११ [illegible]।

अयमनुसरन् कोकः कान्तां तटान्तरशायिनीम्
अविरलगलद्बाष्पव्याजादिवोत्सृजतीं शुचम् ।
विशति बिसिनीपत्रच्छन्नां सरोजसरस्तटीं
सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनैः शनैः ॥२३०॥
जरठबिसिनीकन्दच्छायामुपस्तरलास्त्विष-
स्तुहिनकिरणो दिक्पर्यन्तादयं प्रतिसंहरन् ।
अनुकुमुदिनीषण्डं तन्वन् करानमृतश्च्युतो
द्रढयति परिष्वङ्गासङ्गं वियोगभयादिव ॥२३१॥
तिमिरकरिणां यूथं भित्वा तदस्रपरिप्लुता-
मिव तनुमयं बिभ्रच्छोणां निशाकरकेसरी ।
घनमिव नभः कान्त्वाऽस्ताद्रेर्गुहागहनान्यतः
श्रयति नियतं [1]निद्रासङ्गाद् विजिह्मिततारकः[2] ॥२३२॥
सरति सरसीतीरं हंसः ससारसकूजितं
झटिति घटते कोकद्वन्द्वं [3]विशापमिवाधुना ।
पतति[4] पततां[5] वृन्दं विष्वक् द्रुमेषु कृतारुतं[6]
गतमिव जगत्प्रत्यापत्तिं[7] समुद्यति[8] भास्वति[9] ॥२३३॥
उदयशिखरिग्रावश्रेणीसरोरुहरागिणी
गगनजलधेरातन्वाना[10]प्रवालवनश्रियम् ।
दिगिभवदने सिन्दूरश्रीरलक्तकपाटला-
प्रसरतितरां सन्ध्यादीप्तिर्दिगाननमण्डनी[11] ॥२३४॥

अगवानी ही कर रहे हों ॥२२९॥ इधर देखिये, जो दूसरे किनारेपर सो रही है और निरन्तर बहते हुए आँसुओंके बहानेसे जो मानो शोक ही छोड़ रही है ऐसी अपनी स्त्री चकवीके पीछे पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोंके परागसे भरे हुए अपने दोनों पंखोंको झटकाकर कमलिनियोंके पत्तोंसे ढके हुए कमलसरोवरके तटपर धीरे धीरे प्रवेश कर रहा है ॥२३०॥ यह चन्द्रमा पके हुए मृणालकी कान्तिको चुरानेवाली अपनी कान्तिको सब दिशाओंके अन्तसे खींच रहा है तथा अमृत बरसानेवाली अपनी किरणोंको प्रत्येक कुमुदिनियोंके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही मानो उनके साथ आलिङ्गनके सम्बन्धको दृढ़ कर रहा है ॥२३१॥ जो अन्धकाररूपी हाथियोंके समूहको भेदन कर उनके रक्तसे ही तर हुएके समान लाल लाल दिखनेवाले शरीर (मण्डल) को धारण कर रहा है तथा नींद आ जानेसे जिसकी नक्षत्ररूपी आँखोंकी पुतलियाँ तिरोहित अथवा कुटिल हो रही हैं ऐसा यह चन्द्रमारूपी सिंह वनके समान आकाशको उल्लंघन कर अब अस्ताचलकी गुहारूप एकान्त स्थानका निश्चित रूपसे आश्रय ले रहा है ॥२३२॥ सूर्य उदय होते ही हंस, सारस पक्षियोंकी बोलीसे सहित सरोवरके किनारे पर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोड़े परस्परमें इस प्रकार मिल रहे हैं मानो अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुए वृक्षोंपर पड़ रहे हैं और यह जगत् फिरसे अपने पहले रूपको प्राप्त हुआ सा जान पड़ता है ॥२३३॥ उदयाचलकी चट्टानोंपर पैदा होनेवाले कमलोंके समान लाल तथा आकाशरूपी समुद्रमें मूंगाके वनकी

---

१ अभिनिवेशात् । २ वक्रिततारकः । अस्तञ्जर्नीनिनेति ध्वनिः । ३ विगतशापम् । आक्रोश-मित्यर्थः । ४ आश्रयति । ५ पक्षिणाम् । ६ कृतमन्त्राद् ध्वनिः । कृतारवं स० । ७ पूर्वस्थितिम् । ८ उदिते सति । ९ आदित्ये । १० विद्रुमं । ११ मण्डयतीति मण्डनी ।

कमलमलिनी नालं[1] वेष्टुं[2] यत प्रविकस्वर

गतमरुणता बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभि. ।

परिगतमिव[3] प्रादुष्यद्‌भि कणैरनिलार्चिषा

नियतविपद धिग् व्यामूढि विवेकपराङ्मुखीम् ॥२३५॥

उपनततरूनाधुन्वाना विलोलितषट्पदा

कृतपरिचया वीचीचक्रै सरस्सु सरोरुहाम् ।

[4]रतिपरिमलानाकर्षन्त सरोजरजो जडा[5]

प्रतिदिशममी मन्द वान्ति [6]प्रगेतनमारुता ॥२३६॥

मालिनीच्छन्दः

नृपवर जिनभर्तुर्मङ्गलैरेभिरिष्टै

प्रकटितजयघोषैस्त्व विबुध्यस्व भूय ।

भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्यतस्ते

रणशिरसि जयश्रीकामिनो कामुकस्य ॥२३७॥

जयति दिविजनाथै प्राप्तपूजर्द्धिरर्हन्

धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपराग[7] ।

कृतनतिशतयज्व[8]प्रज्वलन्मौलिरत्न-

[9]च्छुरितरुचिररोचिर्मञ्जरीपिञ्जराङ्घ्रि. ॥२३८॥

शोभा फैलाती हुई, दिशारूपी हाथियोके मुखपर सिन्दूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान गुलाबी और दिशाओके मुखोको अलकृत करनेवाली यह प्रभात-सध्याकी कान्ति चारो ओर बडी तेजीसे फैल रही है ॥२३४॥ हे नाथ, यह खिला हुआ कमल लाल सूर्यकी फैलनेवाली किरणोसे लाल लाल हो रहा है और ऐसा मालूम होता है मानो अग्निके फैलते हुए फुलिगोसे व्याप्त ही हो रहा हो तथा इसी भयसे यह भ्रमरी उसमे प्रवेश करनेके लिये समर्थ नही हो रही है । आचार्य कहते है कि जिसमें आपत्ति सदा निश्चित रहती है और जो विवेकसे पराङ्मुख है ऐसी मूर्खताको धिक्कार है ॥२३५॥ हे राजन् , जो उपवनके वृक्षोको हिला रहा है, भ्रमरोको चचल कर रहा है, जिसने कमलोके तालाबमें लहरोके साथ परिचय प्राप्त किया है, जो स्त्री-पुरुषोके सभोगकी सुगन्धिको खीच रहा है और जो कमलोके परागसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रात कालका वायु सब दिशाओमें धीरे धीरे बह रहा है ॥२३६॥ हे राजाओमें श्रेष्ठ, जिनमें जय जयकी घोषणा प्रकट रूपसे की गई है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्के इन इष्ट मगलोसे आप फिरसे जग जाइये क्योकि इन्ही मगलोके द्वारा रणके अग्रभागमें विजयलक्ष्मी रूपी स्त्रीको चाहनेवाले आपके समस्त विघ्नोकी अच्छी तरह शान्ति होगी ॥२३७॥

अनेक इन्द्रोके द्वारा जिन्हें पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है, जिन्होने पापरूपी धूल नष्ट कर डाली है, जो वीतराग है—जिन्होने रागद्वेष नष्ट कर दिये है और नमस्कार करते हुए इन्द्रोके देदीप्यमान मुकुटके रत्नोसे मिली हुई सुन्दर किरणोकी मजरीसे जिनके चरण कुछ कुछ पीले हो

---

१ असमर्थं । २ प्रवेशाय । ३ व्याप्तम् । ४ सुरतसमये दम्पत्यनुभुक्तकस्तूरीकर्पूरादिपरिमलान् । ५ मन्दा । ६ प्रातःकाले भव । ७ वीतरागद्वेष । ८ इन्द्र । ९ व्याप्त ।

जयति जयविलास सूच्यते यस्य पौष्पं-
अलिकुलरवगर्भैर्निर्जितानङ्गमुक्तं ।
[1]अनुपदयुगमस्त्रैर्भङ्गशोकादिवाविष्कृतक्रणनिनादं सोऽयमाद्यो जिनेन्द्र ॥२३९॥

जयति जितमनोभूर्भूरियामा[2] स्वयम्भू
जिनपतिरपराग[3] क्षालिताग पराग ।
सुरमुकुटविटङ्कोद्दृढपादाम्बुजश्री-
अगदजगदपारप्रान्तविश्रान्तबोध ॥२४०॥

जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽघात्[4]
त्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनी वक्षसि स्वे ।
स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी य विरूपा
ध्यनवमसुरतातिं तन्वती सोऽयमर्हन् ॥२४१॥

जयति समरभेरीभैरवारावभीम
बलमरचि न कूजत्चण्डकोदण्डकाण्डम् ।
भ्रुकुटिकुटिलमास्य येन नाधारि बोच्चं
मनसिजरिपुघाते सोऽयमाद्यो जिनेश[5] ॥२४२॥

स जयति जिनराजो दुर्विभाव[6]प्रभाव
प्रभुरभिभवितु य [?]नाशकन्मारवीर ।
विविजविजयदृप्ता[?]ढगर्वोऽपि गर्वं
न हृदि हृदिशयोऽधाद् यत्र[?] [?]कृष्ठास्त्रवीर्य ॥२४३॥

रहे है ऐसे श्री अर्हन्तदेव सदा जयवन्त रहें ॥२३८॥ जिनके भीतर भ्रमरोके समूह गुंजार कर रहे हैं और उनसे जो ऐसे मालूम होते हैं मानो अपनी पराजयके शोकसे रोते हुए कामदेवके करुण क्रन्दनको ही प्रकट कर रहे हों तथा उसी हारे हुए कामदेवने अपने पुष्परूपी शस्त्र भगवान्के चरण-युगलके सामने डाल रक्खे हो ऐसे पुष्पोंके समूहसे जिनके विजयकी लीला सूचित होती है वे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव जयवन्त हो ॥२३९॥ जिन्होने कामदेवको जीत लिया है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयभू है, जिनपति है, वीतराग है जिन्होने पाप रूपी धूलि धो डाली है जिनके चरणकमलोकी शोभा देव लोगोने अपने मुकुटके अग्रभागपर धारण कर रक्खी है और जिनका ज्ञान लोक अलोक रूपी घरके अन्त तक फैला हुआ है ऐसे श्री प्रथम जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४०॥ जिनकी आत्मा कामदेवके बाणोसे घायल नहीं हुई है तथापि जिन्होने तीनो लोकोकी जयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया है और मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वय वर बनाया इसके सिवाय वह मुक्तिरूपी स्त्री विरूपा अर्थात् कुरूपा (पक्षमें आकाररहित) होकर भी जिनके लिये उत्कृष्ट सुख-समूहको बढा रही है वे अर्हन्तदेव सदा जयवन्त हो ॥२४१॥ जिन्होने जगद्विजयी कामदेवरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिये न तो युद्धके नगाड़ोके भयकर शब्दोसे भीषण तथा शब्द करते हुए धनुषोसे युक्त सेना ही रची और न अपना मुह ही भौंहोसे टेढा किया वे प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२४२॥ जो सब जगत्के स्वामी है, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हें जीतने-

१ पदयुगसमीपे । २ बहुतेजा । ३ अपगतराग । ४ दधन्त्या धृत । ५ आकालोकान्तप्रान्त । ६ धारयति स्म । ७ अमूर्तापि, कुरूपापीति ध्वनि । ८ अप्रमितसुखपरम्पराम् । ९ जिनेन्द्र ल०, द० । १० अचिन्त्य । ११ समर्थो ना भूत् । १२ अत्यर्थं । १३ मदने । १४ मन्द । 'कुण्ठो मन्द क्रियासु च' इत्यभिधानात् ।

जयति तरुरशोको दुन्दुभिः पुष्पवर्षं
चमररुहसमेतं विष्टरं सैंहमुद्घम्[1] ।
वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजः[2]
त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य [3]सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥

जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं
विपुलफलदमारान्नम्रनाकीन्द्रभृङ्गम् ।
समुपनतजनानां प्रीणनं कल्पवृक्ष-
स्थितिमतनुमहिम्ना सोऽवतात्तीर्थकृद्वः ॥२४५॥

न वर भरतराज्योऽप्यूर्जितस्यास्य युष्म-
द्भुजपरिघयुगस्य प्राप्नुयाद्वैव कक्षाम्[4] ।
भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते
रणनिकटगतस्य स्यात्पुमीश क्षितीश ॥२४६॥

[5]तदलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां
जहिहि महति कृत्ये [6]जागरूकस्त्वमेधि[7] ।
सपदि च जयलक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं
जिनम[8]वनम भक्त्या शासितारं जयाय ॥२४७॥

हरिणीच्छन्दः

इति समुचितैरुच्चैरुच्चावचैर्जयमङ्गलैः
सुघटितपदैर्भूयोऽभीभिर्जयाय विबोधितः ।
शयनममुचन्निद्रापायात् स पार्थिवकुञ्जरः
सुरगज इवोत्सङ्गं गङ्गाप्रतीरभुवः शनैः ॥२४८॥

के लिये समर्थ नहीं हो सका तथा जिनके सामने, देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार बढ गया है ऐसा कामदेव भी शस्त्र और सामर्थ्यके कुण्ठित हो जानेसे हृदयमें अहंकार धारण नहीं कर सका ऐसे अचिन्त्य प्रभावके धारक वे प्रसिद्ध जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊंचा छत्र और भामण्डल ये आठ प्रातिहार्य जिनके तीनों लोकोंको जीतनेके चिह्न हैं वे सबका हित करनेवाले श्री वृषभ-जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४४॥ जिनके चरणकमल जन्मरूप संतापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि बड़े बड़े फल देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करते हुए इन्द्र ही जिनके भ्रमर हैं और जो शरणमें आये हुए लोगोंको कल्पवृक्षके समान संतुष्ट करनेवाले हैं ऐसे वे तीर्थंकर भगवान् सदा विजयी हों और अपने विशाल माहात्म्यसे तुम सबकी रक्षा करें ॥२४५॥ हे पुरुषोत्तम, महाराज भरत भी आपके दोनों भुजारूपी अर्गलदण्डोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर सकते हैं, अथवा भुजाओंका बल तो दूर रहे, जब आप युद्धके निकट जा पहुँचते हैं तब आपके देखते मात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने खड़ा रहनेके लिये समर्थ हो सके ॥२४६॥ इसलिये हे अधीश्वर, समय व्यतीत करना व्यर्थ है, निद्रा छोड़िये, इस महान् कार्यमें सदा जागरूक रहिये और शीघ्र ही विजयलक्ष्मीको पाकर अन्य सब जगह विजय प्राप्त करनेके लिये सबका शासन करनेवाले देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवको भक्तिपूर्वक फिरसे नमस्कार कीजिये ॥२४७॥ इस प्रकार जिनमें अच्छे अच्छे पदोंकी योजना की गई है ऐसे अनेक प्रकारके

१ उन्नतम् । २ प्रभामण्डलम् । ३ सर्वहितः । ४ समानताम् । ५ तत् कारणात् । ६ जागरणशीलः । ७ भव । ८ नमस्कुरु । ९ नानाप्रकारैः ।

जयकरिघटाबन्धै[1]रुन्धन्[2] दिशो मदविह्वलैं
[3]बलपरिवृढैरारूढश्रीरुदूढपराक्रमः ।
[4]नृपकतिपयैरारादेत्य प्रणम्य दिदृक्षितो
भुजबलियुवा भेजे सैन्यैर्भुवं समरोचिताम् ॥२४९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसङ्ग्रहे कुमारबाहुबलिरणोद्योगवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व॥ ३५ ॥

उत्कृष्ट तथा राजाओंके योग्य, विजय करानेवाले मंगल-गीतोंके द्वारा बाहुबली महाराज विजय प्राप्त करनेके लिये जगे और जिस प्रकार ऐरावत हाथी निद्रा छूट जानेसे गंगाके किनारेकी भूमिको साथ धीरे धीरे छोड़ता है उसी प्रकार उन्होंने भी निद्रा छूट जानेसे धीरे धीरे शय्याका साथ छोड़ दिया ॥२४८॥ सेनाके मुख्य मुख्य लोगोंके द्वारा जिसकी शोभा बढ़ रही है, जो स्वयं विशाल पराक्रम धारण किये हुए है और कितने ही राजा लोग दूर दूरसे आकर प्रणाम करते हुए जिसे देखना चाहते हैं ऐसा वह तरुण बाहुबली मदोन्मत्त विजयी हाथियोंकी घटाओंसे दिशाओंको रोकता हुआ सेनाके साथ साथ युद्धके योग्य भूमिमें जा पहुँचा ॥२४९॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्ठिशलाकापुरुषोंका वर्णन करनेवाले महापुराणसंग्रहमें कुमार बाहुबलीके युद्धका उद्योग वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ समूहैः । २ स्थगयन् । ३ सेनामहत्तरैः । ४ कतिपयैर्नृपैः ।

षट्त्रिंशत्तमं पर्व

अथ दूतवचश्चण्डमरुदाघातघूर्णितः । प्रचचाल बलाम्भोधिः जिष्णोरारुध्य रोदसी[1] ॥१॥
साङ्ग्रामिक्यो[2] महाभेर्यः तदा धीरं प्रदध्वनुः । [3]यद्ध्वानैः साध्वसं भेजुः [4]खड्गव्यग्रा नभश्चराः ॥२॥
बलानि प्रविभक्तानि[5] निधीशस्य विनिर्ययुः । पुरः पादातमश्वीयम् आरादाराच्च[6] हास्तिकम् ॥३॥
रथकट्यापरिक्षेपो[7] बलस्योभयपक्षयोः[8] । अग्रतः पृष्ठतश्चासीद् ऊर्ध्वं च खचरामराः ॥४॥
षडङ्गबलसामग्र्या सम्पन्नः पार्थिवैरमा[9] । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीषया ॥५॥
महान् गजघटाबन्धो[10] रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव सङ्घातः सञ्चारी सह शाखिभिः[11] ॥६॥
[12]श्च्योतन्मदजलासारसिक्त[13]भूमिमदद्विपम् । प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रं शैलैरिव सनिर्झरैः ॥७॥
जयस्तम्बेरमा रेजुः तुङ्गाः शृङ्गारिताङ्गकाः । सान्द्रसन्ध्यातपक्रान्ताः चलन्त इव भूधराः ॥८॥
चमूमतङ्गजा रेजुः सज्जाः[14] सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने[15] ॥९॥
गजस्कन्ध[16]गता रेजुः धूगता विधृताङ्कुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या[17] दर्पाः सम्पिण्डिता इव ॥१०॥

अथानन्तर–दूतके वचनरूपी तेज वायुके आघातसे प्रेरित हुआ चक्रवर्तीका सेनारूपी समुद्र आकाश और पृथिवीको रोकता हुआ चलने लगा ॥१॥ उस समय युद्धकी सूचना करनेवाले बड़े बड़े नगाड़े गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे और उनके शब्दोंसे तलवार उठानेमें व्यग्र हुए विद्याधर भयभीत हो रहे थे ॥२॥ चक्रवर्तीकी सेनाएँ अलग अलग विभागोंमें विभक्त होकर चल रही थी, सबसे आगे पैदल सैनिकोंका समूह था, उससे कुछ दूरपर घोड़ोंका समूह था और उससे कुछ दूर हटकर हाथियोंका समूह था ॥३॥ सेनाके दोनों ओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देव चल रहे थे ॥४॥ इस प्रकार छह प्रकारकी सेना सामग्रीसे सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वरने अपने छोटे भाईको जीतनेकी इच्छासे अनेक राजाओंके साथ प्रस्थान किया ॥५॥ उस समय विजय-पताकाओंसे सहित बड़े बड़े हाथियोंके समूह ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वृक्षोंके साथ साथ चलते हुए पर्वतोंके समूह ही हो ॥६॥ जिनसे झरते हुए मदजलकी वृष्टिसे समस्त भूमि सींची गई है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली हैं ऐसे मदोन्मत्त हाथियोंके साथ चक्रवर्ती भरत चल रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे मालूम होते थे मानो झरनोंसे सहित पर्वत ही हो ॥७॥ जिनके समस्त शरीरपर शृङ्गार किया गया है और जो बहुत ऊँचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी ऐसे सुशोभित होते थे मानो सन्ध्याकालकी सघन धूपसे व्याप्त हुए चलते-फिरते पर्वत ही हो ॥८॥ जो सब प्रकारसे सजाये गये हैं और जिनपर विजय-पताकाएँ फहरा रही हैं ऐसे वे सेनाके हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो महाराज भरतको अपना बल दिखानेके लिये कुलाचल ही आये हो ॥९॥ जिन्होंने देदीप्यमान तथा वीररसके योग्य वेष धारण किया है, और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रखा है ऐसे हाथियोंके कन्धोंपर बैठे हुए महावत लोग ऐसे जान पड़ते थे मानो एक जगह

---

1 द्यावापृथिव्यौ । 2 युद्धभव । 3 युद्ध्वानैः स० । 4 आयुधस्वीकारव्याकुलाः । 5 पृथक्पृथक् प्रविभागीकृतानि । 6 समीपे । 7 रथसमूहपरिवृतिः । 8 उभयपार्श्वयोरित्यर्थः, मौल [illegible] मम कारण पुरम् [illegible] मौला । [illegible] । 9 सह । 10 गजसमूह 11 वृक्षैः । 12 स्रवत् । 13 धारासम्पात आसारः । 14 सन्नद्धाः । 15 [illegible] । 16 [illegible] । 17 [illegible] ।

कौक्षेयकैर्निशाता[1]ग्रधाराग्रैः सादिनो[2] बभुः । मूर्तानिव भुजोपाग्रलग्नैर्वा[3] स्वं पराक्रमं ॥११॥
धन्विनः शरनाराच[4]सम्भृतेषुधयो[5] बभुः । वनक्ष्माजा महाशाखाः कोटरस्थैरिवाहिभिः ॥१२॥
रथिनो रथकट्यासु सम्भृतोचितहेतयः । महाग्रामवार्धितरणे[6] प्रस्थिता नाविका[7] इव ॥१३॥
भटा हस्त्युरसं[8] भेजुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः[9] । समुत्खातनिशातासिपाणयः पादरक्षणे[10] ॥१४॥
पुस्फुरु[11] स्फुरदस्त्रौघा भटाः सदंशिताः[12] परे । औत्पातिका[13] इवानीला सोल्का मेघाः समुत्थिताः ॥१५॥
करवालं करालाग्रं करे कृत्वा भटोऽपरः । पश्यन् मुखरसं तस्मिन् [14]स्वशौर्यं परिजज्ञिवान्[15] ॥१६॥
कराग्रविधृतं खड्गं तुलयन् कोऽप्यभाद् भटः । [16]प्रमिमित्सुरिवानेन[17] स्वामिसत्कारगौरवम् ॥१७॥
महामुकुटबद्धानां साधनानि[18] प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्वीयरथकट्यापरिच्छदैः[19] ॥१८॥
बभुर्मकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमौलयः । सलीला लोकपालानाम् अंशा[20] भुवमिवागताः ॥१९॥
परिवेष्टय निर्ययुः[21] पार्थिवाः पृथिवीश्वरम् । दूरात् स्वबलसामग्रीं दर्शयन्तो यथायथम् ॥२०॥
[22]प्रत्यग्रसमरारम्भसम्भ्रमोद्भ्रान्तचेतसः । [23]भटीराश्वासयामासुः भटाः [24]प्रत्याय्य धीरितैः[25] ॥२१॥

इकट्ठा हुआ अभिमान ही हो ॥१०॥ घुड़सवार लोग, जिनकी आगेकी धारका अग्रभाग बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके पराक्रम ही मूर्तिमान् होकर उनकी भुजाओंके अग्रभाग अर्थात् हाथोंमें आ लगे हों ॥११॥ जिनके तरकस अनेक प्रकारके बाणोंसे भरे हुए हैं ऐसे धनुर्धारी लोग इस प्रकार जान पड़ते थे मानो बड़ी बड़ी शाखावाले वनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥१२॥ जिन्होंने रथोंके समूहमें युद्धके योग्य सब शस्त्र भर लिये हैं ऐसे रथोंपर बैठनेवाले योद्धा लोग इस प्रकार चल रहे थे मानो युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिये नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥१३॥ जिन्होंने शिरपर टोप और शरीरपर कवच धारण किया है तथा हाथमें पैनी तलवार ऊँची उठा रक्खी है ऐसे कितने ही योद्धा लोग हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये उनके सामने चल रहे थे ॥१४॥ जिनके हाथोंमें शस्त्रोंके समूह चमक रहे हैं और जो लोहेके कवच पहने हुए हैं ऐसे कितने ही योद्धा ऐसे देदीप्यमान हो रहे थे मानो किसी उत्पातको सूचित करनेवाले उल्कासहित काले काले मेघ ही उठ रहे हों ॥१५॥ कोई अन्य योद्धा पैनी धारवाली तलवार हाथमें लेकर उसमें अपने मुखका रङ्ग देखता हुआ अपने पराक्रमका परिज्ञान प्राप्त कर रहा था ॥१६॥ कोई अन्य योद्धा हाथके अग्र भागपर रखी हुई तलवारको तोलता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह उससे अपने स्वामीके आदर-सत्कारका गौरव ही तोलना चाहता हो ॥१७॥ पैदल सेना, हाथियोंके समूह, घुड़सवार और रथोंके समूह आदि सामग्रीके साथ साथ महामुकुटबद्ध राजाओंकी सेनाएँ भी चल रही थीं ॥१८॥ रत्नोंकी किरणोंसे जिनके मुकुट ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे वे मुकुटबद्ध राजा इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लीला सहित लोकपालोंके अंश ही पृथ्वीपर आ गये हों ॥१९॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और दूरसे ही अपनी सेनाकी सामग्री यथायोग्यरूपसे दिखलाते जाते थे ॥२०॥ नवीन

---

१ निशित । २ अश्वारोहाः । 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ३ इव । ४ प्रक्ष्वेडनास्तु नाराचाः । ५ इषुधि तूणीर । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः । तूण्यामि'त्यभिधानात् । सम्भृतेषुधय स०, द०, अ०, प०, म०, इ० । ६ समरसमुद्रोत्तरणार्थम् । ७ कर्णधाराः । 'कर्णधारस्तु नाविक' इत्यभिधानात् । ८ हस्तिमुख्यम् । ९ कवच । १० पादरक्षणम् । ११ स्फुरन्ति स्म । १२ कवचिताः । 'सन्नद्धो वर्मितः सज्जो दंशितो व्यूढकङ्कटः' इत्यभिधानात् । १३ उत्पातहेतव । १४ स्व शौर्यम् स० । १५ बुबुधे । १६ प्रमातुमिच्छुः । प्रमिमित्सु– ट०, स०, प०, द०, अ०, म० । १७ खड्गेन सह । १८ बलानि । १९ परिकरैः । २० [illegible] इत्यर्थः । २१ निर्ययुः । २२ नूतनरणाभिमुख[illegible]-भ्रान्तचेताः [illegible] नार्यः । २३ सन्धापित । २४ विश्वास्य । २५ [illegible] ।

भूरेणवस्तदाश्वीयखुरोद्धूता खलङ्घिन[1]। क्षणविघ्नितसंप्रेक्षा[2] प्रचक्रुरमराङ्गना ॥२२॥
रज[3]सन्तमसे रुद्धदिक्चक्रे व्योमलङ्घिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दृशः स्वविषयोन्मुखी ॥२३॥
समुद्भटरसप्रायै[4] भटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुः जनजल्पैरपीदृशैः ॥२४॥
रणभूमिं[5]प्रसाध्यारात्[6] स्थितो बाहुबली नृपः । अत्र च नृपशार्दूलः[7] प्रस्थितो निर्नियन्त्रणः[8] ॥२५॥
न विघ्नः किमु खल्वत्र स्याद् भ्रात्रोरनयोरिति । प्रायो न शान्तये युद्धम् एनयोरनुजीविनाम्[9] ॥२६॥
विरूपकमिदं[10] युद्धम् आरब्धं भरतेशिना । ऐश्वर्यमददुर्वारा स्वैरिणः प्रभवोऽथवा[11] ॥२७॥
इमे मकुटबद्धाः किं नैनौ वारयितुं क्षमाः । येऽमी समग्रसामग्र्या[12]सङ्ग्रामयितुमागताः ॥२८॥
अहो महानुभावोऽयं कुमारो भुजविक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येव यो योद्धुं सम्मुखः स्थितः ॥२९॥
[13]अथवा तन्त्रभूयस्त्वं[14] न जयाङ्गं मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः संहितानपि[15] दन्तिनः ॥३०॥
अयं च चक्रभृद् देवो नेदृक् सामान्यमानुषः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्राणां सुधाभुजाम्[16] ॥३१॥
[17]तन्मा भूदनयोर्युद्धं जनसङ्क्षयकारणम् । कुर्वन्तु देवताः शान्तिं यदि सन्निहिता इमाः ॥३२॥
इति माध्यस्थ्यवृत्त्येके[18] जनाः श्लाघ्यं वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित् स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥३३॥

युद्धका प्रारम्भ सुनकर जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको वीर योद्धा बड़ी धीरताके साथ समझाकर आश्वासन दे रहे थे ॥२१॥ उस समय घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई और आकाशको उल्लंघन करनेवाली पृथिवीकी धूल क्षण भरके लिये देवाङ्गनाओंके देखनेमें भी बाधा कर रही थी ॥२२॥ समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले और आकाशको उल्लंघन करनेवाले उस धूलिसे उत्पन्न हुए अन्धकारमें चक्ररत्नका प्रकाश ही मनुष्योंके नेत्रोंको अपना अपना विषय ग्रहण करनेके सन्मुख कर रहा था ॥२३॥ राजा लोग रास्तेमें अत्यन्त उत्कट वीररससे भरे हुए योद्धाओंके परस्परके वार्तालापसे तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंकी बातचीतमें ही उत्साहित हो रहे थे ॥२४॥ उधर राजा बाहुबली रणभूमिको दूरसे ही युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुए हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणा रहित (उच्छृङ्खल) होकर उनके सन्मुख जा रहे हैं ॥२५॥ नहीं मालूम इस युद्धमें इन दोनों भाइयोंका क्या होगा ? प्राय कर इनका यह युद्ध सेवकोंकी शान्तिके लिये नहीं है ? भावार्थ-इस युद्धमें सेवकोंका कल्याण दिखाई नहीं देता है ॥२६॥ भरतेश्वरने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे रोके नहीं जा सकते ऐसे प्रभु लोग स्वेच्छाचारी ही होते हैं ॥२७॥ जो ये मुकुटबद्ध राजा समस्त सामग्रीके साथ युद्ध करनेके लिये आये हुए हैं वे क्या इन दोनोंको नहीं रोक सकते हैं ? ॥२८॥ अहो, भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुबली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्तीके कुपित होनेपर भी इस प्रकार युद्धके लिये सन्मुख खड़ा हुआ है ॥२९॥ अथवा शूरवीर लोगोंको सामग्रीकी अधिकता विजयका कारण नहीं है क्योंकि एक ही सिंह झुण्डके झुण्ड हाथियोंको जीत लेता है ॥३०॥ नमस्कार करते हुए हजारों देव जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा यह चक्रको धारण करनेवाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है ॥३१॥ इसलिये जो अनेक लोगोंके विनाशका कारण है ऐसा इन दोनोंका युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहां समीपमें हो तो वे इस युद्धकी शान्ति करें ॥३२॥ इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भावसे प्रशंसनीय वचन कह रहे थे

---

1 आकाशलङ्घिन । 2 आलोकना । 3 रजोऽन्धकारे । 4 वीररसबहुलैः । 5 अलङ्कृत्वा । 6 समीपे । 7 नृपश्रेष्ठ भरत इत्यर्थः । 8 निरङ्कुशः । 9 भृत्यानाम् । 10 कष्टम् । 11 –थो यत ल० । 12 युद्ध कारयितुम् । 13 तथापि । 14 सनावाहुल्यम् । 15 सयुक्तान् 16 देवानाम् । 17 तत् कारणात् । 18 अन्ये ।

एवं प्रायैर्जनालापैर्महीनाथा विनोदिताः । द्रुतं [२]प्रापुस्तमुद्देशं यत्र वीराग्रणीरसौ[३] ॥३४॥
दोर्दर्पं चि[४]रमाख्यान्तं दुर्विलङ्घ्यमरातिभिः । तेऽस्य प्रतिभटाः प्रायः [५]तस्मिन्नासन्नसन्निधौ[६] ॥३५॥
इत्यभ्यर्णे बले जिष्णो[७]र्बलं भुजबलीशिनः । जलमब्धेरिवाक्षुभ्यद् वीरध्याननिरुद्धदिक् ॥३६॥
अथोभयबले धीराः[८] सन्नद्धगजवाजिनः[९] । बलान्यारचयामासुः अन्योन्यं प्रयुयुत्सया[१०] ॥३७॥
तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः सम्प्रधार्यैवमब्रुवन् । शान्तये नैनयोर्युद्धं[११] ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥३८॥
चरमाङ्गधरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य[१२] व्याजेनानेन[१३] जृम्भितः ॥३९॥
इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥४०॥
अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा । महानेव[१४]मधर्मश्च गरीयांश्च यशोवधः[१५] ॥४१॥
बलोत्कर्षपरीक्षेयम् अन्यथाप्युपपद्यते । [१६]तदस्तु युवयोरेव मिथो युद्धं त्रिधात्मकम् ॥४२॥
भ्रूभङ्गेन[१७] विना भङ्गः सोढव्यो युवयोरिह । विजयश्च विनोत्सेकात्[१८] धर्मो ह्येष सनाभिषु ॥४३॥
इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधैश्च मन्त्रिभिः । तौ कृच्छ्रात् प्रत्यपत्साताम्[१९] तादृशं युद्धमुद्धतौ ॥४४॥

और जिनने ही पक्षपातसे प्रेरित होकर अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥३३॥ प्रायः लोगोंके इसी प्रकारके वचनोंसे मन बहलाते हुए राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर जा पहुंचे जहां वीरशिरोमणि कुमार बाहुबली पहलेसे विराजमान था ॥३४॥ बाहुबलीके समीप पहुंचते ही भरतके योद्धा, जिसका शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसा बाहुबलीकी भुजाओंका दर्प देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥३५॥ इस प्रकार चक्रवर्ती भरतकी सेनाके समीप पहुँचनेपर वीरोंके शब्दोंसे दिशाओंको भरनेवाली बाहुबलीकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥३६॥

अथानन्तर–दोनों ही सेनाओंमें जो शूरवीर लोग थे वे परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे अपने हाथी घोड़े आदि सजाकर सेनाकी रचना करने लगे–अनेक प्रकारके व्यूह आदि बनाने लगे ॥३७॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य मुख्य मन्त्री विचार कर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूरग्रहोंके समान इन दोनोंका युद्ध शान्तिके लिये नहीं है ॥३८॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होगा ॥३९॥ इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्योंके संहारसे डरकर मन्त्रियोंने दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा कर दी ॥४०॥ उन्होंने कहा कि मनुष्योंका संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्धसे कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करनेसे बड़ा भारी अधर्म होगा और यशका भी बहुत विघात होगा ॥४१॥ यह बलके उत्कर्षकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है इसलिये तुम दोनोंका ही परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इस युद्धमें जो पराजय हो वह तुम दोनोंको भौंह चढ़ाये बिना ही–शान्तिसे सहन कर लेना चाहिये तथा जो विजय हो वह भी अहंकारके बिना तुम दोनोंको सहन करना चाहिये क्योंकि भाई भाइयोंका यही धर्म है ॥४३॥ इस प्रकार जब समस्त राजाओं और मन्त्रियोंने बड़े आग्रहके साथ बार बार कहा तब कठिनतासे उद्धत हुए उन दोनों भाइयोंने वैसा युद्ध करना स्वीकार

जलदृष्टिनियुद्धेषु[1] योऽनयोजयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्या पतिरस्तु स्वयंवृत ॥४५॥
इत्युद्घोष्य कृतानन्दम् आनन्दिन्या गभीरया । भेर्या चमूप्रधानाना न्यधुरेकत्र सन्निधिम् ॥४६॥
नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवास्ताननतोऽन्यत ॥४७॥
मध्ये महीभृता तेषा रेजतुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निषधनीलाद्री कुतश्चिदिव[2] सन्निधिम्[3] ॥४८॥
[4]तयोर्भुजबली रेजे गरुडग्रावसच्छवि । जम्बूद्रुम इवोत्तुङ्ग सभृङ्गोऽसित[5]मूर्द्धज ॥४९॥
रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रह । सचूलिक इवाद्रीन्द्र तप्तचामीकरच्छवि ॥५०॥
दधद्धीरतरा दृष्टिं निर्निमेषामनुद्भटाम्[6] । दृष्टियुद्धे जय प्राप प्रसभं भुजविक्रमी ॥५१॥
विनिवार्य कृतक्षोभम् अनिवार्य बलार्णवम् । मर्यादया यवीयांस[7] जयेनायोजयन्नृपा ॥५२॥
सरसीजलमागाढौ[8] जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घं व्यात्यु[9]क्षीमासतुर्भुजैः ॥५३॥
अधिवक्षस्तट जिष्णो रेजुरच्छा जलच्छटा । शैलभर्तुरिवोत्सङ्गसङ्गिन्य [10]स्रुतयोम्भसाम् ॥५४॥
जलौघो भरतेशेन मुक्तो दोर्बलशालिन । [11]प्राशोरप्राप्य दूरेण मुखमाराल् समापतत् ॥५५॥

किया ॥४४॥ 'इन दोनोके बीच जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और बाहु युद्धमे जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मीका स्वय स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सबको आनन्द देनेवाली गभीर भेरियोके द्वारा जिसमें सबको हर्ष हो इस रीतिसे घोषणा कर मत्री लोगोने सेनाके मुख्य मुख्य पुरुषोको एक जगह इकट्ठा किया ॥४५-४६॥ जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबलीके पक्षके थे उन्हे दूसरी ओर बैठाया ॥४७॥ उन सब राजाओके बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारणसे निषध और नीलपर्वत ही पास पास आ गये हो ॥४८॥ उन दोनोमें नीलमणिके समान सुन्दर छविको धारण करता हुआ और काले काले केशोसे सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पडता था मानो भ्रमरोसे सहित ऊँचा जम्बूवृक्ष ही हो ॥४९॥ इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिकासहित गिरिराज-सुमेरु ही हो ॥५०॥ अत्यन्त धीर तथा पलकोके सचारसे रहित शान्त दृष्टिको धारण करते हुए कुमार बाहुबलीने दृष्टियुद्धमें बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली ॥५१॥ हर्षसे क्षोभ मचाते हुए बाहुबलीके दुर्निवार सेनारूपी समुद्रको रोककर राजाओने बडी मर्यादाके साथ कुमार बाहुबलीको विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्धमे उनकी विजय स्वीकार की ॥५२॥ तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोके समान अभिमानसे उद्धत हुए वे दोनो भाई जलयुद्ध करनेके लिये सरोवरके जलमें प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी लम्बी भुजाओसे एक दूसरेपर पानी उछालने लगे ॥५३॥ चक्रवर्ती भरतके वक्ष स्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोडी हुई जलकी उज्ज्वल छटाए ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड रहा हो ॥५४॥ भरतेश्वरके द्वारा छोडा हुआ जलका प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुख को दूर छोडकर दूरसे ही नीचे जा पडा ॥ भावार्थ—भरतेश्वरने भी बाहुबलीके ऊपर पानी फेंका था परन्तु बाहुबलीके ऊँचे होनेके कारण वह पानी उनके मुखतक नहीं पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पडा । भरतका शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँचसौ पच्चीस

---

१ जलदृष्टिनियुद्धबाहुयुद्धेषु । 'नियुद्धं बाहुयुद्धे' इत्यभिधानात् । २ यत् । ३ कारणात् । ४ गरुडमणिसदृशं । ५ नयोर्मध्ये । ६ नीलवर्ण । 'नील कृष्ण नील भृङ्गे' इति विश्वलोचन । ७ शान्ताम् । ८ दीप्तम् । ९ अनुजम् । 'जघन्यजे स्यु कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजा' इत्यभिधानात् । १० प्रविष्टौ । ११ परस्पर जलसेचन चक्रतु । १२ प्रवाहा । १३ उन्नतस्य ।

भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा। बलैर्भुजबलीशस्य भूयोऽप्युद्घोषितो जयः ॥५६॥
नियुद्धमथ[1] सङ्गीर्य[2] नृसिंहौ सिंहविक्रमौ। धीरावाविष्कृतस्पर्धौ तौ रङ्गमवतेरतुः[3] ॥५७॥
[4]वल्गितास्फोटितैश्चित्रैः [5]करणैर्बन्ध[6]पीडितैः। दोर्दर्पशालिनोरासीद् बाहुयुद्धं तयोर्महत् ॥५८॥
ज्वलन्मुकुटभाचक्रो हेलयोद्भ्रामितोऽमुना। लीलामलातचक्रस्य[7] चक्री भेजे क्षणं भ्रमन् ॥५९॥
यवीयान्[8] नृपशार्दूलं ज्यायांसं[9] जितभारतम्। जित्वापि नानयद् भूमिं प्रभुरित्येव गौरवात् ॥६०॥
[10]भुजोपरोधमुद्धृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली। हिमाद्रिमिव नीलाद्रिः महाकटकभास्वरम् ॥६१॥
तदा कलकलश्चक्रे पक्ष्यैर्भुजबलीशिनः। नृपैर्भरतगृह्यैस्तु लज्जया नमितं शिरः ॥६२॥
समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेषूभयेष्वपि। परां विमानतां[11] प्राप्य ययौ चक्री विलक्षताम्[12] ॥६३॥
बद्धभ्रुकुटिरुद्भ्रान्तरुधिरारुणलोचनः। क्षणं दुरीक्षतां भेजे चक्री प्रज्वलितः क्रुधा ॥६४॥
क्रोधान्धेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयम्। चक्रमुत्कृत्त[13]निःशेषद्विषच्चक्रं निधीशिना ॥६५॥
[14]आध्यानमात्रमेत्याराद् अदः[15] कृत्वा प्रदक्षिणाम्। अवध्यस्यास्य[16] पर्यन्ते[17] तस्थौ मन्दीकृतातपम् ॥६६॥

धनुष। इसलिये बाहुबलीके द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरतके मुख तथा वक्षःस्थलपर पड़ता था परन्तु भरतके द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीचमें ही रह जाता था–बाहुबलीके मुखतक नहीं पहुँच पाता था ॥५५॥ इस प्रकार जब भरतेश्वरने इस जलयुद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तब बाहुबलीकी सेनाओंने फिरसे अपनी विजयकी घोषणा कर दी ॥५६॥ अथानन्तर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले धीरवीर तथा परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों नरशार्दूल–श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञा कर रंगभूमिमें आ उतरे ॥५७॥ अपनी अपनी भुजाओंके अहंकारसे सुशोभित उन दोनों भाइयोंका, अनेक प्रकारसे हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैंतरा बदलने और भुजाओंके व्यायाम आदिसे बड़ा भारी बाहु युद्ध (मल्ल युद्ध) हुआ ॥५८॥ जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरतको बाहुबलीने लीलामात्रमें ही घुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्तीने क्षण भरके लिये अलातचक्रकी लीला धारण की थी ॥५९॥ बाहुबलीने राजाओंमें श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्रको जीतनेवाले भरतको जीतकर भी 'ये बड़े हैं' इसी गौरवसे उन्हें पृथिवीपर नहीं पटका ॥॥६०॥ किन्तु भुजाओंसे पकड़कर ऊंचा उठाकर कन्धेपर धारण कर लिया। उस समय भरतेश्वरको कन्धेपर धारण करते हुए बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो नील गिरिने बड़े बड़े शिखरोंसे देदीप्यमान हिमवान् पर्वतको ही धारण कर रक्खा हो ॥६१॥ उस समय बाहुबलीके पक्षवाले राजाओंने बड़ा कोलाहल मचाया और भरतके पक्षके लोगोंने लज्जासे अपना शिर झुका लिया ॥६२॥ दोनों पक्षके राजाओंके साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरतका अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिये वे भारी लज्जा और आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥६३॥ जिसने भौंहें चढ़ा ली हैं, जिसकी रक्तके समान लाल लाल आँखें इधर उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे जल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती क्षण भरके लिये भी दुर्निरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षणभर नहीं देख सकता था ॥६४॥ उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियोंके स्वामी भरतने बाहुबलीका पराजय करनेके लिये समस्त शत्रुओंके समूहको उखाड़कर फेंकनेवाले चक्ररत्नका स्मरण किया ॥६५॥ स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलीपर चलाया

---

१ बाहुयुद्धम्। २ प्रतिज्ञां कृत्वा। ३ प्रविष्टावित्यर्थः। ४ वल्गनभुजास्फालनं। वलिता–प०, द०। ५ पदचारिभिः। ६ बाहुबन्ध। ७ काष्ठाग्निभ्रमणस्य। ८ अनुजः। ९ ज्येष्ठम्। १० बाहुपीडनं यथा भवति तथा। ११ परिभवम्। १२ विस्मयान्वितम्। १३ उच्छिन्न।–मुत्क्षिप्त–म०, द०। १४ स्मृत। १५ एतच्चक्रम्। १६ भुजबलिनः। १७ समीपे।

कृत[1] कृत बलानेन साहसेनेति धिक्कृत । तदा महत्तमैश्चक्री जगामानुशय[2] परम् ॥६७॥
[3]कृतापदान इत्युच्चै करेण तुलयन्नृपम् । सोऽवतीर्यांसतो[4] धीरोऽनिकृष्टा [5]भूमिमापिपत्[6] ॥६८॥
सत्कृत स जयाशसम् अभ्येत्य नृपसत्तमै । मेने सोत्कर्षमात्मान तदा भुजबली प्रभु ॥६९॥
अचिन्तयच्च किन्नाम कृते [7]राज्यस्य भङ्गिन[8] । लज्जाकरो विधिर्भ्रात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठित[9] ॥७०॥
[10]विपाककटुसाम्राज्य क्षणध्वसि धिगस्त्विदम् । दुस्त्यज त्यजदप्येतद् अङ्गिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥७१॥
अहो विषयसौख्याना वैरूप्यम[11]पकारिता । [12]भङ्गुरत्वमतृप्यत्व [13]सक्तैर्नाविष्यते[14] जनै ॥७२॥
को नाम मतिमानीप्सेद् विषयान् विषदारुणान् । येषा वशगतो जन्तु यात्यनर्थपरम्पराम् ॥७३॥
वर विष यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा । विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तश ॥७४॥
आपातमात्र[15]रम्याणा विपाककटुकात्मनाम् । विषयाणा कृते[16] नाज्ञो[17] यात्यनर्थानपार्थकम् ॥७५॥

परन्तु उनके अवध्य होनेसे वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हीके पास जा ठहरा। भावार्थ—देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बके लोगोपर सफल नही होते, बाहुबली भरतेश्वरके एक पितृक भाई थे इसलिये भरतका चक्र बाहुबलीपर सफल नही हो सका, उसका तेज फीका पड गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबलीके समीप ही ठहर गया ॥६६॥ उस समय बडे बडे राजाओने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दु खके साथ कहा कि 'बस बस' 'यह साहस रहने दो'—बन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक सतापको प्राप्त हुए ॥६७॥ आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वरसे कहकर धीर वीर बाहुबलीने पहले तो भरतराजको हाथोसे तोला और फिर कन्धेसे उतारकर नीचे जमीनपर रख दिया अथवा (धीरो अनिकृष्टा ऐसा पदच्छेद करनेपर) उच्च स्थानपर विराजमान किया ॥६८॥ अनेक अच्छे अच्छे राजाओने समीप आकर महाराज बाहुबलीके विजयकी प्रशसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबलीने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया ॥६९॥ साथ ही साथ वे यह भी चिन्तवन करने लगे कि देखो, हमारे बडे भाई ने इस नश्वर राज्यके लिये यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है ॥७०॥ यह साम्राज्य फलकालमें बहुत दुख देनेवाला है, और क्षणभगुर है इसलिये इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोडकर अन्य पतिके पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोडकर अन्य पतिके पास चला जाता है। यह राज्य प्राणियोको छोड देता है परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नही छोडते यह दु खकी बात है ॥७१॥ अहा, विषयोमें आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखोका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभगुरता और नीरसपनेको कभी नही सोचते हैं ॥७२॥ जिनके वशमें पडे हुए प्राणी अनेक दु खोकी परम्पराको प्राप्त होते है ऐसे विषके समान भयकर विषयोको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहेगा? ॥७३॥ विष खा लेना कही अच्छा है क्योकि वह एक ही भवमें प्राणीको मारता है अथवा नही भी मारता है परन्तु विषय सेवन करना अच्छा नही है क्योकि ये विषय प्राणियोको अनन्तबार फिर फिरसे मारते है ॥७४॥ जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते है परन्तु फलका-

---

१ अलमलम् । २ पश्चात्तापम् । ३ कृतपराक्रमस्त्वमिति । कृतोपादान–अ०, स० । ४ भुजशिखरात् । 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । —सोर्यांसतो—स० । ५ अवस्थाम् । ६–भापपत् प०, स० । ७ निमित्तम् । ८ विनश्वरस्य । ९–र्नुष्ठित प०, स० । १० परिणमन । ११ कुत्सितत्वम् । १२ विनश्वरत्वम । १३ आसक्तै । १४ न मृग्यते । न विचार्यते इत्यर्थ । १५ अनुभवनकाल । १६ निमित्तम् । १७ पुमान् ।

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः । [1]किम्पाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥७६॥
शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनि[2]महोरगाः । न तथोद्वेजका[3] पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥७७॥
महाब्धिरौद्रसङ्ग्रामभीमारण्यसरिद्गिरीन् । [4]भोगार्थिनो भजन्त्यज्ञा धनलाभ[5]धनायया ॥७८॥
दीर्घदोर्घातनिर्घात[6]निर्घोषविषमीकृते । यादसां यादसांपत्यौ[7] चरन्ति विषयार्थिनः ॥७९॥
समापतच्छरव्रातनिरुद्धगगनाङ्गणम् । रणाङ्गणं विशन्त्यस्तभियो भोगैर्विलोभिताः ॥८०॥
चरन्ति वनमानुष्या[8] यत्र सत्रासलोचनाः[9] । ताः पर्यटन्त्यरण्यानीः भोगाशोपहृता जडाः ॥८१॥
सरितो विषमावर्तभीषणा ग्राहसङ्कुलाः । तितीर्षन्ति बताविष्टा[10] विषमैर्विषयग्रहैः ॥८२॥
आरोहन्ति दुरारोहान् गिरीनप्यभियोगिनः[11] । रसायनरसज्ञान[12]बलवादविमोहिताः ॥८३॥
अनिष्टवनितेवेयम् आलिङ्गति बलाज्जरा । कुर्वती पलितव्याजात् रभसेन कचग्रहम् ॥८४॥
[13]भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद[14] हिताहितम् । मुक्तस्य जरसा जन्तोः मृतस्य च किमन्तरम्[15] ॥८५॥
[16]प्रसह्य पातयन् भूमौ गात्रेषु कृतवेपथुः[17] । जरापातो[18] नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥८६॥

में कडवे (दुःख देनेवाले) जान पडते हैं ऐसे विषयोंके लिये यह अज्ञ प्राणी क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको प्राप्त नहीं होता है ? ॥७५॥ जो प्रारम्भकालमें तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं और अन्तमें प्राणोंका अपहरण करते हैं ऐसे किंपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? ॥७६॥ ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोंको जैसा उद्वेग करते हैं वैसा उद्वेग शस्त्रोंका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, बिजली और बडे बडे सर्प भी नहीं कर सकते हैं ॥७७॥ भोगोंकी इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष धन पानेकी इच्छासे बडे बडे समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंमें प्रवेश करते हैं ॥७८॥ विषयोंकी चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोंकी लम्बी लम्बी भुजाओंके आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात जैसे कठोर शब्दों-से क्षुब्ध हुए समुद्रमें भी जाकर संचार करते हैं ॥७९॥ भोगोंमें लुभाये हुए पुरुष, चारों ओरसे पडते हुए बाणोंके समूहसे जहां आकाशरूपी आंगन भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमें भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते हैं ॥८०॥ जिनमें वनचर लोग भी भय सहित नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर बडे-बडे वनोंमें भी भोगोंकी आशासे पीडित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥८१॥ कितने दुःखकी बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहोंसे जकडे हुए कितने ही लोग, कठिन-तीनी भंवरोंसे भयंकर और मगरमच्छोंसे भरी हुई नदियोंको भी पार करना चाहते हैं ॥८२॥ रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले धूर्तोंके द्वारा मोहित होकर उद्योग करने-वाले कितने ही पुरुष कठिनाईसे चढने योग्य पर्वतोंपर भी चढ जाते हैं ॥८३॥ यह जरा सफेद बालोंके बहानेसे वेगपूर्वक केशोंको पकडती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जबर्दस्ती आलिंगन करती है ॥८४॥ जो प्राणी भोगोंमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नहीं जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमें और मरे हुएमें क्या अन्तर है ? अर्थात् विवेक न होनेसे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है ॥८५॥ यह बुढापा मनुष्योंको शीतज्वरके समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर उत्पन्न होते ही जबर्दस्ती जमीन-

---

१ [illegible] । २ वज्रपातानि । ३ [illegible] । ४ धनाभिवाञ्छया । ५ भजन्ति । ६ जलजन्तूनाम् । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यभिधानात् । यादसां पत्यौ समुद्रे । 'रत्नाकरो जलनिधिर्यादः-पतिरपांपतिः' इत्यभिधानात् । ७ वनेचराः । ८ भयसहिताः । ९ मर्तुमिच्छन्ति । १० [illegible] इत्यर्थः । ११–अभियोगिनः उ० प०, अ०, ब० । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ न जानाति । १५ भेदः । १६ बलात्कारेण । १७ कम्पः । १८ [illegible] ।

अङ्गप्रसाद[1] मतिभ्रंश[2] वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा[3] घटयत्याशु देहिनाम् ॥८७॥
कालव्यालगजेनेदमायुरालानक बलात् । चाल्यते यद्बलाधान जीवितालम्बन नृणाम् ॥८८॥
शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम् । रोगा[4]खूपहत चेद[5] जरद्देहकुटीरकम् ॥८९॥
इत्यशाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वर । शाश्वत मन्यते कष्ट मोहोपहतचेतन ॥९०॥
चिरमाकलयन्नेवम् अग्रजस्यानुदात्तताम्[6] । व्याजहारैनमुद्दिश्य गिर प्रपरुषाक्षरा ॥९१॥
शृणु भो नृपशार्दूल क्षण [7]वैलक्ष्यमुत्सृज । मुह्यतेद[8] त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम् ॥९२॥
अभेद्ये मम देहाद्रौ त्वया चक्र नियोजितम् । विद्धयकिञ्चित्कर[9] वाज्रे शैले वज्रमिवापतत् ॥९३॥
अन्यच्च भ्रातृभाण्डानि भङ्क्त्वा राज्य यदीप्सितम् । त्वया धर्मो यशश्चैव[10] तेन [11]पेशलमर्जितम् ॥९४॥
चक्रभृद्भरत स्रष्टु सूनु आद्यस्य सोऽग्रणी । कुलस्योद्धारक सोऽभूदिति[12]डाऽस्यापि च त्वया ॥९५॥
जिता च भवतैवाद्य [13]पापोपहतामिमाम् । मन्यसेऽनन्यभोगीना[14] नृपश्रियमनश्वरीम ॥९६॥
प्रेयसीव तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बन्धो[15] न हि सता मुदे ॥९७॥

पर पटक देता है उसी प्रकार बुढापा भी जबर्दस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीरमे कम्पन पैदा कर देता है उसी प्रकार बुढापा भी शरीरमे कम्पन पैदा कर देता है ॥८६॥ शरीरमे प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आई हुई जरा और मदिरा दोनो ही लोगो के शरीरको शिथिल कर देती है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर देती है और वचनोमे अस्पष्टता ला देती है ॥८७॥ जिसके बलका सहारा मनुष्योके जीवनका आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खभा कालरूपी दुष्ट हाथीके द्वारा जबर्दस्ती उखाड दिया जाता है ॥८८॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोपडा रोगरूपी चूहोके द्वारा नष्ट किया हुआ है ॥८९॥ इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर है फिर भी मोहके उदयमे जिसकी चेतना नष्ट हो गई है ऐसा भरत इन्हे नित्य मानता है यह कितने दुखकी बात है ? ॥९०॥ इस प्रकार वडे भाईकी नीचताका चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबली-ने भरतको उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोवाली वाणी कही ॥९१॥ हे राजाओ-में श्रेष्ठ, क्षणभरके लिये अपनी लज्जा या झेंप छोड, मैं कहता हू सो सुन । तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य वडे भारी साहसका सहारा लिया है ॥९२॥ जो कभी भिद नही सकता । ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्रके बने हुए पर्वतपर पडते हुए वज्रके समान व्यर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ ॥९३॥ दूसरी बात यह है कि जो तूने भाइयोकी सामग्री नष्ट कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तूने वहुत ही अच्छा धर्म और यशका उपार्जन किया है ॥९४॥ तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥९५॥ हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य-लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी समझता है ॥९६॥ जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नहीं है क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषोके आनन्दके लिये नहीं होता है । भावार्थ–यह लक्ष्मी स्वय एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धका कारण है इसलिये सज्जन पुरुष इसे

---

१ पतनम् । २ भ्रंशम् । ३ आतुरता । ४ सुषिर । ५ जीर्णम् । ६ निकृष्टताम् । ७ विस्मयाभिमानम् । ८ मुहूर्तमात्रमिति मुह्यन् नेत । ९ न किञ्चित्करम् । किमपि कर्तुमसमर्थं इत्यर्थ । १० राज्याभिलाषेण । ११ प्रशस्तम् । १२ स्तुति । १३ यस्मात् कारणात् । १४ अन्यभागायिताम् । १५ बन्धहारम्भ्यविग्रह ।

दूषिता कण्टकैरेषा फलिन्यपि ते श्रियम् । करेणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः ॥९८॥
विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथापि नः । निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कर्तुमिच्छताम् ॥९९॥
मृष्यतां[1] च तदस्माभिः कृतमागो[2] यदीदृशम् । प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वचापलमदीदृशम्[3] ॥१००॥
इत्युच्चरद् गिरामोघो[4] मुखाद् बाहुबलीशिनः । ध्वनिरब्दादिवाऽऽतप्त जिष्णोर्ह्लादयन्मनः ॥१०१॥
हा दुष्टं[6] कृतमित्युच्चैः आत्मानं स विगर्हयन् । अन्वतप्त पापेन कर्मणा स्वेन चक्रराट् ॥१०२॥
प्रयुक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्य स धीरयन् । न्यवृतन्न स्वसङ्कल्पाद्[7] अहो स्थैर्यं मनस्विनाम् ॥१०३॥
महाबलिनि निक्षिप्तराज्यर्द्धिः स स्वनन्दने । दीक्षामुपाददे जैनीं गुरोराराधयन् पदम् ॥१०४॥
दीक्षावल्ल्या परिष्वक्तः[8] त्यक्ताशेषपरिच्छदः । स रेजे सलतः[9] पत्रमोक्षक्षाम[10] इव द्रुमः ॥१०५॥
गुरोरनुमतेऽधीती[11] दधदेकविहारिताम् । प्रतिमायोगमावर्षम्[12] आतस्थे किल संवृतः[13] ॥१०६॥
स [14]शंसितव्रतोऽनाश्वान्[15] वनवल्लीततान्तिकः । वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पत् सर्पैरासीद् भयानकः[16] ॥१०७॥
[17]द्विसदाविर्भवद्भोग[18]भुजङ्गशिशुभिस्तनैः । विषाङ्कुरैरिवोपाङ्घ्रि[19] स रेजे वेष्टितोऽभितः ॥१०८॥

कभी नहीं चाहते ॥९७॥ यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकारके काटोंसे-विपत्तियोंसे दूषित है। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो काटेवाली लताको हाथसे छुएगा भी ॥९८॥ अब हम कटक रहित तपरूपी लक्ष्मीको अपने आधीन करना चाहते हैं इसलिये यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोंके लिये विषके काटोंकी श्रेणीके समान सर्वथा त्याज्य है ॥९९॥ अतएव जो मैंने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिये। मैं विनयसे च्युत हो गया था अर्थात् मैंने आपकी विनय नहीं की सो इसे मैं अपनी चपलता ही समझता हूँ ॥१००॥ जिस प्रकार मेघसे निकलती हुई गर्जना सन्तप्त मनुष्योंको आनन्दित कर देती है उसी प्रकार महाराज बाहुबलीके मुखसे निकलते हुए वाणीके समूहने चक्रवर्ती भरतके सन्तप्त मनको कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था ॥१०१॥ 'हा मैंने बहुत ही दुष्टताका कार्य किया है' इस प्रकार जोर जोरसे अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्मसे बहुत ही सन्तप्त हुआ ॥१०२॥ जिसमें अनेक प्रकारके अनुनय विनयका प्रयोग किया गया है इस रीतिसे अन्तिम बुलाकर महाराज भरतको बार-बार प्रसन्न करता हुआ बाहुबली अपने संकल्पसे पीछे नहीं हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुषोंकी स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है ॥१०३॥ *उसने अपने पुत्र महाबलीको राज्यलक्ष्मी सौंप दी और स्वयं गुरुदेवके चरणोंकी आराधना करते* हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥१०४॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है तथा जो दीक्षा रूपी लतासे आलिङ्गित हो रहा है ऐसा वह बाहुबली उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो पत्तोंके गिर जानेसे कृश लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो ॥१०५॥ गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रों का अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक वर्षतक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसनसे खड़े रहनेका नियम लिया ॥१०६॥ जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नहीं करते, और जिनके समीपका प्रदेश वनकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे वे बाहुबली वामीके छिद्रोंसे निकलते हुए सर्पोंसे बहुत ही भयानक हो रहे थे ॥१०७॥ जिनके फणा प्रकट हो रहे हैं ऐसे फुंकारते हुए सर्पके बच्चोंकी उछलकूदसे चारों ओरसे घिरे हुए वे बाहुबली ऐसे सुशोभित

---

१ क्षम्यताम् । २ अपराधः । ३ भूतमदर्शयम् । ४ प्रकटम् । ५ जलदः । ६ दुष्टु ट० । रिता। 'निन्दायां दुष्टु सुष्ठु प्रशंसने।' इत्यभिधानात् । ७ निर्वैराग्यादित्यर्थः । ८ आलिङ्गितः । ९ सलता सहितः । १० पत्राभावेन कृशः । ११ अधीतवान् । १२ वर्षपर्यन्तम् । १३ स्थितः । १४ स्तुत । १५ उपवासी । १६ नखद्वर । १७ उच्छ्रयन् । १८ फणा । १९ अभिमर्दन ।

दधानः स्कन्ध[1]पर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः । सोऽ[2]न्वगाद्गूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०९॥
माधवीलतया गाढम् उपगूढ[3] प्रफुल्लया । शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव[4] सहासया[5] ॥११०॥
विद्याधरीकरालून[6]पल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनीवास्य [7]सामि नम्राऽनुनेष्यती[8] ॥१११॥
रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीभवन् ॥११२॥
तपस्तनूनपात्ताप[9]सन्तप्तस्यास्य केवलम् । शरीरमशुषन्नोर्ध्वं शोष[10] कर्माप्यशर्मदम् ॥११३॥
तीव्रं तपस्यतोऽप्यस्य नासीत् काश्चिदुपप्लवः । अचिन्त्यं महतां धैर्यं येना[11]यान्ति न विक्रियाम् ॥११४॥
सर्वंसह[12] [13]क्षमाभारम् अशान्तः शीतलं जलम् । निःसङ्गः पवनं दीप्त[14] स जिगाय हुताशनम् ॥११५॥
क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदंशमशकद्वयम् । मार्गाच्यवनसंसिद्ध्यै [15]द्वन्द्वानि सहते स्म सः ॥११६॥
स नाग्न्य[16] परमं बिभ्रन्नाभेद्योऽभूदिन्द्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य [17]सा [18]गुप्तिः नाग्न्यं नाम परं तपः ॥११७॥
रतिं चारतिमप्येष द्विषन् स्म तितिक्षते[19] । न रत्यरतिबाधा हि विषयानभिषङ्गिणः[20] ॥११८॥

हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकुरे ही लग रहे हों ॥१०८॥ कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे ॥१०९॥ फूली हुई वासती-लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पडते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओंसे उनका आलिंगन कर रही हो ॥११०॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधरियोंने अपने हाथसे तोड लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणोंपर पडकर सूख गई थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पडी हो ॥१११॥ ऐसी अवस्था होनेपर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पडते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो ॥११२॥ तपरूपी अग्निके संतापसे संतप्त हुए बाहुबलीका केवल शरीर ही खडे-खडे नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥११३॥ तीव्र तपस्या करते हुए बाहुबलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंका धैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकार-को प्राप्त नहीं होते ॥११४॥ वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे, परिग्रह रहित थे और अतिशय देदीप्यमान थे इसलिये उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु और अग्निको जीत लिया था ॥११५॥ वे मार्गसे च्युत न होनेके लिये भूख, प्यास, शीत, गर्मी तथा डांस मच्छर आदि परीषहोंके दुःख सहन करते थे ॥११६॥ उत्कृष्ट नाग्न्य व्रतको धारण करते हुए बाहुबली इन्द्रियरूपी धूर्तोंके द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट रूपसे रक्षा करना ही नाग्न्य व्रत है और यही उत्तम तप है। भावार्थ—वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विकृत नहीं कर सके थे ॥११७॥ वे रति और अरति इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे अर्थात् रागके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे राग नहीं करते थे और द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों-

---

१ भुजशिखर । २ अनुकरोति स्म । ३ आलिङ्गित । ४ सख्या । ५ सहास्यया अ०, स०, द०, ल० । ६ छिन्न । ७ ईषद् । ८ अनुनयं कुर्वती । ९ अग्नि । १० 'ऊर्ध्वात् पू शुष' इति णम् प्रत्ययात् । ऊर्ध्वंभूत शरीरमित्यर्थः । ११ धैर्येण । १२ सकलपरीषहोपसर्गं सहमानः । १३ भूभागमित्यर्थः । १४ तपोविशेषेण दीप्तः । १५ परीषहान् । १६ नग्नत्वम् । १७ प्रसिद्धा । १८ रक्षा । १९ सहते स्म । २० विषयवाञ्छारहितस्य ।

परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत । कर्मणा निर्जरोपाय परीषहजय पर ॥१२८॥
क्रोध तितिक्षया[1] मानम् उत्सेक[2]परिवर्जनै । मायामृजुतया लोभ सन्तोषेण जिगाय स ॥१२९॥
[3]पञ्चेन्द्रियाण्यनायासात सोऽजयीज्जितमन्मथ । विषयेन्धनदीप्तस्य कामाग्ने शमनं तप ॥१३०॥
आहारभयसज्ञे च समैथुनपरिग्रहे । अनङ्गविजयादेता सज्ञा क्षपयतिस्म स ॥१३१॥
इत्यन्तरङ्गशत्रूणा स भञ्जन [4]प्रसर मुहु । जयति स्माऽऽत्मनाऽऽत्मानम् आत्मविद् विदिताखिल [5] ॥१३२॥
व्रत च समितो सर्वा सम्यगिन्द्रियरोधनम् । अचेलता च केशाना प्रतिलुञ्चनसङ्ग[6]रम् ॥१३३॥
आवश्यकेष्वसम्बाधम् अस्नान क्षितिशायिताम् । अदन्तधावन स्थित्वा भुक्ति भक्त च नासकृत्[7] ॥१३४॥
प्राहुर्मूलगुणानेतान् तथोत्तरगुणा परे । तेषा[8]माराधने यत्न सोऽतनिष्टातनुर्मुनि[9] १३५
[10]एतेष्वहापयन्[11] काञ्चिद व्रतशुद्धि परा श्रित । सोऽदीपि किरणैर्भास्वानिव दीप्तैस्तपोऽशुभि, ॥१३६॥
गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्त परा नि शल्यता गत । [12]धर्मैर्दशभिरारूढदार्ढ्योऽभून्मुक्तिवर्त्मनि ॥१३७॥
गुप्तित्रयमयी [13]गुप्ति श्रितो ज्ञानासिभासुर । सवर्मित [14] समितिभि भेजे विजिगीषुताम ॥१३८॥

इस प्रकार परिषहोके जीतनेसे उनके बहुत बडी कर्मोकी निर्जरा हो गई थी सो ठीक ही है क्योकि परिषहोको जीतना ही कर्मोकी निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है ॥१२८॥ उन्होने क्षमासे क्रोधको, अहकारके त्यागसे मानको, सरलतासे मायाको और सतोषसे लोभको जीता था ॥१२९॥ कामदेवको जीतनेवाले उन मुनिराजने पाच इन्द्रियोको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योकि विषयरूपी ईधन जलती हुई कामरूपी अग्निको शमन करनेवाला तपश्चरण ही है। भावार्थ—इन्द्रियोको वश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे ॥१३०॥ उन्होने कामको जीत लेनेसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन सज्ञाओको नष्ट किया था ॥१३१॥ इस प्रकार अन्तरङ्ग शत्रुओके प्रसारको बार बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥१३२॥ पाच महाव्रत, पाच समितिया, पाच इन्द्रियदमन, वस्त्रपरित्याग, केशोका लोच करना, छह आवश्यकोमे कभी बाधा नही होना, स्नान नही करना, पृथिवीपर सोना, दातौन नही करना, खडे होकर भोजन करना और दिनमे एक बार आहार लेना, इन्हे अट्ठाईस मूलगुण कहते है इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तर गुण भी है, वे महामुनि उन सबके पालन करनेमे प्रयत्न करते थे ॥१३३–१३५॥ इनमे कुछ भी नही छोडते हुए अर्थात् सबका पूर्ण रीतिसे पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतोकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणोसे प्रकाशमान हो रहे थे ॥१३६॥ वे रसगौरव, शब्द गौरव, और ऋद्धिगौरव इन तीनोसे रहित थे, अत्यन्त नि शल्य थे और दशधर्मोके द्वारा उन्हे मोक्षमार्गमे अत्यन्त दृढता प्राप्त हो गई थी ॥१३७॥ वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके समान जान पडते थे क्योकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, तलवारसे देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराजने भी तीन गुप्तियोरूपी दुर्गोका आश्रय ले रखा था, वे भी ज्ञानरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पाच समितियारूप कवच पहिन रखा था। भावार्थ—यथार्थमे वे कर्मरूप शत्रुओको जीतनेकी इच्छा रखते थे

१ क्षमया । २ गर्व । ३ म० ब० अ० म० ट०, प० द० पुस्तकेष्वयमनोऽय पाठ । म० पुस्तके १२९-१३० श्लोकयोर्मध्येऽयमाऽऽसीत । ४ समूहम् । ५ ज्ञातसकलपदार्थ । ६ प्रतिज्ञाम् । ७ एकवारमित्यर्थ । ८ मूलोत्तरगुणानाम् । ९ महान् । १० आवश्यकगुणेषु । ११ हानिमकुर्वन् । १२ उत्तमक्षमादिभि । १३ रक्षाम् । १४ कवचित ।

कषायतस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनम्। सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः ॥१३९॥
वाचंयमस्य[1] तस्यासीन्न जातु विकथादरः। नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसंवृतम् ॥१४०॥
मनोऽगारे महत्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका। व्यदीपि तत[2] एवासन् विश्वेऽर्था ध्येयतापदे ॥१४१॥
मतिश्रुताभ्यां निःशेषम् अर्थतत्त्वं विचिन्वतः[3]। करामलकवद् विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥१४२॥
परीषहजयैर्दीप्तो विजितेन्द्रियशात्रवः। कषायशत्रूनुच्छेद्य स तपोराज्यमन्वभूत् ॥१४३॥
योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासंस्तपोबलात्। यतोऽस्याविरभूच्छक्तिः त्रैलोक्यक्षोभणं प्रति ॥१४४॥
चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदोदभूत्[4]। तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमबृंहितः ॥१४५॥
मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन्। श्रुतज्ञानेन [5]विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः ॥१४६॥
परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत्। मनःपर्ययबोधे च सम्प्रापद् विपुलां[6] मतिम् ॥१४७॥
ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी। ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥१४८॥

॥१३८॥ कषायरूपी चोरोंके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था क्योंकि वे सदा जागते रहते थे और बार बार प्रमादरहित होते रहते थे। भावार्थ—लोकमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नहीं करता उसकी चोरी नहीं होती। भगवान् बाहुबली अपने परिणामोंके शोधमें निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमादको पासमें भी नहीं आने देते थे इसलिये कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धनको नहीं चुरा सके थे ॥१३९॥ वे सदा मौन रहते थे इसलिये कभी उनका विकथाओंमें आदर नहीं होता था। और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिये वह इन्द्रियोंके द्वारा नहीं तोड़ा जा सका था। भावार्थ—वे कभी विकथाएं नहीं करते थे और पाँचों इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखते थे ॥१४०॥ उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिये ही समस्त पदार्थ उनके ध्येयकोटिमें थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे। भावार्थ—पदार्थोंका ध्यान करनेके लिये उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुबलीको सब पदार्थोंका ज्ञान था इसलिये सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे ॥१४१॥ वे मति और श्रुत ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंका चिन्तवन करते रहते थे इसलिये उन्हें यह जगत् हाथपर रक्खे हुए आँवलेके समान अत्यन्त स्पष्ट था ॥१४२॥ जो परिषहोंको जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे हैं और जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओंको छेदकर तपरूपी राज्यका अनुभव कर रहे थे ॥१४३॥ तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराजके योगके निमित्तसे होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं जिनसे कि उनके तीनों लोकोंमें क्षोभ पैदा करनेकी शक्ति प्रकट हो गई थी ॥१४४॥ उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे मतिज्ञान आदि चारों प्रकारके ज्ञानोंमें वृद्धि हो गई थी ॥१४५॥ मतिज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रकट हो गई थीं और श्रुत ज्ञानके बढ़नेसे समस्त अंगों तथा पूर्वोंके जानने आदिकी शक्तिका विस्तार हो गया था ॥१४६॥ वे अवधिज्ञानमें परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञानमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी शुद्धि होनेसे तपकी शुद्धि भी बहुत अधिक हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठहरनेमें मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमें मूल कारण ज्ञान है ॥१४८॥

---

१ मौनिव्रतिनः । २ ज्ञानदीपिकायाः सकाशात् । ३ विचिन्वतः । ४ उदभिन्न । ५ द्वादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्वादिसर्वश्रुतज्ञानविस्तारः । ६ अपि प०, म० । ७ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम् ।

तपसोऽग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्शितः[1] । स दीप्ततपसात्यन्तं दिदीपे[2] दीप्तिमानिव ॥१४९॥
सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत् । तपोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षाण्यनुक्रमात् ॥१५०॥
तपोभिरकृशैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः । [3]घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान्[4] ॥१५१॥
विक्रियाऽष्टतयी[5] चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात् । [6]विक्रियां निखिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः[7] ॥१५२॥
प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत् सन्निधिर्जगते हितः । [8]आमर्शक्ष्वेल[9]जल्लाद्यैः[10] प्राणिनामुपकारिणः ॥१५३॥
अना[11]शुषोऽपि तस्यासीद् [12]रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे ॥१५४॥
अक्षीणावसथः[13] सोऽभूत्तथाऽक्षीण[14]महाशनः (नसः)[15] । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षू[16]णमुपासितम् ॥१५५॥
निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्मम् इति निर्जित्य जित्वरः । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः ॥१५६॥
क्षमामथोत्तमां भेजे परं मार्दवमार्जवम् । सत्यं शौचं तपस्त्यागावाकिञ्चन्यं च संयमम् ॥१५७॥
ब्रह्मचर्यं च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः । योग[17]सिद्धौ परां सिद्धिम्[18] आमनन्तीह योगिनः ॥१५८॥

वे महामुनि उग्र, और महाउग्र तपसे अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तपसे सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१४९॥ उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे ॥१५०॥ इन बड़े बड़े तपोंसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघोंके आवरणसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥१५१॥ यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकारकी विक्रिया अर्थात् विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्यकी बात है कि उनके तपके बलसे आठ प्रकारकी विक्रिया प्रकट हो गई थी । भावार्थ–रागद्वेष आदि विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुबली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व यह आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थी ॥१५२॥ जिन्हें अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, क्ष्वेल तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियोंका उपकार करते हैं ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का कल्याण करनेवाली थी । भावार्थ–उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे ॥१५३॥ यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी । भावार्थ–भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसऋद्धिका उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे इसलिये उनके शक्तिमात्रसे रसऋद्धिका सद्भाव बतलाया है ॥१५४॥ वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धिको भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है ॥१५५॥ विकल्प रहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है ऐसा निश्चयकर योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराजने मनको जीतकर उसे ध्यानके अभ्यासमें लगाया ॥१५६॥ उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएं हैं । इस लोकमें योगकी सिद्धि होनेपर ही उत्कृष्ट सिद्धि–सफलता–मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते हैं ॥१५७–१५८॥

---

१ कृशीकृत । २ रवि । ३ मेघ । ४ रश्मिभि । ५ अष्टप्रकारा । ६ विरराज । ७ ता[illegible] । ८ [illegible] । ९ निष्ठीवन । १० स्वेदोत्थमलाद्यैः । ११ अनशनव्रतिनः । १२ अमृतस्रवादि । १३ अक्षय । १४ महत् । १५ 'स०' पुस्तके 'महानस' पाठः सुपाठ इति टिप्पण्यां लिखितम् । १६ अक्षीणम् । १७ ध्यानाभ्यासे सति । १८ मुक्तिम् ।

अनित्यात्राणससारैकत्वान्यत्वान्यशौचताम् । निर्जरास्रवसंरोधलोकस्थित्यनुचिन्तनम् ॥१५९॥
धर्मस्याख्याततत्त्वं बोधे दुर्लभत्वं च लक्षयन् । सोऽनुप्रेक्षाविधिं [1]दध्यौ विशुद्धं द्वादशात्मकम् ॥१६०॥
[3]आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं चानुचिन्तयन् । सध्यानमभजद् धर्म्यं कर्मांशान् परिशातयन्[4] ॥१६१॥
दीपिकयामिवामुष्या ध्यानदीप्तौ निरीक्षिता । क्षणं विशीर्णाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवाभितः ॥१६२॥
तद्देहदीप्तिप्रसरो दिङ्मुखेषु परिस्फुरन् । तद्वनं गारुडग्रावच्छायाततं[5]मिवातनोत् ॥१६३॥
तत्पदोपान्तविश्रान्ता विस्र[6]ब्धा मृगजातयः । बबाधिरे मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां श्रितैः ॥१६४॥
विरोधिनोऽप्यमी [7]मुक्तविरोधं[8]स्वैरमासिताः । तस्योपाङ्घ्रि[9]भिसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः ॥१६५॥
जरज्ज[8]म्बूकमाघ्राय मस्तके [9]व्याघ्रधेनुका । स्वशावनिर्विशेषं[10] ताम् पीप्यत्[11] स्तन्य[12]मात्मनः ॥१६६॥
करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः ॥१६७॥
कलभान् कल[13]भाङ्कारमुखरान् नखरैः खरैः । कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि[14] न यूथपैः ॥१६८॥
करिण्यो बिसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयन् । तद्योगपीठपर्यन्तभुवः सम्मार्जनेच्छया ॥१६९॥
[15]पुष्करैः [16]पुष्करोदस्तैः [17]स्तम्बैरधिपदद्वयम् । स्तम्बेरमा मुनिं भेजुः अहो शमकरं तपः ॥१७०॥
उपाङ्घ्रि भोगिनां[14] भोगैः विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः । विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः ॥१७१॥

अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्माख्यातत्व इन बारह भावनाओका उन्होने विशुद्ध चित्तसे चिन्तवन किया था ॥१५९–१६०॥ वे आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थानका चिन्तवन करते हुए तथा कर्मोके अशोको क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे ॥१६१॥ जिस प्रकार दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारो ओर कज्जलके अश दिखाई देते है उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारो ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मोके अश दिखाई देते थे ॥१६२॥ सब दिशाओमे फैलता हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणिकी कान्तिसे व्याप्त हुआ सा बना रहा था ॥१६३॥ उनके चरणोके समीप विश्राम करनेवाले मृग आदि पशु सदा विश्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नही पहुँचाते थे क्योकि वे स्वय वहा आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे ॥१६४॥ उनके चरणोके समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर-भाव छोडकर इच्छानुसार उठते बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराजके ऐश्वर्यको सूचित करते थे ॥१६५॥ हालकी ब्याई हुई सिंही भैसेके बच्चेका मस्तक सूघकर उसे अपने बच्चेके समान अपना दूध पिला रही थी ॥१६६॥ हाथी अपने झुण्डके मुखियोके साथ साथ सिंहोके पीछे पीछे जा रहे थे और स्तनके पीनेमे उत्सुक हुए सिंहके बच्चे हथिनियोके समीप पहुँच रहे थे ॥१६७॥ बालकपनके कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियोके बच्चोको सिंह अपने पैने नाखूनोसे उनकी गर्दनपर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंहको हाथियोके सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे–उसका अभिनन्दन कर रहे थे ॥१६८॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके समीपकी भूमिको साफ करनेकी इच्छासे हथिनिया कमलिनीके पत्तोका दोना बनाकर उनमें भर भरकर पानी ला रही थी ॥१६९॥ हाथी अपनी सूँडके अग्रभागसे उठाकर लाये हुए कमल उनके दोनो चरणोपर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे । अहा,

---

१ गवर । २ ध्यायति स्म । ३ आज्ञाविचयापायविचयौ । ४ कृशीकुर्वन् । ५ व्याप्तम् ।
६ निस्त्रसा । ७ विरोधा ल०, प०, अ०, स०, द०, । ८ जरजम्बुक ल०, द० । जरत् वृद्ध ।
९ नवप्रसूतव्याघ्री । १० समानम् । ११ पाययति स्म । १२ स्तनक्षीरम् । १३ मनोज्ञध्वनिविशेषान् ।
१४ द्वौ नञौ पूर्वमर्थं गमयत, अभ्यनन्दीदित्यर्थः । १५ पद्मैः । १६ कराग्रोद्धृतैः । १७ सर्पाणां शरीरैः ।

फणमात्रोद्गता रन्ध्रात्[1] फणिनः सितमोऽद्युतन् । कृताः कुवलयैरर्घा मुनेरिव पदान्तिके ॥१७२॥
रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः । मुनिं भजन्त्यो भक्त्येव पुष्पार्घैर्नतिपूर्वकम् ॥१७३॥
शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः । बभुर्वनद्रुमास्तोषान्निनृत्सव[2] इवासकृत् ॥१७४॥
कलैरलिरुतोद्गानैः[4] फणिनो ननृतुः किल । उत्फणाः फणरत्नांशुदीप्रैर्भोगैर्विवर्तितैः ॥१७५॥
पुंस्कोकिलकलालापडिण्डिमानुगतैर्लयैः[7] । [8]चक्षुःश्रवस्सु पश्यत्सु तद्द्विषोऽनटिषु[10]र्मुहुः ॥१७६॥
महिम्ना शमिनः[11] शान्तमित्यभूत्तच्च काननम् । धत्ते हि महतां योगः[12] शममप्यशमात्मसु[13] ॥१७७॥
शान्तस्वनैर्नदन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः । घोषयन्त इवात्यन्त[14] शान्तमेतत्तपोवनम् ॥१७८॥
तपोऽनुभावादस्यैव प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये । विनिपातः[15] कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन ॥१७९॥
[16]महसास्य तपोयोगजृम्भितेन महीयसा । बभूवुर्हृद्ध्वान्ताः तिर्यञ्चोऽप्यनभिद्रुहः[17] ॥१८०॥
गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम् । असकृत्पूजयामासुः अवतीर्य नभश्चराः ॥१८१॥
महिम्नास्य तपोवीर्यजनितेनातिधीयसा । मुहुरासनकम्पोऽभून्नतमूर्ध्नां सुधाशिनाम् ॥१८२॥

तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, ॥१७०॥ वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पोंके काले फणाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजाके लिये नीलकमलोंकी मालाएँ ही बनाकर रक्खी हों ॥१७१॥ वामीके छिद्रोंसे जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले हैं ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराजके चरणोंके समीप किसीने नील-कमलोंका अर्घ ही बनाकर रक्खा हो ॥१७२॥ वनकी लताएं फूलोंसे उज्ज्वल तथा नीचेको झुकी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थीं मानो फूलोंका अर्घ लेकर भक्तिसे नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥१७३॥ वनके वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायुसे हिल रहे हैं ऐसे शाखाओंके अग्रभागोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोषसे बार बार नृत्य ही करना चाहते हों ॥१७४॥ जिनके फणा ऊंचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भ्रमरोंके शब्दरूपी सुन्दर गानेके साथ साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोंकी किरणों-से देदीप्यमान अपने फणाओंको घुमा घुमाकर नृत्य कर रहे थे ॥१७५॥ मोर, कोकिलोंके सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ साथ सर्पोंके देखते रहते भी बार बार नृत्य कर रहे थे ॥१७६॥ इस प्रकार अतिशय शान्त रहनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंका संयोग क्रूर जीवों में भी शान्ति उत्पन्न कर देता है ॥१७७॥ इस वनमें अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे चहक रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है ॥१७८॥ उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहांके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नहीं होता था ॥१७९॥ तपके सम्बन्धसे बढ़े हुए मुनिराजके बड़े भारी तेजसे तिर्यंचोंके भी हृदयका अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्परमें किसीसे द्रोह नहीं करते थे—अहिंसक हो गये थे ॥१८०॥ विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सद्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यान में बैठे हुए उन मुनिराजकी बार बार पूजा करते थे ॥१८१॥ तपकी शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनि-राजके बड़े भारी माहात्म्यसे जिनके मस्तक झुके हुए हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार बार कम्पाय-

---

१ वल्मीकविवरात् । २ कृष्णाः । ३ नर्तितुमिच्छवः । ४—द्गीतैः स० । ५ दीप्तैः—इ०, स० । ६ शरीरैः । ७ तालनिबद्धैः । ८ सर्पेषु । 'कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी' इत्यभिधानात् । ९ मयूराः इत्यर्थः । १० नर्तनं स्म । ११ यतेः । १२ संयोगः । १३ क्रूरजन्तुषु । १४ अत्यन्तशमम् । १५ बाधेत्यर्थः । १६ तेजसा । १७ अहिंसकाः ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । वल्लीरुद्वेष्टयामासुः[1] मुनेः सर्वाङ्गसङ्गिनीः ॥१८३॥
इत्युपारूढ[2]सद्ध्यानबलोद्भूततपोबलः । स लेश्याशुद्धिमास्कन्दन्[3] शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥१८४॥
वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम् ॥१८५॥
संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त[4] इति यत्किल । हृद्यस्य[5] हार्द[6] [7]तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि[8] केवलम्[9] ॥१८६॥
केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्यधात् । सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥१८७॥
[10]स्वाग.प्रमार्जनार्थेज्या [11]प्राक्तनी भरतेशिनः । [12]पाश्चात्याऽत्यायता[13]ऽपोज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ।१८८।
या कृता भरतेशेन महेज्या स्वानुजन्मन. । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥१८९॥
[14]स्वाजन्यानुगमो[15]ऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मान्तरानुबन्धश्च[16] प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः ॥१९०॥
[17]इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रियाम् ॥१९१॥
सामात्यः समहीपाल[18] सान्त.पुरपुरोहितः । स बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा ॥१९२॥

मान होने लगते थे ॥१८२॥ कभी कभी क्रीड़ाके हेतुसे आई हुई विद्याधरिया उनके सर्व शरीर-पर लगी हुई लताओंको हटा जाती थी ॥१८३॥ इस प्रकार धारण किये हुए समीचीनधर्म-ध्यानके बलसे जिनके तपकी शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेश्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते हुए शुक्लध्यानके सन्मुख हुए ॥१८४॥ एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नही होनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त हुए । भावार्थ–दीक्षा लेते समय बाहुबलीने एक वर्षका उपवास किया था । जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१८५॥ 'वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेशको प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्तसे उसे दुःख पहुचा है' यह विचार बाहुबली-के हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिये केवलज्ञानने भरतकी पूजा की अपेक्षा की थी । भावार्थ–भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय शल्यरहित हो गया और उसी समय उन्हे केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया ॥१८६॥ प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट् भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेके पहले और पीछे–दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी ॥१८७॥ भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करनेके लिये की थी और केवलज्ञान होनेके बाद जो बडी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञानकी उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिये की थी ॥१८८॥ जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबलीकी भरतेश्वरने जो बडी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१८९॥ प्रथम तो बाहुबली भरतके छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनोंका अन्य अनेक जन्मोंमें सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमें बड़ा भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमेंसे एक एक भी भक्तिकी अधिकताको बढानेवाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाए तो वह कौनसी उत्तम क्रियाको पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन सा अच्छा कार्य नही हो सकता ? ॥१९०–१९१॥ सम्राट् भरतेश्वरने

---

१ मोचयामासु । २ प्रकटीभूत । ३ गच्छन् । ४ मत् । ५ भुजबलिन । ६ स्नेह । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेह.' इत्यभिधानात् । ७ हार्देन । ८ भरतपूजापेक्षि । ९ केवलज्ञानम् । १० निजा-पराधनिवारणार्था । ११ प्राग्भवा । १२ पश्चाद्भवा । १३ अत्यधिका । १४ निजत्रयनेन । १५ अनु-गमनम् । महोत्पत्तिरित्यर्थ । १६ –नुबद्धस्च ब०, अ०, ग०, प०, द० । १७ एकैकमपि । १८ महीपालै सहित ।

किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्घ्यः स्वर्णदीजलम् । पाद्यं रत्नार्चिषो दीपास्तण्डुलेज्या च मौक्तिकैः ॥१९३॥
हविः[1] पीयूषपिण्डेन धूपो देवद्रुमांशकैः[2] । पुष्पार्चा पारिजातादिसुरागसुमनश्चयैः ॥१९४॥
सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजा रत्नमयीमित्थं रत्नेशो निरवर्तयत् ॥१९५॥
सुराश्चासनकम्पेन ज्ञाततत्केवलोदयाः । चक्रुरस्य परामिज्यां शता[3]ध्वरपुरःसराः ॥१९६॥
ववुर्मन्दं स्वरुद्यानतरुधूननचुञ्चवः । तदा सुगन्धयो वाताः स्वर्धुनीशीकराहराः ॥१९७॥
मन्द्रं पयोमुचां मार्गे दध्वनुश्च सुरानकाः । पुष्पोत्करो दिवोऽपतत् कल्पानोकहसंभवः ॥१९८॥
रत्नातपत्रमस्योच्चैर्निर्मितं सुरशिल्पिभिः । परार्ध्यमणिनिर्माणम् अभाद् दिव्यं विष्टरम् ॥ १९९ ॥
स्वयं व्यधूयतास्योच्चैः[4]प्रान्तयोश्चामरोत्करः । सभावनिश्च तद्योग्या पप्रथे प्रथितोदया ॥२००॥
सुरैरित्यर्चितः प्राप्तकेवलर्द्धिः स योगिराट् । व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः[5] शशीवोडुभिराश्रितः ॥२०१॥
घातिकर्मक्षयोद्भूताम् उद्वहन् परमेष्ठिताम् । विजहार महीं कृत्स्नां सोऽभिगम्यः[6] सुधाशिनाम् ॥२०२॥
इत्थं स विश्वविद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः । कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः[7] ॥२०३॥

मन्त्रियोंके साथ, राजाओंके साथ और अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियों तथा पुरोहितके साथ उन बाहुबली मुनिराजको बड़े हर्षसे नमस्कार किया था ॥१९२॥ इस विषयमें अधिक कहा तक कहा जावे, संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नोंका अर्घ बनाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढ़ाये थे, मोतियोंसे अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिण्डसे नैवेद्य अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ों (चूर्णों) से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी अर्चा की थी, और फलोंके स्थानपर रत्नोंसहित समस्त निधियाँ चढ़ा दी थी इस प्रकार उसने रत्नमयी पूजा की थी ॥१९३–१९५॥ आसन कम्पायमान होनेसे जिन्हें बाहुबलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवोंने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥१९६॥ उस समय स्वर्गके बगीचेके वृक्षोंको हिलानेमें चतुर तथा गंगा नदीकी बूँदोंको हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥१९७॥ देवोंके नगाड़े आकाशमें गंभीरतासे बज रहे थे और कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुआ फूलोंका समूह आकाशसे पड़ रहा था ॥१९८॥ उनके ऊपर देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियोंका बना हुआ दिव्य सिंहासन देदीप्यमान हो रहा था ॥१९९॥ उनके दोनों ओर ऊंचाईपर चमरोंका समूह स्वयं ढुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकुटी भी बनाई गई थी ॥२००॥ इस प्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है और जिन्हें केवलज्ञानरूपी ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोंसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रोंसे घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥२०१॥ जो घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुई अर्हन्त परमेष्ठीकी अवस्थाको धारण कर रहे हैं तथा इसीलिये देव लोग जिनकी उपासना करते हैं ऐसे भगवान् बाहुबलीने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥२०२॥ इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त संसारको संतुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुंचे ॥२०३॥

---

१ चरुः । २ कल्पवृक्षशकलैः । ३ इन्द्र । ४ उभयपार्श्वयो । ५ वेष्टितः । ६ आराध्य । ७ वृषभस्य ।

मालिनी

सकलनृपसमाजे[1] दृष्टिमल्लाम्बुयुद्धैः
विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्त्यै ।
तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं
चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः ॥२०४॥
भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या[2]
यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम् ।
चिरतरमवधूता[3]पत्रपापात्रमासीद्[4]
अधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्बली वः ॥२०५॥
स जयति जयलक्ष्मीसङ्ग[5]माशामवन्ध्यां
विदधदधिकधामा सन्निधौ पार्थिवानाम् ।
सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्याम्[6]
अभजत यशसे यः सूनुराद्यस्य धातुः ॥२०६॥
जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे ।
भरतनृपतिनामा[7] यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिपथमुपयान्ति[8] प्राणिवृन्दं पुनन्ति ॥२०७॥
जयति भुजगवक्त्रोद्वान्तनिर्यद्गराग्निः[9]
प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ ।
सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रो-
द्ग्रथितविततवीरुद्वेष्टितो दोर्बलीशः ॥२०८॥

जिन्होंने समस्त राजाओंकी सभामें दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतकी समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होंने बड़े भारी राज्यके भारको तृणके समान तुच्छ समझ कर मुक्ति प्राप्त करनेके लिये दीक्षा धारण की थी और जो चरम शरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०४॥ सब क्षत्रियोंके सामने भरतकी विजयलक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके बहानेसे जिन बाहुबलीके समीप गई थी परन्तु जिनके द्वारा सदाके लिये तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होंने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग) स्वीकृत किया था वे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०५॥ जो अनेक राजाओंके सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमकी आशाको धारण कर रहे थे, सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगत्‌रूपी घरमें व्याप्त थी और जिन्होंने वास्तविक यशके लिये तप धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हों ॥२०६॥ जिनकी भुजाओंका बल क्षत्रियोंके सामने भरतराजके साथ हुए मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था, और जिनके नामके अक्षर स्मरणमें आते ही प्राणियोंके समूहको पवित्र कर देते हैं वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२०७॥ जिनके चरणोंको पाकर सर्पोंके मुहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषकी अग्नि बार बार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोकमें मान्य हैं, और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओंको विद्याधरियां अपने हाथोंके अग्रभागसे हटा देती थीं वे बाहुबली स्वामी

---

१ सभायां । २ भृशं ज्वलन् । ३ भुजबलिना अवधीरिता । ४ लज्जाभाजनम् । ५ सङ्ग-मान्धाम् । ६ तप इत्यर्थः । ७ सह । ८ उपगतानि भूत्वा । ९ विषाग्निः ।

जयति भरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः ।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे ॥२०९॥
[1]शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः
[2]पिहितभुजविटङ्को मूर्धजैर्वेल्लि[3]ताग्रैः ।
जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धेव भूध्रः
श्रियमपुषदनूनां दोर्बली यः स नोऽव्यात् ॥२१०॥
स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीत[4]
वपुरचल इवोच्चैर्विभ्रदाविर्बभूव ।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले[5]
[6]खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले [7]विषेहे ॥२११॥
जगति [8]जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं[9] माननीयैः ।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा[10]
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥२१२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे भुजबलिजल-
मल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३६॥

सदा जयवन्त हो ॥२०८॥ भरतराजके ऊंचे मुकुटके अग्र भागमें लगे हुए रत्नोंसे जिनके चरण के नखरूपी चन्द्रमा अत्यन्त चमक रहे थे, जो धैर्य और बलसे सहित थे तथा जो इसलिये ही क्षोभको प्राप्त हुए सर्पोंके समूहसे कभी आकुलताको प्राप्त नहीं हुए थे वे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र बाहुबली योगिराज सदा जयवन्त रहें ॥२०९॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले, भुजाओं तक लटकते हुए तथा जिनका अग्रभाग टेढ़ा हो रहा है ऐसे मस्तकके बालोंसे जिनकी भुजाओंका अग्रभाग ढक गया है और इसलिये ही जो मेघोंके आवरणसे मलिन शिखरवाले पर्वतकी पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहे हैं वे भगवान् बाहुबली हम सबकी रक्षा करें ॥२१०॥ जो शीतकालमें बर्फसे ढके हुए ऊंचे शरीरको धारण करते हुए पर्वतके समान प्रकट होते थे, वर्षाऋतुमें नवीन मेघोंके जलके समूहसे प्रक्षालित होते थे—भीगते रहते थे और ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंको सहन करते थे वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२११॥ जिन्होंने अन्तरङ्ग—बहिरङ्ग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं, और जो पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे इन योगिराज बाहुबलीको जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता है और वह शीघ्र ही जिनेन्द्रभगवान्की अजय्य (जिसे कोई जीत न सके) विजयलक्ष्मी—मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥२१२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषा-
नुवादमें बाहुबलीका जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और नेत्र-युद्धमें विजय प्राप्त करना,
दीक्षा धारण करना, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन
करनेवाला—छत्तीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ कृष्णैः । २ आच्छादितबाहुवलभी । ३ वक्र । 'अविद्ध कुटिल भुग्न वेल्लित वक्रमित्यपि' इत्यभिधानात् । ४ हिमसहतिवेष्टितम् । 'हिमानी हिमसंहति' इत्यभिधानात् । ५ प्रावृट्काले । ६ सूर्य । ७ सहति स्म । ८ जयशीलम् । ९ पूजितम् । १० उपशान्तचित्तः ।

सप्तत्रिंशत्तमं पर्व

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुरं साकेतमुत्केतु प्राविशत् परया श्रिया ॥ १ ॥
[1]तत्रास्य[2] नृपशार्दूलैः अभिषेकः कृतो मुदा । [3]चातुरन्तजयश्रीस्ते प्रथतां भुवनेष्विति ॥ २ ॥
समभ्यषिञ्चन् पौराश्च सान्तःपुरपुरोधसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं [4]क्रियाद् देव भवानिति ॥ ३ ॥
राज्याभिषेचने भर्तुर्यो विधिर्वृषभेशिनः । स सर्वोऽप्यत्र तीर्थाम्बुस[5]म्भारादिः कृतो नृपैः ॥ ४ ॥
[6]तथाऽभिषिक्तस्तेनैव विधिनाऽलङ्कृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादि प्रयुक्तं सामरैर्नृपैः ॥ ५ ॥
तथैव सत्कृता विश्वे पार्थिवाः सनाभयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दानसम्पदा ॥ ६ ॥
तथाध्वनन् महाघोषा [7]नान्दीघोषा महानकाः । प्रक्षुभ्यदब्धिनिर्घोषो येषां घोषैस्तिरस्कृतः ॥ ७ ॥
आनन्दिन्यो महाभेर्यः तथैवाभिहता मुहुः । सङ्गीतविधिरारब्धः तथा प्रमदमण्डपे ॥ ८ ॥
मूर्धाभिषिक्तैः प्राप्ताभिषेकस्यास्याजनि द्युतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकीन्द्रैरादिवेधसः ॥ ९ ॥
गङ्गासिन्धू सरिद्देव्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः । [8]अभ्यौक्षिष्टां तमभ्येत्य रत्नभृङ्गारसम्भृतैः ॥ १० ॥
कृताभिषेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितम् । [9]गणबद्धामरा भेजुः प्रणम्रैर्मणिमौलिभिः ॥ ११ ॥

अथानन्तर जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे भरतेश्वरने जिसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अयोध्यानगरमें बड़े वैभवके साथ प्रवेश किया ॥१॥ चतुरंग विजयसे उत्पन्न हुई आपकी लक्ष्मी संसारमें अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धिको प्राप्त होती रहे यही विचार कर बड़े बड़े राजाओंने उस अयोध्या नगरमें हर्षके साथ महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥२॥ हे देव, आप दीर्घजीवी होते हुए चिरकालतक पृथिवीका राज्य करें, इस प्रकार कहते हुए अन्तःपुर तथा पुरोहितोंके साथ नगरके लोगोंने उनका अभिषेक किया था ॥३॥ जो विधि भगवान् वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी, तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि वह सब विधि महाराज भरतके अभिषेकके समय भी राजाओंने की थी ॥४॥ देवोंके साथ साथ राजाओंने भगवान् वृषभदेवके समान ही भरतेश्वरका अभिषेक किया था, उसी प्रकार आभूषण पहिनाये थे और उसी प्रकार जयघोषणा आदि की ॥५॥ उसीप्रकार परिवारके लोगोंके साथ साथ राजाओंका सत्कार किया गया था, और उसीप्रकार दानमें दी हुई सम्पत्तिसे सब लोग संतुष्ट किये गये थे ॥६॥ जिनके शब्दोंने क्षोभित हुए समुद्रके शब्दको भी तिरस्कृत कर दिया था ऐसे बड़े बड़े शब्दोंवाले मांगलिक नगाड़े उसीप्रकार बजाये गये थे ॥७॥ उसी प्रकार आनन्दकी महाभेरियाँ बार बार बजाई जा रही थीं और आनन्दमण्डपमें संगीतकी विधि भी उसी प्रकार प्रारम्भ की गई थी ॥८॥ मेरु पर्वतपर इन्द्रोंके द्वारा अभिषेक किये हुए आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवकी जैसी कान्ति हुई थी उसी प्रकार राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त हुए महाराज भरतकी भी हुई थी ॥९॥ गंगा सिन्धु नदियोंकी अधिष्ठात्री गंगा-सिन्धु नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भृङ्गारोंमें भरे हुए अक्षत सहित तीर्थजलसे भरतका अभिषेक किया था ॥१०॥ जिनका अभिषेक समाप्त हो चुका है और जो राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतकी अनेक गणबद्धदेव अपने मणिमयी मुकुटोंको नवा-नवाकर

---

१ साकेतपुर्याम् । २ चक्रिणः । ३ चतुर्दिक्षु भवा जयलक्ष्मीः । चातुरङ्ग—ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ कुरु । ५ समूह । ६ यथा वृषभोऽभिषिक्तः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ७ प्रथम मङ्गलरवाः । ८ अभिषेकं चक्रतुः । ९ अङ्गरक्षदेवाः ।

हिमवद्विजयार्धेशौ मागधाद्याश्च देवता । खेचराश्चोभयश्रेण्यो नेमुर्नम्रमौलय ॥ १२ ॥
सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो बभूव नृपसत्तमैः । महतां हि मनोवृत्तिं नोत्सेकः[1] परिरम्भिणी ॥ १३ ॥
चामरैर्वीज्यमानोऽपि न [2]निर्वृत्तिमगाद् विभुः । भ्रातृष्वसंविभक्ता श्रीः इतीहानुशयानुगः ॥ १४ ॥
दोर्बलिभ्रातृसङ्घर्षात् नास्य तेजो विकर्षितम् । प्रत्युतोत्कर्षि हेम्नो वा घृष्टस्य निकषोपले ॥ १५ ॥
निष्कण्टकमिति प्राप्य साम्राज्यं भरताधिपः । बभौ भास्वानिवोद्रिक्तप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥ १६ ॥
क्षेमंकतानतो भेजुः प्रजास्तस्मिन् सुराजनि । योगक्षेमौ वितन्वाने मन्वाना स्वां सनाथताम् ॥ १७ ॥
यथास्वं संविभज्यामी सम्भुक्ता निधयोऽमुना । सम्भोगः संविभागश्च फलमर्थार्जने द्वयम् ॥ १८ ॥
रत्नान्यपि यथाकामं [3]निर्विष्टानि निधीशिना । रत्नानि ननु तान्येव यानि यान्त्युपयोगिताम् ॥ १९ ॥
मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः । राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्घोषितं यशः ॥ २० ॥
नन्दनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः । इत्यस्य रोदसी व्याप शुभ्रा कीर्तिरनश्वरी ॥ २१ ॥
कीदृक् परिच्छदस्तस्य विभवश्चक्रवर्तिनः । इति [4]प्रश्नवशादस्य विभवोद्देशकीर्तनम् ॥ २२ ॥
गलन्मदजलास्तस्य गजाः सुरगजोपमाः । लक्षाश्चतुरशीतिस्ते [5]रदैर्बद्धैः[6] सुकल्पितैः ॥ २३ ॥

सेवा कर रहे थे ॥११॥ हिमवान् और विजयार्ध पर्वतके अधीश्वर हिमवान् तथा विजयार्धदेव, मागध आदि अन्य अनेक देव, और उत्तर-दक्षिण श्रेणीके विद्याधर अपने मस्तक झुका झुकाकर उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥१२॥ अनेक अच्छे अच्छे राजाओंके द्वारा अभिषिक्त होनेपर भी उन्हें कुछ भी अहंकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति अहंकारका स्पर्श नहीं करती ॥१३॥ यद्यपि उनके ऊपर चमर ढुलाये जा रहे थे तथापि वे उसमें संतोषको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि उन्हें निरन्तर इस बातका पछतावा हो रहा था कि मैंने अपनी विभूति भाइयोंको नहीं बाँट पाई ॥१४॥ भाई बाहुबलीके संघर्षसे उनका तेज कुछ कम नहीं हुआ था किन्तु कसौटीपर घिसे हुए सोनेके समान अधिक ही हो गया था ॥१५॥ इस प्रकार निष्कण्टक राज्यको पाकर महाराज भरत उस सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे जिसका कि प्रताप बढ़ रहा है और मण्डल अत्यन्त शुद्ध है ॥१६॥ योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) को फैलानेवाले उन उत्तम राजा भरतके विद्यमान रहते हुए प्रजा अपने आपको सनाथ समझती हुई कुशल मंगलको प्राप्त होती रहती थी ॥१७॥ महाराज भरतने निधियोंका यथायोग्य विभागकर उनका उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं संभोग करना और दूसरेको विभाग कर देना ये दो ही धन कमानेके मुख्य फल हैं ॥१८॥ निधियोंके स्वामी भरतने रत्नोंका भी इच्छानुसार उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि वास्तवमें रत्न वही हैं जो उपयोगमें आवें ॥१९॥ यह सोलहवाँ मनु है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, षट् खण्ड भरतका स्वामी है, राजराजेश्वर है, अधिराट् है और सम्राट् है इस प्रकार उनका यश उद्घोषित हो रहा था ॥२०॥ यह भरत भगवान् वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सौ पुत्र हैं इस प्रकार इसकी कभी नष्ट नहीं होनेवाली उज्ज्वल कीर्ति आकाश तथा पृथिवीमें व्याप्त हो रही थी ॥२१॥ उस चक्रवर्तीका परिवार कितना था ? और विभूति कितनी थी ? राजा श्रेणिकके इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये गौतमस्वामी उसकी विभूतिका इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥२२॥ महाराज भरतके, जिनके गण्डस्थलसे मदरूपी जल भर रहा है, और जो जड़े हुए सुसज्जित दाँतोंसे सुशो-

1 उत्सव अहंकारश्च । गर्वाभिडगिती । 2 सुखम् । 3 अनुभुक्तानि । 4 श्रेणिप्रश्नवशात् । 5 रदै उपलक्षिता । 6 स्वर्णपट्टकमण्डै ।

दिव्यरत्नविनिर्माणा रथास्तावन्त[1] एव हि । मनोवायुजवा[2] सूर्यरथप्रस्पर्धिरंहस[3] ॥ २४ ॥
कोटयोऽष्टादशाश्वानां भूजलाम्बरचारिणाम् । यत्खुराग्राणि धौतानि पूतैस्त्रिपथगाजलैः ॥ २५ ॥
चतुर्भिरधिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषां सुभटसंमर्दे निरूढं[4] पुरुषव्रतम्[5] ॥ २६ ॥
वज्रास्थिबन्धनं वज्रैर्वलयैर्वेष्टितं[6] वपुः । वज्रनाराचनिर्भिन्नम्[7] अभेद्यमभवत् प्रभोः ॥ २७ ॥
समसुप्रविभक्ताङ्गं चतुरस्रं[8] सुसंहति[9] । वपुः सुन्दरमस्यासीत् संस्थानेनादिना विभोः ॥ २८ ॥
निष्टप्तकनकच्छायं सच्चतुःषष्टिलक्षणम् । रुरुचे व्यञ्जनैस्तस्य निसर्गसुभगं वपुः ॥ २९ ॥
शारीरं यच्च यावच्च बलं षट्खण्डभूभुजाम् । ततोऽधिकतरं तस्य बलमासीद् बलीयसः ॥ ३० ॥
शासनं तस्य चक्राङ्कम् आसिन्धोरनिवारितम् । शिरोभिरूढमारूढविक्रमैः पृथिवीश्वरैः ॥ ३१ ॥
द्वात्रिंशन्मौलिबद्धानां सहस्राणि महीक्षिताम्[10] । कुलाचलैरिवाद्रीन्द्रः स रेजे यैः परिष्कृतः ॥ ३२ ॥
तावन्त्येव सहस्राणि देशानां सुनिवेशिनाम् । यैरलङ्कृतमाभाति चक्रभृत्क्षेत्रमायतम् ॥ ३३ ॥
[11]कुलाभिजात्यसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः । रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥ ३४ ॥
म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः । अप्सरःकथा क्षोणीं याभिरवतारिता ॥ ३५ ॥
अथवध्वश्च तावन्त्यः तन्व्यः कोमलविग्रहाः । मदनोद्दीपनैर्याभिः दृष्टिबाणैर्जितं जगत् ॥ ३६ ॥

भित हैं ऐसे ऐरावत हाथीके समान चौरासी लाख हाथी थे ॥२३॥ जिनका वेग मन और वायुके समान है अथवा जिनकी तेज चाल सूर्यके साथ स्पर्धा करनेवाली है ऐसे दिव्य रत्नोंके बने हुए उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥२४॥ जिनके खुरोंके अग्रभाग पवित्र गंगा जलसे धुले हुए हैं और जो पृथिवी, जल तथा आकाशमें समान रूपसे चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड़ घोड़े हैं ॥२५॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पुरुषार्थ प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड़ पैदल सिपाही थे ॥२६॥ महाराज भरतका शरीर वज्रकी हड्डियोंके बन्धन और वज्रके ही वेष्टनोंसे वेष्टित था, वज्रमय कीलोंसे कीलित था और अभेद्य अर्थात् भेदन करने योग्य नहीं था। भावार्थ—उनका शरीर वज्रवृषभनाराचसंहननका धारक था ॥२७॥ उनका शरीर चतुरस्र था—चारों ओरसे मनोहर था, उसके अंगोपांगोंका विभाग समानरूपसे हुआ था अंगोंकी मिलावट भी ठीक थी और समचतुरस्र नामके प्रथम संहननसे अत्यन्त सुन्दर था ॥२८॥ जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी और जिसपर चौंसठ लक्षण थे ऐसा उनका स्वभावसे ही सुन्दर शरीर *तिल आदि व्यञ्जनोंसे* बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥२९॥ छहों खण्डके राजाओंका जो और जितना कुछ शारीरिक बल था उससे कहीं अधिक बल उस बलवान् भरतके शरीरमें था ॥३०॥ जिसका चक्र ही चिह्न है और समुद्रपर्यन्त जिसे कोई नहीं रोक सकता ऐसे उसके शासनको बड़े बड़े पराक्रमको धारण करनेवाले राजालोग अपने सिरपर धारण करते थे ॥३१॥ उनके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उन राजाओंसे वेष्टित हुए महाराज भरत कुलाचलोंसे घिरे हुए सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होते थे ॥३२॥ महाराज भरतके अच्छी अच्छी रचनावाले बत्तीस हजार ही देश थे और उन सबसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लम्बा चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पड़ता था ॥३३॥ उनके उतनी ही अर्थात् बत्तीस हजार ही देवियां थीं जो कि उच्च कुल और जातिसे सम्पन्न थीं तथा जो रूप लावण्य और कान्तिकी शुद्ध खानिके समान जान पड़ती थीं ॥३४॥ इनके सिवाय जिन्होंने पृथिवीपर अप्सराओंकी कथाओंको उतार लिया था ऐसी म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रियरानियां थीं ॥ ॥३५॥ इसी प्रकार जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था और कामको उत्तेजित करने-

---

१ चतुरशीतिलक्षा एव । २ वेगा । ३ वेगेन । ४ प्रसिद्धम् । ५ पौरुषम् । ६ वज्रवेष्टनैर्वा-ष्ट० । ७ कीलितम् । ८ मनोज्ञम् । ९ सुसम्बद्धम् । १० नृभुजाम् । ११ कुलरूपाभि-स० ।

नखांशुकुसुमोद्भेदैः आरक्तैः पाणिपल्लवैः । तास्तन्व्यो भुजशाखाभिः भेजुः कल्पलताश्रियम् ॥ ३७ ॥
स्तनाब्जकुड्मलैरास्यपङ्कजैश्च विकासिभिः । अब्जिन्य इव ता रेजुः मदनावासभूमिकाः ॥ ३८ ॥
मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । यदावेशवशादेष[1] दशां प्राप्तोऽतिवर्तिनीम् ॥ ३९ ॥
शङ्के[2] निशातपाषाणाः नखानासां मनोभुवः । यत्रोपात्त[3]तैक्ष्ण्यैः स्वैः अविध्यत् कामिनः शरैः ॥४०॥
सत्यं महेषुधी जङ्घे तासां मदनधन्विनः । कामस्यारोहणि श्रेणी[4]स्थानीयावूरुदण्डकौ ॥ ४१ ॥
कटी कुटी मनोजस्य काञ्चीसालकृतावृतिः । नाभिरासां गभीरैका कूपिका चित्तजन्मनः ॥ ४२ ॥
मनोभुवोऽतिवृद्धस्य मन्येऽवष्टम्भ[5]यष्टिका । रोमराजिः स्तनौ चासां कामरत्नकरण्डकौ ॥ ४३ ॥
कामपाशायतौ बाहू शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्योच्छ्वसितं[6] कण्ठः सुकण्ठीनां मनोहरः ॥ ४४ ॥
मुखं रतिसुखागारप्रमुखं[7] मुखबन्धनम्[8] । वैराग्यरससङ्गस्य तासां च दशनच्छदः[9] ॥४५॥
दृग्विलासाः शरास्तासां कर्णान्तौ लक्ष्यतां गतौ । भ्रूवल्लरी धनुर्यष्टिः जिगीषोः पुष्पधन्विनः ॥ ४६ ॥
ललाटाभोगमेतासां मन्ये वाह्यालिका[10]स्थलम् । अनङ्गनृपतेरिष्ट[11]भोगकन्दुकचारिणः ॥४७॥
[12]अलकाः कालकृष्णाहेः शिशवः[13] परिकुञ्चिताः । कुञ्चिताः केशवल्लर्यो मदनस्येव वागुराः[14] ॥४८॥

वाले जिनके नेत्ररूपी बाणोंसे यह समस्त संसार जीता गया था ऐसी बत्तीस हजार रानियां और भी उनके अन्तःपुरमें थीं ॥३६॥ वे छियानवे हजार रानियां नखोंकी किरणरूपी फूलोंके खिलनेसे कुछ कुछ लाल हथेलीरूपी पल्लवोंसे और भुजारूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभा धारण कर रही थीं ॥३७॥ कामदेवके निवास करनेकी भूमिस्वरूप वे रानियां स्तनरूपी कमलोंकी बोंडियोंसे और खिले हुए मुखरूपी कमलोंसे कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥३८॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके शरीर कामरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे क्योंकि उनके आवेशके वशसे ही यह कामदेव सबको उल्लंघन करनेवाली विशाल अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥३९॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उन रानियोंके नख, कामदेवके बाण पैने करनेके पाषाण थे क्योंकि वह उन्हींपर घिसकर पैने किये हुए बाणोंसे कामी लोगोंपर प्रहार किया करता था ॥४०॥ यह भी सच है कि उनकी जंघाएँ कामदेवरूपी धनुर्धारीके बड़े बड़े तरकस थे और ऊरुदण्ड (घुटनोंसे ऊपरका भाग) कामदेवके चढ़नेकी नसैनीके समान थे ॥४१॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवकी गहरी कूपिका (कुइयाँ)के समान जान पड़ती थी ॥४२॥ मैं मानता हूँ कि उनकी रोमराजि कामदेवरूपी अत्यन्त वृद्ध पुरुषके सहारेकी लकड़ी थी और उनके स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥४३॥ शिरीषके फूलके समान कोमल उनकी दोनों भुजाएँ कामदेवके पाशके समान लम्बी थीं और अच्छे कण्ठवाली उन रानियोंका मनोहर कण्ठ कामदेवके उच्छ्वासके समान था ॥४४॥ उनका मुख रति (प्रीति) रूपी सुखका प्रधान भवन था और उनके ओठ वैराग्यरसकी प्राप्तिके मुखबन्धन अर्थात् द्वार बन्द करनेवाले कपाट थे ॥४५॥ उन रानियोंके नेत्रोंके कटाक्ष विजयकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाणोंके समान थे, कानके अन्तभाग उनके लक्ष्य अर्थात् निशानोंके समान थे और भौंहरूपी लता धनुषकी लकड़ीके समान थी ॥४६॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके ललाटका विस्तार इष्टभोगरूपी गेंदसे खेलनेवाले कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मानो मैदान ही हो ॥४७॥ उनके

---

१ यतः । २ शङ्के तर्कयामि । ३ प्राप्त । ४ सदृशौ इत्यर्थः । ५ आधारः । ६ जीवितम् । ७ प्रकृष्टद्वारम् । ८ कपाटम् । 'पीताहो मुखबन्धनमस्य यत्' इत्यभिधानात् । ९ रदनच्छद –ल० । १० गतु । 'खुरली क्रिया भूमिः' । ११ इष्टभोगा एव कन्दुकः । १२ चूर्णकुन्तलाः । अलकाश्चूर्णकुन्तलाः इत्यभिधानात् । १३ शावकाः । 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यभिधानात् । १४ मृगबन्धनी ।

इत्यनङ्गमयीं सृष्टिं तन्वाना स्वाङ्गसङ्गिनीम् । मनोऽस्य जगृहुः कान्ताः कान्तैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥ ४९ ॥
तासां मृदुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मनैः[१] ॥ ५० ॥
स्मितेष्वासां दरोद्भिन्नो[२] हसितेषु विकस्वरः । फलितः[३] परिरम्भेषु[४] रसिकोऽभूद्रतद्रुमः ॥ ५१ ॥
भ्रूक्षेपयन्त्रपाषाणैः दृक्क्षेपक्षेपणोकृतैः । [५]बहुदुर्गंरणस्तासां स्मरोऽभूत् सकचग्रहः ॥ ५२ ॥
खरः प्रणयगर्भेषु रोषेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु मुग्धः प्रणयकैतवे ॥ ५३ ॥
निर्दयः परिरम्भेषु सानुज्ञानो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु सम्मूढः पटुः करणचेष्टितैः ॥ ५४ ॥
सङ्कल्पेष्वाहितोत्कर्षो मन्दः [६]प्रत्यग्रसङ्गमे । प्रारम्भे रसिको दीप्तः प्रान्ते करणकातरः[८] ॥ ५५ ॥
इत्युच्चावचतां भेजे तासां दीप्तः स मन्मथः । प्रायो भिन्नरसः कामः कामिनां हृदयङ्गमः ॥ ५६ ॥
प्रकाममधुरानित्थं कामान्[१०]कामातिरेकिणः । स ताभिर्निर्विशन् रेमे [११]वपुष्मानिव मन्मथः ॥ ५७ ॥
ताश्च तच्चित्तहारिण्यः तरुण्यः प्रणयोद्धुराः । बभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव [१२]रत्युत्सवश्रियः ॥ ५८ ॥

इकट्ठे हुए आगेके सुन्दर बाल कामदेवरूपी काले सर्पके बच्चोंके समान जान पड़ते थे तथा कुछ कुछ टेढ़ी हुई केशरूपी लताएँ कामदेवके जालके समान जान पड़ती थीं ॥४८॥ इस प्रकार अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली काममयी रचनाको प्रकट करती हुई वे रानियाँ अपनी सुन्दर कामकी चेष्टाओंसे महाराज भरतका मन हरण करती थीं ॥४९॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमपूर्ण सरस अवलोकनसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंमें इसे बहुत ही संतोष होता था ॥५०॥ रससे भरा हुआ सुरतरूपी वृक्ष इन रानियोंके मन्द मन्द हँसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हँसनेपर पूर्णरूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर फलोंसे युक्त हो जाता था ॥५१॥ भौंहोंके चलानेरूप यन्त्रोंसे फेंके हुए पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी यन्त्र विशेषों (गुफनों)के द्वारा उन स्त्रियोंका बहुत प्रकारका विलेबन्दीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबकी चोटी पकड़नेवाला था। भावार्थ—कामदेव उन स्त्रियोंसे अनेक प्रकारकी चेष्टा कराता था ॥५२॥ कामदेव इनके प्रेमपूर्ण क्रोधके समय कठोर हो जाता था, अनुनय करने अर्थात् पतिके द्वारा मनाये जानेपर कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करनेपर उद्दण्ड हो जाता था, प्रेमपूर्ण कपट करते समय भोला या अनजान हो जाता था, आलिंगनके समय निर्दय हो जाता था, चुम्बनके लिये मुख प्रदान करते समय आज्ञा देनेवाला हो जाता है, स्वीकार करते समय विचार मूढ़ हो जाता है, हाव-भाव आदि चेष्टाओंके समय अत्यन्त चतुर हो जाता है, संकल्प करते समय उत्कर्षको धारण करनेवाला हो जाता है, नवीन समागमके समय लज्जासे कुछ मन्द हो जाता है, संभोग प्रारम्भ करते समय अत्यन्त रसिक हो जाता था और संभोगके अन्तमें करणामें कातर हो जाता था। इस प्रकार उन रानियोंका अत्यन्त प्रज्वलित हुआ कामदेव ऊँची-नीची अवस्थाको प्राप्त होता था अर्थात् घटता-बढ़ता रहता था सो ठीक ही है जो काम प्रायः भिन्न भिन्न रसोंसे भरा रहता है वही कामी पुरुषोंको सुन्दर मालूम होता है ॥५३–५६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यन्त मधुर तथा इच्छाओंसे भी अधिक भोगोंको भोगता हुआ शरीरधारी कामदेवके समान क्रीड़ा करता था ॥५७॥ भरतके चित्तको हरण करनेवाली और प्रेमसे भरी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो साम्राज्यको प्राप्त हुई रत्युत्सवरूपी लक्ष्मी ही हों ॥५८॥

---

१ मन्मनस्य । २ अव्यक्तैः । ३ ईषद्विकसितः । ४ फलितः म० । ५ आलिङ्गनेषु । ६ दुर्गसङ्ग्रामः । ७ नव । ८ करणकातरः । ९ नानाप्रकारात्मताम् । १० मनाग्वृद्धिविषयान् । ११ मूर्तिमान् । १२ रत्युत्सव श्रियः ल० ।

नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्प्रमितानि वै। सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः[1] ॥ ५९ ॥
द्वासप्ततिः सहस्राणि[2] पुरामिन्द्रपुरश्रियम्। स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको यैरलङ्कृतः ॥ ६० ॥
ग्रामकोटयश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रमाः। नन्दनोद्देशजित्वर्यो[3] यासामारामभूमयः ॥ ६१ ॥
द्रोणामुखसहस्राणि [4]नवतिर्नव चैव हि। धनधान्यसमृद्धीनाम् अधिष्ठानानि यानि वै ॥ ६२ ॥
पत्तनानां सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च। रत्नाकरा इवाभान्ति येषामुद्घा[5] वणिक्पथाः ॥ ६३ ॥
षोडशैव सहस्राणि खेटानां पुरिमा मता। प्राकारगोपुराट्टाल[6]खातवप्रादिशोभिनाम् ॥ ६४ ॥
भवेयुरन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशत्प्रमामिताः। कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः[7] ॥ ६५ ॥
संवाहानां सहस्राणि संख्यातानि[8] चतुर्दश। वहन्ति यानि लोकस्य योगक्षेमविधाविधिम्[9] ॥ ६६ ॥
स्थालीनां कोटिरेकोक्ता रन्धने[10] या नियोजिता। [11]पक्त्री स्थालीबिलीयानां[12] तण्डुलानां महानसे ॥ ६७ ॥
[13]कोटीशतसहस्रं स्याद्धलानां कुट्टिभे.[14] समम्। [15]कर्मान्तकर्षणे यस्य विनियोगो निरन्तरः ॥ ६८ ॥
तिस्रोऽस्य [16]व्रजकोटयः स्युः गोकुलैः शश्वदाकुलाः। यत्र मन्थरवाकृष्टाः तिष्ठन्ति स्माध्वगाः क्षणम् ॥ ६९ ॥
[17]कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः। [18]प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवात्सु.[19] कृतसंश्रयाः ॥ ७० ॥

उनकी विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि भूमियोंसे मनोहर थे और अच्छे अच्छे बाजों तथा गानोंसे सहित थे ॥५९॥ इन्द्रके नगर समान शोभा धारण करनेवाले ऐसे बहत्तर हजार नगर थे जिनसे अलंकृत हुआ यह नरलोक स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥६०॥ उस चक्रवर्तीके ऐसे छियानवे करोड़ गांव थे कि जिनके बगीचोंकी शोभा नन्दन वनको भी जीत रही थी ॥६१॥ जो धन-धान्यकी समृद्धियोंके स्थान थे ऐसे निन्यानवे हजार द्रोणामुख अर्थात् बन्दरगाह थे ॥६२॥ जिनके प्रशंसनीय बाजार रत्नाकर अर्थात् समुद्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अड़तालीस हजार पत्तन थे ॥६३॥ जो कोट, कोटके प्रमुख दरवाजे, अटारियां, परिखाएं और परकोटा आदिसे शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट थे ॥६४॥ जो कुभोगभूमिया मनुष्योंसे व्याप्त थे तथा समुद्रके सारभूत पदार्थके समान जान पड़ते थे ऐसे छप्पन अन्तरद्वीप थे ॥६५॥ जो लोगोंके योग अर्थात् नवीन वस्तुओंकी प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना आदिकी समस्त व्यवस्थाओंको धारण करते थे तथा जिनके चारों ओर परिखा थी ऐसे चौदह हजार संवाह थे* ॥ ६६ ॥ पकानेके काम आनेवाले एक करोड़ हंडे थे जो कि पाकशालामें अपने भीतर डाले हुए बहुतसे चावलोंको पकानेवाले थे ॥६७॥ फसल आनेके बाद जो निरन्तर खेतोंको जोतनेमें लगाये जाते हैं और जिनके साथ बीज बोनेकी नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल थे ॥६८॥ दही मथनेके शब्दोंसे आकर्षित हुए पथिक लोग जहां क्षणभरके लिये ठहर जाते हैं और जो निरन्तर गायोंके समूहसे भरी रहती हैं ऐसी तीन करोड़ व्रज अर्थात् गोशालाएं थीं ॥६९॥ जहां आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग आकर ठहरते थे ऐसे कुक्षिवासों†की संख्या पण्डित लोगोंने सातसौ

---

१ वंशैः। २ पुराणाम्। ३ जयशीला। ४ नवाधिकनवतिः। ५ प्रशस्ता। ६ धूलिकुट्टिम। ७ अन्तर्निहितस्थानार्पिता। 'द्वे गिनाम्ह्ने गर्भे' इत्यभिधानात्। ८ संख्यातानि—ल०। ९ विधानप्रकारम्। १० पचने। ११ पचनकर्त्री। १२ स्थालीबिलमर्हन्तीति स्थालीबिलीयास्तेषाम्। पचनार्हाणाम् इत्यर्थः। १३ कार्षीणां लक्षम्। १४ कुलिशैः द०, अ०, प०, स०, इ०। कुलिशैः ल०। कुट्टिभे ट०। १५ आसन्नपन-विषयक्षेत्रकर्षणे। १६ गोस्थानकम्। 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इत्यभिधानात्। १७ रत्नानां क्रयविक्रयस्थान। १८ म्लेच्छाः। १९ निवसन्ति स्म। * पहाड़ोंपर बसनेवाले नगर संवाह कहलाते हैं। † जहां रत्नों का व्यापार होता है उन्हें कुक्षिवास कहते हैं।

दुर्गाटवीसहस्राणि[1] तस्याष्टाविंशतिर्मता । [2]वनधन्वाननिम्नादिविभागैर्या विभागिता ॥७१॥
म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टादशसंख्यया । [3]रत्नानामुद्भवक्षेत्रं यैः[4] समन्तादधिष्ठितम् ॥७२॥
कालाख्यश्च महाकालो नैःसर्प्यः पाण्डुकाह्वयः । पद्ममाणवपिङ्गाब्ज[5]सर्वरत्नपदादिकाः ॥७३॥
निधयो नव तस्यासन् प्रतीतैरिति नामभिः । यैरयं गृहवार्तायां[6] निश्चिन्तोऽभून्निधीश्वरः ॥७४॥
निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो[7] लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहम् ॥७५॥
इन्द्रियार्था मनोज्ञा ये वीणावंशानकादयः । तान् प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥७६॥
असिमष्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसम्पदः । यतः शश्वत् प्रसूयन्ते महाकालो निधिः स वै ॥७७॥
शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यात् प्रभवो निधेः । पाण्डुकाद्धान्यसम्भूतिः षड्रसोत्पत्तिरप्यतः ॥७८॥
पट्टांशुकदुकूलादिवस्त्राणां प्रभवो यतः । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाविर्भावितोऽद्युतत् ॥७९॥
दिव्याभरणभेदानाम् उद्भवः पिङ्गलान्निधेः । माणवान्नीतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः ॥८०॥
शङ्खात् प्रदक्षिणावर्तात् सौवर्णीं सृष्टिमुत्सृजन्[8] । स शङ्खनिधिरुत्प्रेङ्खद्[9]रुक्मरोचिर्जितार्कदृक् ॥८१॥
सर्वरत्नान्महानीलनीलस्थूल[10]पलादयः । प्रादुःसन्ति[11] मणिच्छायारचितेन्द्रायुधत्विषः ॥८२॥
रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीवविभागतः । [12]क्ष्मात्राणैश्वर्यसम्भोगसाधनानि चतुर्दश ॥८३॥

बतलाई है ॥७०॥ अट्ठाईस हजार ऐसे सघन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊंचे ऊंचे पहाडी विभागोंमें विभक्त थे ॥७१॥ जिनके चारों ओर रत्नोंके उत्पन्न होनेके क्षेत्र अर्थात् खानें विद्यमान हैं ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे ॥७२॥ महाराज भरतके काल, महाकाल नैःसर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिङ्ग, शङ्ख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नौ निधियां थीं कि जिनसे चक्रवर्ती घरकी आजीविकाके विषयमें बिलकुल निश्चिन्त रहते थे ॥७३–७४॥ पुण्यकी निधिस्वरूप महाराज भरतके पहली काल नामकी निधि थी जिससे प्रत्येक दिन लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण आदिके शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥७५॥ तथा वीणा, बांसुरी, नगाडे आदि जो जो इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषय थे उन्हें भी यह निधि समयानुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न करती रहती थी ॥७६॥ जिससे असि, मषी आदि छह कर्मोंके साधनभूत द्रव्य और संपदाएं निरन्तर उत्पन्न होती रहती थीं वह महाकाल नामकी दूसरी निधि थी ॥७७॥ शय्या, आसन तथा मकान आदिकी उत्पत्ति नैःसर्प्य नामकी निधिसे होती थी । पाण्डुक निधिसे धान्योंकी उत्पत्ति होती थी इसके सिवाय छह रसोंकी उत्पत्ति भी इसी निधिसे होती थी ॥७८॥ जिससे रेशमी सूती आदि सब तरहके वस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती है और जो कमलके भीतरी भागोंसे उत्पन्न हुएके समान प्रकाशमान है ऐसी पद्म नामकी निधि अत्यन्त देदीप्यमान थी ॥७९॥ पिङ्गल नामकी निधिसे अनेक प्रकारके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकारके शस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥८०॥ जो अपने प्रदक्षिणावर्त नामके शङ्खसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण जैसी कान्तिसे सूर्यकी किरणोंको जीत लिया है ऐसी शङ्ख नामकी निधि थी ॥८१॥ जिसके मणियोंकी कान्तिसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रकट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, नील तथा पद्मराग आदि अनेक तरहके रत्न प्रकट होते थे ॥८२॥ इनके सिवाय भरत महाराजके जीव और अजीवके भेदसे दो विभागोंमें बटे हुए चौदह रत्न भी थे जो कि पृथिवीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ॥८३॥

---

१ मरुभूमि । 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यभिधानात् । २ धन्वनिम्नानिम्नादि–द० । वनधन्वननिम्नादि–ल० । ३ कुक्षिवासम् । ४ म्लेच्छराजैः । ५ पिङ्ग पिङ्गल । अब्ज कमल । ६ व्यापारे । ७ कालनिधेः । ८ जनयन् । ९ उच्चलन् । १० पद्मराग । ११ प्रकटीभवन्ति । १२ पृथ्वीरक्षा ।

चक्रातपत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी । चमूगृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः ॥८४॥
[1]चक्रासिदण्डरत्नानि सच्छत्राण्यायुधालये । जातानि मणिचर्माख्या काकिणी श्रीगृहोदरे ॥८५॥
स्त्रीरत्नगजवाजीनां प्रभवो[2] रौप्यशैलतः । रत्नान्यन्यानि साकेताज्जज्ञिरे निधिभिः समम् ॥८६॥
निधीनां सह रत्नानां[3] गुणान् को नाम वर्णयेत् । [4]यैरावर्जितमूर्जस्वि[5] हृदयं चक्रवर्तिनः ॥८७॥
भेजे षट्स्वृतुजानिष्टान् भोगान् पञ्चेन्द्रियोचितान् । स्त्रीरत्नसार[6]थिस्तद्धि[7] निधानं[8] सुखसम्पदाम् ॥८८॥
कान्तारत्नमभूत्तस्य सुभद्रेत्यनुपद्रुतम्[9] । [10]भद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव[11] जात्या विद्याधरान्वया ॥८९॥
शिरीषसुकुमाराङ्गी चम्प[12]कच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटला[13] पाटलाधरा[14] ॥९०॥
प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नीलोत्पलदलेक्षणा । सुभ्रूरलिकुलानीलमृदुकुञ्चितमूर्द्धजा ॥९१॥
तनूदरी वरारोहा[15] [16]वामोरूर्निबिडस्तनी । मृदुबाहुलता साऽभून्मदनाग्नेरिवारणिः[17] ॥९२॥
तत्क्रमौ[18] नूपुरासङ्गझङ्कृतैर्मुखरीकृतौ । मदनद्विरदस्येव तेनतुर्जयडिण्डिमम् ॥९३॥
निःश्रेणीकृत्य तज्जङ्घे सद्वृत्तारबन्धनाम् । वासगेहास्थयाऽनङ्गस्तच्छ्रोणीं[19] नूनमासदत् ॥९४॥

चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥८४॥ चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामें उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृहमें प्रकट हुए थे ॥८५॥ स्त्री, हाथी और घोड़ाकी उत्पत्ति विजयार्ध शैलपर हुई थी तथा अन्य रत्न निधियोंके साथ साथ अयोध्यामें ही उत्पन्न हुए थे ॥८६॥ जिनके द्वारा सेवन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अतिशय बलिष्ठ हो रहा था उन निधियों और रत्नोंका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥८७॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ साथ छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पञ्चेन्द्रियोंके योग्य भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख सम्पदाओंका भण्डार है ॥८८॥ महाराज भरतके रोगादि उपद्रवोंसे रहित सुभद्रा नामकी स्त्रीरत्न थी, वह सुभद्रा स्वभावसे ही भद्रा अर्थात् कल्याणरूप थी और जातिसे विद्याधरोंके वंशकी थी ॥८९॥ उसके समस्त अंग शिरीषके फूलके समान कोमल थे, कान्ति चम्पाकी कलीके समान थी, श्वासोच्छ्वास बकौली (मौलश्री) के फूलके समान सुगन्धित था, अधर गुलाबके फूलके समान कुछ कुछ लाल थे, मुख प्रफुल्लित कमलके समान सुन्दर था, नेत्र नील कमलकी दलके समान थे, भौंहें अच्छी थीं, केश भ्रमरोंके समूहके समान काले, कोमल और कुछ कुछ टेढ़े थे, उदर कृश था, नितम्ब सुन्दर थे, जाँघें मनोहर थीं, स्तन कठोर थे और भुजारूपी लताएँ कोमल थीं, इस प्रकार वह सुभद्रा कामरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिये अरणिके समान थी । भावार्थ–जिस प्रकार अरणि नामकी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस सुभद्राके दर्शनोंसे मनमें कामाग्नि उत्पन्न हो उठती थी ॥९०–९२॥ नूपुरोंकी मनोहर झंकारसे वाचालित हुए उसके दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी हाथीके विजय के नगाड़े ही बजा रहे हों ॥९३॥ ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव अपने निवासगृहपर पहुँचनेकी इच्छासे उस सुभद्राकी दोनों जंघाओंको नसैनी बनाकर जिसमें उत्तम ऊरु ही

---

१ चक्ररत्नानि– म० द० अ०, प०, स०, इ० । २ उत्पत्तिः । ३ रत्नसहितानाम् । ४ रत्ननिधिभिः । ५ वशीकृतम् । ६ सहाय । ७ स्त्रीरत्नम् । ८ स्थानम् । ९ रोगादिभिरपीडितम् । १० भद्रपरिणामा । ११ स्वभावेन । १२ चम्पककुसुमदल । १३ सुवेगन्धी । १४ ईषद्रक्ता । १५ उत्तमनितम्बा । 'वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी' इत्यभिधानात् । १६ मनोहर । १७ अभिनवाग्निकारणम् । १८ सुभद्राचरणौ । १९ कटिम् । 'कटो ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्मती' इत्यभिधानात् ।

निःसृत्य नाभिवल्मीकात् कामकृष्णभुजङ्गमः । रोमावलीच्छलेनास्या ययौ कुचकरण्डकौ[1] ॥९५॥
निर्मोकमिव कामाहेर्दधानोद्ध[2] स्तनांशुकम् । भुजगीमिव तद्धृत्यै[3] सा[4] कामैकावलीमधात् ॥९६॥
बभ्रे हारलतां कण्ठलग्नां सा नाभिलम्बिनीम् । मन्त्ररक्षामिवानङ्गग्रथितां कामदीपिनीम् ॥९७॥
हाराक्रान्तस्तनाभोगा सा स्म धत्ते परां श्रियम् । सीतेव[5] यमकाद्रिस्पृक्प्रवाहा सरिदुत्तमा ॥९८॥
बाहू तस्या जितानङ्गपाशौ लक्ष्मीमूहतुः[6] । कामकल्पद्रुमस्येव प्ररोहौ दीप्तभूषणौ ॥९९॥
रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरेखाभिराततम् । जयरेखा इवाबिभ्रदन्यस्त्रीनिर्जयार्जिताः ॥१००॥
मुखमुद्भ्रु तनूदर्याः सरलापाङ्गमाबभौ । सशरं समहेष्वासं[7] जयागारमिवातनोः[8] ॥१०१॥
वक्त्रमस्याः शशाङ्कस्य कान्तिं जित्वा स्वशोभया । दधे नु[9] भ्रूपताकाङ्कं कर्णाभ्यां जयपत्रकम् ॥१०२॥
हेमपत्राङ्कितौ तस्याः[11] कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्वधूनिर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥१०३॥
कपोलावुज्ज्वलौ तस्या दधतुर्दर्पणश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य[13]स्वा दशाः दशधा स्थिताः ॥१०४॥
[14]मध्ये चक्षुरयोरास्या नासिकाऽभान्मुखोन्मुखी[15] । तदामोदमिवाघ्रातुं कृतयत्ना कुतूहलात् ॥१०५॥
कृत्वा श्रोत्रपदे[16] कर्णौ तन्नेत्रे विभ्रमैर्मिथः । कृतस्पर्धे इवाभातां पुष्पबाणे[17] सभापतौ ॥१०६॥

देव जिसके बन्धन हैं ऐसे उसके नितम्बोंपर जा पहुंचा हो ॥९४॥ रोमावलीके छलसे कामदेवरूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी बामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारेके समीप जा पहुंचा था ॥९५॥ वह सुभद्रा कामरूपी सर्पकी कांचलीके समान सुन्दर स्तनपरका वस्त्र (चोली) धारण करती थी और उस कामरूप सर्पको सन्तुष्ट करनेके लिये सर्पिणीके समान श्रेष्ठ एकावली हारको धारण करती थी ॥९६॥ वह कण्ठमें पड़ी हुई, नाभि तक लटकती हुई और कामको उद्दीपित करनेवाली जिस हाररूपी लताको धारण कर रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवके द्वारा गूथा हुआ और मन्त्रोंसे मंत्रित हुआ रक्षाका डोरा ही हो ॥९७॥ जिसके स्तनोंका मध्यभाग हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इस प्रकारकी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही थी मानो जिसका प्रवाह दोनों ओरके यमक पर्वतोंको स्पर्श कर रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥९८॥ कामदेवके पाशको जीतनेवाली तथा देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित उसकी दोनों भुजाएं ऐसी शोभा धारण कर रही थीं मानो कामरूपी कल्पवृक्षके दो अंकूरे ही हों ॥९९॥ सूक्ष्म रेखाओंसे व्याप्त हुआ उसका करतल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अन्य स्त्रियोंके पराजयसे उत्पन्न हुई विजयकी रेखाएं ही धारण कर रहा हो ॥१००॥ जिसकी भौंहें ऊपरको उठी हुई हैं और जिसमें चंचल कटाक्ष हो रहे हैं ऐसा उस कृशोदरीका मुख ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाण और महाधनुषसे सहित कामदेवकी आयुधशाला ही हो ॥१०१॥ उसका मुख अपनी शोभाके द्वारा चन्द्रमाकी कान्तिको जीतकर क्या कानोंके बहानेसे भौंहरूपी पताकाके चिह्न सहित विजयपत्र (जीतका प्रमाणपत्र) ही धारण कर रहा था ॥१०२॥ सोनेके पत्रोंसे चिह्नित उसके दोनों कान ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो उन्होंने देवांगनाओंको जीतनेके लिये कागजपत्र ही ले रक्खे हों ॥१०३॥ उसके दोनों उज्ज्वल कपोल ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी दश प्रकारकी अवस्थाओंको देखनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके दर्पणकी शोभा ही धारण कर रहे हों ॥१०४॥ उस चञ्चल लोचनवाली सुभद्राकी नाक आंखोंके बीचमें मुखकी ओर झुकी हुई थी और उससे

१–करपत्रम् द०, स०, ब०, अ०, प०, म० । २ प्रालम्बम् । ३ कामाहेः सन्धारणाय । ४ मुख्याम् । ५ सीतानदी । ६ दधाते स्म । ७ महाकार्मुकसहितम् । ८ [illegible]नाम् । ९ मन्ये स्म । १० इव । ११ कर्णपत्र । १२ तस्याः स०, द० । १३ आत्मीया । १४ चक्षुषोर्मध्ये । १५ मुखस्याभिमुखी । १६ श्रोत्रजनस्थाने । १७ काम सभापतौ सति ।

अभूत् कान्तिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टान्तसंलग्ननीलोत्पलविडम्बिनी ॥१०७॥
तस्या विनीलविस्रस्तकबरीबन्धबन्धुरम्[1] । केशपाशमनङ्गस्य मन्ये पाशं प्रसारितम् ॥१०८॥
इत्यस्या रूपमुद्भूतसौष्ठवं त्रिजगज्जयि । मत्वाऽनङ्गस्तदङ्गेषु सन्निधानं व्यधात् ध्रुवम् ॥१०९॥
तद्रूपालोकनोच्चक्षुः तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयंश्चासकृन्मुखम् ॥११०॥
तद्गेयकलनिक्वाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलारामे स रेमे सुखनिर्वृतः[2] ॥१११॥
पञ्च बाणाननङ्गस्य वदन्त्येतानकुण्ठितान्[3] । पुष्पेषुसकथालोके प्रसिद्ध्यैव गता प्रथाम् ॥११२॥
धनुर्लता मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमारतरं स्त्रैणं[4] वपुरेवातनोर्धनुः ॥११३॥
पञ्च बाणाननङ्गस्य नियच्छन्ति[5] कुतो[6] जडाः । यदेव कामिनां हारि सदस्त्रं कामदीपनम् ॥११४॥
स्मितमालोकितं हासो जल्पितं मदमन्मनम्[7] । कामाङ्गमिदमेवान्यत् कैतवं तस्य[8] पोषकम् ॥११५॥
प्रारूढयौवनोष्माणौ स्तनावस्या हिमागमे । रोम्णां[9] हृषितमस्याङ्गे शिशिरोत्थं विनिन्यतुः[10] ॥११६॥
हिमानिले कृचोत्कम्पम् आहित[11] सा हृतक्लमं । [12]प्रेयस्करतलस्पर्शं प्रपन्निष्येऽ[13]ङ्कशायिनी ॥११७॥

वह ऐसी जान पडती थी मानो कौतूहलसे मुहका सुगन्ध सूघनेके लिये प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनो नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवके सभापति रहते हुए कानोको साक्षी बनाकर परस्परमें हाव-भावके द्वारा स्पर्धा ही कर रहे हो ॥१०६॥ जिसपर काली काली अलकें बिखर रही है ऐसे चकोरके समान नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर जो कान्ति थी वह सुवर्णके पटियेपर लटकती हुई नीलकमलकी मालाके समान बहुत ही सुन्दर जान पडती थी ॥१०७॥ अत्यन्त काले और नीचेकी ओर लटकते हुए कबरीके बन्धनसे सुशोभित उसके केशपाश ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो फैला हुआ कामदेवका पाश ही हो ॥१०८॥ इस प्रकार जिसकी उत्तमता प्रकट है ऐसे उस सुभद्राके रूपको तीनो जगत्का जीतनेवाला जानकर ही मानो कामदेवने उसके प्रत्येक अगोमे अपना निवासस्थान बनाया था ॥१०९॥ उसका रूप देखनेके लिये जो सदा चक्षुओको ऊपर उठाये रहता है, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित बना रहता है, जो बार बार उसके मुखकी सुगन्ध सूघा करता है, बार बार उसके मुखका स्वाद लिया करता है और उसके सगीतके सुन्दर शब्दोके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते है ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बडे बगीचेमें सुखसे सन्तुष्ट होकर क्रीडा किया करता था ॥११०-१११॥ कविलोग, जिनका कही प्रतिबन्ध नही होता ऐसा सुभद्राका रूप, कोमल स्पर्श, मुखकी सुगन्ध, ओठोका रस और सगीतमय सुन्दर शब्द इन पाचको ही कामदेवके पाँच बाण बतलाते है। लोकमें जो कामदेवके पाचो बाणोकी चर्चा है वह रूढि मात्रसे ही प्रसिद्ध हो गई है ॥११२॥ मूर्ख लोग कहते है कि कामदेवका धनुष फूलोका है परन्तु वास्तवमें स्त्रियोका अत्यन्त कोमल शरीर ही उसका धनुष है ॥११३॥ न जाने क्यो मूर्ख लोग कामदेवको पाच बाण ही प्रदान करते है अर्थात् उसके पाच बाण बतलाते है क्योकि जो कुछ भी कामीलोगोंके चित्तको हरण करनेवाला है वह सभी कामको उत्तेजित करनेवाला कामदेवका बाण है। भावार्थ—कामदेवके अनेक बाण है ॥११४॥ स्त्रियोका मन्द हास्य, तिरछी चितवन, जोरसे हसना और कामके आवेशसे अस्पष्ट बोलना यही सब कामदेवके अङ्ग है इनके सिवाय जो उनका कपट है वह इन्ही सबका पोषण करनेवाला है ॥११५॥ जो जवानीके कारण गर्म हो रहे है ऐसे सुभद्राके दोनो स्तन हेमन्तऋतुमें ठण्डसे उठे हुए भरतके शरीरके रोमाचोको दूर करते थे ॥११६॥ गोदमें शयन करनेवाली सुभद्रा शीतलवायुके

---

१ कोमल। २ सुखतृप्त। ३ मदनादीन्। ४ अमन्दान्। ५ स्त्रिया इदम्। ६ नियमयन्ति। ७ ई कामिन। ८ मदनाक्षरमभाषितम्। ९ कामस्य। १० रोमाञ्चम्। 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यभिधानात्। ११ आप वपुषिनिन्यतु। १२ हृतम्। १३ प्रियकरतलस्पर्शम्। १४ आहृतवति स्म।

साशोककलिकां चूतमञ्जरीं कर्णसङ्गिनीम्। दधती[1] चम्पकप्रोतैः[2] केशान्तैः साऽऽदधन्मधौ ॥११८॥
मधौ[3] मधुमदारक्तलोचनामास्खलद्गतिम्। बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदश्रियम् ॥११९॥
कलैरलिकुलक्वाणैः सान्यपुष्टविकूजितैः। मधुरं मधुरन्यष्टौत्[4] तुष्ट्येवामुं[5] विशाम्पतिम् ॥१२०॥
कलकण्ठी[6]कलक्वाणमूर्छितै[7]रलिझङ्कृतैः। व्यज्यते[8] स्म स्मराकाण्डावस्कन्दो डिण्डिमायितैः[9] ॥१२१॥
पुष्पच्चूतवनोद्गन्धिः[10] उत्फुल्लकमलाकरः। पप्रथे सुरभिर्मासः[11] सुरभीकृतदिङ्मुखः ॥१२२॥
हृतालिकुलझङ्कारः सञ्चरन्मलयानिलः। अनङ्गनृपतेरासीद् घोषयन्निव शासनम्[12] ॥१२३॥
सन्ध्यारुणां कलामिन्दोः मेने लोको जगद्ग्रसः[13]। करालामिव रक्ताक्तां[14] दंष्ट्रां मदनरक्षसः ॥१२४॥
उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तषट्पदे। नानुन्मत्तो जनः कोऽपि मुक्त्वानङ्ग[15]द्रुहो मुनीन् ॥१२५॥
सायमुद्गाहनिर्णिक्तैः[16] अङ्गैस्तुहिनशीतलैः। ग्रीष्मे मदनतापार्तां सास्याङ्गं निरवापयत्[17] ॥१२६॥
चन्दनद्रवसंसिक्तसुन्दराङ्गलतां प्रियाम्। परिरभ्य[18] दृढं दोर्भ्यां स लेभे गात्रनिर्वृतिम्[19] ॥१२७॥
मदनज्वरतापार्तां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहाम्[20]। स तां निर्वापयामास स्वाङ्गस्पर्शसुखाम्बुभिः ॥१२८॥

द्वारा उत्पन्न हुई स्तनोंकी कँपकँपीको क्लेश दूर करनेवाले प्रिय पतिके करतलके स्पर्शसे दूर करती थी ॥११७॥ अशोकवृक्षकी कलीके साथ साथ कानोंमें लगी हुई आमकी मंजरीको धारण करती हुई वह सुभद्रा वसन्तऋतुमें चम्पाके फूलोंसे गुथी हुई चोटीसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ॥११८॥ वसन्तऋतुमें मधुके मदसे जिसकी आँखें कुछ कुछ लाल हो रही हैं और जिसकी गति कुछ कुछ लड़खड़ा रही है—स्खलित हो रही है ऐसी उस सुभद्राको भरत महाराज मूर्तिमती मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानते थे ॥११९॥ वह वसन्तऋतु सन्तुष्ट होकर भ्रमरोंकी सुन्दर झंकार और कोकिलाओंकी कमनीय कूकसे मानो राजा भरतकी सुन्दर स्तुति ही करता था ॥१२०॥ कोयलोंके सुन्दर शब्दोंसे मिली हुई भ्रमरोंकी झंकार-से ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवने नगाड़ोंके साथ अकस्मात् आक्रमण ही किया हो—छापा ही मारा हो ॥१२१॥ फूले हुए आमके वनोंसे जो अत्यन्त सुगन्धित हो रहा है, जिसमें कमलोंके समूह फूले हुए हैं और जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी हैं ऐसा यह वसन्तका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥१२२॥ भ्रमरसमूहकी झंकारको हरण करनेवाला, चारों ओर फिरता हुआ मलयसमीर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी राजाके शासनकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१२३॥ उस समय सन्ध्याकालकी ललाईसे कुछ कुछ लाल हुई चन्द्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानो जगत्को निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी रक्तसे भीगी हुई भयंकर दाढ़ ही हो ॥१२४॥ जिसमें कोयल और भ्रमर सभी उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उस वसन्तके समय कामदेवके साथ द्रोह करनेवाले मुनियोंको छोड़कर और कोई ऐसा मनुष्य नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥१२५॥ सायंकालके समय जलमें अवगाहन करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो बर्फके समान शीतल हैं ऐसे अपने समस्त अंगोंसे वह सुभद्रा ग्रीष्मकालमें कामके सन्तापसे सन्तप्त हुए भरतके शरीरको शान्त करती थी ॥१२६॥ जिसकी शरीररूपी सुन्दर लतापर घिसे हुए चन्दनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको भरत महाराज दोनों हाथोंसे गाढ़ आलिंगन कर अपना शरीर शान्त करते थे ॥१२७॥ जो कामज्वरके सन्तापसे पीड़ित हो रही है और जिसे ग्रीष्मकालकी तीव्र गर्मी बिलकुल ही सहन

१ बध्नती म०। २ ग्रथितैः। ३ वसन्ते। ४ स्तौति स्म। ५ तोषेणेव। ६ कोकिला। ७ मिश्रितैः। ८ प्रकटीक्रियते स्म। ९ कामाकालधाटी। १० पुष्पितम्। पुष्पच्चूत– द०, अ०, प०, स०, इ०, ल०। ११ वसन्तः। १२ आज्ञाम्। १३ लोकभक्षकस्य। १४ रुधिरलिप्ताम्। १५ कामघातकान्। १६ सन्ध्याकालजलावगाहनेन शुद्धैः। १७ उष्णं परिहृत्य शीतं चकार। १८ आश्लिष्य। १९ शरीरसुखम्। २० असहमानाम्।

उत्फुल्लमल्लिकामोदवाहिभिर्गन्ध[1]वाहिभिः । स [2]सायप्रातिकैर्भेजे धृतिं रतिसुखाहरैः[3] ॥१२९॥
उत्फुल्लपाटलोद्गन्धि मल्लिकामालभारिणीम्[4] । उपगूह्य[5] प्रियां प्रेम्णा नैदाघीः[6] सोऽनयन्निशाः ॥१३०॥
सा घनस्तनितव्याजात् तर्जितेव मनोभुवा । भुजोपपीडमाश्लिष्य[7] शिश्ये पत्या तपात्यये[8] ॥१३१॥
नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनाम् । कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां [9]धृतयेऽभवन् ॥१३२॥
प्रारूढकालिकां पश्यन् बलाकामालभारिणीम् । घनालीं पथिकः साश्रु दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥१३३॥
धारारज्जुभिरानद्धा वागुरेव[10] प्रसारिता । रोधाय पथिकैणानां[11] लुब्धकेनेव हृद्भुवा ॥१३४॥
कृतावधिः प्रियो नागाद् आगाच्च जलदागमः । इत्युदीक्ष्य[12] घनात्[13] काचिद् हृदि शून्याऽभवत् सती ॥१३५॥
विभिन्दन् केतकीसूचीः[14] तत्प्रसूनाकिरन्मरुत् । पान्थानां दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥१३६॥
इत्यभर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥१३७॥
प्राक्पुष्पनिचुलामोद[15] तद्वक्त्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्सङ्गे सोऽनैषीद् वार्षिकीः[16] निशाम् ॥१३८॥
स रेमे शरदारम्भे विहरन् कान्तया समम् । वनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगन्धिषु ॥१३९॥

नहीं हो सकती ऐसी उस सुभद्राको महाराज भरत अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी जलसे शान्त करते थे ॥१२८॥ खिली हुई मालतीकी सुगंधको धारण करनेवाले तथा रतिसमयमें सुख पहुंचानेवाले सायंकाल और प्रातःकालकी वायुके द्वारा चक्रवर्ती भरत बहुत ही अधिक संतोष प्राप्त करते थे ॥१२९॥ फूले हुए गुलाबकी सुगन्धयुक्त मालतीकी मालाओंको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगन कर महाराज भरत बड़े प्रेमसे ग्रीष्मकालकी रात व्यतीत करते थे ॥१३०॥ वर्षाऋतुमें मेघोंकी गर्जनाके बहानेसे मानो कामदेवने जिसे घुड़की दिखाकर भयभीत किया है ऐसी वह सुभद्रा भुजाओंसे आलिंगनकर पतिके साथ शयन करती थी ॥१३१॥ उस वर्षाऋतुमें नये जलसे मलिन हुए नदियोंके प्रवाह, उन्मत्त मयूरोंके शब्द और कदंबके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त वायु ये सब कामी लोगोंके संतोषके लिये थे ॥१३२॥ जिसपर कालिमा छाई हुई है और जो बगुलाओंकी पंक्तिको धारण कर रही है ऐसी मेघमालाको देखते हुए पथिक आंसू डालते हुए दिशाओंको अन्धकारपूर्ण मानते थे ॥१३३॥ उस वर्षाऋतुमें जो जलकी धाराएं पड़ती थीं उनसे रस्सियोंके समान व्याप्त हुई यह पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी शिकारीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिये जाल ही फैलाया हो ॥१३४॥ जो आनेकी अवधि करके गया था ऐसा पति अब तक नहीं आया और यह वर्षाऋतु आ गई इस प्रकार बादलोंको देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने हृदयमें शून्य हो रही थी अर्थात् चिन्ताने उसकी विचारशक्ति नष्ट हो गई थी॥१३५॥केतकीकी बोंडियोंको भेदन करता हुआ और उनकी धूलिको चारों ओर बिखेरता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिये धूलि ही उड़ा रहा हो ॥१३६॥ इस प्रकार उस वर्षाकालमें जब बादल अत्यन्त निकट आ जाते थे तब चक्रवर्ती भरत अपने मनोहर महलमें प्रिया सुभद्राको बार बार प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीडा करता था ॥१३७॥ जिसने पहलेमें उत्पन्न होनेवाले वेंतकी सुगन्धि ग्रहण की है ऐसे उस सुभद्राके मुखकी सुगन्धको ग्रहण करता हुआ चक्रवर्ती उसके स्तनतटपर सोकर ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥१३८॥ शरदृऋतु-

सकान्तां रमयामास हारज्योत्स्नाञ्चितस्तनीम् । शारदीं निर्विशन् ज्योत्स्नां सौधोत्सङ्गेषु हारिषु ॥१४०॥
सोत्पलां 'कुब्जकैर्दृब्धां[1] मालां चूडान्तलम्बिनीम् । बाला पत्युरुरःसङ्गान्मेने बहुरतिप्रियम्[2] ॥१४१॥
इति सोत्कर्षमेवास्या प्रथयन् प्रेमनिघ्नताम्[3] । स रेमे रतिसाद्भूतो[4] भोगाङ्गैर्दशधोदितैः ॥१४२॥
सरत्ना निधयो दिव्याः[5] पुरं शय्यासने चमूः । नाट्यं सभाजनं[6] भोज्यं वाहनं चेति तानि वै ॥१४३॥
दशाङ्गमिति भोगाङ्गं निर्विशन् स्वाशितं[7] भवम् । [8]स चिरं पालयामास भुवमेकोष्णवारणाम्[9] ॥१४४॥
षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः । ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥१४५॥
क्षितिसार[11] इति ख्यातः प्राकारोऽस्य गृहावृतिः । गोपुरं सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्रत्नतोरणम् ॥१४६॥
नन्द्यावर्तो निवेशोऽस्य शिबिरस्यालघीयसः । प्रासादो वैजयन्ताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥१४७॥
दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः परार्ध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चङ्क्रमणी[12] यष्टिः [13]सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥१४८॥
गिरिकूटकमित्यासीत् सौधं दिगवलोकने[14] । वर्धमानकमित्यन्यत् [15]प्रेक्षागृहमभूद् विभोः ॥१४९॥
धर्मान्तोऽन्य[16] महानासीद् धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैः वर्षावासः प्रभोरभूत् ॥१५०॥
पुष्करावर्तमित्यस्य च हर्म्यमस्य सुधासितम् । कुबेरकान्तमित्यासीद् भाण्डागारं यदक्षयम् ॥१५१॥

के प्रारम्भमें वह चक्रवर्ती, जिनमें नवीन खिले हुए सप्तच्छद वृक्षोंकी सुगन्ध फैल रही है ऐसे वनोंमें अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥१३९॥ राजभवनकी मनोहर छतोंपर शरद्ऋतुकी चाँदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती हारकी कान्तिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी प्रिया सुभद्राको प्रसन्न करता था–उसके साथ क्रीड़ा करता था ॥१४०॥ जब कभी रानी सुभद्रा पतिके वक्षःस्थलपर लेट जाती थी उस समय उसके मस्तकपर कञ्चुकियोंके द्वारा गुथी हुई भरतकी कमलों सहित माला लटकने लगती थी और उसे वह बड़े प्रेमसे सूँघती थी ॥१४१॥ इस प्रकार इस सुभद्रादेवीमें प्रेमकी परवशताको अच्छी तरह प्रकट करता हुआ और रतिसुखके आधीन हुआ वह चक्रवर्ती दश प्रकारके कहे हुए भोगोंके साधनोंसे क्रीड़ा करता था ॥१४२॥ रत्नसहित नौ निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बर्तन, भोजन और सवारी ये दश भोगके साधन कहलाते हैं ॥१४३॥ इस प्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले दश प्रकारके भोगके साधनोंका उपभोग करते हुए महाराज भरतने चिरकाल तक जिसपर एक ही छत्र है ऐसी पृथिवीका पालन किया ॥१४४॥ चक्रवर्ती भरतके ऐसे सोलह हजार गणबद्ध देव थे जो कि तलवार धारणकर निधि, रत्न और स्वयं उनकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे ॥१४५॥ उनके घरको घेरे हुए क्षितिसार नामका कोट था और देदीप्यमान रत्नोंके तोरणोंसे युक्त सर्वतोभद्र नामका गोपुर था ॥१४६॥ उनकी बड़ी भारी छावनीके ठहरनेका स्थान नन्द्यावर्त नामका था और जो सब ऋतुओंमें सुख देनेवाला है ऐसा वैजयन्त नामका महल था ॥१४७॥ बहुमूल्य मणियोंसे जड़ी हुई दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलनेके समय हाथमें लेनेके लिये मणियोंकी बनी हुई सुविधि नामकी लकड़ी थी ॥१४८॥ सब दिशाएँ देखनेके लिये गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं चक्रवर्तीके नृत्य देखनेके लिये वर्धमानक नामकी नृत्यशाला थी ॥१४९॥ उन चक्रवर्तीके गर्मीको नष्ट करनेवाला धारागृह नामका बड़ा भारी स्थान था और वर्षाऋतुमें निवास करनेके लिये बहुत ऊँचा गृहकूटक नामका महल था ॥१५०॥ चूनासे सफेद हुआ पुष्करावर्त नामका

1 'कुब्जिका भद्रनरगो बृहत्स्वानिकञ्चुकी । महाभटा' इति धनञ्जयः । 2 रतिनाम् । 3 पतिप्रेम-भावामिति । पत्युरुरस्यस्य स्थिता मस्तकनि सन मा प०, ल० । 4 स्नेहाधीनताम् । 5 रत्यधीन । 6 देव्य द०, ल०, प० । 7 भाजनसहितम् । 8 स्वस्य तृप्तिजनकम् । 9 सुचिरं म० । 10 एकच्छत्राम् । 11 क्षितिसार इति नामा । 12 आस्थानभूमि, आगारभूमिरित्यर्थ । 13 सुविधिनामा । 14 दिशावलोकनार्थम् । 15 नृत्तदर्शनगृहम् । 16 घर्मान्तगमान् ।

वसुधारकमित्यासीत् कोष्ठागार महाव्ययम् । जीमूतनामधेयं च मज्जनागारमूर्जितम् ॥१५२॥
रत्नमालाऽतिरोचिष्णु बभूवास्यावतंसिका । देवरम्येति रम्या सा मता दूष्यकुटी[1] पृथु ॥१५३॥
सिंहवाहिन्यभूच्छय्या सिंहैरूढा भयानकैः । सिंहासनमथोऽस्योच्चैः गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तरम् ॥१५४॥
चामराण्युपमामान[2] व्यतीत्यानुपमा बभान्[3] । विजयार्द्धकुमारेण वितीर्णानि निधीशिने ॥१५५॥
भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणम् । परार्ध्यरत्ननिर्माणं जितसूर्यशतप्रभम् ॥१५६॥
नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुण्डले । जित्वा ये[4] वैद्युतीं[5] दीप्तिं रुरुचाते स्फुरत्त्विषी ॥१५७॥
रत्नांशुजटिलास्तस्य पादुका विषमोचिकाः[6] । परेषां पदसंस्पर्शाद् मुञ्चन्त्यो विषमुल्बणम् ॥१५८॥
अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राणं प्रभास्वरम् । द्विषतां शरनाराचैः यदभेद्यं महाहवे ॥१५९॥
रथोऽजितञ्जयो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्वहः । यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासन्ननेकशः ॥१६०॥
चण्डाकाण्डाशनिप्रख्यज्याघाताऽकम्पिताखिलम् । जितदैत्यामरं तस्य वज्रकाण्डममूद्धनुः ॥१६१॥
अमोघपातास्तस्यासन् नामोघाख्या महेषवः । [7]यैरसाध्यजये चक्री कृतश्लाघो रणाङ्गणे ॥१६२॥
प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या शक्तिरस्यारिखण्डिनी । बभूव वज्रनिर्माणाश्लाघ्या वज्रिजयेऽपि या ॥१६३॥
कुन्तं सिंहाटको नाम च सिंहनखराङ्कुरैः । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदण्डाग्रमण्डनः[8] ॥१६४॥

खास महल था और कुबेरकान्त नामका भाण्डारगृह था जो कभी खाली नहीं होता था ॥१५१॥ वसुधारक नामका बड़ा भारी अटूट कोठार था और जीमूत नामका बड़ा भारी स्नानगृह था ॥१५२॥ उस चक्रवर्तीके अवतंसिका नामकी अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोंकी माला थी और देवरम्या नामकी बहुत बड़ी सुन्दर चाँदनी थी ॥१५३॥ भयंकर सिंहोंके द्वारा धारण की हुई सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और गुण तथा नाम दोनोंसे अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट बहुत ऊँचा सिंहासन था ॥१५४॥ जो विजयार्धकुमारके द्वारा निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीके लिये समर्पित किये गये थे ऐसे अनुपमान नामके उनके चमर उपमाको उल्लंघन कर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५५॥ उस चक्रवर्तीके बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ और सैकड़ों सूर्यकी प्रभाको जीतनेवाला सूर्यप्रभ नामका अतिशय देदीप्यमान छत्र था ॥१५६॥ उनके देदीप्यमान कान्तिके धारक विद्युत्प्रभ नामके दो ऐसे सुन्दर कुण्डल थे जो कि बिजलीकी दीप्तिको पराजित कर सुशोभित हो रहे थे ॥१५७॥ महाराज भरतके रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुई विषमोचिका नामकी ऐसी खड़ाऊँ थी जो कि दूसरेके पैरका स्पर्श होते ही भयंकर विष छोड़ने लगती थी ॥ ॥१५८॥ उनके अभेद्य नामका कवच था जो कि अत्यन्त देदीप्यमान था और महायुद्धमें शत्रुओंके तीक्ष्ण बाणोंसे भी भेदन नहीं किया जा सकता था ॥१५९॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितंजय नामका रथ था जिसपर शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक दिव्य शस्त्र रक्खे रहते थे ॥१६०॥ असमयमें होनेवाले प्रचण्ड वज्रपातके समान जिसकी प्रत्यंचाके आघातसे समस्त संसार काँप जाता था और जिसने देव, दानव–सभीको जीत लिया था ऐसा वज्रकाण्ड नामका धनुष उस चक्रवर्तीके पास था ॥१६१॥ जो कभी व्यर्थ नहीं पड़ते ऐसे उसके अमोघ नामके बड़े बड़े बाण थे। इन बाणोंके द्वारा ही चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें प्रशंसा प्राप्त करता था ॥१६२॥ राजा भरतके शत्रुओंको खण्डित करनेवाली वज्रतुण्डा नामकी शक्ति थी, जो कि वज्रकी बनी हुई थी और इन्द्रको भी जीतनेमें प्रशंसनीय थी ॥१६३॥ जिसकी नोक बहुत तेज थी, जो मणियोंके बने हुए डंडेके अग्रभागपर सुशोभित

---

१ पटकुटी । २ उपमायमानम् । ३ भान्ति स्म । ४ कुण्डले । ५ विद्युत्सम्बन्धिनीम् । ६ विषनिवारिका । ७ महान्तैः । ८ मणिमयदण्डाग्र मण्डनम् अलंकारो यस्य ।

तस्यासिपुत्रिका[1] दीप्रा रत्नानद्धस्फुरत्त्सरुः[2] । लोहवाहिन्यभून्नाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥१६५॥
कणपोऽस्य[3] मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विषत्कुलकुलक्ष्मा[4]ध्रदलने योऽशनीयितः ॥१६६॥
सौनन्दकाख्यमस्याभूद् असिरत्नं स्फुरद्द्युति । यस्मिन् करतलारूढे दोलारूढमिवाखिलम् ॥१६७॥
प्रादुर्भूतमुखं खेटं विभोर्भूतमुखाङ्कितम् । स्फुरताऽऽजौमुखे येन द्विषां मृत्युमुखायितम् ॥१६८॥
चक्ररत्नमभूज्जिष्णोः दिक्चक्राक्रमणक्षमम् । नाम्ना सुदर्शनं दीप्रं यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥१६९॥
प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो दण्डोऽभूच्चक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद् बिलकण्टकशोधने ॥१७०॥
नाम्ना वज्रमयं दिव्यं चर्मरत्नमभूद् विभोः । तद्बलं यद्बलाधानान्निस्तीर्णं[5] जलविप्लवात् ॥१७१॥
मणिश्चूडामणिर्नाम चिन्तारत्नमनुत्तरम् । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरञ्जितम् ॥१७२॥
सा चिन्ताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाध्वान्तविनिर्भेदैकदीपिका ॥१७३॥
चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत् प्रभोः । समरेऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशे यशः[6] ॥१७४॥
बुद्धिसागरनामास्य पुरोधाः पुरुधीरभूत् । धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविके ॥१७५॥
सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना कामवृष्टिरभीष्टदः । व्ययोपव्ययचिन्तायां नियुक्तो यो निधीशिनः[7] ॥१७६॥

हो रहा था और जो सिंहके नाखूनोंके साथ स्पर्धा करता था ऐसा उनका सिंहाटक नामका भाला था ॥१६४॥ जो अत्यन्त देदीप्यमान थी, जिसकी रत्नोंसे जडी हुई मूठ बहुत ही चमक रही थी, और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पडती थी ऐसी लोहवाहिनी नामकी उनकी छुरी थी ॥१६५॥ मनोवेग नामका एक कणप (अस्त्रविशेष) था जो कि विजयलक्ष्मी-पर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके वंशरूपी कुलाचलोंको खण्डित करनेके लिये वज्रके समान था ॥१६६॥ भरतके सौनन्दक नामकी श्रेष्ठ तलवार थी जिसकी कान्ति अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जिसे हाथमें लेते ही यह समस्त जगत् झूलामें बैठे हुएके समान काँप उठता था ॥१६७॥ उनके भूतोंके मुखोंसे चिह्नित भूतमुख नामका खेट(अस्त्रविशेष) था, जो कि युद्धके प्रारम्भमें चमकता हुआ शत्रुओंके लिये मृत्युके मुखके समान जान पडता था ॥१६८॥ उन विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्र था, जो कि समस्त दिशाओंपर आक्रमण करनेमें समर्थ था, देदीप्यमान था और जो शत्रुओंके द्वारा देखा भी नहीं जा सकता था ॥१६९॥ जिसका नियोग गुफाके काँटे वगैरह शोधनेमें था ऐसा चण्डवेग नामका बहुत भारी प्रचण्ड (भयंकर) दण्ड उस चक्रवर्तीके था ॥१७०॥ भरतेश्वर महाराजके वज्रमय चर्मरत्न था, वह चर्मरत्न, कि जिसके बलसे उनकी सेना जलके उपद्रवसे पार हुई थी—बची थी ॥१७१॥ उनके चूडामणि नामका वह उत्तम चिन्तामणि रत्न था जिसने कि जगत्के चूडामणिस्वरूप महाराज भरतका चित्त अनुरक्त कर लिया था ॥१७२॥ चिन्ताजननी नामकी वह काकिणी थी जो कि अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जो विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंका अन्धकार दूर करनेके लिये मुख्य दीपिकाके समान थी ॥१७३॥ उन प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योंमें रत्न था और युद्धमें शत्रुओंको जीतनेसे जिसका यश आकाश और पृथिवी-के बीच व्याप्त हो गया था ॥१७४॥ समस्त धार्मिक क्रियाएँ जिसके आधीन थीं और दैविक उपद्रव होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जिसके आश्रित था ऐसा बुद्धिसागर नामका महा-बुद्धिमान् पुरोहित था ॥१७५॥ उनके कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त बुद्धिमान् था, इच्छानुसार सामग्री देनेवाला था तथा जो चक्रवर्तीके छोटे बडे सभी खर्चोंकी

---

१ क्षुरिका । 'स्यात्क्षुरी चासिपुत्री च क्षुरिका चासिधेनुका ।' इत्यभिधानात् । २ मुष्टि । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टिः स्याद्' इत्यभिधानात् । ३ कणपाख्य म० । ४ पवन । ५ निस्तीर्णमभवत् । ६ भास । ७ धनिन ।

रत्नं स्थपतिरप्यस्य वास्तु[1]विद्यापदात्तधीः । नाम्ना भद्रमुखोऽनेकप्रासादघटने पटुः ॥१७७॥
शैलोदग्रो महानस्य यो[2]गहस्तीक्षरन्मदः । भद्रो गिरिचर[3] शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥१७८॥
पवनस्य जयन् वेगं हयोऽस्य पवनञ्जयः । विजयार्द्धगुहोत्सङ्गं हेलया यो व्यलङ्घयत् ॥१७९॥
प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामकम् । स्वभावमधुरं हृद्यं रसायनमिवापरम् ॥१८०॥
रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलङ्घ्यानि विद्विषाम् ॥१८१॥
आनन्दिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशाभवन् । द्विषड्योजनमापूर्य स्वैर्ध्वानैर्याः प्रदध्वनुः ॥१८२॥
आसन् विजयघोषाख्या पटहा द्वादशापरे । मुहुः केकिभिरुद्ग्रीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥१८३॥
गम्भीरावर्तनामानः शङ्खा गम्भीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्याब्धिसम्भवाः ॥१८४॥
कटका रत्ननिर्माणा विभोर्वीराङ्गदाह्वयाः । रेजुः प्रकोष्ठमावेष्ट्य तडिद्वलयविभ्रमाः ॥१८५॥
पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुत्प्रेङ्खोलि[4]तोत्प्रेङ्खद्वस्त्रांशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥१८६॥
महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूद् विभोः । कल्याणाङ्गस्य [5]येनास्य तृप्तिपुष्टी बलान्विते ॥१८७॥
भक्ष्याश्चामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगन्धयः । नान्ये[6] जरयितुं[7] शक्ता यान् [8]गरिष्ठरसोत्कटान् ॥१८८॥
स्वाद्यं[9] चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वादं सुसंस्कृतम् । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥१८९॥

चिन्तामें नियुक्त था । ॥१७६॥ मकान बनानेकी विद्यामें जिसकी बुद्धि प्रवेश पाये हुई है और जो अनेक राजभवनोंके बनानेमें चतुर है ऐसा भद्रमुख नामका उनका शिलावटरत्न (इञ्जीनियर) था ॥१७७॥ जो पर्वतके समान ऊँचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिससे मद भर रहा था, भद्र जातिका था और जिसका गर्जन उत्तम था ऐसा विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था ॥१७८॥ जिसने विजयार्धपर्वतकी गुफाके मध्यभागको लीलामात्रमें उल्लंघन कर दिया था ऐसा वायुके वेगको जीतनेवाला पवनंजय नामका घोड़ा था ॥१७९॥ और जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं, जिसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो स्वभावसे ही मधुर है और जो किसी अन्य रसायनके समान हृदयको आनन्द देनेवाला है ऐसा सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न था ॥१८०॥ इस प्रकार चक्रवर्तीके ये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा किया करते थे, और जिन्हें शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे ॥१८१॥ उस चक्रवर्तीके समुद्रके समान गंभीर आवाजवाली आनन्दिनी नामकी बारह भेरियाँ थीं जो अपनी आवाजको बारह योजन दूर तक फैलाकर बजती थीं ॥१८२॥ इनके सिवाय बारह नगाड़े और थे जिनकी आवाज घरके मयूर ऊँची गर्दन कर बड़े आनन्दके साथ सुना करते थे ॥१८३॥ जिनकी आवाज अतिशय गंभीर है, जो शुभ है, और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं ऐसे गम्भीरावर्त नामके चौबीस शंख थे ॥१८४॥ उन प्रभुके रत्नोंके बने हुए वीरांगद नामके कड़े थे जो कि हाथकी कलाईको घेरकर सुशोभित हो रहे थे और जिनकी कान्ति बिजलीके कड़ोंके समान थी ॥१८५॥ वायुके झकोरेसे उड़ते हुए कपड़ोंसे जिन्होंने आकाशरूपी आँगनको झाड़कर साफ कर दिया है ऐसी उनकी अड़तालीस करोड़ पताकाएँ थीं ॥१८६॥ महाराज भरतके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीरको धारण करनेवाले उनके बलसहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थीं ॥१८७॥ जो अत्यन्त गरिष्ठ रससे उत्कट हैं, जिन्हें कोई अन्य पचा नहीं सकता तथा जो रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगन्धित हैं ऐसे उसके अमृतगर्भ नामके भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे ॥१८८॥ जिनका स्वाद हृदयको अच्छा

---

१ वास्तुविद्याव्याने प्रवीणबुद्धिः । २ पूज्य । ३ गिरिचर म०, प० । ४ चक्रवर्तिनः । ५ आहारेण । ६ पुरुषाः । ७ जीर्णीकर्तुम् । ८ अतिगुरु । ९ नमुकदाडिमादि । 'आस्नाय
स्वाद्य खाद्य लाड्वादि अशनादिकम् । पेय श्वाद्यमृताद्य स्वाद्यमेयानि [illegible] ।'

पुण्यकल्पतरोरासन् फलान्येतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपभोग्यानि भोगाङ्गान्यतुलानि वै ॥१९०॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अभेद्यं गात्रबन्धनम् ॥१९१॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृङ्निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् इभाश्वादिपरिच्छदः ॥१९२॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अन्तःपुरमहोदयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् दशाङ्गो भोगसम्भवः ॥१९३॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् आज्ञाद्वीपाब्धिलङ्घिनी । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् जयश्रीर्जित्वरी दिशाम् ॥१९४॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् उद्योगो लङ्घितार्णवः ॥१९५॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् प्राभवं त्रिजगज्जयि । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् [1]नगराजजयोत्सवः ॥१९६॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सत्कार[2]स्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् [3]सरिद्देव्यभिषेचनम् ॥१९७॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रत्नलाभोऽन्यदुर्लभः ॥१९८॥
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् [4]आयतिर्भरतेऽखिले । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्तिर्दिक्तट[5]लङ्घिनी ॥१९९॥
ततः[6] पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियम् । चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसम्पदाम् ॥२००॥

लगनेवाला है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है ऐसे अमृतकल्प नामके उनके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान रसीला अमृत नामका दिव्य पानक अर्थात् पीने योग्य पदार्थ था ॥१८९॥ चक्रवर्तीके ये सब भोगोपभोगके साधन उसके पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे, उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था और वे संसारमें अपनी बराबरी नहीं रखते थे ॥१९०॥

पुण्यके विना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूपसम्पदा कैसे मिल सकती है ? पुण्यके विना वैसा अभेद्य शरीरका बंधन कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नोंकी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके विना वैसे हाथी घोड़े आदिका परिवार कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना वैसे अन्तःपुरका वैभव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना दस प्रकारके भोगोपभोग कहां मिल सकते हैं ? पुण्यके विना द्वीप और समुद्रोंको उल्लंघन करनेवाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके विना दिशाओंको जीतनेवाली वैसी विजयलक्ष्मी कहां मिल सकती है ? पुण्यके विना देवताओंको भी नम्र करनेवाला वैसा प्रताप कहां प्राप्त हो सकता है ? पुण्यके विना समुद्रको उल्लंघन करनेवाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना तीनों लोकोंको जीतनेवाला वैसा प्रभाव कहां हो सकता है ? पुण्यके विना वैसा हिमवान् पर्वतको विजय करनेका उत्सव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके विना हिमवान् देवके द्वारा किया हुआ वैसा अधिक सत्कार कहां मिल सकता है ? विना पुण्यके नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ वैसा अभिषेक कहां हो सकता है ? पुण्यके विना विजयार्ध पर्वतको जीतना कैसे हो सकता है ? पुण्यके विना अन्य मनुष्योंको दुर्लभ वैसे रत्नोंका लाभ कहां हो सकता है ? पुण्यके विना समस्त भरतक्षेत्रमें वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है ? और पुण्यके विना दिशाओंके किनारेको उल्लंघन करनेवाली वैसी कीर्ति कैसे हो सकती है ? इसलिये हे पण्डित जन, चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्यका संचय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान

१ हिमवद्गिरि । २ हिमवत्सम्बन्धिसुरेण । ३ गङ्गासिन्धुदेवी । ४ धनागमः प्रभावो वा । ५ लङ्घिनी ट० । ६ ता वाग्मता ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याविष्कृतसम्पदो विजयिनस्तस्याखिलक्ष्माभुताम्
स्फीतामप्रतिशासना प्रथयत षट्खण्डराज्यश्रियम् ।
कालोऽनल्पतरोऽप्यगात् क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदयाद्
उद्भूतं प्रमदावहं षड्ऋतुजैर्भोगैरतिस्वादुभि ॥२०१॥
नानारत्न[1]निधानदेशविलसत्सम्पत्तिगुर्वीमिमा
साम्राज्यश्रियमेकभोगनियता[2] कृत्वाऽखिला पालयन् ।
योऽभून्नैव किलाकुल कुलवधूमेकामिवाङ्कस्थितां
सोऽयं चक्रधरोऽभु[3]नक् भुवममूमेकातपत्रा चिरम् ॥२०२॥
यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्डभूषा[4] मही
येना[5]सेतुहिमाद्रिरक्षितमिद क्षेत्र कृतारिक्षयम् ।
यस्याविर्निधिरत्नसम्पदुचिता लक्ष्मीर्वशायिनी
स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिभुजामग्रेसरोऽभूत् प्रभु ॥२०३॥
य स्तुत्यो जगता त्रयस्य न पुन स्तोता स्वय कस्यचिद्
ध्येयो योगिजनस्य यश्च न तरा ध्याता स्वय कस्यचित् ।
यो न न्तृनपि[6] नेतुमुन्नतिमल[7] न तव्यपक्षे[8] स्थित
स श्रीमान् जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देव पुरु पावन ॥२०४॥

है ॥१९१–२००॥ इस प्रकार जिसने सम्पदाए प्रकट की है, जिसने समस्त राजाओको जीत लिया है, और जो दूसरेके शासनसे रहित अपने छह खण्डकी विस्तृत राज्यलक्ष्मीको निरन्तर फैलाता रहता है ऐसे उस चक्रवर्ती भरतका बडा भारी समय पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए, सब तरहका आनन्द देनेवाले और अत्यन्त स्वादिष्ट छहो ऋतुओके भोगोके द्वारा क्षण-भरके समान व्यतीत हो गया था ॥२०१॥ अनेको रत्नो, निधियो और देशोसे सुशोभित हुई सम्पत्तिके द्वारा जो भारी गौरवको प्राप्त हो रही है ऐसी इस समस्त साम्राज्यलक्ष्मीको एक अपने ही उपभोग करनेके योग्य बनाकर उसका पालन करता हुआ जो चक्रवर्ती गोदमें बैठी हुई कुलवधूकी रक्षा करते हुएके समान कभी व्याकुल नही हुआ वह भरत एक छत्रवाली इस पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा था ॥२०२॥ छह खण्डोसे विभूषित पृथिवी जिसके नामसे भरतभूमि नामको प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान् पर्वततकके इस क्षेत्रमें शत्रुओका क्षय कर उसकी रक्षा की, तथा प्रकट हुई निधि और रत्न आदि सम्पदाओसे योग्य लक्ष्मी जिसके वश स्वयं आकर शयन करती थी वह प्रभु—श्रीमान् भरतेश्वर निधियोके स्वामी अर्थात् चक्रवर्तियोमें प्रथम और मुख्य चक्रवर्ती हुआ था ॥२०३॥ जो तीनो जगत्के जीवोके द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं परन्तु जो स्वय किसीकी स्तुति नही करते, बडे बडे योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं परन्तु जो किसीका ध्यान नही करते, जो नमस्कार करनेवालोको भी उन्नत स्थानपर ले जानेके लिये समर्थ हैं परन्तु स्वय नमस्कार करने योग्य पक्षमें स्थित हैं अर्थात् किसीको नमस्कार नही करते वे तीनो जगत्के गुरु अत्यन्त पवित्र श्रीमान् भगवान्

---

१ निधि। २ आत्मन एकस्यैव भोगनियताम्। ३ पालयति स्म। ४ षट्खण्डालङ्कृता। ५ दक्षिणसमुद्रात् प्रारभ्य हिमवत्पर्वतपर्यन्तम्। ६ नमनशीलान्। ७ समर्थ। ८ नमस्कार्यपक्षे। स्वयं केनापि नम्य अन्यथ।

य नत्वा पुनरानमन्ति न परं स्तुत्वा च यं नापरं
भव्या संस्तुवते श्रयन्ति न परं यं संश्रिता श्रेयसे ।
यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरम्
स श्रीमान् वृषभो जिनो [1]भवभयात्त्रायतां तीर्थकृत् ॥२०५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण
महापुराणसङ्ग्रहे भरतेश्वराभ्युदयवर्णनं नाम
सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ॥३७॥

वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२०४॥ भव्य लोग जिन्हें नमस्कार कर फिर किसी अन्यको नमस्कार नहीं करते, जिनकी स्तुति कर फिर किसी अन्यकी स्तुति नहीं करते, जिनका आश्रय लेकर कल्याणके लिये फिर किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते, और बुद्धिमान् लोग जिनका सबने आदर किया है ऐसे जिनका सत्कार कर फिर किसी अन्यका सत्कार नहीं करते वे श्रीमान् वृषभ जिनेन्द्र तीर्थंकर हम सबकी संसारके भयसे रक्षा करें ॥२०५॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
भाषानुवादमें भरतेश्वरके वैभवका वर्णन करनेवाला यह
सैंतीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ संसारभीतेस्त्रायताम् ।

अष्टात्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिल[1]वाङ्मार्गगामिन्य सूक्तयोऽर्हताम् । धूतान्धतमसा दीप्रा यास्त्विषोंऽशुमतामिव ॥१॥
स जीयात् वृषभो मोहविषसुप्तमिद जगत् । पटविद्येव[2] यद्विद्या सद्य समुदतिष्ठपत् ॥२॥
स नत्वा परम ज्योति वृषभ वीरमन्वत । द्विजन्मनामथोत्पत्ति वक्ष्ये श्रेणिक भो शृणु ॥३॥
भरतो भारत वर्ष[3] निर्जित्य सह पार्थिवै । षष्ट्या वर्षसहस्रैस्तु दिशा निवृते जयात् ॥४॥
कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे सम्पदास्माकी सोपयोगा कथ भवेत् ॥५॥
महामहमह कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्व विष्वक् [4]विश्राणयन् धनम् ॥६॥
नानगारा वसून्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति नि स्पृहा । सागार कतम[5] पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभि ॥७॥
[6]येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया[7] गृहमेधिनाम् । तर्पणीया हि तेऽस्माभि ईप्सितैर्वसुवाहनै ॥८॥
इति निश्चित्य राजेन्द्र सत्कर्तुमुचितानिमान् । [8]परीक्षिक्षिषुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुज ॥९॥
सदाचारैर्निजैरिष्टै अनुजीविभि[9]रन्विता । मद्यास्मदुत्सवे यूयम् आयातेति[10] पृथक् पृथक् ॥१०॥
हरितैरङ्कुरै पुष्पै फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । सम्राडचीकरत्तेषा परीक्षार्थं स्ववेश्मनि ॥११॥
तेष्वव्रता विना सङ्गात्[11] प्राविक्षन् नृपमन्दिरम् । तानेकत समुत्सार्य शेषानाह्वययत् प्रभु ॥१२॥

जो समस्त भाषाओमे परिणत होनेवाली है, जिसने अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट कर दिया है और जो सूर्यकी किरणोके समान देदीप्यमान है वह अरहन्त भगवान्‌की सुन्दर वाणी सदा जयवन्त हो ॥१॥ गारुडी विद्याके समान जिनकी विद्याने मोहरूपी विषसे सोये हुए इस समस्त ससारको बहुत शीघ्र जगा दिया वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते है कि हे श्रेणिक, मै उन परमज्योति-स्वरूप भगवान् वृषभदेव तथा भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कारकर अब यहासे द्विजोकी उत्पत्ति कहता हू सो सुनो ॥३॥ भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओके साथ भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमे दिग्विजयसे वापिस लौटे ॥४॥ जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्तमे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरेके उपकारमें मेरी इस सपदाका उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ मै श्री जिनेन्द्रदेवका बडे ऐश्वर्यके साथ महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त ससारको सतुष्ट करू ? ॥६॥ सदा नि स्पृह रहनेवाले मुनि तो हम लोगोसे धन लेते नही है परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्तिके द्वारा पूजा करनेके योग्य है ॥७॥ जो अणु व्रतको धारण करनेवाले है, धीर वीर है और गृहस्थोमे मुख्य है ऐसे पुरुष ही हम लोगोके द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनोके द्वारा तर्पण करनेके योग्य है ॥८॥ इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करनेके योग्य व्यक्तियोकी परीक्षा करनेकी इच्छासे राजराजेश्वर भरतने उस समय समस्त राजाओको बुलाया ॥९॥ और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर चाकर आदिके साथ आज हमारे उत्सवमे अलग अलग आवे ॥१०॥ इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिये अपने घरके आगनमें हरे हरे अकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये ॥११॥ उन लोगोमें जो अव्रती थे वे

---

१ सर्वभाषात्मिका इत्यर्थं । २ गारुडविद्या । ३ क्षेत्रम् । ४ वितरन् । ५ कश्चन । ६ आगतता- म० । ७ धुरीणा । ८ परीक्षितुमिच्छु । ९ भृत्यै । १० आगच्छत । ११ विचारात् प्रतिबन्धाद् वा ।

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थम् ईहमानाः[1] महान्वयाः। नैषुः[2] प्रवेशनं तावद् यावदार्द्राङ्कुराः पथि ॥१३॥
सधान्यैर्हरितैः कीर्णम् अनाक्रम्य नृपाङ्गणम्। निश्चक्रमुः[3] कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरवः ॥१४॥
कृतानुबन्धना[4] भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम्। प्रासुकेन[5] पथान्येन भेजुः क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५॥
प्राक् केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः। केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥१६॥
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम्[6]। न कल्पतेऽद्य तज्जानां[7] जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम्[8] ॥१७॥
सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु। निगोता इति सार्वज्ञं[9] देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८॥
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तम् [10]अद्यत्वे त्वद्गृहाङ्गणम्। कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः[11] फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥
इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान्। पूजयामास लक्ष्मीवान् [12]दानमानादिसत्कृतैः ॥२०॥
तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः। [13]उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राह्वैः एकाद्येकादशान्तकैः ॥२१॥
गुणभूमिकृताद् भेदात्[14] क्लृप्त[15]यज्ञोपवीतिनाम्। सत्कारः क्रियते स्मैषाम् अव्रताश्च बहिः कृताः ॥२२॥
अथ ते कृतसन्माना चक्रिणा व्रतधारिणः। भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं [16]लोकश्चैनानपूजयत् ॥२३॥
इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥

बिना किसी सोच-विचारके राजमन्दिरमें घुस आये। राजा भरतने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगोंको बुलाया ॥१२॥ परन्तु बड़े बड़े कुलमें उत्पन्न हुए और अपने व्रतकी सिद्धिके लिये चेष्टा करनेवाले उन लोगोंने जब तक मार्गमें हरे अंकुर हैं तब तक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥१३॥ पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे धान्योंसे भरे हुए राजाके आंगनको उल्लंघन किये बिना ही वापिस लौटने लगे ॥१४॥ परन्तु जब चक्रवर्तीने उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्गसे राजाके आंगनको लांघकर उनके पास पहुंचे ॥१५॥ आप लोग पहले किस कारणसे नहीं आये थे, और अब किस कारणसे आये हैं, ऐसा जब चक्रवर्तीने उनसे पूछा तब उन्होंने नीचे लिखे अनुसार उत्तर दिया ॥१६॥ आज पर्वके दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदिका विघात नहीं किया जाता और न जो अपना कुछ बिगाड़ करते हैं ऐसे उन कोंपल आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका भी विनाश किया जाता है ॥१७॥ हे देव, हरे अंकुर आदिमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञदेवके वचन हमलोगोंने सुने हैं ॥१८॥ इसलिये जिसमें गीले गीले फल, पुष्प और अंकुर आदिसे शोभा की गई है ऐसा आपके घरका आंगन आज हम लोगोंने नहीं खूंदा है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोंसे प्रभावित हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोंमें दृढ़ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान मान आदि सत्कारसे सम्मानित किया ॥२०॥ पद्म नामकी निधिसे प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तककी संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रसे (व्रतसूत्रसे) उन सबके चिह्न किये ॥२१॥ प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया ॥२२॥ अथानन्तर चक्रवर्तीने जिनका सम्मान किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने अपने व्रतोंमें और भी दृढ़ताको प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे ॥२३॥ भरतने उन्हें उपासकाध्ययनांगसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और

---

१ चेष्टमानाः। २ नेच्छन्ति स्म। ३ निर्गताः। ४ निर्बन्धाः। ५ मार्गेण। ६ हिंसनम्। ७ प्रवालपत्रपुष्पादिजातानाम्। ८ अस्माकम्। ९ अहिंसकानाम्। १० सर्वज्ञसम्बन्धि। ११ इदानीम्। १२ नितरामार्द्रैः। १३ पद्मादि[illegible]। १४ भेदात्। १५ दर्शनादि[illegible]विभागात्। १६ दृढं। १७ जनः।

कुलधर्मोऽयमित्येषाम् अर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिः अन्ववोचदनुक्रमात् ॥२५॥
प्रोक्ता पूजार्हता[1]मिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्[2] । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥
तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥२७॥
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥२८॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥२९॥
महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०॥
दत्त्वा [3]किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥३१॥
आष्टाह्निको महः सार्वजनिको[4] रूढ एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥३२॥
बलिस्नपनमित्यन्यः त्रिसन्ध्यासेवया समम् । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥३३॥
एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्[5] ॥३४॥
वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः[6] । चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दयापात्रसमान्वये ॥३५॥
सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा । त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥३६॥
महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम्[7] । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥३७॥

तपका उपदेश दिया ॥२४॥ यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥२५॥ वे कहने लगे कि अर्हन्त भगवान्‌की पूजा नित्य करनी चाहिये, वह पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक ॥२६॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है ॥२७॥ अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिख-कर ग्राम खेत आदिका दान देना भी सदार्चन (नित्यमह) कहलाता है ॥२८॥ इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्य-मह समझना चाहिये ॥२९॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिये । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥३०॥ जो चक्रवर्तियों-के द्वारा किमिच्छक (मुँहमाँगा) दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्‌के समस्त जीवों-की आशाएँ पूर्ण की जाती हैं वह कल्पद्रुम नामका यज्ञ कहलाता है । भावार्थ–जिस यज्ञमें कल्पवृक्षके समान सबकी इच्छाएँ पूर्ण की जावें उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते हैं, यह यज्ञ चक्रवर्ती ही कर सकते हैं ॥३१॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्‌में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इनके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है ॥३२॥ बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओंमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं ॥३३॥ इस प्रकारकी विधिसे जो जिनेन्द्रदेवकी महापूजा की जाती है, उसे विधिके जाननेवाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते हैं ॥३४॥ विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गई हैं ॥३५॥

अनुग्रह करने योग्य प्राणियोंके समूहपर दयापूर्वक मन वचन कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेको पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं ॥३६॥ महातपस्वी मुनियोंके लिये

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । [1]निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्[2] ॥३८॥
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते[3] । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता[4] श्रद्धयाऽन्विता ॥३९॥
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां[5] स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥४०॥
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१॥
विशुद्धा वृत्तिरेषैषा षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः[6] ॥४२॥
तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥४३॥
अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा । दत्तीज्याधीति[7]मुख्यत्वाद् व्रतशुद्ध्या सुसंस्कृता[8] ॥४४॥
मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । [9]वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा [10]न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६॥
तपःश्रुताभ्यामेवातो[11] जातिसंस्कार इष्यते । असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७॥
द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥४८॥
तदेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९॥

सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं ॥३७॥ क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिमें जो अपने समान है तथा जो संसारसमुद्रसे पार कर देनेवाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिये पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है ॥३८–३९॥ अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिये पुत्रको समस्त कुलपद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं। शास्त्रोंकी भावना (चिन्तवन) करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है ॥४०–४१॥ यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है ॥४२॥ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं, जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥४३॥ इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है इसलिये इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो गई है ॥४४॥ यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गई है ॥४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ इसलिये द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते हैं परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनोंसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है ॥४८॥ इसलिये इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिये नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ॥४९॥

---

१ संसारसागरात्तारक । २ दानम् । ३ मध्यमत्वं गते । ४ प्रवृत्ता ल० । ५ सद्रव्यधनाभ्याम् । ६ गुणैर्द्विजः स०, अ०, प०, म० द० । ७ स्वाध्याय । ८ सुसंस्कृता मती । ९ वर्तन । १० नीचवृत्ति । ११ अतः कारणात् ।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥५०॥
गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः ॥५१॥
आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२॥
कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः । तासां यथाक्रमं नाम[1]निर्देशोऽयमनूद्यते[2] ॥५३॥
अङ्गानां[3] सप्तमादङ्गाद्[4] दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये[5] प्राप्तं ज्ञानलवं मया ॥५४॥
आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्याननिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः । उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥५७॥
मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥५८॥
स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिः निस्सङ्गत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसंप्राप्तिः योगनिर्वाणसाधनम् ॥५९॥
इन्द्रोपपादाभिषेकौ विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०॥
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशाञ्जयः ॥६१॥
चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसन्महः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२॥
त्रयः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३॥
अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥६४॥
इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिः उपनीत्यादयः[7] क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्ताः ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥६५॥

उन्होंने कहा कि श्रावकाध्याय संग्रहमें वे क्रियाएं तीन प्रकारकी कही गई हैं, सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली हैं ॥५०॥ गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएं मानी हैं ॥५१॥ गर्भान्वय क्रियाएं, आधान आदि तिरेपन जानना चाहिये और दीक्षान्वय क्रियाएं अड़तालीस समझना चाहिये ॥५२॥ इनके सिवाय उस विषयके जानकार विद्वानोंने कर्त्रन्वय क्रियाएं सात संग्रह की हैं। अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ जो समुद्रसे भी दुस्तर हैं ऐसे बारह अंगोंमें सातवें अंग (उपासकाध्ययनांग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए आठ श्लोकोंमें प्रकट करता हूं ॥५४॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि संख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृत्भावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३० निःसंगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसन्मह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति । परमागम में ये गर्भसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरपन क्रियाएं मानी गई हैं ॥५५–६३॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता

---

१ नामसंकीर्तनम्। २ अनुवाद्यते। ३ –द्वादशाङ्गानाम् मध्ये। ४ उपासकाध्ययनात्। ५ उद्देन वदिष्ये इत्यर्थः। ६ अभ्युपगम। ७ गर्भान्वयक्रियाम् आदौ त्रयोदशक्रिया मुक्त्वा शेषा उपनीत्यादय।

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया या प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः । फलरूपतया वृत्ताः[1] सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥६८॥
क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो बहुभेदो महर्षिभिः । सङ्क्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये सञ्चक्ष्य[2] विस्तरम् ॥६९॥
आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः । पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥७०॥
[3]तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चामभितः[4] स्थाप्यं समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ॥७१॥
त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः[5] सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः[6] ॥७२॥
[7]तेष्वर्हदिज्याशेषांशैः आहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया[8] ॥७३॥
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि[9] । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४॥
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां[10] मतो जिनैः । अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त[11] उपासकैः ॥७५॥
गर्भाधानक्रियामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्यां [12]न्यवेयताम् ॥७६॥

इति गर्भाधानम् ।

इन कही हुई आठ क्रियाओंके साथ उपनीति नामकी चौदहवीं क्रियासे तिरपनवीं निर्वाण (अग्र-निर्वृति) क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं ॥६४–६५॥ कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फल स्वरूप प्रवृत्त होती हैं ॥६६॥ १ सज्जाति २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण ये सात स्थान तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान्के वचनरूपी अमृतके आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥६७–६८॥ महर्षियोंने इन क्रियाओंका समूह अनेक प्रकारका माना—अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़कर संक्षेपसे ही उनके लक्षण कहता हूँ ॥६९॥ चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नीको आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥७०॥ इस आधान क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र, बाईं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करे ॥७१॥ अर्हन्त भगवान् (तीर्थंकर) के निर्वाणके समय, गणधरदेवोंके निर्वाणके समय और सामान्य केवलियोंके निर्वाणके समय जिन अग्नियोंमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप ही तैयार करनी चाहिये ॥७२॥ प्रथम ही अर्हन्त देवकी पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए पवित्र द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिये ॥७३॥ उन आहुतियोंके मन्त्र आगेके पर्वमें शास्त्रानुसार कहे जावेंगे। वे पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥७४॥ श्रीजिनेन्द्रदेवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें बतलाया है इसलिये उस विषयके जानकार श्रावकोंको व्यामोह (प्रमाद) छोड़कर उन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये ॥७५॥ इस प्रकार कही हुई इस गर्भाधानकी क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके फिर स्त्री-पुरुष दोनोंको विषयानुरागके बिना केवल सन्तानके लिये समागम करना चाहिये ॥७६॥ इस प्रकार यह गर्भाधान क्रियाकी विधि समाप्त हुई।

---

१ प्रवर्तिताः । २ क्रियाकलापम् । ३ वर्जयित्वा । ४ तत्र आदानक्रियायाम् । तत्रार्चनविधौ ल० । ५ जिनबिम्बस्य समन्तात् । ६ संस्कार्याः । ७ सिद्धप्रतिमाधिष्ठितवेद्याः समीपाश्रिताः । ८ अग्निषु । ९ वाञ्छया । १० सर्गे । ११ मन्त्राणाम् । १२ मन्त्राः । १३ विधीयताम् ल० । न्यवीयताम् द० । अभिगम्यताम् ।

गर्भाधानात् परं मासे तृतीये सम्प्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैः यानुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७॥
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिनाम् । द्वारि तोरणविन्यासः पूर्णकुम्भौ च सम्मतौ ॥७८॥
तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः[1] । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥७९॥
इति प्रीतिः ।

आधानात् पञ्चमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०॥
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्विम्बसंनिधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१॥
इति सुप्रीतिः ।

धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्क्रियादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥८२॥
इति धृतिः ।

नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवादृतैः कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥८३॥
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो[2] मङ्गल्यं[3] च प्रसाधनम्[4] । रक्षासूत्रविधानं[5] च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४॥
इति मोदः ।

प्रियोद्भवः प्रसूतायां[6] जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥
अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः । भूयान्[7] समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६॥
इति प्रियोद्भवः ।

गर्भाधानके बाद तीसरे माहमें प्रीति नामकी क्रिया होती है जिसे संतुष्ट हुए द्विज लोग करते हैं ॥७७॥ इस क्रियामें भी पहलेकी क्रियाके समान मन्त्रपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये, दरवाजेपर तोरण बांधना चाहिये तथा दो पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये ॥७८॥ उस दिनसे लेकर गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घंटा और नगाड़े बजवाने चाहिये॥७९॥ यह दूसरी प्रीति क्रिया है।

गर्भाधानसे पांचवें माहमें सुप्रीति क्रिया की जाती है जो कि प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकोंके द्वारा की जाती है॥८०॥ इस क्रियामें भी मन्त्र और क्रियाओंको जाननेवाले श्रावकोंको अग्नि तथा देवताकी साक्षी कर अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमाके समीप पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिये ॥८१॥ यह तीसरी सुप्रीति नामकी क्रिया है।

जिनका आदर किया गया है और जिनका चित्त व्याकुल नहीं है ऐसे गृहस्थोंको गर्भकी वृद्धिके लिये गर्भसे सातवें महीनेमें पिछली क्रियाओंके समान ही धृति नामकी क्रिया करनी चाहिये ॥८२॥ यह चौथी धृति नामकी क्रिया है।

तदनन्तर नौवें महीनेके निकट रहनेपर मोद नामकी क्रिया की जाती है यह क्रिया भी पिछली क्रियाओंके समान आदरयुक्त उत्तम द्विजोंके द्वारा गर्भकी पुष्टिके लिये की जाती है॥८३॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबन्ध करना चाहिये अर्थात् मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिये, मङ्गलमय आभूषणादि पहिनाना चाहिये और रक्षाके लिये कंकणसूत्र आदि बांधनेकी विधि करनी चाहिये ॥८४॥ यह पांचवीं मोदक्रिया है।

तदनन्तर प्रसूति होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है। यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान्‌का स्मरण कर विधिपूर्वक करनी चाहिये ॥८५॥ इस क्रियामें क्रिया मन्त्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत भारी हैं इसलिये इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनाङ्गसे प्राप्त करना चाहिये ॥८६॥ यह छठवीं प्रियोद्भव क्रिया है।

---

१ ध्वनान्वित स० । २ गात्रेषु बीजाक्षराणां मन्त्रपूर्वकं न्यासः । ३ शोभनम् । ४ अलङ्कारः । ५ रक्षार्थं कङ्कणसूत्रबन्धनविधानम् । ६ प्रसूतायां सत्याम् । ७ महान् ।

द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम् । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥
यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्राद् वा जिननामकदम्बकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥८९॥
इति नामकर्म ।

बहिर्यानं ततो [1]द्वित्रैर्मासैस्त्रिचतुरैरुत[2] । यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यं तूर्यादिमङ्गलैः ॥९०॥
ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः[3] । बहिःप्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥९१॥
तत्र बन्धुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः[4] । स तस्योत्तरकालेऽर्थ्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥९२॥
इति बहिर्यानम् ।

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तल्प[5] आस्तीर्णे[6] कृतमङ्गलसन्निधौ ॥९३॥
सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र[7] च । यतो[8] दिव्यासनार्हत्वम् अस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥९४॥
इति निषद्या ।

जन्मदिनसे बारह दिनके बाद, जो दिन माता पिता और पुत्रके अनुकूल हो, सुख देनेवाला हो उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियोंकी पूजा करनी चाहिये, द्विजोंका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये तथा जो वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालकका रखना चाहिये ॥८८॥ अथवा जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोंके समूहसे घटपत्रकी विधिसे कोई एक शुभ नाम ग्रहण कर लेना चाहिये। भावार्थ–भगवान् के एक हजार आठ नामोंको एक हजार आठ कागजके टुकड़ोंपर अष्टगन्धसे सुवर्ण अथवा अनार की कलमसे लिखकर उनकी गोली बना लेवे और पीले वस्त्र तथा नारियल आदिसे ढके हुए एक घड़ेमें भर देवे, कागजके एक टुकड़ेपर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवे इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ोंकी गोलियां बनाकर इन सबको एक दूसरे घड़ेमें भर देवे, अनन्तर किसी अबोध कन्या या बालकसे दोनों घड़ोंमेंसे एक एक गोली निकलवाता जावे। जिस नामकी गोलीके साथ 'नाम' ऐसा लिखी हुई गोली निकले वही नाम बालकका रखना चाहिये। यह घटपत्र विधि कहलाती है ॥८९॥ यह मानवीं नामकर्म क्रिया है।

तदनन्तर दो-तीन अथवा तीन-चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि माङ्गलिक बाजोंके साथ साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिये ॥९०॥ जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमें बैठे हुए बालकका प्रसूतिगृहसे बाहर ले जाना शास्त्रसम्मत है ॥९१॥ उस क्रियाके करते समय बालकको भाई बान्धव आदिसे पारितोषिक भेंटरूपसे जो कुछ धनकी प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर, जब वह पुत्र पिताके धनका अधिकारी हो तब उसके लिये सौंप देवे ॥९२॥ यह आठवीं बहिर्यान क्रिया है।

तदनन्तर, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रखे हुए हैं और जो बालकके योग्य हैं ऐसे बिछाये हुए आसनपर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है अर्थात् उसे उत्तम आसनपर बैठालते हैं ॥९३॥ इस क्रियामें सिद्ध भगवान्‌की पूजा करना आदि सब विधि पहलेके समान ही करनी चाहिये जिससे इस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता होती रहे ॥९४॥ यह नौवीं निषद्या क्रिया है।

---

१ द्वौ वा त्रयो वा द्विमासैः । २ अथवा । ३ प्रसववेश्मनः सकाशात् । ४ परितोषे भवः । ५ शय्यायाम् । ६ विस्तीर्णे । ७ निषद्याक्रियायाम् । ८ निषद्याक्रियायाः ।

गते मासपृथक्त्वे[1] च जन्मादस्य[2] यथाक्रमम् । अन्नप्राशनमाम्नातं पूजाविधिपुरःसरम् ॥९५॥

इति अन्नप्राशनम् ।

ततोऽस्य हायने[3] पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम्[4] ॥९६॥

[5]अत्रापि पूर्ववद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशनादिश्च[6] सत्क्रियताम् ॥९७॥

इति व्युष्टिः ।

केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम्[7] । क्षौरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥९८॥

गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् । मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं[8] स्वान्वयोचितम्[9] ॥९९॥

स्नपनोदकधौताङ्गम् अनुलिप्तं सभूषणम्[10] । प्रणमय्य[11] मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुताशिषा[12] ॥१००॥

चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमङ्गला । क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ॥१०१॥

इति केशवापः ।

ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥१०२॥

यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती[13] गृहव्रती ॥१०३॥

इति लिपिसंख्यानसंग्रहः ।

क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना ॥१०४॥

जब क्रम क्रमसे सात आठ माह व्यतीत हो जाये तब अर्हन्त भगवान्की पूजा आदि कर बालकको अन्न खिलाना चाहिये ॥९५॥ यह दसवीं अन्नप्राशन क्रिया है।

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है इस क्रियाका दूसरा नाम शास्त्रानुसार वर्षवर्धन है ॥९६॥ इस क्रियामें भी पहले ही के समान दान देना चाहिये, जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनी चाहिये, इष्टबन्धुओंको बुलाना चाहिये और सबको भोजन कराना चाहिये ॥९७॥ यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है।

तदनन्तर किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजाके साथ साथ क्षौरकर्म अर्थात् उस्तरासे बालकके बाल बनवाना केशवाप क्रिया कहलाती है ॥९८॥ प्रथम ही बालोंको गन्धोदकसे गीला कर उनपर पूजाके बचे हुए शेष अक्षत रक्खे और फिर चोटी सहित अथवा अपनी कुलपद्धतिके अनुसार उसका मुंडन करना चाहिये ॥९९॥ फिर स्नान करानेके लिये लाये हुए जलसे जिसका समस्त शरीर साफ कर दिया गया है, जिस पर लेप लगाया गया है और जिसे उत्तम आभूषण पहिनाये गये हैं ऐसे उस बालकसे मुनियोंको नमस्कार करावे, पश्चात्, सब भाई, बन्धु उसे आशीर्वादसे युक्त करे ॥१००॥ इस क्रियामें पुण्याह-मंगल किया जाता है और यह चौल क्रिया नामसे प्रसिद्ध है इस क्रियामें आदरको प्राप्त हुए लोग बड़े हर्षसे प्रवृत्त होते हैं ॥१०१॥ यह केशवाप नामकी बारहवीं क्रिया है।

तदनन्तर पांचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेके लिये लिपिसंख्यान नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१०२॥ इस क्रियामें भी अपने वैभवके अनुसार पूजा आदिकी सामग्री जुटानी चाहिये और अध्ययन करानेमें कुशल व्रती गृहस्थको ही उस बालकके अध्यापकके पदपर नियुक्त करना चाहिये ॥१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंख्यान क्रिया है।

गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है। इस क्रियामें केशोंका मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धनकी क्रियाएं की

---

१ सप्ताष्टमासे। २ जन्मदिनात् प्रारभ्य। ३ तदनुसारे। 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समा' इत्यभिधानात्। ४ शास्त्रानुसारेण। ५ तत्रापि ल०। ६ सहभोजनादि। ७ अपनयनम्। ८ चूडासहितम्। शिखासहितमित्यर्थः। ९ चान्वयोचितम् प०। चान्वयोचितम् द०। १० अलङ्कार-भूषितम्। ११ मुनिभ्यो नमनं कारयित्वा। १२ बन्धुसमूहकृताशीर्वचनेन। १३ अधीतवान्।

कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये। गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥१०५॥
शिखी सिताशुकः सान्तर्वासा[1] निर्वेषविक्रियः[2]। व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं[3] तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥१०६॥
चरणोचितमन्यच्च[4] नामधेयं तदस्य[5] वै। वृत्तिश्च भिक्षयान्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्[6] ॥१०७॥
'सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां[7] नियोग इति केवलम्। 'तदग्रं[8] देवसात्कृत्य[9] ततोऽन्नं योग्यमाहरेत्[10] ॥१०८॥
इत्युपनीतिः।
व्रतचर्यामतो[11] वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः। कट्यूरुउरःशिरोलिङ्गम् [12]अनूचानव्रतोचितम् ॥१०९॥
कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जीबन्धं त्रिभिर्गुणैः। रत्नत्रितयशुद्ध्यङ्गं तद्धि चिह्नं द्विजन्मनाम् ॥११०॥
तस्येष्टमूरुलिङ्गं च सुधौतसितशाटकम्[13]। आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥१११॥
उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः। यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥११२॥
शिरोलिङ्गं च तस्येष्टं परं मौण्ड्यमनाविलम्[14]। मौण्ड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयन् ॥११३॥
एवंप्रायेण[15] लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम्। स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहितम् ॥११४॥
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम्। न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५॥

जाती है ॥१०४॥ प्रथम ही जिनालयमें जाकर जिसने अर्हन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालकको व्रत देकर उसका मौञ्जीबन्धन करना चाहिये अर्थात् उसकी कमरमें मूंजकी रस्सी बांधनी चाहिये ॥१०५॥ जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद धोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारोंसे रहित है, तथा जो व्रतके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य और भी नाम रक्खे जा सकते हैं। उस समय बड़े वैभवशाली राजपुत्रको छोड़कर सबको भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह करना चाहिये और राजपुत्रको भी अन्तःपुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा मांगनी चाहिये, क्योंकि उस समय भिक्षा लेनेका यह नियोग ही है। भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो उसका अग्रभाग श्री अरहन्तदेवको समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करना चाहिये ॥१०७–१०८॥ यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है।

अथानन्तर ब्रह्मचर्य व्रतके योग्य कमर, जांघ, वक्षःस्थल और शिरके चिह्नको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी बालककी व्रतचर्या नामकी क्रियाका वर्णन करते हैं ॥१०९॥ तीन लरकी मूंजकी रस्सी बांधनेसे कमरका चिह्न होता है, यह मौंजीबन्धन रत्नत्रयकी विशुद्धिका अंग है और द्विज लोगोंका एक चिह्न है ॥११०॥ अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जांघका चिह्न है, वह धोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान्‌का कुल पवित्र और विशाल है ॥१११॥ उसके वक्षःस्थलका चिह्न सात लरका गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोंका सूचक है ॥११२॥ उसके शिरका चिह्न स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, कायके मुण्डनको बढ़ानेवाला है। भावार्थ–शिर मुण्डनसे मन, वचन, काय पवित्र रहते हैं ॥११३॥ प्रायः इस प्रकारके चिह्नोंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्यसे बढ़े हुए स्थूल हिंसाका त्याग (अहिंसाणु व्रत) आदि व्रत उसे धारण करना चाहिये ॥११४॥ इस ब्रह्मचारीको वृक्षकी दातौन नहीं करनी चाहिये, न पान खाना चाहिये, न अंजन लगाना चाहिये और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिये, उसे प्रतिदिन केवल

---

१ अन्तर्वस्त्रेण सहितः। २ वेषविकाररहितः। ३ यज्ञसूत्रम्। ४ वचनावाच्यम्। ५ तदास्य ल०। ६ राजतः। ७ पात्रे भिक्षा प्रार्थयेदिति यत्। ८ भिक्षान्नम्। ९ देवस्य वशं समर्प्य। १० भागाग्रं भुञ्जीत। ११ -मतः ल०। १२ ब्रह्मचर्यव्रत। १३ धवलवस्त्रम्। १४ कल्मषादिरहितम्। १५ एवं प्रकारेण।

न [1]खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् । भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥११६॥
यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात् तावदस्येदृशं व्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् यन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥११७॥
सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि[2] चाध्येयं नास्य [3]दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय [4]वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥११९॥
[5]ज्योतिर्ज्ञानमथ[6]च्छन्दोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम् । [7]संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥१२०॥
इति व्रतचर्या ।

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रत[8]वृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके[9] व्रते ॥१२१॥
मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥१२२॥
व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम्[10] । वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वम् अथवा षोडशात् परम् ॥१२३॥
कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥१२४॥
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्[11] धारयेच्छस्त्रमप्यदः । [12]स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥१२५॥
भोगब्रह्मव्रतादेवम् अवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं [13]तस्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा[14] ॥१२६॥
इति व्रतावतरणम् ।

जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिये ॥११५॥ उसे खाट अथवा पलंगपर नहीं सोना चाहिये, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगड़ना चाहिये, और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये अकेले पृथिवीपर सोना चाहिये ॥११६॥ जब तक विद्या समाप्त न हो तब तक उसे यह व्रत धारण करना चाहिये और विद्या समाप्त होनेपर वे व्रत धारण करना चाहिये जो कि गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते हैं ॥११७॥ सबसे पहले इस ब्रह्मचारीको गुरुके मुखसे श्रावकाचार पढ़ना चाहिये और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिये ॥११८॥ उत्तम संस्कारोंको जागृत करनेके लिये और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिये इस व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना चाहिये क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है ॥११९॥ इसके बाद ज्योतिष शास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदिका भी उसे विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिये ॥१२०॥ यह पन्द्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन कर लिया है ऐसे उस ब्रह्मचारीकी व्रतावतरण क्रिया होती है। इस क्रियामें वह साधारण व्रतोंका तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययनके समय जो विशेष व्रत ले रक्खे थे उनका परित्याग कर देता है। ॥१२१॥ इस क्रियाके बाद उसके मधुत्याग, मांसत्याग, पांच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पांच स्थूल पापोंका त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहनेवाले व्रत रह जाते हैं ॥१२२॥ यह व्रतावतरण क्रिया गुरुकी साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद करनी चाहिये ॥१२३॥ पहले द्विजोंका सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है और व्रतावतरणके बाद गुरुकी आज्ञासे वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण करना उचित है ॥१२४॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्गका है तो वह अपनी आजीविकाकी रक्षाके लिये शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभा-के लिये भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है ॥१२५॥ इस प्रकार इस क्रियामें यद्यपि वह भोगोपभोगोंके ब्रह्मव्रतका अर्थात् ताम्बूल आदिके त्यागका अवतरण (परित्याग) कर देता है तथापि

---

१ मञ्चक। २ नीतिशास्त्र। ३ दूष्यते ल० द०। ४ धाष्टर्य। ५ ज्योतिःशास्त्रम्। ६ छन्दःशास्त्रम्। ७ गणितशास्त्रम्। ८ वृत्ति जीवन। ९ साधारणे। १० कृताराधनम्। ११ वर्गे भव। १२ निजजीवन। १३ चास्य ल०। १४ वक्ष्यमाणा, वैवाहिकी।

ततोऽस्य [1]गुर्वनुज्ञानाद् इष्टा वैवाहिकी क्रिया। वैवाहिके[2] कुले कन्याम् उचितां परिणेष्यतः ॥१२७॥
सिद्धार्चनविधिं सम्यङ् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः। कृताग्नित्रयसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां[3] क्रियाम् ॥१२८॥
पुण्याश्रमे[4] क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः। दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२९॥
वेद्यां [5]प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम्। ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥१३०॥
पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम्। आसप्ताहं[6] चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥१३१॥
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च। स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥१३२॥
विमुक्तकङ्कणं पश्चात् स्वगृहे शयनीयकम्। अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३३॥
सन्तानार्थमृतावेव[7] कामसेवां मिथो भजेत्। शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं[8] क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥१३४॥
इति विवाहक्रिया।
एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठतः। स्वधर्मानतिवृत्त्यर्थं वर्णलाभमथो ब्रुवे ॥१३५॥
[9]ऊढभार्योऽप्ययं तावद् अस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे। ततः स्वातन्त्र्यसिद्ध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥१३६॥
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः। पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥१३७॥
तदापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमार्चनमग्रतः[10]। कृत्वास्यो[11]पासकान् मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद् धनम् ॥१३८॥

जब तक उसके आगेकी क्रिया नहीं होती तब तक वह काम परित्यागरूप ब्रह्मव्रतका पालन करता रहता है ॥१२६॥ यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है।

तदनन्तर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञासे वैवाहिकी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ उत्तम द्विजोंको चाहिये कि वे सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्‌की पूजा करें और फिर तीनों अग्नियोंकी पूजा कर उनकी साक्षीपूर्वक उस वैवाहिकी (विवाह सम्बन्धी) क्रियाको करें ॥१२८॥ किसी पवित्र स्थानमें बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके सामने वधू-वरका विवाहोत्सव करना चाहिये ॥१२९॥ वेदीमें जो तीन, दो अथवा एक अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणाएं देकर वधू-वरको समीप ही बैठना चाहिये ॥१३०॥ विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए वधू और वरको देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये ॥१३१॥ फिर अपने योग्य किसी देशमें भ्रमण कर अथवा तीर्थभूमिमें विहारकर वर और वधू बड़ी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥१३२॥ तदनन्तर जिनका कंकण छोड़ दिया है, ऐसे वर और वधू अपने घरमें समयानुसार भोगोपभोगके साधनोंसे सुशोभित शय्यापर शयन कर केवल संतान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर काम-सेवन करें। काम-सेवनका यह क्रम काल तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है इसलिये शक्तिहीन पुरुषोंके लिये इससे विपरीत क्रम समझना चाहिये अर्थात् उन्हें ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये ॥१३३–१३४॥ यह सत्रहवीं विवाह क्रिया है।

इस प्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गार्हस्थ्यधर्मका पालन कर रहा है ऐसा पुरुष अपने धर्मका उल्लंघन न करे इसलिये उसके अर्थ वर्णलाभ क्रियाको कहते हैं ॥१३५॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि वह जबतक पिताके घर रहता है तबतक अस्वतन्त्र ही है इसलिये उसको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये यह वर्णलाभकी क्रिया कही गई है ॥१३६॥ पिताकी आज्ञासे जिसे धनधान्य आदि सम्पदाएं प्राप्त हो चुकी हैं और मकान भी जिसे अलग मिल चुका है ऐसे पुरुषकी स्वतन्त्र आजीविका करने लगनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥१३७॥ इस क्रियाके समय

---

१ पितुरनुमतात्। २ विवाहोचित। ३ साक्षितां स०। ४ पवित्रप्रदेशे। ५ स्थापनम्। ६ सप्तदिवसपर्यन्तम्। ७ सन्तानार्थम् ऋतुकाल कामसेवाक्रम। ८ –मता अ०। ९ विवाहित। १० आदौ। ११ कृत्वास्योप–अ०।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३९॥
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरार्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय ॥१४०॥
इत्येवमनुशिष्यैनं¹ वर्णलाभे नियोजयेत् । ²सदाचारः सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सा त्विज्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४३॥

इति कुलचर्या क्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । ³गृहस्थाचार्यभावेन संश्रयेत् स गृहीशिताम् ॥१४४॥
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥
अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिताम् ॥१४६॥
वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ⁴ग्रामपतिर्मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥

इति गृहीशिता ।

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥

भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओंका पूजन कर पिता अन्य मुख्य श्रावकोंकी साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा वह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक्‌रूपसे रहो। तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिये। जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो। इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिये समर्थ होता है ॥१३८–१४१॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिये कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण हैं ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके हैं ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोंकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या क्रिया है।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढ़ताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोंका स्वामी बने॥१४४॥ फिर उसे आपको उत्तमवर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापित करनी चाहिये। जो दूसरे गृहस्थोंमें न पाई जावें ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएं, शास्त्रज्ञान और चारित्र आदिकी क्रियाओंसे अपने आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीश अर्थात् गृहस्थोंके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५–१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोंको उसका सत्कार करना चाहिये ॥१४७॥ यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार सभालनेमें समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

---

१ उपदिश्य। २ सदाचार स तद्धर्मं ल०, द०। ३ गृहस्थाचार्यस्वरूपेण। ४ ग्रामपति' प०, स०।

विषयेष्वनभिष्वङ्गो[1] नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४९॥
इति प्रशान्ति ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदास्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥
कुलक्रमस्त्वया तात सम्पाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो[2] द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ॥१५२॥
एकोंऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मनाम् ॥१५३॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्ततिं नोऽनुपालय ॥१५४॥
श्रुतवृत्तक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः । प्रपालय [3]कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥
इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥
इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षोपयिकात्[4] कालाद् एकशाटकधारिणः ॥१५७॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं[5] द्विजन्मनः ॥१५८॥
इति दीक्षाद्यम् ।

त्यक्तचेलादिसङ्गस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः[6] । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥

गृहस्थीका भार सौंप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय ले ॥१४८॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिये उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्‌का पूजन कर समस्त इष्टजनोंको बुलाना चाहिये और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिये सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिये ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिये कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है। मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिये कि उनमेंसे एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना चाहिये, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिये रखना चाहिये और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बांट देनेके लिये है। पुत्रोंके समान पुत्रियोंके लिये भी बराबर भाग देना चाहिये। हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब सन्तानका पालन कर। तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिका जाननेवाला है इसलिये आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये अपना घर छोड़ दे ॥१५२–१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयसे कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेसे पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं ॥१५७–१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जिनदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिगम्बररूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

---

१ निष्प्रेम । २ अस्माकम् । ३ कुलपरम्पराम् । ४ दीक्षास्वीकारात् प्राक् । ५ क्रियासमूहः । ६ गतस्य ।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३९॥
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय ॥१४०॥
इत्येवमनुशिष्यैनं[1] वर्णलाभे नियोजयेत् । [2]सदाचारः सोऽपि धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सा त्विज्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४३॥

इति कुलचर्या क्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । [3]गृहस्थाचार्यभावेन संश्रयेत् गृहीशिताम् ॥१४४॥
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥
अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिताम् ॥१४६॥
वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको [4]ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥

इति गृहीशिता ।

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥

भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओंका पूजन कर पिता अन्य मुख्य श्रावकोंको साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा यह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक्‌रूपसे रहो। तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिये। जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो। इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिये समर्थ होता है ॥१३८–१४१॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिये कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण हैं ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके हैं ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोंकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या क्रिया है।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढ़ताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोंका स्वामी बने॥१४४॥ फिर उसे आपको उत्तमवर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापित करनी चाहिये। जो दूसरे गृहस्थोंमें न पाई जावे ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएं, शास्त्रज्ञान और चारित्र आदिकी क्रियाओंसे अपने आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीश अर्थात् गृहस्थोंके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५–१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोंको उसका सत्कार करना चाहिये ॥१४७॥ यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार सम्हालनेमें समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

---

१ उपदिश्य। २ सदाचारः स तद्धर्मं स०, द०। ३ गृहस्थाचार्यस्वरूपेण। ४ ग्रामपतिः द०, स०।

विषयेष्वनभिष्वङ्गो[1] नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४९॥
इति प्रशान्तिः ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥
कुलक्रमस्त्वया तात सम्पाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो[2] द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ॥१५२॥
एकोंऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मनाम् ॥१५३॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्ततिं नोऽनुपालय ॥१५४॥
श्रुतवृत्तक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः । प्रपालय [3]कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥
इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥
इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षौपयिकात्[4] कालाद् एकशाटकधारिणः ॥१५७॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं[5] द्विजन्मनः ॥१५८॥
इति दीक्षाद्यम् ।

त्यक्तचेलादिसङ्गस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः[6] । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥

गृहस्थीका भार सौंप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय ले ॥१४८॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिये उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्‌का पूजन कर समस्त इष्टजनोंको बुलाना चाहिये और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिये सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिये ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिये कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलक्रम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है। मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिये कि उनमेंसे एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना चाहिये, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिये रखना चाहिये और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बाँट देनेके लिये है। पुत्रोंके समान पुत्रियोंके लिये भी बराबर भाग देना चाहिये। हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब संतानका पालन कर। तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिका जाननेवाला है इसलिये आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर। इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये अपना घर छोड़ दे ॥१५२–१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयके कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेके पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं ॥१५७–१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जिनदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिगम्बररूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

---

१ निःस्पृहः । २ अस्माकम् । ३ कुलपरम्पराम् । ४ दीक्षास्वीकारात् प्राक् । ५ क्रियासमूहः । ६ गतस्य ।

अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्सङ्गतामुख्यं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६०॥

इति जिनरूपता ।

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्ते पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वम् इष्टमाश्रुतनिष्ठितेः[1] ॥१६१॥

वाचंयमो[2] विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत[3] श्रुतं कृत्स्नम् आमूलाद् गुरुसन्निधौ ॥१६२॥

श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति ॥१६३॥

इति मौनाध्ययनवृत्तत्वम् ।

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्त्वस्य भावनाम् ॥१६४॥

सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६५॥

इति तीर्थकृद्भावना ।

ततोऽस्य विदिताशेषवेद्यस्य[4] विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ॥१६६॥

[5]ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥१६७॥

गुरुस्थानाभ्युपगमः ।

ततः सुविहितस्यास्य[6] युक्तस्य गणपोषणे । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥१६८॥

जिनका आत्मा कातर है ऐसे पुरुषोंको जिनरूप (दिगम्बररूप) का धारण करना कठिन है इसलिये जिसमें परिग्रह त्यागकी मुख्यता है ऐसा यह जिनेन्द्रदेवका रूप धीरवीर मनुष्योंके द्वारा ही धारण किया जाता है ॥१६०॥ यह चौबीसवीं जिनरूपता क्रिया है ।

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणकी विधिमें अर्थात् विधिपूर्वक आहार लेनेमें प्रवृत्त होता है ऐसे साधुका शास्त्रकी समाप्ति पर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करनेमें प्रवृत्ति होती है उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व कहते हैं ॥१६१॥ जिसने मौन धारण किया है, जिसका आत्मा विनय युक्त है, और मन वचन काय शुद्ध हैं ऐसे साधुको गुरुके समीपमें प्रारम्भसे लेकर समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये ॥१६२॥ क्योंकि इस विधिसे भव्यजीवोंके द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोकमें उनकी योग्यता बढ़ाता है और परलोकमें प्रसन्न रखता है ॥१६३॥ यह पच्चीसवीं मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्रका अध्ययन किया है, तथा अन्य शास्त्रोंके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थंकर पदकी भावनाओंका अभ्यास करे ॥१६४॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिनके लक्षण हैं जो महान् ऐश्वर्यको देनेवाली हैं तथा पहले जिनका विस्तारके साथ वर्णन किया जा चुका है ऐसी वे भावनाएँ सोलह मानी गई हैं ॥१६५॥ यह छब्बीसवीं तीर्थंकृद्भावना नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएँ जान ली हैं और जिसने अपने अन्तःकरणको वश कर लिया है ऐसे साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्रसम्मत है ॥१६६॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सम्पन्न है, अपने गुरुको इष्ट है अर्थात् जिसे गुरु अपना पद प्रदान करनेके योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुका पद प्राप्त करनेके योग्य है ॥१६७॥ यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है ।

तदनन्तर जो सदाचारका पालन करता है गण अर्थात् समस्त मुनिसंघके पोषण

---

१ श्रुतसमाप्तिपर्यन्तम् । २ मौनी । ३ अध्ययनं कुर्यात् । पिठ । ४ –विदस्य स०, द०, प० । ५ ज्ञानं मतिश्रुतज्ञानम् । विज्ञानं विशिष्टचारित्रम् । ६ सदाचारस्य ।

श्रावकानार्यिकासङ्घं श्राविकाः संयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ॥१६९॥
श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत् ॥१७०॥
सद्वृत्तान् धारयन्[1] सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् । शोधयंश्च कृतादागोमलात् स[2] बिभृयाद् गणम् ॥१७१॥

इति गणोपग्रहणम् ।

गणपोषणमित्याचिरं कृत्वाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसंक्रान्तौ यत्नवान् भवेत् ॥१७२॥
अधीतविद्यं तद्विद्यैराहतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ॥१७३॥
गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तिं स्वयं तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥

इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।

तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिदव्यये । कुर्यादेकविहारी स निःसङ्गत्वात्मभावनाम्[3] ॥१७५॥
निःसङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः सन् सच्चर्याशुद्धिं तदाश्रयेत् ॥१७७॥

इति निःसङ्गत्वात्मभावना ।

कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥१७८॥

करनेमें जो तत्पर रहना है उसे महर्षियोंने गणोपग्रहण नामकी क्रिया माना है ॥१६८॥ उस आचार्यको चाहिये कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ॥१६९॥ उसे यह भी चाहिये कि वह शास्त्र अध्ययनकी इच्छा करनेवालोंको दीक्षा देवे और धर्मात्मा जीवोंके लिये धर्मका प्रतिपादन करे ॥१७०॥ वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको प्रेरित करे, दुराचारियोंको दूर हटावे और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रितगणकी रक्षा करे ॥१७१॥ यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहण क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार संघका पालन करता हुआ वह उत्तम आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न सहित हो ॥१७२॥ जिसने समस्त विद्याएं पढ़ ली हैं और उन विद्याओंके जानकार उत्तम उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं ऐसे योग्य शिष्यको बुलाकर उसके लिये अपना भार सौंप दे ॥१७३॥ गुरुकी अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणोंका स्वयं पालन करे और समस्तसंघको पालन करावे ॥१७४॥ यह उन्तीसवीं स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है ।

इस प्रकार सुयोग्य शिष्यपर समस्त भार सौंपकर जो किसी कालमें दुःखी नहीं होता है ऐसा साधु अकेला विहार करता हुआ 'मेरा आत्मा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित है' इस प्रकारकी भावना करे ॥१७५॥ जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है और जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिये ॥१७६॥ शिष्य पुस्तक आदि सब पदार्थोंमें राग छोड़कर और निर्ममत्वभावनामें एकाग्र बुद्धि लगाकर उस समय उसे चारित्रकी शुद्धि धारण करनी चाहिये ॥१७७॥ यह तीसवीं निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार अपने आत्माका संस्कार कर जो सल्लेखना धारण करनेके लिये उद्यत हुआ है और जिसने सब प्रकारसे आत्माकी शुद्धि कर ली है ऐसा

---

१ धारयन् अ०, प०, इ०, स०, ल०, द० । २ शश्वत् । ३ [illegible] म० ।

योगो ध्यानं [1]तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसम्प्राप्तं परमं तपः ॥१७९॥
कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥
तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना[2] । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा [3]भव्यात्मलब्धये ॥१८१॥
रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संश्रयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसङ्कल्पाद् विरमेत्तदा ॥१८२॥
नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । [4]तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥
अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत् ॥१८४॥
यतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८५॥

इति निर्वाणसम्प्राप्तिः ।

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥१८६॥
उत्तमार्थे[5] कृतास्थानः[6] संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन् मनोवचः[7]कायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः ॥१८७॥
प्रणिधाय[8] मनोवृत्तिं पदेषु[9] परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८८॥
योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः[10] । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८९॥

इति योगनिर्वाणसाधनम् ।

पुरुष योगनिर्वाण क्रियाको प्राप्त हो ॥१७८॥ योग नाम ध्यानका है उसके लिये जो संवेगपूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाण संप्राप्ति कहते हैं ॥१७९॥ प्रथम ही शरीरको शुद्ध कर सल्लेखनाके योग्य आचरण करना चाहिये और फिर रागादि दोषोंके साथ शरीरको कृश करना चाहिये ॥१८०॥ जीवित रहनेकी आशा और मरनेकी इच्छा छोडकर 'यह भव्य है इस प्रकारका सुयश प्राप्त करनेके लिये संन्यास धारण करनेके पहले भावना की जाती है यह योगनिर्वाण कहलाता है ॥१८१॥ उस समय रागद्वेष छोडकर कल्याणकी प्राप्तिमें प्रयत्न करना चाहिये और जो पदार्थ आत्माके नहीं हैं उनमें 'यह मेरे हैं' इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिये ॥१८२॥ न मैं शरीर हूं, न मन हूं, न वाणी हूं और न इन तीनोंका कारण ही हूं। इस प्रकार तीनोंके विषयमें उद्विग्न न होकर अन्यत्व भावनाका चिन्तवन करना चाहिये ॥१८३॥ इस संसारमें मैं अकेला हूं, न मेरा कोई है और न मैं भी किसीका हूं, इस प्रकार उदार चित्त होकर एकत्वभावनाका अच्छी तरह चिन्तवन करना चाहिये ॥१८४॥ जो नित्य और अनन्त सुखका स्थान है ऐसे लोकके अग्रभाग अर्थात् मोक्षस्थानमें बुद्धि लगाकर उस योगीको योग (ध्यान) की सिद्धिके लिये योग निर्वाण क्रियाकी भावना करनी चाहिये। भावार्थ-सल्लेखनामें बैठे हुए साधुको संसारके अन्य पदार्थोंका चिन्तवन न कर एक मोक्षका ही चिन्तवन करना चाहिये ॥१८५॥ यह इक्यावनवीं योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है।

तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते[1] पुण्ये पुरोगताम्[2] ॥१९०॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशाः तेषूत्पादस्तपोबलात् । य स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१॥
ततोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥
अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजाम्बरदिव्यस्रङ्मणिभूषणभूषितः ॥१९३॥
दिव्यानुभावसंभूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोबुध्यते तदाऽऽत्मीयम् ऐन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥१९४॥
इति इन्द्रोपपादक्रिया ।
पर्याप्तमात्र एवाय[3] प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१९५॥
दिव्यसङ्गीतवादित्रमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैः निवृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥
ति (कि)रीटमुद्वहन् दीप्रं स्वसाम्राज्यैकलाञ्छनम् । सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥
स्रग्वी सदंशुको दीप्रं भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥१९८॥
इति इन्द्राभिषेकः ।
ततोऽयमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान् । पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥१९९॥
[4]स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृतः । सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकृती सुखमामरम्[5] ॥२००॥
तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम् । क्रियाद्वयं समाम्नातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥
इति विधिदानसुखोदयौ ।

ऊपर लिखे अनुसार योगोंका समाधान कर अर्थात् मन, वचन, कायको स्थिरकर जिसने प्राणोंका परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्यके आगे आगे चलनेपर इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥१९०॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं, तपश्चरणके बलसे उन इन्द्रोंमें जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है। वह इन्द्रोपपादक्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥१९१॥ तदनन्तर वह इन्द्र उसी उपपाद शय्यापर क्षणभरमें पूर्णयौवन हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥१९२॥ वह अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे सहित होता है और साथ साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणोंसे सुशोभित होता है। दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपदमें उत्पन्न हुआ हूं ॥१९३–१९४॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तैंतीसवीं क्रिया है।

पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान हो गया है ऐसे इन्द्रका फिर उत्तमदेव लोग इन्द्राभिषेक करते हैं ॥१९५॥ दिव्य संगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगल-गीतोंके शब्द और अप्सराओंके विचित्र नृत्योंसे जिसका इन्द्राभिषेक सम्पन्न हुआ है जो अपने साम्राज्यके मुख्य चिह्नस्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण कर रहा है, हर्षको प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका जयजयकार कर रहे हैं जो उत्तम मालाएं और वस्त्र धारण किये हुए है तथा देदीप्यमान वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा वह इन्द्र इन्द्रके पदपर आरूढ होकर अत्यन्त पूजाको प्राप्त होता है ॥१९६–१९८॥ यह चौंतीसवीं इन्द्राभिषेक क्रिया है।

तदनन्तर नम्रीभूत हुए इन उत्तम उत्तम देवोंको अपने अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामें प्रवृत्त होता है ॥१९९॥ अपने अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे सन्तुष्ट हुए देवोंसे घिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकालतक देवोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥२००॥

---

१ गुउ सति । २ अग्रसरत्वम् । ३ मम्पूर्ण प०, द० । ४ द्रव्य । ५ निजविमानैश्वर्यवितरणेन । ६ अमरसम्बन्धि ।

प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादाभिषेकदान[1]सुखोदया । इन्द्रत्यागाख्यमधुना सम्प्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
किञ्चिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्यामायुःस्थितौ सुरेट्[2] । बुद्ध्वा स्वर्गावतारं स्वं सोऽनुशास्त्यमरानिति ॥२०३॥
भो भो सुधाशना यूयम् अस्माभिः पालिताश्चिरम् । केचित् पित्रीयिता[3] केचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥२०४॥
पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचिन्नियोजिताः । वयस्यपीठ[4]मर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
स्वप्राणनिर्विशेषञ्च[5] केचित् त्राणाय सम्मताः । केचिन्मान्यपदे दृष्टाः पालका[6] स्वर्निवासिनाम् ॥२०६॥
केचिच्चमूचरस्थाने[7] केचिच्च स्वजनास्तथा । प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥२०७॥
केचित् परिजनस्थाने केचिच्चान्तःपुरे चराः । काश्चिद् वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८॥
इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिः मय्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
साम्प्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीः अद्य भूलोकगोचरा ॥२१०॥
युष्मत्साक्षि ततः[8] कृत्स्नं स्वं साम्राज्यं मयोज्झितम् । यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥२११॥
इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्य[9] तान् । कुर्वन्निन्द्रपदत्यागम् अव्यथा नैति[10] धीरधीः ॥२१२॥
इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्त्वभोगातिसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्वर्यं तादृशमप्यहो ॥२१३॥

इति इन्द्रत्यागः ।

इस प्रकार स्वर्गलोकमे उत्पन्न होनेके योग्य ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय नामकी दो क्रियाएं मानी गई है ॥२०१॥ ये पैंतीसवी और छत्तीसवी विधिदान तथा सुखोदय क्रियाएं है।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय ये इन्द्र सम्बन्धी चार क्रियाएं कही। अब इन्द्रत्याग नामकी पृथक् क्रियाका निरूपण करता हू ॥२०२॥ इन्द्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोडी रहनेपर अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोको इस प्रकार उपदेश देता है ॥२०३॥ कि भो देवो, मैंने चिरकालसे आपका पालन किया है, कितने ही देवोको मैंने पिताके समान माना है कितने ही देवोको पुत्रके समान बडे प्रेमसे खिलाया है, कितने हीको पुरोहित, मन्त्री और अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने हीको मैंने मित्र और पीठमर्दके समान देखा है। कितने ही देवोको अपने प्राणोके समान मानकर उन्हें अपनी रक्षाके लिये नियुक्त किया है, कितने हीको देवोकी रक्षाके लिये सम्मानयोग्य पदपर देखा है, कितने हीको सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने हीको अपने परिवारके लोग समझा है, कितने हीको सामान्य प्रजाजन माना है कितने हीको सेवक माना है, कितने हीको परिजनके स्थानपर और *कितने हीको अन्तःपुरमें रहनेवाले प्रतीहारी आदिके स्थानपर नियुक्त किया है। कितने ही* देवियोको वल्लभिका बनाया है और कितनी ही देवियोको महादेवी पदपर नियुक्त किया है इस प्रकार मैंने आप लोगोपर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगोने भी हमपर असाधारण प्रेम धारण किया है ॥२०४–२०९॥ इस समय स्वर्गके भोगोमे मेरी इच्छा मन्द हो गई है और निश्चय ही पृथिवी लोककी लक्ष्मी आज मेरे निकट आ रही है ॥२१०॥ इसलिये आज तुम सबकी साक्षीपूर्वक मैं स्वर्गका यह समस्त साम्राज्य छोड रहा हू और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होनेवाला है उसके लिये यह समस्त सामग्री समर्पित करता हू ॥२११॥ इस प्रकार उन सब देवोमें अपनी अनुत्कण्ठा अर्थात् उदासीनताका अनुभव करता हुआ इन्द्र उन सबके लिये शिक्षा दे और धीरवीर बुद्धिका धारक हो, इन्द्र पदका त्याग कर दुःखी न हो ॥२१२॥ इस तरह जो स्वर्गके भोगोका त्याग करता है वह इन्द्रत्याग क्रिया है। यह भी एक

१ पितृतया। २ स्वराट् प०, म०। ३ पितृ इवाचरिताः। ४ वाचाचार्य। ५ समान यथा भवति तथा। ६ पालकाः इन्द्रस्य। ७ सेनानी। ८ मत् कारणात्। ९ उपदिश्य। १० न गच्छति।

अवतारक्रियास्यान्या ततः सम्परिवर्तते । कृतार्हत्पूजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥२१४॥
सोऽयं[1] नृजन्मसम्प्राप्त्या सिद्धिं द्रागभिलाषुकः[2] । चेतः सिद्धनमस्यायां[3] समाधत्ते[4] सुराधिराट् ॥२१५॥
शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः संसूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते[5] क्रियाम् ॥२१६॥

इति इन्द्रावतारः ।

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयित्र्या[6] महादेव्याः श्रीदेवीभिर्विशोधिते[7] ॥२१७॥
हिरण्यवृष्टिं धनदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्षति । अवतारयन्त्यामिवानन्दात्[8] स्वर्गसम्पदि भूतलम् ॥२१८॥
अमृतश्वसने[9] मन्दम् आवाति व्याप्तसौरभे[10] । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः[11] ॥२१९॥
दुन्दुभिध्वनिते मन्द्रम् उत्थिते पथि वार्मुचाम् । अकालस्तनिताशङ्काम् आतन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥
मन्दारस्रजमम्लानिम् आमोदाहूतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु[12] निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥
देवीषूपचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम् । लक्ष्म्या समं[13] समागत्य श्रीह्रीधीधृतिकीर्तिषु ॥२२२॥
कस्मिंश्चित् सुकृतावासे[14] पुण्ये राजन्यमन्दिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥
हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्मत्वात् स तथा श्रुतिम्[15] । बिभ्राणस्तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥२२४॥

इति हिरण्योत्कृष्टजन्मता ।

आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर पुरुष स्वर्गके वैसे ऐश्वर्यको भी बिना किसी कष्टके छोड देते हैं ॥२१३॥ इस प्रकार यह सैंतीसवीं इन्द्रत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर–जो इन्द्र आयुके अन्तमें अरहन्तदेवका पूजन कर स्वर्गसे अवतार लेना चाहता है उसके आगेकी अवतार नामकी क्रिया होती है ॥२१४॥ मैं मनुष्य जन्म पाकर बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया चाहता हूं यही विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्को नमस्कार करनेमें लगाता है ॥२१५॥ शुभ सोलह स्वप्नोंके द्वारा जिसने अपना बडा भारी अभ्युदय–माहात्म्य सूचित किया है ऐसा वह इन्द्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है ॥२१६॥ यह अडतीसवीं इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर–वे माता महादेवीके श्री आदि देवियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागारके समान गर्भमें अवतार लेते हैं ॥२१७॥ गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे जब कुबेर घरपर रत्नोंकी वर्षा करने लगता है और वह रत्नोंकी वर्षा ऐसी जान पडती है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्के साथ साथ पृथिवीतलपर आ रही हो ॥ जब अमृतके समान सुख देनेवाली वायु मन्द मन्द बहकर सब दिशाओंमें फैल रही हो तथा ऐसी जान पडती हो मानो पवनकुमार देवोंके द्वारा निर्माण किया हुआ पृथिवीरूपी देवीका निःश्वास ही हो । जब आकाशमें उठी हुई–फैली हुई दुन्दुभि बाजोंकी गंभीर आवाज मयूरोंको असमय में होनेवाली मेघगर्जनाकी शंका उत्पन्न कर रही हो । जब गुह्यक नामके देवोंके समूह कभी म्लान न होनेवाली और सुगन्धिके कारण भ्रमरोंको अपनी ओर खींचनेवाली कल्पवृक्षके फूलोंकी मालाओंको बरसा रहे हों । और जब श्री, ह्री, बुद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियां लक्ष्मीके साथ आकर स्वयं जगन्माता महादेवीकी सेवा कर रही हों उस समय पुण्यके निवासभूत किसी पवित्र राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥२१८–२२३॥ जो गर्भमें स्थित रहते हुए भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले हैं ऐसे भगवान्, हिरण्य

---

१ साऽहं ल० । २ अभिलाषी । ३ नमस्कारे । ४ समाहितं कुरुते । ५ गच्छति । ६ जनन्या । 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यभिधानात् । ७ श्रीह्रीधृत्यादिभिः । ८ सहागच्छन्त्याम् । ९ अमृतवदाह्लादकरमारुते । १० व्याप्तमारुते ल० । ११ वायुकुमारैः । १२ दशमदेषु । १३ स्वयं ल० । १४ पुण्यस्थाने । १५ हिरण्योत्कृष्टजन्मनामाभिधानम् ।

[1]विश्वेश्वरा जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥२२५॥
कुलाद्रिनिलया देव्य श्रीह्रीधीधृतिकीर्तय । समं लक्ष्म्या षडेताश्च सम्मता जिनमातृका ॥२२६॥
जन्मानन्तरमायातै सुरेन्द्रैर्मेरुमूर्द्धनि । योऽभिषेकविधि क्षीरपयोधे शुचिभिर्जलै ॥२२७॥
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिन । सा पुन सुप्रतीतत्वात् भूयो नेह प्रतन्यते ॥२२८॥

इति मन्दरेन्द्राभिषेक ।

ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयम्भुव । शिष्यभावव्यतिक्रान्ति[2] गुरुपूजोपलम्भनम्[3] ॥२२९॥
तदेन्द्रा. पूजयन्त्येन[4] त्रातार त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देव त्वं सम्मतोऽसीति विस्मिता ॥२३०॥

इति गुरुपूजनम् ।

तत कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टबन्धोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महौजस ॥२३१॥

इति यौवराज्यम् ।

स्वराज्यमधि राज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीश्वरै । शासत[5] सार्णवामेनां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२॥

इति स्वराज्यम् ।

चक्रलाभो भवेदस्य निधिरत्नसमुद्भवे । निजप्रकृतिभि[6] पूजा साभिषेकाऽधिराडिति ॥२३३॥

इति चक्रलाभ ।

अर्थात् सुवर्णकी वर्षासे जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥२२४॥ यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है ।

उस समय वह भगवान्‌की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमंगला इत्यादि नामोंको धारण करती हैं ॥२२५॥ कुलाचलोंपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियां जिनमातृका अर्थात् जिनमाताकी सेवा करनेवाली कहलाती हैं ॥२२६॥ जन्मके अनन्तर आये हुए इन्द्रोंके द्वारा मेरु पर्वतके मस्तक पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवान्‌का जो अभिषेक किया जाता है वह उन परमेष्ठीकी मन्दराभिषेक क्रिया है । वह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिये यहां उसका फिरसे विस्तार नहीं किया जाता है ॥२२७–२२८॥ यह चालीसवीं मन्दराभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर स्वतन्त्र और स्वयंभू रहनेवाले भगवान्‌के विद्याओंको उपदेश होता है वे शिष्यभावके बिना ही गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसीके शिष्य हुए बिना ही सबके गुरु कहलाने लगते हैं ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर हे देव, आप अशिक्षित होनेपर भी सबको मान्य हैं इस प्रकार आश्चर्यको प्राप्त होते हुए सबकी रक्षा करनेवाले और तीनों जगत्‌के गुरु भगवान्‌की पूजा करते हैं ॥२३०॥ यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है ।

तदनन्तर कुमारकाल आनेपर उन्हें युवराजपदकी प्राप्ति होती है, उस समय महाप्रतापवान् उन भगवान्‌के राज्यपट्ट बांधा जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥२३१॥ यह बियालीसवीं यौवराज्य क्रिया है ।

तत्पश्चात् समस्त राजाओंने राजाधिराज (सम्राट्)के पदपर जिनका अभिषेक किया है और जो दूसरेके शासनसे रहित इस समुद्र पर्यन्तकी पृथिवीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवान्‌के स्वराज्यकी प्राप्ति होती है ॥२३२॥ यह तैंतालीसवीं स्वराज्य क्रिया है ।

इसके बाद निधियों और रत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उन्हें चक्रकी प्राप्ति होती है उस समय

---

१ विश्वेश्वरी स० । २ शिष्यत्वाभाव । ३ गुरुपूजाप्राप्ति । स्वस्य स्वयमेव गुरुरिति भाव । ४ पूजयन्त्येन स०, द० । ५ रक्षत । ६ आत्मीयप्रजापरिवारैः ।

दिशाञ्जयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥२३४॥

इति दिशाञ्जयः ।

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाह्वा साऽधुना सम्प्रकीर्त्यते ॥२३५॥
चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्टः स्वं निकेतनम् । परार्घ्यविभवोपेतं स्वर्विमानापहासि यत् ॥२३६॥
तत्र क्षणमिवासीनो[१] रम्ये प्रमदमण्डपे । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्झर इवाद्रिराट् ॥२३७॥
सपूज्य निधिरत्नानि [२]कृतचक्रमहोत्सवः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं मान्यान् [३]सन्मान्य पार्थिवान् ॥२३८॥
ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतूर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रशः ॥२३९॥
यथावदभिषिक्तस्य तिरीटारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मुख्यैः चतुर्भिः प्रथितान्वयैः ॥२४०॥
महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः । कृतमङ्गलनेपथ्यः[४] पार्थिवैः प्रणतोऽभितः ॥२४१॥
तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिङ्मुखम् । दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं[५] नृपपुङ्गवः ॥२४२॥
रत्नांशुच्छुरितं[६] बिभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्याः समाक्रीडरथ[७]चक्रद्वयायितम् ॥२४३॥
तारालितरलस्थूलमुक्ताफलमुरोगृहे । धारयन् हारमाबद्धमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४॥

समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेक सहित पूजा करती है ॥२३३॥ यह चक्रलाभ नामकी चवालीसवीं क्रिया है।

तदनन्तर चक्ररत्नको आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन भगवान्‌का जो दिशाओंको जीतनेके लिये उद्योग करना है वह दिशाञ्जय कहलाता है ॥२३४॥ यह दिशाञ्जय नामकी पैंतालीसवीं क्रिया है।

जब भगवान् दिग्विजय पूर्णकर अपने नगरमें प्रवेश करने लगते हैं तब उनके चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है। अब इस समय उसी क्रियाका वर्णन किया जाता है ॥२३५॥ वे भगवान् चक्ररत्नको आगेकर अपने उस राजभवनमें प्रवेश करते हैं जो कि बहुमूल्य वैभवसे सहित होता है और स्वर्गके विमानोंकी हँसी करता है ॥२३६॥ वहाँपर वे मनोहर आनन्दमण्डपमें क्षणभर विराजमान होते हैं उस समय उनपर चमर ढुलाये जाते हैं जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो निर्झरनोंसहित सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३७॥ उस समय वे निधियों और रत्नोंकी पूजाकर चक्र प्राप्त होनेका बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥२३८॥ तदनन्तर तुरही आदि हजारों माङ्गलिक बाजोंके गंभीर शब्द करते रहनेपर वे उत्तम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ तदनन्तर–विधिपूर्वक जिनका अभिषेक किया गया है ऐसे उन भगवान्‌के मस्तकपर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य चार राजाओंके द्वारा मुकुट रक्खा जाता है ॥२४०॥ इस प्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होंने माङ्गलिक वेष धारण किया है, जिन्हें चारों ओरसे राजा लोग नमस्कार कर रहे हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारण कर रहे हैं, राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, जो अपने दोनों कानोंमें रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रीडारथके पहियोंकी शोभा देनेवाले दो कुण्डलोंको धारण कर रहे हैं, जो वक्षःस्थलरूपी घरके सामने लटके हुए माङ्गलिक तोरणके समान सुशोभित होनेवाले और ताराओंकी पंक्तिके समान चञ्चल तथा

---

१ क्षणपर्यन्तमेव । २ विहितचक्रपूजनः । ३ सम्पूज्य । ४ अलङ्कारः । ५ चिह्नं प्रधानं वा । प्रधाने राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियामित्यभिधानात् । ६ मिश्रितम् । ७ शरीरनिमित्तस्यन्दन ।

विलसद्ब्रह्मसूत्रेण प्रविभक्ततनूच्छ्रितिः । तटनिर्झरसम्पातरम्यमूर्तिरिवाद्रिपः ॥२४५॥
सद्रत्नकटकं प्रोच्चं शिखरं भुजयोर्युगम् । द्राघिमश्लाघि बिभ्राणः[१] कुलक्ष्माधृद्यायितम् ॥२४६॥
कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदीपरिष्कृतः[२] ॥२४७॥
मन्दारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः । [३]किमप्यारब्धसंगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥२४८॥
तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोच्छिखः ॥२४९॥
प्रीताश्चाभिष्टुवन्त्येनं तदामी नृपसत्तमाः । विश्वञ्जयो दिशाञ्जेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥२५०॥
पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः । तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वन्ति स्वशिरोधृतम् ॥२५१॥
श्रीदेव्यश्च सरिद्देव्यो[४] देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगैः स्वैस्तदैनं पर्युपासते ॥२५२॥

इति चक्राभिषेकः ।

चक्राभिषेक इत्येवं समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्यात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३॥
अपरेद्युर्दिनारम्भे धृतपुण्यप्रसाधनः[५] । मध्ये महानृपसभं[६] नृपासनमधिष्ठितः ॥२५४॥
दीप्रैः प्रकीर्णकव्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमानः समन्ततः ॥२५५॥
सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः[७] परिष्कृतः[८] । धृतिप्रशान्तिदीप्त्योजो[९]निर्मलत्वोपमा[१०]दिभिः ॥२५६॥

बड़े बड़े मोतियोंसे युक्त हार धारण किये हुए हैं, शोभायमान यज्ञोपवीतसे जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है और इसी कारण जो तटपर पड़ते हुए निर्झरनोंसे सुन्दर आकारवाले सुमेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, जो रत्नोंके कटक अर्थात् कड़ों (पक्षमें रत्नमय मध्यभागों) से सहित, ऊंचे ऊंचे शिखरों अर्थात् कन्धों (पक्षमें चोटियों) से युक्त, लम्बाईसे सुशोभित और इसलिये ही दो कुलाचलोंके समान आचरण करनेवाली दो भुजाओंको धारण कर रहे हैं, जिनकी कमरपर देदीप्यमान करधनी सटी हुई है और उससे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो चारों ओरसे रत्नमयी वेदीके द्वारा घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो, जो मन्दार वृक्षके फूलोंकी सुगन्धिके कारण आकर लगे हुए भ्रमरोंके समूहकी झंकारोंसे कुछ गाते हुएके समान सुशोभित होनेवाले शेखरको धारण कर रहे हैं, तथा उस कालके योग्य अन्य अन्य मांगलिक आभूषण धारण किये हुए हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते हैं मानो जिसकी शिखा ऊंची उठ रही है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुञ्ज ही हो ॥२४१–२४९॥ उस समय अन्य उत्तम उत्तम राजा लोग सन्तुष्ट होकर उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं कि आपने समस्त संसारको जीत लिया है, आप दिशाओंको जीतनेवाले हैं और दिव्यमूर्ति हैं ॥२५०॥ नगरनिवासी लोग तथा मन्त्री आदि मुख्य मुख्य पुरुष उनके चरणोंका अभिषेक करते हैं और उनका चरणोदक लेकर अपने अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥२५१॥ श्री ह्री आदि देवियां, गङ्गा सिन्धु आदि देवियां तथा विश्वेश्वरा आदि देवियां अपने अपने नियोगोंके अनुसार आकर उस समय उनकी उपासना करती हैं ॥२५२॥ यह चक्राभिषेक नामकी छियालीसवीं क्रिया है।

इस प्रकार उनकी यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही। अब इसके बाद साम्राज्य नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं ॥२५३॥ दूसरे दिन प्रातःकालके समय जिन्होंने पवित्र आभूषण धारण किये हैं जो बड़े बड़े राजाओंकी सभाके बीचमें राजसिंहासनपर विराजमान हैं, जिनपर देदीप्यमान, गङ्गा नदीके जलके छींटोंके समान उज्ज्वल और गणिकाओंके हाथसे हिलाये हुए चमर चारों ओरसे ढुराये जा रहे हैं, जो धृति, शान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताको उत्पन्न करनेवाले

---

१ दधन् दधाति । २ परिवेष्टितः । ३ ईषद् । ४ गङ्गादेव्यादयः । ५ पवित्रालङ्कारः । ६ महानृपसभाया मध्ये । ७ पृथिव्यप्तेजोवायुगगनाधिदेवताविक्रियाशरीरैः इत्यर्थः । ८ भूषितः । ९ बलम् । 'ओजो दीप्तौ बले' इत्यभिधानात् । १० उत्कर्ष ।

तान्[1] प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । सम्मानदानविश्रम्भै[2] प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७॥
पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायेन पालयत प्रजाः । अन्यायेषु [3]प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो[4] ध्रुवं हि वः ॥२५८॥
न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम् । सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥२५९॥
दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्युर्विधानतः । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिः अवश्यं[5] भावुको जयः ॥२६०॥
राजवृत्तिमिमां सम्यक् पालयद्भिरतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ॥२६१॥
पालयेद्य इमं धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्ष्मां जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविकः ॥२६२॥
इहैवं स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३॥
इति भूपोऽनु[6]शिष्यैतान् प्रजापालनसद्विधौ । स्वयं च [7]पालयत्येनान् योगक्षेमानुचिन्तनैः ॥२६४॥
तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम् । [8]येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नन्दति ॥२६५॥

इति साम्राज्यम् ।

एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६॥

पृथिवी आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोंसे हैं, जो उन देवताओंको समाधान-पूर्वक निरन्तर प्रजाके उपकार करनेमें लगा रहे हैं और आदर सत्कार, दान तथा विश्वास आदिसे जो मन्त्री आदि प्रमुख कार्यकर्ताओंको आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज नमस्कार करते हुए राजाओंको इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि अन्यायमें प्रवृत्ति रक्खोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्तिका लोप हो जावेगा ॥२५४–२५८॥ न्याय दो प्रकारका है–एक दुष्टोंका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना। यह क्षत्रियोंका सनातन धर्म है। राजाओंको इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिये ॥२५९॥ ये दिव्य अस्त्रोंके अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य हैं क्योंकि इनके प्रसन्न होनेपर युद्धमें विजय अवश्य ही होती है ॥२६०॥ इस राजवृत्तिका अच्छी तरह पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोडकर प्रजाके साथ न्याय-मार्गसे बर्ताव करो ॥२६१॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है क्योंकि जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है ऐसा क्षत्रिय ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२६२॥ इस प्रकार न्यायपूर्वक बर्ताव करनेसे इस संसारमें यशका लाभ होता है, महान् वैभवके साथ साथ पृथिवीकी प्राप्ति होती है, और परलोकमें अभ्युदय अर्थात् स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह तीनों लोकोंको जीत लेता है अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥२६३॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजापालनकी रीतियोंके विषयमें उन राजाओंको बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग और क्षेमका बार बार चिन्तवन करते हुए उनका स्वयं पालन करते हैं ॥२६४॥ इस प्रकार यह उनकी धर्मसहित साम्राज्य नामकी वह क्रिया है जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिको प्राप्त होता है ॥२६५॥ यह सैंता-लीसवीं साम्राज्य क्रिया है।

इस प्रकार बहुत दिन तक प्रजा और राजाओंका पालन करते हुए उन महाराजके किसी समय भेदविज्ञान उत्पन्न होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उद्यम होने

---

१ पृथिव्यादिदेवतागणान् । २ स्नेहै विश्वासैर्वा । ३ प्रवृत्तिश्चेत् प०, म०, द० । ४ निजनिज-राज्यस्था भवन्ति । ५ नियमेन भवति । ६ रक्षति । ७ शिक्षां दत्त्वा । ८ पालयत्यासान् म०, प०, द० । ९ साम्राज्यनामक्रियान्तरेण ।

सैषा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरैर्भूयो बोधितस्य समागतैः ॥२६७॥
कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ[1] पार्थिवसाक्षिकम् । सन्तानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ॥२६८॥
त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघा धेनुः मता न्यायेन योजिता ॥२६९॥
राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य[2] [3]तीर्थे च प्रतिपादनम् ॥२७०॥
प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्यनुपालनम्[4] । मतिर्हिताहितज्ञानम् आत्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥२७१॥
ततः[5] कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसम्पदा । धर्मार्थ[6]शास्त्रविज्ञानात् प्रज्ञां संस्कर्तुमर्हसि ॥२७२॥
अन्यथा विमतिर्भूपो[7] युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः[8] स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥२७३॥
कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत् कुलम् ॥२७४॥
तथाऽयमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५॥
अपायो हि सपत्नेभ्यो[9] नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात्[10] ॥२७६॥
[11]तस्माद् रसदतीक्ष्णादीन्[12] अपायान् परियोजितान् । परिहृत्य निजैराप्तैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत् ॥२७७॥
स्यात् समञ्जसवृत्तित्वम् अप्यस्यात्माभिरक्षणे[13] । असमञ्जसवृत्तो हि निजैरप्यभिभूयते ॥२७८॥

लगना है ॥२६६॥ जो राज्यसे विरक्त हो रहे हैं और आये हुए लौकान्तिक देव जिन्हें बार बार प्रबोधित कर रहे हैं ऐसे उन भगवान्‌की यह निष्क्रान्ति नामकी क्रिया कही जाती है ॥२६७॥ वे समस्त राजाओंकी साक्षीपूर्वक अपने बड़े पुत्रके लिये राज्य सौंप देते हैं और सन्तान-पालन करनेके लिये उसे इस प्रकार शिक्षा देते हैं ॥२६८॥ हे पुत्र, तुझे प्रजाके पालन करनेमें न्यायरूप धनसे युक्त होना चाहिये अर्थात् तू न्यायको ही धन समझ, क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गायके समान मानी गई है ॥२६९॥ हे पुत्र, तू इसे ही राजवृत्त अर्थात् राजाओंका कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना तथा तीर्थस्थान अथवा योग्य पात्रोंका देना ॥२७०॥ प्रजाका पालन करनेके लिये सबसे अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिये, इस लोक और परलोक दोनों लोकसम्बन्धी पदार्थोंके विषयमें हित तथा अहितका ज्ञान होना ही मति कहलाती है ॥२७१॥ इसलिये वृद्ध मनुष्योंकी संगति रूपी सम्पदासे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर तुम धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके ज्ञानसे अपनी बुद्धिको सुसंस्कृत बनानेके योग्य हो अर्थात् बुद्धिके अच्छे संस्कार बनाओ ॥२७२॥ यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो वह हित तथा अहितका जानकार न होनेसे बुद्धिभ्रष्ट हो जावेगा और ऐसी दशामें वह मिथ्याज्ञानके अंश मात्रसे उद्धत हुए अन्य कुमार्गगामियोंके वश हो जावेगा ॥२७३॥ राजाओंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करनेके लिये बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि जिसे अपनी कुलमर्यादाका ज्ञान नहीं है वह अपने दुराचारोंसे कुलको दूषित कर सकता है ॥२७४॥ इसके सिवाय राजाको अपनी रक्षा करनेमें भी सदा यत्न करते रहना चाहिये क्योंकि अपने आपके सुरक्षित रहनेपर ही अन्य सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥२७५॥ जिसने अपने आपकी रक्षा नहीं की है ऐसे राजाका शत्रुओंसे तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए अपने ही सेवकोंसे विनाश हो जाता है ॥२७६॥ इसलिये शत्रुओंके द्वारा किये हुए प्रारम्भमें सरल किन्तु फलकालमें कठिन अपायोंका परिहार कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥२७७॥ इसके सिवाय

---

१ प्रजासाक्षि निमित्तम्। २ धनस्य। ३ पात्रे। ४ निजबुद्धिरक्षणम्। ५ ततः कारणात्। ६ नीतिशास्त्र। ७ भूपो द०, प०, म०। ८ वश्यः। ९ दायादेभ्यः शत्रुभ्यो वा। १० तिरस्कृतात्। ११ तस्मात् कारणात्। १२ रसनाभागवाद् मुखतामवत्सुवार्दान् रसनाने अनुभवनाने स्वादुरसप्रदान् विषवत् भक्ष्यादीन्। १३ आत्मरक्षाभिरताम्। —रसादिरूपेण अ०, प०, द०।

समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता[1] । [2]आनृशंस्यमवाक्पारुष्यादिविशेषितम् ॥२७९॥
ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य[3] चेह च नन्दति ॥२८०॥
इति समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१॥
[4]ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशोधर्मं विजयं च [5]त्वमाप्नुहि ॥२८२॥
प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तम्[6] । परिनिष्क्रान्तिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३॥
महादानमथो दत्त्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रान्तो गृहाद् वनम्[7] ॥२८४॥
धौरेयैः पार्थिवैः किञ्चिदुत्क्षिप्तां महीतलात् । स्कन्धाधिरोपितां भूयः सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥२८५॥
आरूढः शिबिकां दिव्यां दीप्तरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं भानोरिवाम्यातां महीतलम् ॥२८६॥
पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवर्त्मसु । सुरासुरेषु सत्वरम् सदिग्भागं समं ततः ॥२८७॥
[8]अनुस्थितेषु सम्राजा पार्थिवेषु ससम्भ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवोदयम् ॥२८८॥
अनुयायिनि तत्त्यागादिव मन्दीभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां सन्दोहेऽन्यपंसक्षये ॥२८९॥

राजाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेमें समजसवृत्ति अर्थात् पक्षपातरहित होना चाहिये क्योंकि जो राजा असमजसवृत्ति होता है, वह अपने ही लोगोंके द्वारा अपमानित होने लगता है ॥२७८॥ समस्त प्रजाको समान रूपसे देखना अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करना ही राजाका समजसत्व गुण कहलाता है। इस समजसत्व गुणमें क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिये और न कठोर वचन तथा दण्डकी कठिनता ही होनी चाहिये ॥२७९॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतकर अपनी इस वृत्तिका पालन करता हुआ स्वकीय राज्यमें स्थिर रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिवान् होता है ॥२८०॥ पक्षपातरहित होकर सबको एक समान देखना, कुलकी मर्यादाकी रक्षा करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥२८१॥ इसलिये हे पुत्र, ऊपर कहे हुए इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ तू राज्यमें स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त कर ॥२८२॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है और जिन्हें भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान् ऊपर लिखे अनुसार पुत्रको शिक्षा देकर दीक्षा कल्याणके लिये इन्द्रोंके द्वारा पूजित होते हैं ॥२८३॥ अथानन्तर महादान देकर साम्राज्यपदको छोड़ते हुए वे राजाधिराज राजर्षि घरसे वनके लिये निकलते हैं ॥२८४॥ प्रथम ही मुख्य मुख्य राजा लोग जिसे पृथिवीतलसे उठाकर कंधेपर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं और फिर भक्तिसे भरे हुए देव लोग जिसे अपने कंधोंपर रखते हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंसे बनी हुई है और जो पृथिवीतलपर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पड़ती है ऐसी दिव्य पालकीपर वे भगवान् सवार होते हैं ॥२८५–२८६॥ जिस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका सदेह फैलाते हुए सुर और असुर आगे चलते हैं, जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रकट हुआ है ऐसे कुमारको आगे कर बड़े प्रेम और सम्भ्रमके साथ जब समस्त राजा लोग भगवान्के समीप खड़े होते हैं, जिनका भगवान्के समीप रहना छूट चुका है और भगवान्के छोड़ देनेसे ही मानो जिनकी कान्ति मन्द पड़ गई है ऐसे निधि और रत्नोंका समूह जब उनके पीछे पीछे आता है, जिसने वायुके वेगसे हिलती हुई ध्वजाओंसे समस्त आकाशको व्याप्त

---

१ समदर्शित्वम् । २ अनृशंसत्वम् । आनृशंस्यमित्यत्र । ३ परत्र । ४ तत् कारणात् ।
५ त्वमाप्नुहि द०, इ० । ६ पुत्रम् । ७ दीक्षावनम् । ८ अनुस्थितेषु त० ।

सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति । मरुद्धूतध्वजव्रातनिरुद्धपवनाध्वनि ॥२९०॥
ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसां गणे । गायन्तीषु कलक्वाणं किन्नरीषु च मङ्गलम् ॥२९१॥
भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये[1] कस्मिंश्चिदाश्रमे[2] । स्थितः शिलातले स्वस्मिंश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२९२॥
निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्नद्भुतोदयः । सुराधिपैः कृतानन्दैरर्चितः परयेज्यया ॥२९३॥
योऽत्र शेषो[3] विधिर्युक्तः केशपूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तौ वृषभेशिनः ॥२९४॥
इति निष्क्रान्तिः ।

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी । अतः परं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसम्महः ॥२९५॥
यदायं त्यक्तबाह्यान्तस्सङ्गो[4] निःसङ्गमाचरेत् । [5]सदुश्चरं तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥२९६॥
तदास्य क्षपकश्रेणीम् आरूढस्योचिते पदे[6] । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥२९७॥
प्रादुर्भवति निःशेषबहिरन्तर्मलक्षयात् । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥२९८॥
तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्राप्तु[7] परमं महः । योगसम्मह इत्याख्याम् अनुधत्ते क्रियान्तरम् ॥२९९॥
ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । महिमातिशयः सोऽयम् आम्नातो योगसम्महः ॥३००॥
इति योगसम्महः ।

ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । बहिर्विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥३०१॥

पर लिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना बनाकर जिस समय धीरे धीरे उनके पीछे चलने लगती है तथा जिस समय देवोंके तुरही आदि बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी देवियां मनोहर शब्दोंसे मंगलगीत गाती हैं, उस समय वे भगवान् किसी पवित्र आश्रममें अपने चित्तके समान विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर दीक्षा लेते हैं। इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है और जो निर्वाणदीक्षाके द्वारा अपने आपको युक्त कर रहे हैं ऐसे भगवान्की इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्रीके द्वारा आनन्दके साथ पूजा करते हैं ॥२८७-२९३॥ इस क्रियामें केश लोच करना, भगवान्की पूजा करना आदि जो भी कार्य अवशिष्ट रह गया है उस सबका भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय वर्णन किया जा चुका है॥२९४॥ इस प्रकार यह अड़तालीसवीं निष्क्रान्ति क्रिया है।

यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति नाम की क्रिया है। अब इसके आगे मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवान्के योगसम्मह नामकी क्रिया होती है ॥२९५॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त होते हैं और अत्यन्त कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नामके तपोयोगको धारण करते हैं तब क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए और योग्य पद अर्थात् गुणस्थानमें जाकर शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मरूपी सघन वनको जला देनेवाले उन भगवान्के समस्त बाह्य और अन्तरङ्ग मलके नष्ट हो जानेसे लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट होती है ॥२९६-२९८॥ इस प्रकार जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं और जिन्हें उत्कृष्ट तेज प्राप्त हुआ है ऐसे भगवान्के यह एक भिन्न क्रिया होती है जो कि 'योगसम्मह' इस नामको धारण करती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥३००॥ यह योगसम्मह नामकी उनचासवीं क्रिया है।

तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवान्के

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गणो द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्यावली सालवलयः केतुमालिका ॥३०२॥
इत्यादिकामिमां भूतिम् अद्भुतामुपबिभ्रतः । स्यादार्हन्त्यमिति ख्यातं क्रियान्तरमनन्तरम् ॥३०३॥
इति आर्हन्त्यक्रिया ।
विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४॥
इति विहारक्रिया ।
ततः परार्थसम्पत्त्यै [1]धर्ममार्गोपदेशने । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५॥
विहारस्योपसंहारः संहृतिश्च सभावने । वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागः स उच्यते ॥३०६॥
[2]यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । [3]तदन्तर्भूतमेवातस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७॥
इति योगत्यागक्रिया ।
ततो निरुद्धनिःशेषयोगस्यास्य जिनेशिनः । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य[4] प्रक्षीणाघातिकर्मणः ॥३०८॥
क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमापुषः[5] । स्वभावजनितामूर्ध्व[6]व्रज्यामास्कन्दतो[7] मता ॥३०९॥
इति अग्रनिर्वृतिः ।
इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्भादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयास्त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात्[8] ॥३१०॥
यथोक्तविधिनैताः स्युः अनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रान्तर्गतो[9] भेदस्तं वक्ष्युत्तरपर्वणि ॥३११॥

प्रातिहार्य आदि बाह्य विभूति प्रकट होती है ॥३०१॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानोंकी पङ्क्तियां, कोटका घेरा और पताकाओंकी पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूतिको धारण करनेवाले उन भगवान्‌के आर्हन्त्य नामकी एक भिन्न क्रिया कही गई है ॥३०२–३०३॥ यह आर्हन्त्य नामकी पचासवीं क्रिया है ।

धर्मचक्रको आगे कर जो भगवान्‌का विहार होता है वह विहार नामकी क्रिया है। यह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है और पहले ही इसका विस्तारके साथ निरूपण किया जा चुका है इसलिये फिरसे यहां नहीं कहते हैं ॥३०४॥ यह इक्यावनवीं विहारक्रिया है ।

तदनन्तर धर्ममार्गके उपदेशके द्वारा परोपकार करनेके लिये जिन्होंने तीर्थ विहार किया है ऐसे भगवान्‌के योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥३०५॥ जिसमें विहार करना समाप्त हो जावे, सभाभूमि (समवसरण) विघट जावे, और योगनिरोध करनेके लिये अपनी वृत्ति करनी पड़े उसे योगत्याग कहते हैं ॥३०६॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध जो केवलिसमुद्घात नामकी क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियामें अन्तर्भूत हो जाती है इसलिये अलगसे उसका वर्णन नहीं किया है ॥३०७॥ यह बावनवीं योगत्याग नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका निरोध हो चुका है, जो जिनोंके स्वामी हैं, जिन्हें शीलके ईश्वरपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थानपर पहुंच गये हैं ऐसे भगवान्‌के अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया मानी गई है ॥३०८–३०९॥ यह तिरेपनवीं अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है ।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त जो सब मिलाकर तिरेपन क्रियाएं हैं भव्य पुरुषोंको सदा उनका पालन करना चाहिये ॥३१०॥ द्विज लोगोंको ऊपर कही हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओंका पालन करना चाहिये। इन क्रियाओंके जो भी अन्तर्गत भेद

---

१ धृतमार्गोप–प० । २ यत्र दण्ड–प०, ल० । ३ योगत्यागानन्तर्भूतम् । ४ शैलेशितावस्थस्य । ५ –मापुषः अ०, इ०, प०, स०, द० । ६ ऊर्ध्वगमनम् । ७ गच्छतः । ८ समुच्चया ल० । ९ त्रिपञ्चाशत्क्रियासु ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्भरताधिपः स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्
सम्प्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः ।
गर्भाद्याः परिनिर्वृतिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशतं
प्रारेभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥३१२॥
यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः
श्रुत्वा सम्यगधीत्य भावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने ।
सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः सम्पादयन्नाचरेद्
भव्यात्मा समग्रधीस्त्रिजगति चूडामणित्वं भजेत् ॥३१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ गर्भान्वयक्रियावर्णनं नाम अष्टात्रिंशत्तमं पर्व ।

हैं उनका आगेके पर्वमें निरूपण करेंगे ॥३११॥ इस प्रकार पुण्यवान् भरत महाराजने उन द्विजोंको अपने धर्ममें स्थापित करते हुए गर्भसे लेकर निर्वाणगमन पर्यन्तकी तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएं कहीं और उनके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियाएं थीं उनका कहना प्रारम्भ किया ॥३१२॥ उत्तम उत्तम द्विजोंको माननीय इन गर्भाधानादि समीचीन क्रियाओंको सुनकर तथा अच्छी तरह पढ़कर जो जिनेन्द्र भगवान्के दर्शनमें अपनी बुद्धि लगाता है और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरोंसे आचरण कराता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है वह भव्य पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंके चूडामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर तीनों लोकोंके अग्रभागपर विराजमान होता है ॥३१३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्ति तथा गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला अड़तीसवां पर्व समाप्त हुआ

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो [1]मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता [2]निःश्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥१॥
श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः[3] क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिताः ॥२॥
व्रता[4]विष्करणं दीक्षा द्विधाम्नातं च तद्व्रतम् । महच्चाणु च दोषाणां [5]कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥३॥
महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जनम् । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ॥४॥
तदुन्मुखस्य[6] या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । [7]तामन्विता[8] क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५॥
तस्यास्तु भेदसंख्यानं प्राग्निर्णीतं षडष्टकम्[9] । क्रियते तद्विकल्पानाम् अधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥६॥
तत्रावतारसंज्ञा स्याद् आद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७॥
स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षणः ॥८॥
ब्रूत यूयं महाप्राज्ञा[10] मह्यं धर्ममनाविलम्[11] । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां[12] हेयानि प्रतिभान्ति मे ॥९॥
[13]श्रौतान्यपि हि वाक्यानि सम्मतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि [14]दुष्प्रणीतानि तान्यपि[15] ॥१०॥

अथानन्तर–मोक्षके इच्छुक मनु महाराज भरत उन द्विजोंके लिये मोक्ष फल देनेवाली अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएं कहने लगे ॥१॥ वे बोले कि हे द्विजो, मैं अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियाओंको कहता हूं सो तुम लोग सुनो ॥२॥ व्रतोंका धारण करना दीक्षा है और वे व्रत हिंसादि दोषोंके पूर्ण तथा एकदेश त्याग करनेकी अपेक्षा महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥३॥ सूक्ष्म अथवा स्थूल–सभी प्रकारके हिंसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषोंसे निवृत्त होनेको अणुव्रत कहते हैं ॥४॥ उन व्रतोंके ग्रहण करनेके लिये सन्मुख पुरुषकी जो प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली जो क्रियाएं हैं वे दीक्षान्वय क्रियाएं कहलाती हैं ॥५॥ उस दीक्षान्वय क्रियाके भेद अड़तालीस हैं जिनका कि निर्णय पहले किया जा चुका है। अब इस समय उन भेदोंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है ॥६॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहली अवतार नामकी क्रिया है जब मिथ्यात्वसे दूषित हुआ कोई भव्य पुरुष समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है तब यह क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम ही वह चतुर भव्य पुरुष योग्य आचरणवाले महाबुद्धिमान् मुनिराजके समीप जाकर अथवा किसी गृहस्थाचार्यके समीप पहुंचकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि ॥८॥ महाबुद्धिमन्, आप मेरे लिये निर्दोष धर्म कहिये क्योंकि मुझे अन्य लोगोंके मत प्रायः दुष्ट मालूम होते हैं ॥९॥ धार्मिक क्रियाओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचारको सहन नहीं कर सकते अर्थात् विचार करनेपर वे निःसार जान पड़ते हैं, वास्तवमें वे वाक्य दुष्ट पुरुषोंके बनाये हुए

---

१ भरत । २ निःश्रेयस मोक्ष उदर्कम् उत्तरफलं यासु ताः । ३ मोक्षहेतून् । निःश्रेयसी ल० । ४ व्रताधिकरणं प०, द०, स० । ५ सकलनिवृत्तेर्देशनिवृत्तेः । ६ तन्महाणुव्रताभिमुखस्य । ७ दीक्षाम् । ८ अनुगता । ९ षण्णामष्टकं षडष्टकम् अष्टोत्तरचत्वारिंशत् इत्यर्थः । १० महाप्राज्ञाः स०, द० । ११ निर्दोषम् । १२ हेयानि प्रतिभान्ति माम् इ०, अ०, प० । हेयानि प्रतिभान्ति माम् स०, द० । १३ वेदसम्बन्धीनि । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यभिधानात् । १४ दुष्टैः कथितानि । १५ प्रसिद्धान्यपि । तानि वै स० ।

इति पृष्टवते तस्मै व्याचष्टे स[1] विदांवरः । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११॥
विद्धि सत्योद्यमाप्तीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२॥
विरागः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्तः सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे[2] ॥१३॥
रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्म्यनुवर्तिभिः[3] । [4]काङ्क्ष्यता विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४॥
प्रकृष्टो यो गुणैरेभिः चक्रिकल्पा[5]धिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५॥
ततः[6] श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालीढपूर्वं[7] सर्वज्ञमानिभिः ॥१६॥
[8]हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं[9] दीप्तं गम्भीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यं स्वायम्भुवं विदुः ॥१७॥
[10]इतश्च [11]तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमन्त्रक्रियाश्रयम् । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र[12] यतो नान्यमतोचिताः ॥१८॥
यथाक्रममतो ब्रूमः तान्पदार्थान्[13] प्रपञ्चतः । यैः[14] सति कृष्यमाणाः[15] स्युः कुस्थिताः परसूक्तयः[17] ॥१९॥
वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिङ्गम् आहाराद्याश्च शुद्धयः ॥२०॥
एतेऽर्था[18] यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१॥

हैं ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्य पुरुषके लिये महाज्ञानी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्य, विचारसे परिपूर्ण तथा मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं ॥११॥ वे कहते हैं—हे भव्य, मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्तके वचनको ही तू सत्य वचन मान और इसके विपरीत जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है उसे केवल वाणीका मल ही समझ ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सबका कल्याण करनेवाला है, जिसके वचन समीचीन, सत्य और पवित्र हैं, तथा जो उत्कृष्ट-मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है वह आप्त कहलाता है, इनसे भिन्न सभी आप्ताभास हैं अर्थात् आप्त न होनेपर भी आप्तके समान मालूम होते हैं ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सुन्दरता, विजय, ज्ञान, दृष्टि, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंमें चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, सर्वज्ञ है और समस्त लोकोंका परमेश्वर है ॥१४–१५॥ इसलिये जो आप्तका कहा हुआ है, जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकता और अपने आपको सर्वज्ञ माननेवाले पुरुष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ऐसा जैन मत है। कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिये कल्याणकारण है ॥१६॥ जो युक्ति तथा आगमसे युक्त है, अनुपम है, देदीप्यमान है, जिसका शासन गंभीर है, जो अल्पाक्षर वाला है और जिसके पढ़नेसे किसी प्रकारका संदेह नहीं होता ऐसा वाक्य ही अरहन्त भगवान्‌का कहा हुआ कहलाता है ॥१७॥ चूंकि अरहन्तदेवके मतमें अन्य मतोंमें नहीं पाये जानेवाले शास्त्र, मन्त्र तथा क्रिया आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया गया है इसलिये वह प्रमाणभूत है ॥१८॥ हे वत्स, मैं यथाक्रमसे विस्तारके साथ उन पदार्थोंका निरूपण करता हूं क्योंकि उन पदार्थोंके समीप आनेसे अन्य मतोंके वचन दुष्ट जान पड़ते हैं ॥१९॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि, मन्त्र, देवता, लिङ्ग और आहार आदिकी शुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है। इसके

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम्। हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्[१] ॥२२॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च [२]तत्स्याद् वधनिषेधि यत्। वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२३॥
सावद्यविरतिर्वृत्तम् आर्यषट्कर्मलक्षणम्[३]। [४]चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदञ्जसा[५] ॥२४॥
क्रियागर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः परोदिताः[६]। आधानादिश्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥२५॥
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्युः ये क्रियासु नियोजिताः। दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥२६॥
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः। क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिरामिषैः ॥२७॥
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम्। [७]एणाजिनादिचिह्नं तु कुलिङ्गं तद्धि [८]वैकृतम् ॥२८॥
स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा। सर्वङ्कषास्तु[९] ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥२९॥
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः। रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०॥
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः। सन्तुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडम्बकाः ॥३१॥
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम्। स एवाप्तस्तदुन्नीतो[१०] धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२॥

सिवाय सब धर्माभास तथा मार्गाभास हैं ॥२०–२१॥ जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष हैं और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोंका विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसाका उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य ही समझना चाहिये ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसाका निषेध करनेवाला है। इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसाका उपदेश देते हैं उन्हें धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिये ॥२३॥ पापारम्भके कार्योंसे विरक्त होना चारित्र कहलाता है। वह चारित्र आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मरूप है। इसके सिवाय अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों का चारित्र निरूपण किया है वह वास्तवमें बुरा है ॥२४॥ क्रियाएं जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त पहले कही जा चुकी हैं वे ही समझनी चाहियें, इनके सिवाय गर्भसे मरणपर्यन्त जो क्रियाएं अन्य लोगोंने कही हैं वे ठीक नहीं मानी जा सकतीं ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें उपयुक्त होते हैं वे ही मन्त्र धार्मिक मन्त्र कहलाते हैं किन्तु जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें प्रयुक्त होते हैं उन्हें यहां दुर्मन्त्र अर्थात् खोटे मन्त्र समझना चाहिये ॥२६॥ शान्तिको करनेवाले तीर्थंकर आदि ही देवता हैं। इनके सिवाय जिनकी माससे वृत्ति है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य हैं॥२७॥ जो साक्षात् मोक्षका कारण है ऐसा जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है। इसके सिवाय मृगचर्म आदिको चिह्न बनाना यह कुलिङ्गियोंका बनाया हुआ कुलिङ्ग है ॥२८॥ मांसरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है। जो मांसभोजी हैं उन्हें सर्वघाती समझना चाहिये ॥२९॥ अहिंसा शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित हैं और दयालु हैं, परन्तु जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहते हैं वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नहीं हैं ॥३०॥ जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हींके कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियोंमें संतोष रखते हैं उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग हैं वे केवल विडम्बना करनेवाले हैं ॥३१॥ इस प्रकार विचार करनेपर जिनका मत शुद्ध हो वही आप्त कहला सकता है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हित चाहनेवाले लोगों-को कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारका उपदेश

---

१ यमस्य वचनम्। २ धर्मशास्त्रम्। ३ इज्यावार्तादत्तिस्वाध्यायसंयमतपांसि। ४ ब्रह्मचर्यादिचतुराश्रम भव। ५ निश्चयेन। ६ पुरादिता द०, ल०, अ०, प०, इ०। ७ कृष्णाजिन। ८ तद्विधं कुरूपम् प०, ल०, इ०। ९ सकलविनाशका इत्यर्थः। १० तदुक्तः।

श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥३३॥
गुरुर्जनयिता[1] तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना[2] ॥३४॥
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो[3] जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र[4] न विद्यते ॥३५॥
इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात् तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं [5]विधानेनोपसेदुषः ॥३६॥
इति वृत्तलाभः ।

ततः कृतोपवासस्य[6] पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य [7]तत्रायमुचितो विधिः ॥३७॥
जिनालये शुचौ रङ्गे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८॥
श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन [8]सलिलालोडितेन वा । वर्तनं[9] मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥३९॥
तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥४०॥
जिनार्चाभिमुखं सूरिः विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१॥
[10]पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम्[11] । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषां च लम्भयेत्[12] ॥४२॥
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत्[13] । मन्त्रोऽयमखिलात् [14]पापात्त्वां पुनीता[15]दितीरयन्[16] ॥४३॥
कृत्वाविधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि सम्प्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥४४॥
इति स्थानलाभः ।

सुनकर मिथ्यामार्गमें प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्गमें अपनी बुद्धि लगाता है ॥३३॥ उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इसकी यह क्रिया गर्भाधानक्रियाके समान मानी जाती है क्योंकि जन्मकी प्राप्ति दोनों ही क्रियाओंमें नहीं है ॥३५॥ इस प्रकार यह पहली अवतारक्रिया है।

तदनन्तर–उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोंके समूहको प्राप्त होते हुए उस भव्यके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ यह वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया है।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी तीसरी क्रिया होती है। इस क्रियामें यह विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पाँखुरीका कमल बनावे अथवा गोलाकार समवसरणके मण्डलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमल अथवा समवसरणके मण्डलकी रचना पानी मिले हुए महीन चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन आदिसे करनी चाहिये ॥३९॥ उस विषयके जानकार विद्वानोंके द्वारा लिखे हुए उस अष्टदलकमल अथवा जिनेन्द्र भगवान्‌के समवसरणमण्डलकी जब सम्पूर्ण पूजा हो चुके तब आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सम्मुख बैठावे और बार बार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है ॥४०–४१॥ पञ्चमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर उससे पूजाके बचे हुए शेषाक्षत ग्रहण करावे ॥४२॥ तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' इस प्रकार कहता हुआ उसे पञ्च नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे ॥४३॥ यह विधि करके आचार्य उसे

---

१ पिता। २ धर्म एव जन्म तेन। ३ यस्मात् कारणात्। ४ गर्भाधानावतारयोः। ५ पूर्वोक्तपञ्चाशत्गर्भान्वयक्रियाविधिना। ६ उपवासस्य। ७ स्थानलाभे। ८ जलमिश्रितेन वा। ९ उद्धरणम्। १० पञ्चगुरुमुद्राविधानेन। ११ मूर्ध्नि। १२ ग्राहयेत्। १३ अस्मै उपदेशं कुर्यात्। १४ दुरितात् सकलात्। १५ पवित्रं कुर्यात्। १६ ब्रुवन्।

[1]निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥४५॥
इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ[2] कृतादरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिः अस्मत्समयदेवताः ॥४६॥
[3]ततोऽपमृ[4]षितेनालम् अन्यत्र स्वैरमास्यताम् । इति [5]प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥४७॥
गणग्रहः स एष स्यात् प्राक्तनं देवताऽगणम् । विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः [6]समयोचिताः ॥४८॥

इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससम्पत्त्या शृण्वतोऽङ्गार्थसङ्ग्रहम्[7] ॥४९॥

इति पूजाराध्यक्रिया ।

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्व[8]विद्यानाम् अर्थं स[9]ब्रह्मचारिणः ॥५०॥

इति पुण्ययज्ञक्रिया ।

तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाप्य[10] शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥५१॥

इति दृढचर्याक्रिया ।

दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । [11]पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥५२॥

इति उपयोगिताक्रिया ।

पारणाके लिये विदा करे और वह भव्य भी गुरुके अनुग्रहसे संतुष्ट होता हुआ अपने घर जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।

जिसके लिये स्थानलाभकी क्रियाका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा भव्य पुरुष जब मिथ्यादेवताओंको अपने घरसे बाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि 'मैंने अपने अज्ञानसे इतने दिनतक आदरके साथ आपकी पूजा की परन्तु अब अपने ही मतके देवताओंकी पूजा करूंगा इसलिये क्रोध करना व्यर्थ है । आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिये ।' इस प्रकार प्रकट रूपसे उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ दे ॥४६–४७॥ इस प्रकार पहले देवताओंका विसर्जन कर अपने मतके शान्त देवताओं की पूजा करते हुए उस भव्यके यह गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है ।

तदनन्तर पूजा और उपवासरूप सम्पत्तिके साथ साथ अंगोंके अर्थसमूहको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्या नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है । भावार्थ–जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशाङ्गका अर्थ सुनना पूजाराध्य क्रिया कहलाती है ॥४९॥ यह पांचवी पूजाराध्य क्रिया है ।

तदनन्तर साधर्मी पुरुषोंके साथ साथ चौदह पूर्वविद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामकी भिन्न क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठवीं पुण्ययज्ञा क्रिया है ।

इस प्रकार अपने मतके शास्त्र समाप्त कर अन्य मतके ग्रन्थों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह दृढचर्या नामकी सातवीं क्रिया है ।

तदनन्तर जिसके व्रत दृढ़ हो चुके हैं ऐसे पुरुषके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है ।

---

१ उपदेशिन । २ भवथ । ३ तत पारणात् । ४ ईर्ष्यया क्रोधेन वा । ५ प्रकटं यथा भवति तथा । ६ निजमत । ७ द्वादशाङ्गसम्बन्धिद्रव्यसंग्रहादिकम् । ८ चतुर्दशविद्यानां सम्बन्धिनम् । ९ गृहाध्यायिसहितस्य । 'एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः ।' इत्यभिधानात् । १० सम्पूर्णमधीत्य । ११ पर्वोपवासरात्रावित्यर्थः ।

[1]क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रतः। उपनीतिरनू[2]चानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३॥
उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च। देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ॥५४॥
शुक्लवस्त्रोप[3]वीतादिधारणं वेष उच्यते। आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्षते ॥५५॥
जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम्। दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ॥५६॥
इत्युपनीतिक्रिया।

ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत्। सूत्रमौपासकं सम्यग् अभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७॥
इति व्रतचर्याक्रिया।

[4]व्रतावतरणं तस्य भूयो भूषादिसङ्ग्रहः। भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसन्निधौ ॥५८॥
इति व्रतावतरणक्रिया।

विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया। सुव्रतोचितया सम्यक् स्वां [5]धर्मसहचारिणीम् ॥५९॥
पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः[6] सर्वोऽस्य सम्मतः। सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः[7] संस्कारमिच्छतः ॥६०॥
इति विवाहक्रिया।

पर्वके दिन उपवासके अन्तमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है ॥५२॥ यह उपयोगिता नामकी आठवीं क्रिया है।

ऊपर कहे हुए क्रियाओंके समूहसे शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्यके उत्कृष्ट पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, सदाचार और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥५४॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करना वेष कहलाता है, आर्योंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मोंके करनेको वृत्त कहते हैं और इसके बाद अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन श्रावककी दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥५५-५६॥ यह उपनीति नामकी नौवीं क्रिया है।

तदनन्तर यज्ञोपवीतसे युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छी तरह उपासकाध्ययनके सूत्रोंका अभ्यास कर व्रतचर्या नामकी क्रियाको धारण करे। भावार्थ–यज्ञोपवीत धारण कर उपासकाध्ययनाङ्ग (श्रावकाचार) का अच्छी तरहसे अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करना व्रतचर्या नामकी क्रिया है ॥५७॥ यह दसवीं व्रतचर्या क्रिया है।

जिसने समस्त विद्याएं पढ़ ली हैं ऐसा श्रावक जब गुरुके समीप विधिके अनुसार फिरसे आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है ॥५८॥ यह व्रतावतरण नामकी ग्यारहवीं क्रिया है।

जब वह भव्य अपनी पत्नीको उत्तम व्रतोंके योग्य श्रावककी दीक्षासे युक्त करता है तब उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कार चाहने वाले उस भव्यके उसी स्त्रीके साथ फिरसे विवाह संस्कार होता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवान्‌की पूजाको आदि लेकर पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिये ॥६०॥ यह बारहवीं विवाहक्रिया है।

१ विरागमूहेन। २ प्रवचने साङ्गेऽधीती। ३ यज्ञोपवीत। 'उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे'। ४ व्रतावतरणम् म०। ५ धर्मपत्नीम्। ६ गर्भान्वयक्रियासु प्रोक्तः। ७ जिनदर्शनस्वीकारात् प्राग्गृहीतायाः स्वभार्यायाः।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् सम्बन्धं संविधित्सतः[1][2] । [3]समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१॥
चतुरः[4] श्रावकज्येष्ठान् आहूय कृतसत्क्रियान् । तान् ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः[5][6] ॥६२॥
यूयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३॥
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४॥
अयोनिसम्भवं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात् । [7]चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम्[8] ॥६५॥
व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहम् उपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । [9]कृतविद्यश्च जातोऽस्मि [10]स्वधीतोपासकश्रुतः[11] ॥६६॥
व्रतावतरणस्यान्ते[12] स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७॥
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः । सुलभः सोऽपि युष्माकम् अनुज्ञानात् सधर्मणाम् ॥६८॥
इत्युक्तास्ते च तं सत्यम् एवमस्तु समञ्जसम्[13] । त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९॥
युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०॥
इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते । विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२॥

इति कुलचर्या ।

तदनन्तर—जिन्हें वर्णलाभ हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविका करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार बड़े बड़े श्रावकोंको आदर सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरा अनुग्रह कीजिये ॥६२॥ आप लोग संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं, संसारमें पूज्य हैं और मैंने भी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ॥६३॥ मैंने गृहस्थोंके संपूर्ण धर्मका आचरण किया है, दान भी दिये हैं और गुरुओंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे योनिके बिना ही उत्पन्न होनेवाला जन्म धारण किया है, और चिर कालसे पालन किये हुए मिथ्याधर्मको छोड़कर जिसका पहले कभी चिन्तवन भी नहीं किया था ऐसा सम्यक् चारित्र धारण किया है ॥६५॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिये ही मैंने इस समय यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचारका अच्छी तरह अध्ययन कर विद्वान् भी हो गया हूं ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके बाद ही मैंने आभूषण स्वीकार किये हुए हैं, मैंने अपनी पत्नीके भी संस्कार किये हैं और उसके साथ दुबारा विवाहसंस्कार भी किया है ॥६७॥ इस प्रकार व्रत धारण करनेवाले मुझको वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित है और वह भी आप साधर्मी पुरुषोंकी आज्ञासे सहज ही प्राप्त हो सकती है ॥६८॥ इस प्रकार कह चुकनेपर वे श्रावक कहें कि ठीक है, ऐसा ही होगा, तुमने जो कुछ कहा है वह सब प्रशंसनीय है, तुम्हारे समान और दूसरा द्विज कौन है ? ॥६९॥ आप जैसे पुरुषोंके न मिलनेपर हम लोगोंको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके साथ भी सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दें और वर्णलाभसे युक्त करावें तथा वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन सब श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेरहवीं वर्णलाभ नामकी क्रिया है ।

यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके । अब कुलचर्या क्रिया कही जाती है । आर्य पुरुषोंके करने

---

१ कन्याप्रदानादानादिसम्बन्धम् । २ संविधातुमिच्छतः । ३ समानाजीविभिः असिमष्यादिवृत्तिभिः । ४ विचक्षणान् । ५ चतुःसंख्यान् । ६ युष्माभिः समीकृतः । ७ चिरकालसंस्कारितम् । मिथ्यात्ववृत्तमित्यर्थः । ८ पूर्वस्मिन्नभावितम् । सम्यक्त्वमित्यर्थः । ९ सम्यग्विद्यः । १० सुष्ठ्वधीत । ११ —मञ्जसम् ल०, द० । १२ गायत्रीमन्त्रादिचिन्हत्यागावसाने । १३ इष्टम् ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३॥
प्रायश्चित्तविधानज्ञः [1]श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४॥
इति गृहीशिताक्रिया ।
ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५॥
इति प्रशान्तताक्रिया ।
गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायम् अनुशिष्य गृहोज्झनम् ॥७६॥
इति गृहत्यागक्रिया ।
त्यक्तागारस्य तस्यातः तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥७७॥
इति दीक्षाद्यक्रिया ।
ततोऽस्य जिनरूपत्वम् इष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८॥
इति जिनरूपता ।
क्रियाशेषास्तु निःशेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्युः न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९॥
यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणम् अचिरात्सुखसाद्भवन् [2]॥८०॥
इति दीक्षान्वयक्रिया ।

योग्य देवपूजा आदि छह कार्योंमें पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह कुलचर्या नामकी चौदहवीं क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए चारित्रसे विशुद्ध हुआ श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है। जो सम्यक्चारित्र और अध्ययनरूपी सम्पत्तिसे परपुरुषोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जो प्रायश्चित्तकी विधिका जानकार है, श्रुति, स्मृति और पुराणका जानने वाला है ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह गृहीशिता नामकी पन्द्रहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस भव्यके पहलेके समान ही प्रशान्तता नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७५॥ यह सोलहवीं प्रशान्तता क्रिया है ।

तत्पश्चात् जब वह घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ यह सत्रहवीं गृहत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे भव्य पुरुषका पहलेके समान एक वस्त्र धारण करना यह दीक्षाद्य नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७७॥ यह दीक्षाद्य नामकी अठारहवीं क्रिया है ।

इसके बाद जब वह गृहस्थ वस्त्र छोड़कर किन्हीं योग्य आचरणवाले मुनिराजसे दिगम्बर रूप धारण करता है तब उसके जिनरूपता नामकी क्रिया कही जाती है ॥७८॥ यह उन्नीसवी जिनरूपता क्रिया है ।

इनके सिवाय जो कुछ क्रियाएं बाकी रह गई हैं वे सब जिस प्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गई हैं उसी प्रकार प्रतिपादन करने योग्य हैं । इनमें और उनमें कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थरूपसे जानकर उनका पालन करता है वह सुखके आधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार यहां दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

१ द्वादशाङ्गश्रुतिनिरूपवेद । २ धर्मशास्त्रम् ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि द्विजाः[1] कर्त्रन्वयक्रियाः । याः [2]प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१॥
तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । या सा [3]वासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२॥
स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥८३॥
विशुद्धकुलजात्यादिसम्पत्सज्जातिरुच्यते । [4]उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४॥
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥८५॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता । यत्प्राप्तौ[5] सुलभा बोधिः[6] अयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८६॥
[7]सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयम् आर्यावर्ते[8] विशेषतः । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता । [10]एतन्मूला यतः[11] सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । [12]यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९॥
विशुद्धाकरसम्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं[13] क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०॥
[14]सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य सत्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥९१॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२॥

अथानन्तर–हे द्विजो, मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओंको कहता हूँ, जो कि अल्पसंसारी भव्य प्राणी हीके हो सकती हैं ॥८१॥ उन कर्त्रन्वयक्रियाओंमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो कि किसी निकट भव्यको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी क्रिया होती है ॥८३॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी संपदा सज्जाति कहलाती है। इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम वंशोंको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माताके वंशकी शुद्धि जाति कहलाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनोंकी विशुद्धिको सज्जाति कहते हैं, इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर बिना प्रयत्नके सहज ही प्राप्त हुए गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है ॥८६॥ आर्यखण्डकी विशेषतासे सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलनेपर प्राणियोंके अनेक प्रकारके कल्याण उत्पन्न करती है। भावार्थ–यदि आर्यखण्डके विशुद्ध वंशोंमें जन्म हो और शरीर आदि योग्य सामग्रीका सुयोग प्राप्त हो तो अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है ॥८७॥ यह सज्जाति उत्तम शरीरके जन्मसे ही वर्णन की गई है क्योंकि पुरुषोंके समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिका मूलकारण यही एक सज्जाति है ॥८८॥ संस्काररूप जन्मसे जो सज्जातिका वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जिस प्रकार विशुद्ध खानमें उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मन्त्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है जिस समय वह पुण्यवान् भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञान-

---

१ भो विप्राः । २ प्रत्यासन्नमोक्षस्य । ३ सा चासन्न–ल० । ४ उत्तरोत्तराभ्युदयवदन्वयत्वम् । ५ यतः सज्जातौ प्राप्तौ सत्याम् । ६ रत्नत्रयप्राप्तिः । ७ उपागतैः । ८ सज्जातिपरिप्राप्तिः । ९ आर्यखण्डे । 'आर्यावर्तं पुण्यभूमिरित्यभिधानात् । १० एषा सज्जातिर्मूलं कारणं यासां ताः । ११ यतः कारणात् । १२ संस्कारजन्मसज्जातिम् । १३ उत्कर्षं याति । १४ सुवर्णपाषाणः ।

तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥९३॥
व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं[1] मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥९४॥
यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं[2] तु स्याद् [3]भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः[4] ॥९५॥
यदैव लब्धसंस्कारः परं[5] ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः[6] ॥९६॥
[7]लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैर्यथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं[8] परम् ॥९७॥
अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८॥
ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधीभवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥९९॥
यदुक्तं गृहचर्यायाम् अनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नम् अतन्द्रालुः समाचरेत्[9] ॥१००॥
जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं[10] द्विजसत्तमः ॥१०१॥
तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज इव ब्राह्मम्[11] अवतीर्णं महीतलम् ॥१०२॥
स यजन्[12] याजयन्[13] धीमान् यजमानैः[14]उपासितः[15] । अध्यापयन्नधीयानो[16] [17]वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥१०३॥

को प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शीलसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥९२–९३॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञाको प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिह्न है, वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥९४॥ तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणोंसे बना हुआ जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥९५॥ जिस समय वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्रह्मको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वादरूप वचनोंसे उसकी प्रशंसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतोंसे जिनेन्द्र भगवान्की आशिषिका ग्रहण कराते हैं अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे बचे हुए पुष्प अथवा अक्षत उसके शिर आदि अंगोंपर रखवाते हैं क्योंकि यह एक प्रकारका स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यन्त उत्साह बढ़ानेवाला है ॥९६–९७॥ इस प्रकार जब वह भव्य जीव बिना योनिके प्राप्त हुए दिव्यज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न होनेवाले उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला समझा जाता है ॥९८॥ यह सज्जाति नामकी पहली क्रिया है ।

तदनन्तर जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है इस प्रकार जो सद्गृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामें करने योग्य जो जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे हुए उन उन समस्त आचरणोंका जो आलस्यरहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधरदेवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज–आत्मतेजको धारण करता है ॥९९–१०१॥ उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं कि तू पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेजके समान है ॥१०२॥ पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोंसे भी कराता

---

१ यज्ञसूत्रम् । २ उपासकाचारसम्बन्धि । ३ मनसा विकल्पितैः । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः । उपलब्धि उपयोगसंस्कारैर्वा । ५ परमज्ञानम्, परमतपो वा । ६ आचार्याः । ७ प्रापयन्ति । ८ प्रवर्तनम् । ९ समाचरन् द०, अ०, ल०, प०, इ०, स० । १० वृत्ताध्ययनसम्पत्तिम् । 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धि' इत्यभिधानात् । ११ ज्ञानसम्बन्ध्युत्कृष्टतेज इव । १२ यजनं कुर्वन् । १३ यजनं कारयन् । १४ पूजाकारकैः । १५ आराधितः । १६ अध्ययनं कारयन् । १७ आगम–आगमाङ्ग ।

स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्याद् इहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । [1]प्राप्तिः [2]प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥
गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम्[3] । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ॥१०६॥
धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् सम्भावयत्यसौ ॥१०७॥
अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं[4] गतो भवान् ॥१०८॥
त्वमामुष्यायणः[5] किन्न[6] किन्तेऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका[7] । [8]येनैवमुन्नसो[9] भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्विधान् ॥१०९॥
जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः[10] । तथापि देवतात्मानम् आत्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
देवतातिथिपित्रग्निकार्येष्वप्रयतो[11] भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥
दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥११२॥
इत्युपारूढसंरम्भम्[12] उपालब्धः[13] स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः[14] ॥११३॥
श्रूयतां भो द्विजम्मन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसम्भवः[15] । जिनो [16]जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४॥

है, जो वेद और वेदाङ्गके विस्तारको स्वयं पढ़ता है तथा दूसरोंको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता है तथापि पृथिवीसम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवपर्यायको प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नहीं है किन्तु महिमा अर्थात् बड़प्पन है, जिसके गरिमाऋद्धि है परन्तु लघिमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं, उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोकको उल्लङ्घन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथिवीपर पूजित होता है ॥१०३–१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्मसम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी संभावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणोंसे अपने आपको देवब्राह्मणके समान उत्तम बना देता है ॥१०७॥

यदि अपनेको झूठमूठ ही द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेशसे इस देवब्राह्मणसे कहे कि आप क्या आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं ? ॥१०८॥ क्या तू अमुक पुरुषका पुत्र नहीं है ? और क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? जिससे कि तू इस तरह नाक ऊंची कर मेरे ऐसे पुरुषोंका सत्कार किये बिना ही जाता है ? ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सबेरेके समय था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मानता है ॥११०॥ यद्यपि तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्निके कार्योंमें निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षा धारण करनेसे तुझे कौनसा अतिशय प्राप्त हो गया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है और पृथिवीको स्पर्श करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ॥११२॥ इस प्रकार क्रोध धारणकर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिये युक्तिसे भरे हुए वचनोंसे इस प्रकार उत्तर दे ॥११३॥ हे अपने आपको द्विज माननेवाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और

---

१ रत्नत्रयादिगुणलाभ । २ प्रकर्षेणासमन्तात् सकलाभिलषणीयत्वम् । ३ देवाधीनम् । देवसाद्भवन् ल०, द०, इ० । देवसाद्भवेत् अ०, प०, स० । ४ देवत्वम् । ५ कुलीन । 'प्रसिद्धपितृत्वात् आमुष्यायण उच्यते ।' ६ नन । ७ कुलीना पुत्री । ८ येन कारणेन । ९ उद्गतनासिकः । १० प्राग्भव । ११ –ष्वप्राकृतो ल०, द० । १२ स्वीकृतरोषं यथा भवति तथा । १३ दूषित । १४ पटुभि । १५ अस्माकं देवोत्पत्ति । १६ पिता ।

[1]तत्रार्हतीं त्रिधा[2] भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रिताम्[3]। स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥
अयोनिसम्भवास्तेन देवा एव न मानुषाः। वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान्[4] ॥११६॥
स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः ततो देवद्विजा वयम्। व्रतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्[5] ॥११७॥
पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजाः सूत्रकण्ठकाः[6]। सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥
शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम्। जन्माङ्गिनां मृतिश्चैवं द्विधाम्नाता जिनागमे ॥११९॥
देहान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयात्। शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजां भवान्तरे ॥१२०॥
तथालब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः। द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१॥
शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम्। संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्याघसमुज्झनम् ॥१२२॥
[7]यतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतनम्[8]। मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन[9] मृतो भवेत् ॥१२३॥
तत्र[10] संस्कारजन्मेदम् अपापोपहतं परम्। जातं नो[11] गुर्वनुज्ञानाद्[12] अतो देवद्विजा वयम् ॥१२४॥
इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्न्यायवर्त्मना। गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५॥
भूयोऽपि सम्प्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान्। जातिवादावलेपस्य[13] [14]निरासार्थमतः परम् ॥१२६॥

ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो अरहन्तदेवसम्बन्धिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न शक्तियां हैं उन्हें अपने अधीन कर हम संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुए हैं ॥११५॥ हम लोग बिना योनिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये देव ही हैं मनुष्य नहीं हैं, हमारे समान जो और भी हैं उन्हें भी तू देवब्राह्मण कह ॥११६॥ हम लोग स्वयंभूके मुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये देवब्राह्मण हैं और हमारे व्रतोंका चिह्न शास्त्रोंमें कहा हुआ यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥ आप लोग तो गलेमें सूत्र धारणकर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्टक बनते हुए पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म। इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जीवोंका मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पहले शरीरका क्षय हो जानेसे दूसरी पर्यायमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोंका शरीरजन्म जानना चाहिये। ॥१२०॥ इसी प्रकार संस्कारयोगसे जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष-को जो द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें शरीरका परित्याग करना शरीरमरण है तथा व्रती पुरुष-का पापोंका परित्याग करना संस्कारमरण है ॥१२२॥ इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए हैं ऐसा जीव मिथ्यादर्शनरूप पहलेके पर्यायको छोड़ देता है इसलिये वह एक तरहसे मरा हुआ ही कहलाता है ॥१२३॥ उन दोनों जन्मोंमेंसे जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्कारसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरुकी आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिये मैं देवद्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूं ॥१२४॥ इस प्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माके गुणोंका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर सद्गृहस्थ होता है ॥१२५॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ब्राह्मणोंसे उनके जातिवादका अहंकार दूर करनेके लिये इसके

---

१ ज्ञानगर्भे। २ सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणीति त्रिप्रकारैः। ३ उपलब्ध्युपयोगसंस्कारात्मता गताम्। ४ अयोनिसम्भवप्रकारान्। अयोनिसम्भवसदृशानित्यर्थः। ५ आगमप्रोक्तम्। ६ सूत्रमात्र-मेव कण्ठे येषां ते। ७ यस्मात् कारणात्। ८ प्राक्तनम्। ९ मिथ्यादर्शनत्यजनरूपेणेत्यर्थः। १० शरीरजन्मसंस्कारजन्मनोः। ११ अस्माकम्। १२ गुरोरनुज्ञया। १३ गर्वस्य। १४ निराकरणाय।

ब्रह्मणोऽपत्यमित्येव ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् परमेष्ठी[1] जिनोत्तमः ॥१२७॥
स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तम् आमनन्ति मुनीश्वराः ॥१२८॥
नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । यः कामगर्दभो[2] भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात्[3] ॥१२९॥
दिव्यमूर्त्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात्[4] । समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१३०॥
[5]वर्णान्तःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमाः । व्रतमन्त्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥१३१॥
वर्णोत्तमानिमान् विद्मः क्षान्तिशौचपरायणान् । सन्तुष्टान् प्राप्तवैशिष्टचान् अक्लिष्टाचारभूषणान् ॥१३२॥
[6]क्लिष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारम्भरताः शश्वद् आहत्य[7] पशुघातिनः ॥१३३॥
सर्वमेधमयं[8] धर्मम् अभ्युपेत्य पशुघ्नताम्[9] । का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥
चोदनालक्षणं[10] धर्मम् अधर्मं प्रतिजानते[11] । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥१३५॥
पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाकाः[12] पापपण्डिताः । तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणाः[13] पशून् ॥१३६॥
[14]पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादेभ्योऽपि[15] निष्कृपाः । यद्युच्छ्रितिं[16] मुवान्त्येते हन्तैवं धार्मिका हताः ॥१३७॥

आगे फिर भी कुछ कहता हू ॥१२६॥ जो ब्रह्माकी सतान है, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयंभू, भगवान्, परमेष्ठी तथा जिनेन्द्रदेव ब्रह्मा कहलाते हैं। भावार्थ—जो जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य-परम्परामे प्रविष्ट हुए है वे ब्राह्मण कहलाते है ॥१२७॥ श्रीजिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा है क्योकि वे ही गुणोको बढानेवाले है और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हीके अधीन है ऐसा मुनियोके ईश्वर मानते है ॥१२८॥ जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, डाढी आदि चिह्नोसे युक्त है तथा कामके वश गधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नही हो सकता ॥१२९॥ इसलिये जिन्होने दिव्य मूर्तिके धारक श्री जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते है ॥१३०॥ व्रत, मन्त्र तथा सस्कारोसे जिन्हे गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोको वर्णोंके अन्तर्गत नही मानना चाहिये अर्थात् ये वर्णोत्तम है ॥१३१॥ जो क्षमा और शौच गुणके धारण करनेमे सदा तत्पर है, सतुष्ट रहते है, जिन्हे विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण ही जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजोको सब वर्णोमे उत्तम मानते है ॥१३२॥ इनके सिवाय जो मलिन आचारके धारक है, अपनेको झूठमूठ द्विज मानते है, पापका आरम्भ करनेमे सदा तत्पर रहते है और हठपूर्वक पशुओका घात करते है वे ब्राह्मण नही हो सकते ॥१३३॥ जो समस्त हिंसामय धर्म स्वीकार कर पशुओका घात करते है ऐसे पापशास्त्रोसे आजीविका करनेवाले इन ब्राह्मणोकी न जाने कौन सी गति होगी ? ॥१३४॥ जो अधर्म स्वरूप वेदमें कहे हुए प्रेरणात्मक धर्मको धर्म मानते है मै उनके सिवाय इस पृथिवीपर और किसीको कर्म चाण्डाल नही देखता हू अर्थात् वेदमे कहे हुए धर्मको माननेवाले सबसे बढकर कर्म चाण्डाल है ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओका घात करते है वे पापरूप कार्योमें पडित है, लुटेरे है, और धर्मात्मा लोगोसे बाह्य है, ऐसे पुरुष राजाओके द्वारा दण्डनीय होते है ॥१३६॥ पशुओकी हिंसा करनेके उद्योगसे जो राक्षसोसे भी अधिक निर्दय है यदि ऐसे पुरुष ही उत्कृष्टताको प्राप्त होते हो तव

---

१ परमपदे स्थित । २ कामाद् गर्दभाकारयुक्त इत्यर्थ । ३ अध्ययनसम्पत्ते । ४ अकलुषात् । ५ वर्णमात्रवर्तिन इत्यर्थं । ६ दुष्ट । ७ हठात्, साक्षात् वा । ८ हिंसामयम् । ९ हिंसा कुर्वताम् । १० वेदोक्तलक्षणम् । ११ प्रतिज्ञा कुर्वते । १२ चौरा । १३ निकृपा । १४ पशुहननप्रारम्भात् । १५ राक्षसेभ्य । 'राक्षस कोणप कव्यात् क्रव्यादोऽस्रप आशर' इत्यभिधानात् । १६ उन्नतिम् ।

मलिनाचरिता ह्येते [1]कृष्णवर्गे द्विजब्रुवाः । जैनास्तु निर्मलाचाराः [2]शुक्लवर्गे मता बुधैः ॥१३८॥
[3]श्रुतिस्मृति[4]पुरावृत्त[5]वृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम् ॥१३९॥
ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां[6] समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोद्धव्याः शेषाः शुद्धेः बहिः कृताः ॥१४०॥
तच्छुद्ध्यशुद्धी[7] बोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वम् अन्यायः प्राणिमारणम् ॥१४१॥
विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । [8]वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२॥
स्यादारेका[9] च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम् । हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥
इत्यत्र[10] ब्रूमहे सत्यम्[11] अल्पसावद्यसङ्गतिः । [12]तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥१४४॥
अपि चैषां विशुद्धयङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥१४५॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥१४६॥
चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा । औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥
तत्राकामकृते[13] शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाच्चात्मालय[14] सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥१४८॥

तो दुःखके साथ कहना पडेगा कि बेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए ॥१३७॥ ये द्विज लोग मलिन आचारका पालन करते हैं और झूठमूठ ही अपनेको द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें कृष्णवर्ग अर्थात् पापियोंके समूहमें गर्भित करते हैं और जैन लोग निर्मल आचारका पालन करते हैं इसलिये इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें शामिल करते हैं ॥१३८॥ द्विज लोगोंकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओंके आश्रित है तथा देवताओंके चिह्न धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥१३९॥ जो श्रुत स्मृति आदिके द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें समझना चाहिये और जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धिसे बाहर समझना चाहिये अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं ॥१४०॥ उनकी शुद्धि और अशुद्धि, न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिये । दयासे कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियोंका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं । वे ही द्विज हैं । ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं ॥१४२॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो असि मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके लिये छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोड़ी सी हिंसाकी संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलाई गई है ॥१४३–१४४॥ उनकी विशुद्धिके अङ्ग तीन हैं पक्ष, चर्या और साधन । अब मैं यहाँ इन्हीं तीनका वर्णन करता हूं ॥१४५॥ उन तीनोंमेंसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिये, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये अथवा किसी औषधि या भोजन बनवानेके लिये मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि

१ पाप । २ पुण्य । ३ आगम । ४ धर्मसंहिता । ५ पुराण । ६ श्रुतिस्मृत्यादिकृताम् । ७ जैनद्विजोत्तमानां शुद्ध्यशुद्धि । ८ वर्णमात्रवर्तिनः । ९ शङ्का । १० 'हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्यात्' इत्यत्र । ११ सत्यमल्पसङ्गविचारे । १२ षट्कर्मि । व्यापार इत्यर्थः । १३ प्रमादजनिते दोषे । १४ –चात्मान्वयं द०, स०, इ०, अ०, प०, ल० ।

चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् । देहाहारेहितत्यागात्[1] ध्यानशुद्धात्मशोधनम् ॥१४९॥
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्‌द्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥१५०॥
चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते । [2]चातुराश्रम्यमन्येषाम् अविचारितसुन्दरम् ॥१५१॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानाम् उत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२॥
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्भेदाः पृथग्विधाः[3] । ग्रन्थगौरवभीत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१५३॥
सद्‌गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५४॥

इति सद्‌गृहित्वम् ।

गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद् विरज्यतः[4] । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्षते ॥१५५॥
पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५६॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्न[5]ग्रहांशके[6] । निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५७॥
विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्‌वृत्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५८॥
[7]ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥१५९॥

की जाती है तथा अन्तमें अपना सब कुटुम्ब पुत्रके लिये सौंपकर घरका परित्याग किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोंकी चर्या कही, अब आगे साधन कहते हैं । आयुके अन्त समयमें शरीर आहार और समस्त प्रकारकी चेष्टाओंका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥१४९॥ अरहन्तदेवको माननेवाले द्विजोंका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें हिंसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता, इस प्रकार अपने ऊपर ठहराये हुए दोषोंका निराकरण हो सकता है ॥१५०॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी श्री अर्हन्तदेवके मतमें ही है । अन्य लोगोंने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये विना ही सुन्दर हैं अर्थात् जब तक उनका विचार नहीं किया गया है तभी तक सुन्दर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होनेसे प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ ये चारों ही आश्रम अपने अपने अन्तर्भेदोंसे सहित होकर अनेक प्रकारके हो जाते हैं, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये परन्तु ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे यहाँ उनका विस्तार नहीं लिखा है ॥१५३॥ इस प्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्‌गृहित्व क्रिया है । अब इसके आगे अत्यन्त विशुद्ध पारिव्रज्य नामकी तीसरी क्रियाका निरूपण करेंगे ॥१५४॥ यह दूसरी सद्‌गृहित्व क्रिया है ।

इस प्रकार गृहस्थधर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे पारिव्रज्य कहते हैं ॥१५५॥ परिव्राट्का जो निर्वाणदीक्षारूप भाव है उसे पारिव्रज्य कहते हैं, इस पारिव्रज्य क्रियामें ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बररूप धारण करना पड़ता है ॥१५६॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहोंके अंशमें निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघपटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास

---

१ चेष्टा । २ चतुराश्रमत्वम् । ३ नानाप्रकाराः । ४ विरक्तिं गच्छतः । ५ मूहूर्तः । ६ ग्रहांशके: ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । ७ चन्द्रादिग्रहणे ।

[1]नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ [2]हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः [3] ॥१६०॥
[4]सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विमं [5]दीक्षयेदधीः । स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः [6] ॥१६१॥
[7]तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । यैर्निणीतैर्[8]भवेत्साक्षात्[9] पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२॥
जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं[10] लक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते[11] ॥१६३॥
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणे । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥१६४॥
क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभा कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जात्यादि सप्तविंशतिः ॥१६५॥
जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम् । गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु[12] [13]तेष्वकृतादरः ॥१६६॥
जातिमानप्यनुत्सिक्तः[14] सम्भजेदर्हतां क्रमौ[15] । यतो जात्यन्तरे[16] जात्यां[17] याति जाति[18]चतुष्टयीम् ॥१६७॥
जातिरैन्द्री[19] भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥१६८॥

अथवा अधिक मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथिका दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योंके लिये दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते हैं अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं ॥१५९–१६०॥ जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदायका अनादर कर नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध पुरुषोंके उल्लंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधुओंके द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है । भावार्थ–जो आचार्य असमयमें ही शिष्योंको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध आचार्योंकी मान्यताको उल्लंघन करता है इसलिये साधुओंको चाहिये कि वे ऐसे आचार्यको अपने संघसे बाहर कर दें ॥१६१॥ मुनिराज इस पारिव्रज्य क्रियामें उन सताईस सूत्र पदोंका निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्रज्यका साक्षात् लक्षण प्रकट होता है ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१६३–१६५॥ ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोंके गुण कहलाते हैं । उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोंमें आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिये । भावार्थ–ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियोंमें होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्यमें भी यथासंभव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणोंका सन्मान नहीं कर परमेष्ठियोंके ही जाति आदि गुणोंका सन्मान करना चाहिये । क्योंकि ऐसा करनेसे वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणोंमें बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ॥१६६॥ स्वयं उत्तम जातिवाला होनेपर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेमें वह भव्य दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियोंको प्राप्त होता है ॥१६७॥ इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोंके विजयाश्रिता, अरहन्तदेवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा-

---

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयोः । २ असम्पूर्णतिथौ । ३ सम्पूर्णमतयः । ४ आम्नायम् (परम्पराम्) । ५ दीक्षां स्वीकुर्यात् । ६ वृद्धातिक्रमण तत्परः । ७ परिव्राज्ये । ८ निश्चितैः । ९ प्रत्यक्षम् । १० मूर्तिस्थितम् । तत्रस्थं ल० । ११ अभिषवश्च अभिषेको नाथता च स्वामित्वं च । १२ आत्मीयेषु । १३ जात्यादिषु । १४ अगर्वितः । १५ चरणौ । १६ जन्मान्तरे । १७ उत्पत्तौ सत्याम् । १८ दिव्यजातिविजयजाति परमजाति स्वात्मोत्थजातिरिति । १९ इन्द्रस्य इयम् ।

मूर्त्यादिष्वपि[1] नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी । पुराणज्ञैरसंमोहात् क्वचिच्च[2] त्रितयी मता ॥१६९॥
कृशीकुर्यात् स्वमात्मीयं रक्षन्मूर्तीः शरीरिणाम् । तपोऽनितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥१७०॥
स्वलक्षणमनिर्देश्यं[3] मन्यमानो जिनेशिनाम् । लक्षणान्यभिसन्धाय[4] तपस्येत् कृतलक्षणः[5] ॥१७१॥
म्लापयन्[6] स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । वाञ्छन् दिव्यादिसौन्दर्यम् अनिवार्यपरम्परम् ॥१७२॥
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः[7] प्रभामयं ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३॥
स्वं मणिस्नेह[8]दीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः ॥१७४॥
त्यक्त्वास्त्र[9]वस्त्र[10]शस्त्राणि[11] प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक् । जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥१७५॥
त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं[12] जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम् ॥१७६॥
स्वं [13]स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेवित्वा सेवनीयत्वम् एष्यत्येष जगज्जनैः ॥१७७॥
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः । सैंहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८॥
[14]स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधि[15]र्मुनिः । शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥१७९॥

जाति होती है ॥१६८॥ इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिये, अर्थात् जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिये। परन्तु पुराणोंको जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी किसी जगह तीन ही भेदोंकी कल्पना करते हैं। भावार्थ-सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिये तथा अन्य जीवोंके शरीरोंकी रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिये ॥१७०॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणोंको निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्योंकी इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्यको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥१७२॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अर्हन्तदेवकी प्रभाका ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्र ही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि प्रभाओंको प्राप्त करता है ॥१७३॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान्की आराधना करता है वह प्रभामण्डलसे उज्ज्वल हो उठता है ॥१७४॥ जो पहलेके अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्रभगवान्की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्रका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरुपर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोकसम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवकी सेवा करता है वह जगत्के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत्के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१७७॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनोंके भेदोंका त्यागकर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासनपर आरूढ़ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थंकर होता है ॥१७८॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-

---

१ दिव्यमूर्तिविजयमूर्ति परममूर्ति स्वात्मोत्थमूर्तिरिति एवमुत्तरत्रापि योजनीयम्। २ सिद्धादौ। ३ नामसंकीर्तनं कर्तुमयोग्यमिति। ४ ध्यात्वा। ५ गुणैः प्रतीतः। 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणौ' इत्यभिधानात्। ६ म्लानिं कुर्वन्। ७ जिनस्य। ८ तैलाभ्यङ्गन। ९ दिव्यास्त्र। १० -त्यक्त्वास्त्र- ट०। करमुक्त। ११ सामायास्त्र। १२ प्रकृष्टज्ञानातिशयम। १३ स्वामित्वम्। १४ निजोप- बर्हासनादि। 'उपधानं तूपबर्हम्' इत्यभिधानात्। १५ निष्परिग्रहः।

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रम् आस्कन्दत्युपधानकम्[1] ॥१८०॥
त्यक्तशीतातपत्राणः सकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयम् ॥१८१॥
विविधव्यजनत्यागाद् अनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये[4] ॥१८२॥
उज्झितानकसङ्गीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद्[5]द्युदुन्दुभिनिर्घोषैः घुष्यमाणजयोदयः ॥१८३॥
उद्यानादिकृतां छायाम् अपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥१८४॥
स्वं[6]स्वापतेयमनुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः[7] । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५॥
गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम्[8] ॥१८६॥
तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः । त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७॥
क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् [10]क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रम् ऐश्वर्यमस्योपजायते ॥१८८॥
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम् । प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम् ॥१८९॥
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानयम् । परमाप्तपदप्राप्तौ अध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥१९०॥

रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊंचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकियाको प्राप्त होता है ॥१७९–१८०॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रहका त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुशोभित होता है ॥१८१॥ अनेक प्रकारके पंखाओंके त्यागसे जिसने तपश्चरणकी विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्यायमें चौंसठ चमरोंसे वीजित होता है अर्थात् उसपर चौसठ चमर ढलाये जाते हैं ॥१८२॥ जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदिकी घोषणाका त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुन्दुभियोंके गम्भीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८३॥ चूंकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छायाका परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (अरहन्तअवस्थामें) महाअशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजेपर खड़ी हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमिमें निधियाँ दरवाजेपर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥१८५॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गई थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिये श्रीमण्डपकी शोभा अपने आप इसके सामने आती है ॥१८६॥ जो तप करनेके लिये सघन वनमें निवास करता है उसे तीनों जगत्के जीवोंके लिये स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके समस्त जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥१८७॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने आधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥१८९॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका परित्याग करता है इसलिये उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर

---

१ उपबर्हम् । २ छत्र । ३ चामर । ४ अर्हत्पर्याये सति । ५ स्वर्दुन्दुभिभिः । ६ धनम् । 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थं ऋक्थं धनं वसु' इत्यभिधानात् । ७ निर्ममत्व गत । ८ अग्रेसरताम् । ९ प्रवेशनात् । १० आत्मस्वरूपत्वम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष' इत्यभिधानात् ।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः। स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥१९१॥
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं [1]यतोऽनुष्ठितवांस्तपः। ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैः[2] अनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥१९२॥
तपोऽयमनुपानत्कः[3] पादचारी विवाहनः। कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति[4] ॥१९३॥
वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या यतोऽयं तपसि स्थितः। ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम् ॥१९४॥
[5]अनाश्वान्नियताहारपारणोऽतप्त[6] यत्तपः[7]। तदस्य दिव्यविजय[8]परमामृततृप्तयः ॥१९५॥
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः। ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दथुं[9] भजेत् ॥१९६॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम्। त्यजेन्मुनिरसंकल्पः तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः[10] ॥१९७॥
प्राप्तोत्कर्षं तदस्य[11] स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलम्। यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः संपाऽनुवर्णिता ॥१९८॥
जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन्। तपस्या यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम्[12] ॥१९९॥
अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितम्। पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्यं [13]चेदमनुत्तरम्[12] ॥२००॥

इति पारिव्राज्यम्।

वह तीनों लोकोंकी सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥१९०॥ जो सब प्रकारकी इच्छाओंका परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महा-तपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दामें समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥१९१॥ इस मुनिने वन्दना करने योग्य अर्हन्तदेवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वन्दना करने योग्य-पूज्य पुरुषोंके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भाण्डार हुआ है ॥१९२॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोंके मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामें देवलोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥१९३॥ चूँकि यह मुनि वचनगुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भाषासमितिका पालन कर तपश्चरणमें स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभाको संतुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है ॥१९४॥ इस मुनिने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएं कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय-तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई है ॥१९५॥ यह मुनि काम जनित सुखको छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरणमें स्थिर रहा था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्दको प्राप्त हुआ है ॥१९६॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेप में इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकारकी जिस जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्तदेवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नामकी क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगममें कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्रज्य होता है ॥१९९॥ अनेक प्रकारके वचनोंके जालमें निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य लोगोंके पारिव्रज्य

---

१ यस्मात् कारणात्। २ गणधरादिभिः। ३ पादत्राणरहित। ४ पादन्यासस्य योग्यो भवति। ५ अनशनव्रती। ६ अकरोत्। ७ यत् कारणात्। ८ दिव्यतृप्तिविजयतृप्तिपरमतृप्त्य-मृततृप्तय। ९ आनन्दम्। १० प्रसिद्ध तप। ११ पारमार्थिकम्। १२ अर्हत्सम्बन्धि पारिव्राज्यम्। १३ –मनुत्तमम् ल०।

परमजिनपदानुरक्तधीः
भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।
स धुतनिखिलकर्मबन्धनो
जननजरामरणान्तकृद् भवेत् ॥२१०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरत[1]श्च्युत्वा गतश्चक्रिताम्-
[2]प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-
पुराणसङ्ग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नाम
एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३९॥

वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओंसहित जिनमतमें कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह संसारसम्बन्धी भयके बन्धनोंको शीघ्र ही तोड़ देता है—नष्ट कर देता है ॥२०९॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्के चरणकमलोंमें अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढ़ापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्राज्यको प्राप्तकर स्वर्ग जाता है, वहां उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहांसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओं का वर्णन करनेवाला उनतालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

1 विनाशकारी । 2 स्वर्गात् ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्[1] । सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१॥
इति सुरेन्द्रता।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूत भोगसम्पत्परम्परम् ॥२०२॥
इति साम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पदः ॥२०३॥
याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसम्पदाम् । तदार्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥२०४॥
इत्यार्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५॥
कृत्स्नकर्ममलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः । सिद्धिः स्यात्मोपलब्धि सा 'नाभावो न गुणोच्छिदा'[2] ॥२०६॥
इति निर्वृतिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसङ्गतिर्यत्र योगिनाम् ॥२०७॥
योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्सम्प्राप्तो परं शिवम्[3] ॥२०८॥

पुष्पिताग्रावृत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबद्धम् ।
अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबन्धनमाशु निर्धुनाति ॥२०९॥

को छोडकर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्यको ग्रहण करना चाहिये ॥२००॥ यह तीसरी पारिव्रज्य क्रिया है ।

पारिव्रज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है ।

जिसमें चक्ररत्नके साथ साथ निधियों और रत्नोंसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी संपदाओंकी परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्तीका बडा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवीं साम्राज्यक्रिया है ।

अर्हत् परमेष्ठीका भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं । इस क्रियामें स्वर्गावतार आदि महाकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठीको जो पञ्चकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिये, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है ॥२०४॥ यह छठवीं आर्हन्त्यक्रिया है ।

संसारके बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं । इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जो अंतरात्माकी शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है अभावरूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणोंके नाशरूप ही है ॥२०६॥ यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है ।

इस प्रकार आगमके अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएं कही गई हैं, इन क्रियाओंका पालन करनेसे योगियोंको परम स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य आलस्य छोडकर निरूपण की हुई इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उस परम धाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होनेपर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है ॥२०८॥ पवित्र बुद्धिको धारण करने

---

१ पर्यायदये प० । २ तुच्छाभावरूपो न । ३ 'बुद्धिसुखदुःखादिनवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः' इति मतखण्डनपरो मोक्षो न । ४ सुखम् ।

परमजिनपदानुरक्तधीः
भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।
स धुतनिखिलकर्मबन्धनो
जननजरामरणान्त[1]कृद् भवेत् ॥२१०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम्[2] ।
सैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यथो निर्वृतिम् ॥२११॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-
पुराणसङ्ग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नाम
एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३९॥

वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओंसहित जिनमतमें कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह संसारसम्बन्धी भयके बन्धनोंको शीघ्र ही तोड देता है—नष्ट कर देता है ॥२०९॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्के चरणकमलोंमें अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्-गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्रज्यको प्राप्तकर स्वर्ग जाता है, वहां उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहांसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण
संग्रहके भाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओं
का वर्णन करनेवाला उनतालीसवां पर्व
समाप्त हुआ ।

---

१ विनाशकारी । २ स्वर्गान् ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकाम्[1]। विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां[2] तिसृणामपि ॥१॥
तत्रादौ तावदुन्नेष्ये[3] क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये[4]। मन्त्रोद्धारं क्रियासिद्धिः मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२॥
आधानादिक्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत्। त्रीणिच्छत्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः[5] ॥३॥
मध्येवेदि[6] जिनेन्द्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि। मन्त्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र[7] तत्पूजनाविधौ[8] ॥४॥
नमोऽन्तो नीरजःशब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम्। जलेन भूमिबन्धार्थं[9] परा शुद्धिस्तु तत्फलम्[10] ॥५॥

(नीरजसे नमः)

दर्भास्तरणसम्बन्धस्ततः पश्चादुदीर्यताम्। विघ्नोपशान्तये दर्पमथनाय नमः पदम् ॥६॥

(दर्पमथनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वै नमः। (शीलगन्धाय नमः)
पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७॥ (विमलाय नमः)

अथानन्तर—आगे इन क्रियाओंकी उत्तरचूलिकाका कथन करेंगे जिसमें कि इन तीनों क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥१॥ इस उत्तरचूलिकामें भी सबसे पहले क्रियाकल्प अर्थात् क्रियाओंके समूहकी सिद्धिके लिये मन्त्रोंका उद्धार करूंगा अर्थात् मन्त्रोंकी रचना आदि का निरूपण करूंगा सो ठीक ही है क्योंकि मुनियोंके कार्यकी सिद्धि भी मन्त्रोंके ही आधीन होती है ॥२॥ आधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमें सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नियां स्थापित करना चाहिये ॥३॥ और वेदीके मध्य भागमें विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान करनी चाहिये। उक्त क्रियाओंके प्रारम्भमें उन छत्र, चक्र, अग्नि तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी जो पूजा की जाती है वह मन्त्रकल्प कहलाता है ॥४॥ इन क्रियाओंके करते समय जलसे भूमि शुद्ध करनेके लिये जिसके अन्तमें नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे नीरजस् शब्दको चतुर्थीके एकवचनरूप मन्त्र पढ़ना चाहिये अर्थात् 'नीरजसे नमः' (कर्मरूप धूलिसे रहित जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये। इस मन्त्रका फल उत्कृष्ट विशुद्धि होना है ॥५॥ तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करना चाहिये और उसके बाद विघ्नोंको शान्त करनेके लिये 'दर्पमथनाय नमः' (अहंकारको नष्ट करनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ॥६॥ गन्ध समर्पण करनेका मन्त्र है 'शीलगन्धाय नमः' (शीलरूप सुगन्ध धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो)। तथा पुष्प देनेका मन्त्र है 'विमलाय

---

१ उत्तरभागं वद् चूलिकायाम्। २ गर्भान्वयादीनाम्। ३ वक्ष्ये। ४ क्रियासमूहरचनार्थम्। ५ क्रमात्। ६ वेदिमध्ये। ७ गर्भाधानादिक्रियारम्भे। ८ छत्रत्रयादिपूजने। ९ भूमिशोधनार्थं भूमिपरिमार्जनमन्त्रः। १० परमपावनत्वम्।

कुर्यादक्षतपूजायाम् अक्षताय नमः पदम् । (अक्षताय नमः)
[1]धूपार्चे श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥८॥ (श्रुतधूपाय नमः)
ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नमः पदम् । (ज्ञानोद्योताय नमः)
मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यमृतोद्धृतौ[2] ॥९॥ (परमसिद्धायनमः)
मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतलम् । ततोऽन्वक्[3] पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥
पीठिकामन्त्र —
सत्यजातपदं पूर्वं चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । [4]ततोऽर्हज्जातशब्दश्च सदन्तस्तत्परो[5] मतः ॥११॥
ततः परमजाताय नमः इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नमः इत्युत्तरं पदम् ॥१२॥
ततश्च स्वप्रधानाय नमः इत्युत्तरो ध्वनिः[6] । अचलाय नमः शब्दाद् अक्षयाय नमः परम् ॥१३॥
अव्याबाधपदं चान्यद् अनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४॥
अनन्तसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥१५॥

नमः (कर्ममलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्‌के लिये नमस्कार हो) ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिये 'अक्षताय नमः' (क्षयरहित जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले और धूपसे पूजा करते समय 'श्रुतधूपाय नमः' (प्रसिद्ध वासनावाले भगवान्‌को नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करे ॥८॥ दीप चढाते समय 'ज्ञानोद्योताय नमः' (ज्ञानरूप उद्योत-प्रकाश) को धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढे और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढाते समय 'परमसिद्धाय नमः' (उत्कृष्ट सिद्धभगवान्‌को नमस्कार हो) ऐसा मन्त्र बोले ॥९॥ इस प्रकार इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका संस्कार कर उसके बाद उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मन्त्र पढना चाहिये ॥१०॥ पीठिका मन्त्र इस प्रकार है—सबसे पहले, जिसके आगे 'नमः' शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति अन्तमें है ऐसे सत्यजात शब्दका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो) बोलना चाहिये, उसके बाद चतुर्थ्यन्त अर्हज्जात शब्दके आगे 'नमः' पद लगा कर 'अर्हज्जाताय नमः' (प्रशंसनीय जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले ॥११॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्मग्रहण करनेवाले अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) बोलना चाहिये और उसके बाद 'अनुपमजाताय नमः' (उपमारहित जन्म धारण करनेवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) यह मन्त्र पढना चाहिये ॥१२॥ इसके बाद 'स्वप्रधानाय नमः' (अपने आप ही प्रधान अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले और उसके पश्चात् 'अचलाय नमः' (स्वरूपमें निश्चल रहनेवाले वीतरागको नमस्कार हो) तथा 'अक्षयाय नमः' (कभी नष्ट न होनेवाले भगवान्‌को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढना चाहिये ॥१३॥ इसी प्रकार 'अव्याबाधाय नमः' (बाधाओंसे रहित परमेश्वरको नमस्कार हो), 'अनन्तज्ञानाय नमः' (अनन्त ज्ञानको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो), 'अनन्तदर्शनाय नमः' (अनन्तदर्शन—केवल दर्शनको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अनन्तवीर्याय नमः' (अनन्त बलके धारक अर्हन्तदेवको नमस्कार हो), 'अनन्तसुखाय नमः' (अनन्तसुखके भाण्डार जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो), 'नीरजसे

---

१ धूपार्चने । २ चरुसमर्पणे । ३ तस्मात् परम् । ४ चतुर्थ्यन्तः । ५ नमः परः । ६ शब्दः ।

ततोऽमराप्रमेयोक्तौ[1] सागर्भावासशब्दनेर[2] । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्तौ परमादिर्घनध्वनि[3] ॥१६॥
पृथक्पृथगिमे[4] शब्दास्तदन्तास्ततपरा[5] मता । उत्तराण्यनुसन्धाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥१७॥
आदौ परमकाष्ठेति योगरूपायवाक्परम् । नम शब्दमुदीर्यान्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥१८॥
लोकाग्रवासिनेशब्दात्पर कार्यो नमो नम । एव परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९॥
एव केवलिसिद्धेभ्य पदाद् भूयोऽन्तकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि[8] ॥२०॥
अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्य सिद्धेभ्यश्च नमो नम ॥२१॥

नम' (कर्मरूपी धूलिसे रहित जिनराजको नमस्कार हो), 'निर्मलाय नम' (कर्मरूप मलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार हो) 'अच्छेद्याय नम' (जिनका कोई छेदन नही कर सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नम' (जो किसी तरह भिद नही सके ऐसे अरहन्त को नमस्कार हो), 'अजराय नम' (जो बुढापासे रहित है उसे नमस्कार हो,) 'अमराय नम' (जो मरणसे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नम' (जो प्रमाणसे रहित है—छद्मस्थ पुरुषके ज्ञानसे अगम्य है, उसे नमस्कार हो) 'अगर्भवासाय नम' (जो जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण किसीके गर्भमें निवास नही करते ऐसे जिनराजको नमस्कार हो), 'अक्षोभ्याय नम' (जिन्हे कोई क्षोभ उत्पन्न नही कर सकता ऐसे भगवान्‌को नमस्कार हो), 'अविलीनाय नम' (जो कभी विलीन—नष्ट नही होते उन परमात्माको नमस्कार हो) और 'परमघनाय नमः' (जो उत्कृष्ट घनरूप है—उन्हें नमस्कार हो) इन अव्याबाध आदि शब्दोके आगे चतुर्थी विभक्ति तथा नम शब्द लगाकर ऊपर लिखे अनुसार अव्याबाधाय नम आदि मन्त्र पदोका उच्चारण करना चाहिये ॥१४-१७॥ तदनन्तर मन्त्रको जाननेवाला द्विज जिसके आदिमें 'परमकाष्ठ' है और अन्तमें योगरूपाय है ऐसे शब्दका उच्चारण कर उसके आगे 'नम' पद लगाता हुआ 'परमकाष्ठयोगाय नम' (जिनका योग उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इस मन्त्रका उद्धार करे ॥१८॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दके आगे 'नमो नम' लगाना चाहिये इसी प्रकार परम सिद्धेभ्य और अर्हत्सिद्धेभ्य शब्दोके आगे भी नमो नम शब्दका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् क्रमसे 'लोकाग्रवासिने नमो नम' (लोकके अग्रभाग पर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्ठीको बार बार नमस्कार हो), 'परमसिद्धेभ्यो नमो नम' (परम सिद्धभगवान्‌को बार बार नमस्कार हो) और 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नम' (जिन्होने अरहन्त अवस्थाके बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त की है ऐसे सिद्ध महाराजको बार बार नमस्कार हो) इन मन्त्रोका उच्चारण करना चाहिये ॥१९॥ इसी प्रकार 'केवलिसिद्धेभ्यो नमो नम' (केवली सिद्धोको नमस्कार हो) 'अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नम' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवालोको नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नम' (परम्परासे हुए सिद्धोको नमस्कार हो) 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नम' (अनादि कालसे हुए परम सिद्धोको नमस्कार हो) और 'अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नम' (अनादिकालसे हुए उपमारहित सिद्धोको नमस्कार हो,) इन मन्त्र पदोका उच्चारण कर नीचे लिखे पद पढना चाहिये। इन नीचे लिखे शब्दोको सम्बोधनरूपसे दो दो बार बोलना चाहिये। प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य

---

१ अमराप्रमेयशब्दौ । २ सागर्भावासशब्दसहित । ३ परमघनशब्द । ४ अव्याबाधपदमित्यादय । ५ चतुर्थ्यन्ता । ६ नमःशब्दाग्र । ७ परम्परशब्दात् । ८ सिद्धेभ्य इति पदात् ।

इति मन्त्रपदान्युक्त्वा पदानीमान्यतः पठेत्। द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य[1] वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२॥
आसन्नभव्यशब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव[2] हि। निर्वाणादिश्च पूजार्हं स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥२३॥
काम्यमन्त्र —
ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं[3] पदमुदाहरेत्। सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम्[4] ॥२४॥
अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं[5] पदं भवेत्[6]। भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम्[7] ॥२५॥

चूर्णि —'सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदैरेभिः समुच्चितैः। जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात्[8] ॥२६॥
सत्यजन्मपदं तान्तमादौ[9] शरणमप्यतः। प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्मपदं तथा ॥२७॥

हे आसन्नभव्य, हे निर्वाणपूजार्ह हे निर्वाणपूजार्ह, और फिर अग्नीन्द्र स्वाहा इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये (इन सबका अर्थ यह है कि हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे निर्वाण कल्याणकी पूजा करने योग्य, अग्निकुमार देवोंके इन्द्र, तेरे लिये यह हवि समर्पित करता हूं) ॥२०–२३॥ (अब इसके आगे काम्य मन्त्र लिखते हैं)। तदनन्तर अपनी इष्टसिद्धिके लिये नीचे लिखे पदका उच्चारण करना चाहिये 'सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु' अर्थात् मुझे सेवाके फलस्वरूप छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो, अपमृत्युका नाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो ॥२४–२५॥ ऊपर कहे हुए सब मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।

इस प्रकार इन समस्त पदोंके द्वारा यह पीठिका मन्त्र कहा, अब इसके आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमन्त्र कहते हैं ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठीविभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहना अर्थात् 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं

---

१ सम्बोधनं कृत्वा। २ आमन्त्रणं कृत्वेत्यर्थः। ३ अभीष्टम्। ४ तस्मादुपरि। ५ भवतुशब्दोऽन्ते यस्य तत्। ६ पठेत् द०, ल०, अ०, प०, स०, इ०। ७ समाधिमरणपदम्। ८ आगमानतिक्रमेण। ९ तान्तमिति पाठः, तकारः अन्ते यस्य तत्।

अर्हन्मातृपदं [1]तद्वत्स्वन्तमर्हत्सुताक्षरम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८॥
रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोद्‌ध्यन्तं[2] च ततः सम्यग्दृष्टिं[3] द्वित्वेन[4] योजयेत् ॥२९॥
ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा । स्वाहान्तमन्ते वक्तव्यं काम्यमन्त्रश्च[5] पूर्ववत् ॥३०॥

चूर्णि—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽयमाम्नातो[6] जातिसंस्कारकारणम् । मन्त्रं निस्तारकादिं च यथाम्नायमितो ब्रुवे ॥३१॥
निस्तारकमन्त्रः —
स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् । [7]तदन्तमर्हज्जातायपदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२॥
ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विजः । स्याद्ग्रामपतये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३॥
अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयात् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४॥

सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवका शरण लेता हूँ), इस प्रकार कहना चाहिये। इसके बाद 'अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म धारण करनेवाले का शरण लेता हूँ) 'अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि' (अर्हन्तदेवकी माताका शरण लेता हूँ) 'अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्तदेवके पुत्रका शरण लेता हूँ), 'अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि' (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ), 'अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (उपमारहित जन्मको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ) और 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' (रत्नत्रयका शरण ग्रहण करता हूँ) ये मन्त्र बोलना चाहिये। तदनन्तर सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती पदका दो दो बार उच्चारणकर अन्तमें स्वाहा शब्द बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति, स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते हे ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिये और फिर काम्य मन्त्र पहलेके समान ही पढ़ना चाहिये ॥२७–३०॥ ऊपर कहे हुए पीठिका मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।'

ये मन्त्र जातिसंस्कारके कारण होनेसे जाति मन्त्र कहलाते हैं अब इसके आगे निस्तारक मन्त्र कहते हैं ॥३१॥ सबसे पहले 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिये मैं हवि समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण किया गया है फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिये मैं हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये और इसके बाद षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्म करनेवालेके लिये हवि समर्पित करता हूँ), इस मन्त्रका द्विजको उच्चारण करना चाहिये। फिर 'ग्रामपतये स्वाहा' (ग्रामपतिके लिये समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥३२–३३॥ फिर

---

१ सु शब्दः अन्ते यस्य तत् । २ सम्बुद्ध्यन्तम् । ३ सम्यग्दृष्टिपदम् । ४ द्विः कृत्वा योजयेदित्यर्थः । ५ षट्परमस्थानेत्यादि । ६ प्रोक्तः । ७ स्वाहान्तम् ।

स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमत पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्त स्वाहान्ताऽनुपमाय गी ॥३५॥
सम्यग्दृष्टिपद चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्ति च द्वि स्वाहेति तत परम्[1] ॥३६॥
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात् पूर्ववन्मन्त्रविद् द्विज । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुति ॥३७॥

चूर्णि—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफल षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

ऋषिमन्त्र —,

प्रथम सत्यजाताय नम पदमुदीरयेत् । गृह्णीयादर्हज्जाताय नम शब्द तत परम् ॥३८॥
निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नम पदमनन्तरम् ॥३९॥
त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यत । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठ्यताम् ॥४०॥
विविधर्द्धिपद चास्मात्परम शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरपूर्वं च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥४१॥

'अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा' (अनादिकालीन श्रुतके अध्येताको समर्पण करता हू), यह मन्त्र-पद बोलना चाहिये तदनन्तर इसी प्रकार 'स्नातकाय स्वाहा' और श्रावकाय स्वाहा' ये दो मन्त्र पढना चाहिये (केवली अरहन्त और श्रावकके लिये समर्पण करता हू) ॥३४॥ इसके बाद 'देवब्राह्मणाय स्वाहा' (देवब्राह्मणके लिये समर्पण करता हू), 'सुब्राह्मणाय स्वाहा' (सुब्राह्मणके लिये समर्पण करता हू), और 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहित भगवान्के लिये हवि समर्पित करता हू), ये शब्द बोलना चाहिये ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधिपति और वैश्रवण शब्दको दो दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते, वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि हे निधियोके अधिपति, हे कुबेर, मै तुम्हें हवि समर्पित करता हू) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥३६॥ इसके बाद मन्त्रोको जाननेवाला द्विज पहलेके समान काम्यमन्त्र बोले । अब इसके आगे उपासकाध्ययन-शास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हू ॥३७॥ जातिमन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफल षट्परमस्थान भवतु, अपमृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरण भवतु ।

ऋषिमन्त्र—प्रथम ही 'सत्यजाताय नम' (सत्यजन्मको धारण करनेवालेको नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नम' (अरहन्त रूप जन्मको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥३८॥ तदनन्तर 'निर्ग्रन्थाय नम' (परिग्रहरहितके लिये नमसकार हो), 'वीतरागाय नम' (रागद्वेषरहित जिनेन्द्र देवको नमस्कार हो), 'महाव्रताय नम' (महाव्रत धारण करनेवालोके लिये नमस्कार हो), 'त्रिगुप्ताय नम' (तीनो गुप्तियोको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो,) 'महायोगाय नम' (महायोगको धारण करनेवाले ध्यानियोको नमस्कार हो) और 'विविधयोगाय नम' (अनेक प्रकारके योगोको धारण करनेवालोके लिये नमस्कार हो) ये मन्त्र पढना चाहिये ॥३९–४०॥ फिर नम शब्दके साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त विविधर्द्धि शब्दका पाठ करना चाहिये अर्थात् 'विवि-

---

१ पदम् ल० ।

नमः शब्दपरौ चैतौ चतुर्थ्यन्तावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पदं युक्तनमःपदम् ॥४२॥
परमर्षिभ्य इत्यस्मात्परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥४३॥
सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥४४॥
द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रशेषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५॥
कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥४६॥

चूर्णि—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मुनिमन्त्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा 'स्माहार्षभी' श्रुतिः ॥४७॥
प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८॥

वर्द्धये नमः' (अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ऐसा उच्चारण करना चाहिये । इसी प्रकार जिनके आगे नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे चतुर्थ्यन्त अङ्गधर और पूर्वधर शब्दोंका पाठ करना चाहिये अर्थात् 'अङ्गधराय नमः' (अङ्गोंके जाननेवालेको नमस्कार हो) और 'पूर्वधराय नमः' (पूर्वोंके जाननेवालोंको नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये । तदनन्तर 'गणधराय नमः' (गणधरको नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥४१–४२॥ फिर परमर्षिभ्यः शब्दके आगे नमो नमः का उच्चारण करना चाहिये अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नमः' (परम ऋषियोंको बार बार नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये और इसके बाद 'अनुपमजाताय नमो नमः' (उपमारहित जन्मधारण करनेवालेको बार बार नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये ॥४३॥ फिर अन्तमें सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये और इसी प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजोंको सम्बोधनान्त भूपति और नगरपति शब्दका भी दो दो बार उच्चारण करना चाहिये । तदनन्तर आगे कहा जानेवाला मन्त्रका अवशिष्ट अंश भी बोलना चाहिये । कालश्रमण शब्दको सम्बोधन विभक्तिमें दो बार कहकर उसके आगे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और फिर यह सब मन्त्र चुकनेके बाद पहलेके समान काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये ॥४४–४६॥ इन सब मुनिमन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है–

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्च्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४९॥
ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥५०॥
कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम् । भूयोऽप्यनुचरायादि स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥५१॥
ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । सम्पठेदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥५२॥
ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥५३॥
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च सम्पठेत् ॥५४॥
द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत्[1] । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः[2] पदैः ॥५५॥

चूर्णि—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिये ॥४८॥ फिर 'दिव्यजाताय स्वाहा' (जिसका जन्म दिव्य है उसे हवि समर्पण करता हूँ) ऐसा उच्चारण करना चाहिये और फिर 'दिव्यार्चिर्जाताय स्वाहा' (दिव्य तेजःस्वरूप जन्म धारण करनेवालेके लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनेन्द्रदेवको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मेन्द्रके लिये समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिये ॥५०॥ फिर 'कल्पाधिपतये स्वाहा (स्वर्गके अधिपतिके लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिये और उसके बाद 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्रके अनुचरोंके लिये समर्पण करता हूँ) यह शब्द बोलना चाहिये ॥५१॥ फिर 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रोंके लिये समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करे और उसके अनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रके लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र अच्छी तरह पढ़े ॥५२॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' (अरहन्तदेवके परम-उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये और उसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिये समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये ॥५३॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये तथा सम्बोधनान्त कल्पपति और दिव्यमूर्ति शब्दको भी दो दो बार पढ़ना चाहिये इसी प्रकार सम्बोधनान्त वज्रनामन् शब्दका भी दो बार बोलकर स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और अन्तमें तीन तीन पदोंके द्वारा पहलेके समान काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गके अधिपति, हे दिव्यमूर्तिको धारण करनेवाले, हे वज्रनाम, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह बोलकर काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥५४–५५॥

ऊपर कहे हुए सुरेन्द्र मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्चिर्जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु

---

1 सम्यग् ब्रूयात् । 2 षट्परमस्थानं चादिभिः ।

३८

सुरेन्द्रमन्त्र एष स्यात् सुरेन्द्रस्यानुतर्पणम् । मन्त्रं परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ॥५६॥
प्राग्वत्[1] सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥५७॥
ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयार्च्यादिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वतः ॥५८॥
ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः [2]परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ॥५९॥
परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ॥६०॥
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ॥६१॥
नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ॥६२॥

चूर्णि—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेज उग्रतेज दिशाजय दिशाजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३॥

अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

यह सुरेन्द्रको सन्तुष्ट करनेवाला सुरेन्द्र मन्त्र कहा । अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादि मन्त्र कहते हैं ॥५६॥ इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्म धारण करनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्त पदके योग्य जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिये ॥५७॥ इसके बाद 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (उपमारहित इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिये समर्पण करता हूँ) यह पद कहना चाहिये । तदनन्तर 'विजयार्चजाताय स्वाहा' (विजयरूप तथा तेज पूर्ण जन्मको धारण करनेवालेके लिये समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करना चाहिये ॥५८॥ इसके पश्चात् 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मरूप रथके प्रवर्तकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये और उसके बाद 'परमजाताय स्वाहा' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिये ॥५९॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' (उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिये और इसके बाद द्विजोंको 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिये समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥६०॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिये तथा इसी प्रकार सम्बोधनान्त उग्रतेज पद, दिशाजय पद और नेमिविजय पदको दो दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिये और अन्तमें पहलेके समान तीन तीन पदोंसे काम्य मन्त्र बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेज उग्रतेज दिशाजय दिशाजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे प्रचण्ड प्रतापके धारक, हे दिशाओंको जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मैं तुम्हें हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलकर काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६१–६२॥

परमराजादि मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्चजाय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेज, उग्रतेज, दिशाजय दिशाजय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ये मन्त्र परमराजादि मन्त्र माने गये हैं । अब यहाँसे आगे जिस प्रकार परम शास्त्रमें

१ [illegible] । २ परमजाताय प०, म०, अ०, प०, स० ।

तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नमः इत्युत्तरं पदम् ॥६४॥
ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥६५॥
ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥६६॥
परमादिगुणायेति पदं चान्यदमोघृतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७॥
उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नमः इत्युभयं पदम् ॥६८॥
परमर्द्धिपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नमः इत्युत्तरं पदम् ॥६९॥
स्यात्परमकाङ्क्षिताय नमः इत्यतः उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०॥
स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१॥
ततः परमवीर्याय पदं चास्मात्परं परम् । परमादिसुखायेति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२॥
सर्वज्ञाय नमोवाक्यमर्हते नमः इत्यपि । नमो नमः पदं वास्यात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥७३॥
परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं हि प्रयुज्यताम् ॥७४॥

कहा है उसी प्रकार परमेष्ठियोंके उत्कृष्ट मन्त्र कहता हूँ ॥६३॥ उन परमेष्ठी मन्त्रोंमें सबसे पहले 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नमः' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद कहना चाहिये और इसके बाद चतुर्थी विभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके आगे नमः पद लगाकर 'परमार्हताय नमः' (उत्कृष्ट जिनधर्मके धारकके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६५॥ तत्पश्चात् अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाले द्विजोंको 'परमरूपाय नमः' (उत्कृष्ट निर्ग्रन्थरूपको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) और 'परमतेजसे नमः' (उत्तम तेजको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिये ॥६६॥ फिर नमः शब्दके साथ परमगुणाय यह पद अर्थात् 'परमगुणाय नमः' (उत्कृष्ट गुणवालेके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये और उसके अनन्तर नमः शब्दसे सहित चतुर्थी विभक्त्यन्त परमस्थान शब्द अर्थात् 'परमस्थानाय नमः' (मोक्षरूप उत्तमस्थानवालेके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥६७॥ इसके पश्चात् क्रमको जानकर 'परमयोगिने नमः' (परम योगीके लिये नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नमः' (उत्कृष्ट भाग्यशालीको नमस्कार हो) ये दोनों पद बोलना चाहिये ॥६८॥ तदनन्तर जिसके आगे नमः शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति जिसके अन्तमें है ऐसा परमर्द्धि पद अर्थात् 'परमर्द्धये नमः' (उत्तम ऋद्धियोंके धारकके लिये नमस्कार हो) और 'परमप्रसादाय नमः' (उत्कृष्ट प्रसन्नताको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥६९॥ फिर 'परमकाङ्क्षिताय नमः' (उत्कृष्ट आत्मानन्दकी इच्छा करनेवालेके लिये नमस्कार हो) और 'परमविजयाय नमः' (कर्मरूप शत्रुओंपर उत्कृष्ट विजय पानेवालेके लिये नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिये ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नमः' (उत्कृष्ट ज्ञानवालेके लिये नमस्कार हो) और उसके बाद 'परमदर्शनाय नमः' (परम दर्शनके धारकके लिये नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिये ॥७१॥ इसके पश्चात् 'परमवीर्याय नमः' (अनन्त बलशालीके लिये नमस्कार हो) और फिर 'परमसुखाय नमः' (परम सुखके धारकको नमस्कार हो) ये मन्त्र कहना चाहिये ॥७२॥ इसके अनन्तर 'सर्वज्ञाय नमः' (समस्त पदार्थोंको जाननेवालेके लिये नमस्कार हो) 'अर्हते नमः' (अरहन्तदेवके लिये नमस्कार हो), और फिर 'परमेष्ठिने नमो नमः' (परमेष्ठीके लिये बार बार नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये ॥७३॥ तदनन्तर 'परमनेत्रे नमो नमः' (उत्कृष्ट नेताके लिये नमस्कार हो) यह मन्त्र

द्विः[1] स्तात्[2] त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे ततः । धर्मनेमिपदं वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥७५॥

काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विजः । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता बुधैः ॥७६॥

चूर्णिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

[3]एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधा[4]नादिक्रियाविधौ ॥७७॥

क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमन्त्रताम् ॥७८॥

सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९॥

सिद्धार्चासन्निधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम् । गन्धपुष्पाक्षतार्घादि[5]निवेदनपुरःसरम् ॥८०॥

सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ॥८१॥

कहना चाहिये और उसके बाद सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार प्रयोग करना चाहिये ॥७४॥ तथा इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि शब्दको भी दो दो बार उच्चारण कर अन्तमें स्वाहा पद बोलना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे तीनों लोकोंको विजय करनेवाले, हे धर्ममूर्ति और हे धर्मके प्रवर्तक, मैं तेरे लिये हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥७५॥ तत्पश्चात् द्विजोंको पहलेके समान विधिपूर्वक काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिये क्योंकि विद्वान् लोग सब मन्त्रोंमें अभीष्ट फलकी प्राप्ति होना ही मुख्य फल मानते हैं ॥७६॥

परमेष्ठी मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है—

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानातय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, *अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे,* त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ब्राह्मणोंको ये ऊपर लिखे हुए सात पीठिका मन्त्र जानना चाहिये और गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें इनसे सिद्धपूजन करना चाहिये ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें ये मन्त्र क्रियामन्त्र कहलाते हैं और गणधरोंके द्वारा कहे हुए सूत्रमें ये ही साधन मन्त्रपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मन्त्र सन्ध्याओंके समय तीनों अग्नियोंमें देवपूजनरूप नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ॥७९॥ सिद्ध भगवान्की प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोंका जप करना चाहिये ॥८०॥ तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं, जो

---

१ द्वौ वारौ । २ भवेताम् । ३ सत्यजातायेत्यादयः । ४ गर्भाधानादि । ५ समर्पण ।

त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः[1] स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः । रत्नत्रितयसङ्कल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२॥
तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे[3] । पूजाङ्गत्वं[4] समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३॥
कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४॥
अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥८५॥
[6]हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ । वह्नीनां[5] विनियोगः स्याद् अमीषां नित्यपूजने ॥८६॥
प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्याद् इदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः[7] ॥८७॥
न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा । किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥
ततः पूजाङ्गतामस्य मत्वार्चन्ति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो[9] न दुष्यति ॥८९॥
व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरप्यवहार्यो[10]ऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मनः[11] ॥९०॥
साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथासम्भवमुन्नेष्ये[12] विशेषविषयांश्च तान् ॥९१॥

सफेद वस्त्र पहने हुए है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुए है और जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंके द्वारा समस्त क्रियाएँ करे ॥८१॥ क्रियाओंके प्रारम्भमें उत्तम द्विजोंको रत्नत्रयका सकल्प कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिये ॥८२॥ ये तीनो ही अग्नियाँ तीर्थङ्कर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणमहोत्सवमें पूजाका अग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती हैं ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनो महाअग्नियोको तीन कुण्डोमे स्थापित करना चाहिये ॥८४॥ इन तीनो प्रकारकी अग्नियोमे मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनो प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्यके पकानेमे, धूपखेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमे धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बडे प्रयत्नके साथ इन तीनो अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिये और जिनका कोई संस्कार नही हुआ है ऐसे अन्य लोगोंको कभी नही देनी चाहिये ॥८७॥ अग्निमें स्वय पवित्रता नही है और न वह देवतारूप ही है किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिये ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नही है। भावार्थ–जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके सम्बन्धसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं उसी प्रकार उनके सम्बन्धसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है अतएव जिस प्रकार निर्वाण आदि क्षेत्रोकी पूजा करनेमे दोष नही है उसी प्रकार अग्निकी पूजा करनेमें भी कोई दोष नही है ॥८९॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिये जैन ब्राह्मणोको भी आज यह व्यवहारनय उपयोगमे लाना चाहिये ॥९०॥ ये ऊपर कहे हुए मन्त्र साधारण मन्त्र हैं, सभी क्रियाओमे काम आते हैं अब विशेष क्रियाओसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष मन्त्रोंको यथासम्भव कहता हूँ ॥९१॥

---

१ सस्कार्याः । २ केवली । ३ परिनिर्वाणमहोत्सवे । ४ कारणत्वम् । ५ चरुपचने । ६ गार्हपत्यादीनाम् अग्नित्रयाणां । यथासख्येन हविष्पाकादिषु त्रिषु विनियोग स्यात् । ७ गर्भाधानादिसस्काररहिताः । ८ अग्नित्रयपूजा । ९ कारणात् । १० व्यवहर्तुं योग्यः । ११ विप्रस्य ।–जन्मभि. द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । १२ लृट् । वक्ष्ये ।

गर्भाधानमन्त्र —

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानीमान्यतः पठेत् ॥९२॥
आदौ मुनीन्द्रभागीति भवेत्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥९३॥
आर्हन्त्यभागी भवेति पदमस्मादनन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥९४॥
आधाने[1] मन्त्र एष स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः[2] । विनियोगश्च मन्त्राणां यथाम्नायं प्रदर्शितः ॥९५॥

चूर्णि—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव, (आधानमन्त्र)

स्यात्प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ॥९६॥

चूर्णि—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव, (प्रीतिमन्त्र) ?

[3]मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिकः । सुप्रीतौ मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥९७॥
भागीभव पदोपेतस्ततो निष्क्रान्तिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥९८॥
ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भव पदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसङ्गतः ॥९९॥

गर्भाधानके मन्त्र–प्रथम ही 'सज्जातिभागी भव' (उत्तम जातिको धारण करनेवाला हो) और 'सद्गृहिभागी भव' (उत्तम गृहस्थ अवस्थाको प्राप्त होओ) इन दो पदोका उच्चारण कर पश्चात् नीचे लिखे पद पढना चाहिये ॥९२॥ पहले 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनिका पद प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और फिर 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्र पदका भोक्ता हो) तथा 'परमराज्यभागी भव' (उत्कृष्ट राज्यका उपभोग करनेवाला हो) इन दो पदोका उच्चारण करना चाहिये ॥९३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अरहन्त पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र पढना चाहिये और फिर 'परमनिर्वाणभागी भव' (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिये ॥९४॥ गर्भाधानकी क्रियामें पहलेके मन्त्रोके साथ साथ यह मन्त्र कामम लाना चाहिये इस प्रकार यह आम्नायके अनुसार मन्त्रोका विनियोगका क्रम दिखलाया है ॥९५॥

गर्भाधानके समय काम आनेवाले विशेष मन्त्रोका सग्रह इस प्रकार है–

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परम राज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।

अब प्रीतिमन्त्र कहते है–'त्रैलोक्यनाथो भव' (तीनो लोकोके अधिपति होओ) 'त्रैकाल्य ज्ञानी भव' (तीनो कालका जाननेवाला हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' (रत्नत्रयका स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मन्त्र है ॥९६॥

संग्रह–'त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव' ।

अब सुप्रीति क्रियाके मन्त्र कहते हैं–सुप्रीति क्रियामें 'अवतारकल्याणभागी भव' (गर्भकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' (निष्क्रमण कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त अवस्था–केवलज्ञानकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाण कल्याणको

---

१ गर्भाधाने । २ पीठिकामन्त्रादिपुरःसर । ३ अवतारादिकल्याणादिपरमनिर्वाणपदान्तानां सर्वपदानाम् । मन्त्र इति पद विशेष्यपद भवति ।

भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमन्त्रमितो[1] वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत भो द्विजा ॥१००॥

चूर्णि—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाण-कल्याणभागी भव, (सुप्रीति मन्त्र)।

धृतिक्रियामन्त्र[2]—

आधानमन्त्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रम वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥१०१॥

चूर्णि—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव, (धृतिक्रिया मन्त्र)।

मोदक्रियामन्त्र—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽयं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पद वदेत् ॥१०२॥
ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पद पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पद मनम् ॥१०३॥
ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पद स्मृतम् । पुन सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४॥
मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसयुतम् ॥१०५॥

प्राप्त करनेवाला हो) ये मन्त्र विद्वानोंको अनुक्रमसे बोलना चाहिये। अब आगे धृतिमन्त्र कहते हैं सो हे द्विजो, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक सुनो ॥९७–१००॥

सग्रह—'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव'।

धृति क्रियाके मन्त्र—गर्भाधान क्रियाके मन्त्रोंमें भव जगह दातृ शब्द लगा देनेसे धृति क्रियाके मन्त्र हो जाते हैं, विद्वानोंको अनुक्रमसे उन्हींका प्रयोग करना चाहिये, आधान क्रियाके मन्त्रोंमें इन मन्त्रोंमें और कुछ भेद नहीं है। भावार्थ—'सज्जातिदातृभागी भव' (सज्जाति-उत्तम जातिको देनेवाला हो), 'सद्गृहिदातृभागी भव' (सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो), 'मुनीन्द्रदातृभागी भव' (महामुनिपदका देनेवाला हो), 'सुरेन्द्रदातृभागी भव' (सुरेन्द्रपदको देनेवाला हो), 'परमराज्यदातृभागी भव' (उत्तमराज्य—चक्रवर्तीके पदका देनेवाला हो), 'आर्हन्त्यदातृभागी भव' (अरहन्त पदका देनेवाला हो) तथा 'परमनिर्वाणदातृभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाण पदका देनेवाला हो) धृति क्रियामें इन मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये ॥१०१॥

सग्रह—'सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव'।

अब मोदक्रियाके मन्त्र कहते हैं—उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मन्त्र इस प्रकार माने हैं सबसे पहले 'सज्जातिकल्याणभागी भव' (सज्जातिके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये, फिर सद्गृहिकल्याणभागी भव (उत्तम गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिये, तदनन्तर 'वैवाहकल्याणभागी भव' (विवाहके कल्याण को प्राप्त करनेवाला हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिये, फिर 'मुनीन्द्रकल्याणभागी भव' (महामुनि पदके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये, इसके बाद 'सुरेन्द्रकल्याणभागी भव' (इन्द्र पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिये, फिर 'मन्दराभिषेककल्याणभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो) यह मन्त्र पढना चाहिये, अनन्तर 'यौवराज्यकल्याणभागी भव' (युवराज पदके कल्याण-का उपभोग करनेवाला हो) यह पद कहना चाहिये, तत्पश्चात् मन्त्रोंके प्रयोग करनेमें विद्वान् लोगोंको 'महाराज्यकल्याणभागी भव' (महाराज पदके कल्याणका उपभोक्ता हो) यह

---

१ मतो स०। मयो द०। २ धृतिक्रियायाम्।

भागीभवपदं वाच्यं मन्त्रयोगविशारदैः। स्यान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६॥
भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहितं[1] मतम्। भागी भवेत्यथार्हन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७॥

चूर्णि.–सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, (मोदक्रिया मन्त्रः)।

प्रियोद्भवमन्त्रः—

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम्। दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥१०८॥
विजयायेत्यथार्हन्त्यनेम्यादिविजयाय च। युक्तो मन्त्राक्षरैरेभिः स्वाहान्तः सम्मतो द्विजैः ॥१०९॥

चूर्णिः–दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा। (प्रियोद्भवमन्त्रः)।

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयम् एतेनार्भकमादितः। सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ॥११०॥
कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः। भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥१११॥
सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि[2] पुत्रकः। सम्प्रीतिमाप्नुहि त्रीणि[3] प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२॥
इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः[4]। तनावात्मसङ्कल्पं[5] ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥११३॥

मन्त्र बोलना चाहिये, फिर 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणको प्राप्त हो) यह पद पढ़ना चाहिये और उसके बाद 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिये ॥१०३–१०७॥

संग्रह–'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव'।

अब प्रियोद्भव मन्त्र कहते हैं–प्रियोद्भव क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये–

'दिव्यनेमिविजयाय', 'परमनेमिविजयाय', और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय' इन मन्त्राक्षरोंके साथ द्विजोंको अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना अभीष्ट है अर्थात् 'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवालेके लिये हवि समर्पण करता हूँ), 'परमनेमिविजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेके लिये समर्पण करता हूँ) और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त अवस्थारूप नेमिके द्वारा कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिये समर्पण करता हूँ) ये तीन मन्त्र बोलना चाहिये ॥१०८–१०९॥

संग्रह–'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा'।

अब जन्म संस्कारके मन्त्र कहते हैं–प्रथम ही सिद्ध भगवान्के अभिषेकके गन्धोदकसे सिक्त किये हुए बालकको यह मन्त्र पढ़कर शिरपर स्पर्श करना चाहिये और कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, अवस्था, रूप आदि गुणोंसे सहित है, शीलवती है, सन्तानवती है, भाग्यवती है, अवैधव्यसे युक्त है, सौम्यतासम्पन्न मूर्तिसे सहित है और सम्यग्दृष्टि है इसलिये हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रमसे दिव्य चक्र, विजयचक्र और परमचक्र तीनों चक्रोंको पाकर सम्प्रीतिको प्राप्त हो ॥११०–११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता

१ सहितम्। २ कुलजात्यादिवयोयोग्यगुणैरधिष्ठिता। ३ दिव्यचक्रविजयचक्रपरमचक्राणि। ४ समानरूपसम्बन्धात्। ५ बालके। ६ विधाय। ७ निजशरीराल्पम्।

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादपि जायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः[1] शतम् ॥११४॥
क्षीराज्यममृतं[2] पूतं नाभावावर्ज्य[3] युक्तिभिः[4]। घातिञ्जयो भवेत्यस्य[5] ह्रासयेदभिनालकम्[6] ॥११५॥
श्रीदेव्यो जात[7] ते जात[8]क्रिया कुर्वन्त्विति ब्रुवन्। तत्तनुं चूर्णवासेन[9] शनैरुद्वर्त्य यत्नतः ॥११६॥
त्वं मन्दराभिषेकार्हो भवेति स्नपयेत्ततः। गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या[10] इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत् ॥११७॥
नश्यात्कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्ये[11]ऽस्य सनासिके। घृतमौषधसंसिद्धमावर्[12]पेन्मात्रया[13] द्विजः ॥११८॥
ततो विश्वेश्वरास्तन्यभागी[14] भूया इतीरयन्[15]। मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत्[16] ॥११९॥
प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुरःसरम्। विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत्[17] ॥१२०॥
जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम्। शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१॥
सम्यग्दृष्टिपद बोध्यं सर्वमातेति चापरम्। वसुन्धरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२॥
चूर्णि—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा।
मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य भूमौ सोदकमक्षतम्। क्षिप्त्वा गर्भमल[18] न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३॥

उसके समस्त अंगोंका स्पर्श करे और फिर प्रायः अपने समान होनेसे उसमें अपना संकल्पकर अर्थात् यह मैं ही हूँ ऐसा आरोपकर नीचे लिखे हुए सुभाषित पढ़े ॥११३॥ हे पुत्र, तू मेरे अङ्ग अङ्गसे उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू पुत्र नामको धारण करनेवाला मेरा आत्मा ही है। तू सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह ॥११४॥ तदनन्तर दूध और घीरूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिजयो भव' (तू घातिया कर्मोंको जीतनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़कर युक्तिसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिये ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्य ते जातक्रिया' कुर्वन्तु अर्थात् हे पुत्र, श्री, ह्री आदि देवियाँ तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुए धीरे धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरपर उबटन करे फिर 'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव' अर्थात् तू मेरु पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मन्त्र पढ़कर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे और फिर 'चिरं जीव्या' अर्थात् तू चिरकालतक जीवित रह-इस प्रकार आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत डाले ॥११६–११७॥ इसके अनन्तर द्विज, 'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नम्'—अर्थात् तेरे समस्त कर्ममल नष्ट हो जावें यह मन्त्र पढ़कर उसके मुख और नाकमें, औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार छोड़े ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूया' अर्थात् तू तीर्थकरकी माताके स्तनका पान करनेवाला हो ऐसा कहता हुआ माताके स्तनको मन्त्रितकर उसे बालकके मुहमें लगा दे ॥११९॥ तदनन्तर जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके है उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकालकी क्रिया समाप्त करनी चाहिये ॥१२०॥ उसके जरायु पटलको नाभिकी नालके साथ साथ किसी पवित्र जमीनको खोदकर मन्त्र पढ़ते हुए गाड़ देना चाहिये ॥१२१॥ उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद, सर्वमाता पद और वसुन्धरा पदको दो दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्द कहना चाहिये। अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमात सर्वमात वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा (सम्यग्दृष्टि, सबकी माता पृथ्वीमें यह समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रसे मन्त्रितकर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकारके रत्नोंके नीचे गर्भका वह मल रख देना चाहिये और फिर [illegible]

---

1 बहुसंवत्सरमित्यर्थः। 2 क्षीराज्यरूपममृतम्। 3 सिक्त्वा। 4 युक्तितः, म०। भक्तितः द०। 5 बालस्य। 6 ह्रस्वं कुर्यात्। छिन्द्यादित्यर्थः। 7 पुत्र। 8 जातकर्म। 9 [illegible]। 10 जीव। 11 वक्त्रे। 12 आवर्जयेद्, क्षिपेद् वा। 13 विक्षिपन् [illegible]। 14 [illegible]-भागी भव। 15 ब्रुवन्। 16 संयोजयेत्। 17 [illegible]। 18 जरायुपटलम्।

त्वत्पुत्रा[1] इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविन । इत्युदाहृत्य 'सस्याहँ तत्क्षेप्तव्य महीतले ॥१२४॥
क्षीरवृक्षोपशाखाभि उपहृत्य[2] च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य-माताऽसौ सुखोष्णैर्मन्त्रितैर्जलै ॥१२५॥
सम्यग्दृष्टिपद बोध्यविषय द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभव्येति सकृद् विश्वेश्वरेत्यपि[3] ॥१२६॥
तत ऊर्जितपुण्येति, जिनमातृपद तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एष स्यान्मातु स्नानसविधौ ॥१२७॥

चूर्णि –सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमात जिनमात स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिका पुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेय[4] विधि भजेत् ॥१२८॥
तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम्[5] । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशिताराङ्कित नभ ॥१२९॥
पुण्याहघोषणापूर्व कुर्याद् दान च शक्तित । यथायोग्य विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥१३०॥
जातकर्मविधि सोऽयम् आम्नात पूर्वसूरिभि । यथायोगमनुष्ठेय सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमै ॥१३१॥
नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्त मन्त्रा प्रागनुवर्णिता ॥१३२॥
ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३॥

चूर्णि –'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ।

मत पुत्रा चिरजीविनो भूयासु' (हे पृथ्वी तेरे पुत्र कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवी हों) यह कहकर धान्य उत्पन्न होनेके योग्य खेतमें जमीनपर वह मल डाल देना चाहिये ॥१२२-१२४॥ तदनन्तर क्षीर वृक्षकी डालियोंसे पृथिवीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको बिठाकर मन्त्रित किये हुए सुहाते गर्म जलसे स्नान कराना चाहिये ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मन्त्र यह है–प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना चाहिये फिर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या, और जिन माता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो दो बार बोलना चाहिये और अन्तमें स्वाहा शब्द पढना चाहिये । भावार्थ–सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमात जिनमात स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त पुण्य सचय करनेवाली, जिन माता तू कल्याण करनेवाली हो) यह मन्त्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिये ॥१२६-१२७॥ जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी माता पुत्रके कल्याणोंको देखती है उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी देखे ऐसी श्रद्धासे यह स्नानकी विधि करनी चाहिये ॥१२८॥ तीसरे दिन रातके समय 'अनन्तज्ञानदर्शी भव' (तू अनन्तज्ञानको देखनेवाला हो) यह मन्त्र पढकर उस पुत्रको गोदीमें उठाकर ताराओंसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिये ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ साथ शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये और जितना बन सके उतना सब जीवोंके अभयकी घोषणा करनी चाहिये ॥१३०॥ इस प्रकार पूर्वाचार्योंने यह जन्मोत्सवकी विधि मानी है–कही है । उत्तम द्विजको आज भी इसका यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान करना चाहिये ॥१३१॥

अब आगे नामकर्म करते समय जिन मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें कहते हैं–इस विधिमें सिद्ध भगवान्‌की पूजा करनेके लिये जिन सात पीठिका मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें पहले ही कह चुके हैं । उसके आगे 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' आदि तीनों पदोंका उच्चारण कर मन्त्र परिवर्तित कर लेना चाहिये अर्थात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' (एक हजार आठ दिव्य नामोंका पानेवाला हो), 'विजयाष्टसहस्रनामभागी भव' (विजयरूप एक हजार आठ

---

१ कुलपर्वता इव । २ अवतृत्येत्यर्थ । ३ विश्वेश्वरीत्यपि म० । ४ एवं बुद्ध्या । ५ पुत्रम् ।

शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुनः । बहिर्याननिक्रियामन्त्रः ततोऽयमनु[1]गम्यताम् ॥१३४॥

बहिर्याननिक्रिया–

तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥ १३५॥
क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं स्मृतम् ॥१३६॥
मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागीभव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥१३७॥
निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां[2] परराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम्[3] ॥१३८॥
पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिरनुजप्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥१३९॥

चूर्णिः–उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव, (बहिर्याननमन्त्रः)

निषद्या–

दिव्यसिंहासनपदाद् भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥१४०॥

नामोंका धारक हो और 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' (अत्यन्त उत्तम एक हजार आठ नामोंका पानेवाला हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिये ।

संग्रह–'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ॥१३२–१३३॥ बाकीकी समस्त विधि पहले कही जा चुकी है इसलिये दुबारा नहीं कहते हैं अब आगे बहिर्यान क्रियाके मन्त्र नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये ॥१३४॥

सबसे पहले 'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव', (तू यज्ञोपवीतके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और फिर 'वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव' (विवाहके लिये बाहर निकलनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिये ॥१३५॥ तदनन्तर अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये और उसके बाद 'सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्र पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये ॥१३६॥ तत्पश्चात् 'मन्दरेन्द्राभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर्वतपर अभिषेकके लिये निकलनेवाला हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये और फिर 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये ॥१३७॥ तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिये और उसके बाद 'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्तीका उत्कृष्ट राज्य पानेके लिये निकलनेवाला हो) यह मंत्र पढ़ना चाहिये और इसके अनन्तर 'आर्हन्त्यराज्यभागी भव' (अरहन्त पदकी प्राप्तिके लिये निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिये ॥१३८॥ इस प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजोंको इन उपर्युक्त पदोंके द्वारा मंत्रोंका जाप करना चाहिये । बाकी समस्त विधि पहले कह चुके हैं अब आगे निषद्या मन्त्र कहते हैं ॥१३९॥

संग्रह–'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव' ।

निषद्यामन्त्रः–'दिव्यसिंहासनभागी भव' (दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो–इन्द्रके

---

१ ज्ञायताम् । २ स्याताम् । ३ अन्त्यपदम् ।

चूर्णिः–दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी (भव इति निषद्यामन्त्रः)।

अन्नप्राशनक्रिया–

'प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिभिरुदाहरेत्। तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१॥
भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु। पदैरेभिरयं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधैः ॥१४२॥

चूर्णि.––दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।

व्युष्टि.–

व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रम् इतो वक्ष्ये यथाश्रुतम्। तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनयाग्युतम् ॥१४३॥
भागी भव पदं ज्ञेयम् आदौ शेषपदाष्टके। वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च ॥१४४॥
सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च। यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥१४५॥
परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवर्धनसंयुतम्। भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयम् उद्भवेत् ॥१४६॥

चूर्णिः–उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव, (व्युष्टिक्रियामन्त्रः)

आसनपर बैठनेवाला हो), 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयोल्लसित सिंहासन पर बैठनेवाला हो) और 'परमसिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके उत्कृष्ट सिंहासनपर बैठने वाला हो) ये तीन मन्त्र कहना चाहिये। ॥१४०॥

संग्रह–'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव'।

अब अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र कहते हैं–अन्नप्राशन क्रियाके समय तीन पदोंके द्वारा मन्त्र कहने चाहिये और वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत इनके अन्तमें भागी भव ये योग्य पद लगाकर बनाने चाहिये। विद्वानोंको अन्नप्राशन क्रियामें इन पदोंके द्वारा मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये। भावार्थ–इस क्रियामें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ने चाहिये–'दिव्यामृतभागी भव' (दिव्य अमृतका भोग करनेवाला हो), 'विजयामृतभागी भव' (विजयरूप अमृतका उपभोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) ॥१४१–१४२॥

संग्रह–'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव'।

अब यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि क्रियाके मंत्र कहते हैं–सबसे पहले 'उपनयन' के आगे 'जन्मवर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिये और फिर अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्यराज्य इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' यह पद लगाना चाहिये। ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मन्त्र बन जावेंगे। भावार्थ–व्युष्टिक्रियामें निम्नलिखित मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये–'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (यज्ञोपवीतरूप जन्मके वर्षको बढानेवाला हो), 'वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव' (विवाह क्रियाके वर्षका वर्धक हो), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (मुनि पद धारण करनेवाले वर्षकी वृद्धिसे युक्त हो), 'सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (इन्द्र जन्मके वर्षको बढानेवाला हो), 'मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेककी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (युवराज पदकी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (महाराज पदकी वर्षवृद्धिका उपभोक्ता हो) 'परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (चक्रवर्तीके उत्कृष्ट राज्य

---

१ अन्नप्राशने।

चौलकर्म—

चौलकर्मण्ययो मन्त्रः स्यान्चोपनयनादिकम् । मुण्डभागी भवान्ते च पदमादावनुस्मृतम् ॥१४७॥
ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भवपदं परम् । ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम् ॥१४८॥
स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९॥
परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापदम् ॥१५०॥
शिखामेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाम्नातो लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहे ॥१५१॥

चूर्णि—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव। (इति चौलक्रियामन्त्र)

शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२॥

चूर्णि—शब्दपारगामी (भागी) भव, अर्थपारगामी (भागी) भव, शब्दार्थपारगामी (भागी) भव, (लिपिसंख्यानमन्त्र)

उपनीतिक्रियामन्त्रं स्मरन्तीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३॥

की वर्षवृद्धि करनेवाला हो) और 'आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अरहन्त पदवीरूपी राज्यके वर्षको बढ़ानेवाला हो) ॥१४३–१४६॥

संग्रह—'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव'।

अब चौलक्रियाके मन्त्र कहते हैं—जिसके आदिमें उपनयन शब्द है और अन्तमें 'मुण्डभागी भव' शब्द है ऐसा पहला मन्त्र जानना चाहिये अर्थात् 'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयन क्रियामें मुण्डन करनेवाला हो) यह चौलक्रियाका पहला मन्त्र है ॥१४७॥ फिर 'निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव' (निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करनेवाला हो) यह दूसरा मन्त्र है और उसके बाद 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' (मुनि अवस्थामें केशलोच करनेवाला हो) यह तीसरा मन्त्र है ॥१४८॥ तदनन्तर 'परमनिस्तारककेशभागी भव' (संसारसे पार उतारनेवाले आचार्यके केशोंको प्राप्त हो) यह चौथा मन्त्र है और उसके पश्चात् परमेन्द्रकेशभागी भव (इन्द्र पदके केशोंको धारण करनेवाला हो) यह पाँचवाँ मन्त्र बोलना चाहिये ॥१४९॥ इसके बाद 'परमराज्यकेशभागी भव' (चक्रवर्तीके केशोंको प्राप्त हो) यह छठवाँ मन्त्र है और 'आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव' (अरहंत अवस्थाके केशोंको धारण करनेवाला हो) यह सातवाँ मन्त्र बोलना चाहिये। द्विजोंको इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक चोटी रखवाना चाहिये। अब आगे लिपिसंख्यानके मन्त्र कहते हैं ॥१५०–१५१॥

संग्रह—'उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव'।

लिपिसंख्यानके मन्त्र—'शब्दपारभागी भव' (शब्दोंका पारगामी हो), 'अर्थपारगामी भागी भव' (सम्पूर्ण अर्थका जाननेवाला हो) और 'शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भव' (शब्द तथा अर्थ दोनोंके सम्बन्धका पारगामी हो) ये पद लिपिसंख्यानके समय कहने चाहिये ॥१५२॥

संग्रह—'शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव'।

उत्तम द्विज नीचे लिखे हुए मन्त्रोंको उपनीति क्रियाके मन्त्ररूपसे स्मरण करते हैं—

युक्तं परमर्षिलिङ्गेन भागीभवपदं भवेत् । परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भवपदं परम् ॥१५४॥
एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्यादि च क्रमात् । युक्तं परमनिर्वाणपदेन च दिलापदम् ॥१५५॥

चूर्णिः–परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव, (इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः)

मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेनं सवाससम् ॥१५६॥
कौपीनाच्छादनं चैनम् [1]अन्तर्वासे न कारयेत् । मौञ्जीबन्धमतः कुर्याद् धनुर्बद्धत्रिमेखलम्[2] ॥१५७॥
सूत्रं[3] गणधरैर्दृब्धं व्रतचिह्नं नियोजयेत् । मन्त्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥१५८॥
जात्यैव ब्राह्मणः पूर्वम् इदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विर्जातो द्विज इत्येवं रूढिमास्तिघ्नुते[4] गुणैः ॥१५९॥
देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधिः । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः[5] ॥१६०॥
ततोऽतिबालविद्यादीन्[6] नियोगादस्य निर्दिशेत् । दत्वोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥१६१॥
ततोऽयं कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसरम् । यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादतः परम् ॥१६२॥
तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं ज्ञातिवेश्मसु । योऽर्थलाभः स देयः स्याद् उपाध्यायाय सादरम् ॥१६३॥

सबसे पहले 'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव' (तू उत्कृष्ट आचार्यके चिह्नोंको धारण करनेवाला हो), फिर 'परमर्षिलिङ्गभागी भव' (परमऋषियोंके चिह्नको धारण करनेवाला हो) और 'परमेन्द्रलिङ्गभागी भव' (परम इन्द्रपदके चिह्नोंको धारण करनेवाला हो) ये मन्त्र बोलना चाहिये । इसी प्रकार अनुक्रमसे परम राज्य, परमार्हन्त्य और परम निर्वाण पदको 'लिङ्गभागी भव' पदसे युक्तकर 'परमराज्यलिङ्गभागी भव' (परमराज्यके चिह्नोंको धारण करनेवाला हो), 'परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव' (उत्कृष्ट अरहन्तदेवके चिह्नोंको धारण करनेवाला हो) और 'परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' (परमनिर्वाणके चिह्नोंका धारक हो), ये मन्त्र बना लेना चाहिये ।

संग्रह–'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' ।

इन मन्त्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार कर उसे विकाररहित वस्त्रके द्वारा वस्त्रसहित करना चाहिये अर्थात् साधारण वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर लँगोटी देनी चाहिये और उसपर तीन लड़की बनी हुई मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिये ॥१५७॥ तदनन्तर गणधरदेवके द्वारा कहा हुआ, व्रतोंका चिह्नस्वरूप और मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिये । यज्ञोपवीत धारण करनेपर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥१५८॥ पहले तो वह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण था और अब व्रतोंसे संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है इसलिये दो बार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रूढ़िको प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिये विधिके अनुसार गुरुकी साक्षीपूर्वक अणुव्रत देना चाहिये और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूपशीलसे सहित व्रतोंके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिये । भावार्थ–उसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत और शील देकर उसके संस्कार अच्छे बनाना चाहिये ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढ़ाकर और चारित्रके योग्य उसका नाम रखकर अतिबाल विद्या आदिका नियोगरूपसे उपदेश दें ॥१६१॥ इसके बाद जिसका संस्कार किया जा चुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवान्की पूजा कर फिर विधिके अनुसार अपने आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस पुत्रको

---

१ वस्त्राभ्यन्तः । २ त्रिगुणात्मकम् । ३ ब्रह्मसूत्रम् । ४ प्राप्नोति । ५ समूहैः । ६ वक्ष्यमाणान् ।

शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तस्तमनूनं समाचरेत् । यावन्नोऽधीतविद्यः सन् भजेत् सब्रह्मचारिताम् ॥१६४॥
अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः[1] ॥१६५॥
शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गं लिङ्गं कट्यूरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६॥
ततः स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वं वर्तमानानां[2] सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥
कुतश्चित् कारणाद् यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत् स्वं यदा कुलम् ॥१६८॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ । न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः[3] ॥१७०॥
तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥
स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भवधोत्सर्गो[4] ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥
इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य सम्पूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३॥
दशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणोपासिकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥१७४॥

अपनी जाति या कुटुम्बके लोगोंके घरमें प्रवेश कर भिक्षा माँगना चाहिये और उस भिक्षामें जो कुछ अर्थका लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्यायके लिये सौंप देना चाहिये ॥१६३॥ बाकीकी सब विधि पहले कही जा चुकी है। उसे पूर्णरूपसे करना चाहिये। इसके सिवाय वह जबतक विद्या पढ़ता रहे तब तक उसे ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहिये ॥१६४॥

अथानन्तर जिसमें उपासकाध्ययनका संक्षेपसे संग्रह किया है ऐसी इसकी व्रतचर्याको अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१६५॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालकके लिये शिरका चिह्न (मुण्डन), वक्षःस्थलका चिह्न–यज्ञोपवीत, कमरका चिह्न–मूँजकी रस्सी और जाँघका चिह्न–सफेद धोती ये चार प्रकारके चिह्न धारण करना चाहिये। इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोंके द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकलाके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि द्विजोंको वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ॥१६७॥ जिसके कुलमें किसी कारणसे दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदिकी सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि सन्ततिके लिये यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है। भावार्थ–यदि दीक्षा धारण करने योग्य कुलमें किसी कारणसे दोष लग जावे तो राजा आदिकी सम्मतिसे उसकी शुद्धि हो सकती है और उस कुलके पुरुषको यज्ञोपवीत भी दिया जा सकता है। न केवल उसी पुरुषको किन्तु उसके पुत्र पौत्र आदि सन्तानके लिये भी यज्ञोपवीत देनेका कहीं निषेध नहीं है ॥१६८–१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोंको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहनें ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोंको मांस-रहित भोजन करना चाहिये, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका सेवन करना चाहिये, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिये और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिये ॥१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोंसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याकी पूर्ण विधि समझनी चाहिये ॥१७३॥ अब उन द्विजोंके लिये उपासकाध्ययन सूत्रमें जो दश

---

१ संगृहीतः । २ जीवताम् । ३ [illegible] । ४ आरम्भजनितवध विसर्जनम् ।

तत्रातिबालविद्याद्याः कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिता ॥१७५॥
व्यवहारेशितान्या स्याद् अवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चेत्यनुक्रमात् ॥१७६॥
दशाधिकारिवास्तूनि स्युरुपासकसङ्ग्रहे । तानीमानि यथोद्देशं संक्षेपेण विवृण्महे ॥१७७॥
बाल्यात्प्रभृति [1]या विद्याशिक्षोद्योगाद् द्विजन्मनः । प्रोक्तातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसम्मता ॥१७८॥
तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञकः । मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत [2]द्विजन्मान्यैः प्रतारितः ॥१७९॥
बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मोपासिकीं श्रुतिम् । स तया प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥१८०॥
कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्याद् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत्[3] ॥१८१॥
वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै । तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥१८२॥
वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥१८३॥
ततोऽयं शुद्धिकामः सन् सेवेतान्यकुलिङ्गिनम् । [4]कुब्रह्म वा [5]ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१८४॥
प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणाधिको हि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्याल्लोकपूजितैः ॥१८५॥
ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां द्रढयेद् द्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद् ह्रियतेऽस्य धनं नृपैः ॥१८६॥

अधिकार कहे हैं उन्हें यथाक्रमसे नामके अनुसार कहता हूँ ॥१७४॥ उन दश अधिकारोंमें पहला अतिबाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्ट्यधिकारिता, छठवाँ व्यवहारेशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजा सम्बन्धान्तर है। उपासकसंग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकारवस्तुएँ बतलाई गई हैं। उन्हीं अधिकार वस्तुओंका उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेपसे कुछ विवरण करता हूँ। ॥१७५–१७७॥ द्विजोंको जो बाल्य अवस्थासे ही लेकर विद्या सिखलानेका उद्योग किया जाता है उसे अतिबालविद्या कहते हैं, यह विद्या द्विजोंको अत्यन्त इष्ट है ॥१७८॥ इस अतिबाल विद्याके अभावमें द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं हो पाता और वह अपनेको झूठमूठ द्विज माननेवाले पुरुषोंके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्रके अध्ययनमें लग जाता है ॥१७९॥ इसलिये द्विजोंको उचित है कि वे बाल्य अवस्थामें ही श्रावकाचारके शास्त्रोंका अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचारके शास्त्रोंके द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते हैं वह निज और परको तारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोंकी कुलावधि क्रिया कहलाती है। कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रियासे ही यह प्रशंसाको प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नहीं है तो इसके उत्कृष्टता नहीं हो सकती और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपने आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ जो स्वयं उत्कृष्ट नहीं है ऐसे द्विजको अपनी शुद्धिकी इच्छासे अन्य कुलिङ्गियों अथवा कुब्रह्मकी सेवा करनी पड़ती है और ऐसी दशामें वह निःसन्देह उन लोगोंमें उत्पन्न हुए दोषोंको प्राप्त होता है। भावार्थ–सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिये जिससे वर्णकी उत्तमतामें बाधा न आवे ॥१८४॥ गुणोंका गौरव होनेसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजोंमें होती है क्योंकि जो गुणोंमें अधिक होता है वह संसारमें सब लोगोंके द्वारा पूजित होनेवाले लोगोंके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिये द्विजोंको चाहिये कि वे अपने आपमें गुणो-

---

१ या विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मनः द०, स०, अ०, प०, इ०। २ द्विजम्मन्यैः द०। ३ व्रजेत् द०, स०। ४ कुलिङ्गिब्राह्मणम्। ५ कुलिङ्गिकुब्राह्मणसेवनात्।

रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः। असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥१८७॥
अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन[1] कुदृष्टयः। लोकं नृपांश्च सम्मोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८८॥
सृष्ट्यन्तरमतो दूरम् अपास्य नयतत्त्ववित्। अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९॥
तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी। तां संश्रितान्नृपानेव[2] सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥१९०॥
अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः। ततो नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः ॥१९१॥
व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि। स्वतन्त्रतां[3] द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९२॥
तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति। अशुद्धः परतः शुद्धिम् अभीप्सन्न्यक्कृतो[4] भवेत् ॥१९३॥
स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः। ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो[5] वधमर्हति ॥१९४॥
सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः। गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता[6] मता ॥१९५॥
तस्मादवध्यतामेष पोषयेद् धार्मिके जने। धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥१९६॥
तदभावे च वध्यत्वम् अयमृच्छति सर्वतः। एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥१९७॥

के द्वारा की हुई पात्रताको दृढ़ करें अर्थात् गुणी पात्र बनें क्योंकि पात्रताके अभावमें मान्यता नहीं रहती और मान्यताके न होनेसे राजा लोग भी धन हरण कर लेते हैं ॥१८६॥ जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा की हुई सृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अपनी सृष्टिके अधिकारोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टि लोग अपने दूषित सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहित कर कुमार्गगामी बना देंगे ॥१८८॥ इसलिये नय और तत्त्वोंको जाननेवाले द्विजको चाहिये कि वह मिथ्यादृष्टियोंकी अन्यसृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अनादिक्षत्रियोंके द्वारा रची हुई धर्मसृष्टिकी ही प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंसे ऐसा कहे कि तीर्थङ्करोंके द्वारा रची हुई यह सृष्टि अनादिकालसे चली आई है। भावार्थ—यह धर्मसृष्टि तीर्थङ्करोंके द्वारा रची हुई है और अनादि कालसे चली आ रही है इसलिये आप भी इसकी रक्षा कीजिये ॥१९०॥ यदि द्विज राजाओंसे ऐसा नहीं कहेंगे तो वे अन्य लोगोंके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा तथा अरहन्तके मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे ॥१९१॥ परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोंको जो प्रायश्चित्त आदि कार्योंमें स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेशिता कहते हैं ॥१९२॥ व्यवहारेशिताके अभावमें द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होनेपर यदि दूसरेसे अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नहीं हो सकेगा ॥१९३॥ जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अवध्याधिकारमें भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणोंकी अधिकताके कारण किसी दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नहीं होता ॥१९४॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिये और विशेषकर ब्राह्मणोंको नहीं मारना चाहिये। इस प्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनतासे हिंसामें भी दो भेद माने गये हैं ॥१९५॥ इसलिये यह धार्मिक जनोंमें अपनी अवध्यताको पुष्ट करे। यथार्थमें यह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममें स्थित रहकर किसी से तिरस्कृत नहीं हो पाता ॥१९६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पुष्ट न करेगा तो सब लोगों से वध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेपर अर्हन्तदेवके धर्मकी

---

१ असमीक्षितेन कुदृष्टान्तेन वा। २ ता धर्मसृष्टिं प्राप्तानपेदित्यर्थः। ३ आत्मानमाश्रिता। अथवा पूर्वं ता गश्रिता बोधयेत् तदूवरपर्यम्। ४—भ्रष्टनो म०। —भ्रष्टनी द०। ५ नृपादेः गवाचात्। ६ द्विरूपता (दुष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनता)।

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः। स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥१९८॥
स्याद्दण्डयत्वमप्येवम् अस्य धर्मे स्थिरात्मनः। धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रणयने प्रभुः ॥१९९॥
तद्धर्मस्थीयमाम्नायं[1] भावयन् धर्मदर्शिभिः[2]। अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥२००॥
परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः। ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०१॥
युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी। अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम्[4] ॥२०२॥
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽयं यथेतरः। ततश्च निस्स्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०३॥
मान्यत्वमस्य सन्धत्ते मानार्हत्वं सुभाषितम्। गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥२०४॥
असत्यस्मिन्नमान्यत्वम् अस्य स्यात् सम्मतैर्जनैः। ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात्[7] पदच्युतिः ॥२०५॥
तस्मादयं गुणो[8] यत्नाद् आत्मन्यारोप्यतां द्विजैः[9]। यत्नश्च ज्ञानवृत्तादिसम्पत्तिः सोऽर्च्यतां नृपैः[10] ॥२०६॥
स्यात् प्रजान्तरसम्बन्धे[11] स्वोन्नतेरपरिच्युतिः। याऽस्य सोक्ता प्रजासम्बन्धान्तरं नामतो गुणः ॥२०७॥
यथा कालायसाविद्धं[12] स्वर्णं याति विवर्णताम्। न तथाऽस्यान्यसम्बन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२०८॥

प्रामाणिकता नष्ट हो जावेगी ॥१९७॥ इसलिये सब प्रकारके प्रयत्नोंसे सनातनधर्मकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थोंसे भरे हुए संसारमें उसकी रक्षा कर सकता है ॥१९८॥ इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विजको अपने अदण्डयत्वका भी अधिकार है क्योंकि धर्ममें स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरेके लिये दण्ड देनेमें समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिये धर्मदर्शी लोगोंके द्वारा दिखलाई हुई धर्मात्मा जनोंकी आम्नायका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनोंको दण्ड देता है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा देव द्रव्य और गुरुद्रव्य त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करने योग्य है। इसलिये ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नहीं है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्डय अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापित करता है। भावार्थ—वह अपने आपमें इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नहीं दे सकते ॥२०२॥ इस अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोंके समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जावेगा और दरिद्र होनेसे न तो इस लोकमें सुखी हो सकेगा और न परलोकमें ही ॥२०३॥ यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मानके योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है अर्थात् जिसमें अधिक गुण पाये जाते हैं वही सत्पुरुषोंके द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है ॥२०४॥ इस अधिकारके न होनेसे उत्तम पुरुष इसका सन्मान नहीं करेंगे और उससे स्थान मान लाभ आदिका अभाव होनेके कारण वह अपने पदसे च्युत हो जावेगा। इसलिये द्विजको चाहिये कि वह यह गुण (मान्यत्व गुण) बड़े यत्नसे अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र आदि सम्पदाएं ही उसका यत्न है इसलिये राजाओंको उसकी पूजा करनी चाहिये ॥२०५–२०६॥ प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नामका गुण है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहके साथ मिला हुआ सुवर्ण

---

१ तत्कारणात्। २ धर्मसम्बन्धिनम्। ३ आगमम्। ४ धर्माचार्यमतात् दण्डं करोतीति तात्पर्यम्। ५–धारिणम् अ०, प०, द०, स०। ६ अमान्यत्वात्। ७ पूर्वस्थितस्य स्थानमानादिलाभस्याभावात्। ८ गुणो द०। ९ द्विज. स०। १० सोऽर्च्यता म तै. द०। ११ सम्बन्धे सति। १२ अयोयुक्तम्।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन सम्बद्धं स्वगुणानयम्[1] । प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः ॥२०९॥
ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । येनायं[2] स्वगुणैरन्यान् आत्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥
असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम् । सत्येवं गुणवत्तास्य निष्कृष्येत[3] द्विजन्मनः ॥२११॥
अतोऽतिबालविद्यादीन्नियोगान्[4] दशधोदितान् । यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसम्मतः ॥२१२॥
गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धान्ताद् अधिगम्यः प्रपञ्चतः ॥२१३॥
[5]क्रियामन्त्रानुषङ्गेण व्रतचर्याक्रियाविधौ[6] । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तैराहृता द्विजैः ॥२१४॥
क्रियामन्त्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामन्त्ररूढयः ॥२१५॥
ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत[7] औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदुः ॥२१६॥
विशेषविषया मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥२१७॥
मन्त्रानिमान् यथा[8]योगं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८॥
क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणां न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहाः[9] सेनान्यस्ता विनायकाः[10] ॥२१९॥

विवर्णताको प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्य पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेपर इस ब्राह्मणके अपने गुणोंके उत्कर्षमें कुछ बाधा नहीं आती है । भावार्थ—लोहेके सम्बन्धसे सुवर्णमें तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विजमें अन्य लोगोंके सम्बन्धसे खराबी नहीं आती ॥२०८॥ किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देती है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इसलिये कहना चाहिये कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्मकी प्रभावनाको बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणोंसे अन्य लोगोंको अपने आधीन कर सकता है ॥२१०॥ इस गुणके न रहनेपर ब्राह्मण अन्य लोगोंके सम्बन्धसे अपने गुणोंकी हानि कर सकता है और ऐसा होनेपर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी ॥२११॥ इसलिये जो अतिबालविद्या आदि दश प्रकारके नियोग निरूपण किये हैं उन्हें यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगोंको मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणोंमें जो अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य है उन्हें उपासकाध्ययनशास्त्रसे विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिये ॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या क्रियाकी विधि का वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसंगसे उत्तम आचरणवाले द्विजोंके द्वारा माननीय दश अधिकारोंका निरूपण किया ॥२१४॥ इस प्रकरणमें जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं उन्हें क्रियामन्त्र जानना चाहिये और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध हैं उन्हें सामान्यविषयक समझना चाहिये अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं ॥२१५॥ वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिये मंत्रोंके जाननेवाले विद्वान् उन्हें औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते हैं ॥२१६॥ इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र हैं वे ऊपर कही हुई क्रियाओंमें दिखला दिये गये हैं । अब व्रतचर्यासे आगेके जो मन्त्र हैं वे द्विजोंको अपनी आम्नाय (शास्त्र परम्परा)के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥२१७॥ जो इन मन्त्रोंको क्रियाओंमें यथायोग्य रूपसे काममें लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमें सम्मान को प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य मुख्य योद्धा

---

१ प्रजान्तरसम्बन्धेन । २ द्विज. । ३ सम्बन्ध्येत । नश्येदित्यर्थः । ४ अधिकारान् । ५ क्रियाणां मन्त्राः क्रियामन्त्रास्तेषामनुषङ्गो योगस्तेन । ६ पूर्वोक्तव्रतचर्याक्रियाविधाने । ७ साधारणान् । ८ यथायुक्ति । 'योगस्सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । ९ सुविहितकवचाः । १० स्वामिरहिताः ।

ततो विधिममुं सम्यग् अवगम्य कृतागमैः[1]। विधानेन प्रयोक्तव्या क्रियामन्त्रपुरस्कृता ॥२२०॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो
धर्मक्रियासु [2]कृतधीर्नृपलोकसाक्षि।
तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्
धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१॥

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगाः
[3]व्रतपरिचयचारूदारवृत्ताः श्रुताढ्याः[4]।
जिनवृषभमतानु[5]व्रज्यया पूज्यमानाः
जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥२२२॥

वृत्तस्था[6]नथ तान् विधाय समभवानिक्ष्वाकुचूडामणि[7]
र्जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् सम्मानयन् प्रत्यहम्।
स्वं मेने कृतिनं मुदा[8] परिगतः[9] स्वां सृष्टिमुच्चैः कृतां
पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥

सेनापतिके विना कुछ भी नही कर सकते उसी प्रकार मन्त्रोसे रहित क्रियाएं भी प्रयोग करनेवाले पुरुषोंकी कुछ भी सिद्धि नही कर सकती ॥२१९॥ इसलिये शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मन्त्रोच्चारणके साथ साथ सब क्रियाएं विधिपूर्वक करनी चाहिये ॥२२०॥ इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओंमें निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्णकी सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार महाराज भरतसे जिन्हें सत्कारका योग प्राप्त हुआ है व्रतोंके परिचयसे जिनका चारित्र सुन्दर और उदार हो गया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले है और श्रीवृषभ जिनेन्द्रके मतानुसार धारण की हुई दीक्षासे जो पूजित हो रहे हैं ऐसे वे ब्राह्मण संसारमें बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज भरत जैनमार्गमें अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको सदाचारमें स्थिर कर प्रतिदिन उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योंकि आनन्दसे युक्त तथा उत्कृष्टताको प्राप्त हुई अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने आपको कृतकृत्य न माने ॥२२३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्तिमें क्रियामन्त्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवां पर्व समाप्त हुआ।

---

१ सम्पूर्णागमैः। २ सम्पूर्णबुद्धि। ३ व्रताभ्यास। ४ श्रुतार्था द०, ल०। ५ मतानुगमनेन। ६ चारित्रपद गतान्। ७ पूज्य। ८ सन्तोषेण सह। ९ समर्पितामित्यर्थः।

एकचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरः काले व्यतिक्रान्ते कियत्यपि । स्वप्नानद्राक्षीत्[1] कांश्चिद् अद्भुतदर्शनान् ॥१॥
तत्स्वप्नदर्शनात् किञ्चिद् उत्त्रस्त इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतर्कयत् ॥२॥
असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभान्ति[2] माम् । मन्ये दूरफलांश्चैतान् पुराकल्पे[3] फलप्रदान् ॥३॥
कुतश्चिद् भगवत्यद्य [4]प्रतपत्यादिभर्तरि । प्रजानां कथमेवंविधोपप्लवसम्भवः ॥४॥
ततः[5] कृतयुगस्यास्य[6] व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यन्ति नूनमेनः[7] प्रकर्षतः ॥५॥
[8]युगान्तविप्लवोदर्काः एतेऽनिष्टप्रशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥६॥
यद्वच्चन्द्रार्कबिम्बोत्थविक्रियाजनितं फलम् । जगत्साधारणं तद्वत् सदसच्चास्मदीक्षितम्[9] ॥७॥
इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिन्तनम् । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानगोचरा ॥८॥
केवलार्कादृते नान्यः संशयध्वान्तभेदकृत् । को हि नाम तमो [10]नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥९॥
तत्त्वादर्शे स्थिते देवे को नामास्मन्मतिभ्रमः । सत्यादर्शे[11] करामर्शात् कः[12] पश्येन्मुखसौष्ठवम् ॥१०॥
[13]तदत्र भगवद्वक्त्रमङ्गलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णीतिः[14] स्वप्नानां शान्तिकर्म च ॥११॥
अपि चास्मदुपज्ञं[15] यद् द्विजलोकस्य सर्जनम् । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्पादसंनिधौ ॥१२॥

अथानन्तर–कितना ही काल बीत जानेपर एक दिन चक्रवर्ती भरतने अद्भुत फल दिखानेवाले कुछ स्वप्न देखे ॥१॥ उन स्वप्नोंके देखनेसे जिन्हें चित्तमें कुछ खेद-सा उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भरत अचानक जाग पड़े और उन स्वप्नोंके फलका इस प्रकार विचार करने लगे ॥२॥ कि ये स्वप्न मुझे प्रायः बुरे फल देनेवाले जान पड़ते हैं तथा साथमें यह भी जान पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगेके पंचम कालमें फल देनेवाले होंगे ॥३॥ क्योंकि इस समय भगवान् वृषभदेवके प्रकाशमान रहते हुए प्रजाको इस प्रकारका उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है? ॥४॥ इसलिये कदाचित् इस कृतयुग (चतुर्थकाल)के व्यतीत हो जानेपर जब पापकी अधिकता होने लगेगी तब ये स्वप्न अपना फल देंगे ॥५॥ युगके अन्तमें विप्लव फैलाना ही जिनका फल है ऐसे ये स्वप्न अनिष्टको सूचित करनेवाले हैं और राजा तथा प्रजा दोनोंको समान फल देनेवाले हैं ॥६॥ जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यके बिम्बसे उत्पन्न होनेवाली विक्रियासे प्रकट हुआ फल जगत्‌के जीवोंको समानरूपसे उठाने पड़ते हैं उसी प्रकार मेरे द्वारा देखे हुए स्वप्नोंके फल भी समस्त जीवोंको सामान्यरूपसे उठाने पड़ेंगे ॥७॥ इस प्रकार हमारा यह अनुमान केवल स्थूल पदार्थोंका चिन्तवन करनेवाला है, सूक्ष्म तत्त्वकी प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही हो सकती है ॥८॥ केवलज्ञानरूपी सूर्यको छोड़कर और कोई पदार्थ संशयरूपी अन्धकारको भेदन करनेवाला नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यको छोड़कर ऐसा कौन है जो रात्रिका अन्धकार नष्ट कर सके ॥९॥ तत्त्वोंका वास्तविक स्वरूप दिखलानेवाले भगवान् वृषभदेवके रहते हुए मुझे बुद्धिका भ्रम क्यों होना चाहिये, भला दर्पणके रहते हुए ऐसा कौन पुरुष है जो हाथके स्पर्शसे मुखकी सुन्दरता देखे? ॥१०-११॥ इसलिये इस विषयमें भगवान्‌के मुखरूपी मङ्गल

---

१ ददर्श । २ मम प्रतिभान्ति । ३ पश्चाद्भाविकाले । पञ्चमकाले इत्यर्थः । ४ प्रकाशमाने सति । ५ तस्मात् कारणात् । ६ चतुर्थकालस्य । ७ पापे । ८ कृतस्य चतुर्थकालस्यान्ते विप्लव एव उदर्कः उत्तरफलं येषां ते । ९ मयेक्षितम् । १० केवलज्ञानविरहा । ११ निजमुखमपि । १२ दर्पणे विद्यमाने सति । १३ तत् कारणात् । १४ स्वप्ननिर्णयः । १५ मया प्रथमारब्धम् ।

द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् । महेज्यया च यष्टव्याः[1] शिष्टानामिष्टमीदृशम् ॥१३॥
इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्सङ्गात् परार्द्ध्यतः । प्रातस्तरां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥१४॥
ततः[2] क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वन्दनाभक्तये गन्तुम् उद्यतोऽभूद् विशाम्पतिः ॥१५॥
वृतः परिमितैरेव मौलिबद्धैरनूत्थितैः[3] । प्रतस्थे वन्दनाहेतोः विभूत्या परयान्वितः ॥१६॥
ततः क्षेपीय[4] एवासौ गत्वा सैन्यैः परिष्कृतः । सम्राट् प्रापतमुद्देशं[5] यत्रास्ते स्म जगद्गुरुः ॥१७॥
दूरादेव जिनास्थानभूमिं[6] पश्यन्निधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटिताञ्जलिकुड्मलः ॥१८॥
स तां प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सदोऽवनिम् । प्रविवेश विशामीशः क्रान्त्वा कक्षाः पृथग्विधाः[7] ॥१९॥
मानस्तम्भमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपादपान्[8] । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपांश्चार्चितपूजितान् ॥२०॥
चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्र तत्रेक्षमाणोऽसौ ता ताः कक्षामलङ्घयत् ॥२१॥
प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणां गीतैर्नृत्तैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिः तत्रास्यासीत् परा धृतिः ॥२२॥
ततः प्राविशदुत्तुङ्गगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरध्युषितां भूमिं श्रीमण्डपपरिष्कृताम् ॥२३॥
त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय[9] धर्मचक्राणि पूजयन् ॥२४॥

दर्पणको देखकर ही मुझे स्वप्नोंके यथार्थ रहस्यका निर्णय करना उचित है और वही खोटे स्वप्नोंका शान्तिकर्म करना भी उचित है ॥१२॥ इसके सिवाय मैंने जो ब्राह्मण लोगोंकी नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान्‌के चरणोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिये ॥१३॥ फिर अच्छे पुरुषोंका यह कर्तव्य भी है कि वे प्रतिदिन गुरुओंके दर्शन करें, उनसे अपना हित अहित पूछा करें और बड़े वैभवसे उनकी पूजा किया करें ॥१४॥ इस प्रकार मनमें विचारकर महाराज भरतने बड़े सवेरे बहुमूल्य शय्यासे उठकर प्रातःकालकी समस्त क्रियाएं की और फिर थोड़ी देरतक सभामें बैठकर अनेक राजाओंके साथ भगवान्‌की वन्दना तथा भक्तिके अर्थ जानेके लिये उद्यम किया ॥१५॥ जो साथ ही साथ उठकर खड़े हुए कुछ परिमित मुकुटबद्ध राजाओंसे घिरे हुए हैं और उत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं ऐसे महाराज भरतने वन्दनाके लिये प्रस्थान किया ॥१६॥ तदनन्तर सेना सहित सम्राट् भरत शीघ्र ही वहां पहुंच गये जहां जगद्गुरु भगवान् विराजमान थे ॥१७॥ दूरसे ही भगवान्‌के समवसरणकी भूमिको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरतने नम्रीभूत मस्तकपर कमलकी बौंड़ीके समान जोड़े हुए दोनों हाथ रखकर नमस्कार किया ॥१८॥ उन महाराजने पहले उस समवसरण भूमिके बाहरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक प्रकारकी कक्षाओंका उल्लंघन कर भीतर प्रवेश किया ॥१९॥ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामग्रीसे पूजित स्तूपोंको देखते हुए उन सबको उल्लंघन करते गये ॥२०॥ अपने अपने निश्चित स्थानोंपर चारों प्रकारकी वनकी पङ्क्तियों, ध्वजाओं और हर्म्यावलीको देखते हुए उन्होंने उन कक्षाओंका उल्लंघन किया ॥२१॥ समवसरणकी प्रत्येक कक्षामें होनेवाले देवाङ्गनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे जिनके चित्तकी वृत्ति अनुरक्त हो रही है ऐसे महाराज भरतको बहुत ही संतोष हो रहा था ॥२२॥ तदनन्तर बहुत ऊंचे गोपुर दरवाजोंके मार्गसे उन्होंने जहां गणधरदेव विराजमान थे और जो श्रीमण्डपसे सुशोभित हो रही थी ऐसी सभाभूमिमें प्रवेश किया ॥२३॥ वहांपर तीन कटनीवाले पीठकी प्रथम कटनीपर चढ़कर धर्मचक्रकी पूजा करते हुए प्रदक्षिणा दी ॥२४॥ तदनन्तर चक्रवर्ती दूसरी कटनीपर महाध्वजाओंकी पूजा कर तीनों जगत्की लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाली गन्ध-

१ दर्शनीयाः । २ सम्प्रवर्तनम् । ३ सहोत्थितैः । ४ अतिशयेन शीघ्रम् । ५ प्रदेशम् । ६ सभाभूमिम् । ७ नानाप्रकाराः । ८ –र्चितान् प०, म० । ९ प्रदक्षिणां चक्रे ।

मेखलाया द्वितीयस्या वरिवस्यन्[1] महाध्वजाम् । प्रापद् गन्धकुटीं चक्री न्यक्कृतत्रिजगच्छ्रियम् ॥२५॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरेडितम् । भगवन्तमथालोक्य प्राणमद्[2] भक्तिनिर्भरः ॥२६॥
स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानम् अभ्यर्च्य च यथाविधि । निषसाद[3] यथास्थानं धर्मामृतपिपासितः[4] ॥२७॥
भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपङ्कजे । विशुद्धिपरिणामाङ्गमवधिज्ञानमुद्बभौ ॥२८॥
पीत्वाऽथो धर्मपीयूषं परां तृप्तिमवापिवान् । स्वमनोगतमित्युच्चैः भगवन्तं व्यजिज्ञपत् ॥२९॥
मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारचुञ्चवः[5] । त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥३०॥
एकाद्येकादशान्तानि[6] दत्तान्येभ्यो मया विभो । व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥३१॥
विश्वस्य धर्मसर्गस्य[7] त्वयि साक्षात्प्रणेतरि । स्थिते मयातिबालिश्याद्[8] इदमाचरितं विभो ॥३२॥
दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत् साम्प्रतं[9] न वा । दोलायमानमिति मे मनः स्थापय निश्चितौ[10] ॥३३॥
अपि चाद्य मया स्वप्ना निशान्ते षोडशेक्षिताः । प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवाभिलक्षिताः ॥३४॥
यथादृष्टमुपन्यस्ये[11] तानिमान् परमेश्वर । यथास्वं तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषयं[12] नय ॥३५॥
सिंहो मृगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्[13] । छागा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः[14] ॥३६॥
शाखामृगा द्विपस्कन्धम् आरूढाः कौशिकाः[15] खगैः । विहितोपद्रवा ध्वाङ्क्षैः[16] प्रमथाद्यैः[17] प्रमोदिनः ॥३७॥

कुटीके पास जा पहुंचे ॥२५॥ वहांपर भक्तिसे भरे हुए भरतने देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर आदिके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको देखकर उन्हें नमस्कार किया ॥२६॥ महाराज भरत उन भगवान्की अनेक स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर धर्मरूप अमृतके पीनेकी इच्छा करते हुए योग्य स्थानपर जा बैठे ॥२७॥ भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंको प्रणाम करते हुए भरतके परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो गये थे कि उनके उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२८॥ तदनन्तर धर्मरूपी अमृतका पान कर वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उच्च स्वरसे अपने हृदयका अभिप्राय भगवान्से इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥२९॥ कि हे भगवन्, मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा श्रावकाचारमें निपुण ब्राह्मण निर्माण किये हैं अर्थात् ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की है ॥३०॥ हे विभो, मैंने इन्हें ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत दिये हैं ॥३१॥ हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी बड़ी मूर्खतासे यह काम किया है ॥३२॥ हे देव, इन ब्राह्मणोंकी रचनामें दोष क्या है ? गुण क्या है ? और इनकी यह रचना योग्य हुई अथवा नहीं ? इस प्रकार झूलाके समान झूलते हुए मेरे चित्तको किसी निश्चयमें स्थिर कीजिये अर्थात् गुण, दोष, योग्य अथवा अयोग्यका निश्चयकर मेरा मन स्थिर कीजिये ॥३३॥ इसके सिवाय हे देव, आज मैंने रात्रिके अन्तिमभागमें सोलह स्वप्न देखे हैं और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये स्वप्न प्रायः अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥३४॥ हे परमेश्वर वे स्वप्न मैंने जिस प्रकार देखे हैं उसी प्रकार उपस्थित करता हूं । उनका जैसा कुछ फल हो उसे मेरी प्रतीतिका विषय करा दीजिए ॥३५॥ (१) सिंह, (२) सिंहका बच्चा, (३) हाथीके भारको धारण करनेवाला घोड़ा, (४) वृक्ष, लता और झाड़ियोंके सूखे पत्ते खानेवाले बकरे, (५) हाथीके स्कन्धपर बैठे

१ पूजयन् । २ अधकृत । ३ नमस्करोति स्म । ४ निविष्टवान् । ५ पातुमिच्छामिव गन् । ६ चतुरणम् । ■ प्रतीता । ८ –दशाङ्गानि ल०, म० । ९ सृष्टेः । १० मूर्खत्वन । 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः' इत्यमरः । ११ युक्तम् । १२ निश्चये । १३ विज्ञापयामि । १४ ज्ञानम् । १५ करिणो भारं बिभर्ति । १६ भगिण । १७ उलूका । १८ काकैः । 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि ॥' इत्यभिधानात् । १९ भूताः ।

शुष्कमध्यं तडागं च पर्यन्तप्रचुरोदकम् । पांशुधूसरितो[1] रत्नराशिः श्वार्यं मर्गहितः[2] ॥३८॥
तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परिवेषयुक् । मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्यौ पुङ्गवौ सङ्गतच्छियौ ॥३९॥
रविराशावधूरत्नवतंसोऽब्दैस्तिरोहितः । सशुष्कस्तरुरच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥४०॥
षोडशैतेऽद्य यामिन्यां दृष्टाः स्वप्ना विदां वर । फलविप्रतिपत्तिं[4] मे तद्गतां त्वमपाकुरु ॥४१॥
इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधित्विषा । सभाजनप्रबोधाय पप्रच्छ निधिराट् जिनम् ॥४२॥
[5]तत्प्रश्नावसितावित्थं व्याचष्टे स्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्निखिलां सदः ॥४३॥
भगवद्दिव्यवागर्थशुश्रूषावहितं[6] तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्चित्रगतं नु वा ॥४४॥
साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् । किन्तु दोषानुषङ्गोऽत्र कोऽप्यस्ति स निशम्यताम् ॥४५॥
आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृत[7]युगस्थितिः[8] ॥४६॥
ततः [9]कलियुगेऽभ्यर्णे[10] जातिवादावलेपतः[11] । भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते[12] सन्मार्गप्रत्यनीकताम्[13] ॥४७॥
तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति । [14]पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति[15] धनाशया ॥४८॥
सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति[16] स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुती[17] ॥४९॥

हुए वानर, (६) कौआ आदि पक्षियोके द्वारा उपद्रव किये हुए उलूक, (७) आनन्द करते हुए भूत, (८) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारोपर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाब, (९) धूलिसे धूसरित रत्नोकी राशि, (१०) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्यको खानेवाला कुत्ता, (११) जवान बैल, (१२) मण्डलसे युक्त चन्द्रमा, (१३) जो परस्परमें मिल रहे है और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (१४) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नोके से बने हुए आभूषणके समान है तथा जो मेघोसे आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (१५) छाया-रहित सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तोका समूह। हे ज्ञानियोमे श्रेष्ठ, आज मैंने रात्रिके समय ये सोलह स्वप्न देखे है। हे नाथ, इनके फलके विषयमे जो मुझे सदेह है, उसे दूर कर दीजिये ॥३९–४१॥ यद्यपि निधियोके अधिपति महाराज भरत अपने अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोका फल जाननेमे निपुण थे तथापि सभाके लोगोको समझानेके लिये उन्होने भगवान्‌से इस प्रकार पूछा था ॥४२॥ भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अपने वचनरूपी अमृतके सिंचनसे समस्त सभाको सतुष्ट करते हुए इस प्रकार व्याख्यान करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्‌की दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छा से सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पडती थी मानो ध्यानमें मग्न हो रही हो अथवा चित्रकी बनी हुई हो ॥४४॥ वे कहने लगे कि हे वत्स, तूने जो धर्मात्मा द्विजोकी पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४५॥ हे आयुष्मन्, तूने जो गृहस्थोकी रचना की है सो जबतक कृतयुग अर्थात् चतुर्थकालकी स्थिति रहेगी तबतक तो ये उचित आचारका पालन करते रहेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्ष-मार्गके विरोधी बन जावेंगे ॥४६॥ पचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोमें बडे है, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे खोटे शास्त्रोके द्वारा लोगोको मोहित करते रहेंगे ॥४७॥ सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे है ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वय मिथ्या शास्त्रोको बना बनाकर लोगोको ठगा करेंगे ॥४८॥ जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय

---

१ ईषत्पाण्डुरित । २ चरुभुक् । ३ पूजित । ४ सन्देहम् । ५ तस्य प्रश्नावसाने । ६ अवधानपरम् । ७ याग । ८ चतुर्थकाल । ९ पञ्चमकाल । १० समीप सति । ११ गर्वत । १२ यास्यन्ति । १३ प्रतिकूलताम् । १४ पञ्चमकाले । १५ 'पुराशब्दयोगे भविष्यदर्थे लट्'। १६ वञ्चयिष्यन्ति । १७ दुःशास्त्राणि ।

त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः । धर्मद्रुहो[1] भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥
सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं[2] धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ॥५१॥
अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी बत ॥५२॥
पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । [3]वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः[4] ॥५३॥
द्विजातिसर्जनं[5] तस्मान्नाद्य यद्यपि दोषकृत् । स्याद्दोषबीजमायत्यां[6] कुपाखण्डप्रवर्तनात् ॥५४॥
इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदञ्जसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥५५॥
यथाऽन्नमुपयुक्तं सत् क्वचित्कस्यापि दोषकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद् बुधैर्बहुगुणास्थया ॥५६॥
तथेदमपि मन्तव्यं त्वद्यत्वे गुणवत्तया । पुंसामाशयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोषकृत् ॥५७॥
इदमेवं गतं हन्त यच्च ते स्वप्नदर्शनम् । तदप्येष्यद्[7]युगे धर्मस्थितिह्रासस्य सूचनम् ॥५८॥
ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाताः स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥५९॥
तथ्याः स्युः स्वस्थसन्दृष्टाः मिथ्यास्वप्ना विपर्ययात् । जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम्[8] ॥६०॥
स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवसमुद्भवम् । दोषप्रकोपजा मिथ्या तथ्याः स्युर्दैवसम्भवाः ॥६१॥

तक विकारभावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेंगे ॥५०॥ जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर हैं तथा मधु और मांसका भोजन जिन्हें प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ॥५१॥ खेद है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण अहिंसारूप धर्मको दूषित कर वेदमें कहे हुए हिंसारूप धर्मको पुष्ट करेंगे ॥५२॥ पापका समर्थन करनेवाले, शास्त्रको जाननेवाले अथवा पापके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और प्राणियोंके मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्त ब्राह्मण आगामी युग अर्थात् पंचम कालमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जावेंगे ॥५३॥ इसलिये यह ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें खोटे पाखण्ड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोपका बीजरूप है ॥५४॥ इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिये इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है ॥५५॥ जिस प्रकार खाया हुआ अन्न यद्यपि कहीं किसीको दोष उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक गुणोंकी आस्थासे विद्वान् लोग उसे छोड़ नहीं सकते उसी प्रकार यद्यपि ये पुरुषोंके अभिप्रायोंकी विषमतासे आगामी कालमें दोष उत्पन्न करनेवाले हो जावेंगे तथापि इस समय इन्हें गुणवान् ही मानना चाहिये ॥५६–५७॥ इस प्रकार यह तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो हो चुका, अब तूने जो स्वप्न देखे हैं, खेद है, कि वे भी आगामी युग (पंचम काल) में धर्मकी स्थितिके ह्रासको सूचित करनेवाले हैं ॥५८॥ वे स्वप्न दो प्रकारके माने गये हैं एक अपनी स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले। जो धातुओंकी समानता रहते हुए दिखते हैं वे स्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं और जो धातुओंकी विषमता–न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं ॥५९॥ स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते हैं और अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न असत्य हुआ करते हैं इस प्रकार स्वप्नोंके फलका विचार करनेमें यह जगत्प्रसिद्ध बात है ऐसा तू समझ ॥६०॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं एक दोषसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे उत्पन्न होनेवाले। उनमें दोषोंके प्रकोप-

---

१ धर्मघातिन.। २ चोदनालक्षणम्। ३ भावि। ४ प्रतिकूले। ५ सृष्टि। ६ उत्तरकाले। 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यभिधानात्। ७ भविष्यद्युगे। ८ विचारणम्।

कल्याणाङ्गस्त्वमेकान्ताद् देवताधिष्ठितश्च यत्[1]। न मिथ्या तदिमे स्वप्ना फलमेषां[2] निबोध मे[3] ॥६२॥
दृष्टा स्वप्ने मृगाधीशा ये त्रयोविंशतिप्रमा । निःसपत्नां विहृत्येमां क्ष्मां क्ष्माभृत्कूटमाश्रिता[4] ॥६३॥
तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये। दुर्नयानामनुद्भूतिरित्यापरं सदयसां स्फुटम् ॥६४॥
पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक्[5] मृगेक्षणात्। भवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुषङ्गा[6] कुलिङ्गिनः ॥६५॥
करीन्द्रभारनिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात्। कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं नालं दुष्षमसाधवः ॥६६॥
मूलोत्तरगुणेष्वात्तसङ्गराः केचनालसाः। भङ्क्ष्यन्ते मूलतः केचित्तेषु यास्यन्ति मन्दताम् ॥६७॥
[7]निध्यानादजयूथस्य शुष्कपत्रोपयोगिनः। यान्त्यसद्वृत्ततां त्यक्तसदाचाराः पुरा नराः ॥६८॥
करीन्द्रकन्धरारूढशाखामृगविलोकनात्। आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां [8]पास्यन्त्यकुलीनकाः ॥६९॥
काकैरुलूकसम्बाधदर्शनाद्धर्मकाम्यया। मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्थानन्वियुर्जनाः ॥७०॥
प्रनृत्यतां प्रभूतानां[9] भूतानामीक्षणात् प्रजाः। भजेयुर्नामकर्माद्यैः व्यन्तरान् देवतास्थया[10] ॥७१॥
शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात्। प्रच्युत्यार्यनिवासात् स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु[11] ॥७२॥
पांसुधूसररत्नौघनिध्यानादृद्धिसत्तमाः। नैव प्रादुर्भविष्यन्ति मुनयः पञ्चमे युगे ॥७३॥
शुनोऽर्चितस्य सत्कारैश्चरुभाजनदर्शनात्। गुणवत्पात्रसत्कारमाप्स्यन्त्यव्रतिनो द्विजाः ॥७४॥

से उत्पन्न होनेवाले झूठ होते हैं और दैवसे उत्पन्न होनेवाले सच्चे होते हैं ॥६१॥ हे कल्याणरूप, चूँकि तू अवश्य ही देवताओंसे अधिष्ठित है इसलिये तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं। तू इनका फल मुझसे समझ ॥६२॥ तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर अकेले विहार कर पर्वतकी शिखरपर चढ़े हुए तेईस सिंह देखे हैं उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोड़कर शेष तेईस तीर्थङ्करोंके समयमें दुष्ट नयोंकी उत्पत्ति नहीं होगी। इस स्वप्नका फल यही बतलाता है ॥६३–६४॥ तदनन्तर दूसरे स्वप्नमें अकेले सिंहके बच्चेके पीछे चलते हुए हरिणोंका समूह देखनेसे यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले बहुतसे कुलिङ्गी हो जावेंगे ॥६५॥ बड़े हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गई है ऐसे घोड़ेके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचम कालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥६६॥ कोई मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करनेमें आलसी हो जायँगे, कोई उन्हें मूलसे ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनताको प्राप्त हो जायँगे ॥६७॥ सूखे पत्ते खानेवाले बकरोंका समूह देखनेसे यह मालूम होता है कि आगामी कालमें मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायँगे ॥६८॥ गजेन्द्रके कंधेपर चढ़े हुए वानरोंके देखनेसे जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायँगे और नीच कुलवाले पृथ्वीका पालन करेंगे ॥६९॥ कौवोंके द्वारा उलूकको त्रास दिया जाना देखनेसे प्रकट होता है कि मनुष्य धर्मकी इच्छासे जैनमुनियोंको छोड़कर अन्य मतके साधुओंके समीप जायँगे ॥७०॥ नाचते हुए बहुतसे भूतोंके देखनेसे मालूम होता है कि प्रजाके लोग नामकर्म आदि कारणोंसे व्यन्तरोंको देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे ॥७१॥ जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है ऐसे तालाबके चारों ओर पानी भरा हुआ देखनेसे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्डसे हटकर प्रत्यन्तवासी म्लेच्छ खण्डोंमें ही रह जायगा ॥७२॥ धूलिसे मलिन हुए रत्नोंकी राशिके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचमकालमें ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे ॥७३॥ आदर-सत्कारसे जिसकी पूजा की

---

१ यस्मात् कारणात्। २ जानीहि। ३ मम सकाशात्। ४–माश्रिता ट०। ५ अनुगच्छत्। ६ सपरिग्रहा। ७ दर्शनात्। ८ पालयिष्यन्ति। ९ भूरीणाम्। १० देवबुद्ध्या। ११ म्लेच्छदेशेषु। 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्।'

तरुणस्य वृषस्योच्चैः नदतो[1] विहृतीक्षणात्[2] । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे ॥७५॥
परिवेषोपरक्तस्य श्वेतभानोर्निशामनात्[4] । नोत्पत्स्यते[5] तपोभृत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥
अन्योन्यं सह सम्भूय वृषयोर्गमनेक्षणात् । वर्त्स्यन्ति मुनयः साहचर्यान्नैकविहारिणः ॥७७॥
घनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलार्कोदयः प्रायो न भवेत् पञ्चमे युगे ॥७८॥
पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात् । महौषधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥७९॥
स्वप्नानेवंफलानेतान् विद्धि दूरविपाकिनः[6] । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेषां युगान्तरे ॥८०॥
इति स्वप्नफलान्यस्माद् बुध्वा वत्स यथा तथा । धर्मे मतिं दृढं धत्स्व विश्वविघ्नोपशान्तये ॥८१॥
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालकः । सन्देहकर्दमापायात् स प्रसन्नमवान्मनः ॥८२॥
भूयो भूयः प्रणम्येशं समापृच्छ्य पुनः पुनः । पुनरावबृते कृच्छ्रात् स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥८३॥
ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरणम् । केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दितः ॥८४॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये । जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
गोदोहैः[8] प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयी जनः[9] ॥८६॥
निर्मापितास्ततो घण्टा जिनबिम्बैरलङ्कृताः । परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

गई हैं ऐसे कुत्तेको नैवेद्य खाते हुए देखनेसे मालूम होता है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान सत्कार पायेंगे ॥७४॥ ऊंचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं ॥७५॥ परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचमकालके मुनियोंमें अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान नहीं होगा ॥७६॥ परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलोंके देखनेसे यह सूचित होता है कि पंचमकालमें मुनिजन साथ साथ रहेंगे, अकेले विहार करनेवाले नहीं होंगे ॥७७॥ मेघोंके आवरणसे रुके हुए सूर्यके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचमकालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूखा वृक्ष देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चारित्र भ्रष्ट हो जायगा और जीर्ण पत्तोंके देखनेसे मालूम होता है कि महाओषधियोंका रस नष्ट हो जायगा ॥७९॥ ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नोंको तू दूरविपाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ इसलिये इनसे इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पञ्चमकालमें होगा ॥८०॥ हे वत्स, इस प्रकार मुझसे इन स्वप्नोंका यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नोंकी शान्तिके लिये धर्ममें अपनी बुद्धि कर ॥८१॥ वर्णाश्रमकी रक्षा करनेवाले भरतने गुरुदेवके उपर्युक्त वचन सुनकर संदेहरूपी कीचड़के नाश होनेसे अपना चित्त निर्मल किया ॥८२॥ वे भगवान्को बार बार प्रणाम कर तथा बार बार उनसे पूछकर गुरुदेवके अनुग्रहसे प्रसन्न होते हुए बड़ी कठिनाईसे वहांसे लौटे ॥८३॥ तदनन्तर नगरके लोग आनन्दके साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं ऐसे उन महाराज भरतने जिसमें जगह जगह तोरण बांधे गये हैं और जो पताकाओंकी पंक्तियोंसे भरा हुआ है ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश कर खोटे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शान्तिके लिये जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करना, उत्तम पात्रको दान देना आदि पुण्य क्रियाओंसे शान्ति कर्म किया ॥८४–८५॥ उन्होंने गायके दूधसे पृथिवीको सिंचन किया, महर्षियोंकी पूजा की, बड़े बड़े दान दिये और प्रेमीजनोंको संतुष्ट किया ॥८६॥ तदनन्तर उन्होंने बहुमूल्य रत्नोंसे बने हुए, सुवर्णकी रस्सियोंमें बंधे हुए और जिनेन्द्रदेवकी प्रति-

---

१ ध्वनन् । २ विहरण । ३ चन्द्रस्य । ४ दर्शनात् । ५ नोदेष्यति । ६ भुगम् । ७ दूरोदयान् । ८ गोक्षीरैः । ९ बन्धुः ।

लम्बिताश्च पुरद्वारि[1] ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः। राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥८८॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः। तदा मौल्यग्रलग्नाभिः अस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम्। पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥९०॥
रेजुः सूत्रेषु सम्प्रोक्ता घण्टास्ताः परमेष्ठिनाम्। [2]सदर्थघटिताष्टीका ग्रन्थानामिव पेशलाः ॥९१॥
लोकचूडामणेस्तस्य मौलिलग्ना विरेजिरे। पादच्छाया जिनस्येव घण्टास्ता लोकसम्मताः ॥९२॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना। दृष्ट्वार्हद्वन्दनाहेतोः लोकोऽप्यासीत्तदादरः ॥९३॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु [3]वेश्मतोरणदामसु। यथाविभवमाबद्धा घण्टास्ताः सपरिच्छदाः[4] ॥९४॥
आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्ता बहुमेनिरे। प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिका ॥९५॥
वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना। ततो वन्दनमालाख्यां प्राप्य रूढिं गताः क्षितौ ॥९६॥
धर्मशीले महीपाले यान्ति तच्छीलतां[5] प्रजाः। [6]अताच्छील्यमतच्छीले[7] यथा राजा तथा प्रजाः ॥९७॥
तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः। साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हिते रताः ॥९८॥
सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहितं द्वयम्। ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९९॥

माओंसे सजे हुए बहुतसे घंटे बनवाये तथा ऐसे ऐसे चौबीस घंटे बाहरके दरवाजेपर, राजभवन के महाद्वारपर और गोपुर दरवाजोंपर अनुक्रमसे टँगवा दिये ॥८७–८८॥ जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते तब मुकुटके अग्रभागपर लगे हुए घंटाओंसे उन्हें चौबीस तीर्थंकरोंका स्मरण हो आता था। तदनन्तर स्मरणकर उन अरहन्तदेवकी प्रतिमाओंको वे नमस्कार करते थे इस प्रकार पुण्यरूप बुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेवकी पूजा करते थे ॥८९–९०॥ सूत्र अर्थात् रस्सियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले वे परमेष्ठियोंके घंटा ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरी हुई और सूत्र अर्थात् आगम वाक्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली ग्रन्थोंकी सुन्दर टीकाएं ही हों ॥९१॥ महाराज भरत स्वयं तीनों लोकोंके चूडामणि थे उनके मस्तक पर लगे हुए वे लोकप्रिय घंटा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी छाया ही हो ॥९२॥ निधियोंके स्वामी भरतने अर्हन्तदेवकी वन्दनाके लिये जो घंटा रत्नोंके तोरणोंकी रचनामें स्थापित किये थे उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे थे अर्थात् अपने अपने दरवाजेके तोरणोंकी रचनामें घंटा लगवाने लगे थे। उसी समयसे नगरवासी लोगोंने भी अपने अपने घरकी तोरणमालाओंमें अपने अपने वैभवके अनुसार जिनप्रतिमा आदि सामग्रीसे युक्त घंटा बाँधे थे ॥९३–९४॥ उस समय प्रथमराजा भरतकी बनाई हुई इस सृष्टिको प्रजाके लोगोंने बहुत माना था, यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घरपर वन्दन मालाएं दिखाई देती हैं ॥९५॥ चूंकि भरतेश्वरने वे मालाएं अरहन्तदेवकी वन्दनाके लिये बनवाई थीं इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथिवीमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होती है, यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है ॥९७॥ उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सभी लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक ही है क्योंकि सदाचारी भरतके राजा रहते हुए सब लोग अपना हित करनेमें लगे हुए थे ॥९८॥ उस समय अच्छा राजा और अच्छी प्रजा दोनों ही एक साथ मिल गये थे इसलिये राजाके अनुरोधसे प्रजा

---

१ बहिर्द्वारि स०, म०, द०। २ रत्नादिगम्यगर्भं। ३ तोरणमालासु। ४ जिनबिम्बादिपरिच्छदसहिता। ५ धर्मशीलताम्। ६ अधर्मरतम्। ७ अधर्मशीले सति।

एष धर्मप्रियः सम्राड् धर्मस्थानभिनन्दति । मत्वेति निखिलो लोकः तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥१००॥
स धर्मविजयी सम्राट् सद्वृत्तः शुचिरूर्जितः । [1]प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधाद् धर्मक्रियादरम् ॥१०१॥
भरतोऽभिरतो[2] धर्मे वयं तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीयुः[3] मौलिबद्धा महीक्षितः[4] ॥१०२॥
सोऽयं साधित[5]कामार्थश्चक्री चक्रानुभावतः । चरितार्थद्वये तस्मिन् भेजे धर्मैकतानताम्[6] ॥१०३॥
दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्[7] । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयम् आम्नातो[8] गृहमेधिनाम् ॥१०४॥
ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरम् । समेतो नवभिः पुण्यैः गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥१०५॥
सोऽदाद् विशुद्धमाहारं यथायोगं च भेषजम् । प्राणिभ्योऽभयदानं च दानस्यैतावती गतिः ॥१०६॥
जिनेषु भक्तिमातन्वन् तत्पूजायां धृतिं दधौ । पूज्यानां पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥१०७॥
चैत्यचैत्यालयादीनां निर्मापणपुरस्सरम् । स चक्रे परमामिज्यां कल्पवृक्षपृथुप्रथाम् ॥१०८॥
शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षितं यत्नाद् आत्मानमनुरक्षति ॥१०९॥
व्रतानुपालनं शीलं व्रतान्युक्तान्यगारिणाम् । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥११०॥
[9]सभावनानि तान्येष यथायोगं प्रपालयन् । प्रजानां पालकः सोऽभूद् धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥१११॥
पर्वोपवासमास्थाय[10] जिनागारे समाहितः । कुर्वन् सामायिकं सोऽधान्मुनिवृत्तं च तत्क्षणम्[11] ॥११२॥

धर्मप्रिय हो गई थी ॥९९॥ यह सम्राट् स्वयं धर्मप्रिय है और धर्मात्मा लोगोंका सन्मान करता है यही मानकर उस समय लोग धर्ममें प्रीति करने लगे थे ॥१००॥ वह चक्रवर्ती धर्मविजयी था, सदाचारी था, पवित्र था और बलिष्ठ था इसलिये ही वह अपनेपर प्रेम रखनेवाली प्रजामें धार्मिक क्रियाओंका आदर करता था अर्थात् प्रजाको धार्मिक क्रियाएं करनेका उपदेश देता था ॥१०१॥ 'भरत धर्ममें तत्पर है और हम लोग उसके सेवक हैं' यही समझकर मुकुटबद्ध राजा उनके आचरणका अनुसरण करते थे। भावार्थ–अपने राजाको धर्मात्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मात्मा बन गये थे ॥१०२॥ चक्रके प्रभावसे अर्थ और काम दोनों ही जिनके स्वाधीन हो रहे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरत अर्थ और कामकी सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रताको प्राप्त हो रहे थे ॥१०३॥ दान देना, पूजा करना, शील पालन करना और पर्वके दिन उपवास करना यह गृहस्थोंका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥१०४॥ नव प्रकारके पुण्य और सात गुणोंसे सहित भरत उत्तम मुनियोंके लिये बड़े आदरके साथ दान देते थे ॥१०५॥ वे विशुद्ध आहार, योग्यतानुसार औषधि और समस्त प्राणियोंके लिये अभय दान देते थे सो ठीक ही है क्योंकि दानकी यही तीन गति हैं ॥१०६॥ संसारमें पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्रदेवमें अपनी भक्ति बढ़ाते हुए उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतोष धारण करते थे ॥१०७॥ उन्होंने अनेक जिनबिम्ब और जिनमन्दिरोंकी रचना कराकर कल्पवृक्ष नामका बहुत बड़ा यज्ञ (पूजन) किया था ॥१०८॥ उनके मनमें शीलकी रक्षा करनेका प्रयत्न सदा विद्यमान रहता था सो ठीक ही है क्योंकि प्रयत्नपूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी रक्षा करता है ॥१०९॥ व्रतोंका पालन करना शील कहलाता है और स्थूलहिंसाका त्याग करना (अहिंसाणु व्रत) आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणोंके साथ पहले कहे जा चुके हैं ॥११०॥ उन व्रतोंको भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करते हुए प्रजापालक महाराज भरत गृहस्थोंमें मुख्य गिने जाते थे ॥१११॥ वे पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर चित्तको स्थिर कर सामायिक करते

---

१ प्रजापरिवारेषु । २ भरतो निरतो ल०, म० । भरताऽभिरता अ०, स० । ३ अनुवर्तन्ते स्म । ४ नृपाः । ५ स्वाधीन –ल०, म०, स०, अ०, प० । ६ धर्मैकतानवर्तिनाम् । 'एकतान अनन्यवृत्तिः' इत्यभिधानात् । ७ उपवासः । ८ कथितः । ९ मैत्र्यादिप्रमोदादिभावनासहितानि । १० प्रतिज्ञां कृत्वा । –माध्याय ल०, प० । ११ सामायिकध्यानसम्बन्धम् ।

जिनानुस्मरणे तस्य समाधानमुपेयुष । शैथिल्याद् गात्रबन्धस्य [1]स्रस्तान्याभरणान्यहो ॥११३॥
तथापि बहुचिन्तस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा । धर्मे हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्य स्यादनुचिन्तितम् ॥११४॥
तस्याखिला क्रियारम्भा धर्मचिन्तापुरस्सरा । जाता जातमहोदर्कपुण्यपाकोत्यसम्पद ॥११५॥
प्रातरुन्मीलिताक्ष सन् सन्ध्यारागारुणा दिश । स मेनेऽर्हत्पदाम्भोजरागेणेवानुरञ्जिता ॥११६॥
प्रातरुद्यन्तमुद्धूतनैशान्धतमस[2] रविम् । भगवत्केवलार्कस्य प्रतिबिम्बममस्त स ॥११७॥
प्रभातमरुतोद्धतप्रबुद्ध[3]कमलाकरात् । हृदि सोऽधाज्जिनालापकलापानिव शीतलान् ॥११८॥
धार्मिकस्यास्य कामार्थचिन्ताऽभूदानुषङ्गिकी[4] । तात्पर्यं त्वभवद्धर्मे कृत्स्नश्रेयोऽनुबन्धिनि ॥११९॥
प्रातरुत्थाय धर्मस्थं[5] कृतधर्मानुचिन्तन । ततोऽर्थकामसम्पत्ति सहामात्यैर्न्यरूपयत्[6] ॥१२०॥
तल्पादुत्थितमात्रोऽसौ सम्पूज्य गुरुदैवतम् । कृतमङ्गलनेपथ्यो[7] [8]धर्मासनमधिष्ठित ॥१२१॥
प्रजाना सदसद्वृत्तचिन्तने क्षणमासित । तत आयुक्तकान्[9] स्वेषु नियोगेष्वन्वशाद् विभु ॥१२२॥
नृपासनमथाध्यास्य महादर्शन[10]मध्यग । नृपान् सम्भावयामास सेवावसरकाङ्क्षिण ॥१२३॥
काश्चिदालोकनै काश्चित्स्मितैराभाषणै परान् । काश्चित्सम्मानदानाद्यै तर्पयामास पार्थिवान् ॥१२४॥

हुए जिनमन्दिरमें ही रहते थे और उस समय ठीक मुनियोका आचरण धारण करते थे ॥११२॥ जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेमें वे समाधानको प्राप्त हो रहे थे—उनका चित्त स्थिर हो रहा था और आश्चर्य है कि शरीरके बन्धन शिथिल होनेसे उनके आभूषण भी निकल पडे थे ॥११३॥ यद्यपि उन्हें बहुत पदार्थोकी चिन्ता करनी पडती थी तथापि उनके धर्मकी चिन्ता अत्यन्त दृढ थी सो ठीक ही है क्योकि धर्मकी चिन्ता करनेपर चिन्ता करने योग्य समस्त पदार्थोका चिन्तवन अपने आप हो जाता है ॥११४॥ बडे भारी फल देनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे जिन्हे अनेक सपदाए प्राप्त हुई है ऐसे भरतकी समस्त क्रियाओका प्रारम्भ धर्मके चिन्तवनपूर्वक ही होता था अर्थात् महाराज भरत समस्त कार्योके प्रारम्भमें धर्मका चिन्तवन करते थे ॥११५॥ वे प्रात काल आख खोलकर जब समस्त दिशाओको सवेरेकी लालिमासे लाल लाल देखते थे तब ऐसा मानते थे मानो ये दिशाए जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोकी लालिमासे ही लाल लाल हो गई है ॥११६॥ जिसने रात्रिका गाढ अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे सूर्यको प्रात कालके समय उदय होता हुआ देखकर वे ऐसा समझकर उठते थे मानो यह भगवान्के केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब ही हो ॥११७॥ प्रात कालकी वायुके चलनेसे खिले हुए कमलोके समहको वे अपने हृदयमें जिनेन्द्र भगवान्की दिव्यध्वनिके समूहके समान शीतल समझते थे ॥११८॥ वे बहुत ही धर्मात्मा थे, उनके काम और अर्थकी चिन्ता गौण रहती थी तथा उनका मुख्य तात्पर्य सब प्रकारका कल्याण करनेवाले धर्ममें ही रहता था ॥११९॥ वे सवेरे उठकर पहले धर्मात्मा पुरुषोके साथ धर्मका चिन्तवन करते थे और फिर मन्त्रियोके साथ अर्थ तथा कामरूप सपदाओका विचार करते थे ॥१२०॥ वे शय्यासे उठते ही देव और गुरुओकी पूजा करते थे और फिर माङ्गलिक वेष धारणकर धर्मासनपर आरूढ होते थे ॥१२१॥ वहा प्रजाके सदाचार और असदाचारका विचार करते हुए वे क्षणभर ठहरते थे तदनन्तर अधिकारियोको अपने अपने कामपर नियुक्त करते थे अर्थात् अपना अपना कार्य करनेकी आज्ञा देते थे ॥१२२॥ इसके बाद सभाभवनके बीचमें जाकर राजसिंहासनपर विराजमान होते तथा सेवाके लिये अवसर चाहनेवाले राजाओका सन्मान करते थे ॥१२३॥ वे कितने ही राजाओको दर्शनसे, कितनोहीको मुसकानसे,

---

१ गलितानि । २ निशासम्बन्धि । ३ विकसित । ४ अमुख्या । ५ धर्मस्थै सह । ६ विचारमकरोत् । ७ मङ्गलालङ्कार । ८ आसनमण्डलविशेषम् । ९ तलवान् । १० सभामण्डप-अ०, स० । सभागदा-प०, ल०, म० । महद्दर्शन येषा ते महादर्शनास्तेषा मध्यग । सम्यग्ज्ञमध्यवर्ती सभिरयर्थ ।

तत्रोपायनसम्पत्त्या समायातान् महत्तमान्[1]। वचोहरांश्च[2] सम्मान्य कृतकार्यान् व्यसर्जयत् ॥१२५॥
कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान्। [3]पारितोषिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥
ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरात्। स्वेच्छाविहारमकरोद् विनोदैः सुकुमारकैः[4] ॥१२७॥
ततो [5]मध्यंदिनेऽभ्यर्णे कृतमज्जनसंविधिः। तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निरविक्षत्[6] प्रसाधनम्[7] ॥१२८॥
चामरोत्क्षेपताम्बूलदानसं[8]वाहनादिभिः। [9]परिचेरुरुपेत्यैनं परिवाराङ्गनाः स्वतः ॥१२९॥
ततो [10]भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः। समं विदग्ध[11]मण्डल्या विद्यागोष्ठीरभावयत् ॥१३०॥
तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च तम्। परिवव्रुरुपारूढतारुण्यमदकर्कशाः ॥१३१॥
तासामालापसंलापपरिहास[12]कथादिभिः। [13]सुखासिकामसौ भेजे भोगाङ्गैरिव मूर्तकैः ॥१३२॥
ततस्तुर्यांशशेषेऽह्नि पर्यटन्मणिकुट्टिमे। वीक्षते स्म परां शोभाम् अभितो राजवेश्मनः ॥१३३॥
सनर्मसचिव[14] क्वचित् समालम्ब्यांसपीठकम्[15]। परिभ्राम्यन्नितश्चेतो[16] रेजे सुरकुमारवत् ॥१३४॥
रजन्यामपि यत्कृत्यम् उचितं चक्रवर्तिनः। तदाचरन् सुखेनैव त्रियामा[17]मत्यवाहयत् ॥१३५॥
कदाचिदुचिता[18] वेला नियोग इति केवलम्। मन्त्रयामास मन्त्रज्ञैः कृतकार्योऽपि चक्रभृत् ॥१३६॥
तन्त्रावापगता चिन्ता नास्यासीद् विजितक्षितेः। तन्त्र[19]चिन्तैव तन्त्रस्य स्वतन्त्रस्येह भारते ॥१३७॥

किन्नोहीको वार्तालापसे, किन्नोहीको सन्मानसे और किन्नोहीको दान आदिसे सन्तुष्ट करते थे ॥१२४॥ वे वहांपर भेंट ले लेकर आये हुए बड़े बड़े पुरुषों तथा दूतोंको सन्मानित कर और उनका कार्य पूराकर उन्हें विदा करते थे ॥१२५॥ नृत्य आदि दिखानेके लिये आये हुए कलाओंके जाननेवाले पुरुषोंको बड़े बड़े पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करते थे ॥१२६॥ तदनन्तर सभा विसर्जन करते और राजसिंहासनसे उठकर कोमल क्रीडाओंके साथ साथ अपनी इच्छानुसार विहार करते थे ॥१२७॥ तत्पश्चात् दोपहरका समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते और फिर अलंकार धारण करते थे ॥१२८॥ उस समय परिवारकी स्त्रियां स्वयं आकर चमर ढोलना, पान देना और पैर दाबना आदिके द्वारा उनकी सेवा करती थीं। ॥१२९॥ तदनन्तर भोजनके बाद बैठने योग्य भवनमें कुछ राजाओंके साथ बैठकर चतुर लोगोंकी मण्डलीके साथ साथ विद्याकी चर्चा करते थे ॥१३०॥ वहां जवानीके मदसे जिन्हें उद्दण्डता प्राप्त हो रही है ऐसी वेश्याएं और प्रियरानियां आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेती थीं ॥१३१॥ उनके आभाषण, परस्परकी बातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगोंके साधनोंसे वे वहां कुछ देरतक सुखसे बैठते थे ॥१३२॥ इसके बाद जब दिनका चौथाई भाग शेष रह जाता था तब मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर टहलते हुए वे चारों ओर राजमहलकी उत्तम शोभा देखते थे ॥१३३॥ कभी वे क्रीडासचिव अर्थात् क्रीडामें सहायता देनेवाले लोगोंके कंधोंपर हाथ रखकर इधर उधर घूमते हुए देवकुमारोंके समान सुशोभित होते थे ॥१३४॥ रातमें भी चक्रवर्तीके योग्य जो कार्य थे उन्हें करते हुए वे सुखसे रात्रि व्यतीत करते थे ॥१३५॥ यद्यपि वे चक्रवर्ती कृतकृत्य हो चुके थे अर्थात् विजय आदिका समस्त कार्य पूर्ण कर चुके थे तथापि केवल नियोग समझकर कभी कभी उचित समयपर मन्त्रियोंके साथ सलाह करते थे ॥१३६॥ जिन्होंने

---

१ महत्तरान्। २ दूतान्। ३ परितोषे भव। ४ मृदुभिः। ५ मध्याह्ने। ६ अभ्यवहृत्य। ७ अनुलेपनम्। वस्त्रमाल्याभरणादि। 'आकल्पवेषो नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्'। ८ पादमर्दन। ९ परिचर्याञ्चक्रिरे। १० भोजनान्ते स्थातुं योग्यास्थाने। ११ विदग्धसमूहेन। १२ मिथोभाषण। 'संलापो भाषणं मिथः' इत्यभिधानात्। १३ सुखास्पदम्। १४ क्रीडासहाय। 'क्रीडा खेला च नर्म च' इत्यभिधानात्। १५ अंसो भुजशिरः तस्य पीठमाश्रित्य। १६ भ्राम्यन्। १७ रात्रिं नयति स्म। १८ उचितावसरसंजाता। १९ स्वराष्ट्रचिन्तनम्, अथवा तन्त्रचिन्तनम्। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे' इत्यभिधानात्।

तेन[१] षाड्गुण्यमभ्यस्तम् अपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याविपक्षा क्ष्मा कृत[२] सन्ध्यादिचर्चया[३] ॥१३८॥
[४]राजविद्याश्चतस्रोऽमू कदाचिच्च कृतक्षण[५] । व्याचख्यौ[६] राजपुत्रेभ्य ख्यातये स विचक्षण ॥१३९॥
कदाचिन्निधिरत्नानाम् अकरोत्स निरीक्षणम् । भाण्डागारपदे तानि तस्य तन्त्र[७]पदेऽपि च ॥१४०॥
कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु या स्युर्विप्रतिपत्तय[८] । निराचकार[९] ता कृत्स्ना व्यापयन्[१०] विश्ववित्मतम्[११]॥१४१॥
आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु काश्चित् सञ्जातसंशयान् । ततोऽपाकृत्य संशीतेस्तत्तत्त्व[१२] निरणीनयत्[१३] ॥१४२॥
तथाऽसावर्थशास्त्रार्थे[१४] कामनीतौ च पुष्कलम् । प्रावीण्य प्रथयामास यथात्र न पर कृती[१५] ॥१४३॥
[१६]हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितु । मूलतन्त्रस्य[१७] कर्ताऽयमित्यास्था[१८] तद्विदामभूत् ॥
[१९]आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निरारेक[२०] श्लाघते स्म निधीशिनम् ॥१४५॥
सोऽधीती[२१] पदविद्याया स कृती[२२] वागलङ्कृतौ[२३] । स छन्दसा प्रतिच्छन्द[२४] इत्यासीत् सम्मत सताम्॥१४६॥
[२५]तदुपज्ञ निमित्तानि शाकुन[२६] तदुपक्रमम्[२७] । तत्सर्गो[२८] ज्योतिषा[२९] ज्ञान तन्मत तेन[३०] तत्त्रयम्[३१] ॥१४७॥

समस्त पृथिवी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमे स्वतन्त्र है ऐसे उन भरतको अपने तथा परराष्ट्रकी कुछ भी चिन्ता नही थी, यदि चिन्ता थी तो केवल तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्र की ही चिन्ता थी ॥१३७॥ उन्होने अपना अज्ञान नष्ट करनेके लिये ही छह गुणोका अभ्यास किया था क्योकि जब वे शत्रुरहित पृथिवीका पालन करते थे तब उन्हे सन्धि विग्रह आदिकी चर्चासे क्या प्रयोजन था ॥१३८॥ अतिशय विद्वान् महाराज भरत केवल प्रसिद्धिके लिये ही कभी कभी बडे उत्साहके साथ राजपुत्रोके लिये आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार राजविद्याओका व्याख्यान करते थे ॥१३९॥ वे कभी कभी निधियो और रत्नोका भी निरीक्षण करते थे। क्योकि निधियो और रत्नोमेसे कुछ तो उनके भाण्डारमे थे और कुछ उनकी सेनामें थे ॥१४०॥ कभी कभी वे सर्वज्ञदेवका मत प्रकट करते हुए धर्मशास्त्रमें जो कुछ विवाद थे उन सबका निराकरण करते थे ॥१४१॥ भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोमें जिन किन्हीको सदेह उत्पन्न होता था उन्हे वे उस सदेहसे हटाकर तत्त्वोका यथार्थ निर्णय कराते थे ॥१४२॥ इसी प्रकार वे अर्थशास्त्रके अर्थमें और कामशास्त्रमें अपना पूर्ण चातुर्य इस तरह प्रकट करते थे कि फिर इस ससारमें उनके समान दूसरा चतुर नही रह जाता था ॥१४३॥ हस्तितन्त्र और अश्वतन्त्रमें महाराज भरतकी स्वतन्त्रता देखकर उन शास्त्रोके जाननेवाले लोगोको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूल शास्त्रोके कर्ता यही है ॥१४४॥ आयुर्वेद के विषयमें तो सब लोग निधियोके स्वामी भरतकी बिना किसी शकाके यही प्रशंसा करते थे कि यह दीर्घायु क्या मूर्तिमान् आयुर्वेद ही है अर्थात् आयुर्वेदने ही क्या भरतका शरीर धारण किया है ॥१४५॥ इसी प्रकार सज्जन लोग यह भी मानते थे कि वे व्याकरण-विद्यामें कुशल हैं, शब्दालकारमें निपुण हैं, और छन्दशास्त्रके प्रतिबिम्ब हैं ॥१४६॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहले उन्हीके बनाये हुए हैं, शकुनशास्त्र उन्हीके कहे हुए हैं और ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान उन्ही-

---

१ चक्रिणा। २ पर्याप्तम्। अलमित्यर्थः। ३ सन्धिविग्रहभावादिविचारेण। ४ आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिरूपाश्चतस्रो राजविद्या। ५ कृतोत्साह। ६ वदति स्म। ७ सैन्यस्थाने परिग्रहे बभूवुरित्यर्थः। ८ विसंवादा। ९ निराकृतवान्। १० प्रकटीकुर्वन्। ११ सर्वज्ञमतम्। १२ संशयात्। १३ निर्णयम् कारयत्। १४ नीतिशास्त्रार्थे। १५ कुशल। १६ गजशास्त्रे। १७ मूलशास्त्रस्य। १८ इति बुद्धि। १९ वैद्यशास्त्रे। २० निःशङ्कम्। २१ व्याकरणशास्त्रमधीतवान्। २२ कुशल। २३ शब्दालङ्कारे। २४ प्रतिनिधि। २५ तदुपज्ञनिमित्तानि ल०, म०। तेन प्रथमोक्तम्। २६ शकुनशास्त्रम्। २७ तेन प्रथम मुपक्रान्तम्। २८ तस्य भरतस्य सृष्टि। २९ ज्योतिषशास्त्रम्। ३० तेन मान्यम्। ३१ निमित्तादित्रयम्।

निमित्तं[1] निमित्तानां[2] तन्त्रे मन्त्रे सशाकुने । दैवज्ञाने[3] परं दैवमित्यभून्सम्मतोऽधिकम्[4] ॥१४८॥
तत्सम्भूतौ समुद्भूतम् अभूत् पुंस्यलक्षणम् । उदाहरणमन्यत्र लक्षितं येन तत्तनोः ॥१४९॥
अन्येष्वपि कलाशास्त्रसङ्ग्रहेषु कृतागमाः[5] । तमेवादर्शमालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः[7] ॥१५०॥
[8]ऐनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुषङ्गिणी[9] । तेनैषा विश्वविद्यासु जाता परिणतिः परा ॥१५१॥
इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स सम्मतिं प्राप्य तद्विद्यानां मनोऽभवत् ॥१५२॥
किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमितो मनुः । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारताम् ॥१५३॥
राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो[10] धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्ध्नि सुमेधसाम् ॥१५४॥
इत्यादिराजं[11] तत्सम्राड् अहो राजर्षिनायकम्[12] । तत्सार्वं[13]भौममित्यस्य दिशासूच्छलितं यशः ॥१५५॥

मालिनी

इति सकलकलानामेक[14]मोकः[15] स चक्री
कृतमतिभिरजर्यं[16] सङ्गतं संविधित्सन् ।
बुधसदसि [17]सदस्यान् बोधयन् विश्वविद्या
व्यवृणुत[18] बुधचक्रीत्युद्धतत्कीर्तिकेतुः[19] ॥१५६॥

की सृष्टि है इसलिये उक्त तीनों शास्त्र उन्हींके मत हैं ऐसा समझना चाहिये ॥१४७॥ वे निमित्त शास्त्रोंके निमित्त हैं, और तन्त्र, मन्त्र, शकुन तथा ज्योतिष शास्त्रमें उत्तम अधिष्ठाता देव हैं इस प्रकार सब लोगोंमें अधिक मान्यताको प्राप्त हुए थे ॥१४८॥ महाराज भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषके सब लक्षण उत्पन्न हुए थे इसलिये दूसरी जगह उनके शरीरके उदाहरण ही देते जाते थे ॥१४९॥ शास्त्रोंके जाननेवाले पुरुष ऊपर कहे हुए शास्त्रोंके सिवाय अन्य कलाशास्त्रोंके संग्रहमें भी भरतको ही दर्पणके समान देखकर संशयके अंशोंसे विरत होते थे अर्थात् अपने अपने संशय दूर करते थे ॥१५०॥ चूंकि उनकी स्वाभाविक बुद्धि पूर्वजन्मसे संसर्ग रखनेवाली थी इसलिये ही उनकी समस्त विद्याओंमें उत्तम प्रगति हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार समस्त शास्त्र और समस्त कलाओंमें प्रतिष्ठा पाकर वे भरत उन विद्याओंके जाननेवालोंमें मान्य हुए थे ॥१५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि बुद्धिके पारगामी कुलकर भरत समस्त लोकाचारके सूत्रधार हो रहे थे ॥१५३॥ वे राजशास्त्रके तत्त्वोंको जानते थे, धर्मशास्त्रके तत्त्वोंके जानकार थे, और कलाओंके ज्ञानमें प्रसिद्ध थे । इस प्रकार उत्तम विद्वानोंके मस्तकपर सुशोभित हो रहे थे अर्थात् सबमें श्रेष्ठ थे ॥१५४॥ अहो, इनका प्रथम राज्य कैसा आश्चर्य करनेवाला है, यह सम्राट् है, राजर्षियोंमें मुख्य हैं, इनका सार्वभौम पद भी आश्चर्यजनक है इस प्रकार उनका यश समस्त दिशाओंमें उछल रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार जो समस्त कलाओंका एकमात्र स्थान है, जो बुद्धिमान् पुरुषोंके साथ अविनाशी मित्रता करना चाहता है और 'यह विद्वानोंमें चक्रवर्ती है अथवा विद्वान् चक्रवर्ती है' इस प्रकार जिसकी कीर्तिरूपी पताका फहरा रही है ऐसा वह चक्रवर्ती भरत विद्वानोंकी सभामें समस्त विद्याओंका उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान

१ कारणम् । २ निमित्तशास्त्राणाम् । ३ ज्योतिःशास्त्रे । ४ म मतोऽधिकम् द० । स मतोऽधिकम् स०, म० । ५ सम्पूर्णशास्त्रम् । ६ पुरुषम् । ७ विरमन्ति स्म । ८ कारणेन । ९ अनुगम्यमिनी । १० नृपविद्यास्वरूपज्ञ । ११ आदिराजस्य प्रथा । १२ राजर्षिनायकस्य प्रथा । १३ सर्वभूमीशस्य प्रताप । १४ मुख्य । १५ गृहः । १६ अविनाशी । १७ सदसि योग्यान् । १८ विवरणमकरोत् । १९ विद्वज्जन ।

जिनविहितमनून सस्मरन् धर्ममार्गं
स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन् मार्गमन्यान् ।
कृतमतिरखिलां क्ष्मां पालयन्निःसपत्नां
चिरमरमत भोगैर्भूरिसारैः स सम्राट् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत्
दूरोत्सारितदुर्णयः प्रशमिनीं तेजस्वितामुद्वहन् ।
न्यायोपार्जितवित्तकामघटनः शस्त्रे च शास्त्रे कृती
राजर्षिः परमोदयो जिनवृषामग्रेसरः सोऽभवत् ॥१५८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-
पुराणसङ्ग्रहे भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णनं
नाम एकचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व

[1]मध्येसभमथान्येद्युः निविष्टो[2] हरिविष्टरे । क्षात्रं[3] वृत्तमुपादिक्षत्सहितान्[4] पार्थिवान् प्रति ॥१॥
श्रूयतां भो महात्मानः सर्वे[5] क्षत्रियपुङ्गवाः । क्षतत्राणे नियुक्ता स्थ[6] यूयमाद्येन वेधसा ॥२॥
तत्त्राणे च नियुक्तानां वृत्तं वः पञ्चधोदितम् । तन्निशम्य[7] यथाम्नायं प्रवर्तध्वं प्रजाहिते ॥३॥
तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनम् । समञ्जसत्वं चेत्येवम् उद्दिष्टं पञ्चभेदभाक् ॥४॥
कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम् । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम् ॥५॥
क्षत्रियाणां कुलाम्नायः कीदृशश्चेन्निशम्यताम्[8] । आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः[9] ॥६॥
स चैष भारतं[10] वर्षमवतीर्णो दिवोऽग्रतः । पुरा[11] भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितम् ॥७॥
द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्त्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदर्का द्युलोकाग्रमधिष्ठितः[12] ॥८॥
तेनास्मिन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः [13]कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥९॥
तत्र च कर्मभूमित्वाद् अद्यत्वे द्वितयी प्रजा । कर्तव्या [14]रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥१०॥
रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसन्तत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥११॥

अथानन्तर–किसी एक दिन सभाके बीचमें सिंहासनपर बैठे हुए भरत इकट्ठे हुए राजाओंके प्रति क्षात्रधर्मका उपदेश देने लगे ॥१॥ वे कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ महात्माओ, आप लोगोंको आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है ॥२॥ दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुए आप लोगोंका धर्म पाँच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग आम्नायके अनुसार प्रजाका हित करनेमें प्रवृत्त होओ ॥३॥ वह तुम्हारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समंजसपना इस प्रकार पाँच भेदवाला कहा गया है ॥४॥ उनमेंसे अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुलपालन कहलाता है ॥५॥ अब क्षत्रियोंका कुलाम्नाय कैसा है ? सो सुनिये। आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टिकी रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रियवर्णकी रचना की है ॥६॥ जिन्होंने पहले भवमें अतिशय श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधना कर तथा तीर्थंकर पद प्राप्त करानेवाली और शुभ फल देनेवाली सोलह भावनाओंका चिन्तवनकर स्वर्गलोकके सबसे ऊपर अर्थात् सर्वार्थसिद्धिमें निवास किया था वे ही भगवान् सर्वार्थसिद्धिसे आकर इस भारतवर्षमें अवतीर्ण हुए हैं ॥७–८॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोंकी सृष्टि प्रवृत्त की है ॥९॥ वह क्षत्रियोंकी सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? इसका समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजा दो प्रकारकी पाई जाती है। उनमें एक प्रजा तो वह है जिसकी रक्षा करनी चाहिये और दूसरी वह है जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजा रक्षा करनेमें तत्पर है उसीकी वंशपरम्पराको क्षत्रिय कहते हैं यद्यपि यह वंश अनादिकालकी सन्ततिसे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि

---

१ सभामध्ये। २ निविष्टा स०, म०। ३ क्षत्रियसम्बन्धि। ४ मिलितान्। ५ सर्व–प०, ल०, म०। ६ भव प०। ७ श्रुत्वा। ८ श्रूयताम्। ९ क्षत्रादि। १० क्षत्रम्। ११ पूर्वस्मिन्। १२ आश्रितः। १३ कृतावतारेण द०, म०, अ०। १४ रक्षितुं योग्या।

विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया[1] । तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्याय्यवृत्तिता ॥१२॥
स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम् । रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥१३॥
सैषा चतुष्टयी वृत्तिर्न्यायः सद्भिरुदीरितः[2] । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥१४॥
दिव्यमूर्त्तेरुदुत्पन्नं जिनादुत्पादयज्जिनान् । रत्नत्रयं तु 'तद्योनिर्[3] पारत[4]स्त्वायोनिजाः ॥१५॥
ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः । धर्मस्थिताः स्वयं धर्म्ये स्थापयन्तः परानपि ॥१६॥
तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षणम् । तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनूद्यते[5] ॥१७॥
स्वयं महान्वयत्वेन महिम्नि क्षत्रिया स्थिताः । धर्मास्थया न शेषादि[6] ग्राह्यं तैः परलिङ्गिनाम् ॥१८॥
तच्छेषादिग्रहे दोषः [7]स्याच्चेन्माहात्म्यविच्युतिः । सापाया बहुविघ्नाश्चास्मिन् अतस्तत्परिवर्जनम् ॥१९॥
माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत् कृत्वाऽन्यस्य[8] शिरोनतिम् । ततः[9] शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥२०॥
प्रद्विषन् परपाषण्डी विषपुष्पाणि निक्षिपेत् । यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥२१॥
वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने[10] । ततोऽयं मूढवद्वृत्तिः उपेयादन्यवश्यताम् ॥२२॥
तच्छेषाशीर्वचः[11]शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिनाम्[12] । पार्थिवैः परिहर्तव्यं भवेन्न्यक्[13]कुलताऽन्यथा[14] ॥२३॥

विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे उसकी सृष्टि होती है । तथा प्रजाके लिये न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥११–१२॥ धर्मका उल्लंघन न कर धनका कमाना, रक्षा करना, बढाना और योग्य पात्रमे दान देना ही उन क्षत्रियोका न्याय कहलाता है ॥१३॥ इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिको सज्जन पुरुषोने क्षत्रियोका न्याय कहा है तथा जैनधर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना ससारमें सबसे उत्तम न्याय माना गया है ॥१४॥ दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थंकरोको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही क्षत्रियोकी योनि है अर्थात् क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे ही होती है। यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् बिना योनिके उत्पन्न हुए कहलाते है ॥१५॥ इसलिये बडे बडे वशोमे उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये है । ये लोग स्वय धर्ममार्गमें स्थित रहते है तथा अन्य लोगोको भी स्थित रखते है ॥१६॥ उन क्षत्रियोको सर्वप्रकारके प्रयत्नोसे अपने वशकी रक्षा करनी चाहिये । वह वशकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये यदि तुम लोग यह जानना चाहते हो तो मै आगे कहता हू ॥१७॥ बडे बडे वशोमें उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय लोग स्वय बडप्पनमें स्थिर है इसलिये उन्हें अन्यमतियोके धर्ममे श्रद्धा रखकर उनके शेपाक्षत आदि ग्रहण नही करना चाहिये ॥१८॥ उनके शेपाक्षत आदिके ग्रहण करनेमें क्या दोप है ? कदाचित् कोई यह कहे तो उसका उत्तर यह है कि उससे अपने महत्त्वका नाश होता है और अनेक विघ्न या अनिष्ट आते है इसलिये उनका परित्याग ही कर देना चाहिये ॥१९॥ अन्य मतावलम्बियोको शिरोनति करनेसे अपने महत्त्वका नाश हो जाता है इसलिये उनके शेपाक्षत आदि लेनेसे अपनी निकृष्टता हो सकती है ॥२०॥ सभव है द्वेष करनेवाला कोई पाखण्डी राजाके शिरपर विषपुष्प रख दे तो इस प्रकार भी उसका नाश हो सकता है ॥२१॥ यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करनेके लिये इसके शिरपर वशीकरण पुष्प रख दे तो फिर यह राजा पागलके समान आचरण करता हुआ दूसरोकी वश्यताको प्राप्त हो जावेगा ॥२२॥ इसलिये राजाओको अन्यमतियोके शेपाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन

---

१ भरतक्षेत्रावर्मानिगुर्णामिणीवान । २–रुदाहृत व०, ल०, म० । ३ क्षत्रियाणामुत्पत्तिस्थानम् । ४ तस्मात् कारणात् । ५ अनुवक्ष्यते ।–दनूच्यते प०, स०, म० । ६ शेपाक्षतस्नानोदकादिकम् । ८ अन्य निर्विघ्न । ९ शेषादिदातुः सकाशात् । १० मोहने निमित्ते । ११ तत् कारणात् । १२ शान्तिमन्त्र-पुण्याहवाचनादि । १३ नीचकुलता । १४ तच्छेषादिस्वीकारप्रकारेण ।

[1]जैनास्तु पार्थिवास्तेषाम् अर्हत्पादोपसेविनाम्। तच्छेषानुमतिर्न्याय्या यतः पापक्षयो भवेत् ॥२४॥
रत्नत्रितयमूर्तित्वाद् आदिक्षत्रियवंशजाः। जिनाः सनाभयोऽमीषाम्[2] अतस्तच्छेषधारणम् ॥२५॥
यथा हि कुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोधृतम्। मान्यमेवं जिनेन्द्राङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादिपूजितम्[3] ॥२६॥
कथं मुनिजनादेषां[4] शेषोपादानमित्यपि। नाशङ्क्यं तत्सजातीयास्ते[5] राजपरमर्षयः ॥२७॥
अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः। यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि[6] तद्गुणाः[7] ॥२८॥
ततः स्थितमिदं[8] जैनान्मतादन्यमतस्थिताः। क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥२९॥
कुलानुपालने यत्नम् अतः कुर्वन्तु पार्थिवाः। अन्यथान्यैः प्रतार्येरन्[9] पुराणाभासदेशनात् ॥३०॥
कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्यनुपालनम्। मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥३१॥
तत्पालनं कथं स्याच्चेद् अविद्यापरिवर्जनात्। मिथ्याज्ञानमविद्या स्याद् अतत्त्वे तत्त्वभावना ॥३२॥
आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वम् आप्तो दोषावृते[10]क्षयात्। तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मतिमलमपोहितुम् ॥३३॥

आदिका परित्याग कर देना चाहिये अन्यथा उनके कुलमें हीनता हो सकती है ॥२३॥ राजा लोग जैन हैं इसलिये अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनेवाले उन राजाओंको अरहन्तदेवके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेकी अनुमति देना न्याययुक्त ही है क्योंकि इससे उनके पापका क्षय होता है ॥२४॥ रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय श्री वृषभदेवके वंशमें उत्पन्न हुए जिनेन्द्रदेव इन राजाओंके एक ही गोत्रके भाई-बन्धु हैं इसलिये भी इन्हें उनके शेषाक्षत आदि धारण करना चाहिये। भावार्थ–रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं उसी प्रकार ये राजा लोग भी रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं। एक वंशमें उत्पन्न होनेसे ये सब परम्परासे एक गोत्रवाले भाई-बन्धु ठहरते हैं इसलिये राजाओंको अपने एकगोत्री जिनेन्द्रदेवके शेषाक्षत आदिका ग्रहण करना उचित ही है ॥२५॥ जिस प्रकार कुलपुत्रोंको गुरुदेवके शिरपर धारण की हुई माला मान्य होती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवके चरणोंके स्पर्शसे सुशोभित हुई माला आदि भी राजाओंको मान्य होनी चाहिये ॥२६॥ कदाचित् कोई यह कहे कि राजाओंको मुनियोंसे शेषाक्षत आदि किस प्रकार ग्रहण करना चाहिये तो उनकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि राजर्षि और परमर्षि दोनों ही सजातीय हैं ॥२७॥ जो क्षत्रिय नहीं हैं वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र धारण कर लेते हैं तो क्षत्रिय ही हो जाते हैं इसलिये रत्नत्रयके आधीन जन्म होनेसे मुनिराज भी राजाओंके समान क्षत्रिय माने जाते हैं ॥२८॥ उपर्युक्त उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी कि जैन मतसे भिन्न मतवाले लोग क्षत्रियोंको शेषाक्षत आदि देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥२९॥ इसलिये राजा लोगोंको अपने कुलकी रक्षा करनेमें सदा यत्न करते रहना चाहिये अन्यथा अन्य मतावलम्बी लोग झूठे पुराणोंका उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥३०॥ इस प्रकार क्षत्रियोंका कुलानुपालन (कुलके आम्नायकी रक्षा करना) नामका पहला धर्म कह चुके अब दूसरा मत्यनुपालन (बुद्धिकी रक्षा करना) नामका धर्म कहते हैं। इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोंके हित-अहितका ज्ञान होना बुद्धि कहलाती है ॥३१॥ उस बुद्धिका पालन किस प्रकार हो सकता है? यदि यह जानना चाहो तो उसका उत्तर यह है कि अविद्याका नाश करनेसे ही उसका पालन होता है। मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोंमें तत्त्वबुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥३२॥ जो अरहन्तदेवका कहा हुआ हो वही तत्त्व

---

१ तत ल०, म०। २ क्षत्रियाणाम्। ३ सूत्रम्। ४ क्षत्रियाणाम्। ५ [illegible]। ६ मुनय। ७ जिनगुणाः। ८ प्रतिष्ठितम्। ९ वञ्च्येरन्। १० आगमम्।

राजविद्यापरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानान्मतिर्लोकद्वयाश्रिता ॥३४॥
क्षत्रियास्तीर्थमुत्पाद्य येऽभूवन् परमर्षय. । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥३५॥
आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगतास्तेऽपि[1] महादेवप्रथां गताः ॥३६॥
तद्देव्यश्च महादेव्यो महाभिजन[2]योगतः । महद्भिः परिणीतत्वात्[3] प्रसूतेश्च महात्मनाम् ॥३७॥
इत्येवमास्थिते[4] पक्षे जैनैरन्यमताश्रयी । यदि कश्चित् प्रतिब्रूयान्मिथ्यात्वोपहताशयः ॥३८॥
वयमेव महादेवा जगन्निस्तारका वयम् । नास्मदाप्तात्[5] परोऽस्त्याप्तो मतं नास्मन्मतात्परम् ॥३९॥
इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सारं[6] संसारवारिधेः । यः समुत्तरणोपायः स मार्गो जिनदेशितः ॥४०॥
आप्तोऽर्हन्वीतदोषत्वाद् आप्तम्मन्यास्ततोऽपरे । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभावनात्[7] ॥४१॥
वागाद्यतिशयोपेतः सार्वः सर्वार्थदृग्जिनः । स्यादाप्तः परमेष्ठी च परमात्मा सनातनः ॥४२॥
स वागतिशयो ज्ञेयो येनायं विभुरेकमात् । वचसैकेन दिव्येन प्रीणयत्यखिलां सभाम् ॥४३॥
तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसंक्षयात् । अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखातिशयसन्निधिः ॥४४॥
प्रातिहार्यमयी भूतिः उद्भूतिश्च सभावनेः । गणाश्च द्वादशैवेव स्याद्भाग्यातिशयोऽर्हतः ॥४५॥

हो सकता है और अरहत भी वही हो सकता है जो ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय कर चुका हो । इसलिये अपने मनका मल दूर करनेके लिये अरहन्तदेवके मतका अभ्यास करना चाहिये ॥३३॥ राजविद्याका परिज्ञान होनेसे इस लोक सम्बन्धी पदार्थो मे बुद्धि दृढ हो जाती है और धर्मशास्त्रका परिज्ञान होनेसे इस लोक तथा परलोक दोनो लोक सम्बन्धी पदार्थोमें दृढ हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय तीर्थ उत्पन्न कर परमर्षि हो गये है वे अपने माहात्म्यके योगसे महादेव कहलाते है ॥३५॥ बडे बडे वंशोंमे उत्पन्न हुए जो राजा लोग आदिक्षत्रिय–भगवान् वृषभदेवके चारित्रमे स्थिर रहते है वे भी माहात्म्यके योगसे महादेव इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए है ॥३६॥ ऐसे पुरुषोंकी स्त्रिया भी बडे पुरुषोके साथ सम्बन्ध होनेसे बडे पुरुषोके द्वारा विवाहित होनेसे और महापुरुषोको उत्पन्न करनेसे महादेवियां कहलाती है ॥३७॥ इस प्रकार जैनियोके द्वारा अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर मिथ्यादर्शनसे जिसका हृदय नष्ट हो रहा है ऐसा कोई अन्यमतावलम्बी पुरुष यदि कहे कि हम ही महादेव है, ससारसे तारनेवाले भी हम ही है, हमारे देवके सिवाय अन्य कोई देव नहीं है और हमारे धर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नही है ॥३८–३९॥ परन्तु इस विषयमे हम यही कहते है कि उसका यह कहना सारपूर्ण नही है क्योकि ससारसमुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ मार्ग ही है ॥४०॥ रागद्वेष आदि दोषोसे रहित होनेके कारण एक अर्हन्तदेव ही आप्त है उनके सिवाय जो अन्य देव है वे सब आप्तमन्य है अर्थात् झूठमूठ ही अपनेको आप्त मानते है क्योंकि उनमे वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशय का कुछ भी निश्चय नही है ॥४१॥ जिनेन्द्र भगवान् वाणी आदिके अतिशय से सहित है, सबका हित करनेवाले है, समस्त पदार्थोको साक्षात् देखनेवाले है, परमेष्ठी है, परमात्मा है और सनातन है इसलिये वे ही आप्त हो सकते है ॥४२॥ भगवान् अरहन्तदेव अपनी जिस एक दिव्य वाणीके द्वारा समस्त सभाको सतुष्ट करते है वही उनकी वाणीका अतिशय जानना चाहिये ॥४३॥ इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके अत्यन्त क्षय हो जानेसे जो उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलकी समीपता प्रकट होती है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥४४॥ तथा आठ प्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होना, समवसरणभूमिकी रचना होना

१ प्रवचनम् । २ –नुगमास्तेऽपि प०, अ०, स०, इ०, स०, म० । ३ महाकुल । ४ विवाहितत्वात् । ५ प्रतिज्ञाते । ६ अस्मादाप्तात् । ७ न्याय्यम् । ८ अनिश्चयात् । ९ परमपदस्थ ।

वागाद्यतिशयैरेभिरन्यत्रानन्यगोचरैः । भगवानिष्ठितार्थोऽर्हन् परमेष्ठी जगद्गुरुः ॥४६॥
न च तादृग्विधः कश्चित् पुमानस्ति मतान्तरे । ततोऽन्ययोगव्यावृत्त्या सिद्धमाप्तत्वमर्हति[1] ॥४७॥
इत्याप्तानुमतं क्षात्रम् इमं धर्ममनुस्मरन् । मतान्तरादनाप्तीयात्[2] स्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥४८॥
वृत्तादनात्मनीनाद्धि[3] स्यादेवमनुरक्षिता । तद्रक्षणाच्च संरक्षेत् क्षत्रियः क्षितिमक्षताम् ॥४९॥
उक्तस्यैवार्थतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्चिकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमात् ॥५०॥
व्यक्तये पुरुषार्थस्य स्यात् पुरुषनिदर्शनम् । तथा निगलदृष्टान्तः ससंसारिनिदर्शनः ॥५१॥
ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो नाम मुक्तेतरात्मनोः । यन्निदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्त्योः समर्थनम् ॥५२॥
संसारीन्द्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखचारुताः । तन्वाकामौ[4] च निर्वेष्टुं[5] यतते सुखलिप्सया ॥५३॥
मुक्तस्तु न तथा किन्तु गुणैरुक्तैरतीन्द्रियैः । परं सौख्यं स्वसाद्भूतम् अनुभुङ्क्ते निरन्तरम् ॥५४॥
तत्रैन्द्रियकविज्ञानः[7] स्वयमज्ञानतया स्वयम् । परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानवित्तकम्[8] ॥५५॥
तथैन्द्रियकदृक्शक्तिः[9] आसन्नार्थावभासदृक्[10] । अर्थानां विप्रकृष्टानां[11] भवेत् सन्दर्शनोत्सुकः ॥५६॥
तथैन्द्रियकवीर्यश्च सहायापेक्षयेप्सितम् । कार्यं घटयितुं वाञ्छेत् स्वयं तत्साधनाक्षमः ॥५७॥
तथैन्द्रियसुखी कामभोगैरत्यन्तमुत्सुकः[12] । वाञ्छेत् सुखं पराधीनम् इन्द्रियार्थानुतर्पणम्[13] ॥५८॥

और बाहरी सभाएँ होना यह सब अरहन्तदेवके साम्यका अतिशय है ॥४५॥ जो किन्हीं दूसरों में न पाये जानेवाले इन वाणी आदिके अतिशयोंसे सहित हैं तथा कृतकृत्य हैं ऐसे भगवान् अरहन्त परमेष्ठी ही जगत्के गुरु हैं ॥४६॥ अन्य किसी भी मतमें ऐसा-अरहन्तदेवके समान कोई पुरुष नहीं है इसलिये अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अरहन्तदेवमें ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥४७॥ इस प्रकार आप्तके द्वारा कहे हुए इस क्षात्रधर्मका स्मरण करते हुए क्षत्रियोंको अनाप्त पुरुषों-के द्वारा कहे हुए अन्य मतोंसे अपने वंशको पृथक् करना चाहिये ॥४८॥ इस प्रकार जिनमें आत्माका हित नहीं है ऐसे आचरणसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है और बुद्धिकी रक्षा-से ही क्षत्रिय अखण्ड पृथिवीकी रक्षा कर सकता है ॥४९॥ ऊपर जो पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर भी प्रकट करनेकी इच्छासे यहाँपर क्रमानुसार तीन उदाहरण कहते हैं ॥५०॥ अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिये पहला पुरुषका दृष्टान्त है, दूसरा निगल अर्थात् बेड़ीका दृष्टान्त है और तीसरा संसारी जीवोंका दृष्टान्त है ॥५१॥ जिस उदाहरणसे मुक्त और कर्मबन्ध सहित जीवोंके मोक्ष और बन्ध दोनों अवस्थाओंका समर्थन किया जावे उसे पुरुषका दृष्टान्त अथवा उदाहरण जानना चाहिये ॥५२॥ यह संसारी जीव सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख और सुन्दरतासे शरीररूपी घरमें ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥५३॥ परन्तु मुक्त जीव ऐसा नहीं करता वह तो ऊपर कहे हुए अतीन्द्रिय गुणोंसे अपने स्वाधीन हुए परम सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है ॥५४॥ इनमेंसे ऐन्द्रियिक ज्ञानवाला संसारी जीव स्वयं अल्प ज्ञानी होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका चिन्तवन करनेवाले अन्य पुरुषोंका आश्रय लेता है ॥५५॥ इसी प्रकार जिसके इन्द्रियोंसे देखने की शक्ति है ऐसा पुरुष अपने समीपवर्ती कुछ पदार्थोंको ही देख सकता है इसलिये वह दूरवर्ती पदार्थोंको देखनेके लिये सदा उत्कण्ठित होता रहता है ॥५६॥ जिसके इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ वीर्य है वह किसी इष्ट कार्यको स्वयं करनेमें असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा से करना चाहता है ॥५७॥ तथा जिसके इन्द्रियजनित सुख है ऐसा पुरुष काम भोगादिकोंसे

१ अर्थेषु यागादिनियमो ऽभावात् । २ जिने । ३ आत्मानात्मकस्मात् । ४ कर्मनिर्वाहणार्थं ।
५ तद्द्वयौ । ६ अनुभवितुम् । ७ इन्द्रियानिन्द्रियजनितज्ञानः । ८-वितकम् प० । चिन्तकम् म०, स० ।
९ इन्द्रियजनितदर्शनशक्तिमान् । १० वर्तमानपदार्थावभासदर्शनः । ११ दूरवर्तिनाम् ।
१२ समुत्सुकः । १३ विषयतत्सुखम् ।

तथैन्द्रियकसौन्दर्यैः स्नानमाल्यानुलेपनैः । विभूषणैश्च सौन्दर्यं संस्कर्तुमभिलष्यति ॥५९॥
दोषधातुमलस्थानं देहमैन्द्रियकं वहन् । पुमान्निस्त्राण[1]भैषज्यतद्रक्षास्वाकुलो[2] भवेत् ॥६०॥
दोषान्पश्यंश्च [3]जात्यादीन् देहार्तस्त[4]ज्जिहासया[5] । प्रेक्षाकारी[6] तपः कर्तुं [7]प्रयस्यति यदा कदा ॥६१॥
स्वीकुर्वन्निन्द्रियावासं[8] सुखमायुश्च तद्गतम् । आवासान्तरमन्विच्छेत् प्रेक्षमाणः[9] प्रणश्वरम् ॥६२॥
यस्त्वतीन्द्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखसन्ततिः । शरीरावाससौन्दर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥
तस्योक्तदोषसंस्पर्शो[10] भवेन्नैव कदाचन । [11]तद्वानाप्तस्ततो[12] ज्ञेयः स्यादनाप्तस्त्वतद्गुणः ॥६४॥
स्फुटीकरणमस्यैव[13] वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो[14] नावबुध्यते ॥६५॥
तद्यथाऽतीन्द्रियज्ञानः शास्त्रार्थं[15] न परं श्रयेत् । शास्ता स्वयं त्रिकालज्ञः केवलामललोचनः ॥६६॥
तथाऽतीन्द्रियदृग्नार्थी स्यादपूर्वार्थदर्शने । तेनादृष्टं न यत् किञ्चिद्युगपद्विश्वदृश्वना ॥६७॥
क्षायिकानन्तवीर्यश्च नान्यसाचि[16]व्यमीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्राप्तलोकाग्रशिखरालयः ॥६८॥

अत्यन्त उत्कंठित होता हुआ इन्द्रियोके विषयोकी तृष्णासे पराधीन सुखकी इच्छा करता है ॥५८॥ इसी प्रकार इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाली सुन्दरतासे युक्त पुरुष स्नान, माला, विलेपन और आभूषण आदिसे अपनी सुन्दरताका संस्कार करना चाहता है। भावार्थ–आभूषण आदि धारणकर अपने शरीरकी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है ॥५९॥ दोष, धातु और मलके स्थान स्वरूप इस इन्द्रियजनित शरीरको धारण करता हुआ पुरुष भोजन और औषधि आदिके द्वारा उसकी रक्षा करनेमे सदा व्याकुल रहता है ॥६०॥ जन्म मरण आदि अनेक दोषोको देखता हुआ और शरीरसे दुखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसे छोडनेकी इच्छासे तप करनेका प्रयास करता है तब वह इन्द्रियोके निवास स्वरूप शरीरको, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख और आयुको भी स्वीकार करता है और अन्तमे उसे भी नष्ट होता हुआ देखकर दूसरे ऐन्द्रियिक निवासकी इच्छा करता है। भावार्थ–तपश्चरण करनेका इच्छुक पुरुष यद्यपि शरीरको हेय समझकर छोडना चाहता है परन्तु साधन समझकर उसे स्वीकार करता है और जब तक इष्ट–मोक्षकी प्राप्ति नही हो जाती तब तक प्रथम शरीरके जर्जर हो जानेपर द्वितीय शरीरकी इच्छा करता रहता है ॥६१–६२॥ परन्तु जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय बल और अतीन्द्रिय सुखकी संतान है और जो अपने आत्मस्वरूप शरीर, आवास तथा सुन्दरता आदिमे सहित है उसके ऊपर कहे हुए दोषोका स्पर्श कभी नही होता है, इसलिये जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, वीर्य और सुखकी संतान है उसे ही आप्त जानना चाहिये और जिसके उक्त गुण नही हैं उसे अनाप्त समझना चाहिये ॥६३–६४॥ अब आगे इसी वाक्यार्थका स्पष्टीकरण करते हैं क्योंकि जबतक किसी पदार्थका स्पष्टीकरण नही हो जाता है तब तक उसका ठीक ठीक ज्ञान नही होता है ॥६५॥ जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसा पुरुष किसी दूसरे शास्त्र के अर्थका आश्रय नही लेता, किन्तु केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोको धारण करनेवाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वय सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय दर्शन है ऐसा जीव कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नही करता क्योंकि जो एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उसका न देखा हुआ कोई पदार्थ भी तो नही है ॥६७॥ जिसके क्षायिक अनन्तवीर्य है वह पुरुष भी किसी अन्य जीवकी सहायता नही चाहता किन्तु

अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा स्याद्भोगेषूत्सुको न वै । भोग्यवस्तुगता चिन्ता जायते नास्य जात्वतः ॥६९॥
प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यो नेच्छेत्स्नानादिसत्क्रियाम् । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बहिरन्तर्मलक्षयात् ॥७०॥
अतीन्द्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुद्व्याधिविषशस्त्रादिबाधातीततनुः स वै ॥७१॥
भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः । नावासान्तरमन्विच्छेद् आत्मवासे च सुस्थितः ॥७२॥
स एवमखिलैर्दोषैः मुक्तो युक्तोऽखिलैर्गुणैः । परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठीति गीयते ॥७३॥
कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न साम्प्रतम्[1] । सरागः कामरूपी स्याद् अकृतार्थश्च सोऽञ्जसा ॥७४॥
प्रकृतिस्थेन[2] रूपेण प्राप्तुं यो [3]नालमीप्सितम् । स वैकृतेन[4] रूपेण कामरूपी कथं सुखी ॥७५॥

इति पुरुषनिदर्शनम् ।

निगलस्थो[5] यथा नेष्टं गन्तुं देशमनन्तरम् । कर्मबन्धनबद्धोऽपि नेष्टं धाम[6] तथा यियासात्[7] ॥७६॥
यथेह बन्धनान्मुक्तः परं स्वातन्त्र्यमृच्छति । कर्मबन्धनमुक्तोऽपि तथोपाच्छेत्[8] स्वतन्त्रताम् ॥७७॥
निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥७८॥

इति निगलनिदर्शनम् ।

मुक्तेतरात्मनोरैक्यं द्वयेनानेन दर्शितम्[9] । तद्दृढीकरणायेष्टं[10] मुक्तसंसारिनिदर्शनम् ॥७९॥

वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके अग्र शिखरपर सिद्धालयमें जा पहुँचता है ॥६८॥ इसी प्रकार अतीन्द्रिय सुखको धारण करनेवाला पुरुष भी भोगोंमें उत्कण्ठित नहीं होता, क्योंकि उसे भोग करने योग्य वस्तुओंकी चिन्ता ही कभी नहीं होती है ॥६९॥ जिसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य प्राप्त हुआ है वह भी कभी स्नान आदि क्रियाओंकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग मलका क्षय हो जानेसे वह स्वयं स्नातक कहलाता है और उसका आत्मा निरन्तर शुद्ध रहता है ॥७०॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय आत्मा ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसका आत्मारूप शरीर क्षुधा, व्याधि, विष और शस्त्र आदिकी बाधासे रहित होता है ॥७१॥ जिसके जन्म, जरा और मरण नष्ट हो चुके हैं वह कभी तपकी इच्छा नहीं करता तथा जो आत्मारूपी घरमें सुखसे स्थित रहता है वह कभी दूसरे आवासकी इच्छा नहीं करता ॥७२॥ इस प्रकार जो समस्त दोषोंसे रहित है, समस्त गुणोंसे सहित है, परमात्मा है और उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥७३॥ कदाचित् आप यह कहें कि कामरूपित्व अर्थात् इच्छानुसार अनेक अवतार धारण करना आप्तका लक्षण है तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही रागसहित तथा अकृतकृत्य होता है ॥७४॥ जो स्वाभाविक रूपसे अपना इष्ट प्राप्त करनेके लिये समर्थ नहीं है वह कामरूपी विकृत रूपसे कैसे सुखी हो सकता है ? ॥७५॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं ।

जिस प्रकार निगल अर्थात् बेड़ीमें बँधा हुआ जीव अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिये समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार कर्मरूप बन्धनसे बँधा हुआ जीव भी अपने इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता ॥७६॥ जिस प्रकार इस लोकमें बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष परम स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष भी स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ और जिस प्रकार बेड़ीसे बँधा हुआ तथा बेड़ीसे छूटा हुआ पुरुष एक ही माना जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे बँधा हुआ तथा कर्मोंसे छूटा हुआ पुरुष भी एक ही माना जाता है ॥७८॥ यह निगलका उदाहरण है, इस प्रकार मुक्त और संसारी आत्माओंको प्रकट करनेके लिये ये दो

---

१ युक्तम् । २ स्वभावस्थेन । ३ असमर्थ । ४ विकारजेन । ५ शृङ्खलाबन्धनस्थ । ६ स्थानम् । ७ गच्छेत् । ८ गच्छेत् । ९ -र्शनम् प०, ल०, म० । १० पुरुषार्थदृढीकरणाय ।

यत्ससारिणमात्मानम् ऊरीकृत्यान्यतन्त्रताम्[1] । [2]तस्योपदेशो मुक्तस्य स्वातन्त्र्योपनिदर्शनम् ॥८०॥
मत ससारिदृष्टान्त सोऽयमाप्तीयदर्शने[3] । मुक्तात्मना भवेदेव[4] स्वातन्त्र्य प्रकटीकृतम् ॥८१॥
तद्यथा ससृतौ देही न स्वतन्त्र कथञ्चन । कर्मबन्धवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत्[5] ॥८२॥
तत परप्रधानत्वम् [6]अस्यैतत् प्रतिपादितम् ॥ स्याच्चलत्व च पुसोऽस्य वेदनासहनादिभि[7] ॥८३॥
वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यताम्[8] । क्षयवत्त्व[9] च देवादिभवे[10] लब्धर्द्धिसक्षयात् ॥८४॥
बाध्यत्व ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अन्तवच्चास्य[11] विज्ञानम् अक्षबोध[12] परिक्षयी[13] ॥८५॥
अन्तवद्दर्शन चास्य स्यादैन्द्रियकदर्शनम् । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पकम् ॥८६॥
स्यादस्य सुखमप्येव[14]प्रायमिन्द्रियगोचरम् । रजस्वलत्वमप्यस्य[15] स्यात्कर्मांशै कलङ्कनम् ॥८७॥
भवेत् कर्ममलावेशाद् अत एव मलीमस । छेद्यत्व चास्य गात्राणा द्विधाभावेन खण्डनम् ॥८८॥
मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्व स्याद् विदारणम् । जरावत्त्व वयोहानि प्राणत्यागो मृतिर्मता ॥८९॥
प्रमेयत्व[16] [17]परिच्छिन्नदेहमात्रावरुद्धता । गर्भवासोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदु स्थिति ॥९०॥

उदाहरण कहे, अब उक्त कथनको दृढ करनेके लिये ससारी जीवोका उदाहरण कहना चाहिये ॥७९॥ ससारी जीवोको लेकर जो उनकी परतन्त्रताका कथन करना है उनकी उसी परतन्त्रताके उपदेशमें मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रताका उदाहरण हो जाता है । भावार्थ—ससारी जीवोकी परतन्त्रताका वर्णन करनेसे मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रताका वर्णन अपने आप हो जाता है क्योकि ससारी जीवोकी परतन्त्रताका अभाव होना ही मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रता है ॥८०॥ अरहन्त देवके मतमे ससारीका उदाहरण वही माना गया है कि जिसमे मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रता प्रकट हो सके ॥८१॥ आगे इसी उदाहरणको स्पष्ट करते हैं—ससारमे यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नही है क्योकि कर्मबन्धनके वश होनेसे यह जीव अन्यके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥८२॥ यह ससारी जीवकी परतन्त्रता बतलाई, इसी प्रकार सुख-दु ख आदिकी वेदनाओके सहनेसे इस पुरुषमें चचलता भी होती है ॥८३॥ सुख-दु ख आदिकी वेदनाओसे जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे चञ्चलता समझना चाहिये और देव आदिकी पर्यायमे प्राप्त हुई ऋद्धियोका जो क्षय होता है उससे इस जीवके क्षयपना (नश्वरता) जानना चाहिये ॥८४॥ इस जीवको जो ताडना तथा अनिष्ट वचनोकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता है और इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क्षय होनेवाला है इसलिये वह अन्तसहित है ॥८५॥ इसका दर्शन भी इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी अन्तसहित है और इसका वीर्य भी वैसा ही है अर्थात् अन्तसहित है क्योकि इसके शरीरका बल अत्यन्त अल्प है ॥८६॥ इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला इसका सुख भी प्राय ऐसा ही है तथा कर्मोके अशोसे जो कलकित हो रहा है वही इसका मैलापन है ॥८७॥ कर्मरूपी मलके सम्बन्धसे मलिन भी है और शरीरके दो दो टुकडे होनेसे इसमें छेद्यत्व अर्थात् छिन्नभिन्न होनेकी शक्ति भी है ॥८८॥ मुदगर आदिके प्रहारसे इसका शरीर विदीर्ण हो जाता है इसलिये इसमें भेद्यत्व भी है, जो इसकी अवस्था कम होती जाती है वही इसका बुढापा है, और जो प्राणोका परित्याग होता है वह इसकी मृत्यु है ॥८९॥ यह जो परिमित

अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनम् । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद् देहान्तरसङ्क्रमः ॥९१॥
क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्याविष्टचेतसः । भवेद् विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संभ्रमः ॥९२॥
संसारावास एषोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनम्[1] । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥९३॥
सुखासुखं बलाहारौ देहावासौ च देहिनाम् । विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्ती[2] च रजोजुषाम्[3] ॥९४॥
एवं[4]प्रायास्तु ये भावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥९५॥
मुक्तात्मनां भवेद् भावः[5] स्वप्रधानत्वमग्रिमम् । प्रतिलब्धात्मलाभत्वात् परद्रव्यानपेक्षणम् ॥९६॥
वेदनाभिभवाभावाद् अचलत्वं गभीरता[6] । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षायिकातिशयोदयः ॥९७॥
अव्याबाधत्वमस्येष्टं जीवाजीवैरबाध्यता । भवेदनन्तज्ञानत्वं विश्वार्थाक्रमबोधनम् ॥९८॥
अनन्तदर्शनत्वं च विश्वतत्त्वाक्रमेक्षणम् । योऽन्यैरप्रतिघातोऽस्य सा मतानन्तवीर्यता ॥९९॥
भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्यमनन्तसुखता मता । नीरजस्त्वं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥१००॥
निर्मलत्वं तु तस्येष्टं बहिरन्तर्मलच्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥१०१॥
योऽस्य जीवघनाकारपरिणामो[7] मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वमाम्नातम् अभेद्यत्वं च तत्कृतम् ॥१०२॥
अक्षरत्वं च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मतम् । अप्रमेयत्वमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धैरमेयता ॥१०३॥

शरीरमें रुका रहता है वह इसका प्रमेयपना है और जो बालक होकर माताके पेटमें दुखसे रहता है वह इसका गर्भवास है ॥९०॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है वह इसका गर्भावास है और एक शरीरमें दूसरे शरीरमें जो संक्रमण करना है वह विलीनता है ॥९१॥ क्रोध आदिसे आक्रान्त चित्तमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह इसका क्षुभितपना है, और नाना योनियोंमें परिभ्रमण करना इसका विविध योग कहलाता है ॥९२॥ चारों गतियोंमें परिवर्तन करते रहना इस जीवका संसारावास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंका अन्य अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है ॥९३॥ कर्मरूपी रजसे युक्त रहनेवाले इन संसारी जीवोंके जिस प्रकार सुख दुःख, बल, आहार, शरीर और घर बदलते रहते हैं उसी प्रकार उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भी बदलते रहते हैं ॥९४॥ इस प्रकार संसारी जीवोंके जो विनश्वरभाव हैं वे मुक्त जीवोंके नहीं है, उनके सब भाव अविनश्वर हैं ॥९५॥ मुक्त जीवोंके उन भावोंमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित जो सर्व श्रेष्ठ स्वतन्त्रपना है वही पहला भाव है ॥९६॥ सुख दुःख आदिकी वेदनासे होनेवाले पराभवका अभाव होनेसे जो अचञ्चलता होती है वही उनकी गंभीरता है और कर्मोंके क्षयसे जो अतिशयोंकी प्राप्ति होती है वही उनका अविनाशी अक्षयपना है ॥९७॥ किसी भी जीव अथवा अजीवसे इन्हें बाधा नहीं पहुंचती यही इनका अव्याबाधपना है और संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं यही इनका अनन्तज्ञानीपन है ॥९८॥ समस्त तत्त्वोंको एक साथ देखना ही इनका अनन्तदर्शनपन है और अन्य पदार्थोंके द्वारा प्रतिघातका न होना अनन्तवीर्यपना है ॥९९॥ भोग करने योग्य पदार्थोंमें उत्कंठा न होना अनन्तसुखपना माना जाता है और पुण्य तथा पापका अभाव हो जाना नीरजसपन कहलाता है ॥१००॥ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग मलका नाश होना ही इसका निर्मलपना कहलाता है क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही निर्मल हो और अनादि कालसे सिद्ध हो ॥१०१॥ कर्मरूपी मलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकार परिणमन होना है वही इसका अच्छेद्यपना है और उसी कर्मरूपी मलके नाश होनेसे इसके अभेद्यपना माना जाता है ॥१०२॥ मुक्त जीवका

१ दृक् च शक्तिश्च दृक्शक्ती । २ कर्मरजसाजाम् । ३ एवमादय । ४ स्वतन्त्र । ५ वेदनाविलसे. । ६ युगपत् । ७ परिणमनम् ।

बहिरन्तर्मलापायाद् अगर्भवसतिर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेषात् स्यादगौरवलाघवम्[1] ॥१०४॥
तादवस्थ्यं[2] गुणैरुद्धैः[3] अक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यपृक्तता[4] ॥१०५॥
प्राग्देहाकारमूर्तित्वं यदस्याहेयमक्षरम् । साऽभीष्टा परमा काष्ठा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥
लोकाग्रवासस्त्रैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अशेषपुरुषार्थानां निष्ठा[5] परमसिद्धता ॥१०७॥
यः समग्रैर्गुणैरेभिः ज्ञानादिभिरलङ्कृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणं ॥१०८॥
एष संसारिदृष्टान्तो व्यतिरेकेण[6] साधयेत् । परमात्मानमात्मानं प्रभुमप्रतिशासनम् ॥१०९॥
त्रिभिर्निदर्शनैरेभिः आविष्कृतमहोदयः । स आप्तस्तन्मते धीरैः आधेया मतिरात्मनः ॥११०॥
[7]एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद् दृष्टपरम्परः । मतान्तरेषु यो स्थित्य भावयन्नुपपत्तिभिः ॥१११॥
विमतान्तरेभ्यो व्यावर्त्य प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेवं[8] कुर्यान्नित्यमनुपालनम् ॥११२॥
आत्रिकामुत्रिकापायात् परिरक्ष्यमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे ॥११३॥
आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमताम् । विषशस्त्राद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥११४॥

कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता इसलिये इसमें अक्षरता अर्थात् अविनाशीपन है और आत्मासे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ गुणोंसे इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिये इसमें अप्रमेयपना है ॥१०३॥ बहिरंग और अन्तरंग मलका नाश हो जानेसे इसका गर्भवास नहीं माना जाता है और कर्म तथा नोकर्मका नाश हो जानेसे इसमें गुरुता और लघुता भी नहीं होती है ॥१०४॥ यह आत्मासे उत्पन्न हुए प्रशसनीय गुणोंसे अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है इसलिये इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके गुणोंसे कभी पृथक् नहीं होता इसलिये अविलीनपना है ॥१०५॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नष्ट होने योग्य पहलेके शरीरके आकार इसकी मूर्ति रहती है वही इसकी परम हद है और वही इसकी योगरूपता है ॥१०६॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो इसकी सदा रहनेवाली स्थिति है वही इसका लोकाग्रवास गुण है और जो समस्त पुरुषार्थोंकी पूर्णता है वही इसकी परमसिद्धता है ॥१०७॥ इस प्रकार जो इन ज्ञान आदि समस्त गुणोंसे अलंकृत है उस कृतकृत्य हुए मुक्त जीवको अन्य द्रव्योंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१०८॥ यह संसारी जीवका दृष्टान्त व्यतिरेक रूपसे आत्माको, जिसपर किसीका शासन नहीं है और जो प्रभुरूप है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है। भावार्थ–इस संसारी जीवके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार इन तीन उदाहरणोंसे जिसका महोदय प्रकट हो रहा है वही आप्त है, उसी आप्तके मतमें धीरवीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि लगानी चाहिये ॥११०॥ इस तरह जिसने सब परम्परा देख ली है, और जो अन्य मतोंमें युक्तियोंसे दुष्टताका चिन्तवन करता है वही सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥१११॥ क्षत्रियको चाहिये कि वह अपनी जागृत बुद्धिको अन्य दिशाओं अर्थात् मतोंसे हटाकर समीचीन मार्गमें लगाता हुआ उसकी रक्षा करे ॥११२॥ इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायोंसे आत्माकी रक्षा करना आत्माका पालन करना कहलाता है। अब आगे इसी आत्माके पालनका वर्णन करते हैं ॥११३॥ विष शस्त्र आदि अपायोंसे अपनी रक्षा करना ही जिसका लक्षण है ऐसी इस लोकसम्बन्धी अपायोंसे

तत आमुत्रिकापायरक्षाविधिरनूद्यते। तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्प्रतिक्रिया ॥११५॥
धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः। धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः ॥११६॥
तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुर्याद्विपत्प्रतिक्रियाम्। एवं हि रक्षितोऽपायाद् भवेदात्मा भवान्तरे ॥११७॥
यद्बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम्। यत्र पुत्राः ससोदर्या वैरायन्ते[1] निरन्तरम् ॥११८॥
अपि चात्र मनःखेदबहुले क्व सुखासिका[2]। मनसो निर्वृतिं सौख्यम् उशन्तीह विचक्षणाः ॥११९॥
राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहे। सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युतासुखं[3] महत् ॥१२०॥
ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव भेषजम्। उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनम् ॥१२१॥
इति प्रागेव निर्विद्य[4] राज्ये भोगं त्यजेत् सुधीः[5]। तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद् राज्यपरिच्छदम् ॥१२२॥
कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णीते स्वयमेव वा। जीवितान्ते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥१२३॥
त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः। त्यागादिह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान् ॥१२४॥
मत्वेति तनुमाहारं राज्यं च सपरिच्छदम्। त्यजेदायतने[7] पुण्ये[8] पूजाविधिपुरस्सरम् ॥१२५॥

होनेवाली रक्षा तो विद्वान् पुरुषोंको विदित ही है ॥११४॥ इसलिये अब परलोक सम्बन्धी अपायोंसे होनेवाली रक्षाकी विधि कहते हैं। परलोक सम्बन्धी अपायोंसे रक्षा धर्मके द्वारा ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियोंका प्रतिकार है—उनसे बचनेका उपाय है ॥११५॥ धर्म ही अपायोंसे रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देनेवाला है, धर्म ही परलोकमें कल्याण करनेवाला है और धर्मसे ही इस लोकमें आनन्द प्राप्त होता है ॥११६॥ इसलिये धर्ममें एकचित्त होकर भविष्यत् कालमें आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे ही आत्माकी दूसरे भवमें विपत्तिसे रक्षा हो सकती है ॥११७॥ जिस राज्यके लिये पुत्र तथा सगे भाई आदि भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमें बहुत अपाय हैं ऐसा यह राज्य बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही छोड़ देना चाहिये ॥११८॥ एक बात यह भी है कि जिसमें मानसिक खेदकी बहुलता है ऐसे इस राज्यमें सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है क्योंकि इस संसारमें पण्डितजन मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥११९॥ जिसका अन्त अच्छा नहीं है और जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्यमें सुखका लेश भी नहीं है बल्कि सब ओरसे शंकित रहनेवाले पुरुषको इस राज्यमें बड़ा भारी दुःख बना रहता है ॥१२०॥ इसलिये विद्वान् पुरुषोंको अपथ्य औषधिके समान इस राज्यका त्याग कर देना चाहिये और पथ्य भोजनके समान तप ग्रहण करना चाहिये ॥१२१॥ इस तरह बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राज्यके विषयमें पहलेसे ही विरक्त होकर भोगोपभोगका त्याग कर दे, यदि वह इस प्रकार त्याग करनेके लिये समर्थ न हो तो कमसे कम अन्त समय उसे राज्यके आडम्बरका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥१२२॥ इसलिये यदि कालको जाननेवाला निमित्तज्ञानी अपने जीवनका अन्त समय बतला दे अथवा अपने आप ही उसका निर्णय हो जावे तो बुद्धिमान् क्षत्रियको चाहिये कि वह उस समयसे शरीर परित्यागकी बुद्धि धारण करे अर्थात् सल्लेखना धारण करनेमें बुद्धि लगावे ॥१२३॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस लोकमें कीर्तिकी प्राप्ति होती है और त्यागसे ही परलोकमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१२४॥ ऐसा मानकर क्षत्रियको किसी पवित्र स्थानमें रहकर पूजा आदिकी विधि करके शरीर आहार और चमर छत्र आदि उपकरणोंसे रहित राज्यका परित्याग कर देना

१ अन अ०, म०, म०, ल०। २ एकोदरे जाता। ३ वैरं कुर्वन्ति। ४ सुखास्थिता। ५ पुनः विरक्तिं चेत्। ६ वैराग्यवतो भूत्वा। ७ आवासे। ८ पवित्रे।

गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीषहजयायत्ता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥१२६॥
ततो ध्यायेदनुप्रेक्षा कृती जेतुं परीषहान् । विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभम् ॥१२७॥
[1]प्रागभावितमेवाहं भावयामि न भावितम्[2] । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनाम् ॥१२८॥
समुत्सृजेदनात्मीयं शरीरादिपरिग्रहम् । आत्मीयं तु स्वसात्कुर्याद् रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥१२९॥
[3]मनोव्याक्षेपरक्षार्थं[4] ध्यायन्निति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदन्ते संस्मरन् परमेष्ठिनाम् ॥१३०॥
तथा विसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः[5] । शिथिलीकृत्य कर्माणि शुभां गतिमथाश्नुते[6] ॥१३१॥
तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयम् । सिद्धिमाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥
ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः परमं तपः । कृत्वान्ते निर्वृतिं याति निर्धूताखिलबन्धनः ॥१३३॥
क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः कुर्यान्नात्मानुपालनम् । विषशस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मृतिर्ध्रुवभाविनी ॥१३४॥
दुर्मृतश्च दुरन्तेऽस्मिन् भवावर्ते दुरुत्तरे । पतित्वाऽमुत्र दुःखानां दुर्गतौ भाजनं भवेत् ॥१३५॥
ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन् महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥१३६॥
कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं[7] गुणः ॥१३७॥

चाहिये ॥१२५॥ इस प्रकार जिसने गुरुकी साक्षीपूर्वक शरीर और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे महात्मा पुरुषकी इष्टसिद्धि परीषहोंके विजय करनेके आधीन होती है अर्थात् जो परीषह सहन करता है उसीके इष्टकी सिद्धि होती है ॥१२६॥ इसलिये निपुण पुरुषको परीषह जीतनेके लिये अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवन किये बिना चित्तका समाधान कठिन है ॥१२७॥ जिसका पहले कभी चिन्तवन नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका चिन्तवन करता हूं और जिसका पहले चिन्तवन किया था ऐसे मिथ्यात्व आदिका चिन्तवन नहीं करता इस प्रकारके भावोंसे तत्त्वोंकी भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिये ॥१२८॥ जो आत्माके नहीं हैं ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये और जो आत्माके हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयका ग्रहण करना चाहिये ॥१२९॥ धीर वीर बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषको मनकी चञ्चलता नष्ट करनेके लिये इस प्रकार ध्यान करते हुए और पञ्चपरमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए आयुके अन्तमें प्राणत्याग करना चाहिये ॥१३०॥ जो पुरुष ध्यानमें तत्पर रहकर ऊपर लिखे अनुसार प्राणत्याग करता है वह कर्मोंको शिथिल कर शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ जो समर्थ है वह उसी भवमें कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होता है और जो असमर्थ है वह स्वर्गके अग्रभाग अर्थात् सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१३२॥ वह वहांसे च्युत हो मनुष्यपर्याय प्राप्त कर और परम तपश्चरण कर आयुके अंतमें समस्त कर्म बंधनको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१३३॥ आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी विष शस्त्र आदिसे अवश्य ही अपमृत्यु होती है ॥१३४॥ और अपमृत्युसे मरा हुआ प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाईसे पार होने योग्य इस संसाररूपी आवर्तमें पड़कर परलोकमें दुर्गतियोंके दुःखका पात्र होता है ॥१३५॥ इसलिये बुद्धिमान् क्षत्रियको दोनों लोकोंमें हित करनेवाले, आत्माके इस विघ्नबाधाओंसे रक्षा करनेमें महाप्रयत्न करना चाहिये ॥१३६॥ इस प्रकार जिसने आत्माकी रक्षा की है ऐसे राजाको प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यह राजाओंका मौलिक गुण है ॥१३७॥

कथञ्च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपञ्चनम्[1]। पुष्टं[2] गोपालदृष्टान्तम् [3]उरीकृत्य विवृण्महे ॥१३८॥
गोपालको यथा यत्नाद् गाः संरक्षत्यतन्द्रितः[4]। क्ष्मापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥१३९॥
तद्यथा यदि गौः कश्चिद् अपराधी[5] स्वगोकुले। तमङ्गच्छेदनाद्युग्रदण्डैस्तीव्रमयोजयन्[6] ॥१४०॥
पालयेदनुरूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन्[7]। यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत्[8] ॥१४१॥
तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत् प्रजाः। ततो विरक्तप्रकृतिं[9] जह्युरेनममूः प्रजाः ॥१४२॥
यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले। पोषयन्नेव पुष्टः स्याद् गोपोषं[10] प्राज्यगोधनः[11] ॥१४३॥
तथैव नृपतिर्मौलं [12]तन्त्रमात्मीयमेकतः[13]। पोषयन् पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिंश्च मण्डले ॥१४४॥
पुष्टो मौलेन तन्त्रेण यो हि पार्थिवकुञ्जरः। स जयेत् पृथिवीमेनां सागरान्तामयत्नतः ॥१४५॥
प्रभग्नचरणं किञ्चिद् गोद्रव्यं[14] चेत् प्रमादतः। गोपालस्तस्य सन्धानं कुर्याद् बन्धाद्युपक्रमैः ॥१४६॥
बद्ध्वाय च तृणाद्यस्मै दत्त्वा दार्ढ्यं नियोजयेत्। उपद्रवान्तरेऽप्येवम् आशु कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥१४७॥
यथा तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले क्षणितं भटम्। प्रतिकुर्याद्[15] [16]भिषग्वर्यान्नियोज्यौषधसम्पदा ॥१४८॥
दृढीकृतस्य चास्योर्ध्व[17] जीवनादि[18] प्रचिन्तयेत्। सत्येवं भृत्यवर्गोऽस्य शश्वदाप्नोति नन्दथुम्[19] ॥१४९॥

उस प्रजाका किस प्रकार पालन करना चाहिये यदि आप यह जानना चाहते हैं तो हम ग्वालिये-का सुदृढ़ उदाहरण लेकर विस्तारके साथ उसका वर्णन करते हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार ग्वालिया आलस्यरहित होकर बड़े प्रयत्नसे अपनी गायोंकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको बड़े प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१३९॥ आगे इसीका खुलासा करते हैं—यदि अपनी गायोंके समूहमें कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वालिया उसे अंगछेदन आदि कठोर दण्ड नहीं देता हुआ अनुरूप दण्डसे नियन्त्रण कर जिस प्रकार उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१४०–१४१॥ यह निश्चय है कि कठोर दण्ड देनेवाला राजा अपनी प्रजाको अधिक उद्विग्न कर देता है इसलिये प्रजा ऐसे राजाको छोड़ देती है तथा मंत्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजासे विरक्त हो जाते हैं ॥१४२॥ जिस प्रकार ग्वालिया अपने गायोंके समूहमें मुख्य पशुओंके समूहकी रक्षा करता हुआ पुष्ट अर्थात् सम्पत्तिशाली होता है क्योंकि गायोंकी रक्षा करके ही वह मनुष्य विशाल गोधनका स्वामी हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्गकी मुख्य रूपसे रक्षा करता हुआ अपने और दूसरेके राज्यमें पुष्टिको प्राप्त होता है ॥१४३–१४४॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने अपने मुख्य बलसे पुष्ट होता है वह इस समुद्रान्त पृथिवीको बिना किसी यत्नके जीत लेता है ॥१४५॥ यदि कदाचित् प्रमादसे किसी गायका पैर टूट जाय तो ग्वालिया उसे बाँधना आदि उपायोंसे उस पैरको जोड़ता है, गायको बाँधकर रखता है—बंधी हुई गायके लिये घास देता है और उसके पैर को मजबूत करनेमें प्रयत्न करता है तथा इसी प्रकार उन पशुओंपर अन्य उपद्रवोंके आनेपर भी वह शीघ्र ही उनका प्रतिकार करता है ॥१४६–१४७॥ जिस प्रकार अपने आश्रित गायों की रक्षा करनेके लिये ग्वालिया प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह अपनी सेनामें घायल हुए योद्धाको उत्तम वैद्यसे औषधिरूप संपदा दिलाकर उसकी विपत्तिका प्रतिकार करे अर्थात् उसकी रक्षा करे ॥१४८॥ और वह वीर जब अच्छा हो जावे तो राजाको उसकी उत्तम आजीविका कर देनेका विचार करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे भृत्यवर्ग सदा

---

१ प्रपञ्चनम् ल०, म०। प्रपञ्चने अ०, स०। २ समृद्धम्। ३ स्वीकृत्य। ४ अनालस्यः। ५ दोषी। ६ संयोजनमकुर्वन्। ७ नियमयन्। ८ उद्वेगं कुर्यात्। ९ त्यक्तानुरागमन्त्र्यादिपरिवारजनम्। १० गाः पोषयन्निति गोपोषम्। ११ बहुगोधनः। १२ बलम्। १३ एकस्मिन् स्थाने। १४ गोधनम्। १५ प्रतिकारं कुर्यात्। १६ वैद्यश्रेष्ठात्। १७ अधिकम्। १८ जीविकादिकम्। १९ आनन्दम्।

यथैव खलु गोपालो सन्ध्यस्थिचलने गवाम् । तदस्थि स्थापयन् प्राग्वत् कुर्याद् योग्यां प्रतिक्रियाम् ॥१५०॥
तथा नृपोऽपि सङ्ग्रामे भृत्यमुख्ये व्यसौ[1] सति । तत्पदे पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत् ॥१५१॥
सति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तताम् । उपैति भृत्यवर्गोऽस्मिन्[2] भवेच्च ध्रुवयोधनः[3] ॥१५२॥
यथा खल्वपि गोपालः कृमिदष्टे गवाङ्गणे । तद्योग्यमौषधं दत्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियाम् ॥१५३॥
तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं[4] स्वानुजीविनम्[5] । विमनस्कं विदित्वैनं सौचित्ये[6] सन्नियोजयेत् ॥१५४॥
विरक्तो ह्यनुजीवी[7] स्याद् अलब्धोचितजीवनः[8] । प्रभोर्विमानं[9] नाच्चैव तस्मान्नैनं विरक्तयेत्[10] ॥१५५॥
[11]तद्दौर्गत्यं व्रणस्थानकृमिसम्भवसन्निभम् । विदित्वा तत्प्रतीकारम् आशु कुर्याद्विशाम्पतिः ॥१५६॥
बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविनाम् । उचितात् स्वामिसन्मानाद् यथैषां जायते धृतिः ॥१५७॥
गोपालको यथा यूथे स्वे महोक्षं[12] भरक्षमम् । ज्ञात्वास्य नस्यकर्मादि विदध्याद् गात्रपुष्टये ॥१५८॥
तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे योद्धारं भटसत्तमम् । ज्ञात्वैनं जीवनं प्राज्यं दत्वा सम्मानयेत् कृती ॥१५९॥
कृतापदानं[13] तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैः अनुजीविभिरन्वहम् ॥१६०॥
यथा च गोपो गोयूथं कण्टकोपलवर्जिते । शीतातपादिबाधाभिः उज्झिते चारयन्[14] वने ॥१६१॥

आनन्दको प्राप्त होते रहते हैं–सन्तुष्ट बने रहते हैं ॥१४९॥ जिस प्रकार ग्वालिया सन्धिस्थान से गायोकी हड्डीके विचलित हो जानेपर उस हड्डीको वहीं बैठालता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी युद्धमें किसी मुख्य भृत्यके मर जानेपर उसके पदपर उसके पुत्र अथवा भाईको नियुक्त करना चाहिये ॥१५०–१५१॥ ऐसा करनेसे भृत्य लोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ है' ऐसा मानकर उसपर अनुराग करने लगेंगे और अवसर पड़नेपर निरन्तर युद्ध करनेवाले बन जायेंगे ॥१५२॥ कदाचित् गायोंके समूहको कोई कीड़ा काट लेता है तो जिस प्रकार ग्वालिया योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह अपने सेवकको दरिद्र अथवा खेदखिन्न जानकर उसके चित्तको सन्तुष्ट करे ॥१५३–१५४॥ क्योंकि जिस सेवकको उचित आजीविका प्राप्त नहीं है वह अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे विरक्त हो जायगा इसलिये राजाको चाहिये कि वह कभी अपने सेवकको विरक्त न करे । ॥१५५॥ सेवककी दरिद्रताको घावके स्थानमें कीड़े उत्पन्न होनेके समान जानकर राजाको शीघ्र ही उसका प्रतिकार करना चाहिये ॥१५६॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित सन्मान पाकर जैसा सन्तोष होता है वैसा सन्तोष बहुत धन देनेपर भी नहीं होता है ॥१५७॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके झुण्डमें किसी बड़े बैलको अधिक भार धारण करनेमें समर्थ जानकर उसके शरीरकी पुष्टिके लिये नस्य कर्म आदि करता है अर्थात् उसकी नाकमें तेल डालता है और उसे खली आदि खिलाता है उसी प्रकार चतुर राजाको भी चाहिये कि वह अपनी सेनामें किसी योद्धाको अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सन्मानित करे ॥१५८–१५९॥ जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर पुरुषको उसके योग्य सत्कारोंसे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य उसपर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं ॥१६०॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको काँटे और पत्थरोंसे रहित तथा शीत और गरमी आदिकी बाधासे शून्य वनमें चराता हुआ बड़े प्रयत्नसे उसका

---

१ विनाशप्राप्ते । २ नृपे । ३ यथा । युद्धकारीयथ । ४ दरिद्रम् । ५ निजभृत्यम् । ६ शोभन विशेष । ७ विरक्तोऽप्यानुजीवी । ८ जीवित । ९ अवमानात । १० कदापि न कुर्यात् । दोषरहित- मित्यर्थः । ११ विभावत्वम् । १२ महानमानुवाहम् । १३ पुरुषगतगमम् । १४ भक्षणं कारयन् ।

पोषयत्यतियत्नेन तथा भूपोऽप्यविप्लवे । देशे स्वानुगतं[1] लोकं स्थापयित्वाभिरक्षतु[2] ॥१६२॥
राज्यादि[3]परिवर्तेषु जनोऽस्य पीड्यतेऽन्यथा[4] । चौरैर्डामरकैरन्यैरपि[5] प्रत्यन्तनायकैः[6] ॥१६३॥
[7]प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कण्टकोद्धरणेनैव प्रजानां क्षेमधारणम् ॥१६४॥
यथैव गोपः सञ्जातं वत्सं मात्रा सहामुकम् (मुग्धम्) । दिनमेकमवस्थाप्य ततोऽन्येद्युर्दयार्द्रधीः ॥१६५॥
विधाय चरणे तस्य[8] शनैर्बन्धनसन्निधिम् । नाभिनालं पुनर्गर्भमलं[9] चापास्य यत्नतः ॥१६६॥
जन्तुसम्भवशङ्कायां प्रतीकारं विधाय च । क्षीरोपयोगदानाद्यैर्वर्धयेत् प्रतिवासरम् ॥१६७॥
भूपोऽप्येवमुपासन्नं वृत्तये[10] स्वमुपासितुम्[11] । यथानुरूपं सम्मानं स्वीकुर्यादनुजीविनम् ॥१६८॥
स्वीकृतस्य च तस्योद्धजीवनादिप्रचिन्तया । योगक्षेमं प्रयुञ्जीत कृतक्लेशस्य सादरम् ॥१६९॥
यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतुं[12] समुद्यतः । क्षीरावलोकनाद्यैस्तान् परीक्ष्य गुणवत्तमान्[13] ॥१७०॥
क्रीणाति दशनादीनाम् अवधारणतत्परः । कुलपुत्रान्नृपोऽप्येवं क्रीणीयात् सुपरीक्षितान् ॥१७१॥
क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन तान् यथावसरं प्रभुः । कृत्येषु[14] विनियुञ्जीत भृत्यैः साध्यं फलं हि तत् ॥१७२॥
[15]यद्वच्च प्रतिभूः कश्चिद् यो वशे प्रतिगृह्यते । बलवान् प्रतिभूस्तद्वद्ग्राह्यो[16] भृत्योपसङ्ग्रहे ॥१७३॥
[17]याममात्रावशिष्टायां रात्रावुत्थाय यत्नतः । [18]चारयित्वोचिते देशे गाः प्रभूततृणोदके ॥१७४॥

पोषण करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोंको किसी उपद्रवहीन स्थानमें रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥१६१–१६२॥ यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य आदिका परिवर्तन होनेपर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकोंको पीडा देने लगेंगे ॥१६३॥ राजाको चाहिये कि वह ऐसे चोर डाकू आदिकी आजीविका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि काँटोंको दूर कर देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥१६४॥ जिस प्रकार ग्वाला हालके उत्पन्न हुए बच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता है, दूसरे दिन दयाबुद्धिसे युक्त हो उसके पैरमें धीरेसे रस्सी बाँधकर खूँटीसे बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभिके नालको बड़े यत्नसे दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होनेकी शंका होनेपर उसका प्रतीकार करता है, और दूध पिलाना आदि उपायोंसे उसे प्रतिदिन बढ़ाता है ॥१६५–१६७॥ उसी प्रकार राजाको भी चाहिये कि वह आजीविकाके अर्थ अपनी सेवा करनेके लिये आये हुए सेवकको उसके योग्य आदर सन्मानसे स्वीकृत करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिये क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोंकी प्रशस्त आजीविका आदिका विचार कर उनके साथ योग और क्षेमका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देनी चाहिये और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥१६८–१६९॥ जिस प्रकार दाँत आदिके निश्चय करनेमें तत्पर रहनेवाला ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिये तैयार होता है तब वह दूध देखना आदि उपायोंसे परीक्षा कर उनमेंसे अत्यन्त गुणी पशुओंको खरीदता है उसी प्रकार राजाको भी परीक्षा किये हुए उच्चकुलीन पुत्रोंको खरीदना चाहिये ॥१७०–१७१॥ और आजीविकाके मूल्यसे खरीदे हुए उन सेवकोंको समयानुसार योग्य कार्यमें लगा देना चाहिये क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोंके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥१७२॥ जिस प्रकार पशुओंके खरीदनेमें किसीको जामिनदार बनाया जाता है उसी प्रकार सेवकोंका संग्रह करनेमें भी किसी बलवान् पुरुषको जामिनदार बनाना चाहिये ॥१७३॥ जिस प्रकार ग्वाला रात्रिके

१ सुखयन् । २ -रक्षयेत् स०, म० । ३ परिवर्तेऽस्य स०, म० । राज्यादि मुक्त्वा राज्यान्तरप्राप्तिषु । ४ अन्यप्रकारेण । ५ दायादैः [illegible] । ६ म्लेच्छनायकैः । ७ [illegible] । ८ बन्धनम् । ९ जरायुणा । १० जीवनाय । ११ सेवां कर्तुम् । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ कार्येषु । १५ यथैव स०, म० । १६ [illegible] । १७ [illegible] । १८ [illegible] ।

प्रातस्तरामथानीय वत्सपीतावशिष्टकम् । पयो दोग्धि यथा गोपो नवनीतादिलिप्सया ॥१७५॥
तथा भूपोऽप्यतन्द्रालुर्भक्तग्रामेषु[1] कारयेत् । कृषिं कर्मान्तिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥
देशेऽपि कारयेत् कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीवलैः । धान्यानां संग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो[3] हरेत्[4] ॥१७७॥
सत्येवं पुष्टतन्त्रः स्याद् भाण्डागारादिसम्पदा । पुष्टो देशश्च तस्यैवं स्याद् धान्यैरातितर्पणैः[5] ॥१७८॥
स्वदेशे याक्षरम्लेच्छान्[6] प्रजाबाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥
विक्रियां न भजन्त्येते प्रभुणा कृतसत्क्रियाः । प्रभोरलब्धसम्माना विक्रियन्ते हि तेऽन्वहम् ॥१८०॥
ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्णवः । तेऽपि कर्षकसामान्य[7] कर्तव्याः करदा नृपैः ॥१८१॥
तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छा येऽमी वेदोपजीविनः । अधर्माक्षरसम्पाठैर्लोकव्यामोहकारिणः ॥१८२॥
यतोऽक्षरकृतं गर्वम् [8]अविद्याबलतस्तके[9] । वहन्त्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥१८३॥
म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च । बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥१८४॥
सोऽस्त्यमीषां च [10]यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं[11] बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः[12] ॥१८५॥
प्रजासामान्यतं[13]वैषां मता वा स्यान्निष्कृष्टता । ततो[14] न मान्यतास्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥१८६॥

प्रहरमान शेष रहनेपर उठकर जहा वहुतसा घास और पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थानमें गायोको बडे प्रयत्नसे चराता है तथा बडे सवेरे ही वापिस लाकर बछडेके पीनेसे वाकी बचे हुए दूधको मक्खन आदि प्राप्त करनेकी इच्छासे दुह लेता है उसी प्रकार राजाको भी आलस्य-रहित होकर अपने आधीन ग्रामोमें बीज देना आदि साधनो द्वारा किसानोसे खेती कराना चाहिये ॥१७४–१७६॥ राजाको चाहिये कि वह अपने समस्त देशमे किसानो द्वारा भली भाति खेती करावे और धान्यका सग्रह करनेके लिये उनसे न्यायपूर्ण उचित अश लेवे ॥१७७॥ ऐसा होनेसे उसके भाडार आदिमे वहुत सी सम्पत्ति इकट्ठी हो जावेगी और उससे उसका वल वढ जावेगा तथा सतुष्ट करनेवाले उन धान्योसे उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जावेगा ॥१७८॥ अपने आश्रित स्थानोमें प्रजाको दु ख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ अर्थात् वेद से आजीविका करनेवाले हो उन्हे कुलशुद्धि प्रदान करना आदि उपायोसे अपने आधीन करना चाहिये ॥१७९॥ अपने राजासे सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नही करेंगे। यदि राजाओसे उन्हे सन्मान प्राप्त नही होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥१८०॥ और जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने ही देशमे सचार करते हो उनसे भी राजाओ को सामान्य किसानोकी तरह कर अवश्य लेना चाहिये ॥१८१॥ जो वेद पढकर अपनी आजीविका करते है और अधर्म करनेवाले अक्षरोके पाठसे लोगोको ठगा करते है उन्हे अक्षरम्लेच्छ कहते है ॥१८२॥ चूकि वे अज्ञानके वलसे अक्षरो द्वारा उत्पन्न हुए अहकारको धारण करते है इसलिये पापसूत्रोसे आजीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते है ॥१८३॥ हिंसा और मास खानेमें प्रेम करना, बलपूर्वक दूसरेका धन हरण करना और धूर्तता करना (स्वेच्छाचार करना) यही म्लेच्छोका आचार माना गया है ॥१८४॥ चूकि यह सब आचरण इनमें है और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते है इसलिये इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिये अथवा उससे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिये । इन सब कारणोसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती

---

१ आरम्भग्रामेष्वित्यर्थः । २ कृषीवलभृत्यैः । ३ कृषीवलेभ्यः । ४ स्वीकुर्यात् । ५ तृप्तिकरैः । ६ प्रदेशे अ०, प०, स०, म० । ७ कृषीवलसामान्य यथा भवति तथा । ८ अज्ञानबलात् । ९ कुत्सितास्ते । १० यद् कारणात् । ११ हिंसनादिप्रकारम् । १२ गर्वत । १३ प्रजासामान्यत्वमेव । १४ प्रजाभ्य ।

वयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसम्मताः । धान्यभागमतो राज्ञे न दद्म इति चेन्मतम् ॥१८७॥
वैशिष्ट्यं किङ्कृतं शेषवर्गेभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद् वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥१८८॥
गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यम् अस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥१८९॥
निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने[1] धार्मिका द्विजाः ॥१९०॥
तस्मादन्ते कुरु म्लेच्छा इव तेऽमी महीभुजाम् । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविशेषिताः ॥१९१॥
किमत्र बहुनोक्तेन जैनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये मान्या नरेन्द्राणां प्रजासामान्यजीविकाः ॥१९२॥
यथेह गोधनं गोपो व्याघ्रचोराद्युपक्रमात्[2] । यथा रक्षत्यतन्द्रालुः भूपोऽप्येवं निजाः प्रजाः ॥१९३॥
यथा च गोकुलं [3]गोमिन्यायाते संदिदृक्षया । सोपचारमुपेत्येनं तोषयेद् धनसम्पदा[4] ॥१९४॥
भूपोऽप्येवं बली कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत्[5] । तदा वृद्धैः समालोच्य सन्दध्यात्[6] पणबन्धतः[7] ॥१९५॥
जनक्षयाय सङ्ग्रामो बह्वपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः[8] सन्धेयोऽरिर्बलाधिकः[9] ॥१९६॥
इति गोपालदृष्टान्तम् उरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजानां पालने यत्नं [10]विदध्यात्प्रयतमानः ॥१९७॥

है, जो द्विज अरहन्त भगवान्के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ॥१८५–१८६॥ "हम ही लोगोंको संसार-सागरसे तारनेवाले हैं, हम ही देव-ब्राह्मण हैं और हम ही लोकसम्मत हैं अर्थात् सभी लोग हम ही को मानते हैं इसलिये हम राजाको धान्यका उचित अंश नहीं देते" इस प्रकार यदि वे द्विज कहें तो उनसे पूछना चाहिये कि आप लोगोंमें अन्य वर्णवालोंसे विशेषता क्यों है ? कदाचित् यह कहो कि हम जातिकी अपेक्षा विशिष्ट हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती है, कदाचित् यह कहो कि गुणकी अपेक्षा विशिष्टता है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आप लोग केवल नामके धारण करनेवाले हो, जो व्रतोंको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वे ही गुणोंसे अधिक हैं। आप लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य, दयाहीन, पशुओंका घात करनेवाले और म्लेच्छोंके आचरण करनेमें तत्पर हो इसलिये आप लोग धर्मात्मा द्विज नहीं हो सकते। इन सब कारणोंसे राजाओंको चाहिये कि वे इन द्विजोंको म्लेच्छोंके समान समझें और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही धान्यका योग्य अंश ग्रहण करें। अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जैनधर्मको धारण करनेवाले उत्तम द्विजोंको छोडकर प्रजाके समान आजीविका करनेवाले अन्य द्विज राजाओंके पूज्य नहीं हैं ॥१८७–१९२॥

जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधनकी व्याघ्र चोर आदि उपद्रवोंसे रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥१९३॥ जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेकी इच्छासे राजाके आनेपर भेंट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदाके द्वारा उसे संतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यके सन्मुख आवे तो वृद्ध लोगोंके साथ विचारकर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिये। चूंकि युद्ध बहुतसे लोगोंके विनाशका कारण है, उसमें बहुत सी हानियां होती हैं और उसका भविष्य भी बुरा होता है अतः कुछ देकर बलवान् शत्रुके साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है ॥१९४–१९६॥ इस प्रकार राजाको ग्वालाका दृष्टान्त स्वीकार कर नीति-

---

१ न भवथ। २ –द्युपद्रवात् स०, म०, प०। ३ गोमनी। गोमान् गोमीत्यभिधानात्। गोमत्या– म०, स०, प०। ४ क्षीरघृतादिविक्रयाज्जातधनसमृद्ध्या। ५ अभिगच्छेत्। ६ सन्धानं कुर्यात्। ७ निष्क्रप्रदानादित्यर्थः। ८ उचितवस्तुवाहनप्रदानाद्यैः। ९ सन्धिं कर्तुं योग्यः। १० कुर्यात्।

प्रजानुपालनं प्रोक्तं पार्थिवस्य जितात्मनः । समञ्जसत्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणान्तरम् ॥१९८॥
राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् । शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते ॥१९९॥
द्विषन्तमथवा पुत्रं निगृह्णन्निग्रहोचितम् । अपक्षपतितो[1] दुष्टम् इष्टं चेच्छन्ननागसम्[2] ॥२००॥
मध्यस्थवृत्तिरेव यः समदर्शी समञ्जसः । समञ्जसत्वं तद्भाव[3] प्रजास्वविषमेक्षिता ॥२०१॥
गुणेनैतेन शिष्टानां पालनं न्यायजीविनाम् । दुष्टानां निग्रहं चैव नृपः कुर्यात् कृतागसाम् ॥२०२॥
दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः । शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नराः ॥२०३॥

इत्थं मनुः सकलचक्रभृदादिराजः
तान् क्षत्रियान् नियमयन् पथि सुप्रणीते[4] ।
उच्चावचैर्गुरुमतैरुचितैर्वचोभिः
शास्ति स्म वृत्तमखिलं पृथिवीश्वराणाम् ॥२०४॥

इत्युच्चैर्भरतेशिनानुकथितं सर्वीयमुर्वीश्वरा[5]
क्षात्रं धर्ममनुप्रपद्य मुदिताः स्वां वृत्तिमन्वैयरु[6] ।
योगक्षेमपथेषु तेषु[7] सहिताः[8] सर्वे च वर्णाश्रमाः
स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्धर्मोत्सवैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

मार्गसे प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिये ॥१९७॥ इस प्रकार इन्द्रियोंको जीतनेवाले राजाका प्रजापालन नामका गुण कहा। अब समंजसत्व नामका अन्य गुण कहते हैं ॥१९८॥

राजा अपने चित्तका समाधान कर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥१९९॥ जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोंका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभीको निरपराध बनानेकी इच्छा करता है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है वह समंजस कहलाता है तथा प्रजाओंको विषम दृष्टिसे नहीं देखना अर्थात् सबपर समान दृष्टि रखना ही राजाका समंजसत्व गुण है ॥२००–२०१॥ इस समंजसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक आजीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना चाहिये ॥२०२॥ जो पुरुष हिंसा आदि दोषोंमें तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, संतोष आदि गुणोंके द्वारा धर्म धारण करनेमें तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं ॥२०३॥ इस प्रकार सोलहवें मनु तथा समस्त चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा महाराज भरतने उन क्षत्रियोंको भगवत्प्रणीत मार्गमें नियुक्त करते हुए, अपने पिता श्री वृषभदेवको इष्ट ऊंचे नीचे योग्य वचनोंसे राजाओंके समस्त आचारका उपदेश दिया ॥२०४॥

इस प्रकार भरतेश्वरने जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया है ऐसे सबका हित करनेवाले, क्षत्रियोंके उत्कृष्ट धर्मको स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हो अपने अपने आचरणोंका पालन करने लगे और उन राजाओंके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) में प्रवृत्त रहनेपर अपना हित चाहनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने अपने

---

१ पक्षपातरहितः । २ अनागसमपराधरहितम् । ३ समञ्जसत्वसद्भाव अ०, प०, स०, द०, ल० । ४ नृप आह । ५ सर्वान्स्वामिनम् । ६ अनुजग्मुः । 'षह मर्षणे' धातुः । इत्यादिसूत्रात् इति ... अनुप्रयोगस्य अप्रयोगात् ... पूर्वनिपातः च कृतः, 'एयरु' इति सिद्धिः । ७ उर्वीश्वरेषु । ८ हितेन सहिताः ।

जातिक्षत्रियवृत्तमूर्जिततरं रत्नत्रयादिस्फुटं
तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः ।
तत्सर्वं मगधाधिपाय भगवान् वाचस्पतिर्गौतमो
व्याचख्यावखिलार्थतत्त्वविषयां[1] जैनीं श्रुतिं व्यापयन्[2] ॥२०६॥
वन्दारोर्भरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसः
तस्यानुस्मरतो गुणान् प्रणमतस्तं देवमाद्यं जिनम् ।
तस्यैवोपचितिं[3] सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्वतः
कालोऽनल्पतरः सुखाद् व्यतिगतो[4] नित्योत्सवैः सम्भृतः[5] ॥२०७॥
जैनीमिज्यां वितन्वन्नियतमनुदिनं प्रीणयन्नर्थिसार्थं
शश्वद्भिर्नम्रभूपैरवनितललसन्मौलिभिः सेव्यमानः ।
क्ष्मां कृत्स्नामापयोधेरपि[6] च हिमवतः पालयन्निस्सपत्नां
रम्यैः स्वेच्छाविनोदैर्निरविशद्[7]धिराड् भोगसारं दशाङ्गम्[8] ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहा-
पुराणसङ्ग्रहे भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रति-
पादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४२॥*

मार्गमें स्थिर रहकर प्रतिदिन धर्मोत्सव करते हुए सतोष धारण करने लगे ॥२०५॥ चक्रवर्तियोंमें अग्रेसर महाराज भरतने जो अत्यन्त उत्कृष्ट जातिक्षत्रियोंका चरित्र तथा रत्नत्रय से प्रकट हुआ तीर्थक्षत्रियोंका चरित्र कहा था वह सब, समस्त पदार्थोंके स्वरूपको विषय करनेवाले जैन शास्त्रोंको प्रकट करते हुए वाचस्पति (श्रुतकेवली) भगवान् गौतम गणधरने मगध देशके अधिपति श्रेणिकके लिये निरूपण किया ॥२०६॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवके चरणोंकी वन्दना करनेवाले, उन्हीं परब्रह्मके गुणोंका स्मरण करनेवाले, उन्हीं प्रथम जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करनेवाले और सुर तथा असुरोंके गुरु उन्हीं भगवान् वृषभदेवकी भक्तिपूर्वक बार बार पूजा करनेवाले भरतेश्वरका निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे भरा हुआ भारी समय सुखसे व्यतीत हो गया ॥२०७॥ जो नियमित रूपसे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करता है, जो प्रतिदिन याचकोंके समूहको संतुष्ट करता है, पृथिवीपर झुके हुए मुकुटों से सुशोभित होनेवाले राजा लोग जिसकी निरन्तर सेवा करते हैं और जो हिमवान् पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यन्तकी शत्रुरहित समस्त पृथिवीका पालन करता है ऐसा वह सम्राट् भरत अपनी इच्छानुसार क्रीड़ाओंके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ॥२०८॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
हिन्दी भाषानुवादमें भरतराजकी वर्णाश्रमकी रीतिका प्रतिपादन
करनेवाला बयालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥४२॥

१ उवाच । २ प्रकटीकुर्वन् । ३ पूजाम् । ४ व्यतिक्रान्तः । ५ समन्वितः । ६ समुद्रादारभ्य हिमवत्पर्यन्तम् । ७ अन्वभूत् । ८ दिव्यपुररत्ननिधिसेनाभाजनशयनासनवाहननाट्यभोजनानि दशाङ्गानि यस्य तत् ।

* त॰ ब॰ इ॰ स॰ पुस्तकेषु निम्नाङ्कित- पाठोऽधिको दृश्यते । क॰ ख॰ ग॰ म॰ पुस्तकेष्वेष पाठो न दृश्यते ।

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥१॥
नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥२॥
जयन्ति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदनन्तवल्लिच्छिदः ।
सुरासुरशिरस्फुरत्तरागरत्नावलीविसर्पिकिरणोत्करारुणितचारुपादद्वयाः ॥३॥
इति निर्गतावेवं भगवत श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।
धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे ।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वचांसि न हरन्ति मनांसि केषाम् ॥४॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे आद्यं
खण्डं समाप्तिमगमत् ॥

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति त्रिकाल विषयक अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त है उन वृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥१॥ जो सब कल्याणों के मार्गकी रचनामें कारण है और जो संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिये पुलके समान हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥२॥ जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है, जो अनन्त बलको धारण करनेवाले हैं। जो जगत्के आनन्दके कारण हैं, जो विपत्तियोंकी बहुत भारी जडको काटनेवाले हे, और सुर तथा असुरोंके मस्तकपर चमकते हुए पद्मराग-मणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों सुन्दर चरणकमल कुछ कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त हो ॥३॥

(इस प्रकार महाकवि भगवान् जिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई)

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्ष पद अथवा मोक्षमार्गका कथन है, उत्तम कविता है और तीर्थंकर भगवान्का चरित है अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि कवियोंमें श्रेष्ठ श्री जिनसेनके मुखकमलसे निकले हुए वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ?॥४॥

(इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणका प्रथम खण्ड समाप्त हुआ)

महापुराणम्

[उत्तरखण्डम्]

त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

श्रियं तनोतु ॥ श्रीमान् वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य[1] गतेर्मुक्तेर्मार्ग[2]श्चित्रं महानभूत् ॥१॥
विक्रमं कर्मचक्रस्य[3] यश्शक्राभ्यर्चितक्रमः । [4]आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिताम् ॥२॥
योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ[5] दिनादौ वा[6] दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्गभस्तिभिः ॥३॥
नष्टमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीषु कालयोः[7] । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य[8] येन सिद्धाश्च वर्द्धिताः ॥४॥
तीर्थकृत्सु[9] स्वतः[10] प्राग्यो[11] नामादानपराभवः[12] । यस्मिन्[13] नस्पृशन्नासौ स्वसूनुमिव चक्रिषु ॥५॥
येन[14] प्रकाशिते मुक्तेर्मार्गेऽ[15]स्मिन्नपरेषु तत्[16] । प्रकाशित[17]प्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्स्वभूत् ॥६॥

अथानन्तर, जिनकी ध्वजामे वृषभका चिह्न है और सबसे बडा आश्चर्य यह है कि जिन एकके जानेसे ही बहुत बडा मोक्षका मार्ग बन गया ऐसे अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव सबका कल्याण करें ॥१॥ जिनके चरणकमलकी इन्द्र स्वय पूजा करता है और जिन्होंने धर्मचक्रके द्वारा कर्मसमूहके पराक्रमपर आक्रमणकर तीनो लोकोका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥२॥ दिनके प्रारम्भमें सूर्यकी तरह इस *चतुर्थकालके प्रारम्भमें उदय होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणीरूपी किरणोसे समस्त जगत्को प्रकाशित किया है अर्थात् दिव्य ध्वनिके द्वारा समस्त तत्त्वोका उपदेश दिया है ॥३॥ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के अठारह कोडी सागरतक जो मोक्षका मार्ग नष्ट हो रहा था उसका निर्देशकर जिन्होंने सिद्धो की सख्या बढाई है ॥४॥ जिस प्रकार चक्रवर्तियोमें अपने पुत्र भरत चक्रवर्तीको उनके पहले किसी अन्य चक्रवर्तीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव नही छू सका था उसी प्रकार तीर्थङ्करो में अपने पहले किसी अन्य तीर्थङ्करका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव जिन्हे छू भी नही सका था । भावार्थ–जिस प्रकार भरत इस युगके समस्त चक्रवर्तियोमें पहले चक्रवर्ती थे उसी प्रकार जो इस युगके समस्त तीर्थङ्करोमें पहले तीर्थंकर थे ॥५॥ जिनके द्वारा इस मोक्षमार्गके प्रकाशित किये जानेपर अन्य तीर्थंकरोंमें प्रकाशित हुए मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके कारण उपदेशकी व्यर्थता हुई थी । भावार्थ–इस समय जो मोक्षका मार्ग चल रहा है उसका उपदेश सबसे पहले भगवान् वृषभदेवने ही दिया था उनके पीछे होनेवाले अन्य तीर्थंकरोने भी उसी मार्गका उपदेश दिया है इसलिये उनका उपदेश पुनरुक्त होनेके कारण व्यर्थ सा जान पडता

---

१ गमनात् । २ मुक्तिमार्ग–प०, ल०, म० । ३ कर्मराजसैन्यस्य । ४ क्रिया । ५ चतुर्थकालस्यादौ । ६ इव । ७ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । ८ उपदेशं कृत्वा । ९ अजितादिषु । १० आत्मनः पुरुजिनात् । ११ पूर्वस्मिन् काले । १२ नामदानपराभव इति पाठस्य ल० पुस्तके मतम् । नामदानपराभव इति पाठस्य 'द०' पुस्तके सत्त्वेन । अदानपराभव–आहारादिदानाभाव इति पराभवः । नामदानपराभव इति पाठे कीर्तिदानयोरभाव इति पराभवः । १३ चतुर्थकालस्यादौ । १४ वृषभेण । १५ चतुर्थकालादौ । १६ मोक्षमार्गप्रकाशनम् । १७ प्रकाशितस्य प्रकाशनं प्रोक्तव्यर्थत्वम् ।

* भगवान् वृषभदेव तृतीय कालके अन्तमें उत्पन्न हुए और तृतीय कालमें ही मोक्ष पधारे हैं इसलिए आचार्य गुणभद्रने चतुर्थ कालके आदिमें होना किस दृष्टिसे लिखा है यह विचारणीय है ।

युगभार[1] वहन्नेकश्चिरं धर्मरथं पृथुम् । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्रं वर्तयति स्म यः ॥७॥
तमेकमक्षरं[2] ध्यात्वा व्यञ्जनमेकमिवाक्षरम्[3] । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि[4] तत्पुराणस्य[5] चूलिकाम्[6] ॥८॥
स्वोक्ते[7] प्रयुक्ता सर्वे नो रसा गुरुभिरेव ते । [8]स्नेहादिह[10] तदुत्सृष्टान्[11] भक्त्या [12]तानुपयुञ्ज्महे ॥९॥
रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शृङ्गारादिरसोक्तिभि । पुराणकारका[13] शुद्धबोधा शुद्धा मुमुक्षव ॥१०॥
निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभि[14]। तच्छेषे यतमानाना प्रासादस्येव[15] न श्रम ॥११॥
पुराणे प्रौढशब्दार्थे सत्पत्रफलशालिनि । वचासि पल्लवानीव कर्णे कुर्वन्तु मे बुधा ॥१२॥
अत्र [16]गुरुभिरेवास्य[17] पूर्वं निष्पादित परै[18]। परं[19] निष्पाद्यमानं [20]सच्छन्दोवदतिसुन्दरम् ॥१३॥
इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि[20] रसावहम् । यथा तथास्तु [21]निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४॥
अनन्विष्य[21] मयि प्रौढि धर्मोऽयमिति गृह्यताम् । चाटुके[22] स्वादुमिच्छन्ति न भोक्तारस्तु भोजनम् ॥१५॥

है ॥६॥ और आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत कालतक इस अवसर्पिणी युगके भारको (पक्षमें जुआरोंके बोझको) धारण करते हुए व्रतशील आदि गुणोंसे भरे हुए बडे भारी धर्म रथको चलाया था ॥७॥ ऐसे उन अद्वितीय अविनाशी भगवान् वृषभदेवको एक प्रसिद्ध ओम् अक्षरके समान ध्यान कर तथा पूर्वशास्त्रोंका विचार कर इस महापुराणकी चूलिका कहता हूं ॥८॥ हमारे गुरु जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने द्वारा कहे हुए पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिये उनकी भक्तिसे छोडे गये रसोंका ही हम आगे इस ग्रन्थमें उपयोग करेंगे ॥९॥ राग आदिको दूरसे ही छोडकर शृङ्गार आदि रसोंका निरूपण कर पुराणोंकी रचना करनेवाले शुद्ध ज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा करनेवाले होते हैं ॥१०॥ इस पुराणका समस्त सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण ही कर दिया है अब उसके बाकी बचे हुए अंशमें प्रयत्न करनेवाले हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिये जैसा कि किसी मकानके किसी बचे हुए भागको पूर्ण करनेके लिये थोडा सा परिश्रम करना पडा हो ॥११॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थमें प्रौढ है तथा उत्तम उत्तम पत्ते और फलोंसे सुशोभित हो रहा है इसमें मेरे वचन नवीन पत्तोंके समान हैं इसलिये विद्वान् लोग उन्हें अवश्य ही अपने कर्णोंपर धारण करें। भावार्थ–जिस प्रकार वृक्षके नये पत्तोंको लोग अपने कानोंपर धारण करते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग हमारे इन वचनोंको भी अपने कानोंमें धारण करें अर्थात् स्नेहसे श्रवण करें ॥१२॥ इस पुराणका पूर्व भाग गुरु अर्थात् जिनसेनाचार्य अथवा दीर्घ वर्णोंसे बना हुआ है और उत्तर भाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न शिष्य (गुणभद्र) अथवा लघु वर्णोंके द्वारा बनाया जाता है इसलिये क्या यह छन्दके समान सुन्दर नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। भावार्थ–जिस प्रकार गुरु और लघु वर्णोंसे बना हुआ छन्द अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार गुरु और शिष्यके द्वारा बना हुआ यह पुराण भी अत्यन्त सुन्दर होगा ॥१३॥ 'जिस प्रकार ईखका पूर्वार्ध भाग ही रसीला होता है उसी प्रकार इस पुराणका भी पूर्वार्ध भाग ही रसीला हो' यह विचार कर मैं इसके उत्तरभागकी रचना प्रारम्भ करता हूं ॥१४॥ मुझमें प्रौढता (योग्यता) की खोज न कर इसे केवल धर्म समझकर ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि भोजन करनेवाले प्रिय बात

अथवाऽग्रं[1] भवेदस्य विरसं नेति निश्चयः । धर्माग्रं ननु केनापि नादर्शि विरसं क्वचित् ॥१६॥
गुरूणामेव माहात्म्यं [2]यदपि स्वादु मद्वचः । तरूणां हि प्रभावेण[3] यत्फलं स्वादु जायते ॥१७॥
निर्यान्ति हृदयाद् वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः । ते[4] तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥
इदं शुश्रूषवो[5] भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तस्याभिधायकाः शब्दास्तन्न[6] निन्दाऽत्र वर्तते ॥१९॥
दोषान् गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषांस्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रम् अत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥२०॥
गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असद्दोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥२१॥
सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति । [7]तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो[8] यतः[9] ॥२२॥
यथा [10]स्वानुगमर्हन्ति सदा स्तोतुं कवीश्वराः । तथा निन्दितुमस्वानुवृत्तं कुकवयोऽपि माम् ॥२३॥
कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम् । वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥२४॥
गृहाणेहास्ति चेद्दोषं स्वं धनं न निषिध्यते । खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणान्न ममाग्रहीः ॥२५॥

कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नही करते। भावार्थ—जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष प्रिय वचनोंकी अपेक्षा न कर स्वादिष्ट भोजनका ही विचार करते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा लोग मेरी योग्यताकी अपेक्षा न कर केवल धर्मका ही विचार करें—धर्म समझकर ही इसे ग्रहण करें ॥१५॥ अथवा इस पुराणका अग्रभाग भी नीरस नही होगा यह निश्चय है क्योकि धर्मका अग्रभाग कही किसी पुरुषने नीरस नही देखा है ॥१६॥ यदि मेरे वचन स्वादिष्ट हों तो इसमें गुरुओंका ही माहात्म्य समझना चाहिये क्योकि जो फल मीठे होते है वह वृक्षोंका ही प्रभाव समझना चाहिये ॥१७॥ चूंकि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमें गुरु विद्यमान हैं इसलिये वे मेरे वचनोंमें अवश्य ही संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हे सुधार लेंगे अतः मुझे इस ग्रन्थके बनानेमें कुछ भी परिश्रम नही होगा ॥१८॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है और उसके कहनेवाले शब्द हैं इसलिये इसमें निन्दा (दोष) नही है ॥१९॥ गुणी लोग दोषोंको भी गुणरूपसे ग्रहण करते हैं और दोषी लोग गुणोंको भी दोषरूपसे ग्रहण करते हैं, इस संसारमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा ही विचित्र माहात्म्य है ॥२०॥ सज्जन पुरुष गुणी लोगोंके गुण ग्रहण कर गुणी हों यह ठीक है परन्तु दुष्ट पुरुष अविद्यमान दोषोंको ग्रहणकर दोषी हो जाते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥२१॥ इस संसारमें दुर्जन पुरुष सज्जनोंपर इच्छानुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि वे उन दुष्टोंके शत्रु स्वरूप, अनाथ गुणोंके आश्रयभूत हैं। भावार्थ—चूंकि सज्जनोंने दुर्जनोंके शत्रुभूत, अनाथ गुणोंको आश्रय दिया है इसलिये वे सज्जनोंपर यदि क्रोध करते है तो उचित ही है ॥२२॥ जिस प्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुकूल चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कवि भी अपने अनुकूल नही चलनेवाले मेरी निन्दा करनेके योग्य है। भावार्थ—उत्तम कवियोंके मार्गपर चलनेके कारण जहां वे मेरी प्रशंसा करेंगे वहां कुकवियोंके मार्गपर न चलनेके कारण वे मेरी निन्दा भी करेंगे ॥२३॥ कवि ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको अच्छी तरह जान सकता है, जिस प्रकार वंध्या स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसी प्रकार अकवि कविके परिश्रमको नही जान सकता ॥२४॥ रे दुष्ट, यदि मेरे इस ग्रन्थमें दोष हों तो उन्हें तू ग्रहण कर, क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिये तुझे रुकावट नही है, परन्तु

---

१ उत्तरार्द्धम् । २ यदपि ब०, ख०, म० । ३ प्रभावोऽसौ ब०, प०, द०, ग०, स०, म० । ४ गुरव । ५ श्रोतुमिच्छवः । ६ मत् कारणात् । ७ दुर्जनैर्हिंसितानाम् । ८ सज्जनः । आधारः । ९ यतः कारणात् । १० निजानुवर्तिनम् ।

श्रोत्रपात्राञ्जलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनम् । अजरामरतां प्राप्तुम् उपयुञ्ध्वमिदं[1] बुधाः ॥३६॥
नूनं पुण्यं पुराणाब्धेर्मध्यमध्यासितं मया । तत्सुभाषितरत्नानि सञ्चितानीति निश्चितिः ॥३७॥
सुदूरपारगम्भीरमिति नात्र भयं मम । पुरोगा गुरवः सन्ति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥३८॥
पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम्ना स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेत्ति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९॥
पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् । भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥
अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः सालङ्कृति[2]स्तयोः[3] । अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलम्बनम् ॥४१॥
आकरेष्विव रत्नानाम् ऊहानां नाशये क्षयः । विचित्रालङ्कृतोः[4] कर्तुं दौर्गत्यं किं कवेः कृतौः[5] ॥४२॥
विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुन्दरा[6] । कृतिः सालङ्कृतिर्न स्यात् कस्यायं कामसिद्धये ॥४३॥
सञ्चितस्यैनसो हन्त्री[7] नियन्त्री[8] चापनिःस्पृशः । आमन्त्रिणी[10] च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः शुभा ॥४४॥

समुद्रसे उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्नको कौस्तुभ मणिसे भी अधिक मानकर अपने हृदयमें धारण करें। ॥३५॥ पण्डितजन् कामरूपी पात्रकी अंजलि बना इस धर्मरूपी रसायनको पीकर अजर अमरपना प्राप्त करनेके लिये उद्यम करें ॥३६॥ मुझे यह निश्चय है कि मैंने अवश्य ही इस पुराणरूपी समुद्रके पवित्र मध्यभागमें अधिष्ठान किया है और उससे सुभाषित-रूपी रत्नोंका संचय किया है ॥३७॥ यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गंभीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषयका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं ॥३८॥ इस पुराणकी सिद्धि अपने महापुराण इस नामसे ही सूचित है इसलिये मैं इसे कह सकूंगा अथवा इसमें निर्वाह पा सकूंगा या नहीं इसकी मुझे कुछ भी आकुलता नहीं है ॥३९॥ जिनसेनाचार्यके अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्गका आलम्बन कर अवश्य ही संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर इस पुराणके पार होनेकी बात तो कहना ही क्या है ? भावार्थ–जिनसेनाचार्यके द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेमें जब संसाररूपी समुद्रका पार भी प्राप्त किया जा सकता है तब पुराणका पार (अन्त) प्राप्त करना क्या कठिन है ? ॥४०॥ अर्थ मनमें है, शब्द जिह्वाके अग्रभागपर हैं और उन दोनोंके अलंकार प्रसिद्ध हैं ही अतः इस पुराणकी सिद्धि (पूर्ति) होनेमें समयका विलम्ब नहीं है अर्थात् इसकी रचना शीघ्र ही पूर्ण होगी ॥४१॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोंकी कमी नहीं है उसी प्रकार जिसके मनमें तर्क अथवा पदार्थोंकी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक प्रकारके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है ? ॥४२॥ मेरी यह रचना अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारसे चरण रखनेवाली होती है उसी प्रकार यह रचना भी विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारके सुबन्त तिङन्त रूप पद रखनेवाली है, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री रसिका अर्थात् रसीली होती है उसी प्रकार यह रचना भी रसिका अर्थात् अनेक रसोंसे भरी हुई है, और जिस प्रकार सुन्दर स्त्री सालंकारा अर्थात् कटक कुण्डल आदि आभूषणोंसे सहित होती है उसी प्रकार यह रचना भी सालंकारा अर्थात् उपमा रूपक आदि अलंकारोंसे सहित है। इस प्रकार मेरी यह रचना सुन्दरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथकी सिद्धिके लिये न होगी ? भावार्थ–इसके पढ़नेसे सबके मनोरथ पूर्ण होंगे ॥४३॥ यह शुभ रचना पहलेके संचित पापोंको नष्ट

---

१ उपयुञ्जीध्वम् । २ प्रसिद्धा । ३ असङ्करादस्य जिह्वाग्रे वर्तो । ४ शब्दार्थयो । ५ –लङ्कृतेः कर्तुर्दौर्गत्य अ०, प०, स०, म० । –लङ्कृतेः कर्तुं दौर्गत्य इ०, स० । ६ कृतेः अ०, प०, स०, म०, इ०, स० । ७ –सुन्दरी म०, म० । ८ विनाशिनी । ९ प्रतिपेदुषी । १० आमन्त्रणी स० ।

सत्कृतानां[१] हिते[२] प्रीतिः प्राकृतानां[३] प्रियं[४] प्रियम्[५] । एतद्धितं[६] प्रियं चातः सर्वान् सन्तोषयत्यलम् ॥४५॥
इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगान्तरम् । इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुवे[७] प्रस्तुतां कथाम् ॥४६॥

इति पीठिका ।

अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरो[८] सुचरितामृतम् । आसिस्वादयिषुः[९] शेषं[१०] हस्तालग्नमिवोत्सुकः ॥४७॥
समुत्थाय सभामध्ये प्राञ्जलिः प्रणतो मनाक्[११] । पुनर्विज्ञापयामास गौतमं गणनायकम् ॥४८॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यक्पुराणं परमं गुरो । निवृत्तोऽसौ यथास्यान्ते तथाहं चातिनिर्वृतः[१२] ॥४९॥
किल तस्मिन् जयो नाम तीर्थभूत् पार्थिवाग्रणीः । [१३]यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ ॥५०॥
यस्य दिग्विजये मेघकुमारविजये स्वयम् । वीरपट्टं समुद्धृत्य बबन्ध भरतेश्वरः ॥५१॥
पुरस्तीर्थंकृता पूर्वंश्चक्रिणा भरतेश्वरः । दानतीर्थकृता श्रेयान् किलासौ[१४] च स्वयंवरे ॥५२॥
अर्ककीर्तिं पुरो पौत्र[१५] सङ्गरे कृतसङ्गरः[१६] । जित्वा निगलयामास[१७] किलैकाकी सहेलया ॥५३॥
सेनान्तो वृषभः कुम्भो रथान्तो दृढसञ्ज्ञकः । धनुरन्तः शतो देवशर्मा भावान्तदेवभाक् ॥५४॥
नन्दनः सोमदत्ताह्वः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेववाक् ॥५५॥
अग्निगुप्तोऽग्र मित्राग्निर्हलभृत् समहीधरः । महेन्द्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुन्धरः ॥५६॥

करनेवाली है, आनेवाले पापोको रोकनेवाली है और पुण्योको बुलानेवाली है इसलिये इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ उत्तम मनुष्योकी हितमें प्रीति होती है और साधारण मनुष्योको जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है ॥४५॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगान्तर तक स्थिर रहेगा इस प्रकार जिसे उत्साह प्रकट हुआ है ऐसा मैं अब प्रकृत कथाको प्रारम्भ करता हूँ ॥४६॥ (इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ।)

अचलो मेरुसंज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रान्तसर्वादिनामकौ[1] ॥५७॥
सर्वगुप्तः प्रियप्रान्तसर्वो देवान्तसर्ववाक् । सर्वादिविजयो गुप्तो विजयादिस्ततः परः ॥५८॥
विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसंज्ञकः । वसुमित्रः सविश्वादिसेनः सेनान्तसाधुवाक् ॥५९॥
देवान्तसत्यः सत्यान्तदेवो गुप्तान्तसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः सम्मितो निर्मलो गुणैः ॥६०॥
विनीतः सम्वरो गुप्तो मुन्यादिर्मुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिर्देवप्रान्तो यज्ञान्तगुप्तवाक् ॥६१॥
मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च देवदत्तान्तगौ[2] भगौ । भगादिफल्गुः फल्ग्वन्तगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥६२॥
प्रजापतिः सर्वसन्धो[3] वरुणो धनपालकः । मघवान् राश्यन्ततेजो महावीरो महारथः ॥६३॥
विशालाक्षो महाबालः शुचिशालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चन्द्रचूलसमाह्वयः ॥६४॥
जयो महारसः कच्छमहाकच्छावनुच्छ्रितौ । नमिविनमिरन्यौ च बलातिबलसंज्ञकौ ॥६५॥
बलान्तभद्रो नन्दी च महाभागी परस्ततः । मित्रान्तनन्दी देवान्तकामोऽनुपमसंज्ञकः ॥६६॥
चतुर्भिरधिकाशीतिरिति स्युर्गणाधिपाः । एते सप्तर्द्धिसंयुक्ताः सर्वे सर्वज्ञानुवादिनः[4] ॥६७॥
स एवासीद् गृहत्यागाद् एतेष्वभ्युदितोदितः । एकसप्ततितमस्थानसम्प्राप्तगणनो[5] गणी[6] ॥६८॥
पुराणं तस्य[7] मे ब्रूहि महत्तत्रास्ति कौतुकम् । भव्यचातकवृन्दस्य प्रघनो[8] भगवानिति ॥६९॥
ततः स्वस्य समालक्ष्य[9] गणाधीशादनुग्रहम् । अलञ्चकार स्वस्थानम् इङ्गितज्ञा हि धीमतः ॥७०॥
यद्यदिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्ट त्वयैव तत् । येनो जिह्वस्त्वमस्मास्वमित्यस्तावीत्[10] सभा च तम् ॥७१॥

प्रसिद्ध महीधर १७, महेन्द्र १८, वसुदेव १९, उसके अनन्तर वसुंधर २०, अचल २१, मेरु २२, तदनन्तर मेरुधन २३, मेरुभूति २४, सर्वयश २५, सर्वयज्ञ २६, सर्वगुप्त २७, सर्वप्रिय २८, सर्वदेव २९, सर्वविजय ३०, विजयगुप्त ३१, फिर विजयमित्र ३२, विजयिल ३३, अपराजित ३४, वसुमित्र ३५, प्रसिद्ध विश्वसेन ३६, साधुसेन ३७, सत्यदेव ३८, देवसत्य ३९, सत्यगुप्त ४०, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ सत्यमित्र ४१, गुणोंसे युक्त निर्मल ४२, विनीत ४३, संवर ४४, मुनिगुप्त ४५, मुनिदत्त ४६, मुनियज्ञ ४७, मुनिदेव ४८, गुप्तयज्ञ ४९, मित्रयज्ञ ५०, स्वयम्भू ५१, भगदेव ५२, भगदत्त ५३, भगफल्गु ५४, गुप्तफल्गु ५५, मित्रफल्गु ५६, प्रजापति ५७, सर्वसंघ ५८, वरुण ५९, धनपालक ६०, मघवान् ६१, तेजोराशि ६२, महावीर ६३, महारथ ६४, विशालाक्ष ६५, महाबाल ६६, शुचिशाल ६७, फिर वज्र ६८, वज्रसार ६९, चन्द्रचूल ७०, जय ७१, महारस ७२, अतिशय श्रेष्ठ कच्छ ७३, महाकच्छ ७४, नमि ७५, विनमि ७६, बल ७७, अतिबल ७८, भद्रबल ७९, नन्दी ८०, फिर महाभागी ८१, नन्दिमित्र ८२, कामदेव ८३ और अनुपम ८४। इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके ये ८४ गणधर थे, ये सभी सातो ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे। इन चौरासी गणधरोंमें जो घरका त्याग कर अत्यन्त प्रभावशाली, गुणवान् और इकहत्तरवीं संख्याको प्राप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरवाँ गणधर हुआ था, उन्हीं जयकुमारका पुराण मुझे कहिये क्योंकि उसमें बहुत भारी कौतुक है। आप भव्यजीवरूपी चातक पक्षियोंके समूहके लिये उत्तम मेघके समान हैं ॥४८–६९॥

तदनन्तर गणधरदेवसे अपना अनुग्रह जानकर राजा श्रेणिक अपने स्थानको अलंकृत करने लगा अर्थात् अपने स्थानपर जा बैठा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष सबके अभिप्रायको जाननेवाले होते हैं ॥७०॥ 'हे शिष्ट' जिसे हमलोग पूछना चाहते थे वही तूने पूछा है इसलिये

---

१ सर्वयशाः सर्वयज्ञा । २ देवदत्तभगदत्तौ । ३ सर्वसङ्घः । ४ सर्वज्ञानुवादिनः । प्रतिरूपा इत्यर्थः । ५ एतेषु चतुरशीतिगणधरदेवेष्वेकसप्ततितमसंख्या प्राप्तगणना । ६ गुणी अ०, स० । ७ जयस्य । ८ प्रकृष्टमेघ इति विज्ञापयामास । ९ भावमर्थं । १० स्तुतिमकरोत् ।

गणो तेनेति सम्पृष्ट प्रवृत्तस्तदनुग्रहे। नार्थिनो विमुखान् सन्त कुर्वन्ते तद्धि तद्व्रतम् ॥७२॥
शृणु श्रेणिक सप्रश्नस्त्वयात्रावसरे कृत । नाराधयन्ति[१] कान्वाते[२] सन्तोऽवसरवेदिन ॥७३॥

कथोमुखम्

इह जम्बूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान्। वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजाङगल ॥७४॥
धर्मार्थकाममोक्षाणाम एको लोकेऽप्यमाकर । भाति स्वर्ग इव स्वर्गे विमान [३]वाऽमरेशितु ॥७५॥
हास्तिनाख्य पुर तत्र विचित्र सर्वसम्पदा। सम्भव[४] मुपयद्वार्द्धी[५] लक्ष्म्या[६] कुलगृहायितम् ॥७६॥
पति पतिर्वा ताराणाम् अस्य सोमप्रभोऽभवत्। कुर्वन् [७]कुवलयाह्लाद सत्करै स्वैर्बुधाश्रय[८] ॥७७॥
तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य[९] वक्ष स्थलनिवासिनी। लक्ष्मीरिय द्वितीयेति प्रेक्ष्या[१०] लक्ष्मीवती सती[११] ॥७८॥
तयोर्जयोऽभवत् सूनु प्रज्ञाविक्रमयोरिव। तन्वन्नाजन्मन[१२] कीर्ति लक्ष्मीमिव गुणार्जिताम् ॥७९॥
सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादय । गुणैर्मनून् व्यतिक्रान्ता सख्यया [१३]सदृशोऽपि ते ॥८०॥
प्रवृद्धनिजचेतोभिस्तै पञ्चदशभिर्भृशम्। कान्तै कलाविशेषैर्वा[१४] राजराजो रराज स ॥८१॥

तू ही हमारा मन है और तू ही मेरी जीभ है' इस प्रकार समस्त सभाने उसकी प्रशसा की थी ॥७१॥ राजा श्रेणिकके द्वारा इस प्रकार पूछे गये गौतम गणधर उसका अनुग्रह करनेके लिये तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योकि सज्जन पुरुष याचकोको विमुख नही करते, निश्चयसे यही उनका व्रत है ॥७२॥ गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने यह प्रश्न अच्छे अवसरपर किया है अथवा यह ठीक है कि अवसरको जाननेवाले सत्पुरुष अन्तमे किसको वश नही कर लेते ॥७३॥

राजा राजप्रभो[1] लक्ष्मीवती देवी प्रियानुज । श्रेयान् ज्यायान् जय पुत्रस्तद्राज्यं पूज्यते न कैः ॥८२॥
स पुत्रविटपाटोप[2] सोमकल्पाङ्घ्रिपश्चिरम् । भोग्य सम्भृतपुण्यानां स्वस्य चाभूत्तदद्भुतम् ॥८३॥
अथान्यदा जगत्कायभोगवस्तून् विदुप्रभ[3] । अनित्याशुचिदुःखान्यान्मत्वा याथात्म्यवीक्षण[4] ॥८४॥
विरज्य राज्य सयोज्य धुर्ये शौर्याजिते जये । अजय्यौदार्यवीर्यादिप्राप्यराज्यसमुत्सुक[5] ॥८५॥
अभ्येत्य वृषभान्यार्श्वं दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् । श्रेयसा[10] सह नार्पत्यम्[11] अनुजेन यथा पुरा[12] ॥८६॥
पितु पदमधिष्ठाय[13] जयोऽप्यापि[14] महीं महान् । महतोऽन्वभवन् भोगान् सविभज्यानुजं समन्[15] ॥८७॥
एकदाऽय विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागत । तत्रासीन समालोक्य शीलगुप्त[16] महामुनिम् ॥८८॥
त्रि परीत्य नमस्कृत्य नुत्वा भक्तिभरान्वित । श्रुत्वा धर्मं समापृच्छ्य प्रीत्या प्रत्यविशत् पुरीम् ॥८९॥
तस्मिन् वने वसन्नागमिथुन सह सूनुना । श्रुत्वा धर्मं सुधा मत्वा पपौ प्रीत्या दयारसम् ॥९०॥
कदाचित् प्रावृडारम्भे प्रचण्डाशनिताडित । मृत्वाऽसौ शान्तिमादाय नागो नागामरोऽभवत् ॥९१॥

प्रकार अपने तेजको बढानेवाले, अतिशय सुन्दर और विशेष कलाओंको धारण करनेवाले उन पन्द्रह पुत्रोंमें राजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित हो रहे थे ॥८१॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ था, लक्ष्मीमती रानी थी, प्रिय छोटा भाई श्रेयास था और बडा राजपुत्र जयकुमार था भला वह राज्य किसके द्वारा पूज्य नहीं होता ? ॥८२॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओंका विस्तार है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष, पुण्य सचय करनेवाले अन्य पुरुषोंके तथा स्वय अपने आपको भोग्य था यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ–पुत्रों द्वारा वह स्वय सुखी था तथा अन्य सब लोग भी उनसे सुख पाते थे ॥८३॥

अथानन्तर किसी समय, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले राजा सोमप्रभ ससार, शरीर, भोग और सादियोको क्रमस अनित्य, अपवित्र, दु खस्वरूप और अपनेसे भिन्न मानकर विरक्त हुए तथा कभी नष्ट न होनेवाले अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे श्रेष्ठ मोक्षरूपी राज्यके पाने में उत्सुक हो, शूरवीर तथा धुरधर जयकुमारको राज्य सौंपकर भगवान् वृषभदेवके समीप गये और वहाँ अपने छोटे भाई श्रेयासके साथ दीक्षा लेकर मोक्षसुखका अनुभव करने लगे । जिस प्रकार वे पहिले यहाँ अपने छोटे भाईके साथ राज्यसुखका उपभोग करते थे उसी प्रकार मोक्षमें भी अपने छोटे भाईके साथ वहाँका सुख उपभोग करने लगे । भावार्थ–दोनो भाई मोक्षको प्राप्त हुए ॥८४–८६॥ इधर श्रेष्ठ जयकुमार पिताके पदपर आसीन होकर पृथिवी का पालन करने लगा । और अपने बडे भारी भोगोपभोगोंको बाँटकर छोटे भाइयोंके साथ साथ उनका अनुभव करने लगा ॥८७॥ एक दिन वह जयकुमार क्रीडा करनेके लिये नगरसे बाहर किसी उद्यानमें गया उसने वहाँ विराजमान शीलगुप्त नामके महामुनिके दर्शन कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, बडी भारी भक्तिके साथ साथ नमस्कार किया, स्तुति की, प्रीतिपूर्वक धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर नगरको वापिस लौटा ॥८८–८९॥ उसी वनमें साँपों का एक जोडा रहता था उसने भी राजाके साथ साथ धर्म श्रवणकर उसे अमृत मान बडे प्रेमसे दयारूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी समय वर्षाऋतुके प्रारम्भमें प्रचण्ड वज्रके पडनेसे उस जोडेमेंका वह सर्प शान्तिभावसे मर गया जिससे नागकुमार जातिका देव हुआ

अन्येद्युरिभमारुह्य पुनस्तद्वनमापतत्[1] । नागीं[2] श्रुतवतीं[3] धर्मं राजाऽत्रैव सहात्मना ॥९२॥
वीक्ष्य काकोदरेणामा[4] जातकोपो विजातिना । लीलानीलोत्पलेनाहत्[5] दम्पती तौ धिगित्यसौ ॥९३॥
पलायमानौ पाषाणैः काष्ठैर्लोष्ठैः पदातयः । अघ्नन्[6] सर्वे न को वाऽत्र दुश्चरित्राय कुप्यति[7] ॥९४॥
पापः स तद्व्रणैर्मृत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गङ्गायां कालीति जलदेवता ॥९५॥
सञ्जातानुशया साऽपि धृत्वा धर्मं हृदि स्थिरम् । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य[8] राज्ञा [9]स्वमृतिमब्रवीत् ॥९६॥
नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेवममन्यत । दर्पात्तेन[10] खलेनैषा वराकी[11] हा हता वृथा ॥९७॥
विधवेति विवेदाधीर्नेदृक्ष मामिव धवम्[12] । [13]न तत्प्राणान् हरे यावद् भुजङ्गः केन वाऽस्म्यहम् ॥९८॥
इत्यतोऽसौ दि[14]दङ्क्षुस्तं जयं तद्गृहमासदत् । न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम् ॥९९॥
[15]वासगेहे जयो राज्ञीं श्रीमत्या[16] कौतुकं प्रिये । शृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत् तद्भुजङ्गीविचेष्टितम् ॥१००॥
[17]आभिजात्यं वयो रूपं विद्यां वृत्तं यशः श्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिमैहिकं पारलौकिकम् ॥१०१॥
प्रीतिमप्रीतिमादेयम् अनादेयम् कृपां त्रपाम् । हानिं वृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न योषितः ॥१०२॥
धर्मः कामश्च [18]सञ्चेयो वित्तेनायं तु सत्पथः । क्षीणन्त्ययं स्त्रियस्ताभ्यां[19] धिक् तासां मूढगृध्नुताम्[20] १०३

॥९१॥ किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर सवार होकर फिर उसी वनमें गया और वहाँ अपने साथ साथ मुनिराजसे धर्म श्रवण करनेवाली सर्पिणीको काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पके साथ देखकर बहुत ही कुपित हुआ तथा उन दोनों सर्प सर्पिणीको धिक्कार देकर क्रीडाके नील कमलसे उन दोनोंका ताडन किया ॥९२–९३॥ वे दोनों वहाँसे भागे किन्तु पैदल चलनेवाले सेनाके सभी लोग भागते हुए उन दोनोंको लकड़ी तथा ढेलोंसे मारने लगे सो उचित ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी पुरुषोंपर कौन क्रोध नहीं करता है ? ॥९४॥ उन घावोंके द्वारा दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगा नदीमें काली नामका जलदेवता हुआ ॥९५॥ जिसे भारी पश्चात्ताप हो रहा है ऐसी वह सर्पिणी हृदयमें निश्चल धर्मको धारणकर मरी और मरकर अपने पहलेके पति नागकुमारदेवकी स्त्री हुई । वहाँ जाकर उसने उसे राजाके द्वारा अपने मरणकी सूचना दी ॥९६॥ वह नागकुमार देव भी उसे देखकर क्रोधसे ऐसा मानने लगा कि इस दुष्ट राजाने अहंकारसे इस बेचारी सर्पिणीको व्यर्थ ही मार दिया ॥९७॥ उस मूर्खने इसे विधवा जाना, यह न जाना कि इसका मेरा जैसा पति है इसलिये मैं जबतक उसका प्राण हरण न करूं तबतक सर्प (नागकुमार) कैसे कहला सकता हूँ ? ऐसा सोचता हुआ वह नागकुमार जयकुमारको काटनेकी इच्छासे शीघ्र ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च भी स्त्रियोंका पराभव सहन नहीं कर सकते हैं ॥९८–९९॥ जयकुमार रात्रिके समय शयनागारमें अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये, आज मैंने एक कौतुक देखा है उसे सुन, ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टाएं कहीं ॥१००॥ इसी प्रकरणमें वह कहने लगा कि देखो स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, यह लोक-परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करने योग्य, ग्रहण न करने योग्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोषको कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥१०१–१०२॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिये यह तो

1 आगच्छत् । 2 सर्पिणीम् । 3 आकर्णितवतीम् । 4 अन्यजातिसर्पेण सह कामक्रीडां कुर्वतीम् । 5 ताडयति स्म । 6 घ्नन्ति स्म । 7 कोपं करोति । 8 निजभर्तुः नागामरस्य । 9 नृपेण आत्मनिजमरणम् । 10 जयेन । 11 अनाथा । 12 पतिम् । 13 तत्प्राणान् हरे ल०, म०, अ० । 14 दंष्टुमिच्छुः । 15 शय्यागृहे । 'उषन्ति शयनस्थानं वासागारं विशारदाः' इति हलायुधः । 16 निजप्रियायाः । 17 कुलजत्वम् । 18 संचेतुं योग्यः । 19 धर्मकामाभ्याम् । 20 समृद्धाभिलाषिताम् ।

वृश्चिकस्य विषं पश्चात् पन्नगस्य विषं पुरः । योषितां दूषितेच्छानां[1] विश्वतो विषमं विषम् ॥१०४॥
सत्याभासैरलं तैः स्त्रीणां वञ्चिता ये न धीधनाः । [2]कुश्रुतीनामिवैताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवल्लभाः ॥ १०५॥
तासां किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयङ्करः । हन्त्यधीकान् [3]प्रविश्यान्तः आपगाधर्मिता यथा ॥१०६॥
[4]नागरैरिन्द्रजालेन[5] वञ्च्यन्ते ग्राम्या[6] हि मायया ॥ तास्तु [7]सेन्द्रोऽपि [8]गुरुर्वञ्च्यस्ते [9]मायामातरः स्त्रिय
ता श्रयन्ते गुणा नैव नाशभीत्या यदि श्रिताः । तिष्ठन्ति न चिरं प्रान्ते नश्यन्त्येव च ते स्थिताः ॥१०८॥
दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥१०९॥
निर्गुणान् गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् । [10]नाशक्नुत् परमात्मापि मन्यन्ते ता[11] हि हेलया ॥
मोक्षो गुणमयो नित्यो [12]दोषमय्यः स्त्रियश्चलाः । तासां नेच्छन्ति निर्वाणम् अत एवाप्तसूक्तिषु ॥१११॥
लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिर्मुक्तिस्त्वमिति विश्रुताः । दुर्लभास्तासु कल्पेषु कल्पवल्ल्य इव प्रिये ॥११२॥
इत्येतस्याह तच्छ्रुत्वा तं [13]जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिन्तितं पापं मया पापापलापिना[14] ॥११३॥

समीचीन मार्ग है परन्तु स्त्रियाँ धर्म और कामसे धन खरीदती हैं अतः उनकी इस बढ़ी हुई लोलुपताको धिक्कार हो ॥१०३॥ विष बिच्छूके पीछे (पूंछपर) और साँपके आगे (मुँहमें) रहता है परन्तु जिनकी इच्छाएँ दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके सभी ओर विषम विष भरा रहता है ॥१०४॥ खोटी श्रुतियोंके समान इन स्त्रियोंके सत्याभास (ऊपरसे सत्य दिखनेवाले परन्तु वास्तवमें झूठे) वचनोंसे जो बुद्धिमान् नहीं ठगे जाते हैं—उनसे बचे रहते हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार कुशास्त्रोंसे न ठगाये जाकर उनसे सदा बचे रहने वाले पुरुष मुक्त होते हैं उसी प्रकार इन स्त्रियोंके हावभाव आदिसे न ठगाये जाकर उनसे बचे रहनेवाले—दूर रहनेवाले पुरुष ही मुक्त होते हैं ॥१०५॥ जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या कहना है। जिस प्रकार गहरी नदियोंकी निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर प्रविष्ट कर मार देती है उसी प्रकार स्त्रियोंकी प्रसन्नता भी मूर्ख पुरुषोंको अपने अधीन कर नष्ट कर देती है ॥१०६॥ इन्द्रजाल करनेवाले अपने इन्द्रजाल अथवा मायासे सर्व ग्रामीण पुरुषोंको ही ठगा करते हैं परन्तु स्त्रियाँ इन्द्र सहित बृहस्पतिको भी ठग लेती हैं इसलिये स्त्रियाँ माया-चारकी माताएँ कही जाती हैं ॥१०७॥ प्रथम तो गुण स्त्रियोंका आश्रय लेते ही नहीं हैं यदि कदाचित् आश्रयके अभावमें अपना नाश होनेके भयसे आश्रय लेते भी हैं तो अधिक समय तक नहीं ठहरते और कदाचित् कुछ समयके लिये ठहर भी जाते हैं तो अन्तमें अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥१०८॥ दोषोंका तो पूछना ही क्या है ? ये तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा दोषोंसे स्त्रियोंकी उत्पत्ति होती है इस बातका निश्चय इस संसारमें किसीको भी नहीं हुआ है ॥१०९॥ निर्गुणोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिये परमात्मा भी समर्थ नहीं है परन्तु स्त्रियाँ ऐसा अनायास ही मान लेती हैं ॥११०॥ मोक्ष गुणस्वरूप और नित्य है परन्तु स्त्रियाँ दोषस्वरूप और चंचल हैं मानो इसीलिये अरहन्तदेवके शास्त्रोंमें उनका मोक्ष होना नहीं माना गया है ॥१११॥ हे प्रिये, जिस प्रकार कल्पोंमें कल्पलता दुर्लभ है उसी प्रकार स्त्रियोंमें लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति, मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥११२॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा, उसे सुनकर उसको

1 दुष्टवाञ्छानाम् । 2 दुष्ट[illegible] । 3 प्रवेश कारयित्वा । 4 वञ्चनं । 5 इन्द्रजाल गम्भीरतया मध्यगति गम्भीर । 6 पर्यायाः[illegible]बृहस्पतिना । 7 स्वामि । 8 इन्द्रजालादिवञ्चनं[illegible] सहित । 9 अतिकुशला वञ्चयन्ति । 10 न शक्नुत् । 11 नारकन् । 12 स्थिर । 13 दोष-मय-म०, स० । 14 हन्तुमिच्छु । 15 पापिष्ठाया निह्नवम् । [illegible] निह्नव इत्यभिधानात् ।

वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरीं पुरीम् । [1]अमानैस्तद्विमानानि स्वसौधैरिव सा[2]ऽहसीत्[3] ॥१२४॥
प्राक् समुच्चितदुष्कर्मा न [4]तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यात् किं पापी मनस्यपि ॥१२५॥
एवं भवत्रयस्यैव सूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव[5] सा[6]ऽन्यस्थान[7]प्यवीवृतत्[8] ॥१२६॥
नाम्नैव कम्पितारातिस्तस्याः पतिरकम्पनः । विनीत[9] इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसम्पदः[10] ॥१२७॥
पुरोपार्जितपुण्यस्य वर्द्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः[11] किन्तु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥१२८॥
न हर्ता केवलं दाता न हन्ता पाति केवलम् । सर्वास्त[12]त्पालयामास स[13] धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥
पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सा तस्य कुलवृद्धता ॥१३०॥
तस्यासीत्सुप्रभादेवी शीतांशोर्वा प्रभा तया । मुमुदे कुमुदाबोधं विदधत् ■ कलाश्रयः ॥१३१॥
न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै सती सा सुप्रजा[14] यथा । सत्फला इव सद्वल्यः पुत्रवत्यस्त्रियः प्रियाः ॥१३२॥

निःसन्देह स्वर्ग और मोक्षको जीतनेवाला था ॥१२३॥ उस काशीदेशमें एक वाराणसी (बनारस) नामकी नगरी थी जो कि अपने अपरिमित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसके विमानोंकी हँसी करती हुई सी जान पड़ती थी ॥१२४॥ जिसने पूर्वजन्ममें पापकर्मोंका सञ्चय किया है ऐसा जीव उस वाराणसी नगरीमें उत्पन्न होने योग्य नहीं था। तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता था ? अर्थात् नहीं ॥१२५॥

इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी तीनों भवोंके कल्याणको सूचित करनेवाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्म-मार्गमें प्रवृत्त कराती थी ॥१२६॥ जिस प्रकार विनयी मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसी प्रकार अपने नामसे ही शत्रुओंको कम्पित कर देनेवाला राजा अकम्पन उस नगरीका स्वामी था। जिस प्रकार विद्या अपने अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह नगरी भी अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली थी ॥१२७॥ पूर्व जन्ममें पुण्य उपार्जन करनेवाले उस राजाकी नीति केवल लक्ष्मीके बढ़ाने और उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किन्तु धर्म और कामके विषयमें भी उसका उपयोग होता था ॥१२८॥ वह राजा केवल प्रजासे कर वसूल ही नहीं करता था किन्तु उसे कुछ देता भी था और केवल दण्ड ही नहीं देता था किन्तु रक्षा भी करता था इस प्रकार धर्म द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥१२९॥ राजा अकम्पनके कुलका बड़प्पन यही था कि भरतमहाराज परमात्मपदमें जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवको पूज्य मानते थे उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें उसे पूज्य मानते थे ॥१३०॥ उसके सुप्रभा नामकी देवी थी जोकि चन्द्रमाकी प्रभाके समान थी। जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओंका आश्रय हो अपनी प्रभासे कुमुदावोध अर्थात् कुमुदिनियों का विकास करता हुआ प्रसन्न (निर्मल) रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अनेक ■लाओं-विद्याओंका आश्रय हो अपनी सुप्रभा देवीसे कुमुदावोध अर्थात् पृथिवीके समस्त जीवोंके आनन्द का विकास करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥१३१॥ उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली वह पति-व्रता सुप्रभादेवी जिस प्रकार राजाको आनन्दित करती थी उस प्रकार लक्ष्मी भी उसे आनन्दित नहीं कर सकी थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अच्छे फल देनेवाली उत्तम लताएँ प्रिय

१ प्रमाणानीतैः । २ पुरी । ३ हसति स्म । ४ तत्र्याम् । ५ दिव्यभाषेव । ६ नगरी । ७ देशान्तरस्थान् । ८ वर्तयति स्म । ९ विनेयपरः । १० निजाभीष्टार्थसम्पद् यस्याः सा तस्याः । ११ नयनं करणम् । १२ तत् कारणात् । १३ अकम्पनः । १४ शोभना प्रजा अपत्यानि यस्याः सा सुप्रजा । सत्पुत्रवतीत्यर्थः ।

तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्यैवांशवो रवेः । प्राच्यां [1]दीप्त्याप्तदिक्चक्राः सहस्रमभवन् सुताः ॥१३३॥
हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्याह्वयैः स तैः । वेष्टितः[2] स व्यदीपिष्ट शक्रः सामानिकैरिव ॥१३४॥
हिमवत्पद्मयोर्गङ्गासिन्धू इव ततस्तयोः[3] । सुते सुलोचनालक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥१३५॥
सुलोचनाऽसौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ट चन्द्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥१३६॥
सुमित्राख्याऽमला शुक्लनिशेवावर्द्धयत् कलाः । धात्री शशाङ्करेखायास्तस्याः सातिमनोहराः ॥१३७॥
अभूद् रागी स्वयं [4]रागस्त[5]त्क्रमाब्जसमाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात् स्वोचितस्थानसंश्रयः ॥१३८॥
नखेन्दुचन्द्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादय[6]च्चित्रम् अनुकू[7]ल्या क्रमाब्जयोः ॥१३९॥
रेजुरङ्गुलयस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयन्त इति मद्वेगाः[8] स्मरेणेव निवेशिताः ॥१४०॥
नताशेषो जयः [9]स्नेहाद् प्रमसीत्[10] सततं तयोः । या श्रीः क्रमाब्जयोस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥१४१॥

होती है उसी प्रकार उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ भी प्रिय होती हैं ॥१३२॥ जिस प्रकार पूर्व दिशासे अपनी कान्तिके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उस सुप्रभादेवीसे नाथवंशके अग्रगण्य राजा अकम्पनके अपनी दीप्ति अथवा तेजके द्वारा दिशाओंको वश करनेवाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥१३३॥ हेमाङ्गद, सुकेतुश्री और सुकान्त आदि उन पुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥१३४॥ जिस प्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म नामकी सरसीसे गङ्गा और सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके सुलोचना तथा लक्ष्मीमती ये उत्तम लक्षणोंवाली कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं ॥१३५॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली थी और अपने कलारूपी गुणोंके द्वारा चाँदनीके समान वृद्धिको प्राप्त होती हुई सुशोभित हो रही थी ॥१३६॥ जिस प्रकार शुक्ल पक्षकी रात्रि चन्द्रमाकी रेखाओंकी अत्यन्त मनोहर कलाओंको बढ़ाती है उसी प्रकार सुमित्रा नामकी धाय उस सुलोचनाकी अतिशय मनोहर कलाओंको बढ़ाती थी—उसके शरीरका लालन पालन करती थी ॥१३७॥ राग अर्थात् लालिमा उस सुलोचनाके चरण-कमलोंका आश्रय पाकर स्वयं रागी अर्थात् राग करनेवाला अथवा लाल गुणसे युक्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानका आश्रय किसके रागके लिये नहीं होता ? ॥१३८॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी दोनों चरण-कमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय अर्थात् कुमुदिनियोंको अथवा पृथ्वीमण्डलको आनन्दका निरन्तर विकसित करती रहती थी। भावार्थ—चाँदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं रहती, वह उन्हें निमीलित कर देती है परन्तु सुलोचनाके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी उसके चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी कुवलय—नीलकमल (पक्षमें महीमण्डल) को विकसित करती थी यह आश्चर्यकी बात थी ॥१३९॥ उसके दोनों पैरोंकी अंगुलियाँ नखोंकी किरणोंसे ऐसी अच्छी जान पड़ती थीं मानो मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने ही स्थापन की हों। भावार्थ—●अभिलाषा चिन्ता आदि कामके दश वेग हैं और दोनों पैरोंकी अंगुलियाँ भी दश हैं इसलिये वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामदेवने अपने वेगोंकी संख्या बतलानेके लिये ही उन्हें स्थापित किया हो ॥१४०॥ जिसे सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी जिन्हें

१ तेजसा । २ अकम्पनगृहपत्याः । ३ आत्मगुण । ४ सुलोचनाचरण । ५ शोभते स्म । ६ अनुकूलवृत्त्या । ७ मम मदनावस्था । ८ जयकुमार । ९ नमस्करोति स्म । १० समागते ।
● "अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥"—साहित्यदर्पणे ।

न स्थूले न कृशे नर्जू न वक्रे न च सङ्कटे[1] । विकटे[2] न च तज्जङ्घे शोभान्यैवानयोरसौ[3] ॥१४२॥
काञ्चीस्थानं[4] तदालोच्येवोरू[5] स्थूले सुसङ्गते । कायगर्भगृहद्वारस्तम्भयष्ट्याकृती कृते ॥१४३॥
वेदिकेव मनोजस्य शिरो वा[6] स्मरदन्तिनः । सानुर्वानङ्गशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटम् ॥१४४॥
कृत्वा कृशं भृशं मध्यं बद्धं भङ्गभयादिव । रज्जुभिस्तिसृभिर्धात्रा[7] वलिभिर्गाढमाबभौ ॥१४५॥
नाभिकूपप्रवृत्तास्या[8] रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाड्वलमालेव[10] रोमराजिर्व्यराजत ॥१४६॥
भिन्नौ युक्तौ मृदू स्तब्धौ[11] उष्णौ सन्तापहारिणौ । स्तनौ विरुद्धधर्माणौ स्याद्वादस्थितिमूहतुः ॥१४७॥
सहवक्षोनिवासिन्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतौ यदि चेत्ताभ्यां[12] वर्ण्यते तद्भुजौ कथम् ॥१४८॥
वीरलक्ष्मीपरिष्वक्तजयदक्षिणबाहुना । सवामेन[13] परिष्वक्तः[14] तत्कण्ठस्तस्य कोपमा ॥१४९॥
निष्कृपौ[15] पेशलौ[16] श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः[17] । कान्तौ कलभदन्ताभौ जयवक्त्राब्ज[18]दर्पणौ ॥१५०॥
घटविम्बप्रवालादिनोपमेयमपीष्यते[19] । अधरस्यातिदूरत्वाद् वर्णाकाररसादिभिः ॥१५१॥

बड़े स्नेहसे नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोनों चरणकमलोंमें जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? अर्थात् नहीं ॥१४१॥ उसकी दोनों जंघाएं न स्थूल थीं, न कृश थीं, न सीधी थीं, न टेढ़ी थीं, न मिली हुई थीं और न दूर दूर ही थीं । उसकी दोनों जंघाओंकी शोभा निराली ही थी ॥१४२॥ उसके करधनी पहननेके स्थान नितम्बस्थलको देखकर ही मानो स्थूल, परस्परमें मिले हुए और कामदेवके गर्भगृह सम्बन्धी दरवाजेके खम्भोंकी लकड़ीके समान दोनों ऊरु बनाये गये थे ॥१४३॥ उसका नितम्ब प्रदेश ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेवरूपी पर्वत का शिखर ही हो ॥१४४॥ उसका मध्यभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो विधाताने उसे पहले तो अत्यन्त कृश बनाया हो और फिर टूट जानेके भयसे त्रिवलीरूपी तीन रस्सियोंसे मजबूत बांध दिया हो ॥१४५॥ नाभिरूपी कुएसे निकली हुई उसकी रोमराजि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जलमार्गसे निकली हुई हरी हरी छोटी घासकी पङ्क्ति ही हो ॥१४६॥ उसके स्तन भिन्न भिन्न होकर भी (स्थूल होनेके कारण) एक दूसरेसे मिले हुए थे, कोमल होकर भी (उन्नत होनेके कारण) कठोर थे, और उष्ण होकर भी (आह्लादजनक होनेके कारण) सन्तापको दूर करनेवाले थे, इस प्रकार विरुद्ध धर्मोंको धारण करनेवाले उसके दोनों स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण कर रहे थे ॥१४७॥ चूंकि उसकी दोनों भुजाओंने वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिङ्गन कर जयकुमारको स्वीकृत किया है इसलिये उनका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? ॥१४८॥ उसका कंठ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित जयकुमारके दायें और बायें दोनों हाथोंसे आलिङ्गनको प्राप्त हुआ था अतः उसकी उपमा क्या हो सकती है । भावार्थ—उसकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? अर्थात् किसीके साथ नहीं—वह अनुपम था ॥१४९॥ हाथीके बच्चेके दांतकी आभाको धारण करनेवाले, उसके निष्कृप, कोमल और चिकने दोनों कपोल ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो जयकुमारका मुख-कमल देखनेके लिये सुन्दर दर्पण ही हों ॥१५०॥ बटकी कोंपल, बिम्बी फल और मूंगा आदि पदार्थ, वर्ण, आकार और रस आदिमें ओठोंसे बहुत दूर हैं अर्थात् उसके ओठोंके समान न तो

१ सङ्कीर्णे । २ विरले । ३ विरलाविव । ४ कटिस्थलम् । ५ आलोच्य । ६ इव । ७ सङ्गता । ८ सुशोभनाभा । ९ जलमार्ग । १० हरितदूर्वा । 'शाड्वलं शाद्वलिनि' इत्यभिधानात् । शाद्वल- स०, म०, अ० । ११ कठिनौ । १२ [illegible] भुजाभ्याम् । १३ वामभुजसहितेन । १४ आलिङ्गितः । १५ [illegible] । १६ कोमलौ । १७ रेजतुः । १८ जयकुमारमुख । १९ अतिशयत्वात् केवल-मुपमानं न ।

[1]चिता सिता समा स्निग्धा दन्ता कान्ता प्रभान्विता। अन्त करोति तद्वक्त्र तानेव स्वयमन्यया[2] ॥१५२॥
कुत[3] कृता समुत्तुङ्गा स्वादमानास्यसौरभम्। मध्येवक्त्र किमध्यास्ते न सती यदि नासिका[4] ॥१५३॥
कर्णान्तगामिनी नेत्रे[5] वृद्धे[6] नरशरोपमे। [7]सोमवश्यस्य क क्षेप[8] पद्मोत्पलजये तयो[9] ॥१५४॥
तत्कर्णाविव कर्णेषु कृतपुण्यौ प्रियाज्ञया[10]। तत्प्रेमालापगीताना[11] पात्र[12] प्रागेव तौ यत ॥१५५॥
तदभ्रूशरासन[13] कामस्तत्कटाक्षशरावलि[14]। स्वरूपेणाजित[15] मत्वा जय मन्ये व्यजेष्ट स ॥१५६॥
तस्या लालाटिको[16] नेक कामो वीराग्रणी स्वयम्। जयोऽपि नोन्नति कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रिय ॥१५७॥
मृदवस्तनव स्निग्धा कृष्णास्तस्या सकुञ्चिता। कामिना केवल कालबालव्याला[17] शिरोरुहा ॥१५८॥
भाति तस्या पुरोभागो भूषितो नयनादिभि। सुरूप[18] इव पाश्चात्यो[19] बाभाति स्वयमेव स ॥१५९॥
ये तस्यास्तनुनिर्माण वेधसा साधनीकृता[20]। [21]अणवस्तृणवच्छेयास्त एव परमाणव[22] ॥१६०॥

इनका वर्ण है, न आकार है और न रस ही है इसलिये ही उसके ओठोको इनमेंसे किसीकी भी उपमा नही दी जा सकती थी ॥१५१॥ अवश्य ही उसके दात एक दूसरेसे मिले हुए थे-छिद्ररहित थे सफेद थे समान थे, चिकने थे, सुन्दर थे, और चमकीले थे, यदि ऐसा न होता तो सुलोचनाका मुख उन्हें भीतर ही क्यो करता ? ॥१५२॥ मुखकी सुगन्धिका स्वाद लेती हुई उसकी नाक यदि इतनी अच्छी नही होती तो वह इतनी ऊची क्यो बनाई जाती ? तथा मुखके बीचमें कैसे ठहर सकती ? ॥१५३॥ अर्जुनके बाणके समान कर्णके (राजा कर्ण अथवा कानके) समीप तक जानेवाले उसके दोनो नेत्र अत्यन्त विशाल थे, उन्होने लाल कमल और नीलकमल दोनोको जीत लिया था फिर भला सोमवश अर्थात् चन्द्रमापर कौनसा आक्षेप बाकी रह गया था अथवा सोमवश अर्थात् जयकुमारपर कौन सा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ? ॥१५४॥ उसके कान ही सब कानोमे अधिक पुण्यवान् थे क्योकि वे पहलेसे ही अपने प्रिय-जयकुमारकी आज्ञासे उनके प्रेमसभाषण और गीतोके पात्र हो गये थे ॥१५५॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि कामदेवने जयकुमारको अपने रूपसे अजेय मानकर सुलोचनाकी भौंहरूपी धनुष और उसीके कटाक्षरूपी बाणोके समूहसे ही उसे जीता था ॥१५६॥ उस सुलोचनाका सेवक अकेला कामदेव ही नही था किन्तु वीरशिरोमणि जयकुमार भी स्वय उसका सेवक था, फिर भला शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति-उच्चता अथवा उत्तमता क्यो न होती ? ॥१५७॥ कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ कुछ टेढे उसके सिरके बाल कामी पुरुषोको केवल काले सापोके बच्चोके समान जान पडते थे ॥१५८॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे विभूषित होकर सुशोभित हो रहा था और पिछला भाग किसी सुन्दर वस्तुके समान अपने आप ही सुशोभित हो रहा था ॥१५९॥ विधाताने उसका शरीर बनानेमें जिन अणुओका साधन बनाया था यथार्थमें वे ही अणु परमाणु अर्थात्

अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माहिगोचरः[1] । पूर्णः शेषोऽप्यसम्पूर्णो[2] न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥१६१॥
न पश्चान्न पुरा लक्ष्मीर्वोऽब्जे[3] पद्मे क्षणे क्षणे । वक्त्रत्यन्या गृह्णती शोभां सा[4] स्याद्वादं तदानने ॥१६२॥
चन्द्रे तीव्रकरोत्सन्ना[5] पद्मे शीतकराहता । लक्ष्मीः साऽन्यैव तद्वक्त्रे [6]जयलक्ष्मीकरग्रहात् ॥१६३॥
रात्राविन्दुर्दिवाम्भोजं क्षयीन्दुर्ग्लानिवारिजम् । पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भात्यहर्दिवम्[7] ॥१६४॥
लक्ष्मीस्त[8]स्येक्षितुस्तेन[9] वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं पद्मे तादृशं येन[10] तद्वक्त्रमुपमीयते[11] ॥१६५॥
कुमार्यां त्रिजगज्जेता जितः पुष्पशरासनः[12] । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्र[13]तोऽनया ॥१६६॥
कुमार्यैव जितः कामो वीरः पश्चाज्जयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सहश्रिया ॥१६७॥

उत्कृष्ट अणु थे और उनसे बाकी बचे हुए अणु तृणके समान तुच्छ थे ॥१६०॥ चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि पूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत वृद्ध अर्थात् बड़ा है, उसका क्षय निकट है, कलंक उसका स्पष्ट दिखलाई देता है और राहु उसे दबा देता है । यदि अपूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह स्वयं अपूर्ण है—अधूरा है । भावार्थ—उसका मुख तरुण, अविनश्वर, निष्कलंक और पूर्ण था इसलिये पूर्ण अथवा अपूर्ण कोई भी चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा दी जावे सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमें विकसित होनेके पहले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण क्षणमें विकसित होती रहती है परन्तु उसके मुखपर की लक्ष्मी एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी । भावार्थ—उसके मुखकी शोभा सदा एक सी रहकर भी क्षण क्षणमें विलक्षण शोभा धारण करती थी इसलिये कमलकी शोभासे बढ़ी अच्छी थी और इस प्रकार स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी क्योंकि जिस प्रकार स्याद्वाद द्रव्यार्थिक नयसे एकरूप रहकर भी पर्यायार्थिक नयसे नवीन नवीन रूपको प्रकट करता है उसी प्रकार उसके मुखकी लक्ष्मी भी सामान्यतया एकरूप रहकर भी प्रतिक्षण विलक्षण शोभा धारण करती हुई अनेकरूप प्रकट करती थी ॥१६२॥ चन्द्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा चन्द्रमासे नष्ट हो जाती है परन्तु उसके मुखकी शोभा जयकुमारकी लक्ष्मीका हस्त ग्रहण करनेसे विलक्षण ही हो रही थी ॥१६३॥ चन्द्रमा रातमें सुशोभित होता है और कमल दिनमें प्रफुल्लित रहता है, चन्द्रमाका क्षय हो जाता है और कमल मुरझा जाता है परन्तु उसका मुख पूर्ण ही था, विकसित ही था और रातदिन सुशोभित ही रहता था ॥१६४॥ सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसकी शोभा बढ़ जाती थी और सुलोचनाका मुख जिसे देखता था उसकी शोभा भी निश्चित रूपसे बढ़ जाती थी । कमलमें क्या ऐसा गुण है जिससे कि उसे सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ?॥१६५॥ उसने कुमारी अवस्थामें ही तीनों जगत्को जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें ऐसा दूसरा कौन वीर था जो आगे युवावस्थामें उसके द्वारा न जीता जाय ? ॥१६६॥ इसने कुमारी अवस्थामें कामदेव को जीत लिया था और तरुण अवस्थामें जयकुमारको जीता था फिर भला इसके जीतनेके लिये

१ राहुगोचरः । (विषय) । २ कलाशेषोऽपि । कलाहीन इत्यर्थः । बालचन्द्रोऽपि । ३ विकास-शीला । ४ लक्ष्मीः । ५ हता । ६ जयस्य लक्ष्मी । ७ –त्यहर्निशम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ८ धर्मस्य । ९ वक्त्रेण । १० येन धर्मेण सह । ११ तादृश धर्मं पद्मे किमस्ति ? नास्तीत्यर्थः । वीक्षितस्यापि अपिशब्दात् तद्धर्मो न दृष्टोऽस्ति । यद्यपि दृष्टस्य तस्य पद्मस्थितधर्मस्य लक्ष्मी शोभा तेन सह तद्वक्त्रेण सह ईक्षितु वीक्षमाणस्य जनस्य निश्चिता स्यात् । १२ पुष्पशरासनो जितः इत्यनेन कमपि पुरुष नेच्छति इत्यर्थः । १३ यौवने ।

मृगाङ्कस्य कलङ्कोऽयं मन्येऽहं कन्ययाऽनया। स्वकान्त्या निर्जितस्याभूद् रोगराजश्च चिन्तया[2] ॥१६८॥
सार्धं कुवलयेनेन्दुं सह लक्ष्म्या सरोरुहम्। तद्वक्त्रेण जितं व्यक्तं किमन्यन्नेह जीयते ॥१६९॥
जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः। प्राप्तुं तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति[3] ॥१७०॥
शनैर्बालेन्दुरेखेव सा [4]कलाभिरवर्द्धत। वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभिः स्पर्धिनो[5] गुणाः ॥१७१॥
इति सम्पूर्णसर्वाङ्गशोभां शुद्धान्ववायजाम्[6]। स्मरो [7]जयभयाद्धर्तां न [8]तदाप्यकरोत् करे[9] ॥१७२॥
कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा[11] मणिमयीर्बहूः। तासां[12] हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥
तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजां प्रकुर्वती। मुहुः स्तुतिभिरर्थ्याभिः[13] स्तुवती भक्तितोऽर्हतः[14] ॥१७४॥
ददती पात्रदानानि मानयन्ती[15] महामुनीन्। शृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥
आप्तागमपदार्थांश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका। अथ फाल्गुननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनाम् ॥१७६॥
विधायाष्टाह्निकीं पूजाम् अभ्यर्च्यार्चा यथाविधि। कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषां[16] दातुमुपागता ॥१७७॥
नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताञ्जलिः। तद्दत्तशेषामादाय[17] निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

लक्ष्मीके साथ साथ कितनी सी स्त्रियोंकी सृष्टि बाकी रही थी ? भावार्थ–इसने लक्ष्मी आदि उत्तम उत्तम स्त्रियोंको जीत लिया था ॥१६७॥ चन्द्रमाके बीच जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूँ कि इस कन्याने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया है इसीलिये मानो उसे चिन्ताके कारण क्षयरोग हो गया हो ॥१६८॥ उस सुलोचनाके मुखने चन्द्रमाके साथ कुवलय अर्थात् कुमुदको जीत लिया था और लक्ष्मीके साथ साथ कमलको भी जीत लिया था फिर भला इस संसारमें और रह ही क्या जाता है जो उसके मुखके द्वारा जीता न जा सके ॥१६९॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके लिये जलकमल जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोंके द्वारा आजतक तपस्या कर रहा है ॥१७०॥ वह सुलोचना द्वितीयाके चन्द्रमाकी रेखाके समान कलाओंके द्वारा धीरे धीरे बढ़ती थी और ज्यों ज्यों बढ़ती जाती थी त्यों त्यों चन्द्रमाकी कान्तिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके गुण भी बढ़ते जाते थे ॥१७१॥ इस प्रकार जो समस्त अंगोंकी शोभासे परिपूर्ण है और शुद्ध वंशमें जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे युवावस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर गया था ॥१७२॥

उस सुलोचनाने श्री जिनेन्द्रदेवकी अनेक प्रकारकी रत्नमयी बहुत सी प्रतिमाएं बनवाई थीं और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण हीके बनवाये थे। प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जानेके बाद वह उन प्रतिमाओंकी महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियोंके द्वारा श्री अर्हन्त देवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियोंका सन्मान करती थी, धर्मको सुनती थी तथा धर्मको सुनकर आप्त आगम और पदार्थोंका बार बार चिन्तवन करती हुई सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको प्राप्त करती थी। अथानन्तर–फाल्गुन महीनेकी अष्टाह्निकामें उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवकी अष्टाह्निकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओंकी पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी पूजाके शेषाक्षत देनेके लिये सिंहासनपर बैठे हुए राजा अकम्पनके

उपवासपरिश्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि[1] ते[2] । शरणं[3] पारणाकाल इति कन्यां व्यसर्जयत् ॥१७९॥
तां विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनाम् । निर्विकारां सचिन्तः सन् तस्याः[4]परिणयोत्सवे ॥१८०॥
शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन्[5] । कोष्ठादिमतिभेदान्वा[6] दिने व्याहूय मन्त्रिणः ॥१८१॥
[7]वृणते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुलजीवितम् । ब्रूत कस्मै प्रदास्यामो [8]विमृश्येमां सुलोचनाम् ॥१८२॥
[9]इत्यप्राक्षीत्तदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सद्बन्धुसम्बन्धो जामाताऽत्र महान्वयः ॥१८३॥
[10]सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राथ[11] जन्मराज्यफलं च नः । ततः सञ्चिन्त्यमेवैतत् कार्यं नयविशारदैः ॥१८४॥
बन्धवः स्युर्नृपाः सर्वे सम्बन्धश्चक्रवर्तिना । इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भवद्वंशश्च जायते ॥१८५॥
कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकम् । यद्वरेषु समन्वेष्यं[12] सर्वं तत्तत्र[13]पिण्डितम् ॥१८६॥
ततो नास्त्यत्र नश्चर्च्यं[14] दिगन्तव्याप्तकीर्तये । जितार्कमूर्तये देया कन्ये[15]त्यर्ककीर्तये ॥१८७॥
सिद्धार्थोऽप्याह तत्सर्वमस्ति[16] किन्तु पुराविदः[17] । कनीयसोऽपि[18] सम्बन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह[19] ॥
ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रभञ्जनो रथवरो बलिर्वज्रायुधाह्वयः ॥१८९॥

पास गई । राजाने भी उठकर और हाथ जोडकर उसके दिये हुए शेषाक्षत लेकर स्वयं अपने मस्तकपर रखे तथा यह कहकर कन्याको विदा किया कि हे पुत्रि, तू उपवाससे खिन्न हो रही है, अब घर जा, यह तेरे पारणाका समय है ॥१७३–१७९॥ राजा पूर्ण यौवनको प्राप्त हुई उस विकारशून्य कन्याको देखकर उसके विवाहोत्सवकी चिन्ता करने लगा ॥१८०॥ उसने किसी शुभ दिनको कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और सभिन्नश्रोतृ इन चारों बुद्धि ऋद्धियोंके समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मंत्रियोंको बुलाया ॥१८१॥ और पूछा कि हमारे कुलके प्राणस्वरूप इस कन्याके लिये सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इसलिये तुम लोग विचार कर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ? ॥१८२॥ इस प्रकार पूछनेपर शास्त्रोंका समुद्र श्रुतार्थ नामका मंत्री बोला कि इस विवाहमें सज्जन बन्धुओंका समागम होना चाहिये, जमाई बड़े कुलका होना चाहिये, इस विवाहमें बहुत सा धन खर्च होगा और हम लोगोंको अपने जन्म तथा राज्यका फल मिलेगा इसलिये नीतिनिपुण पुरुषोंको इस कार्यका अच्छी तरह विचार करना चाहिये ॥१८३–१८४॥ यदि यह सम्बन्ध चक्रवर्तीके साथ किया जाय तो सब राजा अपने बन्धु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकु वंशकी तरह पूज्य हो सकता है ॥१८५॥ कुल, रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा और पौरुष आदि जो जो गुण वरोंमें खोजना चाहिये वे सब उसमें इकट्ठे हो गये हैं । इसलिये इसमें कुछ चर्चाकी आवश्यकता नहीं है जिसकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैल रही है और जिसने अपने तेजसे सूर्यके प्रतिबिम्बको भी जीत लिया है ऐसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके लिये यह कन्या दी जाय ॥१८६-१८७॥ इसी समय सिद्धार्थ मंत्री कहने लगा कि आपका यह सब कहना ठीक है परन्तु पूर्व व्यवहारको जाननेवाले छोटे लोगोंका बड़ोंके साथ सम्बन्ध होना भी अच्छा नहीं समझते हैं ॥१८८॥ इसलिये वरके गुणोंसे सहित प्रभंजन, रथवर, बलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) और भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो एकसे एक बढ़कर वैभवशाली हैं तथा चतुर

१ गच्छ । २ तव । ३ गृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यभिधानात् । ४ विवाहे । ५ नामधेयान् । ६ कोष्ठबुद्धिबीजबुद्धिपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृभेदानिव । ७ वृण्वते स०, म०, प०, ग०, इ० । प्रार्थयन्ते । ८ विचार्य । ९ पृच्छति स्म । १० धनस्य । ११ अथ वा जन्मनः फलं राज्यस्य फलम् । १२ मृग्यम् । १३ अर्ककीर्तौ । १४ विचार्यम् । १५ इति प्राहेति सम्बन्धः । १६ -प्यनु स०, म०, प० । १७ पूर्ववेदिनः । १८ अल्पस्य । १९ महता सह । ज्यायसा स०, प० ।

मेघस्वरो भोगभुजस्तथाऽन्येऽप्युदितोदिताः[1] । कृतिनो बहवः सन्ति तेषु [2]यत्राशयोत्सवः[3] ॥१९०॥
शिष्टान् पृष्ट्वा च [4]दैवज्ञान्निरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः [5]समसम्बन्धस्तस्मै कन्येति दीयताम् ॥१९१॥
श्रुत्वा सर्वार्थवित्सर्वं सर्वार्थः प्रत्युवाच [6]तत् । [7]भूमिगोचरसम्बन्धः स नः प्रागपि विद्यते ॥१९२॥
अपूर्वलाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिद्देयमिति निश्चितम् ॥१९३॥
सुमतिस्तु निशम्यार्थं[8] [9]युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत् [10]सर्ववैरानुबन्धकृत् ॥१९४॥
किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेतसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किञ्चिद् वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः[11] ॥१९५॥
दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुतः[12] पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः ॥१९६॥
सम्प्रत्यकम्पनोपक्रमं[13] तदस्त्वायुगावधि[14] । [15]पुरुवत्पुत्रवत्सृष्टि[16]ख्यातिरस्यापि जायताम् ॥१९७॥
दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचित् कन्यका स्वयम् । वेधसा[17] विप्रियं[18] नोऽस्मा माभूद् भूभृत्सु[19] केनचित् ॥१९८॥
इत्येवमुक्तं तत्सर्वैः सम्मतं सहभूभुजा । नहि मत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः ॥१९९॥
तान्[20] सम्पूज्य विसर्ज्याभूद् [21]भूभु[22]त्तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृहं गत्वा सर्वं तत्संविधानकम्[23] ॥२००॥

हैं उनमें जिसके लिये अपना चित्त प्रसन्न हो उसके लिये शिष्ट जन तथा ज्योतिषियोंसे पूछकर और उत्तम शकुन देखकर कन्या देनी चाहिये क्योंकि बराबरीवालोंके साथ सम्बन्ध करना ही कल्याणकारी हो सकता है ॥१८९–१९१॥ यह सब सुनकर समस्त विषयोंको जाननेवाला सर्वार्थ नामका मन्त्री बोला कि भूमिगोचरियोंके साथ तो हम लोगोंका सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है, हां, विद्याधरोंके साथ सम्बन्ध करना हम लोगोंके लिये अपूर्व लाभ है तथा प्रशंसनीय भी है इसलिये विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिये ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१९२–१९३॥ तदनन्तर वहांपर एकत्रित हुए सब लोगोंका अभिप्राय जानकर योग्य बातको जाननेवाला सुमति नामका मन्त्री बोला कि यह सब कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सभी बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं ॥१९४॥ विद्याधरको कन्या दी है यह सुननेसे चक्रवर्तीके चित्तमें भी क्या भूमिगोचरियोंमें इसके योग्य कोई वर नहीं है यह सोचकर कुछ बुरा लगेगा ॥१९५॥ इस विषयमें किसीसे विरोध नहीं करनेवाला एक अच्छा उपाय मैंने सोचा है और वह यह है कि प्राचीन पुराणोंमें स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है । -यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराजके द्वारा उस विधिका प्रारम्भ किया जाय तो भगवान् वृषभदेव और उनके पुत्र सम्राट् भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी युगके अन्ततक हो जाय ॥१९६–१९७॥ इसलिये यह कन्या स्वयंवरमें जिसे स्वीकार करे ऐसे किसी पुण्यशाली राजकुमारको देनी चाहिये । ऐसा करनेसे हम लोगोंका आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेव अथवा युगव्यवस्थापक सम्राट् भरतसे कुछ विरोध नहीं होगा, और न राजाओंका भी परस्परमें किसीके साथ कुछ वैर होगा ॥१९८॥ इस प्रकार सुमति नामके मन्त्रीके द्वारा कही सब बातें राजाके साथ साथ सबने स्वीकृत की सो ठीक ही है क्योंकि नीतिमार्गपर चलनेवाले पुरुष मात्सर्य नहीं करते ॥१९९॥ तदनन्तर राजाने सन्मानकर मन्त्रियोंको विदा किया और स्वयं

१ उत्तरोत्तराभ्युदयवन्तः । २ पुंसि । ३ चित्तोत्सवोऽस्ति । ४ ज्योतिष्कान् । ५ अस्माभिः सह सम्बन्धः सम्बन्धवान् वा । ६ सम् अ०, प०, स०, इ०, स०, म० । ७ भूचर । ८ अभिप्रायम् । ९ मिलितानाम् । श्रुतार्थादीनाम् । १० सर्वं वैरा– प०, ल० । ११ विवाहवार्ताश्रवणात् । १२ पूर्वस्मिन् श्रुत । १३ अकम्पनेन प्रथमोपक्रान्तम् । १४ स्वयंवरनिर्माणम् । १५ पुरुजिनभरतराजवत् । १६ स्रष्टु ट० । स्वयंवरस्य स्रष्टा इति प्रसिद्धि । सृष्टिरिति पाठे स्वयंवरस्य सृष्टिप्रसिद्धि । १७ ब्रह्मणा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधि' इत्यभिधानात् । १८ विरुद्धम् । अप्रियमित्यर्थ । १९ नृपेषु । २० मन्त्रिण । २१ अकम्पन । २२ स्वयंवरकार्यं । २३ प्रस्तुत कृत्य ।

निवेद्य [1]सुप्रभायाश्च हृष्टो हेमाङ्गदस्य[2] च । वृद्धैः कुलक्रमायातैः आलोच्य च सनाभिभिः ॥२०१॥
अत्रैकेषां[3] निसृष्टार्थान्[4] मितार्थानपरान्[5] प्रति । परेषां [6]प्राभृतान्तःस्थपत्रान् शासनहारिणः[7] ॥२०२॥
स दानमानैः सम्पूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनम्[8] । समानेतुं महीपालान् सर्वदिक्कं[9] समादिशत् ॥२०३॥
ज्ञात्वा तदाशु तद्बन्धुर्विचित्राङ्गदसंज्ञकः[10] । सौधर्मकल्पादागत्य देवोऽवधिविलोचनः ॥२०४॥
अकम्पनमहाराजम् आलोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः[11] स्वयंवरमवेक्षितुम् ॥२०५॥
इत्युक्त्वो[12]पपुरे योग्ये रम्ये राजाभिसम्मतः । [13]ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे[14] वरवास्तुनि[15] ॥२०६॥
प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मङ्गलद्रव्यसम्भृतम् । विवाहमण्डपोपेतं प्रासादं बहुभूमिकम्[16] ॥२०७॥
चित्रप्रतो[17]लीप्राकारपरिकर्मगृहावृतम्[18] । भास्वरं मणिनर्माभ्यां[19] विधाय विधिवत् सुधीः ॥२०८॥
[20]तं परीत्य विशुद्धोरु सुविभक्तमहीतलम् । चतुरस्रं चतुर्द्वारशालगोपुरसंयुतम्[21] ॥२०९॥
रत्नतोरणसङ्कीर्णकेतुमालाविलासितम् । हट्टकूटाग्रनिर्भासि नर्मकुम्भाभिशोभितम्[22] ॥२१०॥
स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्दीप्तिधरातलम् । विचित्रनेत्रविस्तीर्णवितानाति[23]विराजितम् ॥२११॥

कार्य करनेमें जुट गया । उसने सबसे पहले घर जाकर ऊपर लिखे हुए समाचार सुप्रभादेवी और हेमांगद नामके ज्येष्ठ पुत्रको कह सुनाये तथा कुलपरम्परासे आये हुए वृद्ध पुरुषों और सगोत्री बन्धुओंके साथ पूर्वापर विचार किया ॥२००–२०१॥ कितने ही राजाओंके पास निसृष्टार्थ अर्थात् स्वयं विचारकर कार्य करनेवाले दूत भेजे, कितनों हीके पास मितार्थ अर्थात् कहे हुए परिमित समाचार सुनानेवाले दूत भेजे और कितनों हीके पास उपहारके भीतर रखे हुए पत्रको ले जानेवाले दूत भेजे । इस प्रकार दान और सन्मानके द्वारा पूजित कर तथा स्वयंवर का प्रयोजन बतलाकर राजाने भूपालोंको बुलानेके लिये सभी दिशाओंमें अपने दूत भेजे ॥२०२–२०३॥ यह सब समाचार जानकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला विचित्रांगद नामका देव जो कि पूर्वभवमें राजा अकम्पनका भाई था सौधर्म स्वर्गसे आया और अकम्पन महाराजके दर्शन कर कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिये आया हूँ ॥२०४–२०५॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप ब्रह्मस्थान से उत्तरदिशाकी ओर अत्यन्त शान्त, उत्कृष्ट, योग्य और रमणीय स्थानमें एक सर्वतोभद्र नाम का राजभवन बनाया जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मङ्गलद्रव्योंसे भरा हुआ था, विवाहमण्डपसे सहित था तथा कई खण्डका था ॥२०६–२०७॥ वह राजभवन अनेक प्रकार की गलियों, कोटों तथा शृङ्गार करनेके घरोंसे घिरा हुआ था, देदीप्यमान था और मणियों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकार उस बुद्धिमान् देवने विधिपूर्वक राजभवनकी रचना कर उसके चारों ओर स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बड़ा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग अलग विभागोंमें विभक्त था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे, जो कोट तथा गोपुरद्वारोंसे सुशोभित था, रत्नोंके तोरणोंसे मिली हुई पताकाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान हो रहा था, देदीप्यमान शिखरोंके अग्रभागपर चमकते हुए सुवर्णके कलशोंसे अलंकृत

१ सुप्रभायाश्च अ०, प० । २ निजज्येष्ठपुत्रस्य । ३ केषाञ्चिद्भूपालानाम् । ४ स्वयमेव विचारितकार्यान् । ५ परिमितकार्यार्थान् । ६ उपायन । ७ वचोहरान् । –समागत– ल० । ८ स्वयंवरकार्यम् । ९ स्वयंवर-दिशाम् । १० अकम्पनस्य मित्रम् । ११ पवित्रायाः । १२ पुरसमीपे । १३ पत्तनस्याभ्यन्तरस्थितमध्य-भागस्योत्तरे । १४ अतिगम्भीरे । १५ वरवास्तुनि । 'वेश्म भूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १६ –भूमिकम् स०, म० । १७ गोपुररथ्या वा । १८ शृङ्गारगृह । १९ 'स्वर्णं स्वर्णं हाटकं शातकुम्भम्' इत्यभिधान-पाठादस्त्य । २० सर्वतोभद्रं परिवेष्ट्य । २१ द्वार शाल– ल०, म०, अ०, प०, स०, इ० । २२ कनककलश । २३ वस्त्रविशेष ।

भोगोपभोगयोग्योरुसर्ववस्तुसमाचितम्[1] । [2]यथास्थानगताशेषरत्नकाञ्चननिर्मितम् ॥२१२॥
मुदा निष्पादयामास स्वयवरमहागृहम् । न साधयन्ति केऽभीष्ट पुसा शुभविपाकत[3] ॥२१३॥
त निरीक्ष्य क्षितेर्भर्त्ता लक्ष्मीलीलागृहायितम् । नासीत् स्वाङगे[4] स सन्तोषात् सन्मित्रात् किन्न जायते॥
अथ प्रादुरभूत काल [5]सुरभिर्मत्तमन्मथ । मुद मद च सञ्चिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥२१५॥
ववौ मन्द गजोद्घृष्टचन्दनद्रवसारभृत । एलालवङगससर्गपडगुलो[6] मलयानिल ॥२१६॥
मलयानिलमाश्लेष्टु[7] सम्बन्धिनमुपागतम् । लताद्रुमा सुशाखाना [8]प्रसारणमिवादधु[9] । २१७॥
यमसम्बन्धिर्दिशत्याग रविर्भीत इवाकरोत् । मदेन कोकिला काले कूजन्ति स्म निरङकुशम् ॥२१८॥
[10]पुष्पमार्तवमाप्ता न[11] शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वास निषिध्यन्तश्चम्पकाश्चलपल्लवै ॥२१९॥
वसन्तश्रीवियोगो[12] वा सशोकोऽशोकभूरुह । सपुष्पपल्लवो नाम सार्थं तत्सङगमाद् व्यधात् ॥२२०॥
मूलस्कन्धाग्रमध्येषु चूताद्यैरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरभिश्च[13] तदा दधे ॥२२१॥

था, जिसका धरातल बडे बडे नीलमणियोसे जडा हुआ होनेके कारण जगमगा रहा था, जो नेत्र जातिके वस्त्रोसे बने हुए बडे बडे चदोवोसे सुशोभित था, भोग उपभोगके योग्य समस्त बडी बडी वस्तुओसे भरा हुआ था और योग्य स्थानपर लगाये हुए सब प्रकारके रत्नो तथा सुवर्णसे बना हुआ था। इस प्रकारका स्वयवरका यह महाभवन उस देवने बडी प्रसन्नतासे बनाया था सो ठीक ही है क्योकि पुण्योदयसे पुरुषोके अभीष्ट अर्थको कौन कौन सिद्ध नही करते है अर्थात् सभी करते है ॥२०८–२१३॥ लक्ष्मीके लीलागृहके समान उस स्वयवर भवनको देखकर राजा अकपन सतोषसे अपने शरीरमे नही समा रहे थे सो ठीक ही है क्योकि उत्तम मित्रोसे क्या नही होता है ? अर्थात् सभी कुछ होता है ॥२१४॥

अथानन्तर–कामको उन्मत्त करनेवाले तथा कामी लोगो और भ्रमरोसें क्रमश आनन्द और मदको बढानेवाले वसन्तऋतुका प्रारम्भ हुआ ॥२१५॥ हाथियोके द्वारा घिसे हुए चन्दन वृक्षोके निष्यन्दरूपी सारको धारण करनेवाला तथा इलायची और लवगके ससर्गसे कुछ कुछ पीला हुआ मलयपर्वतका वायु धीरे धीरे बहने लगा ॥२१६॥ उस समय लताओ और वृक्षोकी जो शाखाए फैल रही थी उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानो समीप आये हुए अपने सम्बन्धी मलयानिलका आलिंगन करनेके लिये ही भुजारूप शाखाए फैला रहे हो ॥२१७॥ उस समय सूर्यने मानो डरकर ही यम सम्बन्धी–दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था अर्थात् उत्तरायण हो गया था और कोयलें मदमें निरकुश होकर मधुर शब्द कर रही थी ॥२१८॥ 'ये हमारी शाखाए आर्तव अर्थात् वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अथवा रजस्वला अवस्थामें प्रकट होनेवाले पुष्पको प्राप्त हो रही हैं–धारण कर रही हैं इसलिये इन्हें मत छुओ ' यही कहते हुए मानो चपाके वृक्ष अपने हिलते हुए पल्लवोके द्वारा भ्रमरोको वहापर निवास करनेका निषेध कर रहे थे ॥२१९॥ जो वसन्त ऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें सशोक था अर्थात् शोक धारण कर रहा था ऐसा अशोकका वृक्ष उस वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे पुष्प और पल्लवोसे सहित हो अपना अशोक नाम सार्थक कर रहा था ॥२२०॥ उस समय चमेलीने आम आदि वृक्षोके साथ ईर्ष्या

आकृष्टदिग्गजालीनि[1] बकुलानि वने वने। हानौ[2] [3]गुणाधिक्यान्यासस्तुलितानि[4] कुलोद्गतैः[5] ॥
क्रीडनासक्तकान्ताभिर्बाध्यमाना सगीतिभिः। आन्दोला स्तम्भसम्भूतं समाक्रोशन्निव[6] स्वनैः ॥२२३॥
सुन्दरेष्वपि कुन्देषु मधुपा मन्दतृप्तयः। माधवीमधुपानेन मुदा मधुरमारुवन्[7] ॥२२४॥
भवेदन्यत्र[8] कामस्य रूपवित्तादि[9]साधनम्। कालेवसाधन[10] सोऽस्मिन्ना[11]वनस्पति[12] जृम्भते[13] ॥२२५॥
नरविद्याधराधीशान् गत्वा [14]तत्कालसाधनात्। दूता स्वयंवरालापं सर्वास्तान् समबोधयन् ॥२२६॥
ततो नानानकध्वानप्रोत्कर्णीकृतदिग्द्विपाः। निजाङ्गनाननाम्भोजपरिम्लानिविधायिनः ॥२२७॥
[15]वियद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्गतमानकैः[16]। सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानदिगानना ॥२२८॥
सुलोचनाभिधाकृष्टि[17]विद्याकृष्टा समापतन्[18]। कामिना न पराकृष्टि[19]विद्यागुरुत्वेप्सितस्त्रियः ॥

होनेके कारण ही मानो जड, स्कन्ध, मध्यभाग और ऊपर—सभी जगह सुगन्धित फूल धारण किये थे ॥२२१॥ जिन्होने दिग्गजोके भ्रमरोको भी अपनी ओर खीच लिया है और जो उच्चकुलमें उत्पन्न हुए बडे पुरुषोके समान है ऐसे मौलश्रीके वृक्ष प्रत्येक वनमें अपनी हानि होनेपर भी गुणोकी अधिकता ही धारण कर रहे थे। भावार्थ—जिस प्रकार कुलीन मनुष्य हानि होनेपर भी अपना गुण नही छोडते है उसी प्रकार मौलश्रीके वृक्ष भी भ्रमरो द्वारा रसका पान किया जाना रूप हानिके होनेपर भी अपना सुगन्धिरूप गुण नही छोड रहे थे ॥२२२॥ जो गीत गा रही है तथा खेलनेमे लगी हुई है ऐसी सुन्दर स्त्रिया जो झूला झूल रही थी और उनके झूलने से जो उनके खभोसे चूँ चूँ शब्द हो रहा था उनसे वे झूले ऐसे जान पडते थे मानो उन स्त्रियोके द्वारा पीडित होकर ही चिल्ला रहे हो ॥२२३॥ जिन्हें कुन्दके सुन्दर फूलोपर अच्छी तृप्ति नही हुई है ऐसे भ्रमर माधवी (मधुकामिनी) लताका रस पीकर आनन्दसे मधुर शब्द कर रहे थे ॥२२४॥ वसन्तको छोडकर अन्य ऋतुओमें अच्छा रूप होना आदि भी कामदेवके साधन हो सकते है परन्तु इस वसन्तऋतुमें एक समय ही जिसका साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियो तक फैल जाता है। भावार्थ—अन्य ऋतुओमें सौन्दर्य आदिसे भी कामकी उद्भूति हो सकती है परन्तु वसन्तऋतुमें कामकी उद्भूतिका कारण समय ही है। उस समय सौन्दर्य आदिका अभाव होनेपर भी केवल समयकी उत्तेजनासे कामकी उद्भूति देखी जाती है और उसका क्षेत्र केवल मनुष्यो तक ही सीमित नही रहता किन्तु वनस्पतियो तकमें फैल जाता है ॥२२५॥ उस वसन्तऋतुकी सहायतासे उन दूतोने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके पास जाकर उन सबको स्वयंवरके समाचार बतलाये ॥२२६॥

तदनन्तर अनेक नगाडोके शब्दोसे दिग्गजोके कान खडे करनेवाले अपनी स्त्रियोके मुखरूपी कमलोको म्लान करनेवाले, सब दिशाओके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्यासे आकर्षित हुए अनेक विद्याधरोके अधिपति अपने अनेक विमानो से आकाशके विस्तारको कम करते हुए बहुत शीघ्र आ पहुचे सो ठीक ही है क्योकि कामी लोगो को अपनी अभीष्ट स्त्रियोको छोडकर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नही है ॥२२७–२२९॥

१ आकृष्टा दिग्गजगण्डवर्त्यलयो यैस्तानि। २ पुष्पामादयाय सति। ३ गन्धगुणाधिकानि। उपकारादिगुणाधिकानि। ४ सदृशीकृतानि। ५ विशुद्धवंशोद्भूतैः। ६ आक्रोशं चक्रिरे। ७ ध्वनन्ति स्म। ८ अयस्मिन् काले। ९ स्त्रीपुसा रूपधनभूषणादि। १० काल एव एव साधन यस्य स। ११ वसन्तकाले। १२ वनस्पतिपर्यन्तम्। १३ वर्धते। १४ वसन्तकाल। १५ आकाशविस्तृतिम्। १६ अपरिच्छिन्नप्रमाणैः। अपरिमितैरित्यर्थं। –गतमानकैः ल०, म०। १७ सुलोचनानामैव आकर्षण-विद्या तया आकृष्टा आकर्षिता। १८ आगच्छन्ति स्म। १९ आकर्षणविद्या।

अभिगम्य[1] नृपः[2] क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतः सौलोचनं[3] वैतान् प्रीतान् प्रावेशयत्पुरम् ॥२३०॥
स्वगेहादिषु सम्प्रीत्या समुद्बद्धोत्सवध्वजः । [4]आकम्पनिभिराविष्कृतादरैः परिवारितः ॥२३१॥
सांशुकर्ममिवोद्यन्तम् अर्ककीर्ति सहानुजम् । अकम्पननृपोऽभ्येत्य[5] भरतं वा[6]ऽनयत्पुरम् ॥२३२॥
स्वादरेणैव[7] संसिद्धिं भाविनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशाग्रणीर्मेघस्वरं यातेर्मुमन्ययात् ॥२३३॥
ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः । पूरा इव पयोराशिं प्रापुः [8]स्फीतीकृतश्रियः ॥२३४॥
स्वयमर्धपथं गत्वा केषाञ्चित् सर्वसम्पदा । केषाञ्चिद् गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमाङ्गदादिकान् ॥२३५॥
ये ये यथा यथा प्राप्ताः पुरोस्ता स्तांस्तथा तथा । आह्वयन्तीं पताकाभिर्वोच्छ्रिताभि रवीविशत्[9] ॥२३६॥
तदा तं राजगेहस्थं नरविद्याधराधिपैः । वृत्तं सुलोचनाऽकार्षीत् पितरं जितचक्रिणम् ॥२३७॥
वाराणसी जितायोध्या [10]स्वनाम्नस्ता[11] निराकरोत् । कन्यारत्नात् परं[12] नान्यद् इत्यगाहुः प्रभृत्यत: ॥२३८॥
तान् स्वयंवरशालायाम् अर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेद्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥२३९॥

अनेक उत्सवोंको प्रकट करनेवाले राजा अकपनने स्वयं ही वहुत शीघ्र उन राजाओंकी अगवानी की और प्रसन्न हुए उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान वाराणसी नगरीमें प्रवेश कराया ॥२३०॥ जिसने बडे प्रेमसे अपने घर आदिमें उत्सवकी ध्वजाएं बंधाई हैं और आदरको प्रकट करनेवाले हेमागद आदि पुत्र जिसके साथ हैं ऐसे राजा अकम्पनने किरणों सहित उदय होते हुए सूर्यके समान अपने छोटे भाइयो सहित आये हुए अर्ककीर्तिकी अगवानी कर उसे महाराज भरतके समान नगरमे प्रवेश कराया ॥२३१–२३२॥ इसी प्रकार अपने आदरसे ही मानो उसकी आगे होनेवाली सिद्धिको सूचित करता हुआ नाथवशका अग्रणी राजा अकपन जयकुमार को लेनेके लिये उसके सामने गया ॥२३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार तीनो (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण) समुद्रोके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढाते हुए बनारस आ पहुचे ॥२३४॥ राजा अकंपन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब विभूतिके साथ स्वय आधी दूरतक गया था और कितनो हीके सामने उसने मान्य हेमाङ्गद आदिको भेजा था ॥२३५॥ जो राजा जिस जिस प्रकारसे आ रहे थे उन्हें उसी उसी प्रकारसे उसने, अपनी फहराती हुई पताकाओसे जो मानो बुला ही रही हो ऐसी बनारस नगरीमें प्रवेश कराया था ॥२३६॥ उस समय सुलोचनाने राजमहलमें विराजमान तथा भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओसे घिरे हुए अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था। भावार्थ–महलमें इकट्ठे हुए अनेक राजाओसे राजा अकपन चक्रवर्तीके समान जान पडता था ॥२३७॥ उस समय अयोध्याको भी जीतनेवाली वाराणसी नगरी अपने नामसे ही उसका तिरस्कार कर रही थी। क्योंकि उस स्वयवरके समय से ही लेकर इस ससारमें कन्यारत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नही है, यह बात प्रसिद्ध हुई है। भावार्थ–कदाचित् कोई कहे कि चक्रवर्तीकी राजधानी होनेसे चौदह रत्न अयोध्यामे ही रहते हैं इसलिये वही उत्कृष्ट नगरी हो सकती है न कि वाराणसी भी, तो इसका उत्तर यह है कि ससारमें सर्वोत्कृष्ट रत्न कन्यारत्न है जो कि उस समय वाराणसीमे ही रह रहा था अत उत्कृष्ट रत्नका निवास होनेसे वाराणसीने अयोध्याका तिरस्कार कर दिया था ॥२३८॥ अतिथियोका सत्कार

---

१ अभिमुख गत्वा। २ अकम्पन। ३ सुलोचनाचित्तमिव। ४ अकम्पनस्यापत्यैं। ५ अभिमुख गत्वा। ६ भरतमिव। ७ आकम्पनस्यादरेण। ८ वृद्धीकृत। ९ प्रावेशयन्। १० अयोध्याभिधानात्। ११ अयोध्योक्तिम्। अथवा योद्धुमनक्या अयोध्या एतल्लक्षण तदा तस्या अयोध्याया नास्तीति भाव। १२ उत्कृष्टम्।

पुरोपार्जितसद्धर्मात् सर्वमेतत्तत[1] पुरा[2]। धर्म एव समभ्यर्च्य इति सञ्चित्य विद्वर[3] ॥२४०॥
कृत्वा जैनेश्वरीं पूजा दीनानाथवनीपकान्[4]। अनर्थिनः[5] समर्प्याशु[6] सर्वत्यागोत्सवोद्यत ॥२४१॥
ता लक्ष्मीमक्षया मत्वा सफला चाप्तसद्व्ययाम्। स तदाभूत् क्षितेरेव भोग्य[7] क्षितिरिवात्मन ॥२४२॥
एष विहिततत्पूज[8] प्रकृतार्थं[9] प्रचक्रमे। प्रारम्भा सिद्धिमायान्ति पूज्यपूजा[10]पुरस्सरा ॥२४३॥
आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशासिनी। व्याप्नोत्[11] प्रमोद प्राक् चेत पश्चात् कर्णेषु तद्ध्वनि ॥
पुष्पोपहारिभूभागान्नृत्यत्केतुनभस्तला। निर्जिताब्धिमहातूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥२४५॥
विशोधितमहावीथिदेशा प्रोद्बद्धतोरणा। पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका[12] ॥२४६॥
रञ्जिताञ्जनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा। सस्फुलभ्रूलतोपेता सविशेषललाटिका[13] ॥२४७॥
[14]मणिकुण्डलभारेण प्रलम्बश्रवणोज्ज्वला। सचित्रदर्विन्यस्त[15]पत्रचित्रकपोलिका ॥२४८॥
ताम्बूलरससंसर्गाद् द्विगुणारुणिताधरा। मुक्ताभरणभाभारभासिदन्तुरकण्ठिका[16] ॥२४९॥
सचन्दनरसस्फारहारवक्ष कुचाञ्चिता[17]। महामणिमयूखा[18]तिभास्वद्भुजलतालता ॥२५०॥

करनेवाले राजा अकम्पनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओंको स्वयंवरशालामें ठहराकर प्रसन्न किया था ॥२३९॥ यह सब पहले उपार्जन किये हुए समीचीन धर्मसे ही होता है इसलिये सबसे पहले धर्म ही पूजा करनेके योग्य है ऐसा विचारकर विद्वानोंमें श्रेष्ठ राजा अकपन श्री जिनेन्द्र-देवकी पूजाकर तथा दीन, अनाथ और याचकोंको अयाचक बनाकर सबका त्याग करनेरूप उत्सवके लिये शीघ्र ही तयार हो गया। वह अच्छे कामोंमें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिस प्रकार उसकी पृथिवी उसके उपभोग करनेके योग्य थी उसी प्रकार उस समय वह समस्त पृथिवीके उपभोग करने योग्य हो गया था। भावार्थ—पृथिवीके सब लोग उसके राज्यका उपभोग करने लगे थे ॥२४०–२४२॥ इस प्रकार उसने जिनेन्द्रदेवकी पूजाकर अपना प्रकृत कार्य प्रारम्भ किया सो ठीक ही है क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजा पूर्वक किये हुए कार्य अवश्य ही सफलताको प्राप्त होते हैं ॥२४३॥ उसी समय विवाह-के उत्सवको सूचित करनेवाली भेरी बज उठी सो पहले सबके चित्तमें आनन्द छा गया और पीछे भेरीकी आवाज कानोंमें व्याप्त हुई ॥२४४॥ उस समय वहा पृथिवीपर जहा तहा फूलो के उपहार पडे हुए थे, आकाशमें पताकाए नृत्य कर रही थी, समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले बडे बडे नगाडोंसे दिशाए शब्दायमान हो रही थी, वहाकी बडी बडी गलिया शुद्ध की गई थी उनमें तोरण बाधे गये थे और बडे बडे महल नये चूनाके चूर्णसे पुन सफेद किये गये थे ॥२४५–२४६॥ वहाकी स्त्रियोंके उत्तम नेत्र कज्जलसे रगे हुए थे, शिरके केश मालाओंको धारण कर रहे थे, भौंहरूपी लताए सम्कारकी हुई थी, उनके ललाटपर सुदर तिलक लगा हुआ था, उज्ज्वल वर्ण मणियोंके बने हुए कुण्डलोंके भारसे कुछ कुछ नीचेकी ओर झुक रहे थे, कपोलोंपर हाथसे बनाई हुई पत्ररचनाके चित्र बने हुए थे, पानके रसके सम्बन्धसे उनके ओठोंकी लाली दूनी हो गई थी, उनके कण्ठ मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका वक्षस्थल चन्दनका लेप, बडा हार और स्तनोंसे शोभायमान हो रहा था, उनकी भुजा-रूपी लताए बडे बडे मणियोंकी किरणोंसे देदीप्यमान हो रही थी, उनका विशाल नितम्बस्थल

१ तत् कारणात्। २ पूर्वम्। ३ विद्वा वर। ४ याचकान्। ५ अनिच्छून्। ६ प्रदाय। ७ सर्वजनस्य। ८ कृतजिनपूज। ९ प्रकृतकार्यम्। १० पूज्यानां पूजा पुरस्सरा येषु ते। ११ प्रसरति स्म। १२ नूतनसुधालेपधवलीकृतहर्म्या। १३ निलकशोभितभालस्थला। १४ [illegible]। १५ [illegible]। १६ मनाग्लीवा। १७ [illegible] पूजिता। १८ मयूखाना 'ब०' पुस्तके नितान्त सर्वत्र।

रशनारज्जुविभ्राजिसुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषभर्त्सिताब्जक्रमाब्जिका ॥२५१॥
जितामरपुरीशोभा सौन्दर्यात् सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं[1] कायम् [2]अधिताचिन्त्य वैभवम् ॥२५२॥
उत्सवो राजगेहस्य नगरेणैव वर्णित । अगाधो यदि पर्यन्तो मध्यमर्घ्यं[3] किमुच्यते ॥२५३॥
न चित्र तत्र[4] सच्चित्तो[5] सोत्सवोऽन्तर्बहिश्च सत् । [6]तद्वत्स्वभूषया यस्मात्[7] कुड्याद्यपि विचेतनम् ॥२५४॥
भोक्तृशून्य न भोगाङ्ग[8] न भोक्ता भोगवर्जित । [9]तत्र सन्निहितोऽनङ्गो लक्ष्मीश्चाविष्कृतोदया ॥२५५॥
पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति[10] तदुत्सवम्[11] । विलोक्य कृतधर्माण[12] पुरस्थान् बहु मेनिरे ॥२५६॥
[13]उदसुन्वन् फल मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात् स्वभाव स हि तादृशाम् ॥२५७॥
कन्यागृहात्तदा कन्याम् अन्या वा कमलालयाम्[14] । पुरोभूय[15] [16]पुरन्ध्र्यस्तामीषल्लज्जातसाध्वसाम्[17]
विवाहविधिवेदिन्य कृततत्कालसत्क्रियाम् । समानीय सदैवज्ञा[18] महातूर्यरवान्विताम् ॥२५९॥
सर्वमङ्गलसम्पूर्णे मुक्तालम्बू[19]षभूषिते । चतु काञ्चनसुस्तम्भे भूरिरत्नस्फुरत्त्विषि ॥२६०॥
प्रमोदात् सुप्रभादेशाद्[20] विवाहोत्सवमण्डपे । कलधौतमये पट्टे[21] निवेश्य प्राङ्मुखीं सुखम् ॥२६१॥

करधनीरूपी रज्जुसे सुशोभित हो रहा था, और उनके चरणकमल मणिमयी नूपुरोकी भनकार से कमलोका तिरस्कार कर रहे थे ॥२४७–२५१॥ इस प्रकार अपनी सुन्दरतासे स्वर्गपुरीकी शोभाको जीतनेवाली वह नगरी उस समय अचिन्त्य वैभवशाली अलकारमय शरीरको धारण कर रही थी ॥२५२॥ राजमहलका उत्सव तो नगर ही कह रहा था क्योकि समुद्रके किनारे का भाग ही जब अगाध है तब उसके बीचका क्या पूछना है ? भावार्थ–जब नगरमे ही भारी उत्सव हो रहा था तब राजमहलके उत्सवका क्या पूछना था ? ॥२५३॥ वहाके सचेतन प्राणी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सब जगह उत्सव मना रहे थे इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है क्योकि वहाकी दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी तो अपने अलकारो द्वारा सचेतन प्राणियोके समान ही उत्सव मना रहे थे । भावार्थ–दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी अलकारोसे सुशोभित किये गये थे जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानो उल्लाससे अलकार धारण कर स्वय ही उत्सव मना रहे हो ॥२५४॥ वहापर भोगोपभोगका कोई भी पदार्थ भोक्तासे रहित नही था और न कोई भोक्ता भी भोगोपभोगके पदार्थसे रहित था, वहापर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी उदयरूप रहती थी ॥२५५॥ इस जन्ममे ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुए कितने ही धर्मात्मा लोग वहाका उत्सव देखकर उस नगरके रहनेवाले लोगोको बडी आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे ॥२५६॥ मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुए थे सो ठीक है क्योकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना अधर्मात्मा लोगोका स्वभाव है ॥२५७॥ उसी समय विवाहकी विधिको जाननेवाली सौभाग्यवती स्त्रिया, जिसने तात्कालिक सत्क्रियाए की है जो लज्जासे कुछ भयभीत हो रही है, जिसके आगे बडे बडे नगाडोके शब्द हो रहे है ज्योतिष शास्त्रको जाननेवाले अनेक विद्वान् जिसके साथ है और जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पडती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे सब प्रकारके मगल द्रव्योसे भरे हुए, मोतियोके आभूषणोसे सुशोभित, सुवर्णके बने हुए चार उत्तम खम्भोसे युक्त और अनेक रत्नोकी कान्तिसे जगमगाते हुए

१ अनवारम्बरूपम् । २ बिभर्ति स्म । ३ –मध्यो स० । ४ पुर्याम् । ५ चेतनवान् । ६ उत्सववत् । ७ यस्मात् कारणात् । ८ स्रक्चन्दनादि । ९ नगरे । १० अस्मिन् जन्मन्यपि । कि पुनरुत्तरजन्मनीत्यपि शब्दार्थ । ११ तत्पुराणवम् । १२ कृतपुण्या । १३ उत्सव प्राप्ता । उदासन्वत् स० । १४ लक्ष्मीम् । १५ पुरस्कृत्य । १६ कुटुम्बिन्य । 'स्यात्तु कुटुम्बिनी पुरन्ध्री' इत्यभिधानात् । पुर पोष्यबहुजनसमूह धत्त इति पुरन्ध्री । पुत्रादिसाध्यवर्गवत्यो या स्त्रियो नाम । १७ लज्जया स्वीकृता । १८ ज्योतिषकसहिता । १९ माला । २० सुप्रभामहादेवीनिदेशात् । २१ फलके ।

कलशैर्मुखविन्यस्तविलसत्पल्लवाधरैः । अभिषिच्य विशुद्धाम्बुपूर्णैः स्वर्णमयैः शनैः[1] ॥२६२॥
कृतमङ्गलनेपथ्या नीत्वा नित्यमनोहरम्[2] । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥२६३॥
सिद्धशेषा[3] समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साशिषम् । स्थिता प्रतीक्ष्य[4] सल्लग्नं तत्रावृत्याहितादरम्[5] ॥२६४॥
इतो महीशसन्देशान्[6] नरखेचरनायकाः । स्वास्ते प्रसाधितान्[7] कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥२६५॥
निजोचितासनारूढाः प्रस्फु[8]श्रीसमुज्ज्वलाः । चलच्चामरसम्पत्त्या कान्त्या चामरसन्निभाः ॥२६६॥
कुमार्या निर्जितः कामः प्राक् स्वमेव[9] विकृत्य[10] किम् । समागंस्त[11] पुनर्जेतुमिति[12] शङ्काविधायिनः[13] ॥
कञ्चिदेकं[14] वृणीते[15]ऽसाविति ज्ञात्वाऽप्यहंयवः[16] । जेतुं सर्वेऽपि ता तस्थुः[17] आशा हि महती नृणाम् ॥
[18]केरलीकठिनोत्तुङ्गकुचकोटिविलङ्घन[19]- । श्रमापानीतसामर्थ्यात् परिक्षीणपरिक्रमम्[20] ॥२६९॥
मलयमातङ्गकटकण्डूविनोदनात्[21] । क्षतचन्दननिष्यन्दसान्द्र[22]सौगन्ध्यबन्धुरम् ॥२७०॥
कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाण्डजनिर्भरः- । कीडोच्छलज्जलस्थूलकणमुक्तातिभूषणम् ॥२७१॥
दक्षिणानिलमापल्ल[23]कोत्कटानलदीपनम् । कोकिलालिकलालापैर्वाचालमनुकूलयन् ॥२७२॥

विवाहोत्सव मण्डपमें बडे हर्षके साथ महारानी सुप्रभाकी आज्ञासे आईं और पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर बिठा दिया। तदनन्तर मुखपर रखे हुए शोभायमान पल्लवोंको धारण करनेवाले तथा विशुद्ध जलसे भरे हुए सुवर्णमय शुभ कलशोंसे उसका अभिषेक किया। फिर माङ्गलिक वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाली कन्याको नित्यमनोहर नामक चैत्यालयमें ले जाकर वहा उसमें सबका कल्याण करनेवाले श्री अर्हन्तदेवकी पूजा कराई। उसके बाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आशीर्वादपूर्वक उसके शिरपर रक्खे और इतना सब कर चुकने के बाद वे स्त्रियां उसका आदर सत्कार करती हुई शुभ लग्नकी प्रतीक्षामें उसे घेरकर वहीं ठहर गईं ॥२५८–२६४॥ इधर महाराज अकम्पनके सदेशसे, सजावटको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति अपने आपको सजाकर अपने अपने योग्य आसनों पर जा बैठे। वे प्रकृष्ट शोभासे उज्ज्वल थे, ढुरते हुए चमरोंकी सपत्ति और कान्तिसे देवोंके समान जान पडते थे और ऐसी शका उत्पन्न कर रहे थे मानो इस कुमारीने पहले ही कामदेवको जीत लिया था इसलिये वह कामदेव ही अपने बहुतसे रूप धारणकर उसे जीतनेके लिये पुन आया हो ॥२६५–२६७॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी, ऐसा जानकर भी वे सब राजा लोग अहकार करते हुए उसे जीतनेके लिये वहा बैठे थे सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बडी होती है ॥२६८॥ जो स्त्रियोंके मदके कुरले तथा नूपुरोंकी झनकारसे सुशोभित बाये पैरोंके द्वारा वृक्षोंको भी कामी बना रहा है, जो बाये हाथमें फूलोंका धनुष धारण कर दूसरे हाथमें आमकी मजरीको घूम फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है और जिसने वसन्त ऋतुरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त शस्त्र बुला लिये हैं ऐसा कामदेव, केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊचे करोडों कुचोंको उल्लघन करनेमें उत्पन्न हुई थकावटके कारण जिसकी घूमनेकी शक्ति क्षीण हो गई है अर्थात् जो धीरे धीरे चल रहा है मलय पर्वतके

---

१ शुभैः अ०, प०, स०, म०, ल०, इ० । २ नित्यमनोहरनाम चैत्यालयम् । ३ –शेष ल० । ४ प्रतीक्षा कृत्वा । ५ चैत्यालये । ६ कृतादर यथा भवति तथा । ७ अकम्पनवाचिकात् । ८ अलङ्कृतान् । ९ प्रसिद्ध । १० आत्मानम् । ११ राजकुमाररूपेण वैकुर्वाण कृत्वा । १२ सङ्गतवान् । १३ सुलोचना जेतुम् । १४ प्रभवाणां शङ्का कुर्वाणाः । १५ अनिर्दिष्ट कञ्चिदेक पुरुषम् । १६ स्वीकरोति । १७ अहङ्कारवन्त । 'अहङ्कारवानहयु' इत्यभिधानात् । १८ निजोचितासनारूढा सन्तस्तस्थुरिति सम्बन्ध । १९ करकस्त्री । २० श्रमापनीतसामर्थ्य । २१ लङ्घनाज्जातश्रमेणापनीतसामर्थ्येन परिक्षीणगमनम् । २२ मलयाचलान्तिकगतकपोलकण्डूयनगमनात् । २३ द्रवत्प्रचुर । २४ विरहीणामग्निसमुत्पादनम् ।

योषिता मधुगण्डूषैर्नूपुरारावरञ्जितैः । कुर्वन् वामाङ्घ्रिभिश्चालम्[1] अर्द्धपिबानपि कामुकान् ॥२७३॥
कौसुमं[2] धनुरादाय [3]वामेनारूढविक्रमः । चूतसूनं[4] करेणोच्चैः परेण[5] परिवर्तयन्[6] ॥२७४॥
[7]वसन्तानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदाखिलान् देशानभ्यायात्[8] कुसुमायुधः ॥२७५॥
तदा पुरात् समागत्य कृती जितपुरन्दरः । समाविर्भूतसाम्राज्यो राज्यचिह्नपुरस्सरः ॥२७६॥
स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः[9] । स्वस्थात्[10] स्वयंवरागारे स्वोचिते[11] स्वजनैर्वृतः ॥२७७॥
चित्रं महेन्द्रदत्ताख्यो[12] देवदत्तं[13] रथं पृथुम् । सज्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात् कञ्चुकी ॥२७८॥
समस्तबलसन्दोहं सम्यक् सन्नाह्य[14] सानुजः । हेमाङ्गदो जितानङ्गः प्रीत्याऽयात् परितो रथम् ॥२७९॥
तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्खत्[15]दिक्कन्याकर्णपूरिका । सच्छत्रच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥२८०॥
लक्ष्मी पुरीमिवायोध्यां चक्रिदिग्विजयागमे । शालां[16] प्रविश्य राजन्यलोचनार्च्या सुलोचना ॥२८१॥
सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकीप्रेरिता नृपान् । [17]न्यषिञ्चल्लोचनैर्लोलैर्नीलोत्पलदलैरिव ॥२८२॥
चातका[18] धाराम्बुवृष्ट्या[19] ते तद्दृष्ट्या तुष्टिमागमन् । आह्लादः कस्य वा न स्याद् ईप्सितार्थसमागमे ॥

मदोन्मत्त हाथियोके गण्डस्थलोकी खाज खुजलानेसे टूटे हुए चन्दन वृक्षोके निष्यन्दकी घनी सुगन्धिसे जो व्याप्त हो रहा है, कावेरी नदीके कमलोके आस्वादसे हर्षित हुए पक्षियोकी अल्हड क्रीडासे उछलती हुई जलकी बडी बडी बूँदें ही जिसके मोतियोके आभूषण है, जो विरहरूपी तीव्र अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है और कोयल तथा भ्रमरोके मनोहर शब्दोसे जो वाचालित हो रहा है ऐसे दक्षिणके वायुको अनुकूल करता हुआ सब देशोको जीतकर उस समय वहाँ आ पहुचा था ॥२६९–२७५॥ उसी समय, जिसने अपनी शोभासे इन्द्रको भी जीत लिया है, जिसका साम्राज्य प्रकट है, ध्वजा आदि राज्यके चिह्न जिसके आगे आगे चल रहे है अपनी शोभासे जिसने समस्त दिशाए व्याप्त कर ली है, सुप्रभा रानी जिसके साथ है और जो अपने कुटुम्बीजनोसे घिरा हुआ अर्थात् परिवारके लोग जिसके साथ साथ चल रहे है ऐसा पुण्यवान् राजा अकम्पन नगरसे आकर स्वयवर मण्डपमें अपने योग्य स्थानपर आ विराजमान हुआ ॥२७६–२७७॥ उसी समय महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी चित्राङ्गददेवके द्वारा दिये हुए, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत बडे अलकृत रथपर कन्याको बैठाकर लाया ॥२७८॥ कामको जीतनेवाला हेमाङ्गद अपने छोटे भाइयोसहित, समस्त सेनाके समूहको अच्छी तरह सजाकर बडे प्रेमसे कन्याके रथके चारो ओर चल रहा था ॥२७९॥ जिसके आगे आगे बजनेवाले नगाडोके शब्दोके आघातसे दिशारूपी कन्याओके कर्णपूर हिल रहे थे, जिसपर अच्छी तरह लगे हुए छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढक गया था, और जो राजाओके नेत्रोसे पूजी जा रही थी अर्थात् समस्त राजा लोग जिसे अपने नेत्रोसे देख रहे थे ऐसी सुलोचनाने, चक्रवर्तीके दिग्विजयसे लौटनेपर जिस प्रकार लक्ष्मी अयोध्यामें प्रवेश करती है उसी प्रकार स्वयवरशालामें प्रवेश किया और वहा वह सर्वतोभद्र नामक महलपर चढकर कञ्चुकीके द्वारा प्रेरित हो नीलकमलके दलके समान अपने चञ्चल नेत्रोके द्वारा राजाओको सीचने लगी ॥२८०–२८२॥ जिस प्रकार चातक पक्षी मेघोके बरसनेसे सतुष्ट होती है उसी प्रकार सब राजा लोग सुलोचनाके देखनेसे ही सतुष्ट हो गये थे सो ठीक ही है क्योकि अपने अभीष्ट पदार्थके समागम

१ अत्यर्थम् । २ कुसुमनिर्मितम् । ३ वामहस्तेन । ४ माकन्दप्रसूनम् । ५ दक्षिणकरेण । ६ परिभ्रमयन् । ७ वसन्त एवानुचरो भृत्यस्तेन समानीत । ८ आजगाम । ९ अकम्पन । १० सुखेन स्थितवान् । ११ निजोचितस्थाने । १२ आश्चर्ययुक्तम् । १३ विचित्राङ्गददेवेन वितीर्णम् । १४ सन्नद्धं कृत्वा । १५ चलत् । १६ स्वयंवरशालाम् । १७ सिञ्चन्ति स्म । अयोजयदित्यर्थः । १८ इव । १९ नृपाः ।

स्वसौभाग्यवशात् सर्वान् साऽप्यालोक्यातुपत्तराम् । श्लाघ्यं तथोपितां पुंसां शौर्यं वा निर्जितद्विषाम् ॥
ततः कञ्चुकिनिर्देशाद् बाला लीलाविलोकितैः[1] । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात् समवातरत्[2] ॥२८५॥
यस्य [3]यत्र गता स्याद्दृक् सा तत्रैवेव कीलिता । [4]ततेऽस्यामवरूढायां[5] खिन्ना वा तदनीक्षकाः[6] ॥२८६॥
किङ्किणीकृतझङ्कारारावरम्यं रथं ततः । व्यूढं[7] रूढैर्हयैः स्वर्णकर्णचामरशोभिभिः ॥२८७॥
उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणाम्[8] । साक्षादपह्नवाह्वाने[10] कुर्वन्तमिव सन्ततम् ॥२८८॥
पुनरध्यास्य[11] हृज्जन्म[12]विद्येव हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीव तडिल्लता ॥२८९॥
वीज्यमाना विधुस्पर्द्धिहंसांसामलचामरैः[13] । जनानां दृष्टिदोषान् वा धुन्वद्भिर्दूरतो मुहुः ॥२९०॥
अवधूत:[14] पुरानङ्गः सम्प्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात् प्राज्ञैः प्रास्तोऽपि[15] परिगृह्यते ॥२९१॥
अस्याग्रह इवानङ्गः सद्यः सर्वाङ्गसङ्गतः । विकारमकरोत् स्वैरं भूयो भ्रूनेत्रवक्त्रजम् ॥२९२॥
साङ्गो[16] यद्येतयाऽद्यं चम् एकीभावं व्रजामि किम् । इत्यनङ्गोऽप्यनङ्गत्वं स्वं मन्ये [17]साध्ववुध्यत ॥२९३॥
लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद् रतिर्व्यङ्गेन[18] भुज्यते । जितानङ्गाभिमानेषा न्यक्कृत्य[19] [20]जयमाप्स्यति ॥२९४॥

होनेपर किसे आनन्द नही होता है ? ॥२८३॥ वह सुलोचना भी अपने सौभाग्यके वशसे आये हुए समस्त राजाओंको देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार शत्रुओंको जीतनेवाले पुरुषोंका शूरवीरपना प्रशंसनीय होता है उसी प्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य भी प्रशंसनीय होता है ॥२८४॥ तदनन्तर वह सुलोचना लीलापूर्वक अवलोकनके द्वारा उन राजाओंका हृदय अपनी ओर आकर्षितकर कंचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥२८५॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहां पड गई थी वह मानो वही कीलित सी हो गई थी तथा उसके नीचे उतर आनेपर वे राजा लोग उसे न देखकर बहुत ही खेदखिन्न हुए थे ॥२८६॥ तदनन्तर, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है, जो मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके बीचमें शरदऋतुकी बिजलीकी लताके समान जान पड़ती है और जिसपर मानो मनुष्योंकी दृष्टिके दोषोंको दूरसे ही दूर करते हुए, तथा चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करनेवाले और हंसोंके पखोंके समान निर्मल चमर बार बार ढुराये जा रहे हैं ऐसी वह सुलोचना, जो छोटी छोटी घंटियों के रुणझुण शब्दोंसे रमणीय है, कानोंके समीप लगे हुए सोनेके चमरोंसे शोभायमान बड़े-ऊंचे घोडे जिसमें जुते हुए है, नीचे ऊपरको उडती हुई ध्वजाएं ही जिसकी भुजाएं है और जो उन उडती हुई ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कुरूप मनुष्यका साक्षात् निरन्तर निराकरण ही कर रहा हो और सुरूप (सुन्दर) मनुष्योंको साक्षात् बुला रहा ही हो' ऐसे रथपर सवार हुई ॥२८७–२९०॥ सुलोचनाने कामदेवका पहले तो तिरस्कार किया था परन्तु अब उसे फिर स्वीकार किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष हटाये हुएको भी अपने प्रयोजन के वश फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥२९१॥ पिशाचके समान शीघ्र ही इसके सब अंगोंमें प्रविष्ट हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार बार भौंह नेत्र और मुखमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंको प्रकट कर रहा था ॥२९२॥ यदि मैं शरीर सहित होता तो क्या इस तरह इस सुलोचनाके साथ एकीभावको प्राप्त हो सकता ? अर्थात् इसके शरीरमें प्रवेश कर पाता ? ऐसा विचार करता हुआ कामदेव मानो अपने शरीर रहितपनेको ही अच्छा समझता था ॥२९३॥ वह

१ अवलोकनैः । २ अवतरन्ति स्म ३ यस्मिन्नवयवे । ४ ते तस्या–ल० । तत् कारणात् । ५ अवतरणं कुर्वन्त्यां सत्याम् । ६ तां पश्यन्तोऽपि अपश्यन्तो वा खिन्ना वभूवुरित्यर्थः । ७ धृतम् । ८ प्रसिद्धैः । ९ रूपहीनाना रूपवताञ्च । १० क्रमेण निराकरण आह्वानं च । ११ एवंविधं रथमध्यास्येति सम्बन्धः । १२ कामविद्या । १३ मरालपक्ष । १४ निराकृतः । १५ प्रतिक्षिप्तः । १६ सशरीरः । १७ शिष्टमिति । १८ अनङ्गेन विरूपाङ्गेनेति ध्वनिः । १९ निराकृत्य । २० विजयम् जयकुमार च ।

करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्यान्न वा वारिधेर्भुवः[1]। 'अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥
लावण्यमम्बुधौ नृषु[3] स्त्रीष्वस्यामेव सम्भृतम्[4]। 'यत्प्राप्ताः सरितः सर्वास्तामेताः[5] सर्वपार्थिवाः ॥२९६॥
समस्तनेत्रसम्पीतमप्यस्या वर्धतेतराम्। लावण्यमम्बुधिस्त्यक्तः श्रिया वहतु[6] तत्कथम् ॥२९७॥
रत्नाकरत्वदुर्गर्वम् अम्बुधिः श्रयते वृथा। कन्यारत्नमिदं 'यत्र 'तयोरेतद्[10] विराजते ॥२९८॥

प्रसिद्ध लक्ष्मी सबके द्वारा उपभोग करने योग्य है और रति शरीररहित कामदेवके द्वारा भोगी जाती है परन्तु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय अर्थात् विजय अथवा जयकुमारको प्राप्त होगी। भावार्थ—संसारमें दो ही प्रसिद्ध स्त्रियां हैं एक लक्ष्मी और दूसरी रति। इनमेंसे लक्ष्मी तो सर्वपुरुषोंके द्वारा उपभोग योग्य होनेके कारण पुंश्चलीके समान निन्द्य है और रति शरीररहित पिशाच (पक्षमें कामदेव) के द्वारा उपभोग योग्य होनेसे दूषित है परन्तु यह सुलोचना अपनी शोभासे कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय—जीत (पक्षमें जयकुमार) को प्राप्त होगी अर्थात् यह सुलोचना लक्ष्मी और रतिसे भी श्रेष्ठ है ॥२९४॥ समुद्रपर्यन्त इस पृथिवीका करग्रह अर्थात् टैक्स वसूल करनेसे कोई पुरुष लक्ष्मीवान् हो अथवा नहीं भी हो परन्तु जिसके इस सुलोचनाका करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण होगा लक्ष्मी उसके हाथमें ही स्थित समझनी चाहिये ॥२९५॥ पुरुषोंमें लावण्य (खारापन) समुद्रमें है और स्त्रियोंमें लावण्य (सौन्दर्य) इसी सुलोचनामें भरा हुआ है यही कारण है कि सब नदियां समुद्रके पास पहुंची हैं और सब राजा लोग इसके समीप आ पहुंचे हैं। भावार्थ—लावण्य शब्दके दो अर्थ हैं—एक खारापन और दूसरा सौन्दर्य। यहां कविने दोनोंमें शाब्दिक अभेद मानकर निरूपण किया है। श्लोकका भाव यह है—लावण्य पुरुषोंमें भी होता है और स्त्रियोंमें भी परन्तु उसके स्थान दोनोंमें नियत हैं। पुरुषका लावण्य समुद्रमें नियत है और स्त्रीका लावण्य सुलोचनामें। पुरुषके लावण्यके प्रति स्त्रियोंका आकर्षण रहता है और स्त्रियोंके लावण्यके प्रति पुरुषका आकर्षण रहता है। यही कारण है कि नदीरूपी स्त्रियां आकर्षित होकर समुद्रके पास पहुंची हैं और सब राजा लोग (पुरुष) सुलोचनाके प्रति आकर्षित होकर उसके समीप आ पहुंचे हैं ॥२९६॥ इसका लावण्य सबके नेत्रोंके द्वारा पिया जानेपर भी बढ़ता ही जाता है परन्तु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड़ दिया है इसलिये वह उसे कैसे धारण कर सकता है ? भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें लावण्यके दो स्थान बतलाये थे—एक समुद्र और दूसरा सुलोचना। परन्तु यहां लावण्य शब्दका केवल सौन्दर्य अर्थ हृदयमें रखकर कवि समुद्रमें उसका अभाव बतला रहे हैं। यहां कवि लावण्य उस पदार्थको कह रहे हैं जिसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहे और जिसे देखकर दर्शक उसे कभी छोड़ना न चाहें। कविका मनोज्ञ लावण्य सुलोचनामें ही था क्योंकि उसे देखकर नेत्र कभी उसे छोड़ना नहीं चाहते थे और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती थी। समुद्रमें लावण्यका होना कविको इष्ट नहीं है क्योंकि उसे लक्ष्मीने छोड़ दिया है यदि उसमें वास्तवमें लावण्य होता तो उसे लक्ष्मी क्यों छोड़ती ? (लक्ष्मी द्वारा समुद्रका छोड़ा जाना कवि सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।) ॥२९७॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका झूठा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्यारूपी रत्न है उन्हीं राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है ॥२९८॥

---

१ [illegible]। २ सुलोचनायाः। ३ पुरुषेषु। ४ परिपूर्णम्। ५ यत् कारणात्। ६ न समुद्रम्। लवणम् सुन्दरत्वम्। ७ त्यक्तम्। ८ यथा। ९ अकम्पनसुप्रभयोः। १० रत्नाकरत्वम्।

इति स्तुतात्मसौभाग्यभाग्य[1]रूपादिसम्भृता । जनैः स्वयंवरागारम् आगमद् गोमिनीव[2] सा ॥२९९॥
[3]परिभूतिर्द्विधा सात्र[4] भाविनी[5] केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे कंचिद् रसं राजकमन्वभूत् ॥३००॥
स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि[6] रत्नमालाधरो धुरि[7] । रथं प्रचोदयामास प्रतिविद्याधराधिपान् ॥३०१॥
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नमेश्च विनमेः सुतौ । पतिः सुनमिरेषोऽयम् इतः सुविनमिः श्रियः ॥३०२॥
अन्येऽमी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चैषु [8]स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥३०३॥
इति कञ्चुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्[9] सर्वान् रुचिश्चित्रा हि देहिनाम् ॥३०४॥
पश्चात् सर्वान्निरीक्ष्यैषा कञ्चित्तु विवरीषते[10] । तथैवेति खगास्तस्थुः किं वाशा नावलम्ब्यते ॥३०५॥
पश्चाज्ज[11]ग्लुर्मुखाब्जानि सद्रथाद् व्यपसर्पणात् । रवेरिवोदये राज्ञां संसृते स्थितिरीदृशी ॥३०६॥
[12]उच्चाद्धाऽदुद्रुव[13]न्निम्नम् अभिभूमि[14]चरं रथं । कञ्चुकी कथयामास नामभिस्तान् नृपांस्तदा ॥३०७॥
निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेया जयमागमत् । हित्वा शेषान् द्रुमाच्चूतं मधौ मधुकरी यथा ॥३०८॥
गृहीतप्रग्रहस्तत्र[15] कञ्चुकीचित्तवित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥३०९॥

इस प्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप आदिसे भरी हुई वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें आ पहुंची ॥२९९॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है—एक पराभूति अर्थात् उत्कृष्ट सम्पद और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव-तिरस्कार, सो इन दोनोंमें न जाने कौन सी पराभूति अथवा परा-भूति होनेवाली है ऐसा विचार करता हुआ राजाओंका समूह उस समय प्रेम और शोकके बीच किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥३००॥

रत्नोंकी मालाको धारण करनेवाला महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी भी धुरापर बैठकर विद्याधर राजाओंकी ओर रथ चलाने लगा ॥३०१॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्धकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं। यह लक्ष्मीका स्वामी सुनमि है और यह इस ओर सुविनमि है ॥३०२॥ विद्या और पराक्रमसे शोभायमान ये और भी अनेक विद्याधरोंके अधिपति विराजमान हैं इनमेंसे तू किसी एकको वर अर्थात् पतिरूपमें स्वीकार कर और एक हीमें अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इस प्रकार कंचुकीने अलग अलग नाम लेकर जो कुछ कहा था उसे कानमें डालकर-सुनकर वह सबको छोड़ती हुई आगे चली सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंकी रुचि अनेक प्रकारकी होती है ॥३०४॥ यह कन्या सबको देखकर बादमें किसीको वरना चाहती है यह विचारकर विद्याधर लोग ज्योंके त्यों बैठे रहे सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं लेती है ? ॥३०५॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसी प्रकार राजाओंके मुखरूपी कमल सुलोचनाके रथ सामने आनेसे पहले तो प्रफुल्लित हुए किन्तु रथके चले जानेपर बादमें मुरझा गये थे सो ठीक ही है क्योंकि संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥३०६॥ तदनन्तर वह रथ विद्याधरोंकी ऊंची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा, उस समय वह कञ्चुकी नाम ले लेकर राजाओंका निरूपण करता जाता था ॥३०७॥ जिस प्रकार वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुंचती है उसी प्रकार वह अजेय सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजाओंको छोड़कर जयकुमारके पास जा पहुंची ॥३०८॥ उसी समय

---

१ पुण्य । २ लक्ष्मी । ३ अथवा सम्पच्च । पराभूति—न०, म०, ज०, प०, स०, इ० । ४ अथवा गाग्मदा । ५ भविष्यत् । ६ कञ्चुकी । ७ रथमुखे । ८ निजवाञ्छाम् । ९ अतिक्रान्तवती । १० परिणेतुमिच्छति । ११ म्लाना अभवन् । १२ उच्चप्रदेशात् । १३ अगमत् । १४ भूचराणामभिमुखम् । १५ पृणादरम् ।

प्रदीप स्वकुलस्याय प्रभु सोमप्रभात्मज । श्रीमानुत्साहभेदैर्वा[1] जयोऽयमनुजैर्युत ॥३१०॥
न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदेतदति[3]मन्मथम्[2] । स[4] दर्पणोऽर्पणीय कि करकङ्कणदर्शने ॥३११॥
जित्वा मेघकुमाराख्यान् उत्तरे भरते सुरान् । सिंहनाद कृतोऽनेन जिततन्मेघनिस्स्वन[5] ॥३१२॥
वीरपट्ट [6]प्रवध्यास्य स्वभुजाभ्यां समुद्धृतम् । न्यधायि निधिनायेन हृष्ट्वा मेघस्वराभिधा ॥३१३॥
आत्मसम्यग्गुणैर्युक्त समेतश्चाभिगामिकै[7] । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च [8]ततोऽयमुदितोदित ॥३१४॥
चित्र जगत्त्रयस्यास्य गुणा सरज्य[9] साम्प्रतम्[10] । व्यावृता[11] सर्वभावेन[12] तव भावानुरञ्जने[13] ॥३१५॥
अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्र सन्ति योषित । श्री कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिवल्लभा ॥३१६॥
जितमेघकुमारोऽयम् एक प्राक त्वज्जयेऽधुना । च्युतधैर्य इवालक्ष्ये[14] [15]यत्सहायीकृत स्मर ॥३१७॥
बलिनोर्युवयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतो[16] । द्वैधीभाव[17] समापद्य षाड्गुण्यनिपुण स्मर ॥३१८॥
कीर्ति कुवलयाह्लादी पद्माह्लादीप्रभाऽस्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥३१९॥

चित्तकी बातको जाननेवाला कचुकी घोडोकी रास पकडकर जयकुमारका वर्णन करनेके लिये अपने वचनोको व्यापृत करने लगा अर्थात् जयकुमारके गुणोका वर्णन करने लगा ॥३०९॥ उसने कहा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभ पुत्र है और उत्साहके भेदोके समान अपने छोटे भाइयोसे आवृत है–घिरा हुआ है ॥३१०॥ कामदेवको तिरस्कृत करनेवाला इसका यह रूप तो वर्णन करने योग्य ही नही है क्योकि हाथ का कङ्कण देखनेके लिये क्या दर्पण दिया जाता है ? ॥३११॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमे मेघकुमार नामके देवोको जीतकर उन देवोके कृत्रिम बादलोकी गर्जनाको जीतनेवाला सिंहनाद किया था ॥३१२॥ उस समय निधियोके स्वामी महाराज भरतने हर्षित होकर अपनी भुजाओ द्वारा धारण किया जानेवाला वीरपट्ट इसे बाधा था और मेघस्वर इसका नाम रक्खा था ॥३१३॥ यह आत्माके समीचीन गुणोसे युक्त है तथा आदरणीय उत्तम पुरुषोके साथ सदा सगति रखता है इसलिये बुद्धि और विशेष विशेष उत्साहोके द्वारा यह श्रेष्ठोमें भी श्रेष्ठ गिना जाता है ॥३१४॥ यह भी आश्चर्यकी बात है कि इसके गुण तीनो लोकोको प्रसन्नकर अब तेरे अन्त करणको अनुरक्त करनेके लिये पूर्ण रूपसे लौटे है । भावार्थ–इसने अपने गुणोसे तीनो लोकोके जीवोको प्रसन्न किया है और अब तुझे भी प्रसन्न करना चाहते है ॥३१५॥ यदि इसमें दोष है तो यही एक, कि इसके निम्नलिखित चार स्त्रिया है, श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी और सरस्वती । ये चारो ही स्त्रिया इसे अत्यन्त प्रिय है ॥३१६॥ जिसने पहले अकेले ही मेघकुमारको जीत लिया था ऐसा यह जयकुमार इस समय तुझे जीतनेके लिये धैर्यरहित सा हो रहा है अर्थात् ऐसा जान पडता है मानो इसका धैर्य छूट रहा हो यही कारण है अब इसने कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥३१७॥ एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनो बलवानोके बीचमें पडा हुआ यह सधि विग्रह आदि छहो गुणोमें निपुण कामदेव द्वैधीभावको प्राप्त हो रहा है अर्थात् कभी उसका आश्रय लेता है और कभी तेरा ॥३१८॥ इसकी कीर्ति तो कुवलय अर्थात् रात्रिमें खिलनेवाले कमलोको (पक्षमें महीमण्डलको) आनन्दित करती है और प्रभा पद्म अर्थात् दिनमें खिलनेवाले कमलोको (पक्षमें पद्मा–लक्ष्मीको) विकसित

---

१ भ्रातृविशेषै । २ दृश्यमानम् । ३ अतिक्रान्तमन्मथम् । ४ प्रसिद्ध । ५ निर्जितमेघकुमारघनध्वनि । ६ प्रबध्यास्य म० । ७ अभिगमार्हे । आदरणीयैरित्यर्थ । ८ तेन कारणात् । ९ आत्मन्यनुरक्त विधाय । १० अधुना । ११ व्यापारमकुर्वन् । १२ सर्वस्वरूपेण । १३ चित्तानुरञ्जने । 'भाव सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यभिधानात् । १४ दर्शनीय । १५ तेन कारणात् । १६ परस्पर जेतुमिच्छतो । १७ उभयाश्रयत्वम् ।

कीर्तिर्बहिश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णनरापि शान्तेव[1] लक्ष्यते क्षतविद्विषः[2] ॥३२०॥
ततस्त्वयि वयोरूपशीलादिगुणभास्वलम् । प्रीतिर्लतेव दृक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥३२१॥
युवाभ्यां निर्जितः काम सम्प्रत्यभ्यन्तरीकृतः । स [3]वामपजयायाभूदरिर्विश्वम्भितोऽप्यरिः ॥३२२॥
निष्ठुरं जृम्भतेऽमुष्मिन्[4]नयारिरपि स्मर । मत्वैव त्वां स्त्रियं नूनं भटेषु भटमत्सरः ॥३२३॥
विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण[5] निर्जितः । त्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥३२४॥
प्राग्बद्ध्वास्य[6] गले रत्नमालया दृक्शरैर्जितम् । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं[7] करे कुरु ॥३२५॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरषाड्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितव्रीडा[8]लोललीलावलोकना ॥३२६॥
सदा जन्मान्तरस्नेहदचाक्षुषी[9][10] सुन्दराकृतिः । कुन्दभासा[11] गुणास्तस्य श्रावणा[12] पुष्पसायरः ॥३२७॥

करती है इसलिये इसने सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको शक्तिरहित कर दिया है ॥३१९॥ समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीर लक्ष्मी शान्त सी दिखती है इसलिये दृष्टिरूपी पुष्पोंसे युक्त और खूब बढ़ी हुई इसकी प्रीतिरूपी लता वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित तुझमें ही अच्छी तरह फलीभूत होगी। भावार्थ–३१६ वें श्लोकमें बतलाया था कि इसके चार प्रिय स्त्रियां हैं कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती और वीरलक्ष्मी परन्तु उनसे तुझे सपत्नीजन्य दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि कीर्ति नामकी स्त्री तो सदा बाहर ही घूमती रहती है–अन्तःपुरमें उसका प्रवेश नहीं हो पाता (पक्षमें उसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है), लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है–वृद्धावस्था युक्त है (पक्षमें बढ़ी हुई है), सरस्वती भी जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण शिथिल शरीर हो रही है (पक्षमें परिपक्व है) इसलिये इन तीनोंपर उसका खास प्रेम नहीं रहता। अब रह जाती है वीरलक्ष्मी, यद्यपि वह तरुण है और सदा उसके पास रहती है परन्तु अत्यन्त शान्त है–शृङ्गार आदिकी ओर उसका आकर्षण नहीं है (पक्षमें क्षमायुक्त शूर वीरता है) इसलिये इन चारोंसे राजाकी प्रीति हटकर तुझपर ही आरूढ़ होगी क्योंकि तू वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित है ॥३२०–३२१॥ तुम दोनोंने पहले जिस कामदेवको जीतकर दूर हटाया था उसे अब अपने अन्तःकरणमें बैठा लिया है, अथवा खास विश्वासपात्र बना लिया है परन्तु अब वही कामदेव तुम दोनोंका पराजय करनेके लिये तैयार हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विश्वास क्यों न किया जाय वह अन्तमें शत्रु ही रहता है ॥३२२॥ यद्यपि यह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि तुझे स्त्री मानकर इसी एकपर बड़ी निष्ठुरताके साथ अपना प्रभाव बढ़ा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्ष्या योद्धाओंपर ही होती है। भावार्थ–यह तुझे स्त्री समझ कायर मानकर अधिक दुःखी नहीं करता है परन्तु जयकुमार पर अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है ॥३२३॥ जिसका विजय सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्रीमान् जयकुमारको तूने यान अर्थात् आगमन (पक्षमें युद्धके लिये किये हुए प्रस्थान) मात्रके द्वारा जीत लिया है इसलिये इस जगह न्यायसे तेरी ही विजय हुई है ॥३२४॥ तू अपने दृष्टिरूपी बाणोंके द्वारा जीते हुए इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बांधकर अपने हाथमें कर, विजय-लक्ष्मी तेरी ही हो ॥३२५॥ इस प्रकार कामदेवके सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको जानने-वाले कञ्चुकीके वचन सुनकर धीरे धीरे जिसकी लज्जा छूटती जा रही है, जिसकी लीलापूर्ण दृष्टि बड़ी चञ्चल है तथा उस समय जन्मान्तरका स्नेह नेत्रोंके द्वारा देखी

१ वीरलक्ष्मी। २ जयकुमारस्य। ३ वा युवयो। वामरवमाला–ल०। ४ विस्तारिणि। ५ जये। ६ गमनमात्रेण। ७ यथा तुलमानुकूल्य कृत्वा, यद्वृध्वयं। ८ सत्तु रागमात्। ६ लज्जा। १० चक्षुषा दृश्यमाना। ११ कुन्दवद् भासमाना। १२ श्रवणानन्दिपयसा। श्रवणान्निगता वा।

इत्येभिः स्यन्दनाद्देवात् [1]समुत्क्षिप्यावरोपिता । रत्नमालां समादाय कन्या कञ्चुकिनः करात् ॥३२८॥
अबध्नाद् बन्धुरां तस्य कण्ठेऽतिप्रेमनिर्भरा । सा चाचकात् समध्यास्य वक्षोलक्ष्मीरिवापरा ॥३२९॥
सहसा सर्वतूर्याणाम् उदतिष्ठन्महाध्वनिः । श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवम् ॥३३०॥
वक्त्रवारिजवासिन्या[2] नरविद्याधरेशिनाम् । श्रिया जयमुखाम्भोजम् आश्रितं वा तदात्यभात् ॥३३१॥
गताशा[3]वारयो म्लानमुखाब्जाक्ष्युत्पलश्रियः । सभूधरनृपाः कष्टमासन् शुष्कसरस्समाः ॥३३२॥

अभिमतफलसिद्ध्या वर्द्धमानप्रमोदो निजदुहि[4]तृसमेतं प्राक् पुरोधाय[5] पूज्यम् ।
जयमभरतरुं वा[6] कल्पवल्लीसनाथं[7] नगरमविशदुच्चैर्नाथवंशाधिनाथः ॥३३३॥

आद्योऽयं[8] महिते स्वयंवरविधौ [9]यद्भोग्यसौभाग्यभाग्
[10]यस्माद्राजखगेन्द्रवक्त्रवनजश्रीवारयोषिद्वृतः ।
मालाम्लानगुणा [11]यतोऽस्य[12] [13]शरणे मन्दारमालायते
[14]तत्कल्पावधि[15]धमस्य[16] विपुलं विश्वं[17] यशो व्यश्नुते[18] ॥३३४॥

भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबुद्धपद्मः[19] प्राप्तोदयः प्रतिविधाय[20] परप्रभावम्[21] ।
[22]बन्धुप्रजाकुमुदबन्धुरचिन्त्यकान्तिर्भाति स्म भानुशशिनोर्विजयी जयोऽयम् ॥३३५॥

हुई जयकुमारकी सुन्दर आकृति, कुन्दके फूलके समान सुने हुए उसके गुण और कामदेव इन सबने उठाकर जिसे रथसे नीचे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर तथा अतिशय प्रेममें निमग्न होकर, वह मनोहरमाला उस जयकुमारके गलेमें डाल दी। उस समय वह माला जयकुमारके वक्ष स्थलपर अधिरूढ हो दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥३२६–३२९॥ उस समय अकस्मात् सब बाजोंकी बडी भारी आवाज ऐसी उठी थी मानो दिशारूपी कन्याओके लिये सुलोचनाका असाधारण उत्सव ही सुना रही हो ॥३३०॥ उस समय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पडता था मानो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओके मुखरूपी कमलोपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उसी एकके मुखपर आ गई हो ॥३३१॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है और जिनके मुखरूपी कमल तथा नेत्ररूपी उत्पलोंकी शोभा म्लान हो गई है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजा सूखे सरोवरके समान बडे ही दुखी हो रहे थे ॥३३२॥ अभीष्ट फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनन्द बढ रहा है ऐसा उत्कृष्ट नाथवशका अधिपति राजा अकंपन, कल्पलतासे सहित कल्पवृक्षके समान पुत्रीसे युक्त पूज्य जयकुमारको आगेकर अपने उत्कृष्ट नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥३३३॥ चूंकि भाग्य और सौभाग्यको प्राप्त होनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी सम्माननीय विधिमें सबसे पहला था, भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलोंकी शोभारूपी वाराङ्गनाओंसे घिरा हुआ था और अम्लान गुणोवाली माला उसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोकी मालाके समान आचरण करने लगी थी, अतएव उसका बहुत बडा निर्मल यश कल्पान्तकाल तक समस्त ससारमें व्याप्त रहेगा ॥३३४॥ जिसकी देदीप्यमान प्रभाके प्रसारसे कमल खिल उठते थे, दूसरो (शत्रुओ अथवा नक्षत्रआदिको) के प्रभावका तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ था और जो भाईबन्धु तथा प्रजारूपी कुमुदोको

---

१ समुद्धृत्य । २ मुखकमलनिवासिन्या । ३ गताश्यवारण ट० । विगतमुखरसा । ४ पुत्री । ५ अग्रे कृत्वा । ६ इव । ७ सहितम् । ८ आद्योऽयं द०, प०, अ०, स० । ९ यत् कारणात् । भाग्य पुण्य । १० यस्मात् कारणात् । ११ यस्मात् कारणात् । १२ जयस्य । १३ परित्राणे, गृहे । १४ तस्मात् कारणात् । १५ कल्पपर्यन्तम् । १६ निर्मलम् । १७ जगत् । १८ व्याप्नोति । १९ प्रबुद्धलक्ष्मी विकसितकमल. । २० निराकृत्य । २१ शत्रुसामर्थ्यम् । नक्षत्रादिसमूहसामर्थ्यं च । २२ बन्धवश्च प्रजाश्च बन्धुप्रजाः, बन्धुप्रजा एव कुमुदानि तेषां बन्धुश्चन्द्रः ।

प्रियदुहितरमेना[1] नाथवंशाम्बरेन्दो-रमुमुपनयति स्म[2] स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीं ।
[3]ज्वलितमहसमस्या वीरलक्ष्मीं च कीर्ति कथयति नयवीति [4]प्रातिभज्ञानमुच्चैः ॥३३६॥
एतत्पुण्यमयं सुरूपमहिमा सौभाग्यलक्ष्मीरियं जातोऽस्मिन्[5] जनकः स योऽस्य जनिका[6] सैवास्य या सुप्रजा[7]।
पूज्योऽयं जगदेकमङ्गल[8]मणिश्चूडामणिः श्रीमतामित्युक्तिजयभागजयं प्रति जनैर्जातोत्सवैर्जल्पिता ॥३३७॥
कुवलयपरिबोधं संदधानः समन्तात् सततविततदीप्तिः सुप्रतिष्ठः[9] प्रसन्नः ।
परिणतिनिजशौर्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या वर्द्धमानो जयः स्तात्[10] ॥३३८॥
इति समुपगता श्री सर्वकल्याणभाजं जिनपतिमतभावत्वात्पुण्यभाजं जयं तम् ।
तदुरुकृतमुपाध्वं हे बुधाः श्रद्दधानाः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमद्वन्द्ववृत्त्या ॥३३९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसङ्ग्रहे सुलोचना स्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

प्रफुल्लित करनेके लिये बन्धुके समान था और जिसकी कान्ति अचिन्त्य थी ऐसा सूर्य और चन्द्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३५॥ जिसकी सौभाग्यरूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रकट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चन्द्रमा स्वरूप राजा अकम्पनकी प्रिय पुत्री सुलोचनाको विवाहा था सो ठीक ही है क्योंकि प्रतिभाशाली मनुष्योंका उत्कृष्ट ज्ञान यही कहता है कि देदीप्यमान प्रतापके धारक पुरुषको ही अनोखी वीर-लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥३३६॥ उस समय जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे लोगों के द्वारा, जयकुमारके प्रति उसकी विजयको सूचित करनेवाली निम्नप्रकार बातचीत हो रही थी कि इस संसारमें यही पुण्य है, यही उत्तम रूपकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिसके यह उत्पन्न हुआ है वही पिता है जिसने इसे उत्पन्न किया है वही उत्तम सन्तानवती माता है यही लक्ष्मीवान् पुरुषोंमें चूडामणि स्वरूप है और समारका कल्याण करनेवाले रत्न-के समान यही एक पूज्य है ॥३३७॥ जो चारों ओरसे कुवलय अर्थात् पृथ्वीमण्डल (पक्षमें रात्रि विकासी कमलों) को प्रसन्न अथवा प्रफुल्लित करता रहता है जिसकी कान्ति सदा फैली रहती है, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तम है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह (चन्द्रमाका सादृश्य धारण करनेवाला) जयकुमार अपने परिपक्व प्रतापसे सूर्यपर भी आक्रमण कर दिशाओंमें फैली हुई बड़ी भारी कीर्तिसे सदा बढ़ता रहे ॥३३८॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के मतकी उपासना करनेसे बहुत भारी पुण्यका उपार्जन करनेवाले और सब प्रकारके कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले जयकुमारको लक्ष्मी प्राप्त हुई थी इसलिये हे श्रद्धावन्त विद्वान् पुरुषो, तुम लोग भी निराकुल होकर परम दयालु सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेवके दोनों चरणकमलोंकी उपासना करो ॥३३९॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें सुलोचनाके स्वयंवरका वर्णन करने वाला यह तेंतालीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

---

१ पुत्रीम् । २ अयमुप-ल०, इ०, अ०, प०, स० । ३ जयकुमारम् । ४ प्रतिभैव प्रातिभं तच्च तद् ज्ञानं च । प्रतिपुरुषसमुद्भूतप्रतिभाज्ञानमित्यर्थः । ५ मातः । ६ माता । ७ सुपुत्रवती । ८ मङ्गलदर्पणः । ९ सुस्थैर्यवान् । १० भूयात् ।

चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ दुर्मर्षणो नाम दुष्टस्तस्याऽसहिष्णुकः[1]। सर्वानुद्दीपयन्[2] पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥१॥
अकम्पनः खलः क्षुद्रो वृथैश्वर्यमदोद्धतः। मृषा युष्मान् समाहूय श्लाघमानः स्वसम्पदम् ॥२॥
पूर्वमेव समालोच्य मालामासञ्जयज्जये। पराभूतिं[3] विधित्सुर्वः स्थायिनीमायुगान्तरम् ॥३॥
इति ब्रुवाणः सम्प्राप्य सव्रीडं चक्रिणः सुतम्। इह षट्खण्डरत्नानां स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥४॥
रत्नं रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव[4] कन्यका। [5]तां त्वां स्वगृहमानीय दौष्ट्यं[6] पश्यास्य दुर्मतेः ॥५॥
जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः। [7]तेनागतोऽस्मि दौर्वृत्त्यं तदेतत् सोढुमक्षमः ॥६॥
[8]प्राकृतोऽपि न सोढव्यः प्राकृतैरपि[9] किं पुनः। त्वादृशैः स्त्रीसमुद्भूतो मानभङ्गो मनस्विभिः ॥७॥
[10]तदादिश[11] [12]विशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदम्[13]। दिशाम्यादेशमात्रेण[14] समालां तेऽपि कन्यकाम् ॥८॥
इत्यसाध्वी[15] क्रुधं भर्तुः स्ववाचैवासृजत् खलः। सदसत्कार्यनिर्वृत्तौ[16] शक्तिः सदसतोः[17] समा ॥९॥
तद्वचःपवन[18]प्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः[19]। भ्रमद्विलोचनाङ्गारः [20]क्रुद्धाग्निसुरसन्निभः ॥१०॥

अथानन्तर–दुर्मर्षण नामका एक दुष्ट पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था वह जयकुमारके उस वैभवको नहीं सहन कर सका इसलिये उस पापीने सब राजाओंको इस प्रकार उत्तेजित किया । वह कहने लगा कि अकम्पन दुष्ट है, नीच है, झूठमूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, अपनी सम्पदाओंकी प्रशंसा करते हुए उसने व्यर्थ ही आप लोगोंको बुलाया है। वह तुम लोगोंका दूसरे युगतक स्थिर रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसीलिये उसने पहलेसे सोच विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डलवाई है, इस प्रकार कहता हुआ वह दुर्मर्षण लज्जित हुए चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके पास आया और कहने लगा कि इन छहों खण्डोंमें उत्पन्न हुए रत्नोंके दो ही स्वामी हैं एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥१–४॥ रत्नोंमें कन्या ही रत्न है और कन्याओंमें भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है इसलिये ही अकम्पनने तुझे अपने घर बुलाकर तेरा तिरस्कार किया है, जरा इस दुष्टकी दुष्टताको तो देखो ॥५॥ भला, जयकुमार है कौन ? जिसके लिये मृत्युसे प्रेरित हुए अकम्पनने अपनी पुत्री दी है । मैं यह दुराचार सहन करनेके लिये असमर्थ हूँ इसलिये ही आपके पास आया हूँ ॥६॥ जब कि नीच लोग भी छोटे छोटे मानभङ्गको नहीं सहन कर पाते हैं तब भला आप जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सहन कर सकेंगे ? ॥७॥ इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये मैं आपकी आज्ञामात्रसे ही इस अकम्पनको यमराजका स्थान दे सकता हूँ और माला सहित वह कन्या आपके लिये दे सकता हूँ ॥८॥ इस प्रकार उस दुष्टने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामीको दुष्ट क्रोध उत्पन्न करा दिया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छा और बुरा कार्य करनेके लिये सज्जन तथा दुर्जनों की एक सी शक्ति रहती है ॥९॥ उस दुर्मर्षणके वचनरूपी वायुसे बढ़ी हुई क्रोधरूपी अग्निसे

---

१ असहमानः । २ कोपाग्निं प्रज्वलयन् । ३ परिभूतिम् । ४ कन्यारत्नेष्वपि । ५ तस्यां अ०, प०, ब०, इ०, स०, म० । ६ दुष्टत्वम् । ७ तेन कारणेन । ८ प्रकृते भवः पराभवोऽपि । अथवा तुच्छकार्येऽपि । ९ नीचैरपि । अष्टान्वयप्रभवैरित्यर्थः । १० तत् कारणात् । ११ आदेशं देहि । १२ ददामि । १३ यमपुरम् । 'कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तक' इत्यभिधानात् । १४ निरूपणमात्रेण । १५ असुगाम् । १६ निष्पत्तौ । १७ सज्जनदुर्जनयोः । १८ प्रवृद्ध । 'प्रवृद्धं प्रौढमेधितमित्यभिधानात् । १९ अग्नि । २० धूमिताग्निकुमारसदृश । सुधा–स०, म० ।

उज्जगार[1] ज्वलत्स्थूलविस्फुलिङ्गोपमा गिरः । अर्ककीर्तिर्द्विषोऽशेषान् दिधक्षुरिव[2] वाचया ॥११॥
मामधिक्षिप्य[3] कन्येयं येन दत्ता दुरात्मना । तेन प्रागेव मूढेन दत्तः स्वस्मै जलाञ्जलिः ॥१२॥
प्रतिघाते[4] रथे [5]तस्मिन् प्रोत्थितः कोपपावकः । तदैव किन्तु को दाह्य इत्यजानन्नहं स्थितः ॥१३॥
[6]नाम्नाभिमानि[7]तो मूढो मन्यते स्वमकम्पनम् । [8]क्रुद्धे मयि न वेत्तीति कम्पते सधरा धरा[9] ॥१४॥
[10]मत्खड्गवारिधारा[11]भिरास्तां तावदगोचरः । संहरन्त्यखिलान् शत्रून् बलवेलैव[12] हेलया ॥१५॥
[13]प्ररूढशुष्कनाथेन्दुवंशविपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्वह्निनास्मिन्नाऽस्मिन्[14] रोक्ष्यति[15] ॥१६॥
वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो[16] भर्तुर्भयान्मया । कथमद्य [17]सहे मालां सर्वसौभाग्यलोपिनीम् ॥१७॥
[18]मद्यशः सततमम्लानमालेवास्त्वायुषावधि । जयलक्ष्म्या सहाद्यैतां[20] हरेयं[21] जयवक्षसः ॥१८॥
जलदान् पेलवान्[22] जित्वा मरुन्मात्रविनाशिनः[23] । अद्य पश्यामि दृप्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥१९॥
इति[24] निर्भिन्नमर्याद कार्याकार्यविमूढधीः । अनिवार्यो विनिर्जित्य कालान्तजलधिध्वनिम् ॥२०॥
अनलस्यानिलो वास्य [25]साहाय्यमगमंस्तदा । केऽपि पापक्रियारम्भे कुशलाः सामवायिकाः[25] ॥२१॥

जो लाल लाल हो रहा है, जिसके नेत्ररूपी अंगारे घूम रहे हैं, और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोंके समान जान पड़ता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोंसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही मानो जलते हुए बड़े बड़े फुलिंगोंके समान वचन उगलने लगा ॥१०–११॥ वह बोला जिस दुष्टने मेरा अपमान कर यह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिये पहले ही जलाञ्जलि दे रखी है ॥१२॥ उस समय कन्याका रथ आगे निकलते ही मेरी क्रोधरूपी अग्नि भड़क उठी थी परन्तु जलने योग्य कौन है ? यह नहीं जानता हुआ मैं चुप बैठा रहा था ॥१३॥ केवल नामसे ठगाया हुआ वह मूर्ख अपने आपको अकम्पन मानता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि मेरे कुपित होनेपर पर्वतों सहित पृथिवी भी कँपने लगती है ॥१४॥ मेरी तलवाररूपी जलकी धाराका विषय तो दूर ही रहे मेरी सेनारूपी लहर ही समस्त शत्रुओंको अनायास ही नष्ट कर देती है ॥१५॥ बहुत बड़े और सूखे हुए नाथवंश तथा चन्द्रवंशरूपी दुष्ट बाँसोंकी बड़ी भारी अटवी मेरे क्रोधरूपी प्रज्वलित अग्निमें, भस्म हो जायगी और फिर इस संसारमें कभी नहीं उग सकेगी ॥१६॥ उस समय पृथिवीके अधिपति चक्रवर्ती महाराजने जयकुमारको जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैंने उनके डरसे सह लिया था परन्तु आज अपने सब सौभाग्यको नष्ट करनेवाली इस वरमालाको कैसे सह सकता हूँ ? ॥१७॥ मेरे यशरूपी फूलोंकी अम्लान माला ही इस युगके अन्ततक विद्यमान रहे । इस मालाको तो मैं जयलक्ष्मीके साथ साथ जयकुमारके वक्षःस्थलसे आज ही हरण किये लेता हूँ ॥१८॥ केवल वायुमात्रसे विलीन हो जानेवाले कोमल मेघोंको जीतकर अहंकारको प्राप्त हुए जयकुमारकी जीत आज मैं युद्धमें देखूँगा ॥१९॥ इस प्रकार जिसने मर्यादा तोड़ दी है, कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित हो रही है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्ककीर्तिने उस समय अपने शब्दोंसे प्रलयकालके समुद्रकी गर्जनाको भी जीत लिया था और जिस प्रकार अग्निको भड़कानेके लिये वायु सहायक होता है उसी प्रकार उसका क्रोध भड़कानेके लिये कितने

१ उवाच । २ दग्धुमिच्छुः । ३ तिरस्कृत्य । ४ प्रतिस्खलने । ५ स्यन्दनस्खलने । ६ अकम्पन इति नाम्ना । ७ वञ्चितः । ८ कुपिते स० । ९ पर्वतसहिता भूमिः । महोर्मिनिशितनिस्त्रिंशसुधारासंपातवेगाभिघातात् । १० अस्मत्खड्गधारायाः । ११ -धाराभिः प०, म० । १२ सेनया । १३ प्रवृद्ध-निरर्गलशुष्कनाथवंशसोमवंशविस्तीर्णाटवी इत्यर्थः । १४ अस्मिन् क्षणे । १५ न रोक्ष्यति । १६ चक्रिणः । १७ सहामि । १८ अस्मत्कीर्तिः । १९ सततम् । २० स्त्रीरत्नम् । २१ गृह्णे । २२ निःसारान् । २३ इति उज्जगार सम्बन्धः । २४ महाध्वना । २५ समवायस्य सदस्याः मन्त्रिणः ।

तदा सर्वोपधाशुद्धो[1] मन्त्री जानपदादिभिः[2] । अनवद्यमतिर्नाम सहितो मन्त्रिलक्षणैः ॥२२॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्सारं ससौष्ठवमनिष्ठुरम् । सुविचार्य वचो न्याय्यं पथ्यं प्रोक्तुं प्रचक्रमे ॥२३॥
मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्वं त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः[3] ॥२४॥
विपर्यासे विपर्यति[4] भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा[5] हि व्यक्तं युष्मासु[6] तिष्ठते ॥२५॥
गुणाः क्षमादयः[7] सर्वे [8]व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु[9] । समस्तास्ते जगद्वृद्धयै[10] चक्रिणि त्वयि च स्थिताः ॥२६॥
च्यवन्ते[11] स्वस्थितेः काले क्वचित्तेऽपि क्षमादयः । न स कालोऽस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्युवयो[12] स्थिते ॥२७॥
सृष्टिः पितामहेनेय[13] सृष्टेना[14] तत्समर्पिताम्[15] । पाति सम्राट्[16] पिता तेऽद्य [17]तस्यास्त्वमनुपालकः ॥२८॥
दैवमानुषबाधाभ्यः क्षतिः कस्यापि या क्षितौ । ममैवेयमिति स्मृत्वा समाधेया[18] त्वयैव सा[19] ॥२९॥
क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्त्रोऽयं भरतेश्वरः । सुतस्तस्यौरसो[20] ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्वं[21] सदादिमः ॥३०॥
त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तन्ते नूतना ये पुरातनाः । तेऽपि त्वत्पालिता एव भवन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥

ही राजा लोग उसके सहायक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओंके प्रारम्भमें सहायता देनेवाले सुलभ होते हैं ॥२०-२१॥ उस समय जो सब उपधाओंसे शुद्ध है तथा जनपद आदि मन्त्रियोंके लक्षणोंसे सहित है ऐसा निर्दोषबुद्धिका धारक अनवद्यमति नामका मन्त्री अच्छी तरह विचारकर धर्मयुक्त, अर्थपूर्ण, यशके सारभूत, उत्तम, कठोरता रहित, न्यायरूप और हितकारी वचन कहने लगा ॥२२-२३॥ उसने कहा कि पृथिवी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, तू, तेरा पिता, मेघ और काल ये सब पदार्थ संसारमें कल्याण करनेवाले हैं ॥२४॥ आप लोगोंमें उलटपुलट होनेसे यह संसारकी सृष्टि उलटपुलट हो जाती है और आपके अनुकूल रहनेसे अच्छी तरह विद्यमान रहती है इससे स्पष्ट है कि यह सृष्टि आप लोगों पर ही अवलम्बित है ॥२५॥ क्षमा आदि गुण अलग अलग तो पृथिवी आदिमें भी रहते हैं परन्तु इकट्ठे होकर संसारका कल्याण करनेके लिये चक्रवर्तीमें और तुझमें ही रहते हैं ॥२६॥ पृथिवी आदि पदार्थ किसी समय अपनी मर्यादासे च्युत भी हो जाते हैं परन्तु ऐसा कोई समय नहीं है जो तुम दोनोंको अपनी मर्यादासे च्युत कर सके ॥२७॥ तुम्हारे पितामह भगवान् वृषभदेवने इस कर्मभूमिरूपी सृष्टिकी रचना की थी, उनके द्वारा सौंपी हुई इस पृथिवीका पालन इस समय तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं और उनके बाद इसका पालन करनेवाले तुम ही हो ॥२८॥ इस पृथिवीमें यदि किसीकी भी दैव या मनुष्यकृत उपद्रवोंसे कुछ हानि होती हो तो 'यह मेरी' ही है ऐसा समझकर आपको ही उसका समाधान करना चाहिये ॥२९॥ जो क्षत अर्थात् संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, भरतेश्वर सबकी रक्षा करते हैं इसलिये ये क्षत्र हैं और तुम उनके सबसे बड़े औरस पुत्र हो इसलिये तुम सबसे पहले क्षत्रिय हो ॥३०॥ इस संसारमें नवीन न्याय तुमसे ही प्रवृत्त होते हैं और जो पुरातन अर्थात् प्राचीन हैं वे तुम्हारे द्वारा पालित होकर ही पुरातन कहलाते हैं। भावार्थ—आपसे नवीन न्याय मार्गकी प्रवृत्ति

---

१ धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा तया शुद्धः । 'उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्' इत्यभिधानात् । २ जनपदभवनृपपुरजनादिभिः । ३ लोकस्य क्षेमकारिणः । ४ विपर्यासमेति । ५ जगत्सृष्टिः । ६ युष्मासु महीप्रभृतिषु प्रकाशते । ७ क्षान्त्यवगाहनसहातमन्तापहरणप्रकाशनादिगुणाः । ८ विकलाः । एकैकस्मिन्नेकैकश एवेत्यर्थः । ९ पृथिव्याकाशादिषु । १० जगद्वृद्धौ प०, स०, म० । ११ प्रच्युता भवन्ति । १२ भरतार्ककीर्त्योः । १३ पितृपिता आदिब्रह्मणा । 'पितामहः पितृपिता' इत्यभिधानात् । १४ सृष्टाः लां अ०, स० । सृष्टयैना द०, प०, म० । १५ आदिब्रह्मणा वितीर्णाम् । १६ चक्री । १७ सृष्टेः । १८ निवर्तनीया । १९ क्षतिः । २० उरसि भवः । साक्षात्सुतः न दत्तपुत्रः । २१ क्षत्राज्जातः ।

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः । विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥३२॥
यदि स्यात् सर्वसम्प्रार्थ्या कन्यैका पुण्यभाजनम् । अविरोधो [1]ह्ययमत्र दैवायत्तो विधिर्बुधैः ॥३३॥
मध्ये महाकुलीनेषु [3]कञ्चिदेकमभीप्सितम् । सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणिनं गुणदुर्गतम् ॥३४॥
विरूपं रूपिणं चापि वृणीतेऽसौ विधेर्वशात् । न तत्र मत्सरः कार्यः शेषैर्न्यायोऽयमीदृशः ॥३५॥
लङ्घ्यते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्त्वयैव सः । नेदं तवोचितं क्वापि [5]पाता स्यात्पारिपन्थिकः ॥३६॥
भवत्कुलाचलस्योग्रो नाथसोमान्वयौ पुरा । मेरोर्निषधनीलौ वा सत्पक्षौ [7]पुरुणा कृतौ ॥३७॥
सकलक्ष्मापपञ्चेऽस्मिन् पूज्योऽयं राजराजवत् [8] । अकम्पनमहाराजो राजेव [9] ज्योतिषां गणे ॥३८॥
निर्विशेषं [10] पुरोरेव मन्यते भरतेश्वरः । पूज्यातिलङ्घनं प्राहुरनयं [11]ह्यशुभावहम् ॥३९॥
पश्य तादृश एवात्र सोमवंशोऽपि मन्यते । धर्मतीर्थं भवद्वंशाद् दानतीर्थं [12]ततो यतः [13] ॥४०॥
पुरश्चरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं जिताजितो [14] । प्रायो दुस्साध्यसिद्धौ श्लाघते ज्यायसेव सः [15] ॥४१॥
[16]एतस्य विजये सर्वैर्दृष्टमेवेह पौरुषम् । अनेन [17]... [17] स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥४२॥
ज्ञात्वा [18]सम्भाव्यशौर्योऽपि स मान्यो भवं निर्भरं । दुष्टसारः स्वमाध्येऽयं सापिनायं विगुप्यते ॥४३॥

चलती है और पुराने न्यायमार्गकी रक्षा होती है ॥३१॥ विवाहविधिके सब भेदोंमें यह स्वयंवर ही श्रेष्ठ है। श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया यह स्वयंवर ही सनातन (प्राचीन) मार्ग है ॥३२॥ यदि पुण्यके पात्र स्वरूप किसी एक कन्याकी याचना सब मनुष्य करने लग जाय तो उस समय परस्परका विरोध दूर करनेके लिये विद्वानोंने केवल भाग्यके आधीन होनेवाले इस स्वयंवर विधिका विधान किया है ॥३३॥ बड़े बड़े कुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके मध्यमें वह कन्या भाग्यवश अपनी इच्छानुसार किसी एकको स्वीकार करती है चाहे वह लक्ष्मीसहित हो या लक्ष्मीरहित, गुणवान् हो या निर्गुण, सुरूप हो या कुरूप। अन्य लोगोंको इसमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह ऐसा ही न्याय है ॥३४-३५॥ यदि किसीके द्वारा इस न्याय का उल्लंघन किया जाय तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिये इसलिये यह सब तुम्हारे लिये उचित नहीं है। क्या कभी रक्षक भी चोर या शत्रु होता है ॥३६॥ जिस प्रकार निषध और नील कुलाचल मेरुपर्वतके उत्तम पक्ष हैं उसी प्रकार भगवान् आदिनाथने पहले नाथवंश और चन्द्रवंश दोनों ही आपके कुलरूपी पर्वतके उत्तम पक्ष अर्थात् सहायक बनाये थे ॥३७॥ जिस *प्रकार चन्द्रमा समस्त ज्योतिषी देवोंके समूहके द्वारा पूज्य है उसी प्रकार समस्त क्षत्रियोंमें* बड़े महाराज अकंपन भी भरत चक्रवर्तीके समान सबके द्वारा पूज्य हैं ॥३८॥ महाराज भरत इन अकंपनको भगवान् वृषभदेवके समान ही मानते हैं इसलिये तुम्हें भी इनके प्रति नम्रता का व्यवहार करना चाहिये क्योंकि पूज्य पुरुषोंका उल्लंघन करना दोनों लोकोंमें अकल्याण करनेवाला कहा गया है ॥३९॥ और देखो यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही कहा जाता है। क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे वंशसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुई है उसी प्रकार सोमवंशसे दान-तीर्थकी प्रवृत्ति हुई है ॥४०॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न आगे आगे चलने मात्रसे प्रशंसनीय कहा है परन्तु कठिनाईसे सिद्ध होने योग्य कार्योंमें वे प्राय जयकुमार की ही प्रशंसा करते हैं ॥४१॥ दिग्विजयके समय इनका पुरुषार्थ संसारमें सबने देखा था। उस समय इसने जो पराक्रम दिखाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिये ॥४२॥ जिस योद्धामें शूरवीरपनेकी सम्भावना हो राजाओं

१ अनिष्टेन वरः । २ कृत । ३ -देक मभीप्सितम् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ४ सुन्दरिम् । ५ रक्षक । ६ न हायो । सन्नपनी च । ७ पक्षितम् । ८ चन्द्र इव । ९ समानम् । १० ह्यशुभ च । ११ मामकजान । १२ यत काम्यात । १३ पक्षि ... । १४ चक्री । १५ जयस्य । १६ स म० । १७ कमलनिदान । १८ नाविशोर्य इत्यर्थे ।

विना चक्राद् विना रत्नैर्भोग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयात्ते[1] मानुषी[2] सिद्धिर्दैवी पुण्योदयात्तथा ॥४४॥
तृणकल्पोऽपि[3] संरक्ष्यस्तव नीतिरियं कथम् । नाथेन्दुवंशावुच्छेद्यौ लक्ष्म्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥
बन्धुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्र्यपि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वया स्यात् सम्प्रवर्तितः[4] ॥४६॥
परदाराभिलाषस्य प्राथम्यं[5] मा वृथा कृथाः[6] । अवश्यमाहृताप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥४७॥
सप्रतापं यशः स्थास्नु जयस्य स्यादहर्यथा । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥४८॥
सर्वमेतन्ममैवेति मा मंस्थाः साधनं युधः[7] । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सन्ति तत्पक्षपातिनः ॥४९॥
पुरुषार्थत्रयं पुम्भिर्दुष्प्रापं तत्त्वयार्जितम् । न्यायमार्गं समुल्लङ्घ्य वृथा तत्किं विनाशये ॥५०॥
अकम्पनस्य सेनेशो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्म्यास्तुलारोहं मुधा त्वं किं विधास्यसि ॥५१॥
ननु न्यायेन बन्धोस्ते[8] बन्धुपुत्री समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमा[9]ऽत्र पराभवः ॥५२॥
कन्यारत्नानि सन्त्येव बहून्यन्यानि भूभुजाम् । इह तानि सरत्नानि सर्वाण्यद्यान[10]यामि ते ॥५३॥
इति नीतिलतावृद्धिविधाय्यपि वचः पयः । [11]व्यधात् तच्चेतसः क्षोभं तप्ततैलस्य वा भृशम् ॥५४॥

को जानकर उसका भी सन्मान करना चाहिये फिर भला जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्यको भी सिद्ध कर दिया है उसकी तो बात ही क्या है ? ॥४३॥ आगे चलकर जिस समय विना चक्र और विना रत्नोंके यह लक्ष्मी तुम्हारे उपभोग करने योग्य होगी उस समय तुम्हारी दैवी सिद्धि जिस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे होगी उसी प्रकार तुम्हारी मानुषी अर्थात् मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होगी ॥४४॥ जब कि तृणके समान तुच्छ पुरुषकी भी रक्षा करनी चाहिये यह आपकी नीति है तब राज्य लक्ष्मीके साक्षात् भुजाओंके समान आचरण करनेवाले नाथ वंश और सोम वंश उच्छेद करने योग्य कैसे हो सकते हैं ? ॥४५॥ इन भाइयोंके समान सेवकोंका नाश करनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर अधिक क्रोध करेंगे और युगके अन्ततक टिकनेवाला यह अधर्म भी तुम्हारे द्वारा चलाया हुआ समझा जायगा ॥४६॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषाका प्रारम्भ नहीं करना चाहिये क्योंकि यह निश्चय है, यह कन्या जबरदस्ती हरी जाकर भी तुम्हारी नहीं होगी ॥४७॥ जयकुमारका प्रताप सहित यश दिनके समान सदा विद्यमान रहेगा और तुम्हारी मलिन अकीर्ति रात्रिके समान सदा विद्यमान रहेगी ॥४८॥ ये सब राजा लोग युद्धमें मेरी सहायता करेंगे ऐसा मत समझिये क्योंकि इनमें भी बहुतसे राजा लोग उनके पक्षपाती हैं ॥४९॥ जो धर्म अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थ पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ हैं वे तुझे प्राप्त हो गये हैं इसलिये अब न्याय मार्गका उल्लंघन कर उन्हें व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो ॥५०॥ यह जयकुमार जिस प्रकार पहले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसी प्रकार अब अकम्पनका सेनापति बना है तुम व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तुलापर आरूढ क्यों कर रहे हो । भावार्थ–वीरलक्ष्मीको संशयमें क्यों डाल रहे हो ॥५१॥ निश्चयसे तेरे एक भाईकी पुत्री तेरे दूसरे भाईके लिये न्यायपूर्वक समर्पण की गई है, ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ ? हां तुम्हारी असहनशीलता ही तिरस्कार हो सकती है ? भावार्थ–हितकारी होनेसे जिस प्रकार जयकुमार तुम्हारा भाई है उसी प्रकार अकंपन भी तुम्हारा भाई है । एक भाईकी पुत्री दूसरे भाईके लिये न्यायपूर्वक दी गई है इसमें तुम्हारा क्या अपमान हुआ ? हां, यदि तुम इस बातको सहन नहीं कर सकते हो तो यह तुम्हारा अपमान हो सकता है ॥५२॥ सुलोचनाके सिवाय राजाओंके और भी तो बहुतसे कन्यारत्न हैं, रत्नाकर सहित उन सभी कन्याओंको मैं आज तुम्हारे लिये यहां ला देता हूँ ॥५३॥ इस प्रकार

१ तव । २ पुरुषकृता । ३ रक्षणीय । ४ सम्प्रवर्तित ब०, ल०, अ० प०, इ० ५ प्रथमत्वम् । ६ मा कार्षीः । ७ युद्धस्य । ८ तव । ९ असहमानता । १० प्रापयामि । ११ व्याघात् ल० ।

सर्वमेतत् समाकर्ण्य बुद्धिं कर्मानुसारिणीम् । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीम् ॥५५॥
अस्ति स्वयंवरः पन्था परिणीतौ[1] चिरन्तनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकम्पनः ॥५६॥
किन्तु सोऽस्य जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिप्रविधित्सुकः ॥५७॥
सर्वभूपालसन्दोहसमाविर्भावितोदयात्[2] । स्वयं चक्रीयितुं[3] चैव व्यधत्त कपटं शठः[4] ॥५८॥
प्राक्समर्थितमन्त्रेण [5]प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥
युगादौ कुलवृद्धेन[6] मायेयं सम्प्रवर्तिता । मयाद्य यद्युपेक्ष्येत कल्पान्ते नैव वार्यते ॥६०॥
न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनम् । प्रवर्तयत्यसौ दण्डं मय्यप्यन्यायवर्तिनि ॥६१॥
जयोऽप्येवं[8] समुत्सिक्त[9]स्तत्पट्टेन[10] च मालया । प्रतिस्वं लब्धरन्ध्रो[11] मां करोत्या[12]रम्भकं पुरा ॥६२॥
[13]समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषममुं युधि । अनुरागं जनिष्यामि राजन्यानां मयि स्थिरम् ॥६३॥
द्विधा भवतु वा मा वा बलं ते न किमाशुगाः[14] । मालां प्रत्यानयिष्यन्ति जयवक्षो विभिद्य मे ॥६४॥
नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी[15] मदरेरयम्[16] । [17]परासुरधुनैव स्यात् किं मे विषयया त्वया ॥६५॥

अनवद्यमति मन्त्रीका वचनरूपी जल यद्यपि नीतिरूपी लताको बढ़ानेवाला था तथापि उसने तपे हुए तेलके समान अर्ककीर्तिके चित्तको और भी अधिक क्षोभित कर दिया था ॥५४॥ यह सब सुनकर 'बुद्धि कर्मोंके अनुसार ही होती है,' इस बातको स्पष्ट करता हुआ वह दुर्बुद्धि इस प्रकार वचन कहने लगा ॥५५॥ मैं मानता हूँ कि विवाहकी विधियोंमें स्वयंवर ही पुरातन मार्ग है और यह भी स्वीकार करता हूँ कि हमारे पितामह भगवान् वृषभदेवके द्वारा स्थापित होने तथा वयमें ज्येष्ठ होनेके कारण अकम्पन महाराज मेरे मान्य हैं परन्तु वह जयकुमारपर स्नेह होनेसे उसीका उत्कर्ष करना चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यकी प्रतीति करना चाहता है। समस्त राजाओंके समूहके द्वारा प्रकट हुए बड़प्पनसे अपने आपको चक्रवर्ती बनानेके लिये ही उस मूर्खने यह कपट किया है ॥५६–५८॥ 'यह कन्या जयकुमारको ही देनी है' ऐसी सलाह अकंपन पहले ही कर चुका था और उसी सलाहके अनुसार अपने हृदयमें जयकुमारके लिये कन्या दे भी चुका था परन्तु यह सब छिपानेके लिये जिसे पहले ही संकेत किया गया है ऐसी पुत्रीके द्वारा उसने यह माला झूठमूठ ही डलवाई है ॥५९॥ युगके आदिमें उच्चकुलीन अकम्पनके द्वारा की हुई इस मायाकी यदि आज मैं उपेक्षा कर दूँ तो फिर कल्पकालके अन्ततक भी इसका निवारण नहीं हो सकेगा ॥६०॥ अन्यायका निराकरण करना चक्रवर्तीके भी क्रोधके लिये नहीं हो सकता क्योंकि जब मैं अन्यायमें प्रवृत्ति कर बैठता हूँ तब वे मुझे भी तो दण्ड देते हैं। भावार्थ–चक्रवर्ती अन्यायको पसन्द नहीं करते हैं और मैं भी अन्यायका ही निराकरण कर रहा हूँ इसलिये वे मेरे इस कार्यपर क्रोध नहीं करेंगे ॥६१॥ यह जयकुमार भी पहले वीरपट्ट बाँधनेसे और अब मालाके पड़ जानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है। यह छिद्र पाकर पहलेसे ही मेरे लिये कुछ न कुछ आरम्भ करता ही रहता है ॥६२॥ यह सबका शत्रु है इसलिये युद्धमें इसे आमूलचूल नष्टकर सब राजाओंका स्थिर प्रेम अपनेमें ही उत्पन्न करूँगा ॥६३॥ सेना फूटकर दो भागोंमें विभक्त हो जाय अथवा न भी हो, इसमें मुझे क्या ? मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल भेदनकर वरमालाको ले आवेंगे। ॥६४॥ मैं सुलोचनाको भी नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्ष्या करनेवाला यह जयकुमार मेरे बाणोंसे अभी

---

१ विवाहे । २ अभ्युदयं प्राप्यमाश्रित्य । ३ चक्रीवाचरितुम् ॥ ४ मायावी । ५ दत्त्वा । ६ अकम्पनेन । ७ –प्गन ल० । ८ –प्यन ल० । ९ गर्वितः । १० वीरपट्टेन । ११ प्राप्तावसरः । १२ व्यापारम् । १३ कारणसहितम् । १४ शराः । १५ मत्सरवान् । १६ मम वैरी । १७ गतप्राणः । 'परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः ।' इत्यभिधानात् ।

दुराचारनिषेधेन त्रय धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥
व्ययो मे विक्रमस्यास्तां[1] शरस्याप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद् दुष्टस्याहः[2] कुतो भवेत् ॥६७॥
कीर्तिविख्यातकीर्तेर्मे नार्ककीर्तेर्विनङ्क्ष्यति[3] । अकीर्तिरनिवार्या स्याद् अन्यायस्यानिषेधनात् ॥६८॥
तस्य[4] मेऽयशसः कीर्तेर्भवद्भिर्यदुदाहृतम्[5] । भवेत्तत्सत्यसंवादि[6] शीतकोऽस्म्यत्र यद्यहम् ॥६९॥
यूयमाध्वं ततस्तूष्णीम् 'उष्णकोऽहमिदं प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च मा निषेधि[7] हितैषिभिः ॥७०॥
एवं मन्त्रिणमुल्लङ्घ्य कुधीर्वा दुर्ग्रहाहितः[8] । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥७१॥
कथयित्वा महीशानां सर्वेषां रणनिश्चयम् । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदाम् ॥७२॥
अनुभेरीरवं सद्यः प्रत्यावासं[11] महीभुजाम् । नटद्भटभुजास्फोटचटुलाराव[13]निष्ठुरः ॥७३॥
करिकण्ठस्फुटोद्घोषघण्टाटङ्कारभैरवः । जितकण्ठीरवारावहयहेषाविभीषणः ॥७४॥
चलद्धरिखुरोद्घट्टकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपद्धति[14]प्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः[15] ॥७५॥
[16]स्पन्दत्स्यन्दनचक्रोत्थपृथुचीत्कारभीकरः । धनुःसज्जीक्रियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥७६॥
प्रतिध्वनितदिग्भित्तिस्सर्वानकभयानकः । बलकोलाहलः कालमिवाह्वातुं समुद्ययौ ॥७७॥

ही मर जावेगा तब उस विघ्नसे मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा ॥६५॥ दुराचारका निषेध करनेसे धर्म आदि तीनो बढते है, क्योकि कारणके रहते हुए क्या कही कार्यकी हानि देखी जाती है ? ॥६६॥ इस काममे मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहा मेरा एक बाण भी खर्च नही होगा बल्कि दुष्टके मारनेमें धर्म ही होगा, पाप कहासे होगा ? ॥६७॥ ऐसा करनेसे प्रसिद्ध कीर्तिवाले मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नही होगी परन्तु हा, यदि इस अन्यायका निषेध नही करता हूँ तो किसीसे निवारण न करने योग्य मेरी अपकीर्ति अवश्य होगी ॥६८॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और उसकी कीर्ति होनेका उदाहरण किया है सो यदि मै इस विषयमें ठडा हो जाऊ तो यह आपका निरूपण सत्य हो सकता है ॥६९॥ इसलिये तुम लोग चुप बैठो मैं इस कार्यमें उष्ण हूं–क्रोधसे उत्तेजित हूं । हित चाहनेवालोको धर्म, अर्थ तथा यश बढाने वाले कार्योका कभी निषेध नही करना चाहिये ॥७०॥ इस प्रकार जिसका पराभव निकट है और जो खोटे हठसे युक्त है ऐसे दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने मन्त्रीका उल्लघन कर सेनापतिको बुलाया और सब राजाओसे युद्धका निश्चय कहकर तीनो लोकोको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवाई ॥७१–७२॥ जो राजाओके प्रत्येक डेरेमें भेरीके शब्दोके साथ ही साथ बहुत शीघ्र नाचते हुए योद्धाओकी भुजाओकी ताडनासे उत्पन्न होनेवाले चचल शब्दोसे कठोर है, जो हाथियोके गलेमें स्पष्ट रूपसे जोर जोरका शब्द करनेवाले घटाओकी टकारसे भयकर है, जो सिंहोकी गर्जनाको जीतनेवाले घोडोकी हिनहिनाहटसे भीषण है जो चलते हुए घोडोके खुरोके सघटनसे उठनेवाले कठोर शब्दोसे भरा हुआ है, जो पैदल सेनाके पैरोकी चोटसे उत्पन्न हुए पृथिवीके बहुत भारी शब्दोसे भयकर है, जो चलते हुए रथोके पहियोसे उत्पन्न होनेवाले बहुत भारी चीत्कार शब्दोसे भय पैदा करनेवाला है, जो धनुष तैयार करनेके लिये लगाई हुई डोरीके आस्फालनसे कठोर है, जिसने दिशारूपी दीवालोको प्रतिध्वनिसे युक्त कर दिया है और जो सब प्रकारके नगाडोसे भयानक हो रहा है ऐसा बहुत भारी सेनाका कोलाहल उठा सो ऐसा जान पडता

---

१ आस्तां नार्वादित्यध्याहारः । २ पाप । ३ विनाशमेष्यति । ४ जयस्य । ५ यदुदाहरणम् । ६ सत्यैः अविपरीतप्रतिरूपितम् । भवतां एकवादागत वा । ७ मन्द । ८ पटु । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सुत्थान उष्णश्च' इत्यभिधानात् । ९ न निषिध्यतं स्म । १० स्वीकृत । ११ शिबिरं प्रति शिबिरं प्रति । १२ मनोज्ञा । १३ ध्वनि । १४ पादहति । १५ भूमिध्वनिना भयङ्करः । १६ चलत् ।

शिक्षिताः बलिनः शूराः शूरारूढाः सकेतवः । गजाः समन्तात् सन्नाहृचा[1] प्राक्चेलुरचलोपमाः ॥७८॥
तुरङ्गमास्तरङ्गाभाः सङ्ग्रामाब्धेः सवर्मकाः[2] । [3]अनुदन्ति नदन्तो[4]ऽयान्[5] विक्रामन्तः[6] समन्ततः ॥७९॥
सचक्र[7] धेहि संयोज्य सधुरं[8] [9]प्राज वाजिनः । इति [10]सम्भ्रमिणोऽप्तन्[11] रथास्तदनु सध्वजाः ॥८०॥
चण्डाः कोदण्डकुन्तासिप्रासचक्रादिभीकराः । यान्ति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्धदिक्काः पदातयः ॥८१॥
गजं गजस्तदोद्धव्य वाहो[12] वाहं रथं रथः । पदातयश्च पादातं सम्भ्रमान्निर्ययुर्युधे[13] ॥८२॥
आरूढानेकपानेकभूपालपरिवारितः । भेरीनिष्ठुरनिर्घोषभीषिताशेषदिग्द्विपः ॥८३॥
चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः । गजं विजयघोषाख्यम् आरुह्याद्रिवरोत्तमम् ॥८४॥
अर्ककीर्तिरहिर्भास्वद[14]युद्यतभटावृतः । ज्योतिः कुलाचलैर्वार्कश्चचालाभ्यचलाधिपम्[15] ॥८५॥
किंवदन्तीं[16] विदित्वैतां भूपो भूत्वा कुलाकुलः[17] । स्वालोचितं[18] च कर्तव्यं[19] विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥८६॥
इति स्वसचिवैः सार्धम् आलोच्य च जयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्त्यमंथा[20]द्विमद्[21] दूतं सम्प्राप्य सत्वरम् ॥८७॥
कुमार तव किं युक्तम् एव सीमातिलङ्घनम् । प्रसीद प्रलयो[22] दूरं तन्मा कार्षीर्मुधागमम् ॥८८॥

था मानो कालको बुलानेके लिये ही उठा हो ॥७३–७७॥ उस समय जो शिक्षित हैं, बलवान् हैं, शूरवीर हैं, जिनपर योद्धा बैठे हुए हैं, पताकाएं फहरा रही हैं, जो सब तरहसे तैयार हैं और पर्वतोंके समान ऊंचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे आगे चल रहे थे ॥७८॥ जो संग्रामरूपी समुद्रकी लहरोंके समान हैं, कवच पहने हुए हैं, हींस रहे हैं और कूद रहे हैं ऐसे घोडे उन हाथियोंके पीछे पीछे चारो ओर जा रहे थे ॥७९॥ पहियें जल्दी लगाओ, धुराको ठीककर जल्दी लगाओ, इस प्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें शीघ्रगामी घोडे जुते हुए हैं और ध्वजाएं फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोडोंके पीछे पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोंके पीछे धनुष, भाला, तलवार, प्रास और चक्र आदि शस्त्रोंसे भयंकर, फैलकर सब दिशाओंको रोकनेवाले, क्रोधी और बलवान् पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥८१॥ उस समय हाथी हाथीको, घोडा घोडाको, रथ रथको और पैदल पैदलको धक्का देकर युद्धके लिये जल्दी जल्दी जा रहे थे ॥८२॥ तदनन्तर–हाथियोंपर चढे हुए अनेक राजाओंसे घिरा हुआ, नगाडोंके कठोर शब्दोंसे समस्त दिग्गजोंको भयभीत करनेवाला, चक्रके चिह्नवाली ध्वजाको ऊंचा उठाकर अपनी ऊंचाईको अच्छी तरह प्रकट करनेवाला और चमकीली तलवार हाथमें लिये हुए योद्धाओंसे आवृत अर्ककीर्ति, मेरु पर्वतके समान उत्तम विजयघोष नामक हाथीपर सवार हो अचलाधिप (अचला अधिप) अर्थात् पृथ्वीके अधिपति राजा अकंपनकी ओर इस प्रकार चला मानो ज्योतिर्मण्डल और कुलाचलोंके साथ साथ सूर्य ही अचलाधिप (अचल अधिप) अर्थात् सुमेरुकी ओर चला हो ॥८३–८५॥ महाराज अकंपन यह बात जानकर बहुत ही व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अच्छी तरह विचारकर किया हुआ कार्य भी दैवके द्वारा उल्टा कर दिया जाता है। इस प्रकार उन्होंने अपने मंत्री तथा जयकुमार आदिके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके प्रति शीघ्र ही एक शीघ्रगामी दूत भेजा ॥८६–८७॥ दूतने जाकर कहा कि हे कुमार, क्या तुम्हें इस प्रकार सीमाका उल्लंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है इसलिये प्रसन्न हूजिये

---

१ सन्नद्धा कृता । २ तनुत्रसहिता । ३ दन्तिना पश्चात् । ४ ध्वनन्त । ५ अगच्छन् । ६ लङ्घनं कुर्वन्त । ७ चक्रेण सह शिंचित् धेहि धारय । ८ धुरा सह शिञ्चित् धेहि । ९ प्रेरय । १० आनुप्रधावने प्रयुक्ता । त्वरावन्तः । ११ अगच्छन् । १२ अश्व । 'वाहोऽश्वस्तुरगो वाजी हयो धुर्यस्तुरङ्गम' इति धनञ्जय । १३ सङ्ग्रामनिमित्तम् । १४ उद्धृतासि । १५ अकम्पन महाराज प्रति । मेरु च । १६ जनवार्ताम् । १७ अविकाकुल । १८ सुष्ठ्वालोचितम् । १९ कार्यम् । २० अर्ककीर्ति प्रति । २१ प्राहिणोत् । २२ प्रलय पश्चात्काले भवनीयागमम् । मुधा मा कुरु ।

इति सामादिभिः [1]स्वोक्तैरशान्तमवगम्य तम् । प्रत्येत्य तत्तथा सर्वम् आशुवाग्[2]गमनृपम् ॥८९॥
[3]काशिराजस्तदाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहाहितो[4] वाऽऽसीद् दुष्कार्ये को न मुह्यति ॥९०॥
[5]अत्र चिन्त्यं न वः किञ्चिन्न्यायस्तेनैव[6] लङ्घितः । [7]तिष्ठतेहैव[8] संरक्ष्य सुनियुक्ताः[9] सुलोचनाम् ॥९१॥
इदानीमेव दुर्वृत्तं शृङ्खलालिङ्गनोत्सुकम् । शाखामृगमिवानेष्ये बध्वा दारात[10]तायिनम् ॥९२॥
इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिताम् । मेघघोषाभिधां भेरीं [11]अग्रगेनास्फोटयद्[12] रुषा ॥९३॥
[13]द्रोणादिप्रक्षयारम्भघनाघनघनध्वनिम् । तद्ध्वनिर्व्याप[14] निर्जित्य निर्भिद्य हृदयं द्विषाम् ॥९४॥
तद्रवाकर्णनाद् घूर्णितार्णवप्रतिमे[15] बले । अतिवे[16]लोत्सवोऽस्यासीदुत्सवो विजये[17] यथा ॥९५॥
तदोद्भिन्नकटप्रान्तप्रक्षरन्मदपायिनः । स्वमेदेनेव मातङ्गाः प्रोत्तुङ्गाः प्रोन्मदिष्णवः ॥९६॥
सुस्वनन्तः खनन्तः खं वाजिनो वायुरंहसः[18] । कृतोत्साहा[19] रणोत्साहाद् रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥९७॥

और आगमको झूठा मत कीजिये। भावार्थ—लड़कर असमयमें ही प्रलय काल न ला दीजिये। दूतने इस प्रकार बहुतसे साम, दान आदिके वचन कहे परन्तु तो भी उसे अशान्त जानकर वह लौट आया और शीघ्र ही ज्योंके त्यों सब समाचार अकंपनसे कह दिये ॥८८–८९॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज अकंपनका चित्त विषादसे विचलित हो उठा और वे स्वयं महामोहसे मूच्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें कौन मूच्छित नहीं होता ॥९०॥ जयकुमारने अकंपनको चिन्तित देखकर कहा कि इस विषयमें हम लोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि न्यायका उल्लंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचनाकी रक्षा करते हुए यहीं रहिये। दुराचारी, स्त्रियोंपर उपद्रव करनेवाले और इसलिये ही साँकलोंसे आलिंगन करनेकी इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको बंदरके समान बाँधकर मैं अभी लाता हूँ ॥९१–९२॥ इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर, युद्धमें आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी बजवाई ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारम्भमें प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोंकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओंका हृदय विदारणकर वह भेरीकी आवाज सब ओर फैल गई ॥९४॥ जिस प्रकार शत्रुके विजय करनेपर उत्सव होता है उसी प्रकार उस भेरीका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामें माला डालनेके उत्सवसे भी कहीं अधिक उत्सव होने लगा ॥९५॥ उस समय फटे हुए गण्डस्थलके समीपसे झरते हुए मदका पान करनेवाले और अपने उसी मदसे ही मानो उन्मत्त हुए ऊंचे ऊंचे हाथी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे। तथा इसी प्रकार अच्छी तरह हींसते हुए, पैरोंसे आकाशको खोदते हुए और वायुके समान वेगवाले उत्साही घोड़े भी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना

---

१ सोक्तैः ट० । वचनसहितैः । २ शीघ्रं ज्ञापितवान् । ३ अकम्पनः । ४ महामूर्च्छागृहीत इव । ५ अत्र कार्ये । ६ अर्ककीर्तिनैव । ७ निवसत । ८ राजभवने । ९ सावधाना भूत्वा । १० दारानतायिनम् ट० । दारेषु कृतागमनम् । स्त्रीनिमित्तमागतमर्ककीर्तिमित्यर्थः । दारानतायिनमिति पाठे दारार्थं वधोद्यतम् । 'आततायी वधोद्यतः' इत्यभिधानात् । ११ अग्रगामिना पुरुषेण । १२ आस्फालनं कारयति स्म । अग्रगेनास्फालयद् ल०, अ०, प०, इ०, म० । १३ द्रोणादि द्रोणकालपुष्करादि । प्रक्षयारम्भ प्रलयकालप्रारम्भ । द्रोणादयश्च ते प्रक्षयारम्भघनाघनास्तेषां ध्वनिम् । १४ व्याप्नोति स्म । १५ समाने । "प्रतिमान प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया । प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ।" १६ अधिकोत्सव. । 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रं गाढनिर्भरम्' इत्यभिधानात् । अतिमात्रोत्सवो ल०, अ०, प०, इ० । १७ दिग्विजये । १८ पवनवेगाः । १९ कृतोद्योगाः ।

रथाः प्रागिव[1] पर्यन्तात्[2] पूर्णसर्वायुधायुधैः[3] । महावाहसमायुक्ताः प्रनृत्यत्केतुबाहवः ॥९८॥
योषितोऽप्यभटायन्त[4] पाटवात् संयुगे स्त्रियः[5] । ततः[6] [7]प्रतिबलात्तत्र[8] भूयांसो वा[9] पदातयः ॥९९॥
वर्द्धमानो ध्वनिस्तूर्ये रणरङ्गे भविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रवृत्तस्य प्रोच्चयो गुणयन्निव[10] ॥१००॥
वनान्वयं वयःशिक्षासल्लक्षणैर्वीक्ष्यविग्रहम्[11] । [12]सुकर्माणं सुधर्माणं[13] कामवन्तं[14] क्षरन्मदम् ॥१०१॥
सामजं विजयार्द्धाख्यं विजयार्द्धमिवापरम् । बहुशो दृष्टसङ्ग्रामं [15]गजध्वजविराजिनम् ॥१०२॥
अधिष्ठाय[16] जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जगाम युगप्रान्तकाललीलां विलङ्घयन् ॥१०३॥
कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वं तिष्ठ मात्रेति[17] सादरम् । प्रवेश्य चैत्यधामाग्र्यं[18] सुतां नित्यमनोहरम् ॥१०४॥
समग्रबलसम्पत्त्या चचाल चलयन्निलाम्[19] । अकम्प्यः कम्पितारातिः [20]साकम्पनिरकम्पनः ॥१०५॥
सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जयं जग्मुरिति भूपाः ससाधनाः ॥१०६॥
इमे मुकुटबद्धेषु पञ्च विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेन्दुवंशगृह्याः[21] समाययुः ॥१०७॥
मेघप्रभश्च चण्डासिप्रभाव्याप्तवियत्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धविद्याधरैरगात् ॥१०८॥

रही था ॥९६–९७॥ जो सब प्रकारके शस्त्रोंसे पूर्ण हैं, जिनमें बड़े बड़े घोड़े जुते हुए हैं, और जिनकी ध्वजारूपी भुजाएं नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ पहलेके समान ही सब ओर फैल रहे थे ॥९८॥ जयकुमारकी सेनामें युद्धमें चतुर होनेके कारण स्त्रियां भी योद्धाओंके समान आचरण करती थीं इसलिये अन्य राजाओंकी अपेक्षा उसकी पैदल सेनाकी संख्या अधिक थी ॥९९॥ उस समय जो बाजोंका शब्द बढ़ रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो रणके मैदानमें जो वीरलक्ष्मीका उत्तम नृत्य होनेवाला है उसे कई गुना करता हुआ ही बढ़ रहा हो ॥१००॥

तदनन्तर–जो वनमें उत्पन्न हुआ है, वय, शिक्षा और अच्छे अच्छे लक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीर अच्छा है, जो कामवान है, जिसके मद झर रहा है, जिसने अनेक बार युद्ध देखे हैं, जो हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओंसे सुशोभित है और दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान जान पड़ता है ऐसे विजयार्ध नामके हाथीपर सवार होकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोंके साथ साथ युगके अन्त कालकी लीलाको उल्लंघन करता हुआ निकला ॥१०१–१०३॥ इधर शत्रुओंको कम्पित करनेवाले और स्वयं अकंप (निश्चल) रहनेवाले महाराज अकम्पनने भी 'तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शान्तिपूजा करती हुई बैठ' इस प्रकार कहकर पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमें पहुंचाया और स्वयं अपने पुत्रोंको साथ लेकर समस्त सेनारूपी सम्पत्तिके द्वारा पृथिवीको कपाते हुए निकले ॥१०४–१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा और देवकीर्ति ये सब राजा अपनी अपनी सेनाओंके साथ जयकुमारसे जा मिले ॥१०६॥ मुकुटबद्ध राजाओंमें जिनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ऊपर कहे हुए सुकेतु आदि पांच राजा तथा नाथवंश और सोमवंशके आश्रित रहनेवाले अन्य शूरवीर लोग, सभी जयकुमारसे आ मिले ॥१०७॥ जिसने अपनी तीक्ष्ण तलवारकी प्रभासे आकाशतलको व्याप्त कर लिया है और जो विद्याके बलसे

---

१ दिग्विजये यथा। २ समन्तात् प्रान्ता। पर्यन्ता स०। ३ रथस्य। पूर्णसर्वायुधायुध इति समस्तपदपक्षे पूर्णसर्वायुधानि च नगानथयुत। ४ भटा इवाचरिता। ५ युद्धं प्रति। ६ ततः कारणात्। ७ प्रतिबलं विनाशयमानं मनादय। ८ जयकुमारबले। ९ इव। १० अतिशयेन वर्द्धयन्निव। ११ दर्शनीयमूर्तिम्। १२ सुकर्माणं सुधर्माणं अ०, प०, ल०, इ०। सुधर्माणं सुवर्माणं स०। १३ गानवन्तमसादम्। १४ आरोहणस्य सर्वनिःसरणवनम्। १५ गजध्वजः। १६ आरुह्य। १७ जनन्या सह। १८ श्रेष्ठम्। १९ भूमिम्। २० अकम्पनोऽपि नाम्नाऽकम्पनोऽस्ति। २१ नाथवंशसोमवंशाश्रिता।

बलं विभज्य भूभागे विशाले सकले समे । प्रकृत्य[1] मकरव्यूहं[2] विरोधिबलघस्मरः[3] ॥१०९॥
उच्चैर्गर्जिततूर्यो घनिर्यन्निर्घोषभीषणः[4] । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा ॥११०॥
चक्रव्यूहं[5] विभक्तात्मभूरिसाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च भाति स्म परिवेषाहितार्कवत्[6] ॥१११॥
क्रुद्धा खे खेचराधीशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाद्य तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥११२॥
अष्टचन्द्रा[7] खगाः ख्यातास्चक्रिणः परितः सुतम् । शरीररक्षकत्वेन भेजुर्विद्यामदोद्धताः ॥११३॥
अकालप्रलयारम्भजृम्भिताम्भोदगर्जितम् । निर्जित्य तूर्णं तूर्याणि दध्वनुः सेनयोः समम् ॥११४॥
धानुष्कैर्मार्ग[8]णैर्मार्गः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारेभे घोरघोषैः सवल्गितम्[9] ॥११५॥
सङ्ग्रामनाटकारम्भसूत्रधारा धनुर्धराः । रणरङ्गं विशन्ति स्म गर्जत्तूर्यपुरस्सरम् ॥११६॥
आबध्य स्थानकं[10] पूर्वं रणरङ्गे धनुर्धरैः । पुष्पाञ्जलिरिव व्यस्तो[11] मुक्तः [12]शितशरोत्करः ॥११७॥
तीक्ष्णा मर्माण्यभिघ्नन्तः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः[13] शश्वत् खलकल्पा [14]धनुर्भृतः ॥११८॥

उद्धत हो रहा है ऐसा मेरुप्रभ नामका विद्याधर भी अपने आधे विद्याधरोंके साथ निकला ॥१०८॥ जो शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाला है, बड़े बड़े बाजोंके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर है और जिसने अपनी आवाजसे मेघोंकी गर्जनाको भी जीत लिया है ऐसा जयकुमार उस समय विशाल और सम (ऊंची नीची रहित) पृथ्वीपर अपनी समस्त सेनाका विभागकर तथा मकरव्यूहकी रचनाकर गर्जता हुआ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०९-११०॥ उधर चक्रव्यूहकी रचनाकर अपनी बहुत भारी सेनाके बीच खड़ा हुआ अर्ककीर्ति भी परिवेषसे युक्त सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥१११॥ क्रोधित हुए सुनमि आदि विद्याधरोंके अधिपति भी गरुडव्यूहकी रचनाकर चक्रवर्तीके पुत्र-अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमें अलग ही खड़े थे ॥११२॥ विद्याके मदसे उद्धत हुए आठ चन्द्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर शरीररक्षकके रूपमें चारों ओरसे अर्ककीर्तिकी सेवा कर रहे थे ॥११३॥ उन दोनों सेनाओंमें असामयिक प्रलयकालके प्रारम्भमें बढ़ती हुई मेघोंकी गर्जनाको जीतकर शीघ्र शीघ्र एक साथ बहुतसे बाजे बज रहे थे ॥११४॥ युद्धके आगे आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले धनुर्धारी योद्धाओंने बाणों द्वारा अपना मार्ग बनाना प्रारम्भ किया था। भावार्थ-धनुष चलानेवाले योद्धा बाण चलाकर भीड़को तितर बितर कर अपना मार्ग बना रहे थे ॥११५॥ जो संग्रामरूपी नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधारके समान जान पड़ते थे ऐसे धनुष को धारण करनेवाले वीर पुरुष गर्जते हुए बाजोंको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥११६॥ धनुष धारण करनेवाले पुरुषोंने रणरूपी रंगभूमिमें सबसे पहले अपना स्थान जमा कर जो तीक्ष्ण बाणोंका समूह छोड़ा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने पुष्पाञ्जलि ही बिखेरी हो ॥११७॥ वे धनुषपर चढ़ाये हुए बाण सदा दुष्टोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर स्वभाववाले होते हैं उसी प्रकार ये बाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, जिस प्रकार दुष्ट मर्मभेदन करते हैं उसी प्रकार बाण भी मर्मभेदन करते थे, जिस प्रकार दुष्ट कलह करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी कलह करनेवाले थे और जिस प्रकार दुष्ट पहले मधुर वचन कह कर फिर भीतर घुस जाते हैं उसी प्रकार ये बाण भी मनोहर शब्द

---

१ कृत्वा । २ मकरव्यूहरचनाविशेषम् । ३ विनाशक इत्यर्थः । ४ निर्घोषभीषण यथा भवति तथा । ५ विभक्तात्म-ल०, अ० । ६ प्राप्त । ७ अष्टचन्द्राख्या । ८ बाणैः । ९ क्रियाविशेषणम् । उद्गर्वागतिं यथा । १० धानीय्यम्यानीप्रादि । ११ क्षिप्त । १२ निशात । १३ शरीर प्रवेशिनः । १४ बाणाः ।

उभयो [1]पार्श्वयोर्बध्वा बाणधी[2]कृतवल्गना । धन्विन खेचराकारा[3] रेजुराजौ[4] जितश्रमा ॥११९॥
ऋजुत्वाद दूरदर्शित्वात् सद्य कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वात्[5] शरा[6] सुसचिवै[7] समा ॥१२०॥
क्रव्यासृक्पायिन[8] पत्रवाहिनो[9] दूरपातिन । लक्ष्येषूड्डीय तीक्ष्णास्या खगा[10] पेतु खगोपमा[11]॥१२१॥
धर्मेण[12] गुणयुक्तेन[13] प्रेरिता हृदय गता । शूरान्[14] शुद्धिरिवानैपीद[15] गति पवित्रपरम्परा[16] ॥१२२॥
पुसा सस्पर्शमात्रेण हृद्गता रक्तवाहिनी[17] । क्षिप्र न्यमीलयन्नेत्रे वेश्येव विशिखावली[18] ॥१२३॥
त्यक्त्वेश खेचराश्चातिवृष्टौ[19] गूढतमस्ततौ[20] । परोऽन्विष्य शरावल्या जारयेव वशीकृत ॥१२४॥

करते हुए पीछेसे भीतर घूस जाते थे ॥११८॥ जो दोनो बगलोमे तरकस बाधकर उछल कूद कर रहे है तथा जिन्होने परिश्रमको जीत लिया है ऐसे धनुपधारी लोग उस युद्धमें पक्षियोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥११९॥ और बाण अच्छे मन्त्रियोके समान जान पडते थे क्योकि जिस प्रकार अच्छे मन्त्री ऋजु अर्थात् सरल (मायाचार रहित) होते है उसी प्रकार बाण भी सरल अर्थात् सीधे थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री दूरदर्शी होते है अर्थात् दूरतक्की बातको सोचते है उसी प्रकार बाण भी दूरदर्शी थे अर्थात् दूरतक जाकर लक्ष्यभेदन करते थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शीघ्र ही कार्य सिद्ध करनेवाले होते है उसी प्रकार बाण भी शीघ्र करनेवाले थे अर्थात् जल्दीसे शत्रुको मारनेवाले थे और जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शास्त्रमार्ग अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुसार चलते है उसी प्रकार बाण भी शास्त्रमार्ग अर्थात् धनुपशास्त्रके अनुसार चलते थे। ॥१२०॥ मास और खूनको पीनेवाले, पख धारण करनेवाले, दूरतक जाकर पडनेवाले और पैने मुखवाले वे बाण पक्षियोके समान उडकर अपने निशानोपर जाकर पडते थे। भावार्थ—वे बाण पक्षियोके समान मालूम होते थे, क्योकि जिस प्रकार पक्षी मास और खून पीते है उसी प्रकार बाण भी शत्रुओका मास और खून पीते थे, जिस प्रकार पक्षियोके पख लगे होते है उसी प्रकार बाणोके भी पख लगे थे, जिस प्रकार पक्षी दूर जाकर पडते है उसी प्रकार बाण भी दूर जाकर पडते थे और जिस प्रकार पक्षियोका मुख तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार बाणोका मुख (अग्रभाग) भी तीक्ष्ण था। इस प्रकार पक्षियोकी समानता धारण करनेवाले बाण उड उडकर अपने निशानोपर पड रहे थे ॥१२१॥ जिस प्रकार गुणयुक्त धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि पुरुपोको मोक्ष प्राप्त करा देती है उसी प्रकार गुणयुक्त (डोरी सहित) धर्म (धनुप) के द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें चुभी हुई बाणोकी पक्ति शूरवीर पुरुपोको परलोक पहुचा रही थी ॥१२२॥ जिस प्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और *रक्तवाहिनी अर्थात् अनुराग धारण करनेवाली अथवा रागी पुरुपोको वश करनेवाली वेश्या स्पर्शमानसे ही पुरुपोके नेत्र बन्द कर देती है उसी प्रकार हृदयमें लगी हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् रुधिर को बहानेवाली बाणोकी पक्ति स्पर्शमानसे शीघ्र ही पुरुपोके नेत्र बन्द कर देती थी—उन्हें मार डालती थी ॥१२३॥ जिस प्रकार बहुत वर्षा होने और अन्धकारका समूह छा जानेपर

१ निजशरीरपार्श्वयो । २ इषुधी द्वौ । ३ पक्षिसदृशा । ४ युद्धे । ५ बाणशास्त्राक्रमण । प्रयोक्तृमार्गानुसरणत्वात् । ६ बाणा । ७ मन्त्रिभि । ८ क्रव्यासृक्पायिन इ० । आममांसरक्तभाजिन । ९ पत्रैर्वहन्ति गच्छन्तीति पत्रवाहिन । १० बाणा । नाराचविहगा खगा । ११ पक्षिसदृशा । १२ धनुषा । १३ ज्यासहितेन । अतिशययुक्तेन च । १४ विशुद्धिपरिणाम इव । १५ आनयति स्म । १६ परगन्तति । १७ रक्त प्रापयन्ती । आरक्तमनुरक्त प्रापयन्ती च । १८ इतोऽग्र पुन आरा' नगरात् समायातलिखितपुस्तकात् स्पष्टतरमुद्धार क्रियते । १९ उपरिस्थितखेचररुधिरवर्षे । २० दाशाध्यामसमूहे । 'आताधिचितो दाशाध्यमूढ्धो' इत्यभिधानात् । * भावे क्त

प्रगुणा[1] मुष्टि[2]संवाह्या दूरं दृष्टयनुवर्तिनः[3]। गत्वेष्टं साधयन्ति स्म सद्भृत्या इव सायकाः ॥१२५॥
प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् बाणान् परशरान्प्रति। तत्रैव[4] पातयन्ति स्म धानुष्काः सा[5] हि धीर्धियाम्[6] ॥१२६॥
जाताश्चापधृताः[7] केचिद् अन्योन्यशरखण्डने। व्यापृताः श्लाघिताः पूर्वं रणे किञ्चित्करोपमाः[8] ॥१२७॥
हस्त्यश्वरथपत्त्योघम् उद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत्[9]। शराः पेतुः स्व[10]सम्पातमेवास्ता[11] दृढमुष्टिभिः ॥१२८॥
पूर्वं विहितसन्धानाः[12] स्थित्वा किञ्चिच्छरासने[13]। यानमध्यास्य[14] मध्यस्था[15] [16]द्वैधीभावमुपागताः ॥
विग्रहे[17] हतशक्तित्वाद् अगत्या शत्रुसंश्रयाः। बाणाः [18]गुणितषाड्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥१३०॥

व्यभिचारिणी स्त्री अपना पति छोड किसी परपुरुषको खोजकर वश कर लेती है उसी प्रकार विद्याधरोके खूनकी बहुत वर्षा होने और गृद्ध पक्षीरूपी अन्धकारका समूह फैल जानेपर बाणोकी पंक्ति अपने स्वामीको छोड खोज खोजकर शत्रुओंको वश कर रही थी ॥१२४॥ अथवा वे बाण अच्छे नौकरोंके समान दूर दूरतक जाकर इष्ट कार्योको सिद्ध करते थे क्योकि जिस प्रकार अच्छे नौकर प्रगुण अर्थात् श्रेष्ठ गुणोके धारक अथवा सीधे होते है उसी प्रकार बाण भी प्रगुण अर्थात् सीधे अथवा श्रेष्ठ डोरीसे सहित थे, अच्छे नौकर जिस प्रकार मुट्ठियोसे दिये हुए अन्नपर निर्वाह करते है उसी प्रकार वे बाण भी मुट्ठियो द्वारा चलाये जाते थे और अच्छे नौकर जिस प्रकार मालिककी दृष्टिके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मालिककी दृष्टिके अनुसार चल रहे थे ॥१२५॥ धनुषको धारण करनेवाले योद्धा जहा जहा शत्रुओंके बाण थे वहीं वही देखकर अपने पैने बाण फेक रहे थे सो ठीक ही है क्योकि शत्रुओंकी वैसी ही बुद्धि होती है ॥१२६॥ जो बाण एक दूसरेके बाणोको तोडनेके लिये चलाये गये थे, धारण किये गये थे अथवा उस व्यापारमें लगाये गये थे वे युद्धमें नौकरोके समान सबसे पहले प्रशसाको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ मजबूत मुट्ठियोवाले योद्धाओंके द्वारा छोडे हुए बाण अस्पष्ट लक्ष्यके समान दिखाई नही पड़ते थे और हाथी, घोडे, रथ तथा पियादोके समूहको भेदनकर अपने पडनेके स्थानपर ही जाकर पडते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार सन्धि विग्रह आदि छह गुणोको धारण करनेवाले राजा सिद्धिको प्राप्त होते है उसी प्रकार वे बाण भी सन्धि आदि छह गुणोको धारण कर सिद्धिको प्राप्त हो रहे थे क्योकि जिस प्रकार राजा पहले संधि करते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पहले डोरीके साथ सन्धि अर्थात् मेल करते थे, जिस प्रकार राजा लोग अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय तक ठहरे रहते है उसी प्रकार वे बाण भी धनुषपर कुछ देरतक ठहरे रहते थे, जिस प्रकार राजा लोग युद्ध के लिये अपने स्थानसे चल पडते है उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको मारनेके लिये धनुपसे चल पडते थे, जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् भेदनीति द्वारा शत्रुके संगठनको छिन्नभिन्न कर डालते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मध्यस्थ (शत्रुके शरीरके मध्यमें स्थित) हो द्वैधीभावको प्राप्त होते थे अर्थात् शत्रुके टुकडे टुकड़े कर डालते थे और अन्तमें राजा लोग जिस प्रकार युद्ध करनेकी

१ अवक्रा। २ मुष्टिना संवाह्यन्ते गम्यन्ते मुष्टिसंवाह्याः। आज्ञानुवर्तिनश्च। ३ लक्ष्यैरनुवर्तमानाः। आलोकमानेन प्रभोरभिप्राय ज्ञात्वा वर्तमानाश्च। ४ यत्र शत्रुशराः स्थितास्तत्रैव। ५ सैव परशरपातनलक्षणा। ६ बुद्धीनां मध्ये। धीधियाम् अ०। ७ बाणाः। ८ किङ्करसमाना। ९ अस्पष्टलक्ष्यवत्। १० स्वयोग्यपतनस्थान गत्वैवेत्यर्थः। ११ क्षिप्ताः। १२ कृतसंयोजना कृतसन्धयश्च। १३ चापे स्थाने च। १४ गमनमध्यास्य। १५ मध्यस्था सन्तः। १६ द्विधाखण्डभावम्, पक्षे उभयत्राश्रयम्। १७ वलिकमनावे। अथवा शरीरे। १८ अभ्यास।

धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतन्ती सततं धैर्याद् भास्वनूत्पाटिताशुगम् ॥१३१॥
[1]सायकोद्भिन्नमालोक्य कान्तस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्छित्तेऽस्य वदन्तीवात्मनः स्थितिम् ॥१३२॥
छिन्नदण्डैः फलैः कश्चित् [2]सर्वाङ्गीणैर्भटाग्रणीः । कीलितासुरिवाकम्प्रतस्थैव युयुधे चिरम् ॥१३३॥
विलोक्य विलयज्वालि[3]ज्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं [4]छिन्नं स्वं[5] विपक्षधनुर्धरैः ॥१३४॥
गृहीत्वा वज्रकाण्डाख्यं सज्जीकृत्य शरासनम् । स्वयं योद्धुं समारब्धं सक्रोधः सानुजो जयः ॥१३५॥
[6]कर्णाभ्यर्णीकृतास्तस्य गुणयुक्ताः सुयोजिताः । पत्रैर्लघुसमुत्थाना[7] कालक्षेपाविधायिन[8] ॥१३६॥
मार्गे प्रगुणसञ्चाराः प्रविश्य हृदयं[9] द्विषाम् । कृच्छ्रकार्यं[10] साधयन्ति स्म [11]निसृष्टार्थसमाः शराः ॥१३७॥
पनयन्तः प्रतापोष्मा[12] समग्रा विग्रहे द्रुताः । प्रजातपोतिनश्चक्रुः कूटपूर्दं शिलीमुखाः ॥१३८॥

सामर्थ्यसे रहित शत्रुको वश कर लेते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको वश कर लेते थे* ॥१२९-१३०॥ निकाले हुए बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरन्तर पड़ती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा वीररसकी धाराके समान सुशोभित हो रही थी ॥१३१॥ कोई स्त्री अपने पतिका हृदय बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर प्राणरहित हो गई थी मानो वह कह रही थी कि मेरा निवास इसीके हृदयमें है ॥१३२॥ जिनके दण्ड टूट गये हैं और जो सब शरीरमें घुस गये हैं ऐसे बाणोंकी नोंकोंसे जिसके प्राण मानो कीलित कर दिये गये हैं ऐसा कोई योद्धा पहलेकी तरह ही निश्चल हो बहुत देरतक लड़ता रहा था ॥१३३॥ शत्रुओंके धनुषधारी योद्धाओंने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चंचल शिखाओंके समान तेजस्वी बाणोंके द्वारा मेरी सेनाको छिन्नभिन्न कर दिया है यह देख जयकुमारने अपने छोटे भाइयों सहित क्रोधित हो वज्रकाण्ड नामका धनुष लिया और उसे सजाकर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥१३४-१३५॥ उस समय जयकुमारके बाण † निःसृष्टार्थ (उत्तम) दूतके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम दूत स्वामीके कानके पास रहते हैं अर्थात् कानसे लगकर बातचीत करते हैं उसी प्रकार बाण भी जयकुमारके कानके पास रहते थे अर्थात् कानतक खींचकर छोड़े जाते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत गुण अर्थात् रहस्य रक्षा आदिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार बाण भी गुण अर्थात् डोरीसे युक्त थे, जिस प्रकार उत्तम दूतकी योजना अच्छी तरह की जाती है उसी प्रकार बाणोंकी योजना भी अच्छी तरह की गई थी, जिस प्रकार उत्तम दूत पत्र लेकर जल्दी उठ खड़े होते हैं उसी प्रकार बाण भी अपने पत्रोंसे जल्दी जल्दी उठ रहे थे—जा रहे थे, जिस प्रकार उत्तम दूत व्यर्थ समय नहीं खोते हैं उसी प्रकार बाण भी व्यर्थ समय नहीं खोते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत मार्गमें सीधे जाते हैं उसी प्रकार बाण भी मार्गमें सीधे जा रहे थे और जिस प्रकार उत्तम दूत शत्रुओंके हृदयमें प्रवेशकर कठिनसे कठिन कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा ऐसा जान

१ सायिकोद्भिन्न-ल० । २ सर्वाङ्गव्यापिभिः । ३ प्रलयाग्नि । ४ छन्नमित्यपि पाठः । छादितं खण्डितं वा । ५ आत्मीयम् । ६ आकर्णमाकृष्टाः । ७ कर्णसमीपे कृताश्च । ८ पक्षं सन्देशपत्रं । ८ आशुविधायिन इत्यर्थः । ९ हृदयम् अभिप्रायं च । १० असाध्यार्थम् । ११ असहन् सम्पादित-प्रयोजनदूतसमाः । १२ प्रकृष्टसन्तापनीकराः । नयहन्तराः ।

* राजाओंके छह गुण ये हैं—"सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेयः षड्गुणा नीतिवेदिनम् ।"

† जो दोनोंका अभिप्राय लेकर स्वयं उत्तरप्रत्युत्तर करता हुआ कार्य सिद्ध करता है उसे निःसृष्टार्थ दूत कहते हैं । यह दूत उत्तम दूत कहलाता है ।

प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥१३९॥
वादिनेव जयेनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः[1] शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगीषुणा ॥१४०॥
खगाः[2] खगान्प्रति[3] प्रास्ताः[4] प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तन्ते न यावत्ते[5] ते भियेवापतन् मृताः ॥१४१॥
सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीलाः[6] प्रज्वलन्तः समन्ततः । मूर्द्धस्वशनिवत्पेतुः खाद् विमुक्ताः खगैः शराः ॥१४२॥
शरसङ्घातसञ्छन्नान् गृध्रपक्षान्धकारितान् । अदृष्टमुद्गरापातान्[7] नभोगा नभसो[8] व्यधुः ॥१४३॥
चण्डैर[9]काण्डमृत्युश्च [10]काण्डैरापादितादिमे[11] । युगेऽस्मिन् किं किमस्ताशुभासिभिर्नाशुभं[12] भवेत् ॥१४४॥
दूरपाताय नो[13] किन्तु दृढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णान्तमाकृष्य मुक्ताः [14]हन्युर्द्विपादिकान् ॥१४५॥
अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्[15] । पृषत्काः साहसो[16] वेयुर्नरकं[17] वाऽयनेरघ[18] ॥१४६॥

पडता था मानो वे बाण कपट युद्ध कर रहे हों क्योंकि जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले पत्रवत अर्थात् सवारी सहित और प्रतापसे उग्र होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पत्रवत अर्थात् पखों सहित और अधिक सतापसे उग्र थे, जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले युद्धमें शीघ्र जाते हैं और सबसे आगे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्र जा रहे थे और सबसे आगे थे तथा कपट युद्ध करनेवाले जिस प्रकार बिना जाने सहसा आ पडते हैं उसी प्रकार वे बाण भी बिना जाने सहसा आ पडते थे ॥१३८॥ जिस प्रकार विजयके द्वारा उत्तम कीर्तिको शीघ्र प्राप्त करनेवाला और जीतनेकी इच्छा रखनेवाला वादी प्रकाशमान, अज्ञाननाशादि फलोंसे युक्त उत्तम प्रमाणोंसे सहित, अच्छी तरह रचना किये हुए ससारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे विरोधी–प्रतिवादीको हराता है उसी प्रकार विजयके द्वारा शीघ्र ही उत्तम कीर्ति सम्पादन करनेवाले, जीतनेकी इच्छा रखनेवाले तथा विरोधी प्रकट करनेवाले जयकुमारने देदीप्यमान, नुकीले, प्रमाणसे बने हुए, अच्छी तरह चलाये हुए, ससारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥१३९–१४०॥ जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण चलाये थे वे आकाशको भेदनकर आगे चले गये थे और वहाँसे वे जबतक लौटे भी नहीं थे तबतक वे विद्याधर मानो भयसे ही डरकर गिर पडे थे ॥१४१॥ जो अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, देखनेमें भयकर हैं, और चारों ओरसे जल रहे हैं ऐसे विद्याधरोंके द्वारा आकाशसे छोडे हुए बाण योद्धाओंके मस्तकोंपर वज्रके समान पड रहे थे ॥१४२॥ जो बाणोंके समूहसे ढक गये हैं, गीधके पखोंसे अन्धकारमय हो रहे हैं और जिन्हें मुद्गरोंके आघात तक दिखाई नहीं पडते हैं ऐसे योद्धाओंको विद्याधर लोग आकाशसे घायल कर रहे थे ॥१४३॥ इस युगमें उन तीक्ष्ण बाणोंने सबसे पहले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम किया है ऐसे लोगोंसे क्या क्या अशुभ काम नहीं होते हैं ? ॥१४४॥ दूर जानेके लिये नहीं किन्तु मजबूतीके साथ पडनेके लिये विद्याधरोंने जो बाण कानतक खींचकर छोडे थे उन्होंने बहुतसे हाथी आदिको मार डाला था ॥१४५॥ जिस प्रकार रक्त पीने और मास खानेसे पापी जीव नीचा मुखकर नरकमें जाते हैं उसी प्रकार विद्याधरों

---

१ निराकृतः । २ बाणाः । ३ विद्याधरान् । ४ मुक्ताः । ५ विद्याधराः । ६ दर्शने भयावहाः । ७ मुद्गराघातान् स०, म० । ८ गगनमाश्रित्य । ९ अकाल । १० बाणैः । ११ उत्पादितः । १२ अस्ताशुगाभिः इति पाठे अस्ताश्च ते आशुगाश्च अस्ताशुगास्तैः शरैरित्यर्थः । 'आशुगौ वायुविशिखौ' इत्यभिधानात् । १३ न । १४ घ्नन्ति स्म । १५ मांसाशनात् । १६ सपापाः । १७ वा इव । ईयुः गच्छन्ति स्म । १८ शुभस्य निपातम् ।

भूमिष्ठैर्निष्ठुरक्षिप्ता द्विष्ठानुत्कृष्य पत्रिणः । ययुर्दूरं दिवं दूतीदेशीया दिव्ययोषिताम् ॥१४७॥
चक्रिणश्चक्रमेकं तन्न तत्र कस्यचित्क्षतिः । चक्रैरकालचक्राभैर्बहवस्तत्र जघ्निरे ॥१४८॥
समवेगं समं मुक्तं शरं खचरभूचरैः । व्योम्न्यन्योन्यमुखालग्नं स्थितं कतिपयक्षणम् ॥१४९॥
खभूचरशरैश्छन्ने खे परस्पररोधिभिः । अन्योन्यावीक्षणात्तेषाम् अभूद् रणनिषेधनम् ॥१५०॥
स्वास्त्रैः शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चावाचितं भृशम् । स्वसैन्यं वीक्ष्य सोत्क्षिप्तवीक्षणोऽप्याशुशुक्षणिः ॥
संहर्तुं महारसक्रुद्धसमवर्तिसमो जयः । प्रारब्ध योद्धुं वज्रेण वज्रकाण्डेन वज्रिवत् ॥१५२॥
निर्जिताशनिनिर्घोषजयज्याघोषभीलुकाः । चापसायकचेतांसि प्रासिषन् सह शात्रवाः ॥१५३॥
चापमाकर्णमाकृष्य ज्यानिवेशितसायकः । लघुसन्धानमोक्षः सोऽव्येदय विध्यन्निव क्षणम् ॥१५४॥
न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योज्झिताः शराः । दृष्टास्ते केवलं भूमौ सव्रणाः पतिताः परे ॥१५५॥
निमीलयन्तश्चक्षूंषि ज्वलयन्तः शिलीमुखाः । मुखानि ककुभां वव्रुः खादुल्कालीविभीषणाः ॥१५६॥

के द्वारा छोड़े हुए बाण शत्रुओंका रक्त पीने और मांस खानेसे पापी हो नीचा मुखकर पृथिवी के नीचे जा रहे थे–जमीनमें गड रहे थे ॥१४६॥ इसी प्रकार भूमिगोचरियों द्वारा निर्दयता के साथ छोड़े हुए बाण शत्रुओंको भेदकर आकाशमें बहुत दूरतक इस प्रकार जा रहे थे मानो देवाङ्गनाओंकी दासियां ही हों ॥१४७॥ चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही होता है उससे किसीकी हानि नहीं होती परन्तु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुतसे चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये थे ॥१४८॥ विद्याधर और भूमिगोचरियोंके द्वारा एक साथ छोड़े हुए समान वेगवाले बाण आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर कुछ देरतक ठहर गये थे ॥१४९॥ परस्पर एक दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और इसीलिये एक दूसरेके न दिख सकनेके कारण उनका युद्ध बन्द हो गया था ॥१५०॥ अपने और शत्रुओंके शस्त्रों तथा विद्याधरोंके बाणोंसे अपनी सेनाको बहुत कुछ घायल हुआ देखकर नेत्ररूपी भयंकर अग्निको आकाशकी ओर फेंकनेवाला और संहार करनेके लिये कुपित हुए यमराजकी समानता धारण करनेवाला जयकुमार इन्द्रकी तरह वज्रकाण्ड नामके धनुषसे युद्ध करनेके लिये तैयार हुआ ॥१५१–१५२॥ वज्रकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके धनुषकी डोरीके शब्द मात्रसे डरे हुए कितने ही शत्रुओंने धनुष, बाण और हृदय–सब फेंक दिये। भावार्थ–भयसे उनके धनुष-बाण गिर गये थे और हृदय विक्षिप्त हो गये थे ॥१५३॥ कान तक धनुष खींचकर जिसने डोरीपर बाण रक्खा है और जो बड़ी शीघ्रतासे बाणोंको रखता तथा छोड़ता है ऐसा जयकुमार क्षणभरके लिये ऐसा जान पड़ता था मानो प्रहार ही नहीं कर रहा हो अर्थात् बाण चला ही नहीं रहा हो ॥१५४॥ जयकुमारके द्वारा चलाये हुए बाण न बीचमें दिखते थे, और न शरीरोंमें ही दिखाई देते थे, केवल घावसहित जमीनपर पड़े हुए शत्रु ही दिखाई देते थे ॥१५५॥ जो देखनेवालोंके नेत्र बन्द कर रहे हैं, सबको जला रहे हैं और उल्काओंके समूहके समान भयंकर हैं ऐसे जयकुमारके बाणोंने दिशाओंके मुख ढक लिये थे

---

१ भूमौ स्थितैः । २ शत्रून् । ३ उल्लंघ्य । ४ बाणाः । ५ दूतीसदृशाः । ६ –मराकं न ल० । ७ चक्राणाम् । ८ समन्तात् कृतान्तसमूहसमानैः । ९ हताः । १० उभयत्रापि समानजवं । ११ युगपत् । १२ खेचर– ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ –क्षणान् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ परस्परावलोकनाभावात् । १५ आग्नेयानामस्त्राणाम् । स्वास्त्रैः अ० । १६ अग्नि । १७ संहारार्थं कुपितयमसदृशः । १८ उद्यतो जातः । १९ भीरवः । २० त्यजन्ति स्म । २१ दृष्टः । २२ प्रहारमकुर्वन्निव । २३ वेष्टयन्ति स्म । २४ [illegible] । २५ उल्कासमूहभीषणाः ।

तिर्यग्गोष्फणपाषाणैः[1] अदृष्ट्वाजय्यजिराद्[2] बहिः । पातितान्[3] खचरानूचुः सतनून् स्वर्गतान्[4] जडाः ॥१५७॥
शरसञ्छिन्न[5]विद्याधृन्मुकुटेभ्योऽगलन्[6] सुरैः । मणयो गुणगृह्यैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥१५८॥
[7]पतन्मृतखगान्वीतप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । [8]वारिदानमिवाचर्य[9] कृपामासादितो जयः ॥१५९॥
अन्तकः समवर्तीति[10] तद्वार्तैव न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव बले प्रेताधिपो[11] भवेत् ॥१६०॥
वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनाम् । [12]यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्धर्मस्तत्र[13] दिव्यानलोपमः[14] ॥१६१॥
तावद्धेषित[15]निर्घोषैर्भीषयन्तो द्विषो हयाः । बलमाश्वासयन्तः स्वं स्वीचक्रुश्चक्रिसूनवः[16] ॥१६२॥
प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णान् अभीक्ष्णं वाहवाहिनः[17] । भ्रामयन्तः सम्प्रापन् यमस्येवाग्रगा भटाः ॥१६३॥
जयोऽपि स्वयमारुह्य जयी जयतुरङ्गमम् । क्रुद्धः प्रासान् समुद्धृत्य योद्धुमश्वीयमादिशत् ॥१६४॥
अभूत् प्रहतगम्भीरभम्भा[18]दिध्वनिभीषणः । बलार्णवश्चलत्स्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥१६५॥

॥१५६॥ तिरछे जानेवाले गोफनोंके पत्थरोंसे युद्धके आँगनसे बाहर पड़े हुए विद्याधरोंको न देखकर मूर्ख लोग कहने लगे थे कि देखो विद्याधर शरीर सहित ही स्वर्ग चले गये हैं ॥१५७॥ बाणोंकी चोटसे छिन्नभिन्न हुए विद्याधरोंके मुकुटोंसे जो मणि गिर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणोंसे वश होनेवाले देवोंने जयकुमारको भेंट ही किये हों ॥१५८॥ गिर गिरकर मरे हुए विद्याधरोंके साथ आई हुई स्त्रियाँ अपने अश्रुरूपी जलसे जो उन्हें जलाञ्जलि सी दे रही थीं उसे देखकर जयकुमारको दया आ गई थी ॥१५९॥ यमराज समवर्ती है अर्थात् सबको समान दृष्टिसे देखता है यह केवल कहावत ही है यदि ऐसा न होता तो वह केवल चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही क्यों प्रेतोंका राजा होता? अर्थात् उसीकी सेनाको क्यों मारता? ॥१६०॥ जयकुमारके द्वारा अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले लोगोंका वध कराकर वह तीक्ष्ण यमराज भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था। भावार्थ– पूर्वकालमें साक्षी आदिके न मिलनेपर अपराधीकी परीक्षा करनेके लिये उसे अग्निमें प्रविष्ट कराया जाता था, अथवा जलते हुए अंगार उसके हाथपर रखाये जाते थे। अपराधी मनुष्य उस अग्निमें जल जाते थे परन्तु अपराधरहित मनुष्य सीता आदिके समान नहीं जलते थे। उसी आगको दिव्य अग्नि कहते हैं सो जिस प्रकार दिव्य अग्नि दुष्ट होनेपर भी अपराधीको ही जलाती है अपराधरहितको नहीं जलाती उसी प्रकार यमराजने दुष्ट होकर भी अन्यायी मनुष्योंका ही वध कराया न कि न्यायी मनुष्योंका भी, इसलिये वह यमराज दुष्ट होनेपर भी मानो उस समय दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था ॥१६१॥ इतनेमें ही हिन हिनाहटके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुए और अपनी सेनाको धीरज बँधाते हुए चक्रवर्तीके पुत्र–अर्ककीर्तिके घोड़े सामने आये ॥१६२॥ यमराजके अग्रगामी योद्धाओंके समान, देदीप्यमान और पैने भालोंको बार बार घुमाते हुए घुड़सवार भी सामने आये ॥१६३॥ विजय करनेवाले जयकुमारने भी क्रोधित हो, जयतुरंगम नामके घोड़ेपर सवार होकर अपनी घुड़सवार सेनाको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥१६४॥ घोड़ोंके द्वारा जिसमें चंचल और बड़ी बड़ी लहरें सी उठ रही हैं ऐसा वह सेनारूपी समुद्र बजते हुए गंभीर नगाड़े आदिके शब्दों

---

१ अस्त्रविशेष । २ रणाङ्गणात् । ३ पतितान् ल०, स०, अ०, म० । ४ स्वर्गं गतान् । ५ भग्न । ६ गलन्ति स्म । ७ गतप्राणविद्याधरानुगत । ८ जलाञ्जलिम् । ९ विधाय । १० बालवृद्धादिषु [illegible] समानतया वर्तमानः । ११ यमः । १२ अन्तकः । १३ जये । १४ शपथाग्निसमः । १५ अश्वनिनाद । १६ चक्रिसूनोः सम्बन्धिनः । १७ अश्वारोहाः । १८ भम्भेत्युपकरणम् ।

असिसंघट्टनिष्ठ्यूतविस्फुलिङ्गो रणेऽनलः। भीषणे शरसङ्घाते व्यदीपिष्ट[1] धराचिते[2] ॥१६६॥
वाजिनः प्राक्कशाघातात् प्रधावन्त्यभिसायकम्[3]। म्रियन्ते न सहन्ते हि परिभूतिं सतेजसः ॥१६७॥
स्थिताः पश्चिमपादाभ्यां बद्धामर्षा[4] परस्परम्। पांति केचिदिवाक्रान्तो[5] [6]युध्यन्ते स्म चिरं हयाः ॥१६८॥
समुद्धृतास्र[7]संपृक्तलसल्लोलासिपत्रकैः। नभस्तरुरभाद् भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥
पतितान्यसिनिर्घातात् सुदूरं स्वामिनां क्वचित्। शून्यासनाः[8] शिरांस्युच्चैरन्वेष्टुं वा भ्रमन् हयाः ॥१७०॥
पशून् विशृङ्गान्मत्वाश्वान् कृपया कोऽपि नावधीत्[9]। ते [10]स्वदन्तखुरैरेव क्रुद्धाः प्राघ्नन्[11] परस्परम् ॥१७१॥
[12]वंशमात्रावशिष्टाङ्गैः [13]मण्डलाग्रैश्चिरं कृता। लोहदण्डैरिवाखण्डैः धीरा युयुधिरे युधि ॥१७२॥
शिरः[14]प्रहरणेनान्यो[15]ऽपश्यन्नान्ध्यं प्रकुर्वता। सर्वरोमसिराविद्धो[16] स्पृष्ट्वा[17] पश्चादयुद्ध[18] सः ॥१७३॥
हयान् प्रतिष्कशीकृत्य[19] धनुस्तत्कपिशीर्षकम्[20]। अयुध्यत पुनः सुष्ठु तदा द्विगुणयद्रणम् ॥१७४॥
जयोऽप्यान् सानुजस्तावदाविष्कृत्य यमाकृतिः[21]। कण्ठीरवमिवारूढो हयमस्युद्यतः[22] क्रुधा ॥१७५॥
धाटयन्तं[23] समालोक्य कल्पान्तज्वालिभीषणम्[24]। विवेश [25]विद्विडश्वाली वेलेव स्वबलाम्बुधिम्[26] ॥

से भयंकर हो रहा था ॥१६५॥ उस युद्धमें पृथिवीपर जो भयंकर बाणोंका समूह पड़ा हुआ था उसमें तलवारोंकी परस्परकी चोटसे निकले हुए फुलिंगोंसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी ॥१६६॥ घोड़े कोड़ोंकी चोटके पहले ही बाणोंके सामने दौड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परन्तु पराभव सहन नहीं करते ॥१६७॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोधित हो पिछले पैरोंसे खड़े हुए कितने ही घोड़े चिरकालतक इस प्रकार युद्ध कर रहे थे मानो अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हों ॥१६८॥ उस समय ऊपर उठाई हुई और रुधिरसे रंगी हुई तलवाररूपी चंचल पत्तोंसे आकाशरूपी वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसपर फिरसे नवीन पत्ते निकल आये हों ॥१६९॥ कहींपर खाली पीठ लिये हुए घोड़े इस प्रकार दौड़ रहे थे मानो तलवारकी चोटसे बहुत दूर पड़े हुए अपने स्वामियोंके सिर ही खोज रहे हों ॥१७०॥ घोड़ोंको बिना सींगके पशु मानकर दयासे कोई नहीं मारता था परन्तु वे क्रोधित होकर दांत और खुरोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥१७१॥ उस युद्धमें कितने ही योद्धा क्रोधित होकर अखण्ड लोहेके डंडेके समान जिनमें बांसमात्र ही शेष रह गया है ऐसी तलवारोंसे चिरकाल तक युद्ध करते रहे थे ॥१७२॥ अन्य कोई योद्धा, अन्धा करनेवाली सिरकी चोटसे यद्यपि कुछ देख नहीं सक रहा था तथापि गलेकी पीछेकी नसोंसे सिरको जुड़ा हुआ देखकर वह फिर भी युद्ध कर रहा था ॥१७३॥ उस समय कितने ही योद्धा अपने कपिशीर्षक नामक धनुषसे घोड़ोंको ताड़ित कर युद्धको द्विगुणित करते हुए अच्छी तरह लड़ रहे थे ॥१७४॥ इतनेमें ही तलवार हाथमें लिये हुए जयकुमार अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ यमराज सरीखा आकार प्रकट कर और सिंहके समान घोड़ेपर सवार होकर क्रोधसे आगे बढ़ा ॥१७५॥ कल्पान्त कालकी अग्निके समान भयंकर जयकुमारको घोड़ेपर सवार हुआ देखकर शत्रुके घोड़ोंकी पंक्ति लहरके समान अपने सेनारूपी समुद्रमें जा घुसी ॥१७६॥ जिनपर पताकाएं नृत्य कर रही हैं और

१ ज्वलति स्म। २ भूमावुपचिते। ३ आयुधस्याभिमुखम्। ४ बद्धक्रुधः। ५ रक्षन्त। ६ युद्धन्ते स०। ७ —नास्रम— स०। ८ स्वामिरहितपृष्ठाः। ९ न हन्ति स्म। १० ते च दन्त— स०। ११ घ्नन्ति स्म। १२ वेणुमात्रावशिष्टस्वरूपैः। १३ कौक्षेयैः। 'कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यभिधानात्। १४ मस्तकघातेन। १५ किञ्चिदपि नालोकयन्। १६ सकलपश्चिमशिरान्वितः। १७ गल-पश्चिमभाग करस्पर्शेनालोक्य। १८ युयुधे। १९ सहायीकृत्य। 'प्रतिष्कशः सहाये स्याद् वार्ताहरपुरोगयोः' इत्यभिधानात्। २० चापविशेषः। धन्विन इत्यर्थः। २१ यमाकृतिम् स०। २२ उद्यतासिः सन्। २३ अश्वमारोहन्तम्। २४ प्रलयाग्निवद्भयङ्करम्। २५ शत्रुवाजिसमूहः। २६ स्वसैन्यसागरम्।

चिरात् पर्याय[1]मासाद्य[2] प्रनृत्यत्केतवो रथाः । जविभिर्वाजिभिर्यूढा प्राधावन् विद्विषः[3] प्रति ॥१७७॥
निश्शेषहे[4]तिपूर्णेषु रथेषु रथनायकाः । सुताः[5] [6]जगर्जुरारुह्य पिञ्जरैः[7] कुञ्जरारिभिः ॥१७८॥
चक्रसङ्घट्टसम्पिष्टशवासृग्मांसकर्दमे । रथकट्याश्चरन्ति स्म [8]तत्राब्धौ मन्दपोतवत्[9] ॥१७९॥
कुन्तासिप्रासचक्रादिसङ्कीर्णे घर्णितक्रमाः[10] । सञ्चक्रामन् कृच्छ्रकृच्छ्रेण रणे रथतुरङ्गमाः ॥१८०॥
तदा सन्नद्धसंयुक्तसर्वायुधभृतं[11] रथम् । सङ्क्रम्य[12] वृषभं[13] वार्कः समारूढपराक्रमः ॥१८१॥
पुरोज्वलत्समुत्सर्पच्छरतीक्ष्णांशुसन्ततिः । शत्रुसन्तमसं भिन्दन् बालार्कमजयज्जयः ॥१८२॥
[14]मण्डलाग्रसमुत्सृष्टदुष्टास्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वैयः[15] शत्रुशल्यं समुद्धरन् ॥१८३॥
ध्वजस्योपरि धूमो वा तेनाकृष्टो[16] नु[17] सायकः । पपात तापमापाद्य सूचयन्नशुभं द्विषाम् ॥१८४॥
ध्वजदण्डान् समाखण्ड्य विद्विषो[18]ऽन्वीतपौरुषान् । कुर्वन् सर्वान् स[19] निर्वंशान् सोमवंशध्वजायते ॥१८५॥
विच्छिन्नकेतवः केचित् क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः[20] किन्तु मानप्राणा हि मानिनः ॥१८६॥
प्रज्वलन्तं [21]जयन्तं ते जयं तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि [22]सम्पेतुः [23]अभ्यग्नि शलभा यथा[24] ॥१८७॥

वेगशाली घोडे जिनमे जुते हुए है ऐसे रथ चिरकालमें अपना नम्बर (बारी) पाकर शत्रुओके प्रति दौडने लगे ॥१७७॥ रथोके स्वामी, सम्पूर्ण शस्त्रोंसे भरे हुए रथोंपर सवार हो पिंजरो मे बन्द हुए सिंहोंकी तुलना धारण करते हुए गरज रहे थे ॥१७८॥ उस युद्धमे पहियोके संघट्टन से पिसे हुए मुरदोके खून और मासकी कीचड़मे रथोके समूह ऐसे चल रहे थे मानो किसी समुद्र मे छोटी छोटी नावें ही चल रही हो ॥१७९॥ बरछा, तलवार, भाले और चक्र आदिसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमें घायल पैरोंवाले रथके घोडे बडे कष्टसे चल रहे थे ॥१८०॥ उसी समय तैयार हुए तथा जुड़े हुए सब प्रकारके शस्त्रोंसे व्याप्त रथपर आरूढ होनेसे जिसका पराक्रम वृषभ राशिपर आरूढ हुए सूर्यके समान बढ़ रहा है, जिसके आगे चलते हुए बाणरूपी तीक्ष्ण किरणो का समूह प्रकाशमान हो रहा है और जो शत्रुरूपी अन्धकारको भेदन कर रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ बाल-सूर्य भी जीत लिया था ॥१८१–१८२॥ अथवा वह जयकुमार किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरका अनुकरण कर रहा था क्योकि जिस प्रकार वैद्य शस्त्रकी नोकसे बिगडा हुआ खून निकाल देता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोकसे दुष्ट-शत्रुओका खून निकाल रहा था, जिस प्रकार वैद्य शस्त्र चलानेकी क्रियाको जानता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रिया जानता था और वैद्य जिस प्रकार शल्यको निकाल देता है उसी प्रकार जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्यको निकाल रहा था ॥१८३॥ उसके द्वारा चलाये हुए बाण शत्रुओंको संताप उत्पन्नकर अशुभकी सूचना देते हुए धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओपर पड रहे थे ॥१८४॥ उस समय शत्रुओकी ध्वजाओके डंडोको खंड खड कर सब शत्रुओंको पौरुषहीन तथा वंशरहित करता हुआ जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान आचरण कर रहा था ॥१८५॥ जिनकी पताकाए छिन्नभिन्न हो गई है ऐसे कितने ही शत्रु क्षणभरके लिये मरे हुएके समान पडे थे सो ठीक ही है क्योकि प्राणोंसे ही प्राणी नहीं गिने जाते किन्तु अभिमानी मनुष्य अभिमानको ही प्राण समझते है ॥१८६॥ अच्छी तरह जलते हुए

---

१ अवसरम् । 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यभिधानात् । २ प्राप्य । ३ विद्विषं प्रति स० । ४ आयुध । ५ सारथयः । ६ गर्जन्ति स्म । ७ पञ्जरे स० । ८ रथाः । ९ मन्दनौरिव । १० दत्तपादाः । ११ सन्नद्धेन । १२ सम्प्राप्य । १३ वृषभराशिमिव । १४ करवालेन समुत्सृष्टदुष्टास्र । १५ अनुगतवान् । कः गतौ लङि रूपम् । मन्वीय स० । १६ समुत्सृष्ट । १७ इव । १८ अनुगत । १९ जय । २० न जीवन्ति । २१ जयशीलं जयन् सन् । २२ अभिमुखमागताः । २३ अग्निमभि पतन्तः । २४ शलभा इव प० ।

सन्नद्धस्यन्दनाश्चण्डास्तदा हेमाङ्गदादयः । कोदण्डास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः[1] क्रुधा ॥१८८॥
ससृजुर्वह्निवृष्टिं वा बाणवृष्टिं प्रति द्विषः । यावत्ते[2] लक्ष्यतां[3] नैयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥१८९॥
निरुध्यानन्तसेनादिशरजालं रणार्णवे । स्यन्दनांश्चोदयामासुः पोतान्वा वानरंहसः[5] ॥१९०॥
बलद्वयास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिम्[6] । [7]पेतुर्वाहाः[8] परं[9] तेजस्तेजस्वी सहते कथम् ॥१९१॥
अन्योन्यं खण्डयन्ति स्म तेषां शस्त्राणि तद्रणे । [10]नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रमस्त्रेषु कौशलम् ॥१९२॥
न मृता व्रणिता नैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेष्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥१९३॥
युद्ध्वाप्येवं चिरं शेकुर्न जेतुं ते परस्परम् । जयः सेनाद्वये तस्मिन् [11]जयादन्येन दुर्लभः ॥१९४॥
अन्तर्हासो जयः सर्वं तत्तदाऽऽलोक्य लीलया । शरैः सञ्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥१९५॥
निष्पन्दीभूतमालोक्य चक्रिसूनुः स्वसाधनम् । रक्तोत्पलदलच्छायाम् उच्छिद्य[12] नयनत्विषा ॥१९६॥
जयः परस्य [13]नो मेऽद्य जयो [14]जयमहं रणे । विध्वस्य[15] भुवने शुद्धम् अकल्पं स्थापये यशः ॥१९७॥
विदध्यामद्य नाथेन्दुप्रसरद्धर्षवर्द्धनम् । [16]जयलक्ष्मीं वशीकृत्य विधेयास्मेऽधुना सुखम्[17] ॥१९८॥

और सबको जीतते हुए उस जयकुमारको सहन करनेके लिये असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर इस प्रकार टूट पड़े मानो अग्निपर पतंगे ही पड़ रहे हों ॥१८७॥ इतनेमें ही जिनके रथ तैयार हैं, जो बड़े क्रोधी हैं, जिन्होंने क्रोधसे धनुष खींचकर उनके शब्दोंसे सब दिशाएं भर दी हैं और शत्रु जबतक अपने लक्ष्यतक पहुंचने भी न पाये थे कि तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रकट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि राजकुमार शत्रुओंपर अग्नि वर्षाके समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥१८८–१८९॥ वे अनन्तसेन आदिके बाणोंका समूह रोककर वायुके समान वेगवाले रथोंको रणरूपी समुद्रमें जहाजोंके समान दौड़ाने लगे ॥१९०॥ वे रथोंके घोड़े दोनों सेनाओं सम्बन्धी शस्त्रोंके संघट्टनसे उत्पन्न हुई अग्निपर पड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य दूसरेका तेज कैसे सह सकता है ? ॥१९१॥ उस युद्धमें दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको खंड खंड कर देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुओं तक नहीं पहुंचने पाता था सो ठीक ही है क्योंकि उनकी अस्त्रोंके चलानेकी कुशलता आश्चर्य करनेवाली थी ॥१९२॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुए न तो कोई मरा था, न किसीको घाव लगा था, न किसीकी जीत हुई थी और न किसीकी हार ही हुई थी, और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध सा नहीं मालूम होता था ॥१९३॥ इस प्रकार बहुत समय तक युद्ध करके भी वे एक दूसरेको जीत नहीं सके थे सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों सेनाओंमें जयकुमारके सिवाय और किसीको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥१९४॥ उस समय यह सब देखकर मन ही मन हंसते हुए जयकुमारने चक्रवर्तीके पुत्र–अर्ककीर्तिकी सब सेनाको लीलापूर्वक ही बाणोंसे ढक दी थी ॥१९५॥ अपनी सेनाको चेष्टा रहित देखकर चक्रवर्तीका पुत्र–अर्ककीर्ति अपने नेत्रोंकी कान्तिसे लाल कमलके दलकी कान्तिको जीतता हुआ अर्थात् क्रोधसे लाल लाल आंखें करता हुआ कहने लगा कि आज शत्रुको जीत नहीं हो सकती, मेरी ही जीत होगी, मैं युद्धमें जयकुमारको मारकर संसारमें कल्पान्त कालतक टिकनेवाला शुद्ध यश स्थापित करूंगा तथा आज ही बढ़ते हुए नाथ-

---

१ दिशः । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' । [illegible] । २ रथिनः । ३ रणाङ्गणे अभिमुखं समागत्य मुख्यताम् । ४ न गच्छन्ति स्म । ५ वायुवल्गिनः । ६ अग्निम् । ७ जग्मुः । ८ अश्वाः । ९ अवन् । १० एकं शस्त्रमपि । ११ जयकुमारात् । १२ कलिष्यन्यर्थं । १३ न । म नो जयः इति दुर्ध्वनिः । १४ जयकुमारम् । १५ विनाश्य । अविनाश्यति दुर्ध्वनिः । १६ जयस्य लक्ष्मी इति दुर्ध्वनिः । १७ मुखमिति दुर्ध्वनिः । 'अ०' प्रतौ असुखमिति दुर्ध्वनिः ।

ब्रुवन् स कल्पनादुष्टमिति[1] [2]स्वानिष्टसूचनम् । द्विपं प्रचोदयामास क्रुधेवाजयमात्मनः[3] ॥१९९॥
[4]प्रतिवातसमुद्धूतपश्चाद्गतपताकिकाः । [5]मन्दं मन्दं क्वणद्घण्टाः कुण्ठितस्वबलोत्सवाः ॥२००॥
सशुष्यद्दान[6]निष्यन्दकटदीनाननश्रियः । [7]निर्वाणालातनिर्भासनिःशेषास्त्रभराक्षमाः ॥२०१॥
[8]आधोरणैः कृतोत्साहैः[9] कृच्छ्रकृच्छ्रेण चोदिताः । [10]आक्रन्दमिव कुर्वन्तः कुण्ठितैः कण्ठगर्जितैः ॥२०२॥
भीतभीता[11] [12]युधोऽन्यैश्च चिह्नैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव जङ्गमाः ॥२०३॥
मन्दमन्दं प्रकृत्यैव[13] मन्दा युद्धभयान्मृगाः[14] । जग्मुर्निर्हेतुकं [15]भद्रास्तत्राशुभसूचनम्[16] ॥२०४॥
विजिगीषोर्विपुण्यस्य वृथा प्रणिधयो[17] यथा । तथाऽर्ककीर्तयन्नृणा[18] ते[19] गजेषु नियोजिताः ॥२०५॥
लङ्घयन्नेत्रयोर्दीप्त्या [20]पारिभद्रोद्गमच्छविम् । प्रकटभ्रूकुटीबन्धसन्धानितशरासनः ॥२०६॥
रिपुं कुपितभोगीन्द्रस्फुटाटोप[21]भयङ्करः । कुर्वन्विलोक[22]नातप्ततीव्रनाराचगोचरम् ॥२०७॥
गिरीन्द्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेन्द्रं विजयार्द्धाख्यं गर्जन्मेघ[23]स्वरस्तदा ॥२०८॥

वंश और सोमवंशका छेदन करूँगा, विजयलक्ष्मी मुझे अभी वशकर सुखी करेगी, इस प्रकार अभिप्रायसे दुष्ट तथा अपना ही अनिष्ट सूचित करनेवाला वचन कहते हुए अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥१९६–१९९॥ प्रतिकूल वायु चलनेसे जिनकी ध्वजाएं पीछेकी ओर उड़ रही हैं, जिनके घंटा धीरे धीरे बज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाके उत्सवको कुंठित कर दिया है, गण्डस्थलके मदका निष्यन्द सूख जानेसे जिनके मुखकी शोभा मलिन हो गई है, जिनकी शोभा बुझे हुए अलातचक्रके समान है, जो सम्पूर्ण शस्त्रोंका भार धारण करनेमें असमर्थ हैं, उत्साह दिलाते हुए महावत जिन्हें बड़ी कठिनाईसे ले जा रहे हैं, जो कुण्ठित हुई कण्ठकी गर्जनामें मानो रुदन ही कर रहे हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले अन्य अनेक चिह्नोंसे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे हाथी चलते फिरते पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥२००–२०३॥ मन्द जातिके हाथी स्वभावसे ही मन्द मन्द चल रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी बिना ही कारण धीरे धीरे चल रहे थे परन्तु युद्धमें उनका धीरे-धीरे चलना अशुभको सूचित करनेवाला था ॥२०४॥ जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाले किन्तु पुण्यहीन मनुष्यके गुप्त सेवक व्यर्थ हो जाते हैं–अपना काम करनेमें सफल नहीं हो पाते हैं उसी प्रकार अर्ककीर्तिके लिये उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनाएं व्यर्थ हो रही थीं ॥२०५॥ उधर जो अपने दोनों नेत्रोंकी कान्तिसे कल्पवृक्षके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी भौंहोंकी रचनाके समान ही प्रकटरूपसे बाण चढ़े धनुषका आकार बनाया है, क्रोधित हुए महा सर्पके समान जिसका शरीर कुछ ऊपर उठा हुआ है और इसीलिये जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि तथा तपे हुए बाणोंका निशाना बना रहा है, एवं सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा मेघस्वर जयकुमार उस समय गर्जता हुआ मेरुकी शिखरके समान आकारवाले विजयार्ध नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर, अनुकूल वायु चलनेसे

१ अभिप्रायदुष्टम् । २ निजानिष्ट । ३ अपजयम् । ४ प्रतिकूलवायु । ५ मन्दमन्द–अ०, प०, स०, इ०, स० । ६ मदस्रवण । ७ नष्टो मुखगद्गद । ८ हस्तिपकैः । ९ कृतोद्योगैः । १० रोदनम् । ११ अधिरभीता । १२ गहग्रामात् । १३ स्वभावेनैव जडा । मन्दा इति जातिभेदाश्च । १४ मृगगदृशा मृगजातयश्च । १५ भद्रजातय । १६ मन्दगमनम् । १७ वाञ्छा चरश्च । 'प्रणिधि प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् । १८ गजारोहकाणाम् ।–कीर्तये नृणा स० । १९ मनोरथा । २० मन्दारकुसुमच्छविम् । 'परिभद्रो निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः ।' इत्यभिधानात् । २१ टोपो भयङ्कर स०, म० । २२ निजावलोकनाग्नेय अतप्ततीक्ष्णबाणानामेव विषयम् । २३ जयकुमार ।

अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पद्ध्वजांशुकैः । क्रान्तद्विपारिविक्रान्तविख्यातारूढयोधनैः[1] ॥२०९॥
प्रस्फुरच्छस्त्रसङ्घातदीप्तिदीपितदिङ्मुखैः । [2]धृतदुन्दुभिसद्ध्वानबृहद्बृंहितभीषणैः ॥२१०॥
घण्टामधुरनिर्घोषनिर्भिन्न[3]भुवनत्रयैः । सद्यः समुत्सरद्दर्पैरपि सिंहान् जिगीषुभिः ॥२११॥
प्रापद्युद्धोत्सुकः सार्द्धं गजैर्विजयसूचिभिः । [4]क्षयवेलानिलोद्धूतसिन्धुवेलां विलङ्घयन्[5] ॥२१२॥
महाहास्तिक[6]विस्तारस्थूलनीलवलाहकः[7] । समन्तात्सम्पतच्छटक[8] समूहसहसानकः ॥२१३॥
प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुल्लसितभासुरः[9] । नानानकमहाध्वानगम्भीरघनगर्जितः ॥२१४॥
[10]नवलोहितपूराम्बुनिरुद्धधरणीतलः । निर्दयानिष्ठुरापातमुद्गराशनिसन्ततिः[11] ॥२१५॥
चलत्सितपताकालिबलाका[12]च्छादिताम्बरः । साङ्ग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीम् अशेषामपु[13]षत्तदा ॥२१६॥
सुचिरं सर्वसन्दोहसवृत्तसमराङ्गणे । सेनयोः सर्वशस्त्राणां व्यत्ययो[14] बहुशोऽभवत् ॥२१७॥
निरुद्धमूर्ध्वम् गृध्रौघैर्मध्यमुद्यद्ध्वजांशुकैः । सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्री च सा तता[15] ॥२१८॥
जयलक्ष्मीं नवोढाया[16] सपत्नीमिच्छता नवाम् । तदार्ककीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोदितः[17] द्विपः ॥२१९॥
अष्टचन्द्रा पुरोभूय[18] भूयः[19] प्राग्दृष्टशक्तयः[20] । क्षपकं[21] [22]वांऽहसां[23] भेदा व्यरुद्धस्त[24] निमद्रुतः[25] ॥

जिनकी ध्वजाओंके वस्त्र उडकर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करते हुए सिंहके समान प्रसिद्ध पराक्रमवाले योद्धा जिनपर बैठे हैं, देदीप्यमान शस्त्रोंके समूहकी दीप्तिसे जिन्होंने समस्त दिशाओंके मुख प्रकाशित कर दिये हैं, बजते हुए नगाडोंके बडे बडे शब्दोंसे बढी हुई गर्जनाओंसे जो भयंकर हैं, घंटाओंके मधुर शब्दोंसे जिन्होंने तीनों लोक भर दिये हैं, तत्काल उठते हुए अहंकारसे जो सिंहोंको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयकी सूचना करनेवाले हैं ऐसे हाथियोंके साथ, प्रलय कालकी वायुसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको उल्लंघन करता हुआ युद्धकी उत्कंठासे आ पहुंचा ॥२०९–२१२॥ जिसमें बडे बडे हाथियोंके समूहका विस्तार ही बडे बडे काले बादल हैं, चारों ओरसे पडते हुए बाणोंके समूह ही मयूर हैं, ऊपर उठाई हुई तलवाररूपी बिजलियोंकी चमकसे जो प्रकाशमान हो रहा है, अनेक नगाडोंके बडे बडे शब्द ही जिसमें मेघोंकी गंभीर गर्जनाएं हैं, नवीन रुधिरके प्रवाहरूपी जलसे जिसमें पृथ्वीतल भर गया है, बडी निर्दयताके साथ पडते हुए मुद्गर ही जिसमें वज्रोंका समूह है और फहराती हुई सफेद पताकाओंके समूहरूप बगलाओंसे जिसमें समस्त आकाश आच्छादित हो रहा है ऐसा वह युद्ध उस समय वर्षाऋतुकी सम्पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहा था ॥२१३–२१६॥ बहुत देरतक सब योद्धाओंके समूहसे घिरे हुए युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोंका अनेक वार व्यत्यय (अदला बदली) हुआ था ॥२१७॥ उस समय ऊपरका आकाश गीधोंके समूहसे भर गया था, मध्य भाग फहराती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे भर गया था और पृथिवी दोनों सेनाओंके द्वारा छोडे हुए शस्त्रोंसे भर गई थी ॥२१८॥ उसी समय जयलक्ष्मीको नवीन विवाहिता सुलोचनाकी नई सौत बनानेकी इच्छा करते हुए जयकुमारने अर्ककीर्तिको उद्देश्य कर अपना हाथी आगे बढाया ॥२१९॥ जिस प्रकार कर्मोंके भेद क्षपकश्रेणीवाले मुनिको रोकते हैं उसी प्रकार अष्टचन्द्र नामके विद्याधर जिनकी कि शक्ति पहले देखनेमें आई थी फिरसे सामने आकर

1 आक्रान्तसिंहपराक्रमप्रसिद्धारोहणाधोरणैः । 2 ताडित । 3 व्याप्त । 4 प्रलयकाल । 5 विलङ्घयन् स०, म०, अ०, प०, इ०, स० । 6 गजसमूह । 7 कालमेघ । 8 शस्त्रायुधसमूहमयूरकः । 9 स्फुरण । 10 नूतनरक्त । 11 द्रुघण । 12 बिसकण्ठिका । 13 पुष्णाति स्म । 14 व्यत्यय इति सम्बन्धिन इतरेण हरणम् । ('ता०' प्रतौ व्यत्यय इतरसम्बन्धिन इतरेण हरणम्) 15 व्याप्ता । वृता स० । 16 नूतनविवाहिताया सुलोचनायाः । 17 प्रेरितः । 18 अग्रे भूत्वा । 19 पुनः पुनः । 20 पूर्वं दृष्टपराक्रमाः । 21 क्षपकश्रेण्यारूढम् । 22 इव । 23 कर्मणाम् । 24 जयम् । 25 नातिनिम्नद ।

जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यत । [1]लब्धेव इन्धनं वह्निः [2]उत्साहानिलनोद्धतः ॥२२१॥
तदोभयबलख्यातगजाद्रिशिखरस्थिताः । योद्धुमारेभिरे राजराजसिंहाः[3] परस्परम् ॥२२२॥
अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौचिद् व्यसू[4] गजौ । चिरं परस्पराधारौ[5] आयातां यमलाद्रिवत्[6] ॥
समन्ततः शरैश्छन्ना रेजू राजो गजाधिपाः । क्षुद्रवेणुगणाकीर्णसञ्चरद्[7]गिरिसन्निभाः ॥२२४॥
दानिनो मानिनस्तुङ्गाः [8]कालवन्तोऽन्तकोपमाः । महान्तः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्ध्यन्ते[9] कथं गजाः ॥२२५॥
[10]मृगैर्मृ[11]गैरिवापात[12]मात्रभग्नैर्भयाद् द्विपैः । स्वसैन्यमेव सङ्क्षुण्णं[13] धिक् स्थौल्यं भीतचेतसाम् ॥२२६॥
निःशक्तीन्[14] शक्तिभिः[15] शक्ता[16] [17]शक्तांश्चक्रुरशक्तकान् ।
[18]शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन्[19] धिग्विगूनताम्[20] ॥२२७॥
शस्त्रनिर्भिन्नसर्वाङ्गा निमीलितविलोचनाः । सम्यक्[21]संहृतसंरम्भाः सम्भावितपराक्रमाः ॥२२८॥
बुबुध्ये[22] बद्धपर्यङ्कास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । [23]समत्यासुरसञ्छूराः[24] निधाय हृदयेऽर्हतः ॥२२९॥

जयकुमारको रोकने लगे ॥२२०॥ जिस प्रकार बहुतसे इन्धनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि देदीप्यमान हो उठती है उसी प्रकार उत्साहरूपी वायुसे बढा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरमे शत्रुको पाकर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था ॥२२१॥ उस समय दोनो सेनाओं में प्रसिद्ध हाथीरूपी पर्वतोकी शिखरपर बैठे हुए अनेक राजारूपी सिंहोने भी परस्पर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था ॥२२२॥ उस युद्धमे एक दूसरेके दातोके प्रहारसे विदीर्ण होकर मरे हुए कोई दो हाथी मिले हुए दो पर्वतोके समान एक दूसरेके आधारपर ही चिरकाल तक खडे रहे थे ॥२२३॥ चारो ओरसे बाणोसे ढके हुए बडे बडे हाथी उस युद्धमें छोटे छोटे बासो से व्याप्त और चलते हुए पर्वतोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२४॥ जो दानी है–जिनसे मद झर रहा है मानी है ऊचे है, यमराजके समान है और सब जीवोसे बडे है ऐसे भद्र जातिके हाथी भला क्यो न युद्ध करते ? ॥२२५॥ जिस प्रकार हरिण भयभीत होकर भागते है उसी प्रकार मृगजातिके हाथी भी प्रारम्भमें ही पराजित होकर भयसे भागने लगे थे और उनसे उन्होने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था इससे कहना पडता है कि भीरु हृदयवाले मनुष्यो के स्थूलपनको धिक्कार हो ॥२२६॥ शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धा अपने शक्ति नामक शस्त्रसे, जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र नही है ऐसे शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धाओंको शक्तिरहित–सामर्थ्यहीन कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र था किन्तु स्वय अशक्त–सामर्थ्यरहित थे उन्हें भी शक्तिरहित–शक्ति नामक शस्त्रसे रहित कर रहे थे–उनका शस्त्र छुडा रहे थे इसलिये आचार्य कहते है कि ऊनता अर्थात् आवश्यक सामग्रीकी कमीको धिक्कार हो ॥२२७॥ जिनके समस्त अग शस्त्रोसे छिन्न भिन्न हो गये है, नेत्र बन्द हो गये है, जिन्होने युद्धकी इच्छाका अच्छी तरह सकोच कर लिया है, जो अपना पराक्रम दिखा चुके है, जिन्होने युद्धमे ही पर्यकासन बाध लिया है और सब परिग्रह छोड दिये है ऐसे कितने ही

---

१ इन्धनम् इन्धनम् । लब्धेवेन्धन ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, द० । २ उत्साहवायुना समृद्ध । ३ राजराजमुख्या । सिंहा इति ध्वनि । ४ विगतप्राणौ । ५ अन्योन्यावलम्बनौ । ६ यमलगिरिवत् । ७ गच्छत्सदगिरि– ल०, अ०, प०, स०, इ०, म० । ८ आरोहकानुकूला इत्यर्थ । ९ युद्ध्यन्ते स० । १० मृगजातिभि । भययान्वेषणीयैर्वा । ११ हरिणैरिव । १२ प्रथमदिनायामेव । १३ सचूर्णम भवत् । १४ शक्त्यायुधरहितम् । १५ शक्त्यायुधै । १६ समर्था । १७ समर्थान् । १८ शक्त्यायुध युक्तान् । १९ शक्त्यायुधरहितान् । २० सामग्रीविकलताम् । २१ सम्यक्सुसृष्टसमारम्भा । २२ मनसैव हृतसर्वाभिमना । २३ समत्वम् एव त्यक्तवन्त । २४ प्राणान् ।

कस्यचिद् बोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । [1]निष्ठायामायुषोऽप्यासीद् अभ्यासात् किं न जायते[2] ॥२३०॥
हृदि नाराचनिर्भिन्ना वक्त्रात् स्रवदसृक्प्लवाः । [3]शिवाकृष्टान्त्रतन्त्रान्ता[4] पर्यस्तव्यस्तपत्कराः[5] ॥२३१॥
गृध्रपक्षानिलोच्छिन्नमूर्च्छाः सम्प्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धां श्रद्धां[7] सुरगतिं[8] गताः ॥२३२॥
छिन्नैश्चक्रेण शूराणां शिरोऽम्भोजैर्विकासिभिः । [9]रणाङ्गणोऽर्चितो बाभात् नृत्यं[10] जयजयश्रियः[11] ॥२३३॥
स्वामिसम्माननदानादिमहोप[12]कृतिनिर्भराः । प्राप्याधमर्णतां[13] प्राणैः सेवां सम्पाद्य सेवकाः ॥२३४॥
स्वप्राणव्ययसन्तुष्टैस्तद्भूभृद्भिः[14] स्वभूभृतः[15] । लब्धपूजान् विधायान्ये धन्या [16]नैर्ऋण्यमागमन् ॥२३५॥
जयमुक्ता[17] द्रुतं पेतुः अविमुक्तजयाः[18] शराः । अष्टचन्द्रान् प्रति प्रोच्चैः [19]प्रदीप्तोल्कोपमाः [20]समम् ॥२३६॥
[21]जयप्रहितशस्त्राली [22]तैर्निषिद्धा च विद्यया । ज्वलन्ती परितश्चन्द्रान्[23] परिवेषाकृतिर्बभौ ॥२३७॥
विश्वविद्याधराधीशम् [24]आदिराजात्मजस्तदा । [25]द्विषो [26]निःशेषयाशेषानित्याह सुनमिं रुषा ॥२३८॥
सोऽपि[27] सर्वं खगैः सार्द्धं निर्द्धूतारातिविक्रमः । वह्निवृष्टिमिवाकाशे ववर्ष शरसन्ततिम् ॥२३९॥

शूरवीरोंने हृदयमें अर्हन्त भगवान्‌को स्थापन कर प्राण छोड़े थे ॥२२८–२२९॥ किसी योद्धाके आयुकी समाप्तिके समय क्रोध शान्त हो गया था और परमेष्ठियोंका स्मरण होने लगा था सो ठीक है क्योंकि अभ्याससे क्या क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥२३०॥ जिनके हृदय बाणोंसे छिन्न भिन्न हो गये हैं, मुँहसे रुधिरका प्रवाह बह रहा है, सियारोंने जिनकी अतड़ियोंकी तांतोंके अन्तभाग तकको खींच लिया है और जिनके हाथ पैर फट गये हैं ऐसे कितने ही योद्धा गीधोंके पंखोंकी हवासे मूर्च्छारहित होकर कुछ कुछ सचेत हो गये थे और शुद्ध श्रद्धा धारणकर सुरगति–स्वर्ग गतिको प्राप्त हुए थे ॥२३१–२३२॥ चक्र नामक अस्त्रसे कटे हुए शूरवीरोंके प्रफुल्लित मुखरूपी कमलोंसे भरी हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जयकुमारकी विजयलक्ष्मीके नृत्योंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥२३३॥ स्वामीके द्वारा पाये हुए आदर सत्कार आदि बड़े बड़े उपकारोंसे दबे हुए कितने ही सेवक लोग अपने प्राणों द्वारा स्वामीकी सेवाकर उऋण अवस्थाको प्राप्त हुए थे और कितने ही धन्य सेवक, अपने अपने प्राण देकर संतुष्ट हुए शत्रु राजाओंसे अपने स्वामियोंकी पूजा प्रतिष्ठा कराकर कर्ज रहित हुए थे। भावार्थ–कितने ही सेवक लड़ते लड़ते मर गये थे और कितने ही शत्रुओंको मारकर कृतार्थ हुए थे ॥२३४–२३५॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोड़ा नहीं है और जो अपनी बड़ी भारी कान्तिसे उल्काके समान जान पड़ते हैं ऐसे जयकुमारके छोड़े हुए बाण अष्टचन्द्र विद्याधरोंके पास बहुत शीघ्र एक साथ पड़ रहे थे ॥२३६॥ जयकुमारके द्वारा छोड़ी हुई शस्त्रोंकी पंक्तियोंको उन विद्याधरोंने अपने विद्या बलसे रोक दिया था। इसलिये वे उनके चारों ओर जलती हुई खड़ी थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो चन्द्रमाओंके चारों ओर गोल परिधि ही लग रही हो ॥२३७॥ उसी समय आदि सम्राट्–भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने बड़े क्रोधसे सब विद्याधरोंके अधिपति सुनमिसे कहा कि तुम समस्त शत्रुओंको नष्ट करो ॥२३८॥ और शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला सुनमिकुमार भी अग्नि वर्षाके समान आकाशमें बाणोंके समूहकी

---

१ परिसमाप्तौ गतायाम् । २ रणे । ३ माध्यस्न० । ४ जम्बुकाकृष्टपुरीतत्प्रान्ताः । [illegible] धा । ५ तन्त्राग्रा–ट० । ६ विनिपतितपादहस्ताः । ७ शुद्धाम् । ८ स्वर्गम् । [illegible] । ९ रणाङ्गणोऽर्चित–न० । १० नर्तनाय । ११ जयकुमारस्य जयलक्ष्म्याः । १२ महोपकारनिर्भराः । १३ ऋणमुक्तिताम् । १४ सन्तुष्टैः । १५ निजनृपान् । १६ ऋणमुक्तत्वम् । ऋणाभावम् । १७ जयकुमारेण मुक्ताः । १८ अचलजयाः । १९ प्रदीप्ता उल्का यासां ता म० । २० युगपत् । २१ जयकुमार-प्रेषित । २२ सुनमि । २३ अष्टचन्द्रानपरितः सुरचन्द्रान् परितः । २४ अर्ककीर्तिः । २५ शत्रून् । २६ विनाशय । २७ सुनमिः ।

भीकरा किङ्कराकारा[1] [2]रुवन्तो रुद्धदिङ्मुखाः । कास्कान्[3] श्रृणाम नेतीव सुतीक्ष्णाः [4]शरवोऽपतन् ॥
[5]मेघप्रभो जयादेशाद् इभेन्द्र[6] वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमी शस्त्रैः [7]अरौत्सीत्[8] विहायसि ॥२४१॥
तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः सुनमियोजिताः । तुच्छीकृत्य[9] स [10]विच्छिद्य (?) सहसा भास्करादिभिः[11] ॥२४२॥
जयपुण्योदयात्तद्यो विजिग्ये[12] खचराधिपम् । सङ्ग्रामेऽनुगुणे दैवे[13] [14]क्षोदिमा बहिमेति[15] न ॥२४३॥
प्रवृद्धप्रावृडारम्भसम्भूताम्भोधरावलिम् । [16]विलङ्घ्यानेकपानीकं[17] कौमारं[18] जयमारुणत्[19] ॥२४४॥
जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयार्धं गजाधिपम् । धीरोद्धतं[20] रुषा प्राप्तं धीरोदात्तो[21]ऽब्रवीदिदम् ॥२४५॥
न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणा । [22]तेषामेभिर्दुराचारैः[23] कृतस्त्वं पारिपन्थिकः[24] ॥२४६॥
बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्यबुद्धित्वमपि[25] दूषणम् । कुमार नीयसे [26]पापैस्तृतीय[27] तद्विगर्हितम्[28] ॥२४७॥
अन्तःकोपोऽप्ययं [29]पापैर्महानुत्थापितो वृथा । सर्वसैन्यक्षयो भर्तुः सहसा येन[30] तादृशः ॥२४८॥

वर्षा करने लगा ॥२३९॥ जो अत्यन्त भयंकर हैं, किंकरोंके समान काम करनेवाले हैं, वेगके कारण शब्द कर रहे हैं और जिन्होंने सब दिशाएं रोक ली हैं ऐसे वे तीक्ष्ण बाण हम किस किसको नष्ट नहीं करें ? अर्थात् सभीको नष्ट करें यही सोचकर मानो सब सेना पर पड़ रहे थे ॥२४०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीपर आक्रमण करता है उसी प्रकार खूब पराक्रमी मेघप्रभ नामके विद्याधरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमण कर उसे शस्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥२४१॥ मेघप्रभने सुनमिके द्वारा चलाये हुए तमोबाण, अग्नि बाण, गजबाण और मेघ बाण आदि विद्यामयी बाणोंको सूर्य बाण, जल बाण, सिंह बाण और पवन बाण आदि अनेक विद्यामयी बाणोंसे तुच्छ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥२४२॥ इस प्रकार मेघप्रभने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे विद्याधरोंके अधिपति सुनमिको शीघ्र ही जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि दैवके अनुकूल रहनेपर छोटापन और बड़प्पनका व्यवहार नहीं होता है । भावार्थ—भाग्यके अनुकूल होनेपर छोटा भी जीत जाता है और बड़ा भी हार जाता है ॥२४३॥ बढ़ी हुई वर्षाऋतुके प्रारम्भमें इकट्ठी हुई मेघमालाके समान हाथियोंकी सेनाको उल्लंघनकर अर्ककीर्तिके पक्षके लोगोंने जयकुमारको रोक लिया ॥२४४॥ इधर धीर और उदात्त जयकुमारने भी अपना विजयार्ध नामका श्रेष्ठ हाथी क्रोधसे प्राप्त हुए धीर तथा उद्धत अर्ककीर्तिके सामने चलाकर उससे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥२४५॥ वह कहने लगा कि चक्रवर्तीके द्वारा सभी न्याय मार्ग अच्छी तरह चलाये जाते हैं परन्तु इन दुराचारी लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गोंका शत्रु बना दिया है ॥२४६॥ हे कुमार, यद्यपि तू बुद्धिमान् है परन्तु आहार्य बुद्धिवाला होना अर्थात् दूसरेके कहे अनुसार कार्य करना यह तेरा दोष भी है । इसके सिवाय तू पाप या पापी पुरुषोंके अनुकूल हो रहा है सो यह भी तेरा तीसरा दूषण है ॥२४७॥ इन पापी लोगोंने तेरे अन्तःकरणमें यह बड़ा भारी क्रोध व्यर्थ ही उत्पन्न कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सब सेनाका ऐसा एक साथ क्षय हो रहा है ॥२४८॥

आहवोऽपरिहार्योऽयं[1] ममाद्य भवता सह । अकीर्तिरावयोरस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवम् ॥२४९॥
चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं त्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्यन्यायवर्तनात् ॥२५०॥
[3]द्रोग्धुर्न्यायस्य भूभर्तुस्तव चैनांस्ततः क्षणात् । दुष्टान् सखेचरान् सर्वान् बध्वाद्य भवतोऽर्पये ॥२५१॥
नागमारुह्य [4]तिष्ठ त्वं कालान्तं[5] प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तत्त्यागो[6] महीयसः[7] ॥२५२॥
कुमार, समरे हानिस्तवैव महती मया । हन्त्यात्मानमनुन्मत्तः[8] कः स तीक्ष्णासिना स्वयम् ॥२५३॥
अभव्य इव सद्धर्मम् अपकर्णयदुदीरितम्[9] । [10]आघातयितुमारेभे गजेन स[11] गजाधिपम् ॥२५४॥
तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयार्द्धेन दन्तघातैरपातयत्[12] ॥२५५॥
नवापि कुपितेभेन्द्रनवदन्ताहतिक्षताः । अष्टचन्द्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हतदन्तिनः ॥२५६॥
चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽस्थाद्[13]युयुत्सया[14] । [15]तदा तदायुर्वा[16] [17]रक्षदहः[18]क्षयमपद्यत ॥२५७॥
सोऽर्कः स्खलत्तेजो [19]जयस्याशक्नुवन्निव । जयन् जपोद्ग[20]मच्छायां संहृतात्मीयदीधितिः ॥२५८॥
[22]शरैरिवोग्रैरारक्तैर्विमुक्तैः खचरान् प्रति । जयीयैः[22] स्वाङ्गसंलग्नैः [23]स्रवद्रक्तनजरञ्जितैः ॥२५९॥
गतप्रतापः [24]क्रूरात्मा सर्वनेत्राप्रियस्तदा । पपात कातरीभूय करालम्बितभूधरः ॥२६०॥

मेरा आपके साथ जो युद्ध चल रहा है वह आज ही बन्द कर देने योग्य है क्योंकि इससे हम दोनोंकी कल्पान्तकाल तक टिकनेवाली अपकीर्ति अवश्य होगी ॥२४९॥ चक्रवर्ती सब पुत्रोंमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्यायमें प्रवृत्ति करनेसे उनके मनको पीड़ा नहीं होगी ? ॥२५०॥ भरत महाराजके न्यायमार्गका द्रोह करनेवाले तुम्हारे इन सभी दुष्ट पुरुषोंको विद्याधरोंके साथ साथ बांधकर आज क्षणभरमें ही तुम्हें सौंप देता हूँ ॥२५१॥ मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप हाथीपर चढ़े हुए यहां क्षण भर ठहरिये क्योंकि महापुरुषोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है, अन्यायका त्याग करना तिरस्कार नहीं है ॥२५२॥ हे कुमार, मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बड़ी हानि है क्योंकि ऐसा कौन सावधान है जो पैनी तलवारसे अपनी आत्माका स्वयं घात करे ॥२५३॥ जिस प्रकार अभव्य जीव समीचीन धर्मको नहीं सुनता उसी प्रकार जयकुमारके कहे हुए वचन अर्ककीर्तिने नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर प्रहार करवाना शुरू कर दिया ॥२५४॥ उस समय हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें अत्यन्त निपुण जयकुमार भी अधिक क्रोधित हो उठा, उसने अपने विजयार्ध हाथीके द्वारा दाँतोंके नौ प्रहारोंसे अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोंके नौ हाथियोंको घायल करवा दिया ॥२५५॥ अर्ककीर्ति तथा अष्ट चन्द्र विद्याधरोंके नौके नौ ही हाथी क्रोधित हुए विजयार्ध हाथीके दांतोंके नौ प्रहारोंसे घायल होकर जमीनपर गिर पड़े ॥२५६॥ जिस समय जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारों ओरसे घेरा उसी समय मानो उसकी आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त हो गया ॥२५७॥ जो अपनी कान्तिसे जासौनके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी सब किरणें सकोच ली हैं, जो लाल लाल किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण छोड़े थे वे सब ही विद्याधरोंके निकलते हुए रुधिरसे अनुरंजित होकर उसके शरीरमें जा लगे हों, जिसका सब प्रताप नष्ट हो गया है, जो क्रूर है और सबके नेत्रोंको अप्रिय है ऐसा वह दुष्ट

---

१ आहव परि— ल० । २ युद्धे सति । ३ हन्तुमिच्छून् । ४ निष्ठान ल०, इ०, प०, अ०, स० । ५ क्षणपर्यन्तम् । ६ अन्यायत्याग । ७ महात्मन । ८ बुद्धिमान् । ९ एवमुक्तवचनं श्रुत्वा । १० मारयितुम् । ११ अर्ककीर्तिः । १२— रघातयत् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ अगमत् । १४ योद्धुमिच्छया । १५ यदा इ०, अ०, प० । १६ इव । १७ रक्षतीति रक्षत् । १८ दिवसः । १९ जयकुमारस्य । २० कुसुम । २१ किरणः । २२ जयकुमारसम्बन्धिभिः । २३ स्रवन् । २४ दुष्टाचारिस्वभावः ।

अर्ककीर्ति स्वकीर्ति[1] वा मत्वा रोषेण[2] भास्वर । अस्त [3]जयजयस्याधात् कुर्वन् कालविलम्बनम् ॥२६१॥
[4]स्फुटालोकोऽपि [5]सद्वृत्तोऽप्यगादस्तमहर्पति[6] । आश्रित्य वारुणी[7] रक्त[8] को न गच्छत्यधोगतिम् ॥
उदये[9] वर्धितच्छायो[10] व्याप्य विश्वं प्रतापवान् । [11]दिनेनैनोऽप्यनश्यत्[12] य स्तिष्ठेत्तीव्रकर पर ॥२६३॥
इन[13] स्वच्छानि विच्छाय[14] तापहारीणि वा भृशम् । द्रष्टु सरांस्यनिच्छन्ति[15] पङ्कजाक्षीणि शुचा [16]व्यधु
[17]जयनिस्त्रिंशनिस्त्रिंशनिपातपतितान् खगान् । [18]प्राविशन्निजनीडानि[19] वीक्षितु विक्षमा खगा[20] २६५
स प्रताप प्रभा साऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता । पात[21] प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्य [22]कर्कशो विधि[23] ॥२६६॥
कीर्त्योपमानता यातो यातोऽर्कश्चेददृश्यताम् । उपमेयस्य का वार्तेत्यवादीद्विबुधा गण ॥२६७॥

सूर्य मानो जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर हो अपने करो–किरणोसे (हाथो से) अस्ताचलको पकडकर नीचे गिर पडा ॥२५८–२६०॥ वह सूर्य अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति मानकर क्रोधसे जयकुमारके जीतमे विलम्ब करता हुआ अस्त हो गया ॥२६१॥ जिसका आलोक प्रकाश (ज्ञान) स्पष्ट है और जो सद्वृत्त–गोल (सदाचारी) है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पडा सो ठीक ही है क्योकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यका सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो–अस्त न होता हो–नरक न जाता हो। भावार्थ–जिस प्रकार मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी नीच गतिको जाता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रकाशमान और गोल होकर भी पश्चिम दिशामे जाकर अस्त हो जाता है ॥२६२॥ उदय कालसे लेकर निरन्तर जिसकी कान्ति बढती रहती है और जो ससारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्रकर अर्थात् तीव्र किरणोवाला सूर्य भी जब एक ही दिनमें नष्ट हो गया तब फिर भला तीव्रकर अर्थात् अधिक टैक्स लगानेवाला और सताप देनेवाला अन्य कौन है जो ससारमें ठहर सके ॥२६३॥ सतापको दूर करनेवाले स्वच्छ सरोवर अतिशय कान्तिरहित सूर्यको देखना नही चाहते थे इसलिये ही मानो उन्होने शोकसे अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये थे ॥२६४॥ सब पक्षी अपने-अपने घोसलोमे इस प्रकार चले गये थे मानो वे जयकुमार की तीक्ष्ण तलवारकी चोटसे गिरे हुए विद्याधरोको देखनेके लिये समर्थ नही हो सके हो ॥२६५॥ सूर्यका असाधारण प्रताप है, असाधारण कान्ति है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते है फिर भी प्रतिदिन उसका पतन हो जाता है इससे जान पडता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नही है। भावार्थ– ऐसा क्यो करता है इस प्रकारका प्रश्न दैवके विषयमें नही हो सकता है ॥२६६॥ उस समय विद्वानोका समूह ऐसा कह रहा था कि जब अर्ककीर्तिके साथ उपमानता को प्राप्त हुआ सूर्य भी अदृश्य हो गया तब उपमेयकी क्या बात है ? भावार्थ–अर्ककीर्तिके लिये सूर्यकी उपमा दी जाती है परन्तु जब सूर्य ही अस्त हो गया तब अर्ककीर्तिकी तो बात ही

---

१ निजनामधेयमिव। २ पीडया। ३ जयकुमारस्य। ४ व्यक्तोद्योतोऽपि। व्यक्तदर्शनोऽपीति ध्वनि। 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यभिधानात्। ५ सद्वर्तुलमण्डलोऽपीति। सच्चारित्रोऽपीति ध्वनि। ६ रवि। ७ पश्चिमाशाम्। मदिरामिति ध्वनि। ८ अरुण अनुरक्तश्च। ९ उद्गमे अभ्युदये च। १० कान्ति पक्षे उत्कोच। 'छाया स्यादातपाभाव प्रतिबिम्बार्कयोषितो। पालनोत्कोचयो कान्तिसच्छोभापङ्क्तिषु स्मृता' इत्यभिधानात्। ११ दिवसेन च। दिना सूर्य प्रभुश्च। इन सूर्ये प्रभौ इत्यभिधानात्। १२ अस्तमयात्। १३ सूर्यम्। १४ विगतकान्तिम्। १५ अनिच्छूनि। १६ दधति स्म। १७ जयकुमारस्य निस्त्रिंशखड्गपातन पतितान्। १८ प्रविष्टा। १९ आत्मीयकुलायान्। 'कुलायो नीडम् स्त्रियाम्।' इत्यभिधानात्। २० पक्षिण। २१ पतनम्। २२ क्रूर। २३ नियति कर्म च।

दुर्निरीक्ष्यः [1]करैस्तीक्ष्णैः सन्तप्तनिजमण्डलः । प्रलं कुवलयध्वंसी दुस्सुतो[2] दुर्मतिस्तुतः ॥२६८॥
निस्सहायो निरालम्बोऽप्यसोढा[3] परतेजसाम्[4] । [5]सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहसोच्छ्रित्य[6] मूर्द्धगः[7] ॥२६९॥
पापरोगी[8] परप्रेर्यो रविर्विषममार्गगः । रक्तरुक्[9] सकलद्वेषी[10] [11]वर्धिताशोऽक्रमाग्रगः[12] ॥२७०॥
[13]सता सुतेन मित्रेण[14] गुरुणा[15]ऽप्यस्तमाययत् । बहुदोषो[16] भिषग्वर्यैर्दुश्चिकित्स्य इवातुरः[17] ॥२७१॥
तदा बलद्वयामात्याः स्थित्वा बद्धरुषौ नृपौ । इत्यधर्म्यं निशायुद्धम् अनुबद्ध्य[18] न्यषेधयन् ॥२७२॥
ताभ्यां[19] तत्रैव सा रात्रिर्नीता मिथ्या रणाङ्गणे । भटतीव्रव्रणासह्यवेदनारावनीयमे ॥२७३॥

क्या है ? ॥२६७॥ जो बड़ी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंसे तीक्ष्ण-उष्ण है, जिसने अपना मण्डल भी संतप्त कर लिया है, जो कुवलय अर्थात् कुमुदोंका ध्वंस करनेवाला है, बड़े कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जिसका पुत्र–शनि दुष्ट है, दुर्बुद्धि लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायरहित है, आधाररहित है, जो चन्द्र आदि ज्योतिषियोंका तेज सह नहीं सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, सहसा उछलकर मस्तकपर चलता है, पाप रोगी है, दूसरेके सहारेसे चलता है, विषममार्ग–आकाशमें चलता है, रक्तरुक्–लाल किरणोंवाला है, सकल–कलासहित–चन्द्रमाके साथ द्वेष करनेवाला है, दिशाओंको बढ़ानेवाला है और पैररहित–अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य, बुधग्रह और गुरु (बृहस्पति ग्रह) नामके सज्जन मित्रोंके साथ होनेपर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे बहुदोषी–अनेक दोषवाले (पक्षमें रात्रिवाले) रोगीके समान अस्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट होनेके कारण जिसको और कोई देख भी नहीं सकता है, जो अधिक टैक्स वसूल करनेके कारण तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारके लोगोंको भी संताप देनेवाला है । कुवलय अर्थात् पृथिवीमण्डलका खूब नाश करनेवाला है, जिसका पुत्र खराब है, मूर्ख ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायक मित्रोंसे रहित है, दुर्ग आदि आधारोंसे रहित है, अन्य प्रतापी राजाओंके प्रतापको सहन नहीं करता है, सिंह राशिमें जिसका जन्म हुआ है, चञ्चल है, निर्दय है, जरा-जरा सी बातोंमें उछलकर सिरपर सवार होता है–असहनशील है, बुरे रोगोंसे घिरा हुआ है, दूसरेके कहे अनुसार चलता है, विषम मार्ग–अन्याय मार्गमें चलता है, रक्तरुक्–जिसे खूनकी बीमारी है, जो सबके साथ द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है और बिना क्रमके प्रत्येक कार्यमें आगे आगे आता है, ऐसे अनेक दोषवाले राजाका लाइलाज रोगीकी तरह बुद्धिमान् मित्र और सज्जन गुरुके साथ होनेपर भी नाश होना ही है ॥२६८–२७१॥ उस समय दोनों सेनाओंके मन्त्रियोंने क्रोधित हुए उन दोनों राजाओंके पास जाकर रात्रिमें युद्ध करना अधर्म है ऐसा नियम कर उन्हें युद्ध करनेसे रोका ॥२७२॥ उन दोनोंने योद्धाओंके तीव्र घावोंकी असह्य वेदनाजनित चिल्लाहटसे भयंकर उसी रणके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा

१–स्तीक्ष्णा अ०, प०, स०, इ०, ल० । २ कष्टोत्पत्ति अशोभनपुत्रश्च । ३ व्यसोढा ट० । ४ प्रदीप्तानां शत्रूणां च तेजसाम् । ५ सिंहराशिस्थित. । ६ ऊर्ध्वगो भूत्वा । ७ शिरसा गच्छन् । ८ कुष्ठरोगी । ९ रक्तकिरण । रक्तरोगी च रक्तानां घातको वा । १० चन्द्रद्वेषी सकलजनद्वेषी च । ११ वर्द्धितदिक् वर्द्धिताभिलाषश्च । १२ अनूर्वग्रगामी । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरु' इत्यभिधानात् । अक्रमाग्रगामी च । १३ उत्कृष्टेन विद्यमानेनेति च । १४ सोमसुतेन । विदुषा च । १५ बृहस्पतिना, उपदेशकेन सहितोऽपीत्यर्थ. । १६ प्रचुररात्रि० । वातदोषवांश्च । १७ व्याधिपीडित । १८ निर्बन्ध कृत्वा । १९ अर्ककीर्तिजयकुमाराभ्याम् ।

प्रतीची येन[1] जायेऽहम्[2] [3]अगिलत्तमहस्करम् । इति सन्ध्याच्छलेना[4]ह्नस्तत्र[5] कोपमिवागतम् ॥२७४॥
लज्जे[6] सम्पर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे[7] । इयं वेलेति वा सन्ध्याऽप्यन्वगादात्तविग्रहा[8] ॥२७५॥
[9]अगादह्.[10] पुरस्कृत्य मामर्को रात्रिगामिना । तेन [11]पश्चात्कृतेऽतीव शोकात् सन्ध्या व्यलीयत[12] ॥२७६॥
तमः सर्वं[13] तदा व्यापत् क्वचिल्लीनं गुहादिषु । शत्रुशेषं न कुर्वन्ति तत एव विचक्षणाः ॥२७७॥
अवकाशं प्रकाशस्य यथात्मानमधात् पुरा । तथैव तमसः पश्चाद् धिङ्महत्त्वं विहायसः[14] ॥२७८॥
[15]तमोबलात् प्रदीपादिप्रकाशाः प्रदिदीपिरे[16] । जिनेनेव विनेनेन[17] कलौ कष्टं कुलिङ्गिनः ॥२७९॥
तमोविमोहितं[18] विश्वं[19] प्रबोधयितुमुद्धृतः । विधिनेव सुधाकुम्भो [20]सौवर्णो विधुरुद्ययौ ॥२८०॥
चन्द्रमाः [21]करनालीभिः अपिबद् बहलं तमः । वृद्धकासं[22] क्षयं[23] हर्तुं धूमपानमिवाचरन् ॥२८१॥
निःशेषं नाशकद्धन्तुं ध्वान्तं हरिणलाञ्छनः । [24]अशुद्धमण्डलो हन्यान्निष्प्रतापः कथं रिपून् ॥२८२॥
विधुं तत्करसंस्पर्शाद् भृशमासन् विकासिभिः । सरस्यो ह्लादयन्त्यो[25] वा मुदा कुमुदलोचनैः ॥२८३॥

॥२७३॥ सध्याके बहानेसे दिन लाल लाल हो गया, मानो जिसमें मैं पैदा हुआ हूँ उस सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर मानो उसे क्रोध आ गया हो ॥२७४॥ मैं सबके देखते हुए सूर्यके साथ सम्बन्ध करनेके लिये लज्जित होती हूँ यही समझकर मानो सध्याकी बेला भी शरीर धारणकर सूर्यके पीछे पीछे चली गई ॥२७५॥ सूर्य जब दिनके पास गया था तब मुझे आगे कर गया था परन्तु अब रात्रिके पास जाते समय उसने मुझे पीछे छोड दिया है इस शोकसे ही मानो सध्या वही विलीन हो गई थी ॥२७६॥ दिनके समय जो अधकार किन्ही गुफा आदि स्थानोमे छिप गया था उस समय वह सबका सब आकर फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिये ही शत्रुको बाकी नहीं छोडते हैं—उसे समूल नष्ट कर देते हैं ॥२७७॥ आकाशने जिस प्रकार पहले प्रकाशके लिये अपनेमें स्थान दिया था उसी प्रकार पीछेसे अन्धकारके लिये भी स्थान दे दिया इसलिये आचार्य कहते हैं कि आकाशके इस बडप्पनको धिक्कार हो। भावार्थ—बडा होनेपर भी यदि योग्य-अयोग्यका ज्ञान न हुआ तो उसका बडप्पन किस कामका है ? ॥२७८॥ जिस प्रकार कलिकालमें जिनेन्द्रदेवके न होनेसे अज्ञानके कारण अनेक कुलिङ्गियोंका प्रभाव फैलने लगता है उसी प्रकार उस समय सूर्यके न होनेसे अन्धकारके कारण अनेक दीपक आदिका प्रकाश फैलने लगा था ॥२७९॥

इतनेमें चन्द्रमाका उदय हुआ जो ऐसा जान पडता था मानो अन्धकारसे मोहित हुए समस्त संसारको जगानेके लिये विधाताने अमृतसे भरा हुआ चादीका कलश ही उठाया हो ॥२८०॥ उस समय चन्द्रमा अपनी किरणरूपी नालियोंके द्वारा गाढ अन्धकारको पी रहा था और उससे ऐसा जान पडता था मानो जिसमें खाँसी बढ़ी हुई है ऐसे क्षय रोगका नाश करनेके लिये धूम्रपान ही कर रहा हो ॥२८१॥ चन्द्रमा सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मण्डल अशुद्ध है और जो प्रतापरहित है वह शत्रुओंको कैसे नष्ट कर सकता है ? ॥२८२॥ तालाबोंमें चन्द्रमाके किरणोंके स्पर्शसे कुमुद खूब फूल रहे थे और उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानो खिले हुए कुमुदरूपी नेत्रोंके द्वारा चन्द्रमा

---

१ अहस्करेण। २ प्रादुर्भवामि। ३ गिलति स्म। ४ दिवस। ५ प्रतीच्याम्। ६ ह्रीवती भवामि। ७ दृष्टिविषये प्रदेशे। बहुजनप्रदेशे इत्यर्थः। ८ स्वीकृतशरीरा। ९ आगच्छति स्म। १० दिवसम्। ११ पृष्ठे कृताहमिति। १२ विलयं गता। १३ सर्वत्र विश्वं जगत्। १४ आकाशस्य। १५ तिमिरप्राबल्यात्। पक्षे अज्ञानसामर्थ्यात्। १६ प्रकाशन्ते स्म। १७ रविणा। १८ मूढीकृतम्। १९ जगत्। २० सौवर्णः। २१ किरणनालीभिः। २२ वृद्धिंगतकासम् वृद्धप्रकाशं वा। २३ क्षयव्याधिम्। २४ मलसम्पूर्णमण्डलः। अनुष्णहिममण्डलश्च। २५ मुदं नयन्ति स्म।

उत्थितः [1]पिटकोऽस्माकं विधुर्गण्डस्य[2] चोपरि । का [3]जीविकेति [4]निर्विण्णाः प्रायः [5]प्रोषितयोषितः २८४
लब्धचन्द्रबलस्योच्चैः स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेषं सान्द्रश्चन्द्रातपोऽततत्[6] ॥२८५॥
रूढो रागाङ्कुरश्चित्ते प्रम्लानो भानुभानुभिः । तदा चन्द्रिकया [7]प्राच्यवृष्ट्येवावर्द्धताङ्गिनाम् ॥२८६॥
[8]खण्डितानां तथा तापो नाभूद् भास्कररश्मिभिः । यथांशुभिस्तु[9]षारांशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥२८७॥
खण्डनादेव[10] कान्तानां[11] ज्वलितो मदनानलः । [12]जाज्वलीत्ययमे[13]तेने[14]त्यत्यजन्मधु[15] काश्चन ॥२८८॥
वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहान्तरिताः काश्चित्सखीभिरतिपायिताः[16] ॥२८९॥
प्रेम नः[17] कृत्रिमं नैतत् किमनेनेति[18] काश्चन । दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकम्[19] ॥२९०॥
मधु द्विगुणितस्वादु[20] पीतं कान्तकरार्पितम्[21] । कान्ताभिः [22]कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनम् ॥२९१॥
इत्याविर्भावितानङ्गरसास्ताः प्रियसङ्गमात् । प्रीतिं वागोचरातीतां स्वीचक्रुर्वक्रवीक्षणाः[23] ॥२९२॥

को हर्षसे प्रसन्न ही कर रहे हों। विशेष–इस श्लोकमें सरसी शब्दके स्त्रीलिङ्ग होने तथा कर शब्दके श्लिष्ट हो जानेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जिस प्रकार स्त्रियां अपने पतियोंके हाथका स्पर्श पाकर प्रसन्न हुए नेत्रोंसे उन्हें हर्षपूर्वक आनंदित करती हैं उसी प्रकार सरसियां भी चन्द्रमाके कर अर्थात् किरणोंका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित हुए कुमुदरूपी नेत्रोंसे उसे हर्षपूर्वक आनन्दित कर रही थीं ॥२८३॥ प्रायः विरहिणी स्त्रियां यह सोच-सोचकर विरक्त हो रही थीं कि यह चन्द्रमा हमारे गालपर फोड़ेके समान उठा है अर्थात् फोड़ेके समान दुःख देनेवाला है इसलिये अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥२८४॥ जिसे चन्द्रमाका बल प्राप्त हुआ है और इसीलिये जो जोरसे संतोष मना रहा है ऐसे कामदेवके अट्टहासके समान चन्द्रमाका गाढ़ प्रकाश सब ओर फैल गया था ॥२८५॥ मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अंकुर सूर्यकी किरणोंसे मुरझा गया था वह भारी अथवा पूर्व दिशामें आनेवाली वर्षाके समान फैली हुई चाँदनीसे उस समय खूब बढ़ने लगा था ॥२८६॥ खण्डिता स्त्रियोंको सूर्यकी किरणोंसे वैसा संताप नहीं हुआ था जैसा कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियां विचित्र प्रकारकी होती हैं ॥२८७॥ प्रिय पतिके विरहसे ही जो कामरूपी अग्नि जल रही थी वह इस मद्यसे ही जल रही है ऐसा समझकर कितनी ही विरहिणी स्त्रियोंने मद्य पीना छोड़ दिया था ॥२८८॥ मद्यके सिवाय व्यर्थके अभिमानको नष्ट करनेवाला और कोई पदार्थ नहीं है यही सोचकर कितनी ही कलहान्तरिता स्त्रियोंको उनकी सखियोंने खूब मद्य पिलाया था ॥२८९॥ हमारा यह प्रेम बनावटी नहीं है इसलिये इस मद्यके पीनेसे क्या होगा ? यही समझकर कितनी ही प्रेमिकाओंने श्राविकाओंके समान मद्य आदिको दूरसे ही छोड़ दिया था ॥२९०॥ कितनी ही स्त्रियां कामदेवरूपी दुर्निवार हाथीके मदको बढ़ानेवाले स्वादिष्ट मद्यको पतिके हाथसे दिया जानेके कारण दूना पी गई थीं ॥२९१॥ इस प्रकार जिनके कामका रस प्रकट हुआ है और जिनकी दृष्टि कुछ-कुछ तिरछी हो रही है ऐसी स्त्रियां

---

१ पिटको ल०, अ०, इ०, स०, प०। पिटक स्फोटकः। 'विस्फोट पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात्। २ गलगण्डस्य। 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात्। ३ जीवितम्। ४ उद्वेगपराः। दुःखे तत्परा इत्यर्थः। ५ विमुक्तभर्तृका स्त्रियः। ६ व्याप्नोति स्म। ७ प्रथमवृष्ट्या। ८ विरहिणीनां योषिताम्। ९ चन्द्रस्य। १० वियोगात्। ११ प्रियतमानां पुंसाम्। १२ भृशं ज्वलति। १३ दावाग्निः। १४ मद्येन। १५ मद्यम्। १६ मद्यपानं कारिताः। १७ अस्माकम्। १८ मद्येन। १९ मद्यादिकम्। २० त्रिगुणित स्वादु इत्यपि पाठः। २१ प्रियतमकरेण दत्तम्। २२ कामदुःपूर – ट०। पूरयितुमशक्य। २३ वामलोचनाः।

तत्र काचिद् प्रियं वीक्ष्य[1] कथाशेषं द्विषच्छरैः[2] । स्वयं कामशरैरक्षताङ्गी चित्रमभूद् व्यसुः[3] ॥२९३॥
[4]क्षतैरनुपलक्ष्याङ्गं वीक्ष्य कान्तमजानती । परा परासुतां[5] [6]प्रापज्ज्ञात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः[7] ॥२९४॥
मया निवारितोऽप्यायाः[8] वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कठोरव्रणरेवं[9] जातोऽसीति मृता[10] परा ॥२९५॥
मां निवार्य सहायान्तीं कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः[11] । निर्मलेति विपर्यस्तो[12] जानन्नपि बहिश्चरीम् ॥२९६॥
स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं [13]वदन्ति [14]नरोऽन्तरम् । इति सासू[15]यमुक्त्वाऽन्या [16]प्रायासीत् [17]प्रियपद्धतिम्
न किं निवारिताऽप्यायां[18] त्वया सार्द्धं विचेतना[19] । सन्निधौ मे किमेवं त्वां नयन्ति गणिकाधमाः[20] ॥२९८
[21]अस्तु किं [22]यातमद्यापि तत्र[23] त्वां न हराणि[24] किम् । विलप्यैवं कलालापा काचित् [25]कान्तानुगाऽभवत् २९९
शरनिर्भिन्नसर्वाङ्गः कीलितासुरिवापरः । कान्तागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनस्थितजीवितः ॥३००॥
कोपदष्टविमुक्तोष्ठं कान्तमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुमत्यजत् ॥३०१॥
हृदि निर्भिन्ननाराचो मत्वा कान्तां हृदि स्थिताम् । हा मृतेयं वराकीति [26]प्राणान् कश्चिद् व्यसर्जयत् ॥३०२॥

पतिके समागम होनेसे वचनातीत आनन्दका अनुभव कर रही थी ॥२९२॥ उन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री अपने पतिको शत्रुओंके बाणोंसे मरा हुआ देखकर आश्चर्य है कि कामके बाणोंसे शरीर क्षत न होनेपर भी स्वयं मर गई थी ॥२९३॥ अन्य कोई अजान स्त्री घावोंसे जिसके अंग उपांग ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते ऐसे अपने प्रिय पतिको देखकर और उन्हें अपने द्वारा ही किये हुए घाव समझकर प्राणरहित हो गई थी ॥२९४॥ हे प्रिय, तुम्हें वीर लक्ष्मी बहुत ही प्यारी थी इसीलिये मेरे रोकनेपर भी तुम उसके पास आये थे अब उसी वीरलक्ष्मीके कठोर घावोंसे तुम्हारी यह दशा हो रही है यह कहती हुई कोई अन्य स्त्री मर गई थी ॥२९५॥ हे प्रिय, मैं उसी समय आपके साथ आ रही थी परन्तु आप मुझे रोककर कीर्तिको स्वीकार करनेके लिये यहाँ आये थे, यद्यपि आप यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर घूमनेवाली (स्वैरिणी-व्यभिचारिणी) है तथापि यह शुद्ध है ऐसा आपको भ्रम हो गया, अब देखिये, वह कीर्ति वहीं रह गई, हाय, क्या मनुष्य हृदय अथवा विरहको जानते हैं ? इस प्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुँची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर स्वयं भी मर गई थी ॥२९६–२९७॥ हे प्रिय, रोकी जाकर भी मैं मूर्खा आपके साथ क्यों नहीं आई ? क्या मेरे समीप रहते ये नीच वेश्याएँ (स्वर्गकी अप्सराएँ) इस प्रकार तुम्हें ले जातीं ? खैर, अब भी क्या गया ? क्या मैं वहाँ उनसे तुम्हें न छीन लूँगी ! इस प्रकार विलाप कर मधुर स्वरवाली कोई स्त्री अपने पतिकी अनुगामिनी हुई थी अर्थात् वह भी मर गई थी ॥२९८-२९९॥ जिसका सब शरीर बाणोंसे छिन्न भिन्न हो गया है, और इसलिये ही जिसके प्राण कीलितसे हो गये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन अटका हुआ है ऐसा कोई योद्धा अपनी स्त्रीके आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥३००॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ डसकर छोड़ दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर क्षणभर क्रोध करनेवाली और वीरलक्ष्मीके साथ ईर्ष्या करती हुई किसी अन्य स्त्रीने अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०१॥ जिसके हृदयमें बाण घुस गया है ऐसे किसी योद्धाने

---

१ वार्तामात्रावशिष्टं प्रिय धुन्वेरर्थः । २ वैरिणां बाणैरुपलक्षितम् । ३ विगतप्राणा । ४ व्रणैः । ५ पञ्चत्वम् । ६ प्राप म०, अ०, स०, इ०, प० । ७ आत्मना नखदन्तकृतव्रणैः । ८ आगमः । ९ वीरलक्ष्म्या निष्ठुरम् । १० ममार । ११ आगच्छः । १२ वैपरीत्यं नीतः । वञ्चित इत्यर्थः । १३ विदन्ति म० । १४ नर मनुष्याः. अन्तरं विरहम् । नरोऽन्तरमिति पाठे उत्तमपुरुषम् । १५ असूया सहितं यथा भवति तथा । १६ अगात् । १७ प्रियतमस्य मार्गम् । मृतिमित्यर्थः । १८ आगच्छम् । १९ वराकचेतम् । २० अप्सरोदेवाङ्गनादि । २१ भवतु वा । २२ गमनम् । २३ स्वर्गे । २४ अपि तु हरामीत्यर्थः । २५ प्रियतमस्यानुगामिनी । कान्तारमस्येन स्मरवशोऽभूदित्यर्थः । २६ गच्छ प्राणान् व्यसर्जयत् स० ।

शस्त्रसंभिन्नसर्वाङ्गम् अन्तको नेतुमागत । कान्ता चिन्तापर कन्तुस्तद्धस्तादहृतापरम् ।।३०३।।
कण्ठे [1]चालिङ्गित प्रेमशोकाभ्या प्रियया पर । ध्यात्वा ता त्यक्तदेहोऽगात् निर्वाण[2] सव्रणस्तया ।।३०४।।
श्व[3] स्वर्गे कि किमत्रैव[4] सङ्गमो नौ[5] न सशय । तत्र[6] त्व बहुकान्तोऽद्य रमेऽत्रेत्याह[7] सव्रतम् ।।
अत्र वाऽमुत्र[8] वासोऽस्तु कि तया चिन्तयावयो । वियोग क्वापि नास्तीति कान्ता कान्तमतर्पयत् ।।३०६।।
[9]सव्रतो वीरलक्ष्मीं च कीर्ति चेहि[10] चिरायुषा । हन्तु मामेव कामोऽयमिति कान्ताऽवदद्रुषा ।।३०७।।
जयस्य विजय प्राणैस्तवैवैतद् विनिश्चितम् । [11]सव्रतावद्य यास्यावो दिवमित्यब्रवीत् परा ।।३०८।।
शरा पौष्पास्तव त्व च [12]सयुक्तेष्वतिशीतल[13] । तत्र[14] विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो भय तव ।।३०९।।
आयसा[15] सायका काम त्वमप्यस्माकमन्तक । इति काम समुद्दिश्य खण्डिता[16] स्वगत[17] जगु[18] ।।३१०।।
सा रात्रिरिति सल्लापै[19] [20]प्रेमप्राणैरनीयत । तावत् सन्ध्याऽगता रागाद् राक्षसीवेक्षितु रणम् ।।३११।।

अपनी स्त्रीको अपने हृदयमें स्थित मानकर तथा हाय, यह बेचारी इस बाणसे व्यर्थ ही मरी जा रही है ऐसा समझकर शीघ्र ही अपने प्राण छोड दिये थे ।।३०२।। जिसका सब शरीर शस्त्रोंसे छिन्न भिन्न हो गया है ऐसे किसी अन्य योद्धाको यमराज लेनेके लिये आ गया था परन्तु स्त्रीकी चिन्तामें लगे हुए उसे कामदेवने यमराजके हाथमे छुडा लिया था ।।३०३।। प्रेम और शोकके कारण अपनी स्त्रीके द्वारा गलेसे आलिंगन किया हुआ कोई घावसहित योद्धा उसी प्रिया का ध्यान कर तथा शरीर छोडकर उसीके साथ मर गया ।।३०४।। किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे इसलिये उसकी स्त्री उससे कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या क्या होगा ? इसमे कुछ भी सशय नही है कि हम दोनोका समागम यहाँ हो सकता है, चूंकि तुम्हें स्वर्गमें बहुत सी स्त्रिया मिल जायँगी इसलिये मैं आज यहा ही क्रीडा करूगी ।।३०५।। हम दोनोका निवास चाहे यहा हो, चाहे परलोकमें हो, उसकी चिन्ता ही नही करनी चाहिये । क्योंकि हम लोगों का वियोग तो कही भी नही हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको सतुष्ट कर रही थी ।।३०६।। कोई स्त्री क्रोधपूर्वक अपने पतिसे कह रही थी कि तुम तो व्रत धारण कर वीर लक्ष्मी और कीर्तिको प्राप्त होओ–उनके पास जाओ, दीर्घ आयु होनेके कारण यह कामदेव मुझे ही मारे ।।३०७।। कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी जीत तेरे ही प्राणोंसे होगी और व्रतोंके धारण करनेवाले हम दोनो ही आज स्वर्ग जावगे ।।३०८।। खण्डिता स्त्रिया कामदेवको उद्देश्य कर अपने मनम कह रही थी कि अरे काम, सयोगी पुरुषोंपर पडते समय तेरे बाण फूलोंके हो जाते हैं और तू भी बहुत ठडा हो जाता है, उन पुरुषोंके पास तेरे बलकी सब परख हो जाती है वास्तवमें तू पुरुषोंसे डरता है परन्तु हम स्त्रियोंपर पडते समय तेरे बाण लोहेके ही रहते हैं और तू भी यमराज बन जाता है । भावार्थ–तू पुरुषोंको उतना दुखी नही करता जितना कि हम स्त्रियोंको करता है ।।३०९-३१०।। प्रेमरूपी प्राणोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोंने इस प्रकारकी बातचीतके द्वारा ज्योंही वह रात्रि पूर्ण की त्योंही रागसे सग्राम देखनेके लिये आई हुई राक्षसीके समान सन्ध्या (सवेरे की लाली) आ गई ।।३११।।

---

१ कण्ठेनालिङ्गित इ०, अ०, स०, प० । २ मरणम् । ३ अनन्तरागामिदिने । ४ स्यादिति न जाने इति सम्बन्ध । ५ आवयो । ६ स्वर्गे । ७ क्रीडामि । ८ स्वर्गे । ९ सनियम । १० गच्छ । ११ सनियमावावाम् । १२ सङ्गतेषु स्त्रीपुरुषेषु । १३ अतिशयेन सुखहेतु । १४ सयुक्तस्त्रीपुरुषेषु । १५ अयस्सम्बन्धिन । १६ पुरुषवियुक्ता । १७ स्वाभिप्रायम् । १८ भणन्ति स्म । १९ मिथो भाषणै । २० प्रेम इव प्राणा येषा तै ।

प्राभातानककोटीनां निस्वनः सेनयोः समम्[1] । व्याकाशमिव दिक्चक्रम् अक्रमेणोच्चरंस्तदा ॥३१२॥
प्रतीच्याऽपि युतश्चन्द्रो मय्येवोदेति भास्करः । इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाद्रवेः ॥३१३॥
सरसां[2] कमलाक्षिभ्यः प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययौ स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥३१४॥
गतायां स्वेन सङ्कोचं पद्मिन्यां स्वोदये रविः । सश्रीं निजकरैश्चक्रे[3] मिथः सा हि मित्रता[3] ॥३१५॥
रक्तः[4] करैः समाश्लिष्य सन्ध्यां सद्यो व्यरज्यत[5] । वदन्निव रविर्भोगान् पर्यन्ते[6] विरसान् स्फुटम् ॥३१६॥
[7]पर्यष्वञ्जीत् पुरेवैतां स्वां सन्ध्यामिति येर्ष्यया । रविं[8] रक्तमपि स्थित्यै[9] प्राच्यक्षमत[10] न[11] क्षणम् ॥
[12]शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा नियामिनः[13] । स्नात्वा सन्तर्पिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥
सम्पूज्य विधिना स्तुत्वा जिनेन्द्रांस्त्रिजगन्नतान् । [14]प्रतिष्ठन्नायकाः सर्वे परिछिद्य रणोन्मुखाः ॥३१९॥
अरिञ्जयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम् । गृहीत्वा वज्रकाण्डं च दत्तं चक्रिणा धनुः[15] ॥३२०॥
बन्दिमागधवृन्देन [16]वन्द्यमानाक्षरावलिः । गजध्वजं[17] समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥३२१॥
जयो ज्यास्फालनं कुर्वन् कृतान्तविकृताकृतिः । द्विपानां [18]भीषणस्तस्थौ दिशामप्याहरन् मदम् ॥३२२॥
[19]उपोदयायशस्कीर्तिः अर्ककीर्तिरच्युतर्द्धिः । [20]कारागारमिवाप्यास्य स्यन्दनं मन्दवाजिनम् ॥३२३॥

उसी समय दोनो सेनाओमें साथ साथ उठनेवाले प्रातःकालीन करोडो बाजोके शब्दों ने एक साथ सब दिशाएं भर दी ॥३१२॥ यद्यपि चन्द्रमा पश्चिम दिशाके साथ है तथापि सूर्य तो मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे मानो पूर्व दिशा सूर्योदयसे पहले ही सुशोभित होने लगी थी ॥३१३॥ उस समय भ्रमरोकी पंक्ति तालाबोके फूले हुए (पक्षमें जागे हुए) कमलरूपी नेत्रोसे अपना इष्ट पदार्थ लेकर निद्राके समान बडी प्रसन्नताके साथ निकल रही थी ॥३१४॥ कमलिनी मेरे अस्त होते ही सकुचित हो गई थी, इसलिये सूर्यने अपना उदय होते ही अपने ही ही किरणरूपी हाथोसे उसपर बहुत अच्छी शोभा की थी सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता यही कहलाती है ॥३१५॥ रक्त अर्थात् लाल (पक्षमे प्रेम करनेवाला) सूर्य, कर अर्थात् किरणो (पक्षमे हाथो)से सध्याका आलिंगन कर शीघ्र ही विरक्त अर्थात् लालिमारहित (पक्षमें राग हीन) हो गया था सो मानो वह यही कह रहा था कि ये भोग अन्त समयमें नीरस होते है ॥३१६॥ इस सूर्यने पहलेके समान ही अपनी सध्यारूपी स्त्रीका आलिंगन किया है इस ईर्ष्यासे ही मानो पूर्व दिशाने सूर्यको प्रेमपूर्ण अथवा लाल वर्ण होनेपर भी अपने पास क्षणभर भी नही ठहरने दिया था ॥३१७॥ व्रत नियम पालन करनेवाले सेनापतियोने वीरशय्यापर शयन कर रात्रि व्यतीत की । सवेरे स्नानकर सब दीन, अनाथ तथा याचकोको सतुष्ट किया, त्रिजगद्वन्द्य जिनेन्द्र देवकी विधिपूर्वक पूजाकर स्तुति की और फिर वे अपनी अपनी सेनाका विभागकर युद्धके लिये उत्सुक हो खडे हो गये ॥३१८–३१९॥ वन्दीजन और मागध लोगोका समूह जिसके नामके अक्षरोकी स्तुति करते है जो विजयलक्ष्मीके लिये उत्सुक हो रहा है, जिसका आकार यमराजके समान विकृत है जो दिग्गजोके भी मदको हरण करनेवाला है और भयकर है ऐसा जयकुमार सफेद घोडोसे जुते हुए अरिंजय नामके रथपर सवार होकर और वज्रकाण्ड नामका वह धनुष जो कि पहले चक्रवर्तीने दिया था, लेकर हाथीकी ध्वजाको उडाता तथा धनुषकी डोरीका आस्फालन करता हुआ खडा हो गया ॥३२०–३२२॥ जिसकी अपकीर्तिका उदय

---

१ युगपत् । २ सरोवराणाम् । ३ वृद्धौ वृद्धिः क्षये क्षयश्च । ४ अरुणः अनुरक्तश्च । ५ विरक्तोऽभूत् । ६ अवसाने निस्साराणि इति वदन्ति वति सम्बन्धः । ७ आलिलिङ्ग । ८ अनुरक्तम् । ९ निवसनाय । १० पूर्वादिक् । ११ न सहते स्म । १२ शयनं कृत्वा । १३ नियमवन्तः । १४ तिष्ठन्ति स्म । १५ रथवज्रकाण्डचापद्वयम् । पुरा ल० । १६ स्तूयमान । १७ गजाङ्कितध्वजम् । १८ भयङ्करः । १९ उदयप्राप्तापकीर्तिः । २० बन्धनालयम् ।

अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन् नष्टचन्द्रोपमान् मृधे[1] । स्वोत्पातकेतु[2]सङ्काशचक्रकेतूपलक्षितः ॥३२४॥
[3]प्रत्यायातमहावातविहतस्वजवैः शरैः । विघ्नन्म[4]ध्यन्दिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥३२५॥
जयं शत्रुर्दुरालोकं ज्वलत्तेजोमयं स्मयात्[5] । कलभो वाऽगमद् वारिं[6] प्रेरितः खलकर्मणा ॥३२६॥
जयोऽपि शरसन्तानघनी[7]कृतघनाघनः । सहार्ककीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहतप्रभम् ॥३२७॥
[8]प्रतीयायान्तरे छिन्दन् [9]रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो धावन् [10]ब्रध्नस्येवोदयेंऽशवः ॥३२८॥
अर्ककीर्तेसौ[11]च्छत्रमस्त्राणि वैजयन्तीं[12] च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तेरौद्धत्यं विहत्य विनिनीषया[13] ॥३२९॥
अष्टचन्द्रास्तदाभ्येत्य[14] विद्याबलविजृम्भणात् । न्यषेधयन् जयस्येषून् अम्भोदा वा रवेः करान् ॥३३०॥
भुजबल्यादयोऽ[15]भ्येयुर्योद्धुं हेमाङ्गदं क्रुधा । सानुजं सिंहसङ्घातं सिंहसङ्घ इवापरः ॥३३१॥
[16]सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । [17]आङ्गरेयो यथा यूथः कालिङ्गज[18]मतङ्गजान् ॥३३२॥
अन्येऽप्यन्याश्च भूपालाः भूपालान्कोपिनस्तदा । आनिपेतु[19]: कुलाद्रीन्वा सञ्चरन्तः[20] कुलाचलाः ॥३३३॥
नास्त्येषामीदृशी शक्तिर्विद्येयमिति विद्यया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा [21]मित्रभुजङ्गमः ॥३३४॥

हो रहा है, कान्ति नष्ट हो गई है, युद्धके नष्ट चन्द्रोंके समान अष्टचन्द्र विद्याधरोंको जिसने अपना मित्र बनाया है जो अपना अनिष्ट सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिह्नवाली ध्वजासे सहित है, और उल्टी चलनेवाली तेज वायुसे जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे देवताओंका घात करनेवाले बाणोंसे जो दोपहरके सूर्यपर प्रहार करता हुआ सा जान पड़ता है, ऐसा अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए जेलखानेके समान अपने रथपर बैठकर, शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुए तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर बड़े अभिमानसे इस प्रकार आया जिस प्रकार कि हाथी पकड़नेवालोंके क्रूर व्यापारसे प्रेरित होता हुआ हाथीका बच्चा अपने बधनेके स्थानपर आता है ॥३२३–३२६॥ बाणोंके समूहसे मेघोंको सघन करनेवाला जयकुमार भी सूर्यके साथ साथ अर्ककीर्तिको प्रभारहित करता तथा शत्रुके द्वारा छोड़े हुए बाणोंको छेदन करता हुआ सामने आया और जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें उसके सामने जाती है उसी प्रकार उसके द्वारा छोड़े हुए बाण ठीक उसके सामने जाने लगे॥३२७-३२८॥ बड़ी कठिनाईसे जीते जाने योग्य जयकुमारने अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना नष्ट कर, उसका छत्र शस्त्र तथा ध्वजा सब छेद डाली ॥३२९॥ जिस प्रकार मेघ सूर्यकी किरणोंको रोक लेते हैं उसी प्रकार उस समय अष्टचन्द्रोंने आकर अपनी विद्या और बलके विस्तारसे जयकुमारके बाण रोक लिये थे ॥३३०॥ जिस प्रकार एक सिंहोंका समूह दूसरे सिंहोंके समूहपर आ पड़ता है उसी प्रकार भुजबली आदि भी बड़े क्रोधसे छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए हेमांगदसे लड़नेके लिये उसके सन्मुख आये ॥३३१॥ जिस प्रकार अंग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंका समूह कलिंग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंपर पड़ता है उसी प्रकार अनन्तसेन भी अपने छोटे भाइयोंसहित जयकुमारके छोटे भाइयोंके सामने जा पहुँचा ॥३३२॥ उस समय और भी राजा लोग क्रोधित होते हुए अन्य राजाओंपर इस प्रकार जा टूटे मानो कुलाचल कुलाचलोंपर टूट पड़ रहे हों ॥३३३॥ इन मेरे पक्षवालोंकी न तो ऐसी शक्ति है

---

१ युद्धस्य । २ निजविनाशहेतुक जयसमान । ३ प्रतिकूलमायान । ४ मध्याह्नमिव । मध्याह्नरविमण्डलाभिमुखं मुक्ता शरा यथा स्वशरीरे पतन्ति तद्वदित्यर्थः । ५ गर्वात् । ६ गजपतनहेतुगर्तम् । ७ निबिडीकृत । ८ अभिमुखं जगाम । ९ शत्रुविसर्जित । १० रवेः । ११ चिच्छेद । १२ ध्वजाम् । १३ निराकरणेच्छया । नेतुमिच्छया वा । १४ सम्मुखमागत्य । १५ अभिमुखमाजग्मुः । १६ निजानुजसहितः । १७ अङ्गरदेशे भवः । आङ्गवेयो ल० । १८ कलिङ्गदेशे भव । १९ प्राप्नुवन्ति स्म । अभिपेतु ल०, इ०, स०, प० । २० सञ्चलन्तः कुलाद्रय ल० । २१ पूर्वं मुनेर्धर्मश्रवणज्ञाननागराजः ।

विदित्वा विद्धराकम्पाज्जयं सम्प्राप्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दत्त्वा ययावसौ ॥३३५॥
तं[1] सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरम् । कौरवः[3] शरमादाय वज्रकाण्डे[4] प्रयोजयन्[5] ॥३३६॥
हत एव सुतो भर्तुर्भुवोऽने[6]नेति सम्भ्रमम्[7] । नरविद्याधराधीशा महान्तमुदपादयन्[8] ॥३३७॥
रथाश्च तथा दुष्टानष्टचन्द्रान् ससारथीन् । स[10] शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥३३८॥
छिन्नदन्तकरो दन्तीवान्तको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्थाद् धिगस्प्टं चेष्टितं विधेः ॥३३९॥
इति दत्तग्रह[11] वीरं गजं वा पादपाशकैः[12] । अपायु[13]र्धक्पायवेविधिज्ञस्तम[14]ग्रीग्रहत्[15] ॥३४०॥
तच्छौर्यं यत्पराभूतेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धार्ष्ट्यात्[16] स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥
सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥
वीरपट्टेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । व्रणपट्टपदं नीतः पश्य कार्यविपर्ययम् ॥३४३॥
[17]पतत्पतङ्गसङ्काशमर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वोच्चैः आरुह्यानेकपं स्वयम् ॥३४४॥
विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत्[18] । निष्पन्दं निर्जितारातिर्व्यधंसीत्[19] सिंहविक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वयं युद्धके लिये तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बड़े आदरके साथ जयकुमारके पास आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका वाण देकर चला गया ॥३३४–३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोंके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह वाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढाया ॥३३६॥ इस वाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति राजाओंने बडा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस वाणने नौ रथ, सारथि सहित आठों अष्टचन्द्र और सब वाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भग हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दांत और सूंड कट गई है ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टा रहित खड़ा था इसलिये कहना पडता है कि दैवकी इस दुख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोंकी फाससे दातोंको दबोचकर वीर हाथीको पकड लेते हैं उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले पहले जो लड़ना है वह शूरवीरता है और तिरस्कार प्राप्तकर धृष्टतावश जो पीछेसे लडना है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वंश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीडित नहीं करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपट्ट बाधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बना दिया, जरा कार्यकी इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओंको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतंगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक ऊंचे हाथीपर आरूढ होकर सिंहके समान पराक्रमी शत्रुभूत विद्याधर राजाओंको

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्ररवि । ३ जयकुमार । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिण । ७ जयेन । ८ सम्भ्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रवाण । ११ कृतग्रहणम् । 'दन्तग्रह ल० । १२ गजबन्धनपुरुषैः । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राहयति स्म । १६ धृष्टत्वात् । १७ पतङ्गपतङ्गसदृशम् । १८ पाशपाणिवत् भवन्तीत्यर्थः । 'प्रचेता वरुण. पाशी यादसां पतिरप्पतिः' इत्यभिधानात् । १९ नियमितवान् ।

इति [1]सौलोचने युद्धे समिद्धे शमिते[2] तदा । पपात [3]पञ्चभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसां दिवः[4] ॥३४६॥
जयश्रीर्दुर्जयस्वामितनूजविजयार्जिता । नोत्सेकायेति[5] नास्यैनं[6] अयैव [7]प्रत्युताश्रयत् ॥३४७॥
[8]जयेनास्थान[9]सङ्ग्रामजयायातेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्दिगन्तमगमत्तदा ॥३४८॥
अकम्पनमहीशस्य यूथेशं[10] वा वनद्विपः । भूपैः संयमितैः[11] सार्धम् अर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥३४९॥
विजयार्द्धमहागन्धसिन्धुरस्कन्धसन्धृतः । निर्भर्त्सितातोदय[12]क्ष्माभृन्मूर्धस्थभास्वन्[13]मण्डलः ॥३५०॥
रणभूमिं समालोक्य समन्ताद्बहुविस्मयः । मृतानां [14]प्रेतसंस्कारं [15]जीवतां जीविकाक्रियाम्[16] ॥३५१॥
कारयित्वा पुरीं सर्वसम्मदाविष्कृतोदयाम् । प्राविशत् प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥३५२॥
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य वृतो रक्तैः[17]समाकुलः । राजकण्ठीरवैर्वा[18]मा[19] राजपुत्रशतैः[20] पुरम् ॥३५३॥
सरक्षान् धृतभूपालान् कुमारं च नियोगिभिः । आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथा स्थानमवापयत् ॥३५४॥
विचिन्त्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽर्हत्प्रसादतः । इति वन्दितुमाजग्मुः सर्वे नित्य[21]मनोहरम् ॥३५५॥
दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः[22] शान्तचेतसः । परीत्यार्थ्याभिरागत्य [23]तुष्टुवुः स्तुतिभिर्जिनान् ॥३५६॥

वरणके समान नागपाशसे इस प्रकार बाधा जिससे वे हिल-डुल न सकें ॥३४४–३४५॥ इस प्रकार जब सुलोचना सम्बन्धी प्रचण्ड युद्ध शान्त हो गया तब स्वर्गके पाँच प्रकारके कल्पवृक्षोंसे फूलोंकी वर्षा हुई ॥३४६॥ अपने दुर्जेय स्वामी (भरत) के पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे उत्पन्न हुई विजयलक्ष्मी जयकुमारके अहंकारके लिये नहीं हुई थी बल्कि इसके विपरीत लज्जाने ही उसे आ घेरा था ॥३४७॥ 'यह अयोग्य समयमें किये हुए संग्रामके जीतनेसे आई है' इस लज्जाके कारण जयकुमारके द्वारा दूर की हुईके समान उसकी वह कीर्ति उसी समय दिशाओंके अन्त तक चली गई थी ॥३४८॥ जिस प्रकार समर्थ पुरुष जंगली हाथियोंके समान झुण्डके मालिक बड़े हाथीको पकड़कर राजाके लिये सौंपते हैं उसी प्रकार जयकुमारने बँधे हुए अनेक राजाओंके साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकंपनके लिये सौंप दिया, तदनन्तर उदयाचलके शिखरपर स्थित सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करता हुआ विजयार्ध नामके बड़े भारी मदोन्मत्त हाथीके स्कन्धपर सवार होकर युद्धका मैदान देखनेके लिये निकला, चारों ओरसे युद्धका मैदान देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, उसने मरे हुए लोगोंका दाह संस्कार कराया और जीवित पुरुषोंके अच्छे होनेका उपाय कराया, इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदिके साथ साथ सबको आनन्द मिलनेसे जिसकी शोभा खूब प्रकट की गई है ऐसी काशीनगरीमें प्रवेश किया ॥३४९–३५२॥ महाराज अकंपनने भी सैकड़ों राजपुत्रों तथा सिंहके समान तेजस्वी राजाओंके साथ साथ नगरमें पहुँचकर रक्षा करनेवाले जिनके साथ हैं ऐसे बँधे हुए अनेक राजाओं तथा अर्ककीर्तिको समझानेमें कुशल नियुक्त किये हुए पुरुषों द्वारा समझा-बुझाकर उन्हें उनके योग्य स्थानपर पहुँचाया ॥३५३–३५४॥ अरहन्तदेवके प्रसादसे ही सब विघ्नोंका नाश होता है ऐसा विचारकर सब लोग वन्दना करनेके लिये नित्यमनोहर नामके चैत्यालयमें आये ॥३५५॥ उन सभीने दूरसे ही अपनी अपनी सवारियोंसे उतरकर शान्तचित्त हो मन्दिरमें प्रवेश किया और प्रदक्षिणाएँ देकर अर्थसे भरी हुई स्तुतियोंसे जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की ॥३५६॥

---

१ सुलोचनासम्बन्धिनि । २ उपशान्ते । ३ 'मन्दार पारिजातक सन्तान कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इति पञ्चसुरभूजेभ्यः । ४ स्वर्गात् । ५ गर्वाय । ६ तस्यैनम् ल० । एनम् जयकुमारम् । ७ पुनः किमिति चेत् । ८ जयकुमारेण । ९ अनुचितस्थानकृतयुद्धविजयात् समुपागता । १० गजयूथाधिपम् । ११ बद्धैः । १२ उदय । १३ रवि । १४ दाव । १५ जीवन्तीति जीवन्तस्तेषाम् । १६ जीवनोपायमित्यर्थः । १७ अभिलक्षितैः । १८ इव । १९ सह । २० सहस्रैः । २१ नित्यमनोहराख्य चैत्यालयम् । २२ निजवाहनेभ्यः । २७ स्तुतिं चक्रुः ।

जयोऽपि जगदीशामित्याप्त[1]विजयोदय । [2]स्तुतायीवरतकर्माण भक्तिनिर्भरचेतसा ॥३५७॥

शमिताखिलविघ्नशास्तयस्त्वयि मुग्धोऽप्युपयात्यतुच्छताम् ।
शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुसम्भृत ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥३५८॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो
निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिनाम् ।
पटवोऽपि फल दयाग्निभि-
र्भयमस्त्य[3]म्बुधिमध्यवर्तिनाम् ॥३५९॥

हृदये त्वयि सन्निधापिते[4]
रिपव केऽपि भय[5] विधित्सव[6] ।
अमृताशिषु[7] सत्सु सतत
विषमोदापितविप्लव कुत ॥३६०॥

उपयान्ति समस्तसम्पदो
विपदो विच्युतिमाप्नुव[7]न्त्यलम् ।
वृषभ [8]वृषमार्गदेशिन
झषकेतुद्विषमाप्नुवा[9] सताम् ॥३६१॥

इत्थ भवन्तमतिभक्तिपथ निनीषो[10]
प्रागेव बन्धकलय[11] प्रलय व्रजन्ति ।
पश्चादनश्वरमयाचितमप्यवश्य
सम्पत्स्यतेऽस्य[12] विलसद्गुणभद्रभद्रम्[13] ॥३६२॥

जिसे विजयका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुए हृदयसे समस्त कर्मो को नष्ट करनेवाले जगत्पति–जिनेन्द्रदेवकी इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३५७॥ हे समस्त विघ्नोको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रदेव, आपके विषयमें किया हुआ स्तवन थोडा होकर भी बडे महत्त्वको प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योकि पवित्र सीपके सपुटमें पडी हुई पानी की एक बूंद भी मोतीपनेको प्राप्त हो जाती है–मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥३५८॥ हे देव, फल देनेमे चतुर करोडो विघ्न भी आपके चरणोके समीप निवास करनेवाले पुरुषो को कुछ फल नही दे सकते सो ठीक ही है क्योकि क्या समुद्रके बीचमे रहनेवाले लोगोको दावा नलसे कभी भय होता है ? ॥३५९॥ हे प्रभो, आपको हृदयमे धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु रह जाते हैं जो भय देनेकी इच्छा कर सकें, निरन्तर अमृतभक्षण करनेवाले पुरुषोमें किसी विषमे उत्पन्न हुआ उपद्रव कैसे हो सकता है ? ॥३६०॥ धर्मके मार्गका उपदेश देने वाले और कामदेवके शत्रु श्रीवृषभदेवकी शरण लेनेवाले सज्जन पुरुषोको सब सम्पदाएँ अपने आप मिल जाती हैं और उनकी सब आपत्तिया अच्छी तरह नष्ट हो जाती हैं ॥३६१॥ हे शोभायमान गुणोसे कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र, इस प्रकार जो आपको अतिशय भक्तिके मार्गमें ले जाना चाहता है उसके कर्मबन्धके सब दोष पहले हीसे प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं और फिर पीछेसे कभी नष्ट नही होनेवाला मोक्षरूपी कल्याण विना मागे ही अवश्य प्राप्त हो

१ प्राप्त । २ स्तौति स्म । ३ अस्ति किम् । ४ सन्निधानीकृते । ५ परिभवम् । ६ विधातु मिच्छव । ७ अमृतमश्नन्तीति अमृताशिनस्तेषु । ८ धर्ममार्गोपदेशकम् । ९ प्राप्नुवताम् । १० नेतुमिच्छो । ११ बन्धदोषा । १२ सम्पन्न भविष्यति । १३ कल्याणम् ।

परिणतपरितापात्स्वेदधारी विलक्षो[1]
[2]विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेताः ।
[3]अधित विधिविधानं[4] चिन्तयंश्चक्रिसूनु-
र्विरहविधुरवृत्तिं[5] वीरलक्ष्मीवियोगे ॥३६३॥
येषामयं[6] जितसुर समरे सहाय-
स्तानप्यहं कृतरति समुपासयामि ।
[7]धुर्योऽयमेव यदि काऽत्र [8]विलम्बनेति
मत्वेव मङ्क्षु[9] समियाय जयं[10] जयश्रीः ॥३६४॥
स[11] [12]बहुतरमराजत्[13] जन्योद्धतान्[14] शत्रुपांसून्[15]
[16]द्रुतमिति शमयित्वा वृष्टिभिः सायकानाम् ।
उपगतहरिभूमि[17] प्राप्य भूरिप्रतापं[18]
दिनकर इव कन्या[19] सम्प्रयोगाभिलाषी ॥३६५॥
सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदैवापरं
धीरो [20]वीध्यमताप्यवीर्यविभवो विध्वस्य[21] विश्वद्विषः ।
वीरश्रीविहितं[22] दधौ स शिरसाऽम्लानं यशः शेखरं
लक्ष्मीवान् विदधाति साहससखः[23] किमिव न पुण्योदये[24] ॥३६६॥

जाता है ॥३६२॥ प्राप्त हुए सतापसे जिसे पसीना आ रहा है, जो लज्जित हो रहा है, 'मैं सबका स्वामी हूँ' ऐसा अभिप्राय जिसका नष्ट हो गया है, जिसका चित्त विह्वल हो रहा है, और जो भाग्यकी गतिका विचार कर रहा है ऐसे अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीका वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुर वृत्ति धारण की थी ॥३६३॥ देवोंको जीतनेवाला यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है मैं उनकी भी बड़े प्रेमसे उपासना करती हूँ, फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो इसमें विलम्ब क्यों करना चाहिये ऐसा मानकर ही मानो विजयलक्ष्मी जयकुमार के पास बहुत शीघ्र आ गई थी ॥३६४॥ इस प्रकार बाणोंकी वर्षासे ऊपर उठी हुई शत्रुरूपी धूलिको शीघ्र ही नष्ट कर पराक्रमके द्वारा सिंहका स्थान प्राप्त करनेवाला और अब कन्याके संयोगका अभिलाषी जयकुमार उस सूर्यकी तरह बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था जोकि सिंह राशिपर रहकर कन्या राशिपर आना चाहता है ॥३६५॥ जिसकी पराक्रमरूपी सम्पत्ति का कभी कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे शूरवीर जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वश से अपने वक्षःस्थलपर माला धारण की थी उसी समय सब शत्रुओंको नष्ट कर वीरलक्ष्मीका बना हुआ तथा कभी नहीं मुरझानेवाला यशरूपी दूसरा सेहरा भी उसने अपने मस्तकपर धारण किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीमान् है, साहसका मित्र है और जिसके पुण्यका

---

१ विस्मयान्वित । २ विभुत्वरहित । ३ धरति स्म । ४ कर्मभेदम् । ५ विरहविकलत्वस्य वर्तनम् । ६ जयकुमार. । ७ धुरन्धर । ८ कालक्षेप । ९ शीघ्रम् । १० जयकुमारम् । ११ जय । १२ अत्यधिकम् । १३ विराजति स्म । १४ उन्नतान् । १५ रेणून् । १६ शीघ्रम् । १७ प्राप्तहरिपद । प्राप्तसिंहराशिस्थानश्च । १८ सन्तापम् प्रभावम् । १९ सुलोचनासङ्गमाभिलाषी । कन्याराशिगतसम्प्रयोगाभिलाषी च । २० शुभ्रम् । २१ पातयित्वा । २२ कृतम् । २३ साहस एव सखा । २४ पुण्योदये ल०, अ०, प०, स०, इ० ।

जयो[1]ऽयात्तोऽप्यघं[2] प्रभवति गुणेभ्यो गुणगण
सदाचारात्सोऽपि श्रुत विहितवृत्तं श्रुतमपि ।
प्रणीतं सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते[3] खलु जिना-
स्ततस्तान् विद्वान् संश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥३६७॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसङ्ग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते
जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

उदय है वह क्या नहीं कर सकता है ? ॥३६६॥ इस संसारमें विजय पुण्यसे होती है, वह पुण्य गुणोंसे होता है गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका निरूपण शास्त्रोंमें है शास्त्र सर्वज्ञ देवके कहे हुए हैं और सर्वज्ञ सब पदार्थोंको जाननेवाले जिनेन्द्रदेव हैं इसलिये विजयकी इच्छा करनेवाले विद्वान पुरुष जयकुमारके समान उन्हीं जिनेन्द्रदेवोंका आश्रय करें-उन्हींकी सेवा करें ॥३६७॥

इस प्रकार गुणभद्राचार्यविरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी
भाषानुवादमें जयकुमारकी विजयका वर्णन करनेवाला
चवालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

---

१ विजय । २ पुण्यात् । ३ पुण्यञ्च ।

पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ मेघस्वरो गत्वा [1]प्रथमानपराक्रमः । मथितारातिदुर्गर्वः पृथुं स्वावासमास्थितः[2] ॥१॥
स्वयं च सञ्चितापानि हन्तुं स्तुत्वा जिनेशिनः । अकम्पनमहाराजः समालोक्य सुलोचनाम् ॥२॥
कृताहारपरित्यागनियोगामायुधस्तवा[3] । [4]सुप्रभाकृतपर्युष्टिं कायोत्सर्गेण सुस्थिताम् ॥३॥
सर्वशान्तिकरीं ध्यातिं[5] ध्यायन्तीं स्थिरचेतसा । धर्म्यामेकाग्र्यनिष्पन्दां[6] जिनेन्द्राभिमुखीं मुदा ॥४॥
समभ्यर्च्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । भवन्माहात्म्यतः पुत्रि शान्तं सर्वममङ्गलम् ॥५॥
प्रतिध्वस्तानि पापानि [7]नियाममुपसंहर[8] । इत्युत्क्षिप्तकरामुक्त्वा पुरस्कृत्य सुतां सुतैः ॥६॥
हृष्टः सुप्रभया धाम्ना राजगेहं प्रविश्य सः । [9]याहि पुत्रि निजागारं विसर्ज्येति सुलोचनाम् ॥७॥
अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा । इति कर्तव्यतामूढः [10]सुश्रुतादिभिरिद्धधीः ॥८॥
औत्पत्तिक्यादि[11]धीभेदैर्वालोच्य सचिवोत्तमैः । विद्याधरधराधीशान् विपाशीकृत्य[12] कृत्यवित् ॥९॥
विश्वानाश्वास्य तद्योग्यैः [13]सामसारैर्वचोरितैः[14] । सम्यग्विहितसत्कारः स्नानवस्त्रासनादिभिः ॥१०॥
[15]कुमार वंशौ[16] युष्माभिर्विहितौ[17] वर्धितौ च नः[18] । तद्विषमयोऽप्येति [19]यतोऽभूत्[20] ततः क्षयम् ॥११॥

अथानन्तर–प्रसिद्ध पराक्रमका धारक और शत्रुओंके मिथ्या अभिमानको नष्ट करनेवाला जयकुमार अपने विशाल निवासस्थानमें जाकर ठहर गया ॥१॥ इधर महाराज अकपनने स्वय सचित किये हुए पाप नष्ट करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की और फिर जिसने युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम ले रक्खा है, माता सुप्रभा जिसके समीप वैठी हुई है, जो कायोत्सर्गसे खडी हुई है, स्थिरचित्तसे सव प्रकारकी शान्ति करनेवाला धर्मध्यान कर रही है, एकाग्र मनसे निश्चल है और आनन्दसे जिनेन्द्रदेवके सम्मुख खड़ी है ऐसी सुलोचनाको देखकर उसका सत्कार किया, आश्वासन देकर उसके गुणोकी अनेक वार प्रशसा की तथा इस प्रकार शब्द कहे–हे 'पुत्रि, तुम्हारे माहात्म्यसे सव अमगल शान्त हो गये हैं, सव प्रकारके पाप नष्ट हो गये हैं, अव तू अपने नियमोका सकोच कर ।' ऐसा कहकर उन्होंने हाथ जोडकर खडी हुई सुलोचनाको आगे किया और राजपुत्रो तथा रानी सुप्रभाके साथ साथ राजभवनमे प्रवेश किया। फिर 'हे पुत्रि ! तू अपने महलमे जा' ऐसा कहकर सुलोचनाको विदा किया ॥२–७॥ पुन यह कार्य अन्य प्रकार सोचा गया था और दैवने अन्य प्रकार कर दिया अव क्या करना चाहिये इस विपयमें मूढताको प्राप्त हुए अतिशय वुद्धिमान् महाराज अकपनने औत्पत्तिकी आदि ज्ञानके भेदोके समान सुश्रुत आदि उत्तम मन्त्रियोके साथ विचारकर विद्याधर राजाओको छोड दिया। फिर कार्यको जाननेवाले उन्ही अकंपनने वडी शान्तिसे उनके योग्य कहे हुए वचनोसे उन सवको आश्वासन देकर स्नान, वस्त्र, आसन आदिसे सवका अच्छी तरह सत्कार किया ॥८–१०॥ तथा अर्ककीर्तिसे कहा कि 'हे कुमार ! हमारे नाथवंश और सोम-

---

१ प्रकाशमान । २ स्वावासगृहे स्थित. । ३ युद्धावसानपर्यन्तम् । ४ निजजननीविहितरक्षाजिनपूजादिपरिचर्याम् । ५ ध्यानम् । ६ एकाग्रत्वेन निश्चलाम् । ७ नियमम् । ८ त्यज । ९ गच्छ । १० सुश्रुतप्रभृतिमन्त्रिभि । ११ जन्मव्रतनियमौपधतपोभिरुत्पन्नज्ञानभेदै. । १२ नागपाशबन्धन मोचयित्वा । १३ साम्ना सारै. । १४ वचनै । १५ हे अर्ककीर्ते । १६ नाथवशसोमवशौ । १७ कृतौ । १८ जयस्य अस्माक च । १९ यस्मात् पुरुषात् । २० सञ्जातम् ।

पुत्रबन्धुपदातीनाम् अपराधशतान्यपि । क्षमन्ते हि महात्मानस्तद्धि तेषां विभूषणम् ॥१२॥
भवेद्दैवादपि स्वामिन्यपराधविधायिनाम् । आकल्पमयशः पापं चानुबन्धनिबन्धनम्[1] ॥१३॥
अपराधः कृतोऽस्माभिरेकोऽप्यमविवेकिभिः । वयं योः[2] बन्धुभृत्यास्त[3]त्वं मार क्षन्तुमर्हसि ॥१४॥
एषा कीर्तिरघं चैतत् प्रसादात्ते प्रशाम्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं विधेहि नः ॥१५॥
अर्केणालोकनारोधि हन्यते जगतस्तमः । अस्माकं स भवानर्कस्तस्मादन्तस्तमो हरेत् ॥१६॥
प्रातिकूल्यं तवास्मासु स्तन्यस्येव[4] स्तनन्धये[5] । अस्मज्जन्मान्तरा[6]वृष्टपरिपाकविशेषतः ॥१७॥
विश्वविश्वम्भराह्लादो यदि क्षिपति वारिदः । कदाप्यशनिमेक[7]स्मिस्तत्तस्यैवाशुभोदयः ॥१८॥
हयेनेव दुरारोहाज्जयेने[8]हासि पातितः । 'स ते प्रेष्य.'[9] किमत्रास्ति वैमनस्यस्य कारणम् ॥१९॥
सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्वं नस्तवैव तत् । निषिद्धश्चेत्त्वया पूर्वं भियते किं स्वयंवरः ॥२०॥
लक्ष्मीवतीं गृहाणेमाम् अक्षमालापराभिधाम् । निर्मला या यशोमाला किं ते [10]पाषाणमालया ॥२१॥

वश दोनों ही आपके द्वारा बनाये गये हैं और आपके द्वारा ही बढ़ रहे हैं। विषका वृक्ष भी जिससे उत्पन्न होता है उससे फिर नाशको प्राप्त नहीं होता ॥११॥ महात्मा लोग पुत्र, बन्धु तथा पियादे लोगोंके सैकड़ों अपराध क्षमा कर देते हैं क्योंकि उनकी शोभा इसीमें है ॥१२॥ औरों की बात जाने दीजिये जो दैवके भी अधीन होकर स्वामीका अपराध करते हैं उनका अपयश कल्पान्त कालतक बना रहता है और उनका यह पाप भी अनेक दोषोंका बढ़ानेवाला होता है ॥१३॥ हम मूर्खोंने आपका यह एक अपराध किया है। चूंकि हम लोग आपके भाइयों और भृत्योंमेंसे हैं इसलिये हे कुमार, यह अपराध क्षमा कर देने योग्य है ॥१४॥ यह हमारी अपकीर्ति और पाप आपके प्रसादसे शान्त हो सकता है क्योंकि आप शाप देने तथा उपकार करने–दोनोंमें समर्थ हैं इसलिये हम लोगोंकी शुद्धता अवश्य कर दीजिये ॥१५॥ प्रकाशको रोकनेवाला संसारका अन्धकार सूर्यके द्वारा नष्ट किया जाता है परन्तु हमारे लिये तो आप ही सूर्य हैं इसलिये हमारे अन्तःकरणके अन्धकारको आप ही नष्ट कर सकते हैं ॥१६॥ पूर्वजन्मके पाप कर्मोंके विशेष उदयसे हम लोगोंके लिये जो आपका यह विरोध उपस्थित हुआ है वह मानो पुत्रके लिये माताके दूधका विरोध उपस्थित हुआ है। भावार्थ–जिस प्रकार माताके दूधके बिना पुत्र नहीं जीवित रह सकता है उसी प्रकार आपकी अनुकूलताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते हैं ॥१७॥ समस्त पृथिवीको आनन्दित करनेवाला बादल यदि कदाचित् किसी एकपर वज्र पटक देता है तो इसमें बादलका दोष नहीं है किन्तु जिसपर पड़ा है उसीके अशुभ कर्मका उदय होता है ॥१८॥ चढ़ना कठिन होनेसे जिस प्रकार घोड़ा किसीको गिरा देता है उसी प्रकार जयकुमारने आपको गिरा दिया है परन्तु वह तो आपका सेवक है इसमें बुरा मानने का कारण ही क्या है ? ॥१९॥ सुलोचना, यह कितनी सी बात है ? हमारा जो सर्वस्व है वह आपका ही है। यदि आप पहले ही रोक देते तो स्वयंवर ही क्यों किया जाता ? ॥२०॥ जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी पुत्री लक्ष्मीमतीको आप ग्रहण कीजिये। यह लक्ष्मीमती यशकी मालाके समान निर्मल है, पाषाण (रत्नों) की मालासे आपको क्या प्रयो-

---

१ जन्मफलाभ. सव्यपरिरक्षणं रक्षितविवर्द्धनं चेत्यनुबन्ध ते एव निबन्धनं कारणं यस्य। २ युष्माकम्। ३ तत् कारणात्। ते द०। ४ स्तनक्षीरस्य। ५ शिशौ। यथा स्तनक्षीरस्य प्रातिकूल्यं निर्जीवनाय न स्यात् तथा तव प्रातिकूल्यमपि अस्माकम्। ६ अशुभकर्म। ७ एकस्मिन् पुंसि। ८ जय। ९ तव किङ्करः। १० स्वयंवरे क्षिप्तपाषाणमालया। सुलोचनयाक्षिप्तरत्नमालया।

आहारस्य[1] यथा तेऽद्य विकारोऽयं विना त्वया । जीविकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु विभो भवान् ॥२२॥
यद्वयं भिन्नमर्यादे त्वय्यवार्येऽम्बुधाविव । तत्तेऽवशिष्टाः पुण्येन भवत्प्रेषणकारिणः ॥२३॥
त्वं वह्निनेव केनापि पापिना विश्वजीवितः[2] । उष्णीकृतोऽसि प्रत्यस्मान् शीतीभव हि वारि[3] वा[4] ॥२४॥
न[5] चेदिमान् सुतान् दारान् [6]प्रतिग्राह्य पालय । मम तावाश्रयौ यामि पुरूणां पादपादपौ ॥२५॥
इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपम् । अर्ककीर्ति पुरोधाय[7] वृतं भूचरखेचरैः ॥२६॥
शान्तिपूजां विधायाष्टौ दिनानि विविधर्द्धिकाम् । महाभिषेकपर्यन्तां सर्वपापोपशान्तये ॥२७॥
जयमानीय सन्धाय[8] सन्धानविधिवित्तदा । नितरां प्रीतिमुत्पाद्य कृत्वैकीभावमक्षरम्[9] ॥२८॥
[10]अक्षिमालां महाभूत्या दत्वा सर्वार्थसम्पदा । सम्पूज्य गमयित्वैनम्[11] अनुगम्य[12] यथोचितम् ॥२९॥
तथेतरांश्च सम्मान्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रत्नगजवाजिभिः ॥३०॥
ते स्वदुर्नयलज्जास्तवैराः[13] स्वं[14] स्वमगुः[15] पुरम् । सा धीर्दैवा[16]परावस्य [17]प्रतिकर्त्री हि याऽचिरात् ॥३१॥

जन है ? ॥२१॥ आज यह आपका विकार आहारके विकारके समान है, क्या आपके विना हम लोगोंकी जीविका रह सकती है ? इसलिये हे प्रभो, हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये। भावार्थ—जिस प्रकार भोजनके विना कोई जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार आपकी प्रसन्नताके विना हम लोग जीवित नहीं रह सकते इसलिये हम लोगोंपर अवश्य ही प्रसन्न हूजिये ॥२२॥ हम लोग तो इधर उधर भेजने योग्य सेवक हैं और आप जिसका निवारण न हो सके ऐसे समुद्रके समान हैं। हे नाथ, आपके मर्यादा छोड़नेपर भी जो हम लोग जीवित बच सके हैं सो आपके पुण्यसे ही बच सके हैं ॥२३॥ आप पानीके समान सबको जीवित करनेवाले हैं जिस प्रकार अग्नि पानीको गर्म कर देती है उसी प्रकार किसीने हम लोगोंके प्रति आपको भी गर्म अर्थात् क्रोधित कर दिया है इसलिये अब आप पानीके समान ही शीतल हो जाइये ॥२४॥ यदि आप शान्त नहीं होना चाहते हैं तो इन पुत्रों और स्त्रियोंको स्वीकार कीजिये, इनकी रक्षा कीजिये, मैं हम आप दोनोंके आश्रय श्रीवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोंके समीप जाता हूँ ॥२५॥ इस प्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोंसे घिरे हुए अर्ककीर्तिको प्रसन्न कर, संतुष्ट कर और उत्तम हाथीपर सवार कराकर सबसे आगे किया तथा सब पापोंकी शान्तिके लिये आठ दिन तक बड़ी विभूतिके साथ महाभिषेक होने पर्यन्त शान्तिपूजा की। मेलमिलापकी विधिको जाननेवाले अकंपनने जयकुमारको भी वहां बुलाया और उसी समय संधि कराकर दोनोंमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करा दिया तथा कभी न नष्ट होनेवाली एकता करा दी। तदनन्तर अर्ककीर्तिको बड़े वैभव और सब प्रकारकी धनरूप सम्पदाओंके साथ साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, अच्छा आदर-सत्कार किया और उनकी योग्यताके अनुसार थोडी दूर तक साथ जाकर उन्हें विदा किया। इसी प्रकार अच्छे अच्छे रत्न, हाथी और घोड़े देकर अन्य भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंका सन्मान कर उन्हें भी शीघ्र ही विदा किया ॥२६–३०॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर दूर हो गया है ऐसे वे सब लोग अपने अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि वही है जो भाग्यवश हुए अपराधका शीघ्र ही प्रतिकार कर लेती

१ आहारो यथा विनाशयति। २ विश्वेषां जीवनं यस्मात् स विश्वजीवित। विश्वजीवन अ०, प०, स०, इ०, ल०। ३ जलम्। ४ इव। ५ एवं न चेत्। ६ प्रतिग्रह कुरु। ७ अग्रे कृत्वा। ८ अन्योन्यसम्बन्धं कृत्वा। ९ अविनश्वरम्। १० अक्षमालाम् अ०, स०, इ०, ल०। ११ अर्ककीर्तिम्। १२ किञ्चिदन्तरं गत्वा। १३ निरस्त। १४ स्वां स्वामगु पुरीम् द०, अ०, स०। १५ जग्मुः। १६ दैवाज्जातापराधस्य। १७ प्रतिविधानं करिष्यति।

तदा [1]पूर्वोदितो देव समागत्य सुसम्पदा । सुलोचनाविवाहोत्सवं समपादयत् ॥३२॥
मेघप्रभसुकेत्वादिसत्सहायान् सहानुजः[2] । जयोऽप्यगमयत् सर्वान् सन्तर्प्यार्थैर्बहुप्रियः[3] ॥३३॥
[4]नाथवंशाग्रणीश्चामा [5]जामात्राऽऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः स्वगृहसाराणि[6] बध्वा रत्नान्युपायनम्[7] ॥३४॥
विदितप्रस्तुतार्थोऽसि यथाऽसौ[8] नः प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रेशं [9]सुमुखाख्यमजीगमत्[10] ॥३५॥
स आशु गत्वा निवेद्यासौ[11] दृष्ट्वेशं धरणौ[12] तनुम् । क्षिप्त्वा प्रणम्य दत्वा च प्राभृतं निभृ[13]ताञ्जलि
देवस्यानुचरो देव प्रणम्याकम्पनो भयात् । देव विज्ञापयत्येवं प्रसादं कुरु तच्छृणु ॥३७॥
सुलोचनेति नः [14]कन्यासारस्त्वद्विहितश्रिये[15] । स्वयंवरविधानेन सम्प्रादायि[16] जयाय सा ॥३८॥
[17]तत्रागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनु[18]मत्य तत्[19] । विद्याधरधराधीशैः सुप्रसन्नैः सह स्थितः ॥३९॥
पश्चात् कोऽपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह[20] शुभग्रहम् । खलो बलाद्यथाऽस्मभ्यं वृथा कोपयति स्म तम् ॥४०॥
विज्ञातमेव देवेन सर्वं [21]तत्सविधानकम् । [22]चारचक्षुश्च वेत्त्येतत्किं पुनः [23]सावधिर्भवान् ॥४१॥
[24]कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । [25]तत्र तस्य सदोषाः[26] स्मो[27] वयमेव प्रमादिनः ॥४२॥

है ॥३१॥ उसी समय पहले कहे हुए देवने आकर बड़े वैभवके साथ सुलोचनाके विवाहका उत्सव सम्पन्न किया ॥३२॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ सुकेतु आदि अच्छे अच्छे सब सहायकोंको धन द्वारा सतुष्ट कर विदा किया ॥३३॥

तदनन्तर नाथवंशके शिरोमणि अतिशय बुद्धिमान् अकंपनने अपने जमाई जयकुमारके साथ सलाह की और अपने घरके अच्छे अच्छे रत्न भेंटमें देनेके लिये बांधकर सुमुख नामक दूतको यह कहकर चक्रवर्तीके पास भेजा कि तू वर्तमानका सब समाचार जानता ही है, चक्रवर्ती जिस प्रकार हम लोगोंपर प्रसन्न हो वही काम कर ॥३४–३५॥ उस दूतने शीघ्र ही जाकर पहले अपने आने की खबर भेजी फिर चक्रवर्तीके दर्शन कर पृथिवीपर अपना शरीर डाल प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर साथमें लाई हुई भेंट देकर कहा कि हे देव, अकंपन नामका राजा आपका अनुचर है वह प्रणाम कर भयसे आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता है सो प्रसन्नता कीजिये और उसे सुन लीजिये ॥३६–३७॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक उत्तम कन्या थी वह मैंने स्वयंवर-विधिसे आपने ही जिसकी लक्ष्मी अथवा शोभा बढ़ाई है ऐसे जयकुमारके लिये दी थी ॥३८॥ कुमार अर्ककीर्तिने भी उस स्वयंवरमें पधारकर पहले सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुए विद्याधर राजाओंके साथ साथ वहां विराजमान थे ॥३९॥ तदनन्तर जिस प्रकार कोई दुष्ट शुभ ग्रहके साथ ठहरकर उसे भी दुष्ट कर देता है उसी प्रकार किसी दुष्टने जबर्दस्ती हम लोगोंपर व्यर्थ ही उन्हें क्रोधित कर दिया ॥४०॥ इसके बाद वहां जो कुछ भी हुआ था वह सब समाचार आपको विदित ही है क्योंकि गुप्तचर रूप नेत्रोंको धारण करनेवाला साधारण राजा भी जब यह सब जान लेता है तब फिर भला आप तो अवधिज्ञानी हैं, आपका क्या कहना है ? ॥४१॥ कुमार तो अभी कुमार (लड़का) ही हैं इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है, प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग ही उसमें सदोष हैं

---

१ स्वयंवरनिर्माणे प्रोक्तविचित्राङ्गदसुर । २ सहानुजान् प०, इ०, म०, ल० । ३ बहव प्रियाणि मित्राणि यस्य स । ४ अकम्पन । ५ पुत्र्या प्रियेण सह । ६ निजगृहे स्थितेपूत्कृष्टानि । ७ प्राभृतम् । ८ चक्री । ९ सुमुखाह्वयदूतम् । १० गमयति स्म । ११ दूत । १२ भूम्याम् । १३ स्थिराञ्जलि । १४ कन्यासुत्कृष्टत्वात् । १५ त्वया कृतैश्वर्याय जयाय सम्प्रादामीति सम्बन्ध । १६ दत्ता । १७ स्वयंवरे । १८ अनुमतिं कृत्वा । १९ स्वयंवरविधानम् । २० चन्द्रादिशुभग्रहान्वित यथा भवति तथा स्थित्वा कोपयति [illegible] मर्थेति सम्बन्ध । २१ तद्वृत्तान्तम् । २२ चारा गूढपुरुषा एव चक्षुर्यस्य । २३ अवधिज्ञानसहित । २४ बालक । २५ सविधाने । २६ सापराधा । २७ भवाम ।

तस्मै[1] कन्या गृहाणेति नास्माभि सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽसौ यत् प्रकुप्यन्ति देवता ॥४३॥
मयैव[2] विहिता सम्यक् वर्धिता बन्धवोऽपि न । स्निग्धाश्च[3] कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहम् ॥४४॥
इत्येतद्देव मा मंस्था स्यात् सदोषो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्येत न्यायोऽस्य त्वदुपक्रम[4] ॥४५॥
तदादिश[5] विधेयोऽत्र[6] को दण्डस्त्रिविधेऽपि न । किं वध किं परिक्लेश किं वार्थहरणं प्रभो ॥४६॥
तवादेशविधानेन नितरा कृतिनो वयम् । इहामुत्र च तद्देव यथार्थमनुशाधि[7] न ॥४७॥
इति प्रश्रयवर्णी वाणीं निगद्य हृदयप्रियाम् । सुमुखो राजराजस्य व्यरसीत् करसंज्ञया[8] ॥४८॥
सता वचासि चेतासि हरन्त्यपि हि रक्षसाम्[9] । किं पुन सामसाराणि[10] तादृशा[11] समतादृशाम्[12] ॥४९॥
इहेहीति[13] प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुज । उपसिंहासन[14] चक्री नि[15]सृष्टार्थं निवेश्य तम् ॥५०॥
अकम्पनै किमिरयेयम् उदीर्य प्रहितो[16] भवान् । पुरुभ्यो[17] निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सम्प्रति ॥५१॥
गृहाश्रमे त[18] एवार्ध्यास्तैरेवाहं च बन्धुमान् । निषेद्धार प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥५२॥
गुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसन्तते । श्रेयाश्च चक्रिणा वृत्तेर्यथेहास्म्यहमग्रणी ॥५३॥
तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पना । क प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष[19] सनातन ॥५४॥

॥४२॥ 'तुम इस कन्याको ग्रहण करो' ऐसा कहकर तो मैंने जयकुमारके लिये दी नहीं थी, तथापि देवता जो कुपित हो जाते हैं उसमें देवताका नहीं किन्तु आराधना करनेवाले हीका दोष समझा जाता है ॥४३॥ ये सब वश मेरे ही बनाये हुए हैं, मेरे ही बढाये हुए हैं, मेरे ही भाई हैं और मुझसे ही सदा स्नेह रखते हैं इसलिये इनका निग्रह कसे करू ऐसा आप मन मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी दोषी हो तो उसे भी आप दण्ड देते हैं, इस न्यायका प्रारम्भ आपसे ही हुआ है। इसलिये हे प्रभो, आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनो प्रकारके दण्डोंमेंसे कौन सा दण्ड मिलने योग्य है ? क्या फासी ? क्या शरीरका क्लेश अथवा क्या धन हरण कर लेना ? ॥४४–४६॥ हे देव, आपकी आज्ञा पालन करनेमें ही हम लोग इस लोक तथा परलोकमें अत्यन्त धन्य हो सकेंगे इसलिये आप अपराधके अनुसार हमें अवश्य दण्ड दीजिये ॥४७॥ इस प्रकार नम्रतासे भरे हुए और हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन कहकर वह सुमुख दूत राजराजेश्वर–चक्रवर्तीके हाथके इशारेसे चुप हो गया ॥४८॥ जब कि सज्जन पुरुषोंके वचन राक्षसोंके भी चित्तको मोहित कर लेते हैं तब सबको समान दृष्टि-से देखनेवाले भरत जैसे महापुरुषोंके शान्तिपूर्ण चित्तकी तो बात ही क्या है ? ॥४९॥ जिनका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे चक्रवर्तीने 'यहा आओ' इस प्रकार प्रसन्नताभरे वचनों-से उस दूतको अपने सिंहासनके निकट बैठाकर उससे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि 'महाराज अकम्पनने इस प्रकार कहकर आपको क्यो भेजा है ? वे तो हमारे पिता के तुल्य हैं और इस समय हम सबमें ज्येष्ठ हैं ॥५०–५१॥ गृहस्थाश्रममें तो मेरे वे ही पूज्य हैं, उन्हींसे मैं भाईबन्धुवाला हू, औरकी क्या बात ? अन्यायमार्गमें प्रवृत्ति करनेपर वे मुझे भी रोकने वाले हैं ॥५२॥ इस युगमें मोक्षमार्ग चलानेके लिये जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव गुरु हैं, दानकी परम्परा चलानेके लिये राजा श्रेयास गुरु हैं और चक्रवर्तियोंकी वृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हू उसी प्रकार स्वयवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं। यदि ये अकपन महाराज नहीं होते तो इस स्वयवर मार्गका चलानेवाला दूसरा कौन था ? यह मार्ग अनादि कालका है

---

१ जयाय। २ भरतेनैव। ३ स्नेहिता। ४ त्वया प्रथमोपक्रान्त। ५ तत् कारणात्। ६ दोषे। ७ नियामय। ८ तूष्णीं स्थित। ९ राक्षसानाम्। १० वचासि साम्ना साराणि चेत्। ११ सताम्। १२ समत्वनेत्राणाम्। १३ अत्रागच्छेति। १४ सिंहासनसमीपे। १५ दूतमुख्यम्। १६ प्रेषित। १७ पुरुजिनेभ्य। गुरुभ्यो अ०, प०, म०, ल०, इ०, स०। १८ अकम्पना एव। १९ स्वयवरमार्ग।

मार्गांश्चिरन्तनान्¹ येऽत्र² भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वन्ति नूतनान् सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥५५॥
न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिस्तथा । बलेन न षडङ्गेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥५६॥
तदेतत् सार्वभौमत्वं जयेनैकेन केवलम् । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम ॥५७॥
म्लेच्छराजान् विनिर्जित्य नाभिशैले यशोमयम् । मन्नाम स्थापितं तेन³ किमन्यत्रान्येन केनचित् ॥५८॥
अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाङ्कमिहातानीन्मषीमाषमलीमसाम् ॥५९॥
अमुना⁴ऽन्यायवर्त्मैव प्रावर्तीति⁵ न केवलम् । इह स्वयं च दण्ड्यानां⁶ प्रथमः परिकल्पितः ॥६०॥
अभूदयशसो रूपं मत्प्रदीपादिवाञ्जनम् । नार्ककीर्तिरसौ स्पष्टम् अयशःकीर्तिरेव हि ॥६१॥
जय एव मदादेशाद् ईदृशोऽन्यायवर्तिनः । ⁷समीकुर्यात्ततस्तेन साधु दमितो युधि ॥६२॥
सदोषो यदि निग्राह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूभुजा । इति मार्गमहं ⁸तस्मिन्नद्य वर्तयितुं स्थितः ॥६३॥
अक्षमाला⁹ किल प्रत्ता¹⁰ तस्मै कन्याऽवलेपिने¹¹ । भवद्भिरविचार्यैतद् विरूप¹²कमनुष्ठितम् ॥६४॥
पुरस्कृत्येह तामेता¹³ नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यताम्¹⁴ । सकलङ्केति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्विधोः ॥६५॥
उपेक्षितः सदोषोऽपि स्वपुत्रश्चक्रवर्तिना । इतीदमयशः स्थापि ¹⁵व्यधायि तदकम्पनैः ॥६६॥
इति सन्तोष्य विश्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं सुतं¹⁶ तोकम् ¹⁷अकरोन्न्यायमौरसम् ॥६७॥

॥५३–५४॥ इस युगमे भोगभूमिसे छिपे हुए प्राचीन मार्गोंको जो नवीन कर देते है वे सत्पुरुष ही सज्जनो द्वारा पूज्य माने जाते है ॥५५॥ मेरा यह प्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न शेष अन्य रत्नोसे मिला है, न निधियोंसे मिला है, न छह अगोवाली सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझमे ही मिला है, किन्तु केवल एक जयकुमारसे मिला है क्योंकि शूर वीरताके सभी कार्योंमें मेरी जीत उसीसे हुई है ॥५६–५७॥ म्लेच्छ राजाओको जीतकर नाभि पर्वतपर मेरा कीर्तिमय नाम उसीने स्थापित किया था, इस विषयमें और किसीने क्या किया है ? ॥५८॥ इस अर्ककीर्तिने तो अकीर्तियोंसे गिनने योग्य तथा स्याही और उड़दके समान काली मेरी अकीर्ति जब तक चन्द्रमा है तब तकके लिये ससारभरमें फैला दी ॥५९॥ इसने अन्याय का मार्ग चलाया है केवल इतना ही नही है । किन्तु ससारसे दण्ड देने योग्य लोगो में अपने आपको मुख्य बना लिया है ॥६०॥ जिस प्रकार दीपकसे काजल उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह अकीर्तिरूप मुझमे उत्पन्न हुआ है, यह अर्ककीर्ति नही है किन्तु साक्षात् अयशस्कीर्ति है ॥६१॥ मेरी आज्ञासे जयकुमार ही अन्यायमे प्रवृत्ति करनेवाले इस प्रकारके लोगोको दण्ड देता है इसलिये इसने युद्धमें जो उसे दण्ड दिया है वह अच्छा ही किया है ॥६२॥ और की क्या बात ? यदि बडा पुत्र भी अपराधी हो तो राजाको उसे भी दण्ड देना चाहिये यह नीतिका मार्ग अर्ककीर्तिपर चलानेके लिये आज मैं तैयार बैठा हूं ॥६३॥ आप लोगोने विचार किये बिना ही उस अभिमानीके लिये अक्षमाला नामकी कन्या दे दी यह बुरा किया है ॥६४॥ अथवा उस प्रसिद्ध अक्षमाला कन्याकी भेंट देकर आपने उस अर्ककीर्तिको भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक ही है क्योकि यह कलंकसहित है यह समझकर क्या चन्द्रमाकी मूर्ति छोडी जाती है ? ॥६५॥ परन्तु चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा कर दी–उसे दण्ड नही दिया इस मेरे अपयशको महाराज अकपनने स्थायी बना दिया है ॥६६॥ इस

---

१ पुरातनान् पुरा । २ युगादौ । ३ जयेन । ४ अर्ककीर्तिना । ५ प्रवर्तितम् । ६ दण्डितुं योग्यानाम् । ७ समदण्डं कुर्यात् । ८ अर्ककीर्तौ । ९ अक्षमाला अ०, म०, इ०, स०, ल० । १० दत्ता । ११ गर्विताय । १२ कष्टम् । १३ लक्ष्मीमालाम् । १४ पूज्यताम् । १५ अपारि । १६ पुत्रम् । १७ न्यायमेव पुत्रमकरोत् ।

सुमुखस्त्वद्दयाभारमिव वोढुं तदाक्षमः । स जयोऽकम्पनो देव देवस्य नमति क्रमौ ॥६८॥
लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽङ्गानि प्रणम्य तम् । विकसद्वदनाम्भोजः समुत्थाय कृताञ्जलिः ॥६९॥
इत एवोन्मुखौ तौ[2] त्वत्[3]प्रतीच्छन्तौ[4] मदागतिम्[5] । आस्यातां चातकौ वृष्टिं प्रावृषो वाऽब्दिवार्मुचः[6] ॥७०
इति विज्ञाप्य चक्रेशात्[7] कृतानुज्ञः कृतत्वरः । सम्प्राप्याकम्पनं नत्वा सजयं विहितादरम् ॥७१॥
गोभिः[8] प्रकाश्य रक्तस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा वास[9]रारम्भस्तद्वक्त्राब्जं व्यकासयत् ॥७२॥
साधुवादैः सदानैश्च सम्मानैस्तौ च तं तदा । [10]आनिन्यतुरतिप्रीतिं कृतज्ञा हि महीभृतः ॥७३॥
इत्यतर्क्योदयावाप्तिविभासितशुभोदयः । [11]अनूषिवान् जयः श्रीमान् सुखेन श्वाशुरं[12] कुलम् ॥७४॥
सुलोचनामुखाम्भोजषट्पदायितलोचनः । अनङ्गानणुबाणैकतूणीरायितविग्रहः ॥७५॥
तथा प्रवृत्ते सङ्ग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः[13] । [14]पेलवैः कुसुमैरेभिर्विचित्रा विधिवृत्तयः ॥७६॥
अस्मितां सस्मितां कुर्वन् प्रहसन्तीं सहासिकाम्[15] । सभयां निर्भयां बालाम् आकुलां तामनाकुलाम् ॥७७॥

प्रकार सबके स्वामी महाराज भरतने सुमुख नामके दूतको सतुष्ट कर उसका मुख प्रसन्न किया और ज्येष्ठ पुत्रको छोडकर न्यायको ही अपना औरस पुत्र बनाया । भावार्थ—न्यायके सामने बड़े पुत्रका भी पक्ष नही किया ॥६७॥ उसी समय चक्रवर्तीकी दयाका भार वहन करनेके लिये मानो असमर्थ हुआ सुमुख कहने लगा कि 'हे देव' जिन्हें आपका प्रसाद प्राप्त हो चुका है ऐसे जयकुमार और अकंपन दोनों ही आपके चरणोंको नमस्कार करते हैं, ऐसा कहकर उस दूतने अपने समस्त अंग पृथ्वीपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और जिसका मुखरूपी कमल विकसित हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड रखे हैं ऐसा वह दूत खड़ा होकर फिर कहने लगा कि "जिस प्रकार दो चातक वर्षा ऋतुके पहले बादलसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसी प्रकार जयकुमार और अकंपन आपके समीपसे मेरे आनेकी इच्छा करते हुए इसी ओर उन्मुख होकर बैठे होंगे" ऐसा निवेदन कर जिसने चक्रवर्तीसे आज्ञा प्राप्त की है ऐसे उस दूतने बड़ी शीघ्रतासे जाकर आदरके साथ महाराज अकंपन और जयकुमारको नमस्कार किया तथा वचनोंके द्वारा अनुराग करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रकट कर उन दोनोंके मुखकमल इस प्रकार प्रफुल्लित कर दिये जिस प्रकार कि दिनका प्रारम्भ समय (प्रातः-काल) किरणोंके द्वारा लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रकटकर कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है ॥६८–७२॥ उस समय उन दोनों राजाओंने धन्यवाद, दान और सम्मानके द्वारा उस दूतको अत्यन्त प्रसन्न किया था सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग किये हुए उपकार माननेवाले होते हैं ॥७३॥ इस प्रकार विचारातीत वैभवकी प्राप्तिसे जिसके शुभ कर्मका उदय प्रकट हो रहा है ऐसा वह श्रीमान् जयकुमार सुखसे श्वसुरके घर रहने लगा ॥७४॥ जिसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान आचरण करते थे और जिसका शरीर कामदेवके बड़े बड़े बाण रखनेके लिये तरकसके समान हो रहा था ऐसा वह जयकुमार युद्ध होनेपर लोहेके बाणोंसे उस प्रकार घायल नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अत्यन्त कोमल कामदेवके इन फूलोंके बाणोंसे घायल हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि दैवलीला बड़ी विचित्र होती है ॥७५–७६॥ वह जयकुमार मुस्कुराहटसे रहित सुलोचनाको मुस्कुराहटसे युक्त करता था, न हंसनेपर जोरसे हंसाता था, भययुक्त होनेपर निर्भय करता था, आकुल होनेपर निराकुल करता था, वार्तालाप न करनेपर

---

१ चक्रिणः कृपा । २ अकम्पनजयकुमारौ । ३ त्वत्त । ४ वाञ्छन्तौ । ५ मदागमनम् । ६ प्रथममेघात् । ७ चक्रवर्तिनः । ८ वाग्भिः किरणैश्च । ९ दिवसारम्भ । १० नीतवन्तौ । ११ स्थितवान् । १२ मातुलसम्बन्धिनि गृहे । १३ पीडितः । १४ मृदुभिः । १५ हासमहिताम् ।

अनालपन्तीमालाप्य लोकमानो विलोकिनीम् । अस्पृशन्तीं समास्पृश्य व्यधाद् व्रीडाविलोपनम् ॥७८॥
कृतो भवान्तराबद्धतत्स्नेहबलशालिना । सुलोचनायाः कौरव्यः कामं[1] कामेन कामुकः[2] ॥७९॥
सुलोचनामनोवृत्ती रागामृतकरोद्धुरा[3] । क्रमाच्चचाल वेलेव कामनाममहाम्बुधेः ॥८०॥
मुकुले वा मुखे चक्रे विकासोऽस्याः क्रमात्पदम्[4] । आक्रान्तसर्वकायातिग्रहानक्षरसूचनः ॥८१॥
[5]सखीमुखानि सवीक्ष्य जञ्जपित्वा[6] दिशामसौ । स्वैरं हसितुमारब्ध[7] गृहीतमदनग्रहा ॥८२॥
[10]सितासितासितालोलकटाक्षेक्षणतोमरैः । जयं तदा जितानङ्गं कृत्वानङ्गप्रतिष्कशम्[11] ॥८३॥
ससाध्वसा सलज्जा सा विध्याध विविधैर्मनाक् । अनालोकनवेलायाम् अपि[12]सन्धित्सयेव तम् ॥८४॥
न भुजङ्गेन सन्दष्टा नापि ससेवितासवा । न श्रमेण समाक्रान्ता तथापि [13]स्विद्यति स्म सा ॥८५॥
स्खलन्ति स्म [14]कलालापाश्चकम्पे हृदयं भृशम् । चलान्यालोकितान्यासन्नवशे वात्मनश्च[15] सा ॥८६॥
प्रक्षालितेव लज्जाऽगात् सुदत्याः स्वेदवारिभिः । वागिन्धनैर्वदीपिष्ट विचित्रश्चित्तजोऽनलः[16] ॥८७॥
तावत्त्रपा भयं तावत्तावत्कृत्यविचारणा । तावदेव धृतिर्यावज्जृम्भते न स्मरज्वरः ॥८८॥

उससे वार्तालाप करता था, अपनी ओर देखनेपर उसे देखता था, और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श करता था । इस प्रकार यह सब करते हुए जयकुमारने सुलोचनाकी लज्जा दूर की थी ॥७७-७८॥ पूर्व पर्यायमें बंधे हुए स्नेहरूपी बलसे शोभमान कामदेवने इच्छानुसार जयकुमारको सुलोचनाका सेवक बना लिया था ॥७९॥ रागरूपी चन्द्रमाके सम्बन्धसे बढ़ी हुई, कामदेव नामक महासागरकी वेलाके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति क्रम क्रमसे चचल हो रही थी ॥८०॥ सब शरीरमें घुसे हुए कामदेवरूपी पिशाचके द्वारा बिना कुछ बोले ही जिसकी सूचना हो रही है ऐसे विकासने सुलोचनाके मुखरूपी मुकुलपर धीरे धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥८१॥ कामरूपी पिशाचको ग्रहण करनेवाली सुलोचना सखियोंके मुख देखकर दिशाओंसे बातचीत कर अर्थात् निरर्थक वचन बोलकर इच्छानुसार हसने लगी ॥८२॥ उस समय भय और लज्जा सहित सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले जयकुमारको न देखने योग्य समयमें मानो ठगनेकी इच्छासे ही कामदेवको अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुए चचल कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी अनेक तोमर नामके हथियारोंसे धीरे धीरे मार रही थी ॥८३॥ जब जयकुमार उसकी ओर नहीं देखता था उस समय भी वह सफेद, काले और चचल कटाक्षोंसे भरी दृष्टिसे उसे देखती रहती थी और उससे ऐसा मालूम होता था मानो यह उसे ठगना ही चाहती है ॥८४॥ उस समय उसे न तो सर्पने काटा था, न उसने मद्य ही पिया था, और न परिश्रमसे ही वह आक्रान्त थी तथापि वह पसीनेसे तर हो रही थी ॥८५॥ उसके मधुर भाषण स्खलित हो रहे थे, हृदय अत्यन्त कँप रहा था, दृष्टि चचल हो रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने वशमें ही न हो ॥८६॥ सुन्दर दाँतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इस प्रकार नष्ट हो गई थी मानो उसके पसीनारूपी जलसे धुल ही गई हो और कामदेवरूपी विचित्र अग्नि वचनरूपी ईंधनसे ही मानो खूब प्रज्वलित हो रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेवरूपी ज्वर नहीं बढ़ता है तबतक ही लज्जा रहती है तबतक ही भय रहता है, तब तक ही करने योग्य कार्यका विचार रहता है और तब तक ही धैर्य रहता है ॥८८॥

---

१ सामर्थ्यं । २ अत्यर्थम् । ३ इच्छु । ४ अनुरागचन्द्रेणोत्कटा । ५ स्थानम् । ६ प्राप्तकामग्रहप्रसरेण विना सूचक । ७ सहचरी । ८ निरर्थकादिदोषदुष्टमुक्त्वा । ९ उपक्रान्तवती । १० श्वेतकृष्णगवल । ११ सहायम् । १२ वञ्चनेच्छया । १३ स्वेदवती बभूव । १४ मनोज्ञवचनानि । १५ स्वस्य परार्थीनेव अथवा आत्मनः वशे अधीने न वा नासीदिति । १६ विरराज अ०, प०, द०, स०, ल० ।

विषयीकृत्य सर्वेषाम् इन्द्रियाणां परस्परम् । परामवापतुः प्रीतिं दम्पती तौ पृथक् पृथक् ॥८९॥
अत्यासङ्गात्[1] क्रमग्राहि[2]करणैस्तावतर्पितौ । [3]अनिन्दतामशेषैककरणाकारिणं[4] विधिम् ॥९०॥
अन्योन्यविषयं सौख्यं त्यक्त्वाऽशेषान्यगोचरम् । स्तोकैर्[5] सुखमप्राप्तं[6] प्रापतुः [7]परमात्मनः ॥९१॥
सम्प्राप्तभावपर्यन्तौ[8] विदतुर्न[9] स्वयं[10] च तौ । मुक्त्वैकं शं[11] सहैवोद्यत्स्वक्रियोद्रेकसम्भवम्[12] ॥९२॥
रतावसाने[13] निःस्पन्दयोर्गाढोत्सुक्यात् प्रपश्यतोः[14] । तयोरन्योन्यमाभाताम्[15] नेत्रयोरिव पुत्रिके ॥९३॥
अवापि या तया प्रीतिस्तस्मात्तेन[16] च या ततः[17] । [18]तयोरन्योन्यमेवासीद् उपमानोपमेयता ॥९४॥
भुक्तमात्मम्भरित्वेन[19] यत्सुखं परमात्मना । [20]ततोऽप्यधिकमासीद्वा[21] सविभागेऽपि[22] [23]तत्तयोः ॥९५॥
इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिस्फीतामृताम्भसि । कामाम्भोधौ निमग्नौ तौ स्वैरं चिक्रीडतुश्चिरम् ॥९६॥
तदा स्वमन्त्रिप्र[24]हितगूढपत्रार्थचोदितः । जयो जिगमिषुस्तूर्णं[25] स्वस्थानीयं[26] धियो वशः ॥९७॥

वे दोनों दम्पती परस्पर पृथक् पृथक् सब इन्द्रियोंके विषयोंका सेवनकर परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥८९॥ अत्यन्त आसक्तिके कारण, क्रम क्रमसे एक एक विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंसे वे संतुष्ट नहीं होते थे इसलिये सब इन्द्रियोंको एक इन्द्रियरूप न करनेवाले विधाताकी वे निन्दा करते रहते थे। भावार्थ—उन दोनोंकी विषयासक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि वे एक साथ ही सब इन्द्रियोंके विषय ग्रहण करना चाहते थे परन्तु इन्द्रियां अपने प्राकृतिक नियमके अनुसार एक समयमें एक ही विषयको ग्रहण कर पाती थीं अतः वे असंतुष्ट होकर सब इन्द्रियोंको एक इन्द्रियरूप न बनानेवाले नामकर्मरूपी ब्रह्माकी सदा निन्दा करते रहते थे ॥९०॥ उन दोनोंने सब साधारण लोगोंको मिलनेवाला परस्परका सुख छोड़कर आत्माका वह उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया था जो कि अन्य छोटे-छोटे लोगोंको दुष्प्राप्य था ॥९१॥ जिनके भावोंका अन्त आ चुका है ऐसे वे दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओंके उद्रेकसे उत्पन्न होनेवाले एक सुखको छोड़कर और कुछ नहीं जानते थे ॥९२॥ संभोग क्रीडाके अन्तमें अचल हुए तथा गाढ उत्कंठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुए उनके नेत्रोंकी पुतलियां एक दूसरेके नेत्रोंकी पुतलियोंके समान ही सुशोभित हो रही थीं। (यहां अनन्वयालंकार होनेसे उपमेय ही उपमान हो गया है) ॥९३॥ सुलोचनाने जयकुमारसे जो सुख प्राप्त किया था और जयकुमारने सुलोचनासे जो सुख पाया था उन दोनोंका उपमानोपमेय भाव परस्पर—उन्हीं दोनोंमें था ॥९४॥ परमात्माने सबके स्वामी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उन दोनोंका वह सुख परस्परमें विभक्त होनेपर भी उससे कहीं अधिक था। भावार्थ—यद्यपि उन दोनोंका सुख एक दूसरेके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण परस्परमें विभक्त था, तथापि परिमाणकी अपेक्षा परमात्माके पूर्ण सुखसे भी कहीं अधिक था। (यहां ऐसा अतिशयोक्ति अलंकारसे कहा गया है वास्तवमें तो वह परमात्माके सुखका अनन्तवां भाग भी नहीं था) ॥९५॥ इस प्रकार परस्परमें उत्पन्न होनेवाले प्रेमामृतरूपी जलसे भरे हुए कामरूप समुद्रमें डूबकर वे दोनों चिरकालतक इच्छानुसार क्रीडा करते रहे ॥९६॥ उसी समय एक दिन जो अपने मंत्रीके द्वारा

---

१ अत्यासक्तिन । २ क्रमवृत्त्या पदार्थग्राहीन्द्रियैः । ३ निन्दां चक्रतुः । ४ सकलेन्द्रियविषयाणामेकमेवेन्द्रियमकुर्वन्तम् । ५ सामान्यपुरुषेण । ६ उत्तमम् । ७ स्वस्य । परमात्मन परमपुरुषस्येति ध्वनिः । ८ लीला । ९ बुबुधाते । १० आत्मनौ । ११ सुखम् । १२ सहैव प्रादुर्भवनिजचुम्बनादिसमुत्कटसम्भूतम् । १३ सुरतक्रीडावसाने । १४ परस्परमालोकमानयोः सतोः । १५ व्यराजताम् । १६ जयकुमारात् । १७ सुलोचनायाः । १८ प्रीत्योः । १९ स्वोदरपूरकत्वेन । 'उभावात्मम्भरिः स्वोदरपूरके' इत्यभिधानात् । २० परमात्मसुखात् । २१ वा अवधारणे । २२ विभजने । २३ सुखम् । २४ प्रेषित । २५ शीघ्रम् । २६ स्वां पुरीम् । स्व स्था—न० ।

भवद्भिर्भावितैश्वर्यं मा मदीया[1] दिदृक्षते[2] । इति मामं[3] समभ्येत्य[4] [5]प्रस्थानार्थमबूबुधत्[6] ॥९८॥
तद्बुध्वा नाथवंशेशः[7] किञ्चिदासीत् ससंभ्रमः । जये[8] जिगमिषौ स्वस्मान्न स्यात् कस्याकुलं मनः ॥९९॥
विचार्य कार्यपर्यायं[9] तथास्त्वित्याह तं नृपः । स्नेहानुवर्तिनीं नैति[10] दीपिकां वा धियं सुधीः[11] ॥१००॥
प्रादात्[12] प्रागेव सर्वस्वं तस्मै दत्तसुलोचनः । तथापि लौकिकाचारं परिपालयितुं प्रभुः ॥१०१॥
दत्वा कोशादि सर्वस्वं स्वीकृत्य[13] प्रीतिमात्मनः । अनुगम्य स्वयं दूरं शुभेऽहनि वधूवरम् ॥१०२॥
कथं कथमपि त्यक्त्वा स [14]सजानिर्जनाग्रणी.[15] । [16]व्यावर्तत ततः शोकी [17]तुग्वियोगो हि दुःसहः ॥१०३॥
[18]विजयार्द्धं समारुह्य जयोऽपि ससुलोचनः । आरूढसामजैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभिः ॥१०४॥
हेमाङ्गदकुमारेण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्या.[19] परिहासं मनोहराः ॥१०५॥
धृतः शशीव नक्षत्रैः अनुगङ्गं[20] ययौ शनैः । इलां सञ्चालयन् प्राग्वा[21] धीमान् स जयसाधनः ॥१०६॥
स्कन्धावारं[22] यथास्थानं पारेगङ्गं[23] न्यवीविशत् । वीक्ष्य कक्षपुटत्वेन प्रशास्ता [24]शास्त्रवित्तदा ॥१०७॥
[25]हृदस्पटकुटीकोटिनिकटाटोपनिर्गमः । बभासे[26] शिबिरावासः स्वर्गवास इवापरः ॥१०८॥

भेजे हुए पत्रके गूढ अर्थसे प्रेरित हो रहा है, बुद्धिमान् है, और शीघ्रसे शीघ्र अपने स्थानपर पहुचनेकी इच्छा कर रहा है ऐसे जयकुमारने मामा (श्वसुर) के पास जाकर अपने जानेकी सूचना दी कि हे माम, आपने जिसका ऐश्वर्य बढाया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है। ॥९७–९८॥ यह जानकर नाथवंशका स्वामी अकंपन कुछ घबड़ाया सो ठीक ही है क्योकि अपनेसे जय (जयकुमार अथवा विजय) के जानेकी इच्छा करनेपर किसका मन व्याकुल नही होता है ? ॥९९॥ तदनन्तर कार्योंका पूर्वापर विचारकर राजा अकंपनने जयकुमारसे 'तथास्तु' कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य दीपिकाके समान स्नेह (तेल अथवा प्रेम) का अनुवर्तन करनेवाली बुद्धिको नही प्राप्त होते हे। भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य स्नेहके पीछे बुद्धिको नही छोड़ते है ॥१००॥ यद्यपि महाराज अकंपन, सुलोचनाको देकर पहले ही जयकुमारको सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिये अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर उन्होने किसी शुभ दिनमें वधू-वरको विदा किया। सब मनुष्योंमे श्रेष्ठ महाराज अकपन अपनी पत्नी सहित कुछ दूरतक तो स्वयं उन दोनोके साथ साथ गये फिर जिस किसी तरह छोड़कर शोक करते हुए वहासे वापिस लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि संतानका वियोग बडे दुःखसे सहा जाता है ॥१०१–१०३॥ जयकुमार भी सुलोचना सहित विजयार्ध नामके हाथीपर सवार होकर अन्य अन्य हाथियोंपर बैठे हुए विजय आदि अपने सब छोटे भाइयो तथा लघु सहोदरोंसे युक्त हेमाङ्गदकुमारके साथ बडे उत्सवसे मार्गमे कहने योग्य हंसी विनोदकी मनोहर कथाए कहता हुआ और पृथिवीको हिलाता हुआ नक्षत्रोसे घिरे हुए चन्द्रमाकी तरह गगाके किनारे धीरे धीरे इस प्रकार चला जिस प्रकार कि पहले दिग्विजयके समय सेनाके साथ साथ चला था ॥१०४–१०६॥ शास्त्रोंके जाननेवाले और सबपर शासन करनेवाले जयकुमारने उस समय गगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर घासवाली जमीन देखकर सेनाके डेरे कराये ॥१०७॥ देदीप्यमान कपड़ोंके करोड़ो तम्बुओके समीप ही जिसमें आने जानेका मार्ग

१ अस्मदीया वन्धुमित्रादय । २ द्रष्टुमिच्छव । ३ श्वशुरम् । ४ सम्प्राप्य । ५ गमनप्रयोजनम् । ६ ज्ञापयति स्म । ७ अकम्पन. । ८ विजये इति ध्वनि । ९ कार्यक्रमम् । १० न गच्छति किम् । ११ शोभना धीर्यस्य स । १२ ददाति स्म । १३ स्वस्य प्रीतिमेवात्मेव स्वीकृत्य । १४ स्त्रीसहित । १५ अकम्पन । १६ व्याघुटितवान् । १७ पुत्रवियोग । १८ विजयार्द्धगजम् । १९ पथि हिता । २० गङ्गामनु । २१ पूर्वदिग्विजये यथा । २२ शिबिरम् । २३ गगातीरे । २४ जयकुमार । २५ तुम्बदृश्यकुटीगणसमूहनिर्गमविस्तृतनिर्गम । २६ रराज ।

तत् (त) प्राप्य सिन्धुर रुद्ध्वा स राजद्वारि राजकम्[1]। विसर्ज्योच्चं प्रविश्यान्त अवतीर्य [2]निपाद्य तम्[3]
राजा सुलोचना चावरोप्य स्वभुजलम्बिनीम् । निविश्य स्वोचिते स्थाने मृदुशय्यातले सुखम् ॥११०॥
तत्कालोचितवृत्तज्ञ प्रिया स तर्पयन् प्रियै । स्नानभोजनवाग्वाद्यगीतनृत्यविनोदनै ॥१११॥
नीत्वा रात्रिं सुख तत्र [4]प्रत्याय्य प्रत्यय[5] स्थिते । ता निवेश्य समाश्वास्य हेमाङ्गदपुरस्सरान् ॥११२॥
नियोज्य स्वानुजान् सर्वान् सम्यक्कटकरक्षणे । आप्तं कतिपयैरेव [6]प्रत्ययोध्यमियाय स ॥११३॥
अर्ककीर्त्यादिभि श्रेष्ठे[7] प्रत्यागत्य प्रतीक्षित[8]। सस्नेह सादर भूय कुमारेणालपन् पुरीम् ॥११४॥
सानुरागान् स्वय रागात् प्राविशद्वा विशाम्पति[9]। न पूजयन्ति के वाऽन्ये पुरुष राजपूजितम् ॥११५॥
इन्द्रो वेभाद् बहिर्द्वाराज्जिनस्योत्तीर्य भूपते । [10]सभागेह समासाद्य मणिकुट्टिमभूतलम् ॥११६॥
मध्ये [11]तस्य स्फुरद्रत्नखचितस्तम्भसम्भृते । विचित्रनेत्र[12]विन्यस्तसद्वितानविराजिते ॥११७॥
मणिमुक्ताफलस्रो[13]तलम्बलम्बूषभूषणे[14] । परार्ध्यरत्नभाजालजटिले मणिमण्डपे[15] ॥११८॥
विधु ज्योतिर्गणेनेव राजकेन विराजितम् । स्वकीर्तिनिर्मलैर्वीज्यमान [16]चमरजन्मभि ॥११९॥

बनाया गया है ऐसा वह सेनाका आवास (पडाव) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो स्वर्गका दूसरा आवास ही हो ॥१०८॥ जयकुमारने अपने डेरेके पास जाकर उसके बडे दरवाजेके समीप ही अपना हाथी रोका, वहीं सब राजाओंको विदा किया फिर ऊंचे तम्बूके भीतर प्रवेश कर हाथीको बैठाया–स्वय उतरे, अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको भी उतारा और अपने योग्य स्थानमें कोमल शय्यातलपर सुखसे विराजमान हुए। फिर उस समयके योग्य समाचारोंको जाननेवाले जयकुमारने स्नान, भोजन, वार्तालाप, बाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर विनोदोंसे सुलोचनाको सतुष्ट किया, रात्रि वहीं सुखसे बिताई, वहा ठहरनेका कारण बतलाया, उसे समझा बुझाकर वहींपर रक्खा हेमागद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वह रक्खा, अपने सब छोटे भाइयोंको अच्छी तरह सेनाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया और फिर कुछ आप्त पुरुषोंके साथ अयोध्याकी ओर गमन किया ॥१०९–११३॥ अयोध्या पहुचने पर अर्ककीर्ति आदि अच्छे अच्छे पुरुषोंने सामने आकर जिसका स्वागत किया है, तथा जो बडे स्नेह और आदरके साथ अर्ककीर्तिसे वार्तालाप कर रहा है ऐसे राजा जयकुमारने अनुराग करनेवालोंके साथ साथ बडे प्रेमसे अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य ऐसे पुरुष कौन है जो राजमान्य पुरुषकी पूजा न करें ॥११४–११५॥ जिस प्रकार इन्द्र समवसरणके बाह्य दरवाजेपर पहुचकर हाथीसे उतरता है उसी प्रकार जयकुमार भी राजभवन के बाह्य दरवाजेपर पहुचकर हाथीसे उतरा और सभागृहमें पहुचा। उस सभागृहकी जमीन मणियोंसे जडी हुई थी उसके मध्यमें एक रत्नमण्डप था जो कि देदीप्यमान रत्नोंसे जडे हुए खभोंसे भरा हुआ था, अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्रोंसे तने हुए चदेवोंसे सुशोभित था, मणियों और मोतियोंसे गुथे हुए लम्बे लम्बे फनूस रूप आभूषणोंसे युक्त था, और बहुमूल्य रत्नोंकी कान्तिके जालसे व्याप्त था। जिस प्रकार उदयाचलपर सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार उस रत्नमण्डपमें ऊंचे सिंहासनपर बैठे हुए महाराज भरत सुशोभित हो रहे थे। जिस प्रकार ज्योतिषी देवोंके समूहमें चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत भी अनेक राजाओं से सुशोभित हो रहे थे, उनपर अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर ढुलाये जा रहे थे इन्द्रके

---

१ राजसमूहम् । २ उपविश्य । ३ गजम । ४ प्रतिबोध्य । ५ कारणम । ६ अयोध्या प्रति । ७ मुख्य । ८ पूजित । ९ चक्रवर्तीव । १० समवसरणमिव भूपते सभागृहमिति सम्बन्ध । ११ सभागृहस्य । १२ पट्टवस्त्रकृत । १३ रचित । १४ दाम । १५ रत्नमण्डपे स० । १६ चामरै ।

वेष्टितं वेन्द्रधनुषा नानाभरणरोचिषा । रोचिषेव धृताकारं पूज्यं पुण्यैश्चतुर्विधैः[1] ॥१२०॥
तुङ्गसिंहासनासीनं भास्वन्तं वोदयाद्रिगम् । राजराजं समालोक्य बहुशो भक्तिनिर्भरः ॥१२१॥
स वा प्रणम्य तीर्थेशं स्पृष्ट्वाऽष्टाङ्गैर्धरातलम् । करं प्रसार्य सम्भाव्य [2]राजवासन्नमासनम् ॥१२२॥
निजहस्तेन निर्दिष्टं [3]दृष्ट्यालङ्कृत्य तुष्टवान् । व्यभासिष्ट[4] सभामध्ये स तदाऽन्येन[5] तेजसा ॥१२३॥
प्रसन्नवदनेन्दूद्यदाह्लादिवचनांशुभिः । वधूः किमिति नानीता तां द्रष्टुं वयमुत्सुकाः ॥१२४॥
वयं किमिति [6]नाहूतास्त्वद्विवाहोत्सवे नवे । अकम्पनैरिव युक्तं [7]सनाभिभ्यो बहिष्कृताः ॥१२५॥
[8]नन्वहं त्वत्पितृस्थाने मां पुरस्कृत्य कन्यका । त्वयाऽसौ परिणेतव्या त्वं तद्विस्मृतवानसि ॥१२६॥
इत्यकृत्रिमसामोक्त्या तर्पितश्चक्रवर्तिना । तदा विभावयन् भक्तिं स्ववक्त्रं मणिकुट्टिमे ॥१२७॥
नत्वाऽपश्यत्प्र[9]सादीव प्रतिगृह्य प्रमोदयाम् । जयः प्राञ्जलिरुत्थाय राजराजं व्यजिज्ञपत् ॥१२८॥
काशीदेशेशिना देव देवस्याज्ञाविधायिनाम् । विवाहविधिभेदेषु प्रागप्यस्ति स्वयंवरः ॥१२९॥
इति सर्वैः समालोच्य सचिवैः शास्त्रवेदिभिः । कल्याणं तत्समारब्धं दैवेन कृतमन्यथा ॥१३०॥
शान्तं तत्त्वत्प्रसादेन मम मूलोच्छेदकारणम् । रणं शरणमायातं इत्येव भवतः क्रमौ ॥१३१॥
सुरखेचरभूपालास्त्वत्पदाम्भोरुहालिनः । चक्रेणाक्रान्तदिक्चक्र किङ्करास्तत्र कोऽस्म्यहम् ॥१३२॥

धनुषके समान अनेक प्रकारके आभरणोंकी कान्तिसे वेष्टित थे अतएव ऐसे जान पड़ते थे मानो कान्तिसे ही उनका शरीर बनाया गया हो और चारों प्रकारके (शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र और सातावेदनीय) पुण्योंसे पूज्य थे। इस प्रकार राजराजेश्वर महाराज भरतको देखकर भक्तिसे भरे हुए जयकुमारने तीर्थ करकी तरह आठों अंगोंसे जमीनको छूकर अनेक बार प्रणाम किया। महाराज भरतने भी हाथ फैलाकर उसका सन्मान किया तथा अपने हाथसे बतलाये हुए अपने निकटवर्ती आसनपर बैठाकर प्रसन्न दृष्टिसे अलंकृत किया। इस प्रकार संतुष्ट हुआ जयकुमार सभाके बीच एक विलक्षण तेजसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था। ॥११६–१२३॥ तदनन्तर महाराज भरत अपने प्रसन्न मुखरूपी चन्द्रमासे निकलते हुए और सबको आनन्दित करनेवाले वचनरूपी किरणोंसे सबको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहने लगे कि क्यों जयकुमार, तुम वहूको क्यों नहीं लाये?, हम तो उसे देखनेके लिये बड़े उत्सुक थे, इस नवीन विवाहके उत्सवमें तुमने हम लोगोंको क्यों नहीं बुलाया? महाराज अकम्पनने अपने भाई बन्धुओंसे हमको अलग कर दिया क्या यह ठीक किया? अरे, मैं तो तुम्हारे पिताके तुल्य था तुम्हें मुझे आगे कर सुलोचनाके साथ विवाह करना चाहिये था, परन्तु तुम यह सब भूल गये इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा स्वाभाविक शान्त वचनोंसे संतुष्ट किया हुआ जयकुमार उस समय अपनी भक्तिको प्रकट करता हुआ नमस्कार कर अपराधीके समान अपना मुँह मणियोंसे जड़ी हुई जमीनमें देखने लगा। फिर महाराज भरतसे दया प्राप्तकर हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और राजाधिराज चक्रवर्तीसे इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥१२४–१२८॥ हे देव, आपके आज्ञाकारी काशीनरेशने विवाहविधिके सब भेदोंमें एक स्वयंवरकी विधि भी पहलेसे चली आ रही है इस प्रकार शास्त्रोंको जाननेवाले सब मन्त्रियोंके साथ सलाह कर यह उत्सव प्रारम्भ किया था परन्तु दैवने उसे उल्टा कर दिया ॥१२९–१३०॥ मेरा मूल सहित नाश करनेवाला वह युद्ध शान्त हो गया इसलिये ही यह सेवक आपके चरणोंमें आया है ॥१३१॥ हे चक्रके द्वारा समस्त दिशाओंपर आक्रमण करनेवाले महाराज, और देव, विद्याधर और राजा आपके चरणकमलोंके भ्रमर होकर सेवक बन रहे हैं फिर भला मैं उन

1 शुभायुर्नामगोत्रसद्वेद्यरूपैः । 2 चक्रिणः । 3 दिष्ट्या ट० । प्रीत्या । 4 राजते स्म । 5 नूतनेन । 6 असाहूताः । 7 बन्धुभ्यः । 8 अहो । 9 प्रसादवान् । प्रसादीव स० ।

[1]देवेनानन्यसामान्यमानना मम कुर्वता । [2]ऋणीकृत-[3]क्व [4]वाऽऽनृण्यं भवान्तरशतेष्वपि ॥१३३॥
नाथेन्दुवंशसरोहौ[5] पुरुणा विहितौ त्वया । वर्द्धितौ पालितौ स्थापितौ च यावद्धरातलम् ॥१३४॥
इति प्रश्रयिणीं वाणीं श्रुत्वा तस्य निधीश्वरः । तुष्टया सम्पूज्य पूजाविद्वस्त्राभरणवाहनैः ॥१३५॥
दत्वा सुलोचनायै च तद्योग्यं विससर्ज तम् । महीं प्रियामिवालिङ्ग्य तं[6] प्रणम्य ययौ जयः ॥१३६॥
सम्पत्सम्पन्नपुण्यानाम् अनुबध्नाति[7] सम्पदम् । पौरैर्वनी[8]पकानीकैः स्तूयमानस्वसाहसः ॥१३७॥
पुराद् गजं समारुह्य निष्क्रम्याप्सु[9]र्मनःप्रियाम् । सद्यो गङ्गां समासन्नः स्वमनोवेगचोदितः ॥१३८॥
शुष्कभूरुहशाखाग्रे सम्मुखीभूय भास्वतः[10] । [11]ध्वनन्तं [12]ध्वाङ्क्षमालोक्य कान्तायाश्चिन्तयन्भयम् ॥१३९॥
मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात् तादृशो धिग् सुखं रते । समाश्वास्य तदोपायैः सुखमास्ते सुलोचना ॥१४०॥
जलाद् भयं भवेत् किञ्चिद् अस्माकं शकुनादितः । इत्युदीर्येङ्गितज्ञेन शकुनज्ञेन सान्त्वितः[13] ॥१४१॥
सुरदेवस्य[14] तद्वाक्यं कृत्वा प्राणावलम्बनम् । व्रजन् स सत्वरं मोहाद् [15]अतीर्थेऽचोदयद् गजम् ॥१४२॥
हेयोपादेय[16]विवेकः कः कामिनां मुग्धचेतसाम् । उत्पुष्करं स्फुरद्दन्तं [17]प्रोद्यत्प्रतिमानकम् ॥१४३॥

सबमें कौन हूं ?—मेरी गिनती ही क्या है ? ॥१३२॥ हे देव, जो दूसरे साधारण पुरुषोंको न प्राप्त हो सके ऐसा मेरा सन्मान करते हुए आपने मुझे ऋणी बना लिया है सो क्या सैकड़ों भवोंमें भी कभी इस ऋणसे छूट सकता हूं ? ॥१३३॥ हे स्वामिन्, ये नाथवंश और चन्द्रवंशरूपी अंकुर भगवान् आदिनाथके द्वारा उत्पन्न किये गये थे और आपके द्वारा वर्धित तथा पालित होकर जबतक पृथिवी है तबतकके लिये स्थिर कर दिये गये हैं ॥१३४॥ आदर सत्कारको जाननेवाले महाराज भरत इस प्रकार विनयसे भरी हुई जयकुमारकी वाणी सुनकर बहुत ही संतुष्ट हुए, उन्होंने वस्त्र, आभूषण तथा सवारी आदिके द्वारा जयकुमारका सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिये भी उसके योग्य वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसे विदा किया । जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथिवीका आलिंगनकर महाराज भरतको प्रणाम किया और फिर वहांसे चल दिया । इसलिये कहना पड़ता है कि पुण्य सम्पादन करनेवाले पुरुषोंकी संपदाएं सम्पदाओंको बढ़ाती हैं । इस प्रकार नगरनिवासी लोग और याचकोंके समूह जिसके साहसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा वह जयकुमार हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर निकला और अपनी हृदयवल्लभाको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ अपने मनके वेगसे प्रेरित हो शीघ्र ही गंगाके किनारे आ गया ॥१३५–१३८॥ *वहांपर सूखे वृक्षकी डालीके अग्रभागपर सूर्यकी ओर मुंह* कर रोते हुए कौएको देखकर वह कुमार प्रियाके भयकी आशंका करता हुआ वैसा शूरवीर होनेपर भी प्रेमके वश मूर्च्छित हो गया । आचार्य कहते हैं कि ऐसे रागसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । चेष्टासे हृदयकी बातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसी समय अनेक उपायोंसे सचेतकर आश्वासन दिया और कहा कि सुलोचना तो अच्छी तरह है । इस शकुनसे यही सूचित होता है कि हम लोगोंको जलमें कुछ भय होगा इस प्रकार कहकर पुरोहितने जयकुमारको शान्त किया ॥१३९–१४१॥ उस पुरोहितके वचनोंको प्राणोंका सहारा मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और भूलसे उसने अघाटमें ही हाथी चला दिया सो ठीक ही है, क्योंकि विचारहीन कामी पुरुषोंको हेय उपादेयका ज्ञान कहां होता है ?

१ अत्रमनन । २ ऋणेन बद्धान् कृत, । ३ कस्मिन् भवान्तरे । ४ वा अवधारणे । आनृण्यम् अनृणत्वम् । ५ जन्मनी । ६ चक्रिणम् । ७ जनयति । ८ याचक । ९ प्राप्तुमिच्छुः । १० रवेः । ११ ध्वनन्तम् । १२ वायसम् । 'काके तु करटारिष्टवलिपुष्टसकृत्प्रजाः । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्-वलिभुग्वायसा अपि ।' इत्यभिधानात् । १३ सामवचनेन । १४ सानुनिकस्य । १५ अजलोत्तारप्रदेशे । 'तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदा परे । पुण्यारण्ये जलोत्तारे महानद्यां महामुनौ ।' १६ उपादेय । १७ प्रोद्गतकुम्भस्थलस्याधोभागप्रदेशकम् । 'अध कुम्भस्य वाहीत्थ प्रतिमानमधोऽस्य यत् ।' इत्यभिधानम् ।

तरन्तं[1] मकराकारं मध्येह्रदमिभाधिपम् । देवी कालीति पूर्वोक्ता[2] सरय्वा[3] सङ्गमेऽग्रहीत् ॥१४४॥
[4]नक्राकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महतां बली । दृष्ट्वा गजं निमज्जन्तं प्रत्यागत्य[5] तटे स्थिताः ॥१४५॥
ससंभ्रमं सहापेतुः[6] ह्रदं हेमाङ्गदादयः । सुलोचनाऽपि तान्वीक्ष्य कृतपञ्चनमस्कृतिः ॥१४६॥
मन्त्रमूर्तीन् समाधाय हृदये भक्तितोऽर्हतः । उपसर्गापसर्गान्ति त्यक्ताहारशरीरिका ॥१४७॥
प्राविशद् बहुभिः सार्धं गङ्गां गङ्गेव देवता । [10]गङ्गाप्रपातप्रतिष्ठानगङ्गाकूटाधिदेवता ॥१४८॥
विबुध्यासनकम्पेन कृतज्ञाऽऽगत्य सत्वरम् । [11]तदानयत्तटं सर्वान् सन्तर्ज्य खलकालिकाम् ॥१४९॥
स्वयमागत्य केनात्र रक्षन्ति कृतपुण्यकान् । गङ्गातटे विकृत्याशु[12] भवनं सर्वसम्पदा ॥१५०॥
मणिपीठे समास्थाप्य पूजयित्वा सुलोचनाम् । तव[13] दत्तनमस्काराज्जाते[14] गङ्गाधिदेवता ॥१५१॥
त्वत्प्रसादादिदं सर्वम् [15]अवबद्धामरेशिनः । तथेत्युक्ते[16] जयोऽप्येतत्[17] किमित्याह सुलोचनाम् ॥१५२॥
उपविन्ध्याद्रि[18] विख्यातो विन्ध्यपुर्यामभूद् विभुः । विन्ध्यकेतुः प्रिया तस्य प्रियङ्गुश्रीस्तयोः सुता ॥१५३॥

वह हाथी पानीमें चलने लगा, उस समय उसकी सूंडका अग्रभाग ऊंचा उठा हुआ था, दांत चमक रहे थे गडस्थल पानीके ऊपर था और आकार मगरके समान जान पडता था, इस प्रकार तैरता हुआ हाथी एक गढेके बीच जा पहुचा। उसी समय दूसरे सर्पके साथ समागम करते समय जिस सर्पिणीको पहले जयकुमारके सेवकोने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धरकर जहा सरयू गगा नदीसे मिलती है उस हाथीको पकड लिया सो ठीक ही है क्योकि अपने देशमे रहनेवाला क्षुद्र भी बडो बडोसे बलवान् हो जाता है। हाथीको डूबता हुआ देखकर कितने ही लोग लौटकर किनारेपर खडे हो गये परन्तु हेमाङ्गद आदि घबडाकर उसी गढेमें एक साथ घुसने लगे। सुलोचनाने भी उन सबको गढेमें घुसते देख पच नमस्कार मन्त्रका स्मरण किया, उसने मन्त्रकी मूर्तिस्वरूप अर्हन्त भगवान्को बडी भक्तिसे अपने हृदयमे धारण किया और उपसर्गकी समाप्ति तक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥१४२–१४७॥ सुलोचना भी अनेक सखियोके साथ गगामें घुस रही थी और उस समय ऐसी जान पडती थी मानो गङ्गादेवी ही अनेक सखियोके साथ गगा नदीमे प्रवेश कर रही हो। इतनेमें ही गगाप्रपात कुण्डके गगाकूटपर रहनेवाली गगादेवीने आसन कपायमान होनेसे सब समाचार जान लिया और किये हुए उपकारको माननेवाली वह देवी बहुत शीघ्र आकर दुष्ट कालिका देवीको डॉटकर उन सबको किनारेपर ले आई ॥१४८–१४९॥ सो ठीक ही है क्योकि इस ससारमे ऐसे कौन है जो पुण्य करनेवालोकी स्वय आकर रक्षा न करें। तदनन्तर उस देवीने गगा नदीके किनारेपर बहुत शीघ्र अपनी विक्रिया द्वारा सब सम्पदाओसे सुशोभित एक भवन बनाया, उसमें मणिमय सिंहासनपर सुलोचनाको बैठाकर उसकी पूजा की और कहा कि तुम्हारे दिये हुए नमस्कार मन्त्रसे ही मैं गगाकी अधिष्ठात्री देवी हुई हू और सौधर्मेन्द्रकी नियोगिनी भी हू, यह सब तेरे ही प्रसादसे हुआ है। गगादेवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने भी सुलोचनासे पूछा कि यह क्या बात है? ॥१५०–१५२॥ सुलोचना कहने लगी कि विन्ध्याचल पर्वतके समीप विन्ध्यपुरी नामकी नगरीमें विन्ध्यकेतु नामका एक प्रसिद्ध

---

१ वर्तमानं तरन्तं सन्तम्। २ ह्रदस्य मध्ये। ३ पूर्वस्मिन् भवे जयेन सह वनं धर्मं श्रुतवत्या नागया सह स्थितविजातीयसहचरी। ४ सरयूनद्या। ५ गङ्गाप्रदेशस्थाने। ६ कुम्भीरवारणे। नक्रस्तु कुम्भीरः इत्यभिधानात्। ७ अभिमुखमागत्य। ८ ह्रदे प्रविष्टवन्तः। ९ उपसर्गविनाशपर्यन्तम्। १० गङ्गाप्रपातकुण्डस्था। ११ तान्–ल० द० अ० स० प०। १२ निर्माय। १३ त्वया वितीर्णपञ्चनमस्कारप्रसादात्। १४ अभूवम्। १५ विनामिनी (नियोगिनीति यावत्)। १६ गङ्गादेव्या। १७ जयकुमारोऽप्यवदत् किमिति पृष्टवान्। १८ विन्ध्याचलसमीपे।

विन्ध्यश्रीस्तां पिता तस्याः शिक्षितुं सकलान् गुणान् । मया सह मयि स्नेहान्महीशस्य[1] समर्पयत् ॥१५४॥
वसन्ततिलकोद्याने क्रीडन्ती [2]सैकदा दिवा । दष्टा तत्र मया दत्तनमस्कारपदान्यलम् ॥१५५॥
भावयन्ती मृताऽजेयं भूत्वायात्[3] स्नेहिनी मयि । इत्यब्रवीदसौ[4] सोऽपि ज्ञात्वा सन्तुष्टचेतसा ॥१५६॥
तत्कालोचितसम्मोक्त्या गङ्गादेवीं विसर्ज्य ताम् । सबलाकं[5] प्रकुर्वन्तं स्वं चलत्केतुमालया ॥१५७॥
स्वावासं सम्प्रविश्योच्चैः सप्रियः सहबन्धुभिः । सस्नेहं राजराजोक्तम्[6] उक्त्वा[7] तत्प्रहितं[8] स्वयम् ॥१५८॥
पृथक् पृथक् [9]प्रदायातिमुदमामन्त्र्य[10] वल्लभाम् । नीत्वा [11]तत्रैव तां रात्रिं प्रातरुत्थाय सानुगः ॥१५९॥
विधातुमनुरक्तानां[12] भुक्ति[13]मिनो द्योतिताखिलः[14] । अनुगङ्गं प्रयान् प्रेम्णा कामिन्याः कुरुवल्लभः[15] ॥१६०॥
कमनीयैरतिप्रीतिम् आलापै रतनोत्तराम् । जाह्नवी[16] दर्शितावर्तनाभिः कूलनितम्बिका ॥१६१॥
[17]चटुलोज्ज्वलपाठीनलोचना रमणोन्मुखी[18] । तरङ्गबाहुभिर्गाढमालिङ्गनसमुत्सुका ॥१६२॥
स्वभावसुभगा हृद्यहृदया स्वच्छतागुणात् । तटद्वयवनोत्फुल्लसुमनोमालधारिणी ॥१६३॥
[19]प्रतिवृद्धरसा[20] वेगं सम्वर्तुमसहा द्रुतम् । पश्य कान्ते प्रियं याति स्वानुरूपं पयोनिधिम् ॥१६४॥
रतेः कामाद् विना नेच्छा न नीचेषूत्तमस्पृहा । सङ्गमे [21]तन्मयी जाता प्रेम नामेदृशं मतम् ॥
माहात्म्यमेतया[22] नित्यम् एति सादृश्यमप्युपे:* ॥१६५॥

राजा रहता था। उसकी स्त्रीका नाम प्रियङ्गुश्री था। उन दोनोंके विन्ध्यश्री नामकी पुत्री थी। उसके पिताने मुझपर प्रेम होनेसे मेरे साथ सब गुण सीखनेके लिये उसे महाराज अकंपनको सौंप दिया ॥१५३–१५४॥ वह विन्ध्यश्री किसी एक दिन उपवनमें क्रीड़ा कर रही थी, वहींपर उसे किसी सांपने काट लिया जिससे मेरे द्वारा दिये हुए पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तवन करती हुई मरकर यह देवी हुई है और मुझपर स्नेह होनेके कारण यहां आई है यह जानकर जयकुमारने संतुष्टचित्त हो शान्तिमय वचन कहकर गंगादेवीको विदा किया। तदनन्तर अपनी प्रिया सुलोचना और इष्ट-बन्धुओंके साथ साथ, फहराती हुई पताकाओंके द्वारा अपने आपको बगुलाओंसे सहित करते हुएके समान जान पड़नेवाले अपने ऊंचे डेरेमें प्रवेश किया। बड़े स्नेहसे महाराज भरतके कहे वचन सबको सुनाये, उनकी दी हुई भेंट सबको अलग अलग दी। सुलोचनाको अत्यन्त प्रसन्न किया, वह रात्रि वहीं बिताई और सवेरा होते ही उठकर अपनेमें अनुराग रखनेवाले लोगोंके भोजनके लिये सूर्यके समान समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह कुरुवंशियोंका प्यारा जयकुमार सुलोचनाके प्रेमसे गंगा नदीके किनारे किनारे चलने लगा ॥१५५–१६०॥ वह जाते समय मनोहर वचनोंसे सुलोचनाको बहुत ही संतुष्ट करता जाता था। वह कहता था कि हे प्रिये, देखो यह गंगा नदी अपने अनुरूप समुद्ररूपी पतिके पास बड़ी शीघ्रतासे जा रही है, यह भंवरों नाभिरूपी और दिखला रही है, दोनों किनारे ही इसके नितम्ब हैं, चंचल और उज्ज्वल मछलियां ही नेत्र हैं, यह क्रीड़ा अथवा पतिके लिये सन्मुख है, तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा गाढ़ आलिंगनके लिये उत्कण्ठित सी जान पड़ती है, स्वभावसे सुन्दर है, अपने स्वच्छतारूपी गुणोंसे सबका हृदय हरनेवाली है, दोनों किनारोंपर वनके फूले हुए पुष्पोंकी माला धारण कर रही है, इसका रस अथवा पानी सब ओरसे बढ़ रहा है और अपना वेग नहीं संभाल सक रही है ॥१६१–१६४॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके विना रतिकी

---

१ अकम्पनस्य। २ विन्ध्यश्री। ३ आगच्छति स्म। ४ सुलोचना। ५ बिसकण्ठिकासहितम्। 'बलाका बिसकण्ठिका' इत्यभिधानात्। ६ चक्रिणा प्रोक्तम्। ७ भणित्वा। ८ चक्रिप्रेषितम्। ९ दत्त्वा। १० आपृच्छ्य। ११ स्कन्धावारे। १२ कर्तुम्। १३ अशितव्यादिव्यापारविनयजम्। १४ प्रकाशितसकललोक.। १५ जयः। १६ गङ्गा। 'गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा' इत्यभिधानात्। १७ चञ्चल। १८ समुद्रेण सह रतिक्रीडोन्मुखी। निजपतिसमुद्राभिमुखी वा। १९ अभिवृद्ध–ज०। २० जलस्यागमनाद् वेगम्। रागोद्रेकं च। २१ समुद्रस्वरूपा। २२ गङ्गया। *षट्पादोऽयं श्लोकश्चिन्त्यः।

उत्पत्तिर्भूभृता[1] पत्युर्धरण्यां वर्धिता सती[2] । वार्धिरेव पतिस्तस्माद् एवाऽभूत् पापनाशिनी ॥१६६॥
धवला धार्मिकैर्मान्या सतीनामुपमानताम् । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तूयते देवतेति च ॥१६७॥
[3]गुणिनश्चेन्न के [4]नाथा संस्तुवन्ति गुणप्रियाः । [5]इति गङ्गागतैः श्रव्यैः कथैश्चातिमनोहरैः ॥१६८॥
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः कुरुजाङ्गलम् । प्राप्य तद्वर्णनाव्याजान्मोदयन् कान्तिपात्मजाम्[6] ॥१६९॥
[7]प्राप्तजनपदानीतफलपुष्पादिभिश्च सः । विकसन्नीलनीरेजसरोजातिविराजितैः ॥१७०॥
प्रत्येत्येव[8] प्रपश्यन्तीं सरोनेत्रैर्वधूवरम् । [9]सद्वप्रजघनाभोगां वापीकूपोरुनाभिकाम् ॥१७१॥
परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिसूत्रिकाम् । अलङ्कृतमहावीथीविलसद्बाहुवल्लरीम् ॥१७२॥
सौधोत्तुङ्गकुचां भास्वद्गोपुराननशोभिनीम् । कुङ्कुमागुरुकर्पूरकर्दमार्द्रितगात्रिकाम् ॥१७३॥
नानाप्रसवसन्दृब्धमालाधम्मिल्लधारिणीम् । तोरणाबद्धरत्नादिमालालङ्कृतविग्रहाम् ॥१७४॥
आह्वयन्तीमिवोर्ध्वाधः पतत्केतुग्रहस्तकैः । द्वारासंवृतिविश्रम्भनेत्रां[10] [11]वासान्तरुत्सुकाम् ॥१७५॥
पुरोहितं [12]पुरन्ध्रीभिर्मन्त्रिभिर्वश्यविश्रुतं । वत्सकोश पुरः स्थित्वा साशीर्वादं समुत्सुकं ॥१७६॥

इच्छा नही होती है, उत्तम पुरुषोकी इच्छाए नीच पदार्थोपर नही होती हैं, यह नदी समुद्रमें जाकर समुद्ररूप ही हो गई है सो ठीक ही है क्योकि प्रेम ऐसा ही होता है, इसके समागमसे ही समुद्रका लावण्य (सौन्दर्य अथवा खारापन) सदा सफल होता है ॥१६५॥ इस गगा नदीकी उत्पत्ति पर्वतोके पति–हिमवान् पर्वतसे है, पृथिवीपर यह बढी है और समुद्र ही इसका पति है इसलिये ही यह ससारमे पापोका नाश करनेवाली हुई है ॥१६६॥ यह सफेद है धर्मात्मा लोगोके द्वारा मान्य है, सतियोको इसकी उपमा दी जाती है और सब कवीश्वर यदि गुणीजनोकी स्तुति न करे तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा ? इस प्रकार सुननेके योग्य गङ्गा सम्बन्धी तथा अन्य अत्यन्त मनोहर कथाओ द्वारा मार्ग तय किया । ॥१६७–१६८॥ तदनन्तर कुछ ही पडावो द्वारा कुरुजागल देश पहुचकर उसके वर्णनके बहानेसे सुलोचनाको आनन्दित करते हुए जयकुमारने अपनी उस हस्तिनागपुरी नामकी राजधानीमें प्रवेश किया जो कि देशोंके प्रधान प्रधान पुरुषो द्वारा लाये हुए फल पुष्प आदिकी भेट तथा खिले हुए नील कमल और सफेद कमलोसे अत्यन्त सुशोभित सरोवररूपी नेत्रोसे ऐसी जान पडती थी मानो आगे आकर वधू वरको देख ही रही हो। उत्तम धूलीसाल ही जिसका विस्तृत जघन प्रदेश था, बावडी और कुए ही जिसकी विशाल नाभि थी, चारो ओर खडा हुआ सुवर्णका ऊचा परकोटा ही जिसकी करधनी थी, सजी हुई बडी बडी गलिया ही जिसकी सुशोभित बाहुलताए थी, राजभवन ही जिसके ऊचे कुच थे, देदीप्यमान गोपुररूपी मुखसे जो सुशोभित हो रही थी, केशर अगुरु और कपूरके विलेपनमे जिसका शरीर गीला हो रहा था, जो अनेक प्रकारके फूलोसे गुंथी हुई मालारूपी केशपाशको धारण कर रही थी, तोरणोमें बाधी गई रत्न आदिकी मालाओसे जिसका शरीर सुशोभित हो रहा था, जो ऊपर नीचे उडती हुई पताकाओके अग्रभागरूपी हाथो से बुलाती हुई सी जान पडती थी, खुले हुए दरवाजे ही जिसके विश्वासपूर्ण नेत्र थे, जो घर-घर होनेवाले उत्सवोसे उत्कण्ठित सी जान पडती थी और इस प्रकार जो दूसरी सुलोचनाके समान सुशोभित हो रही थी । महाराजके दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठित हो आशीर्वाद देने-

---

१ हिमवद्गिरेः । २ प्रशस्ता । ३ गुणवज्जनान् । ४ अन्यथा । पाठान्तरे अ०, प०, स०, म०, ल० । ५ इति गङ्गागतैरित्यनेन सह कमनीयैरतिप्रीतिमात्रादैरिति सम्बन्धः । ६ सुलोचनाम् । ७ सम्प्राप्तजनपदजनानीत । ८ अभिमुखमागत्य । ९ प्रशस्तधूलिकुट्टिमघनविस्ताराम् । १० कवाटपिधानरहितद्वारनयनामित्यर्थः । ११ गृहमध्ये गोत्सवाम । १२ कुटुम्बिनीभि ।

तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः पुरन्दर इवापरः । सुलोचनादिवाल्यां स्वां प्रविश्य नगरीं जयः ॥१७७॥
राजगेहं महानन्दविधायि विविधर्धिभिः । [1]आवसत् कान्तया सार्धं नगर्या [2]हृदयं मुदा ॥१७८॥
तिथ्यादिपञ्चभिः[3] शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवम् । सर्वसन्तोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरम् ॥१७९॥
विश्वमङ्गलसम्पत्त्या स्वोचितासनमुस्थिताम् । हेमाङ्गदादिसान्निध्ये राजा जातमहोदयः[4] ॥१८०॥
सुलोचनां महादेवीपट्टबन्धं [5]व्यधान्मुदा । स्त्रीषु सञ्चितपुण्यासु पत्युरेवादृता रतिः ॥१८१॥
हेमाङ्गदं [6]ससोदर्यम् उपचर्य ससम्भ्रमम् । पुरोभूय[7] स्वयं सर्वैर्भोग्यैः [8]प्राघूर्णकोचितैः ॥१८२॥
नृत्यगीतसुखालापैर्वारणारोहणादिभिः । वनवापीसरःक्रीडाकन्दुकादिविनोदनैः ॥१८३॥
[9]अहानि स्थापयित्वैवं सुखेन कतिचित्कृती । तद्योग्येभाश्वशस्त्रगणिकाभूषणादिकम् ॥१८४॥
प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितम् । चतुर्विधेन[10] कोशेन [11]तत्पुरीं [12]तमजीगमत्[13] ॥१८५॥
सुखप्रयाणैः सम्प्राप्य दृष्ट्वा भूपं[14] सहप्रभम्[15] । प्रणम्याह्लादयन्नस्थात् स वधूवरवार्तया ॥१८६॥
सुखं काले गलत्येवमकम्पनमहीपतिः । तदा सञ्चिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥१८७॥
अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन सङ्गिना । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरम् ॥१८८॥

वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियां, मन्त्री और प्रसिद्ध प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर जिसे शेषाक्षत दे रहे हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरही आदि माङ्गलिक बाजोंके शब्दोंके साथ साथ दूसरे इन्द्रके समान अपनी उस हस्तिनागपुरीमें प्रवेश कर अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे बहुत भारी आनन्द देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें प्रिया सुलोचनाके साथ साथ बड़े आनन्दसे निवास किया ॥१७०–१७८॥

तदनन्तर बड़े भारी अभ्युदयको धारण करनेवाले महाराज जयकुमारने शुद्ध तिथि, शुद्ध नक्षत्र आदि पांचों बातोंसे निर्दोष लग्नमें बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको संतुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मंगल-संपदाओंके साथ साथ हेमांगद आदि भाइयोंके सामने ही अपने योग्य आसनपर बैठी हुई सुलोचनाको बड़े हर्षसे पट्टबन्ध बांधा अर्थात् पट्टरानी बनाया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यसंचय करनेवाली स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥१७९–१८१॥ उसके बाद कुशल जयकुमारने स्वयं आगे होकर पाहुनोंके योग्य सब प्रकारके भोगोपभोगोंसे, नृत्य, गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी आदिकी सवारीसे, वन, वापिका, तालाब आदिकी क्रीड़ाओंसे और गेंद आदिके खेलोंसे प्रसन्नतापूर्वक हेमाङ्गद और उनके भाइयोंकी सेवा की, कुछ दिन तक उन्हें बड़े सुखसे रक्खा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी, घोड़े, अस्त्र, गणिका तथा आभूषण आदि देकर उनके परिवारके लोगोंको यथायोग्य सन्तुष्ट किया और फिर रत्न, सोना, चांदी तथा रुपये-पैसे आदि चारों प्रकारका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर बनारसको विदा किया । ॥१८२–१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही पड़ाव चलकर वे हेमांगद आदि बनारस पहुंचे और माता सुप्रभाके साथ राजा अकम्पनके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और जयकुमार तथा सुलोचनाकी बातचीतसे माता-पिताको आनन्दित करते हुए रहने लगे ॥१८६॥

इस प्रकार सुखपूर्वक बहुत सा समय व्यतीत होनेपर एक दिन महाराज अकंपन काम-भोगोंसे विरक्त होकर इस प्रकार सोचने लगे ॥१८७॥ कि मुझ प्रमादीने विषयोंसे अन्धा

---

१ निवसति स्म । २ नगरीजनचित्ते इत्यर्थः । ३ तिथिनक्षत्रयोगकरणैः । तिथिनक्षत्रहोरावार-मुहूर्तैर्वा । ४ महोत्सवे स० । ५ चकार । ६ सखानुजम् । ७ अग्रे भूत्वा । पुरस्कृत्य वा । ८ अतिथि । ९ दिनानि । १० रत्नसुवर्णरजतव्यवहार्योपयोग्यनाणकम् इति चतुर्विधेन । ११ वाराणसीम् । १२ हेमाङ्गदम् । १३ गमयति स्म । १४ अकम्पनम् । १५ सुप्रभादेवीसहितम् ।

आदावशुच्युपादानम्[1] अशुच्यवयवात्मकम् । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुश्चेष्टितालयम् ॥१८९॥
निरन्तरस्रवोत्कोथनवद्वारशरीरकम्[2] । [3]कृमिपुञ्जचिताभस्मविष्ठानिष्ठं विनश्वरम् ॥१९०॥
[4]तदध्युष्य[5] जडो जन्तुस्तप्तः पञ्चेन्द्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः[6] कुलिङ्गीव भूयोऽयात्[7] कुत्सितां गतिम् ॥
साऽऽशाखनिः[8] किलात्रैव[9] यत्र[10] [11]विश्वमणूपमम् । तां[12] पुपूर्षुः[13] किलाद्याहं धनैः सङ्ख्यातिगैर्घनैः[14] ॥
[15]यदादाय भवेज्जन्मी यं मुक्त्वा मुक्तिभाग्भवेत् । तद्याथात्म्यमिति[16] ज्ञात्वा कथं पुष्णाति[17] धीधनः ॥
हा हतोऽसि चिरं जन्तो मोहेनाद्यापि[18] ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः[19] क्वातिः[20] दुर्लभः ॥
दुःखी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दुःख्येव केवलम् । [21]धन्यधन्योऽ[22]धनो धन्यो निर्धनो निधनः सदा ॥१९५॥
एवंविधैस्त्रिभिर्जन्तुरीप्सितानीप्सितैश्चिरम् । [23]चतुर्थं भङ्गमप्राप्य बम्भ्रमीति भवार्णवे ॥१९६॥
[24]यां [25]वष्टययमसौ वष्टि [26]परं वष्टि स चापराम् । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरम्परा[27] ॥१९७॥

होकर इतने दिन तक शरीर, ससार और भोगोकी असारता नही देखी यह बड़े खेदकी बात है ॥१८८॥ प्रथम तो यह शरीर अपवित्र उपादानो (माता पिताके रज वीर्य) से बना है फिर इसके सब अवयव अपवित्र है यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापरूप है और दु ख देनेवाली खोटी खोटी चेष्टाओका घर है ॥१८९॥ इसके नौ द्वारोसे सदा मल मूत्र बहा करता है और अन्तमें यह विनश्वर शरीर कीड़ोका समूह चिताकी राख तथा विष्ठा बनकर नष्ट हो जाने वाला है ॥१९०॥ ऐसे शरीरमे रहकर यह मूर्ख प्राणी, जिनमे ससारके सब पदार्थ ईधन रूप है ऐसी पाचो इन्द्रियोकी अग्नियोसे तपाया जाकर कुलिगी जीवके समान फिरसे नीच गतियोमें पहुचता है ॥१९१॥ जिसमें यह सारा ससार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशारूपी गढा इसी शरीरमें है, इसी आशारूपी गढेको मै आज थोड़ेसे धनसे पूरा करना चाहता हू ॥१९२॥ जिस शरीरको लेकर यह जीव जन्म धारण करता है—ससारी बन जाता है और जिसे छोड़कर यह जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार शरीरकी वास्तविकता जानकर भी बुद्धिमान् लोग न जाने क्यो उसका भरण-पोषण करते है ॥१९३॥ हे जीव खेद है कि तू मोहकर्मके द्वारा चिरकालसे ठगा गया है, क्योकि तुझे आजतक भी अपने शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान नही हो रहा है, जब यह बात है तब अत्यन्त दुर्लभ उसका त्याग भला कहाँ मिल सकता है ॥१९४॥ इस ससारमे जो दु खी है वे सुखी हो जाते है जो सुखी है वे दुःखी हो जाते है और कितने ही दुःखी दुःखी ही बने रहते है इसी प्रकार धनी निर्धन हो जाते है निर्धन धनी हो जाते है और कितने ही निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते है । इस तरह यह जीव जो सुखी है वह सुखी ही रहे और जो धनी है वह धनी ही बना रहे यह चौथा भग नही पाकर केवल ऊपर कहे हुए तीन तरहके भगोमे ही ससाररूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है। ॥१९५–१९६॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है जिसको यह चाहती है वह भी किसी अन्य स्त्रीको चाहता है इस प्रकार यह इष्ट अनिष्टकी

---

१ अशुचिशुक्रशोणितमुख्यकारणम् । २ पूतिनिर्गमित्वम् । ३ कृमीणां पुञ्जः चितायाः भस्म विष्ठा पूरीषा निष्ठा यस्य । यस्मिन् तत् । ४ तस्मिन् शरीरे । ५ स्थित्वा । ६ सकलविषयधनैः । ७ गच्छत् । ८ अभिलाषाकरः । ९ जन्तावत्र । १० आशागर्ते । ११ सकलवस्तु । १२ आशाखनिम् । १३ पूरयितुमिच्छुः । १४ स्वार्जितैः । १५ शरीरम् । १६ तच्छरीरस्य यथास्वरूपम् । १७ पुष्टिं करोति । १८ वैराग्योत्पत्तिपर्यन्तम् । १९ शरीरत्यागः । २० कुतोऽस्ति । २१ धनवान् । २२ धनरहितः । २३ सुखी सुखीति धनी धनीति चतुर्थभङ्गम् । २४ स्त्रियम् । २५ वष्टि इच्छति । अयम् पुमान् । २६ अन्यपुरुषम् । २७ अनिष्टानुष्टसम्पत्ति । वष्टि मा इच्छा इष्टाधिकात् ।

यदिष्टं तदनिष्टं स्याद् यदनिष्टं तदिष्यते[1]। इहेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥१९८॥
[2]स सा[3]सा [4]तत्तदेवैषा [5]सा स स्यात् सोऽपि[6]तत्पुनः। तत्स्यात्तत्तदेवात्र[7] चक्रके[8] वक्रसंक्रमः ॥१९९॥
अन्तमस्य[9] विधास्यामि चिन्तयित्वा जिनोदितम्। सततं जन्मकान्तारभ्रान्तो भीतोऽहमन्तकात् ॥२००॥
भोगोऽयं भोगिनो भोगो[10]भोगिनो[11]भोगिनामकृत्। [12]तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेष्विति ध्रुवम् ॥
भुज्यते[13]यः स भोगः स्याद् भुक्तिर्वा भोग[14] इष्यते। तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद् भोगेषु का रतिः ॥२०२॥
भोगास्तृष्णाग्निसंवृद्ध्यै[15]दीपनीयौषधोपमाः। [16]एभिः प्रवृद्धतृष्णाग्नेः [17]शान्त्यै चिन्त्यमिहापरम् ॥२०३॥
इत्यतो न सुधीः सद्यो वान्ततृष्णाविषो भृशम्। हेमाङ्गदं समाहूय [18]पूज्यपूजापुरस्सरम् ॥२०४॥
अभिषिच्य चलां मत्वा बध्वा पट्टेन वाऽचलाम्[19]। लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैः अभ्यासं वृषभेशिनः ॥२०५॥
प्रव्रज्य बहुभिः सार्धं [20]भूपैः स सुप्रभः[21]। क्रमाच्छ्रेणीं समारुह्य कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥
अथ जन्मान्तरायातमहास्नेहातिनिर्भरः। सुलोचनाननानन्द[22]मिन्दुबिम्बात् स्रुतां[23] सुधाम्[24] ॥२०७॥
[25]उन्मीलन्नीलनीरेजराजिभिर्लोचनैः[26] पिबन्। पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां [27]तद्गीर्गीतरसायनम् ॥२०८॥

परंपरा बहुत ही दुःख देनेवाली है ॥१९७॥ जो इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इस प्रकार संसारमें इष्ट अनिष्टकी स्थिति किसी एक स्थानपर नियमित नहीं रहती ? ॥१९८॥ आजका पुरुष अगले जन्ममें स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाती है, नपुंसक स्त्री हो जाता है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इस प्रकार इस चक्रमें बड़ा टेढ़ा संक्रमण करना पड़ता है ॥१९९॥ इसलिये श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका चिन्तवन कर मैं अवश्य ही इस संसारका अन्त करूंगा क्योंकि निरन्तर संसाररूपी वनके भीतर परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूं ॥२००॥ भोग करनेवाले मनुष्योंके ये भोग ठीक सर्पके फणाके समान हैं और भोगनेवाले जीवको भोगी नाम देनेवाले हैं। तथा इतना सब होनेपर भी उन भोगोंमेंसे एक भोग भी हमारा नहीं है यह निश्चय है ॥२०१॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग किया जाना भोग कहलाता है वे दोनों प्रकारके भोग नरकमें भी हैं इसलिये उन भोगोंमें क्या प्रेम करना है ? ॥२०२॥ जिस प्रकार औषधसे पेटकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार इन भोगोंसे भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अतः इन भोगोंसे बढ़ी हुई तृष्णारूपी अग्निकी शान्तिके लिये कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिये ॥२०३॥ इस प्रकार तृष्णारूपी विषको उगल देनेवाले बुद्धिमान् राजा अकम्पनने बहुत शीघ्र हेमाङ्गदको बुलाकर पूज्य-परमेष्ठियोंकी पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मीको चंचल समझ पट्टबन्धसे बांधकर उसे अचल बनाया और हेमांगदको सौंपकर श्रीभगवान् वृषभदेवके समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा धारण की तथा अनुक्रमसे श्रेणियां चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥२०४–२०६॥
अथानन्तर अन्य जन्मसे आये हुए बहुत भारी स्नेहसे भरा हुआ जयकुमार खुले हुए नील कमलोंके समान सुशोभित होनेवाले अपने नेत्रोंसे सुलोचनाके मुखरूपी आनन्ददायी

१ इष्टं भवति। २ स पुमान्। ३ सा स्त्री स्यात्। ४ तत् नपुंसकम्। ५ एषा स्त्री स्यात्। ६ तत् नपुंसकम्। ७ तदेव पुनपुंसकमेव स्यात्। ८ चक्रवद्भ्रमणसंसारे। ९ संसारस्य। १० सर्पस्य। ११ भोगीति नामकृत्। भोगीति नामकर। सर्पनामकृदित्यर्थः। १२ भोगीति नामकृन्मात्रोऽपि। १३ पदार्थः। १४ पदार्थानुभवनक्रिया। १५ दीपनहेतुः। १६ भोगैः। १७ उपशान्तिकारणम्। १८ परमेष्ठीपूजापूर्वकम्। १९ निश्चलं यथा भवति तथा। पट्टेन बद्ध्वा वा निबन्धनं कृत्वेव समर्प्येति सम्बन्धः। २० क्षत्रियैः। २१ सुप्रभादेवीसहितः। २२ आनन्दहेतुचन्द्र। २३ निःसृताम्। २४ कान्तिम्। २५ विकसन्नीलोत्पलवद्विराजमानैः। २६ नेत्रैः। -र्लोचनैः त०, विहाय सर्वम्। २७ सुलोचनावचनरूपगीतम्।

[1]हरन् परिकराकारकरालिङ्गनसङ्गतः[2] । [3]तद्गात्रकूपिकान्तःस्थं रसं [4]स्पर्शनवेदिनम् ॥२०९॥
तद्बिम्बाधरसम्भावितामृतास्वादनोत्सुकः । तद्वक्त्रवारिजामोदान्मोदमानोऽनिशं भृशम् ॥२१०॥
[5]अत्रैव न पुनर्नेति[6] मत्वा वामासमागमम्[7] । [8]स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥२११॥
[9]प्रमाणकालभावेभ्यो यद्रते समता तयोः । ततः सम्भोगशृङ्गारवारापारान्तगौ हि तौ ॥२१२॥

[10]अतिपरिणतरत्या लोपितालेपनादि[11]
स सकलकरणानां[12] गोचरीभूय[13] तस्याः ।
हितपरविषयाणां[14] साऽपि[15] [16]तस्यैवमेतौ
समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥२१३॥

मनसि मनसिजस्यावापि[17] सौख्यं न ताभ्यां
पृथगनुगतभावैः[18] सङ्गताभ्यां नितान्तम् ।
[19]करणमुखसुखैस्तैस्तन्मनः प्रीतिमापत्
भवति [20]परमुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥२१४॥

शिशिरसुरभिमन्दोच्छ्वासजैः स्वैः समीरैः
[21]मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः ।
ललिततनुलताभ्यां मार्दवैकाकराभ्याम्
अखिलमनयतां तौ सौख्यमात्मेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमासे झरते हुए अमृतको पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोंमें भरता था, हाथीकी सूंडके समान आकारवाले हाथोंके आलिंगनसे युक्त हो स्पर्शन इन्द्रियसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुइँयाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, बिम्बी फलके समान सुशोभित उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगन्धिसे रातदिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और 'स्त्री समागम मुझे इसी भवमें है अन्यभवमें नहीं है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचनाके द्वारा अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोंको संतुष्ट करता रहता था ॥२०७–२११॥ चूंकि प्रमाण काल और भावसे इन दोनोंके प्रेममें समानता थी इसलिये ही वे दोनों संभोग शृङ्गाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुंच गये थे ॥२१२॥ खूब बढ़े हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोंका विषय रहता था और सुलोचना भी जयकुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी, इस प्रकार ये दोनों ही समान प्रीति करता ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोंका उपभोग करते थे ॥२१३॥ पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोंसे खूब मिले हुए उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवका सुख नहीं पाया था किन्तु इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उन उन सुखोंसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं उत्तम तृप्तिके लिये हो सकता है ? ॥२१४॥ अपने श्वासोच्छ्वाससे उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गम 'सङ्गत हृदयङ्गमम्'. इत्यभिधानात् । ३ सुलोचनाशरीररसकूपमध्यस्थित । ४ स्पर्शजनरम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्त्रीसङ्ग । 'प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा' इत्यभिधानात् । ८ विजय । ९ योनिपुष्पादिप्रमाणात् समरतिप्रभृतिकालात् अन्योन्यानुरागादिभावाच्च । १० अतीवप्रवृद्ध । ११ सुप्तश्रीखण्डकुङ्कुमचर्चामाल्याभरणादि । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितस्रक्चन्दनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थैः । १९ इन्द्रियोपायजनितसुखैः । २० परम् अन्यवस्तु मुखं द्वारमुपायो यस्य तत् । परमुखं क्वापि भवति न सुतृप्तीत्यर्थः । २१ आस्वादितुं योग्याधरादिप्रदेशैः ।

हृतसरसिजसारं स्पष्टचेटीय[1]मानं
सततरतनिमित्तं जाल[2]मार्गप्रवृत्तम् ।
मृदुशिशिरतरं सम्प्रापतुस्तौ समीरं
सुरत[3]विरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

सा तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्या-
श्चैवं[4] तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् ।
प्रेमा[5]पदत्[6] निज[7]भावमचिन्त्यमन्त्य[8]-
सातोदयश्च भवभूतिफलं[9] तदेव ॥२१७॥

कामोऽगमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य-
भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।
को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी
स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥

एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च
[10]नैवेयतुश्चिररतेऽप्यभिलाषकोटिम्[11] ।
धिक् कष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय
[12]तद्वीतविश्वविषयाय बुधा यतध्वम्[13] ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसङ्ग्रहे जयसुलोचना-
सुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनों अपनी इन्द्रियोंको समस्त सुख पहुंचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर संभोगका साधन रहता है झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल (मन्द) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनों ही संभोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी। उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य संतोषका कारण था जो चिन्तवनमें न आ सके ऐसा प्रेम इन्हीं दम्पतियोंमें पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हींके सातावेदनीय-का अन्तिम उदय था और यही भव इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, संभोग चेष्टाओंके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गई थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरसे उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनों इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नहीं हुए थे—उनकी इच्छाएं पूर्ण नहीं हुई थीं। इसलिये कहना पड़ता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है। हे पण्डितो, तुम उसी सुखके लिये प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला यह पैंतालीसवां पर्व समाप्त हुआ।

---

१ इष्टवयस्यायमानं । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्रापत् । ६ जयसुलोचनयोः । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपश्चिमसुखोदयश्च । ९ जन्मप्राप्तिफलम् । १० नैव प्रापतुः । ११ अन्तम् । १२ कारणात् । १३ प्रयत्नं कुरुध्वम् ।

[1]हरन् करिकराकारकरालिङ्गनसङ्गतः[2] । [3]तद्गात्रकूपिकान्तःस्थं रसं [4]स्पर्शनवेदिनम् ॥२०९॥
तद्बिम्बाधरसम्भावितामृतास्वादनोत्सुकः । तद्वक्त्रवारिजामोदान्मोदमानोऽनिशं भृशम् ॥२१०॥
[5]अत्रैव न पुनर्वेति[6] मम वामासमागमः[7] । [8]स सुलोचनया स्यानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥२११॥
[9]प्रमाणकालभावेभ्यो यद्वतेः समता तयोः । ततः सम्भोगशृङ्गारवारापारान्तगौ हि तौ ॥२१२॥

[10]अतिपरिणतरत्या लोपितालेपनादिः[11]
स सकलकरणानां[12] गोचरीभूय[13] तस्याः ।
हितपरविषयाणां[14] साऽपि[15] [16]तस्यैवमेतौ
समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥२१३॥

मनसि मनसिजस्यावापि[17] सौख्यं न ताभ्यां
पृथगनुगतभावैः[18] सङ्गताभ्यां नितान्तम् ।
[19]करणमुखसुखैस्तैस्तन्मनः प्रीतिमापत्
भवति [20]परमुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥२१४॥

शिशिरसुरभिमन्दोच्छ्वाससंभैः स्वैः समीरै-
[21]र्मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रवेशैः ।
ललिततनुलताभ्यां मार्दवैकाकराभ्याम्
अखिलमनयतां तौ सौख्यमात्मेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमासे झरते हुए अमृतको पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोंसे भरता था, हाथीकी सूंड़के समान आकारवाले हाथोंके आलिंगनसे युक्त हो स्पर्शन इन्द्रियसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुइँयाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, बिम्बी फलके समान सुशोभित उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगन्धिसे रातदिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और 'स्त्री समागम मुझे इसी भवमें है अन्यभवमें नहीं है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचना के द्वारा अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोंको संतुष्ट करता रहता था ॥२०७–२११॥ चूंकि प्रमाण, काल और भावसे इन दोनोंके प्रेममें समानता थी इसलिये ही वे दोनो संभोग शृङ्गाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुंच गये थे ॥२१२॥ खूब बढे हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोंका विषय रहता था और सुलोचना भी जयकुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी, इस प्रकार ये दोनों ही समान प्रीति करता ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोंका उपभोग करते थे ॥२१३॥ पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोंसे खूब मिले हुए उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवका सुख नहीं पाया था किन्तु इन्द्रियोंमें उत्पन्न हुए उन उन सुखोंसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं उत्तम तृप्तिके लिये हो सकता है ? ॥२१४॥ अपने श्वासोच्छ्वाससे उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गम 'सङ्गतं हृदयङ्गमम्', इत्यभिधानात् । ३ सुलोचनाशरीरगतकूपमध्यस्थित । ४ स्पर्शजनकम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्त्रीसङ्गम । 'स्त्रीनितम्बिनी वामा वनिता महिला तथा' इत्यभिधानात् । ८ विजय । ९ योनिपुष्पादिप्रमाणात् समर्गनिप्रभृतिकालात् अन्योन्यानुरागादिभावाच्च । १० अतीवप्रवृद्ध । ११ लुप्तश्रीगण्डकुङ्कुमचर्चाभाल्याभरणादि । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितस्रक्चन्दनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थैः । १९ इन्द्रियोत्पन्नसुखैः । २० परम् अन्यवस्तु मुख द्वारमुपायो यस्य तत् । परमुखं क्वापि भवति न तृप्त्यापीत्यर्थः । २१ भारत्यादि पोष्याधरादिप्रदेशैः ।

हृतसरसिजसारैरिष्टचेटीय¹मानैः
सततरतनिमित्तैर्जाल²मार्गप्रवृत्तैः ।
मृदुशिशिरतरैः सम्प्रापतुस्तौ समीरैः
सुरत³विरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

ता तस्य वृत्तिरनु⁴वर्तयति स्म तस्या-
श्चैवं तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् ।
प्रेमा⁵पदश्च⁶ निज⁷भावमचिन्त्यमन्त्य⁸-
सातोदयश्च भवभूतिफलं⁹ तदेव ॥२१७॥

कामोऽगमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य-
भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।
को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी
स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥

एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च
¹⁰नैयेयतुश्चिररतेऽप्यभिलापकोटिम्¹¹ ।
धिक्कष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय
¹²तद्वीतविश्वविषयाय बुधा यतध्वम्¹³ ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचना-
सुखानुभववर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनों अपनी इन्द्रियोंको समस्त सुख पहुंचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर सभोगका साधन रहता है, झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल (मन्द) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनों ही सभोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी। उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य संतोपका कारण था जो चिन्तवनमें न आ सके ऐसा प्रेम इन्ही दम्पतियोमे पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हीके सातावेदनीय-का अन्तिम उदय था और यही सब इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, संभोग चेष्टाओंके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गई थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरमें उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनों इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नहीं हुए थे—उनकी इच्छाएं पूर्ण नहीं हुई थी। इसलिये कहना पड़ता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है। हे पण्डितो, तुम उसी सुखके लिये प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥

इस प्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जय-कुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला यह पैंतालीसवां पर्व समाप्त हुआ।

१ इष्टचयस्यायमानैः । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्रापत् । ६ जयसुलोचनयो । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपश्चिमसुखोदयश्च । ९ जन्मप्राप्तिफलम् । १० नैव प्रापतु । ११ अन्तम् । १२ वारणात् । १३ प्रयत्न कुरुध्वम् ।

षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ प्रासादमध्यास्य [1]दन्तावलगतो मुदा । यदृच्छयाऽन्यदालोक्य गच्छन्तौ खगदम्पती[2] ॥१॥
हा मे प्रभावतीत्येतद् आलपन्नतिविह्वलः । [3]रतिमेवाहितः[4] सद्यः सहायीकृत्य मूर्च्छया ॥२॥
तथा [5]पारावतद्वन्द्वं [6]तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥३॥
[7]दक्षचेटीजनक्षिप्रकृतशीतक्रिया क्रमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतदीधिते ॥४॥
[8]हिमचन्दनसम्मिश्रवारिभिर्मन्दमारुतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मन्दमन्दं सनुत्रपः[9] ॥५॥
यूयं सर्वेऽपि [10]सायन्तनाम्भोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः[11] ॥६॥
परेतानुनयोपायैर्गोत्रस्खलन[12]दुःखिताम् । सुलोचनां समाश्वास्य स्मरन् जन्मान्तरप्रियाम् ॥७॥
[13]आकारसंवृतिं कृत्वा तामेवालपयन्[14] स्थितः । वञ्चनाचञ्चवः[15] सर्वे प्रायः कान्तासु कामिनः ॥८॥
तयोर्जन्मान्तरायातवृत्तान्तस्मृत्यनन्तरम् । स्वर्गादनुगतो बोधस्तृतीयो[16] व्यक्तिमीयिवान्[17] ॥९॥
तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्याः[18] श्रीमती सशिवङ्करा । पराश्च मत्सरोद्रेकादित्यन्योन्यं तदाब्रुवन्[19] ॥१०॥

अथानन्तर किसी अन्य समय जयकुमार अपने महलकी छतपर आनन्दसे बैठा था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुए विद्याधर दम्पती दिखे, उन्हें देखकर 'हा मेरी प्रभावती' इस प्रकार कहता हुआ वह बहुत ही बेचैन हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर शीघ्र ही प्रेमको प्राप्त हुआ। भावार्थ—पूर्वभवका स्मरण होनेसे मूर्च्छित हो गया ॥१–२॥ इसी प्रकार सुलोचना भी उसी स्थानपर कबूतरोंका युगल देखकर 'हा मेरे रतिवर' ऐसा कहकर मूर्च्छाको प्राप्त हो गई ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमासे कुमुदिनी शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हो जाती है—खिल उठती है उसी प्रकार चतुर दासी जनोंके द्वारा किये हुए शीतलोपचारके क्रमसे वह सुलोचना शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हुई थी—मूर्च्छारहित हो गई थी ॥४॥ कपूर और चन्दन मिले हुए जलसे तथा मन्द मन्द वायुसे कुछ लज्जित हुआ और दिशाओंकी ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी मूर्च्छारहित हुआ ॥५॥ यद्यपि वह चतुर जयकुमार सब कुछ समझता था तथापि पूछने लगा कि तुम लोगोंके मुँह सन्ध्याकालके कमलोंका अनुकरण क्यों कर रहे हैं? अर्थात् कान्तिरहित क्यों हो रहे हैं? ॥६॥ पतिके मुँहसे दूसरी स्त्रीका नाम निकल जानेके कारण दुखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक प्रकारके अनुनय-विनय आदि उपायोंसे समझाया तथा दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुँहका आकार छिपा कर उसीके साथ बातचीत करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सभी कामी पुरुष स्त्रियोंके ठगनेमें अत्यन्त चतुर होते हैं ॥७–८॥ उन दोनोंके जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होते ही स्वर्ग पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया ॥९॥ यह सब देखकर श्रीमती शिवंकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौतें थीं वे उस समय ईर्ष्यासे

---

१ प्रासादे चन्द्रशालिकाभिमुखम् । दन्तावलमतो स० । २ विद्याधरदम्पती । ३ प्रीतिम् । ४ प्राप्तः । स्वीकृत्य वा । ५ कपोत । ६ सौधाग्रे । ७ चतुर । ८ कर्पूर । ९ ईषल्लज्जावान् । १० सन्ध्याकाल । ११ विदग्धः । १२ प्रभावतीति नामान्तरग्रहणम्, सुलोचनाया अग्रे प्रभावतीति अन्यस्त्रीनामग्रहणम् । १३ आकार… गोपनं कृत्वा जन्मान्तरप्रियाम् । १४ सम्भाषयन् । 'जन्मान्तरसमागमसमाचार स्मृतिर्जातिस्मरा' इति वैजयन्ती । १५ प्रवीणाः । —चञ्चव स० । १६ अवधिज्ञानम् । १७ गतवान् । १८ सुलोचनायाः । १९ ऊचुः ।

स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्या तामद्य कुर्वती । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः [1]प्रत्ययीकृत्य मायया ॥११॥
पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंवृतिः । [2]सन्ततान्तःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥१२॥
कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरेत्युक्त्वाऽयान्मूर्च्छां कुलदूषिणी ॥१३॥
इयं शीलवतीत्येना[4] निरस्वनन्[5] वर्णयत्ययम् । प्रायो रक्तस्य[6] दोषोऽपि गुणवत् प्रतिभासते ॥१४॥
प्रभावतीति सम्मूर्च्छ्य[7] कितवः[8] [9]कोपिनीमिमाम् । [10]प्रसिसादयिषुः शोकं तत्प्रीत्या विदधाति नः ॥१५॥
[11]एतान् सर्वांस्तदालापान् जयोऽवधिविलोचनः । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः स्मेरमाननम् ॥१६॥
कान्ते जन्मान्तरावाप्तं विश्वं वृत्तान्तमावयोः । व्यावर्ण्येमां सभां तुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥१७॥
इति [12]प्राचोदयत् साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्रारस्त[13] कलभाषिणी ॥१८॥
इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि[14] पुष्कलावती विषयमध्यस्था नगरी पुण्डरीकिणी ॥१९॥
तत्राभवत् प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्मार्थकामानां स्वीकृत्य कृतिना वरः ॥२०॥
कुबेरमित्रस्तस्यासीद् राजश्रेष्ठी [15]प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशद्धनवत्याद्या भार्यास्तस्य मनःप्रियाः ॥२१॥
गृहे तस्य समुत्तुङ्गे नानाभवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान् पारावतोत्तमः ॥२२॥

उद्रेकसे परस्परमें इस प्रकार कहने लगी ॥१०॥ देखो, यह सुलोचना मायाचारसे पतिकी मूर्छाको अपनी मूर्छाका कारण बनाकर 'स्त्रियोंमें माया रहती है' इस कहावतको कैसा सत्य सिद्ध कर रही है । और इस प्रकार जिसने कृत्रिम मूर्च्छाके द्वारा प्रकट हुई भावनाओंका साफ साफ संवरण कर लिया है, जिसकी चेतना सदासे हृदयमें बैठे हुए प्रौढ प्रेमसे प्रेरित हो रही है जो कन्याव्रतके भंग करनेसे प्राप्त हुए गोत्रस्खलन (भूलसे दूसरे पतिका नाम लेने) से दूषित है तथा कुलको दूषण लगानेवाली है ऐसी यह सुलोचना अपने पहलेके पतिको 'हे रतिवर' इस प्रकार कहकर बनावटी मूर्च्छाको प्राप्त हुई है ॥११–१३॥ यह जयकुमार इसे 'यह बड़ी शीलवती है, इस प्रकार कहता हुआ वर्णन करता है सो ठीक ही है क्योंकि रागी पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके समान जान पड़ते हैं ॥१४॥ 'हे प्रभावति' ऐसा कहकर मूर्च्छित हो, क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोंको शोक उत्पन्न कर रहा है ॥१५॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाला जयकुमार उन लोगोंकी इन सब बातोंको जानकर मन्द हँसीके साथ साथ सुलोचनाके मुस्कुराते हुए मुखको देखता हुआ कहने लगा कि 'हे प्रिये ! तू हम दोनोंके पूर्वभवका सब वृत्तान्त कहकर इस सभाको सन्तुष्ट तथा कौतुकके वशीभूत कर !' यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली और मधुर भाषण करनेवाली सुलोचनाने भी पूर्वभवकी सब कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१६–१८॥

इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि पुष्कलावती देशके मध्यमें स्थित है । उस नगरीका राजा प्रजापाल था जो कि समस्त प्रजाका पालन करता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामका फल स्वीकार कर सब पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ था ॥१९–२०॥ उस राजाका कुबेरमित्र नामका एक प्रसिद्ध राजसेठ था और उसकी हृदयको प्रिय लगनेवाली धनवती आदि बत्तीस स्त्रियाँ थीं ॥२१॥ अनेक भवनोंसे घिरे हुए उस सेठके अत्यन्त ऊँचे महलमें एक रतिवर नामका कबूतर रहता था जो कि अतिशय बुद्धिमान् और सब कबूतरोंमें

---

१ कारणीकृत्य । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविज्ञानहेतुषु' इत्यभिधानात् । २ रतिवरेत्युक्तपुरुषे प्रवृद्धस्नेहेन प्रेरितमनसा । ३ अगच्छत् । ४ –त्येव ल० । –त्येना अ०, स०, इ०, प० । ५ निस्वनन् ट० । ब्रुवन् । ६ अनुरक्तस्य । ७ मूर्च्छां गत्वा । ८ धूर्तः । ९ प्रभावतीनामग्रहणात् कुपिताम् । १० प्रसादयितुमिच्छुः । ११ एतान् । १२ अवादीत् । १३ उपक्रान्तवती । १४ पूर्वविदेहे । १५ श्रीमानित्यर्थः ।

कदाचिद् राजगेहागतेन वैश्येशिना स्वयम् । स्नेहेन सस्मितालापैः स्वहस्तेन समुद्धृतः ॥२३॥
कदाचित् कामिनीकान्तकराब्जार्पितशर्करा-सम्मिश्रितान् सुशालीयतण्डुलानभिभक्षयन् ॥२४॥
कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टं[1] हेतुदृष्टान्तपूर्वकम् । अहिंसालक्षणं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितम् ॥२५॥
कदाचिद् भवनायातयतिपादसरोजजम् । रेणुजालं[2] निराकुर्वन्[3] पक्षाभ्यां प्रत्युपागतः[4] ॥२६॥
स[5] कदाचिद् गतिः का स्यात् 'पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुण्डेन निर्दिशन् ॥२७॥
अधोभागमधोर्ध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यात्तिर्यञ्चोऽपि विवेकिनः ॥२८॥
क्रीडन्नानाप्रकारेण कान्तया रतिषेणया[6] । सार्धमेवं चिरं तत्र सुखं कालमजीगमत्[8] ॥२९॥
असौ रतिवरः कान्तस्त्वमहं सा तव प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जन्तुः किं किं न जायते ॥३०॥
सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकान्ताख्यः कुबेरो[9] वा परः सुधीः ॥३१॥
द्वितीय इव तस्यासीत् प्राणः सोऽनुचरायणी[10] । प्रियसेनाह्वयो बाल्याद् आरभ्य कृतसङ्गतिः ॥३२॥
आजन्मनः[11] कुमारस्य कामधेनुरनुत्तमा[12] । मनोऽभिलषितं कुग्धे समस्तसुखसाधनम् ॥३३॥
क्षेत्रं निष्पादयत्येकं गन्धशालिमनारतम् । इक्षूनमृतदेशीयान्[13] अन्यत्[14] स्थूलांस्तनुत्वचः ॥३४॥
स्वयं मनोहरं वीणा क्वणतीति[15] निरन्तरम् । तत्स्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापहम् ॥३५॥

श्रेष्ठ था ॥२२॥ कभी तो राजभवनसे आये हुए सेठ कुबेरमित्र बड़े स्नेहसे हँस हँसकर वार्तालाप करते हुए उसे अपने हाथपर उठा लेते थे, कभी वह स्त्रियोंके सुन्दर करकमलो द्वारा दिये हुए और शक्कर मिले हुए उत्तम धानके चावलोको खाता था, कभी सेठके द्वारा हेतु तथा दृष्टान्तपूर्वक कहे हुए प्राणिहितकारी अहिंसा धर्मका चिन्तवन करता था, कभी भवनमें आये हुए मुनिराजके चरणकमलोंकी धूलिको उनके समीप जाकर अपने पंखोसे दूर करता था, जब कभी कोई कुतूहलवश उससे पूछता था कि पापी तथा पुण्यात्मा लोगोंकी क्या गति होती है ? तब वह शास्त्रोंके जाननेवाले किसी मौनी महाशयके समान इशारेसे चोंचके द्वारा नीचेका भाग दिखाता हुआ पापी लोगोंकी गति कहता था और उसी चोंचके द्वारा ऊपरका भाग दिखलाता हुआ पुण्यात्मा लोगोंकी गति कहता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यञ्च भी विवेकी हो जाते हैं ॥२३–२८॥ इस प्रकार वह कबूतर अपनी रतिषेणा नामकी कबूतरी के साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करता हुआ वहाँ सुखसे समय बिताता था ॥२९॥ सुलोचना कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूँ। देखो इस संसारके आवर्तमें भ्रमण करता हुआ यह जीव क्या क्या नहीं होता है ? ॥३०॥ उस कुबेरमित्र सेठके धनवती स्त्रीसे एक कुबेरकान्त नामका पुत्र हुआ था जो कि अतिशय पुण्यवान्, बुद्धिमान् तथा दूसरे कुबेरके समान जान पड़ता था ॥३१॥ उस कुबेरकान्तका एक प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था जो कि बाल्य अवस्थासे ही उसके साथ रहता था और उसके दूसरे प्राणोंके समान था ॥३२॥ एक अत्यन्त उत्तम कामधेनु कुमार कुबेरकान्तको जन्मसे ही लेकर उसकी इच्छाके अनुकूल सुखके सब साधनोंको पूर्ण करती थी। वह कामधेनु प्रति दिन एक खेत भर मनचिन्तित धान्यको उत्पन्न करती थी और एक खेत अमृतके समान मीठे, मोटे छिलकेवाले बड़े बड़े ईखोंको उत्पन्न करती थी ॥३३–३४॥ इसके सिवाय वही कामधेनु कुमारके स्नानके लिए निरन्तर मनोहर वीणा बजाती थी, और उसी कामधेनुके प्रभावसे उसके स्नानके

---

१ [illegible] । २ पूर्वापरयुक्तम् । ३ [illegible] । ४ अभिमुखागतः सन् । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] । १० [illegible] । ११ [illegible] । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ [illegible] । १५ [illegible] ।

सुगन्धिसलिलं गाङ्गं[1] गम्भीरमधुरं[2] ध्वनन् । अम्भोधरो नभोभागाद् आसन्नादवमुञ्चति ॥३६॥
कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अन्नमानं ददात्यन्यद् द्वयं कल्पमहीरुहः[3] ॥३७॥
एवमन्यच्च भोगाङ्गम् अशेषं देवनिर्मितम् । [4]इश्वाश्निविशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिकं वयः ॥३८॥
तद्वीक्ष्य [5]पितरावेष [6]किमेकामभिलाषुकः । किं बह्वीरिति चित्तेन सन्दिहानौ[7] समाकुलौ ॥३९॥
प्रियसेनं[8] समाहूय तत्प्रश्नात्तन्मनोगतम्[9] । [10]अवादीधरतां मैत्री सैव या त्वेकचित्तता ॥४०॥
ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या[11] सहाभवत् । स्वसा[12] कुबेरमित्रस्य [13]तन्नामैवैतयोः[14] सुता ॥४१॥
प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेटिका[15] रतिकारिणी । कन्यकास्तां विधायादि द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥४२॥
श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन[16] प्रियदत्तां गुणान्विताम् ॥४३॥
अवधार्यास्य पुत्रस्य [17]पञ्चताराबलान्विते । दिने महाविभूत्यैनां[18] कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥४४॥
तन्निमित्तपरीक्षायाम् अवलोकितुमागते । सुते गुणवती राज्ञो[19] यशस्वत्यभिधा परा ॥४५॥
भाजनं [20]भक्ष्यसम्पूर्णमदत्तवति[21] मातुले[22] (?) । स्वाभ्या[23] लज्जाभरानम्रवदने जातनिर्विदे[24] ॥४६॥

समय समीपवर्ती आकाशसे आकर मधुर तथा गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ सब प्रकारके रोग, पसीना और मलको हरण करनेवाला गंगा नदीका सुगन्धित जल बरसाते थे ॥३५–३६॥ उस कुमारके लिये एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था और एक पेय पदार्थ देता था ॥३७॥ इस प्रकार इनके सिवाय देवोंके दिये हुए और भी सब प्रकारके भोगोंका निरन्तर उपभोग करते हुए उस कुमारकी पहली अवस्था पूर्ण हुई थी ॥३८॥ पहली अवस्थाको पूर्ण हुआ देखकर माता पिताको चिन्ता हुई कि यह एक कन्या चाहता है अथवा बहुत । उसी चिन्तासे वे कुछ संदेह कर रहे थे और कुछ व्याकुल भी हो रहे थे । उन्होंने कुबेरकान्तके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उसके मनकी बात पूछी और उसके कहनेपर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके 'एक पत्नीव्रत है'–यह एक ही कन्या चाहता है, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहाती है ॥३९–४०॥

तदनन्तर–उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था, जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवती का भाई था और उसे कुबेरमित्रकी बहिन कुबेरमित्रा ब्याही गई थी । इन दोनोंके प्रियदत्ता नामकी एक पुत्री हुई थी और रतिकारिणी उसकी दासी थी । समुद्रदत्त सेठके प्रियदत्ता आदि बत्तीस कन्याएं थीं । किसी एक दिन उस बुद्धिमान् सेठने एक बागमें यक्षकी पूजा करते समय सुन्दर आकारवाली उन बत्तीसों कन्याओंकी निमित्तवश परीक्षा की और उन सबमें प्रियदत्ताको ही गुणयुक्त समझा । फिर सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र और मंगल इन पांचों ताराओंके बलसे सहित किसी शुभ दिनमें बड़े वैभवके साथ कल्याण करनेवाली विधिसे उस प्रियदत्ताको अपने पुत्रके लिये स्वीकार किया ॥४१–४४॥ राजा प्रजापालकी गुणवती

---

१ गङ्गासम्बन्धि । २ गम्भीरं मधुरं ब०, अ०, प०, म०, इ०, स० । ३ वस्त्रवृक्षस्य । ४ अनुभवन । ५ जननीजनको । ६ एतामित्यपि पाठः । स्त्रियम् । ७ सन्देहं कुर्वन्तौ । ८ कुबेरकान्तस्य मित्रम् । ९ कुबेरकान्तस्याभिप्रायम् । १० एकपत्नीव्रतधारणमित्यवधारितवन्तौ । ११ कुबेरमित्रस्य भार्यया धनवत्या सहोत्पन्न इत्यर्थः । १२ भगिनी । १३ कुबेरमित्राह्वया । १४ समुद्रदत्तकुबेरमित्रयोः । १५ सखी । १६ द्वात्रिंशभाजनेषु विविधभक्ष्यपायसघृतं पूरयित्वा एकस्मिन् भाजने अनर्घ्यं रत्नं निक्षिप्य यक्षाग्रे संस्थाप्य द्वात्रिंशत्कन्यकानामेकैकस्यै एकैकं भाजनं दत्तं यस्या हस्ते अनर्घ्यं रत्नं समागतं सा मम पुत्रस्य प्रियेति सुपरीक्ष्य । १७ तिथ्यादिपञ्चनक्षत्रबलान्विते । १८ प्रियदत्ताम् । १९ प्रजापालनृपस्य । २० भक्ष–ल०, ब०, इ०, प०, अ०, स० । २१ अददति सति । २२ मातुले अ०, प०, म०, इ०, ल०, ट० । निज मामे श्रेष्ठिनि । २३ आत्मभ्याम् । २४ उत्पन्नवैराग्ये ।

राजा कदाचिदव्राजीद्[1] घटया ललिताख्यया । विहारार्थं वनं तत्र वाप्यामालोक्य विस्मयात् ॥५८॥
तटशुष्काङ्घ्रिपासन्नशाखाग्रस्थपरिस्फुरन् । [2]परार्घ्यं वायसानीतपद्मरागमणिप्रभाम् ॥५९॥
मणिं मत्वा प्रविश्यान्तर्जनेषु[3] केनाप्य[4]लम्भ्यसौ[5] । भ्रान्त्या प्रवर्तमानानां कुतः क्लेशाद् विना फलम् ॥६०॥
चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णाः सर्वे ते पुरमाययुः । बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य[6] न निर्बन्धः[7] फलत्यसौ[8] ॥६१॥
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठिसुतया[9] रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावर्याम् आत्मसौभाग्यसूचिना ॥६२॥
क्रमेण[10] कुङ्कुमार्द्रेण ललाटे स्फुटमङ्कितः[11] । कान्ताः किं किं न कुर्वन्ति स्वभाग्यनिघ्ने नरे ॥६३॥
पट्टबन्धात् परं मत्वा तत्क्रमाङ्कं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनित्यबूबुधत् ॥६४॥
ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताड्यते । कर्तव्यं तस्य किं वाच्यं[12] ततो मन्त्र्यब्रवीदिदम् ॥६५॥
पट्टात् ललाटो नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद् वध्यः स प्राणान्तमिति स्फुटम् ॥६६॥
तदाकर्ण्यावधूर्यैनं[13] स्मितेनाहूय मातुलम् । नृपोऽप्राक्षीत् स[14] चाहैतत् प्रस्तुतं प्रस्तुतार्थवित् ॥६७॥
तस्य पूजा विधातव्या सर्वालङ्कारसम्पदा । इति तद्वचनात्तुष्ट्वा मणिं वार्तां न्यवेदयत् ॥६८॥

समान होता है। राजाके वचन सुनकर सेठ भी दुःख सहित शीघ्र ही अपने घर चला गया ॥५७॥ किसी एक दिन राजा ललितघट नामक हाथीपर बैठकर विहार करनेके लिये वनमें गया, उस वनमें एक बावड़ी थी, उसके तटपर एक सूखा वृक्ष था, उसकी एक शाखा बावड़ीके निकटमे निकली थी, उस शाखाके अग्रभागपर एक कौवेने कहींसे देदीप्यमान बहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रख दी। बावड़ीमें उस मणिकी कान्ति पड़ रही थी, राजा तथा उसके सब साथियोंने उस कान्तिको मणि समझा और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ—उस मणिको लेनेके लिये सब बावड़ीके भीतर घुसे परन्तु उनमेंसे वह मणि किसीको भी नहीं मिली सो ठीक ही है क्योंकि भ्रान्तिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंको क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥५८–६०॥ उन सब लोगोंने बावड़ीमें वह मणि बहुत देरतक देखी परन्तु जब नहीं मिली तब उदास हो अपने नगरको लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि अग्रेसर नहीं होती वह प्रयत्न कभी सफल नहीं होता ॥६१॥ किसी समय प्रेमसे भरी हुई वसुमती नामकी सेठकी पुत्रीने रात्रिके समय अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले तथा कुंकुमसे गीले अपने पैरसे राजाके ललाटमें स्पष्ट चिह्न बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषके अपने आधीन होनेपर स्त्रियां क्या क्या नहीं करती हैं? ॥६२–६३॥ राजाने उस पैरके चिह्नको पट्टबन्धसे भी अधिक माना और सबेरा होते ही सभामें बैठकर मन्त्री आदिसे इस प्रकार पूछा कि यदि कोई पैरसे राजाके ललाटपर ताडन करे तो उसका क्या करना चाहिये? यह सुनकर फल्गुमति मन्त्रीने कहा कि राजाका जो ललाट पट्टके सिवाय किसी अन्य वस्तुके द्वारा छुआ भी नहीं जा सकता उसे यदि किसीने पैरसे ताडन किया है तो उसे प्राण निकलने तक मारना चाहिये ॥६४–६६॥ यह सुनकर राजाने उस मन्त्रीका तिरस्कार किया तथा मन्द मन्द हँसीके साथ मामा कुबेरमित्रको बुलाकर उनसे सब हाल पूछा। प्रकृत बातको जाननेवाला कुबेरमित्र कहने लगा कि जिसने आपके शिरपर पैरसे प्रहार किया है उसकी सब प्रकारके आभूषणरूपी सम्पदासे पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार उसके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजाने वनविहारके समय बावड़ीमें दिखनेवाले मणि-

---

१ अगमत्। प्राव्राजीत् ख०। २ परार्घ्यमिति पद्मरागस्य विशेषणम्। ३ ललितघटाख्यजनेषु। ४ लब्धः। ५ मणिः। ६ पुरुषस्य। तस्य ट०। ७ अविच्छिन्नप्रवृत्तिः। ८ न फलप्रदो भवति। ९ निजभार्यया। १० पादेन। ११ ताडित इत्यर्थः। १२ भवद्भिर्वक्तव्यम्। १३ परित्यज्य। १४ कुबेरमित्रः।

मणिर्न जलमध्येऽस्ति तटस्थतरुसंश्रित । प्रभाव्याप्यामिति प्राह तद्विचिन्त्य[1] वणिग्वर ॥६९॥
तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मन । दौष्ट्य च मन्त्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपति ॥७०॥
पश्य धूर्तैरह मूढो वञ्चितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिन प्राप्तसम्मान[2] प्रत्यासन्न व्यधात् सुधी ॥७१॥
तन्त्रावायमहाभार[3] तत प्रभृति भूपति । तस्मिन्नारोप्य निर्द्वन्द्व सधर्म काममन्वभूत् ॥७२॥
कदाचित् कान्तया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी ता सत्यमद्यत्व धर्मपत्नीत्यभिष्टुवन् ॥७३॥
दृष्ट्वा विमोच्य[4] राजान वरधर्मगुरोस्तप[5] । सार्ध समुद्रदत्ताद्यै आदाय सुरभूधरे[6] ॥७४॥
[7]तावुभौ ब्रह्मलोकान्तेऽभूता लौकान्तिकौ सुरौ । किन्न साध्य यथाकालपरिस्थित्या[8] मनीषिभि ॥७५॥
अन्येद्यु प्रियदत्ताऽसौ[9] दत्वा दान मुनीशिने । भक्त्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचितम् ॥७६॥
सम्प्राप्य नवधा पुण्य तपस सन्निधिर्मम । किमस्तीत्यब्रवीद् व्यक्तविनया मुनिपुङ्गवम् ॥७७॥
पुत्रलाभार्थि तच्चित्त विदित्वाऽवधिलोचन । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमङ्गुलिपञ्चकम् ॥७८॥
कनिष्ठामङ्गुलि वामहस्तेऽसौ समदर्शयत् । पुत्रान्कालान्तरे पञ्च साऽसूतैकामात्मजामपि[10] ॥७९॥
ते[11] कदाचिज्जगत्पालचक्रेशस्य सुते समम । अमितानन्तमत्याख्ये [12]गुणज्ञे गुणभूषणे ॥८०॥

की बात निवेदन की ॥६७–६८॥ वैश्योमे श्रेष्ठ कुबेरमित्रने विचारकर कहा कि वह मणि पानीके भीतर नही थी किन्तु किनारेपर खडे हुए वृक्षपर थी, बावडीमें केवल उसकी कान्ति पड रही थी ॥६९॥ यह सुनकर उस समय राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमत्ता, अपनी मूर्खता और मत्रीकी दुष्टता जानकर पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा–'देखो इन धूर्तोने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा।'' इस प्रकार कहकर वह बुद्धिमान् राजा सेठका आदर सत्कार कर उसे सदा अपने पास रखने लगा ॥७०–७१॥ उस दिनसे राजाने तन्त्र अर्थात् अपने राष्ट्रकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् परराष्ट्रोसे अपने सम्बन्धका विचार करना इन दोनोका बडा भारी भार सेठको सौप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर धर्म तथा काम पुरुषार्थका अनुभव करने लगा ॥७२॥ किसी समय सेठकी स्त्रीने सेठके शिरमें बाल देखकर सेठसे कहा। सेठने यह कहते हुए उसकी बडी प्रशसा की कि तू आज सचमुच धर्मपत्नी हुई है। उस सेठने बडी प्रसन्नताके साथ राजाको छोडकर समुद्रदत्त आदि अन्य सेठोके साथ साथ देवगिरि नामक पर्वतपर वरधर्मगुरुके समीप तप धारण किया और दोनो ही तपकर ब्रह्मलोकके अन्तमें लौकान्तिक देव हुए सो ठीक ही है क्योकि समयके अनुकूल होनेवाली परिस्थितिसे बुद्धिमानोको क्या क्या सिद्ध नही होता ? ॥७३–७५॥

किसी दूसरे दिन प्रियदत्ता (समुद्रदत्तकी पुत्री और कुबेरकान्तकी स्त्री) ने विपुलमति नामके चारण ऋद्धिधारी महामुनिको नवधा भक्तिपूर्वक दान देकर पुण्य सपादन किया और फिर विनय प्रकटकर उन्ही मुनिराजसे पूछा कि मेरे तपका समय समीप है या नही ! ॥७६–७७॥ अवधिज्ञान ही है नेत्र जिनके ऐसे बुद्धिमान् मुनिराजने यह जानकर कि इसका चित्त सतानको चाह रहा है अपने दाहिने हाथकी पाच अगुली और बायें हाथकी छोटी अगुली दिखाई और उससे सूचित किया कि पाच पुत्र और एक पुत्री होगी। तथा कालान्तरमें उस प्रियदत्ताने भी पाच पुत्र और एक पुत्री दिखलाई अर्थात् उत्पन्न की ॥७८–७९॥ किसी समय गुणरूप आभूषणोको धारण करनेवाली, जगत्पाल चक्रवर्तीकी पुत्री, अमितमति और अनन्तमति नाम

---

१ विचार्य । २ –सम्मान अ०, प०, म०, द०, स० । ३ स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमहाभारम् । ४ आत्मानं गुणं भावयितुमिच्छन् । ५ वरधर्मगुरु समीपे । ६ सुरनाम्नि कस्मिंश्चिद् गिरौ । ७ कुबेरदत्त–समुद्रदत्तौ । ८–परिस्थित्या द० । कालानुरूपेण ज्ञानेन । ९ कुबेरकान्तप्रिया । १० एकां पुत्रीम् । ११ [illegible] । १२ गणिन्यौ अ०, प०, म०, द० । गुणिन्यौ स० ।

प्रजापालनृपात्मजा यशस्वत्या तपोभृता । गुणवत्या च सम्प्राप्ते पुरं [1]तत्परमर्द्धिकम् ॥८१॥
राजा[2] सान्तःपुरः श्रेष्ठी [3]चागत्यान्तिकं चिरम् । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भाव दानाद्युद्योगमापतुः ॥८२॥
कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहं जङ्घाचारणयोर्युगम् । प्राविशद् भक्तितः स्थापयतां तौ दम्पती मुदा ॥८३॥
[5]तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्राग्भवं तत्पदाम्बुजम् । कपोतमिथुनं पक्षैः परिस्पृश्याभिनम्य[6] तत् ॥८४॥
[7]गलितान्योन्यसम्प्रीति वन्नुवानीक्ष्य तन्मुनी । जातसंसारनिर्वेगौ निरन्वापयतौ गृहात् ॥८५॥
प्रियदत्तेदमावगत्यान्यदा तु ताम् । रतिषेणामपृच्छत्ते नाम प्राग्जन्मनीति किम् ॥८६॥
सा तुण्डेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत्[10] । ममैषा पूर्वभार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥८७॥
तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम [11]प्रियदत्तया । [12]सुकान्तोऽस्म्यहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद् भुवि ॥८८॥
तन्निरीक्ष्य ममैवायं पतिरित्यभिलाषुका । रतिषेणाप्यगात्तेन सङ्गमं [13]विध्यनुग्रहात् ॥८९॥
[14]तत्सभावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूत्तराम् । पुनः शुश्रूषवस्तासन् कथाशेषं[15] सकौतुकाः ॥९०॥
अन्यच्चापि श्रुतं दृष्टम् आवाभ्यां यदि वेत्त्वया । ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तवति कौरवे[16] ॥९१॥
निजवागमृताम्भोभिः सिञ्चन्ती तां सभां शुभाम् । सुलोचनाऽब्रवीत् सम्यग्ज्ञायते श्रूयतामिति ॥९२॥

की गणिनी (आर्यिकाओंकी स्वामिनी), तप धारण करनेवाली, प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ साथ उत्कृष्ट विभूतिसे सुशोभित उस पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारी ॥८०–८१॥ सब अन्तःपुरके साथ साथ राजा लोकपाल और सेठ कुबेरकान्त भी उन आर्यिकाओंके समीप गये और चिरकालतक समीचीनधर्मका अस्तित्व सुनकर दान देना आदि उद्योगको प्राप्त हुए ॥८२॥ किसी एक दिन सेठ कुबेरकान्तके घर दो जघाचारण मुनि पधारे। दोनों ही दम्पतियोंने बड़ी भक्ति और आनन्दके साथ उनका पड़गाहन किया ॥८३॥ उन मुनियोंके दर्शन मात्रसे ही जिसने अपने पूर्वभवके सब समाचार जान लिये हैं ऐसे कबूतर कबूतरी (रतिवर-रतिषेणा)के जोड़ेने अपने पंखोंसे मुनिराजके चरणकमलोंका स्पर्श कर उन्हें नमस्कार किया और परस्परकी प्रीति छोड़ दी। यह देखकर उन मुनियोंको भी संसारसे वैराग्य हो गया और दोनों ही निराहार सेठके घरसे निकलकर बाहर चले गये ॥८४–८५॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने यह सब जानकर किसी समय रतिषेणा कबूतरीसे पूछा कि पूर्वजन्ममें तुम्हारा क्या नाम था ? ॥८६॥ उसने भी चोंचसे 'रतिवेगा' यह नाम लिख दिया। उसे देखकर यह पूर्वजन्मकी मेरी स्त्री है यह जानकर कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८७॥ इसी प्रकार प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी उसके पूर्वजन्मका नाम पूछा तब उसने भी मैं पूर्वजन्ममें सुकान्त नामका था ऐसे अक्षर जमीनपर लिख दिये ॥८८॥ उन्हें देखकर और यह मेरा ही पति है यह जानकर उसीके साथ रहनेकी अभिलाषा करती हुई रतिषेणा भी दैवके अनुग्रहसे उसीके साथ समागमको प्राप्त हुई–दोनों साथ साथ रहने लगे ॥८९॥ यह सब सुनकर सभामें बैठे हुए सभी लोगोंको बहुत भारी प्रसन्नता हुई और कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा करते हुए सभी लोग बड़ी उत्कण्ठासे बैठे रहे ॥९०॥ 'इसके सिवाय हम दोनोंने और भी जो कुछ देखा या सुना है उसे यदि जानती हो तो कहो' इस प्रकार जयकुमारके कहनेपर अपने 'वचनामृतरूपी जलसे उस शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी'–'हां, अच्छी तरह

१ पुण्डरीकिणीपुरम्। २ लोकपालः। ३ कुबेरकान्तः। ४ जनितानन्दमन्यो। ५ जङ्घाचारणद्वयावलोकनमात्र। ६ नत्वा। ७ विगलितपरस्परात्यन्तस्नेहवदिदं युग्मं। ८ कपोतमिथुनम्। ९ गलितमोहमिति ज्ञात्वा। सम्यान्य– ल०, अ०, प०, इ०। १० निजनिजनामाक्षरम्। ११ निजपूर्वजन्मनाम। १२ सुकान्ताख्योऽहं– ल०। १३ विधेरानुकूल्यात्। १४ जयकुमारसभावर्तिनाम् सपत्न्यादीनाम्। १५ जातनिर्वेदात् भिक्षामगृहीत्वा निर्गत्य गतचारणादिलोपकयाम्। १६ जयकुमारे।

तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणम् । अज्ञात्वा भूपते[1] प्रश्नाद् [2]आहामितमति.[3] श्रुतम्[4] ॥९३॥
विषयेऽस्मिन्[5] खगक्ष्माभृत्प्रत्यासन्नं[6] वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्णे[7] पुरं परम् ॥९४॥
शोभानगरमध्येश.[8] प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत् सुखदा श्रीरिवापरा ॥९५॥
शक्तिषेणोऽस्य [9]सामन्तस्तस्याभूत् प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयो. [10]सत्यदेव. सूनुरिमे[11] समम् ॥९६॥
सर्वेऽप्यासन्नभव्यत्वाद् अस्मत्पा[12]दसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्मद्यमांसयो. ॥९७॥
त्यागं पर्वोपवासं च शक्तिषेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवेलात्यये[13] भुक्तिम्[14] अग्रहीत् [illegible] गृहिव्रतम् ॥९८॥
[15]तत्पत्नी [16]शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे [17]पञ्चसमास्त्यागम् आहारस्य समग्रहीत् ॥९९॥
अनुप्रबुद्धकल्याणनामधेयमुपोषितम्[18] । सत्यदेवश्च साधूना[19] स्तवनं प्रत्यपद्यत[20] ॥१००॥
इत्यभूवन्नमी श्रद्धाविहीनव्रतभूषणा । स मृणालवतीं नेतुं कदाचिदटवीश्रियम् ॥१०१॥
पित्रो[21] पुरीं[22] प्रवृत्त. सन् शक्तिषेण ससैन्यकः । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम् ॥१०२॥
निविष्टवानिदं चान्यत् प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिर्मृणालवत्याख्यनगर्या धरणीपति.[23] ॥१०३॥

जानती हूँ, सुनिये ॥९१-९२॥ उस समय वे मुनि आहार छोड़कर सेठके घरसे चले गये थे। जब राजाको उनके इस तरह चले जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब उसने अमितमति गणिनी (आर्यिका) से पूछा। अमितमतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥

इसी पुष्कलावती देशमे विजयार्ध पर्वतके निकट एक 'धान्यकमाल' नामका बड़ा भारी वन है और उस वनके पास ही शोभानगर नामका एक बड़ा नगर है। उस नगरका स्वामी राजा प्रजापाल था और उसकी स्त्रीका नाम था देवश्री। वह देवश्री दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४–९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका सामन्त था, उसकी प्रीति उत्पन्न करनेवाली अटवीश्री नामकी स्त्री थी। उन दोनोके सत्यदेव नामका पुत्र था। किसी समय निकटभव्य होनेके कारण इन सभीने मेरे चरणोके आश्रयसे धर्मका उपदेश सुना। राजा भी इनके साथ था। उपदेश सुनकर सभीने मद्य-मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया। भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थके व्रत धारण किये और साथमें यह नियम लिया कि मैं मुनियोके भोजन करनेका समय टालकर भोजन करूँगा ॥९६–९८॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पाँच वर्ष तक शुक्ल पक्षका प्रथम दिन और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका नियम किया, अनुप्रबद्ध कल्याण नामका उपवास व्रत ग्रहण किया तथा सत्यदेवने भी साधुओके स्तवन करनेका नियम लिया ॥९९-१००॥ इस प्रकार ये सब सम्यग्दर्शनके विना ही व्रतरूप आभूषणको धारण करनेवाले हो गये। किसी एक दिन सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ अटवीश्रीको लेनेके लिये उसके माता-पिताकी नगरी मृणालवतीको गया था। वहाँसे लौटते समय वह धान्यकमाल नामके वनमें सर्पसरोवरके समीप ठहरा। उसी समय एक दूसरी घटना हुई जो इस प्रकार कही जाती है।

---

१ लोकपालस्य। २ वणिज। ३ अमितमत्यार्यिका। ४ स्वयं चारणमुनिनिकटे आकर्णितम्। ५ पुष्कलावत्याम्। ६ विजयार्धगिरिसमीपम्। ७ समीपे। ८ नगरस्य। ९ नायक। १० सत्यदेवनामा स्त्रीद्वयपुत्र सन्नभूत्। ११ इमे सर्वे देवश्रीदेव्यादय सम धर्मं श्रुत्वेति सम्बन्ध। १२ अमितमतिगणिन्याम्नायाचरणाश्रयात्। १३ मुनिचर्याकाले अतिक्रान्ते सति। १४ आहार स्वीकरोमीति व्रतम्। १५ शक्तिषेणभार्या। १६ शुक्लपक्षप्रतिपद्दिने। अपरे पक्षे अष्टम्यां दिने च। १७ पञ्चवर्षाणि। १८ उपवासव्रत समग्रहीत्। १९ परमेष्ठिना स्तोत्रम्। २० स्वीकृतवान्। २१ मातापित्रो। २२ मृणालवतीनामनगरीम्। २३ भूपति।

सुकेतुस्तत्र[1] [2]वंश्येशस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदत्तोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियाम्[3] ॥१०४॥
तत्रैव[4] दुहिता[5] जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रियाख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥१०५॥
सुकान्तोऽशोकदेवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि[6] । भवदेवस्य दुर्वृत्त्या [7]दुर्मुखाख्योऽप्यजायत ॥१०६॥
स एव द्रव्य[8]मावर्ज्य रतिवेगां जिघृक्षुकः[9] । वाणिज्यार्थं गतः[10]स्वसमानागत[11] इति सा[12] तदा ॥१०७॥
मातापितृभ्यां प्रादायि[13] सुकान्ताय सुतेजसे । देशान्तरात् समागत्य तद्वार्ताश्रवणाद् भृशम् ॥१०८॥
दुर्मुखे कुपिते भीत्या तदानीं तद्वधूवरम्[14] । व्रजित्वा[15] शक्तिषेणस्य शरणं समुपागतम्[16] ॥१०९॥
तद्दुर्मुखोऽपि [17]निर्बन्धाद् अनुगम्य[18] वधूवरम् । शक्तिषेणभयाद् बद्धवैरो निववृते[19] खलः[20] ॥११०॥
सरेऽस्मिन्[21] [22]वियच्चारणद्वन्द्वाय समागुषे[23] । शक्तिषेणो ददावन्नं पाथेयं[24] परजन्मनः ॥१११॥
तत्रैवागत्य सार्थेशो[25] निविष्टो बहुभिः सह । विभुर्मेरुकदत्ताख्यः श्रेष्ठी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥
मन्त्रिणस्तस्य[26] भूतार्थः शकुनिः सबृहस्पतिः । धन्वन्तरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥११३॥
एभिः परिवृतः श्रेष्ठी हीनाङ्गं[27] कञ्चिदागतम् । समीक्ष्यैव कुतो हेतोर्जातोऽयमिति[28] तान् जगौ ॥११४॥

मृणालवती नगरीका राजा धरणीपति था। उसी नगरीमें सुकेतु नामका एक सेठ रहता था जो कि रतिवर्माका पुत्र था। सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके एक भवदत्त नामका पुण्यहीन पुत्र था ॥१०१–१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त सेठ थे। उनकी स्त्रीका नाम था विमलश्री और उनके दोनोंके अत्यन्त प्यारी रतिवेगा नामकी सती पुत्री थी ॥१०५॥ उसी नगरके अशोकदेव सेठ और जिनदत्ता नामकी उनकी स्त्रीसे पैदा हुआ सुकान्त नामका एक पुत्र था। जिसका वर्णन ऊपर कर आये हैं ऐसा भवदेव बड़ा दुराचारी था और उस दुराचारीपनके कारण ही उसका दूसरा नाम दुर्मुख भी हो गया था ॥१०६॥ वह भवदेव धन उपार्जनकर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था इसलिये व्यापारके निमित्त वह बाहर गया था, परन्तु जब वह विवाहके अवसर तक नहीं आया तब माता पिताने वह कन्या अत्यन्त तेजस्वी सुकान्तके लिये दे दी। जब दुर्मुख (भवदेव) देशान्तरसे लौटकर आया और रतिवेगाके विवाहकी बात सुनी तब वह बहुत ही कुपित हुआ। उसके डरसे वधू और वर दोनों ही भागकर शक्तिषेणकी शरणमें पहुँचे ॥१०७–१०९॥ दुर्मुखने भी हठसे वधू और वरका पीछा किया परन्तु शक्तिषेणके डरसे अपना वैर अपने ही मनमें रखकर वहाँसे लौट गया ॥११०॥ शक्तिषेणने वहाँ पधारे हुए दो चारण मुनियोंके लिये अपने आगामी जन्मके कलेवाके समान आहार दान दिया था ॥१११॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके स्वामी मेरुकदत्त नामका सेठ बहुत लोगोंके साथ आकर ठहरा हुआ था। उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था। उस सेठके चार मन्त्री थे—१ भूतार्थ, २ शकुनि, ३ बृहस्पति और ४ धन्वन्तरि। ये चारों ही मन्त्री अपने अपने शास्त्रोंमें पण्डित थे ॥११२-११३॥ एक दिन सेठ इन सबसे घिरा हुआ

---

१ मृणालवत्याम् । २ वणिग्मुख्यस्य । ३ कनकश्रियः । ४ श्रीदत्तविमलश्रियोः । ५ पुत्री । ६ अशोकदेवस्य प्रियतमाया जिनदत्ताया सुतः । ७ दुर्मुख इति नामान्तरमपि । स दुर्मुखः स्वमातुलं श्रीदत्तं रतिवेगां याचितवान् । मातुलो भणितवान् त्वं व्यवसायहीनो न ददामीति । दुर्मुखोऽवोचत्—यावदहं द्वीपान्तरेषु द्रव्यमावर्ज्यागच्छामि तावद् रतिवेगा कस्यापि न दातव्या इति द्वादशवर्षाणि कालावधिं दत्त्वा । ८ धनमर्जयित्वा । ९ गृहीतुमिच्छुः । १० कृतद्वादशवर्षादि समाधान् । ११ नागत । १२ रतिवेगा । १३ दीयते स्म । १४ सुकान्तरतिवेगाद्वयम् । १५ गत्वा । १६ समुपाययन् । १७ अविच्छेदेन । १८ पृष्ठतो गत्वा । १९ व्याघुटितवान् । २० सर्पसरोवरस्थितवनितयैयाचितविरान् । २१ सर्पसरोवरे । २२ गगनचारण । २३ आगताय । समीयुषे ल०, ह०, ब०, म०, प०, स० । २४ सदन्नम् । २५ वणिक्संघाधिप । २६ मेरुकदत्तस्य । २७ विकलावयवम् । २८ इति पृष्टवान् स श्रेष्ठी ।

शकुनिः शकुनाद् दुष्टाद् ग्रहात्पापाद् बृहस्पतिः । धन्वन्तरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समादिशत् ॥११५॥
भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपार्जितम् । प्रधानकारणं तेन[१] हीनाङ्गः[२] इति सूक्तवान्[३] ॥११६॥
शक्तिषेण[४]महीपालप्रतिपन्नानुजः पिता[५] । सत्यदेवस्य दृष्ट्वाऽस्मिस्त[६]मन्विष्यन्[७]स्वेच्छया ॥११७॥
तदा कृत्वा महद्दुःखं 'सभ्याः राकर्ण्यतामिदम् । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्तण्डुलानपि ॥११८॥
भक्ष्यमाणान् कपोताद्यैः पश्यंस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रोधान्मातुः[९] कनीयस्या[१०] भर्त्सनादागतोऽसह[११] ॥
अधस्ताद् वक्त्रविवरं घ्राणस्येति तदप्ययम् । क्षमते नेति सर्वेषा[१२] तदकर्मण्यता[१३] ब्रुवन् ॥१२०॥
गन्तु सहात्मना[१४] [१५]तस्यानभिलाषाद्[१६] विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयास[१७] भवे ते स्नेहगोचरः[१८] ॥१२१॥
इति कृत्वा निदानं सः[१९] द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं[२०] तद्गतस्नेहमोहितः ॥१२२॥
कदाचिच्छुक्लपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिषेणो भक्तिपुरस्सरम्[२१] ॥१२३॥
मुनिभ्यो दत्तदानेन पञ्चाश्चर्यमवाप्तवान् । दृष्ट्वा तच्छ्रेष्ठि[२२]धारिण्यौ[२३] आवयोरन्यजन्मनि ॥१२४॥
एतावपत्ये[२४] भूयास्ता[२५] [२६]निदानं कुरुतामिति । मन्त्रिणस्तस्य[२७] चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥१२५॥

बैठा था कि इतनेमें वहा एक हीन अंगवाला पुरुष आया। उसे देखकर सेठने सब मन्त्रियोंसे कहा कि यह ऐसा किस कारणसे हुआ है ? ॥११४॥ इसके उत्तरमें शकुनि मन्त्रीने कहा कि जन्मके समय बुरे शकुन होनेसे यह ऐसा हुआ है ? बृहस्पतिने कहा कि जन्मके समय दुष्ट ग्रहोंके पड़नेसे यह हीनांग हुआ है और धन्वन्तरिने कहा कि जन्मके समय वात पित्त कफ इन तीन दोषोंके कारण यह विकलांग हो गया है। यह सुनकर भूतार्थ नामक मन्त्रीने कहा कि आप यह सब रहने दीजिये, इस जीवने पूर्वभवमें हिंसा आदिके द्वारा जो कर्म उपार्जन किये थे वे ही इसके हीनांग होनेमें प्रधान कारण हैं ॥११५-११६॥ इतनेमें ही शक्तिषेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र स्वीकार किया है ऐसे उस सत्यदेवका पिता अपनी इच्छानुसार उसे खोजता हुआ आ पहुंचा। उस हीनांग पुत्रको देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो, सुनो, एक दिन घरमें चावल पक रहे थे सो पानीके उफानके कारण कुछ चावल बर्तनसे नीचे गिर गये और उन नीचे गिरे हुए चावलोंको कबूतर आदि पक्षी चुगने लगे परन्तु यह सब देखता हुआ चुपचाप खड़ा रहा—इसने उन्हें भगाया नहीं। तब इसकी माकी छोटी बहिनने क्रोधसे इसे डांटा, उस डांटको न सह सकनेके कारण ही यह यहा चला आया है। यह इतना असहन-शील है कि 'तेरी नाकके नीचे मुंहका छेद है' इस बातको भी नहीं सह सकता है। इस तरह सब सभासदोंमें उसके पिताने उसकी अकर्मण्यताका वर्णन किया। चूंकि सत्यदेव अपने पिताके साथ वापिस नहीं जाना चाहता था इसलिये उसने दुखी होकर निदान किया कि 'अगले भवमें भी मैं तेरे स्नेहका पात्र होऊं' इस प्रकार निदान कर वह द्रव्यलिङ्गी मुनि हो गया और सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर मरा जिससे लोकपाल हुआ ॥११७-१२२॥ किसी एक समय शुक्ल-पक्षकी प्रतिपदाके दिन शक्तिषेणने उपवास करनेवाली अपनी स्त्री अटवीश्रीके साथ साथ भक्ति-पूर्वक दो मुनियोंको आहारदान देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये, उसे देखकर सेठ मेरुदत्त और उसकी स्त्री धारिणीने निदान किया कि 'ये दोनों अगले जन्ममें हमारी ही सन्तान हों।' सेठ मेरु-

---

१ धर्मवर्त्मेन । २ विकलाङ्गो जात इति । ३ सुष्ठु प्रोक्तवान् । ४ शक्तिषेणेन सामन्तेनाङ्गीकृतपुत्र इति स्वीकृतपुत्रस्य । ५ सत्यदेवस्य जनक । ६ सत्यदेवे । ७ गवेषयन्नित्यर्थं । ८ सभास्थाः । ९ स्वजननीभगिन्या । १० भगिन्या । ११ असहमान । १२ सभाजनानाम् । १३ तद् सत्यदेवस्य कर्मण्यत्वम् । १४ स्वदेहेन सहैव । १५ सत्यदेवस्य । १६ अनभिगमनात् । १७ भवेयम् । १८ स्नेहगोचरम् । २०, अ०, स० । १९ स्वयं । २० सात्त्वकाभिधानं देवत्वम् । २१-पुरस्सरम् स० । २२ दानान्मान्योऽभवत् । २३ मेरुदत्तश्रेष्ठिधारिणीनामस्त्रियौ । २४ स्वश्रेष्ठिनौ[illegible]शक्तिषेणाटवीश्रियौ । २५ पुत्रौ । २६ अनुरागम् । २७ मेरुदत्तस्य ।

तपो विधाय कालान्ते समापन् लोकपालताम्[1] । वधूवरं[2] च दानानुमोदपुण्यमवाप्तवत्[3] ॥१२६॥
[4]तदाकर्ण्य महीशस्य[5] देवी[6] वसुमती तदा । स्वजन्मान्तर[7]सम्बोधमूर्च्छानन्तरबोधिता ॥१२७॥
अहं पूर्वोक्त[8] देवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमां[9] श्रियम् । प्राप्ता[10] तदानतो राजा[11] वद क्वाद्य प्रवर्तते ॥१२८॥
इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूपतिः । [12]लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजम् ॥१२९॥
जन्मावबुद्ध्य वन्दित्वा साऽटवीश्रीरियं त्वहम् । शक्तिषेणो मम प्रेयान् क्वासौ क्वाद्य प्रवर्तते ॥१३०॥
इति [13]पृष्टाऽवदच्छक्तिषेणस्ते[14]ऽयं[15] मनोरमः[16] । [17]कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥१३१॥
देवभूयं[18] गताः श्रेष्ठिमन्त्रिणस्त्वत्पते[19]र्भृशम् । [20]आरभ्य जन्मनः स्नेहात् परिचर्यां प्रकुर्वते ॥१३२॥
कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः [21]स सत्यकः । पाता[22] गत्यन्तरस्थाश्च पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिनः ॥१३३॥
भवदेवेन[23] निर्दग्धं द्विजावेतौ[24] वधूवरम् । सार्यशो[25] धारिणी चेह[26] पत्युस्ते[27] पितराविमौ[28] ॥१३४॥

दत्तके चारों मंत्रियोंने सब परिग्रहका परित्याग कर तप धारण किया और आयुके अन्तमें लोकपालकी पर्याय प्राप्त की। इसी प्रकार सुकान्त और रतिवेगा नामके वधू-वरने भी दानकी अनुमोदना करनेसे प्राप्त हुआ बहुत भारी पुण्य प्राप्त किया ॥१२३–१२६॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको अपने पूर्वजन्मकी सब बात याद आ गई जिससे वह मूर्च्छित हो गई और सचेत होनेपर अमितमति आर्यिकासे कहने लगी कि मैं पूर्वजन्ममें शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मैं इस लक्ष्मीको प्राप्त हुई हूँ, मेरे उस जन्मके पति राजा प्रजापाल आज कहाँ हैं? यह कहिये ॥१२७–१२८॥ इस प्रकार वसुमतीका प्रश्न समाप्त होनेपर अमितमति आर्यिकाने कहा कि यह लोकपाल ही पूर्वजन्मका प्रजापाल राजा है। इतना कहते ही प्रियदत्ताको भी अपने पूर्वभवकी याद आ गई। उसने आर्यिकाको वन्दना कर कहा कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो मैं ही हूँ, कहिये मेरा पति शक्तिषेण आज कहाँ है? इस प्रकार पूछा जानेपर अमितमतिने कहा कि यह तेरा पति कुबेरकान्त ही उस जन्मका शक्तिषेण है और यह कुबेरदयित ही उस जन्मका सत्यदेव है जो कि तुम्हारा पुत्र हुआ है। सेठ मेरुदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मंत्री थे वे देवपर्यायको प्राप्त हो स्नेहके कारण जन्मसे ही लेकर तुम्हारे पतिकी भारी सेवा कर रहे हैं—कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर सेवा कर रहे हैं ॥१२९–१३२॥ कुबेरदयितका पूर्व जन्मका पिता सत्यक भी देव होकर उसकी रक्षा करता है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके प्रभावसे दूसरी गतिमें रहनेवाले जीव भी स्नेह करने लग जाते हैं ॥१३३॥ भवदेवने पूर्वोक्त वधू-वर (रतिवेगा और सुकान्त) को जला दिया था इसलिये वे दोनों ही मरकर ये कबूतर-कबूतरी हुए हैं। सेठ मेरुदत्त और

१ लोकपालगुणत्वम् । २ सुकान्तरतिवेगेति मिथुनम् । ३ प्राप्तम् । ४ पुण्यम् । प्राप्तमित्यादि-वचनम् । ५ प्रजापालपुत्रलोकपालस्य । ६ भार्या कुबेरमित्रस्य, पौत्री वसुमती । ७ निजजन्मान्तरसंज्ञानजात । ८ शोभानगराधिपप्रजापालमहीपतेर्भार्या देवश्रीः । ९ हे अमितमत्यार्यिके, भवत्प्रसादात् । १० प्राप्त-वत्यहम् । ११ शोभानगराधिपतिप्रजापाल इत्यपः । १२ तव भर्ता लोकपालः । १३ आर्यिका । १४ तव प्रियदत्तायाः । १५ पुरोवर्ती । १६ कुबेरकान्तः । १७ शक्तिषेणस्य सत्यदेवपुत्रः । कुबेरदयित इति तव पुत्रोऽभूदिति सम्बन्धः । १८ देवत्वम् । १९ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २० जननमारभ्य कामधेनुरत्नमिति परिचर्यां कुर्वते । २१ पूर्वजन्मनि पिता सत्यकः । २२ रक्षकोऽभूत् । २३ रतिवर्मकनकप्रभे, पुनः भवदेवेन । कोपात् शक्तिषेणजन्मान्तरेण निर्दग्ध वधूवरं सुकान्तरति-वेगेति द्वयम् । २४ कपोतपोतिकायुगलमिति सम्बन्धः । २५ मेरुदत्तः । २६ अस्मिन् पूर्वम् । पुण्डरीकिण्याम् । २७ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २८ कुबेरमित्रधनवत्यौ ।

इत्युक्त्वा [1]सेदमप्याह [2]खगाचलसमीपगे । वसन्तौ[3] चारणावद्धौ मुनी मलयकाञ्चने ॥१३५॥
पूर्वं[4] वननिवेशे[5] तौ भिक्षार्थं समुपागतौ । तव पुत्रसमुत्पत्तिम् उपदिश्य गतौ ततः ॥१३६॥
अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षाम् अनादाय वनं गतौ ॥१३७॥
गुर्वोर्गुरुत्वं यु[6]वयो[7]रुपयातौ [8]तयोरिदम् । उपदेशात् समाकर्ण्य सर्वमुक्तं यथाश्रुतम्[8] ॥१३८॥
इति ते[9]ऽमितमत्युक्तकथावगमतत्परा[10] । स्वरूपं संसृतेः सम्यग् मुहुर्मुहुरभावयन् ॥१३९॥
एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसङ्गतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्यां केन हेतुना ॥१४०॥
इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । ते[11] च तत्कारणं स्पष्टं यथावृत्तमवोचताम्[12] ॥१४१॥
ततो धनवती[13] दीक्षां गणिन्याः[14] सन्निधौ ययौ । माता[15] कुबेरसेना च तयोरार्यिकयोर्द्वयोः ॥१४२॥
तावन्येद्युः कपोतौ च ग्रामान्तरमुपाश्रितौ[16] । तण्डुलाद्युपयोगाय[17] समवर्तिप्रचोदितौ[18] ॥१४३॥
[19]भवदेवचरेणानुबद्धवैरेण पापिना । दृष्टमात्रौ त्यकोपेन[20] मारितौ पुरुदंशसा[21] ॥१४४॥
तत्राद्रविजयार्द्धस्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते । गन्धारविषयोशीरवत्याख्यनगरेऽधिपः ॥१४५॥

उनकी स्त्री धारिणी यहा तेरे पति कुबेरकान्तके माता पिता हुए है ॥१३४॥ इतना कहकर अमितमति यह भी कहने लगी कि विजयार्ध पर्वतके समीप मलयकाचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज रहते थे, जब पूर्वजन्ममे शक्तिषेण सर्पसरोवरके समीप डेरा डालकर वनमें ठहरा हुआ था तब वे भिक्षाके लिये तेरे यहा आये थे और तेरे अगुलियोके इशारेसे पाच पुत्र तथा एक पुत्री होगी ऐसा कहकर चले गये थे। तदनन्तर रत्नवृष्टि आदि पचाश्चर्योंके कारण स्वरूप वे मुनिराज इस जन्ममे भी किसी समय तेरे घर आये थे परन्तु कबूतर-कबूतरीको देखकर दयायुक्त हो बिना भिक्षा लिये ही वनको लौट गये थे। वे ही तेरे पिता और तेरे पतिके गुरु हुए है। उन्हीके उपदेशसे मैने यह सब सुनकर अनुक्रमसे कहा है ॥१३५–१३८॥ इस प्रकार जो पुरुष अमितमति आर्यिकाके द्वारा कही हुई कथाके सुननेमे तल्लीन हो रहे थे वे ससारके सच्चे स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करने लगे ॥१३९॥ इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी दिन प्रियदत्ताने प्रसङ्ग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आप लोगोने यह दीक्षा किस कारण ग्रहण की है? मुझे यह जाननेका कौतुक हो रहा है। तब उन दोनोने स्पष्ट रूपसे अपनी दीक्षाका कारण बतला दिया ॥१४०–१४१॥ तदनन्तर कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने सबकी स्वामिनी अमितमतिके पास दीक्षा धारण कर ली और उन दोनों आर्यिकाओकी माता कुबेरसेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥१४२॥

किसी एक दिन यमराजके द्वारा प्रेरित हुए ही क्या मानो वे दोनो कबूतर-कबूतरी चावल चुगनेके लिये किसी दूसरे गाव गये। वहा एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव था। उस पापीको पूर्व जन्मसे बधे हुए वैरके कारण कबूतर-कबूतरीको देखते ही पापकी भावना जागृत हो उठी और उसने उन दोनोको मार डाला ॥१४३–१४४॥ उसी पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गाधार नामका देश है और उसमें उशीरवती

१ अमितमत्यार्यिका। २ विजयार्द्धपर्वत। ३ निवसन्तौ। ४ शक्तिषेणाटवीश्रीभवे। ५ सर्पसरोवरनिवेशे। ६ कुबेरमित्रसमुद्रदत्तयो। ७ कुबेरकान्तप्रियदत्तयो गुरुत्वमुपयातौ यौ द्वौ तयोरेव चारणयो। ८ यथाक्रमम् स०। ९ लोकपालादय। १० परिज्ञाने रता। ११ यशस्वतीगुणवत्यौ। १२ मम मातुलकुबेरदत्तात् विविधभक्ष्यपूर्वभोजनालाभाज्जातलज्जया तपो गृहीतम्। १३ कुबेरमित्रस्य भार्या। १४ अमितमत्यार्यिकाया। १५ जगत्पालचक्रवर्तिपुत्र्योरमितमत्यनन्तमत्योर्जननी। १६ जम्बूग्रामम्। १७ भक्षणाय। १८ यमप्रेरितौ। १९ पूर्वस्मिन् भवदेव। २० पापेन स०। २१ जम्बूग्रामस्थ कदलीनामधेयमार्जारेण।

आदित्यगतिरस्यासीन्महादेवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्माख्यः सुतो रतिवरोऽभवत्[1] ॥१४६॥
तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीविषयविश्रुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥१४७॥
तस्य स्वयंप्रभादेव्या रतिवेगा[2] प्रभावती । बभूव जैनधर्मोऽयमभ्युद्धरति देहिनः ॥१४८॥
माता पिताऽपि या यश्च सुकान्तरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन् स्थितावास्तां चित्रं तावेव[3] संसृतिः ॥१४९॥
हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चेत् ससुलोचनः[4] । रूपादिवर्णनं तस्याः किं पुनः क्रियते पृथक् ॥१५०॥
यौवनेन समाक्रान्तां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीम् । कस्मै देयेयमित्याह खगेशो मन्त्रिणस्तवः (ततः) ॥१५१॥
शशिप्रभा[5] स्वसा देव्याः[6] भ्रातादित्यगतिस्तया[7] । परे च खचराधीशाः प्रीत्या याचन्त कन्यकाम् ॥१५२॥
ततः स्वयंवरो युक्तो विरोधस्तत्र केनचित् । इत्यमात्या विनिश्चित्य 'तद्नृपोऽप्यन्वमन्यत[8]' ॥१५३॥
ततः सर्वेऽपि तद्वार्ताकर्णनादागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहीद् रत्नमालया ॥१५४॥
मातापितृभ्यां तद् दृष्ट्वा सम्पृष्टा प्रियकारिणी[9] । यो जयेद् गतियुद्धे मां माला मयाऽस्यास्त्वहम् ॥१५५॥
कण्ठे तस्येति कन्येयं प्रागित्याह सखी[10] तयोः[11] । श्रुत्वा तत्र दिने सर्वानुचितं च व्यसर्जयत् ॥१५६॥

नामकी एक नगरी है। उसके राजा थे आदित्यगति और उनकी रानीका नाम था शशिप्रभा। रतिवर कबूतर मरकर उन दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥१४५-१४६॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके प्रसिद्ध नगरमें विद्याधरोंका स्वामी राजा वायुरथ राज्य करता था। उसकी स्वयंप्रभा नामकी रानी थी। रतिवेगा कबूतरी मरकर उन्हीं दोनोंको प्रभावती नामकी पुत्री हुई सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी प्राणियोंका उद्धार कर देता है ॥१४७-१४८॥ सुकान्त और रतिवेगाके जो पहले माता-पिता थे वे ही इस जन्ममें भी माता-पिता हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बड़ा ही विचित्र है। भावार्थ—सुकान्तके पूर्वभवके माता-पिता अशोक और जिनदत्ता इस भवमें आदित्यगति और शशिप्रभा हुए हैं तथा रतिवेगाके पूर्वभवके माता-पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस भवमें वायुरथ तथा स्वयंप्रभा हुए हैं ॥१४९॥ जब जयकुमारने सुलोचनाके साथ बैठकर 'हा मेरी प्रभावती' ऐसा कहा तब फिर उसके रूप आदिका वर्णन अलगसे क्या किया जाय? ॥१५०॥ प्रभावती कन्याको यौवनसे सम्पन्न देखकर विद्याधरोंके अधिपति वायुरथने अपने मन्त्रियोंसे कहा कि यह कन्या किसे देनी चाहिये? ॥१५१॥

मन्त्रियोंने परस्परमें निश्चय कर कहा कि 'शशिप्रभा आपकी बहिन है, और आदित्यगति आपकी पट्टरानीका भाई है। ये दोनों तथा इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर राजा बड़े प्रेमसे कन्याकी याचना कर रहे हैं इसलिये स्वयंवर करना ठीक होगा क्योंकि ऐसा करनेमें किसीके साथ विरोध नहीं होगा।' मन्त्रियोंकी यह बात राजाने भी स्वीकार की ॥१५२-१५३॥ तदनन्तर स्वयंवरकी बात सुनकर सभी राजकुमार आये परन्तु कन्या प्रभावतीने इन सबमें से किसीको भी रत्नमालाके द्वारा स्वीकार नहीं किया—किसीके भी गलेमें रत्नमाला नहीं डाली ॥१५४॥ यह देखकर माता-पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इसका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि यह पहले कहती थी कि 'जो मुझे गतियुद्धमें जीतेगा मैं उसीके गलेमें माला डालूँगी' यह सुनकर राजाने उस दिन यथायोग्य कहकर सबको विदा किया ॥१५५-१५६॥

१ रतिवरनामकपोतः। २ रतिवेगा नाम कपोती। ३ श्रीदत्ताविमलश्रियौ। अशोकदेवजिनदत्ते द्वे च अमुना वायुरथस्वयंप्रभादेव्यौ चादित्यगतिशशिप्रभे च पितरावभूतामिति। ४ सुलोचनया सहितः। ५ मम शशिप्रभेति भगिनी। ६ वायुरथस्य तव भार्यायाः। ७ स्वयंप्रभादेव्या भ्राता आदित्यगतिश्च सोऽपि स्वपुत्राय याचितवान् इत्यर्थः। ८ एवं मति। ९ तदास्मिन् धनुर्गतिमार्गेण। १० कन्यायाः सखी। ११ वायुरथस्वयंप्रभयोः।

अन्येद्यु खचराधीशो घोषयित्वा[1] स्वयंवरम् । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य मालां पुरःस्थिताम् ॥१५७॥
अपातयन्महामेरु[2] त्रि[3]परीत्य महीतलम् । अस्पृष्टा खेचरा केचित्तां प्रहीतुमनीश्वराः ॥१५८॥
अपरा गता समादाय प्रभावत्या विनिर्जिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानभङ्गेन मानिनाम् ॥१५९॥
ततो हिरण्यवर्माऽयाद् गतियुद्धविशारदः । मालामासञ्जयामास[4] तत्कण्ठे तेन निर्जिता ॥१६०॥
तयो जन्मान्तरस्नेहसमृद्धसुखसम्पदा । काले गच्छति कस्मिंश्च (चित्) कपोतद्वयदर्शनात् ॥१६१॥
ज्ञातप्राग्भवसम्बन्धा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिताशोकाकुलैकैव[5] चिन्तयन्ती विमप्यसौ ॥१६२॥
हिरण्यवर्म्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटम् । पट्टकं प्रियकारिण्या[6] हस्ते[7] समवलोक्य तम् ॥१६३॥
क्व लब्धमिदमित्याख्यत् प्राह सापि प्रियेण ते । लिखितं चेटकस्तस्य[8] सुकान्तो मे समर्पयत् ॥१६४॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकम् । प्राक्तनं[9] पट्टके तस्या लिखित्वाऽसौ[10] करे ददौ ॥१६५॥
तद्विलोक्य कुमारोऽभूत् प्रभावत्यां प्रसक्तधीः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या[11] द्वि[12]गुणाऽभवत्
सम्भूय बान्धवाः सर्वे कल्याणाभिषवं तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं ते चिकीर्षवः ॥१६७॥
दशम्या[13] सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ[14] सुचित्[15] । हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणं ॥१६८॥

दूसरे दिन राजाने स्वयंवरकी घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्धकूट नामक चैत्यालयके द्वारसे नीचे छोडी जायगी' जो कोई विद्याधर माला छोडनेके बाद महामेरु पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएं देकर प्रभावतीके पहले उसे जमीनपर पडनेके पहले ही ले लेगा वही इसका पति होगा' यह सुनकर बहुतसे विद्याधरोंने प्रयत्न किया परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे माला न ले सके इसलिये प्रभावतीसे हारकर लज्जित होते हुए चले गये सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोंके मानभंग की बराबरी नहीं कर सकती है ॥१५७–१५९॥ तदनन्तर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उससे हारकर प्रभावतीने वह माला उसके गलेमें डाल दी ॥१०६॥ पूर्व जन्मके स्नेहसे बढी हुई सुखरूप सम्पत्तिसे जब उन दोनोंका कितना ही समय व्यतीत हो गया तब किसी एक दिन कबूतर कबूतरीका जोडा देखनेसे प्रभावतीको पूर्वभवका सम्बन्ध याद आ गया, वह विरक्त होकर शोकसे व्याकुल होती हुई अकेली बैठकर कुछ सोचने लगी ॥१६१–१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जाति स्मरण हुआ था, उसने एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब हाल साफ साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह पटिया देखकर कहा कि यह चित्रपट तुझे कहां मिला है ? सखीने कहा कि 'यह चित्रपट तेरे पतिने लिखा है और उनके नौकर सुकान्तने मुझे दिया है, इस प्रकार सखीके वचन सुनकर प्रभावतीने भी एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब वृत्तान्त लिखकर सखीके हाथमें दिया ॥१६३–१६५॥ वह चित्रपट देखकर हिरण्यवर्मा प्रभावतीपर बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मापर बहुत अनुराग करने लगी, उन दोनोंका प्रेम पूर्व पर्यायके प्रेमसे कहीं दूना हो गया था ॥१६६॥ कुटुम्बके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगलाभिषेक किया मानो वे उनका दूसरा कल्याण ही करना चाहते हों ॥१६७॥ किसी समय दशमीके दिन ये दोनों सिद्धकूटके चैत्यालयमें अभिषेक पूजन आदि कर रहे थे उसी समय हिरण्य-

---

१ स्वयंवरमिति घोषयित्वा तद्दिने व्यसर्जयदिति सम्बन्धः । २ भूमौ पातयति स्म । ३ मरोस्त्रिः । ४ घटयति स्म । ५ अगत्यैव । ६ प्रभावत्या सख्याः । ७ हस्ते स्थितम् । ८ हिरण्यवर्मणः । ९ प्राग्भवम् पुरातनमित्यर्थः । १० प्रभावती । ११ पुरातनी । १२ आ समन्तात् द्विगुणा । १३ विवाहदिनाद् दशमदिने । १४ अभिषवपूजाविधौ । १५ प्रत्यक्षज्ञानम् । प्रत्यक्षज्ञानी ता० टि० । क्वचित् अ०, प०, स०, द०, म० ।

प्रभावत्या च पृष्टोऽसौ स्वं पूर्वभववृत्तकम्[1] । अभाषत मुनेरेवमनुग्रहधिया तयोः ॥१६९॥
तृतीयजन्मनीतोऽत्र सम्भूतौ वणिजां कुले । रतिवेगा सुकान्तश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥१७०॥
भर्तुर्भार्यामितः स्वन्त्यं[2] सम्प्राप्यारिभयाद्[3] गतौ[4] । कृत्वाऽनुमोदनं शक्तिषेणदाने सपुण्यकौ ॥१७१॥
पारावतभवे चाप्य[5] धर्मं जातौ युवामिति । विधाय पितरौ[6] वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥१७२॥
तृतीयजन्मनो युष्मद्गुरवो[7]ऽहं[8] च सङ्गताः । रतिषेणगुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरम् ॥१७३॥
जिनेन्द्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा । विधाय पूजां समजायामहीह[9] खगाधिपाः ॥१७४॥
पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा[10] श्रीधर्मनामाऽत्र संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥१७५॥
चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतान्तरां च तौ[11] ॥१७६॥
एवं सुखेन यात्येषां[12] काले वायुरथः पृथुम् । विशरारुं[13] समालोक्य स्तनयित्नुं[14] प्रतिक्षणम् ॥१७७॥
[15]'विश्वं विनश्वरं पश्यन् शाश्वच्छाश्वतिकीं मतिम् । जनः करोति सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः'[16] ॥१७८॥
इति याथात्म्यमासाद्य दत्वा राज्यं विरज्य[17] सः । मनोरथाय नैःसङ्ग्यं[18]प्रपित्सुरभवत्तदा ॥१७९॥
प्रावित्यगतिमभ्येत्य प्रीत्या सर्वेऽपि बान्धवाः[19] । प्रभावतीसुता देया भवतेय रतिप्रभा ॥१८०॥

वर्माने परमावधि ज्ञानको धारण करनेवाले चारणमुनि देखे, प्रभावतीने उनसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा, मुनिराज भी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोंके पूर्वभवका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे ॥१६८–१६९॥ कि तुम दोनों इस जन्मसे तीसरे जन्ममें मृणालवती नगरीके वैश्य कुलमें रतिवेगा तथा सुकान्त हुए थे ॥१७०॥ स्त्री पुरुषका सम्बन्ध पाकर तुम दोनों शत्रुके भयसे भागकर शक्तिषेणकी शरण गये थे। वहां शक्तिषेणने मुनिराजके लिये जो आहार दान दिया था उसकी अनुमोदना कर तुम दोनोंने पुण्यबन्ध किया था, उसके बाद कबूतर-कबूतरी के भवमें धर्म लाभकर यहां विद्याधर विद्याधरी हुए हो। तुम दोनोंके वैश्य जन्मके जो माता पिता थे वे ही इस जन्मके भी तुम्हारे माता पिता हुए हैं। तीसरे जन्मके तुम्हारे माता पिता तथा मैंने मिलकर एक साथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषध व्रत लिया था, और उसका चिरकाल तक पालन करते हुए श्रीजिनेन्द्रदेवके मन्दिरमें भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोंसे सदा पूजा की थी उसीके फलस्वरूप हम लोग यहां विद्याधर हुए हैं। मैं पूर्वभवमें रतिवर्मा नामका भवदेवका पिता था, अब श्रीधर्म नामका विद्याधर हुआ हूँ, मैंने शुद्ध हृदयसे संयम धारणकर चारण-ऋद्धि और तीसरा अवधि ज्ञान प्राप्त किया है इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर हिरण्य-वर्मा और प्रभावती दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥१७१–१७६॥

इस तरह इन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था कि किसी एक समय प्रभावतीके पिता वायुरथ विद्याधरने प्रत्येक क्षण नष्ट होनेवाला मेघ देखकर ऐसा विचार किया कि यह समस्त संसार इसी प्रकार नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी लोग इसे स्थिर रहनेवाला समझते हैं, यह अज्ञानरूपी घोर अन्धकार सब जगह क्यों छाया हुआ है? इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका विचारकर विरक्त हो मनोरथ नामक पुत्रके लिये राज्य दे दिया और स्वयं निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥१७७–१७९॥ उसी समय वायुरथके सभी भाई-बन्धुओंने बड़े

१ स्वपूर्व–अ०, प०, इ०, स०, ल०। २ दम्पतिसम्बन्धम्। ३ भवदेवभयात्। ४ पराश्रितौ। ५ प्राप्य। ६ श्रीदत्तविमलश्रियौ। अशोकदत्तजिनदत्तौ च। ७ युवयोः पितरौ। श्रीदत्तविमलश्री-अशोकदत्त-जिनदत्ताः। ८ भवदेवस्य पिता रतिवर्मा। ९ जाताः स्म। १० श्रीधर्मनामधारिणि। ११ हिरण्य-वर्मप्रभावत्यौ। १२ वायुरथादीनाम्। १३ विनश्वरशीलम्। १४ मेघम्। 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यभिधानात्। १५ पुत्रमित्रकलत्रबन्धनादिकम्। १६ अज्ञानम्। १७ विरक्तो भूत्वा। १८ प्राप्तुमिच्छुः। १९ वायुरथस्य बन्धुजनाः।

मनोरथस्य पुत्राय कन्या चित्ररथाय सा । इत्याहु[1] सोऽप्यनुज्ञाय[2] कृत्वा बन्धुविसर्जनम् ॥१८१॥
[3]हिरण्यवर्मण सर्वखगराजाभिषेचनम् । विधाय बहुभि सार्धं सम्प्राप्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८२॥
सयम प्रतिपन्न सन् सहवायुरथ[4] स्वयम्[5] । तपो द्वादशधा प्रोक्त यथाविधि समाचरत् ॥१८३॥
इत्युक्त्वा रतिवेगाऽह रतिषेणा[6] प्रभावती । चाहमेवेति[7] सभ्याना[8] निजगाद[9] सुलोचना ॥१८४॥
तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामह[10] क्रमात् । जाये स्म[11] तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृद्वच ॥१८५॥
पुन प्रिया जय प्राह प्रकृत किञ्चिदप्यत । अवशिष्ट तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥१८६॥
इति पत्यु परिप्रश्नाद्दन्त ज्योत्स्नया सभाम् । मूर्ति कुमुद्वतीं वेन्दोर्विकासमुपनीयताम् ॥१८७॥
साऽब्रवीदिति तद्वृत्त स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुख राज्यसमुद्भूत यथेष्टमपि निर्विशन्[12] ॥१८८॥
परेद्यु कान्तया सार्द्ध[13] स्वेच्छया विहरन् वनम् । सरो धान्यकमालाख्य वीक्ष्यादित्यगते[14] सुत ॥१८९॥
[15]स्वप्राच्यभवसम्बन्ध प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिवलाल्लब्धनिर्वेदो विदुषा वर ॥१९०॥
भङ्गुर[16] सङ्गम सर्वोऽप्यङ्गिनामभिवाञ्छित । किं नाम सुखमत्रेदम् अल्पसङ्कल्पसम्भवम् ॥१९१॥
आयुर्वायुचल कायो हेय एवामयालय । साम्राज्य भुज्यते [17]लोलैर्वालि[18]शैर्बहुदोपलम्[19] ॥१९२॥
अदूरपार[20] वा योऽयम् असारो दुरिताश्रय । [21]तादात्म्यप्रारब्धनोऽनेन[22] धिगेनमशुचिप्रियम्[23] ॥१९३॥

प्रेमसे आदित्यगतिके समीप जाकर प्रार्थना की 'कि यह प्रभावतीकी पुत्री रतिप्रभा कन्या आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथके लिये दे दीजिये ।' आदित्यगतिने भी स्वीकार कर समागत बन्धुओंको विदा किया ॥१८०–१८१॥ महाराज आदित्यगति सब विद्याधरोंके राज्यपर हिरण्यवर्माका अभिषेक कर अनेक लोगोंके साथ किन्हीं मुनिराजके समीप पहुचे, और वायुरथके साथ साथ स्वय भी सयम धारण कर विधिपूर्वक शास्त्रोंमें कहे हुए बारह प्रकारके तपश्चरण करने लगे ॥१८२–१८३॥ यह सब कहकर सुलोचनाने सब सभासदोंसे कहा कि वह रतिवेगा भी मैं ही हूँ, रतिषेणा (कबूतरी) भी मैं ही हूँ और प्रभावती भी मैं ही हूँ ॥१८४॥ यह सुनकर जयकुमारने भी सबको आश्चर्य करनेवाले वचन कहे कि उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही उन रतिवेगा आदिका पति हुआ हूँ ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया-सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये, कुछ बात बाकी और रह गई है उसे भी तू अच्छी तरह कह दे ॥१८६॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी मूर्ति कुमुदिनीको विकसित कर देती है उसी प्रकार वह सुलोचना भी अपने पतिके पूर्वोक्त प्रश्नसे दांतोंकी कान्तिके द्वारा सभाको विकसित–हर्षित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोंको इस प्रकार कहने लगी कि वह हिरण्यवर्मा राज्यसे उत्पन्न हुए सुखका इच्छानुसार उपभोग करने लगा। किसी एक दिन अपनी वल्लभाके साथ विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें जा पहुचा। वहा सरोवरको देखकर उसे अपने पूर्वभवके सब सम्बन्ध प्रत्यक्षकी तरह दिखने लगे, काललब्धिके निमित्तसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ है ऐसा वह हिरण्यवर्मा सोचने लगा कि प्राणियोंकी इच्छाका विषयभूत यह सभी समागम क्षणभगुर है इस समागममें थोड़ेसे सकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या वस्तु है ? यह आयु वायुके समान चचल है। अनेक रोगोंका घर स्वरूप यह शरीर छोड़ने योग्य ही है । अनेक दोषोंसे देखाके राज्यको चचल

1 वायुरथस्य विद्याधरस्य । २ मघादित्यगतिर्मति कृत्वा । ३ अथ दत्ता ल० म० पुस्तकयो दृश्यते । ४ वायुरथेन सहित । ५ आदित्यगति । ६ रतिषेणाति पारावती । ७ सुलोचना । ८ सभाजनानाम् । ९ अभाषत । १० रतिवेगादीनाम् । ११ जातोऽस्मि । १२ अनुभवन् । १३ प्रभावत्या सह । १४ हिरण्यवर्मा । १५ पूर्वभव । १६ क्षयशील । १७ आसक्तै । १८ मूर्खै । १९ बहुदोषवत् । २० आगमप्रमाणात । २१ तन्मयत्वात्तम् । २२ कायेन । २३ अशुचिम् ।

देहवासो[1] भयं नास्य[2] यानमस्मात्[3] महद् भयम् । देहिनः चित्रमार्गस्य[4] विपर्यासोऽत्र[5] निर्वृते ॥१९४॥
नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैरनन्तशः । निर्वाणाप्तिरतो हेयो देह एव यथा तथा[6] ॥१९५॥
बन्धः सर्वोऽपि सम्बन्धो[7] भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासमायुः तृष्णाग्नेरिन्धनं धनम् ॥१९६॥
आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽन्तेऽन्तकः खलः । इति चक्रभ्रमत्यन्ति[8] जन्तोर्मध्येभवार्णवम्[9] ॥१९७॥
भोगिनो[10] भोगवद्[11] भोगा न[12] भोगा नाम भोग्यकाः । एवं भावयतो भोगान् भूयोऽभूवन् भयावहाः ॥१९८॥
निषेव्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । दीपयन्ते[13] बुभुक्षाग्नि[14] [15]दीपनीयैरिवौषधैः ॥१९९॥
न तृप्तिरेभिरित्येष[16] एव दोषो न पोषकाः । तृषश्च[17] विषवल्लर्याः संसृतेश्चावलम्बनम् ॥२००॥
वनितातनुसम्भूतकामाग्निः [18]स्नेहसेचनैः । कामिनं भस्मसाद्भावम् अनीत्वा न निवर्तते ॥२०१॥
जन्तोर्भोगेषु भोगान्ते सर्वत्र[19] [20]विरतिर्ध्रुवा । स्थैर्ये तस्याः प्रयत्नोऽयं क्रियाशेषो[21] मनीषिणः ॥२०२॥
प्रापितोऽप्यसकृद् दुःखं भोगैस्तानेव याचते । पत्ताऽवताडितोऽप्यङ्घ्रिं मातुरास्पा एव बालकः ॥२०३॥

और मूर्ख लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अन्त निकट है, यह असार है, और पापका आश्रय है, इसी शरीरके साथ इस आत्माका तादात्म्य हो रहा है, इसलिये अपवित्र पदार्थोंमें प्रेम करनेवाले इस प्राणीको धिक्कार हो, इस प्राणीको शरीरमें निवास करनेसे तो भय मालूम नहीं होता परन्तु उससे निकलनेमें बड़ा भय मालूम होता है, निश्चयसे इस संसारमें मोक्षमार्गसे विपरीत प्रवृत्ति ही होती है ॥१८७–१९४॥ यह जीव स्व स्वरूपकी अपेक्षा रूपरहित है परन्तु शरीरके सम्बन्धसे रूपी हो रहा है, रूपरहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति है इसलिये जिस प्रकार बने उसी प्रकार शरीरको अवश्य ही छोड़ना चाहिये ॥१९५॥ सब प्रकार सम्बन्ध ही बन्ध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लम्बी आयु ही तो दुःख देती है और धन ही तृष्णारूपी अग्निका ईंधन है ॥१९६॥ इस जीवको पहले तो जन्म धारण करना पड़ता है, मध्यमें बुढ़ापा तथा अनेक रोग हैं और अन्तमें दुष्ट मरण है, इस प्रकार संसाररूप समुद्रके मध्यमें इस जीवको चक्रकी तरह भ्रमण करना पड़ता है ॥१९७॥ भोग करनेवाले प्राणियोंको ये भोग सर्पके फणोंके समान हैं इसलिये भोग करने योग्य नहीं हैं इस प्रकार भोगोंका बार बार विचार करनेवाले पुरुषके लिये ये भोग बड़े भयंकर जान पड़ने लगते हैं ॥१९८॥ ये सेवन किये हुए विषय विषके समान हैं, जिस प्रकार उत्तेजक औषधियोंसे पेटकी आग भभक उठती है उसी प्रकार भोगकी इच्छाओंसे ये विषय भभक उठते हैं ॥१९९॥ इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती केवल इतना ही दोष नहीं है किन्तु तृष्णाको पुष्ट करनेवाले भी हैं और संसाररूपी विषकी बेलको सहारा देनेवाले भी हैं ॥२००॥ स्त्रियोंके शरीरसे उत्पन्न हुई यह कामरूपी अग्नि स्नेहरूपी तेलसे प्रज्वलित होकर कामी पुरुषोंको भस्म किये बिना नहीं लौटती है ॥२०१॥ भोग करनेके बाद इन समस्त भोगोंमें जीवोंको वैराग्य अवश्य होता है, बुद्धिमान् लोगोंको जो तपश्चरण आदि क्रिया करनी पड़ती हैं वे सब इस वैराग्यको स्थिर रखनेका उपाय ही है ॥२०२॥ यद्यपि यह जीव भोगोंसे अनेक बार दुःखको प्राप्त है तथापि ये जीव उन्हीं भोगोंको चाहते हैं सो ठीक ही है क्योंकि माता बालकको जिस पैरसे ताड़ती है बालक उसी उसी प्रकार माताके चरणको पकड़ते हैं

१ शरीरे निवसनम्। २ निर्गमनम्। ३ देहवासात्। ४ व्यभय। ५ देहिनि। ६ येन येन प्रकारेण। ७ पुत्रमित्रादिसम्बन्धः। ८ सवार्ध त०, अ०, प०। ९ स्पन्द। १० स्नीरवत्। फणावद् वा। 'भोग सुखे स्त्रियादिभृतावहेश्च फणकायया' इत्यभिधानात्। ११ भोगा नाम न नाम्यका स०। १२ भृशं दहन्ति। १३ जाठराग्निमिच्छामि। १४ दारुणमुनि। १५ मार्गे। १६ तृष्णाया। १७ स्नेह प्रति तैलस्य। स्नेहसर्जनैः अ०, स०। स्नेहसेचनैः प०, ल०। १८ सर्वेषु। १९ अप्रीतिः। २० विरत। २१ अनुष्ठानशेषः।

अथवा स्त्वयं गुणं मन्ये भोगायु[1]कायसम्पदाम् । ध्रुवेष्वेषु कुतो मुक्तिर्विना मुक्तेः कुतः सुखम् ॥२०४॥
[2]विस्रम्भजननं पूर्वं पश्चात् प्राणार्थहारिभिः । [3]पारिपन्थिकसदृशैः विषयैः कस्य [4]नापदः ॥२०५॥
तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात् सुखं विषयैश्च यत् । [5]कारवेल्लिका स्वादु [6]आभक्ष ननु तत्क्षुधः ॥२०६॥
सङ्कल्पसुखसन्तोषाद् [7]विमुखस्त्वात्मजात् सुखात् । गुञ्जाग्नितापसन्तुष्टशाखामृगसमो जनः ॥२०७॥
सदास्ति निर्जरा नासौ मुक्त्यै बन्धच्युतेर्विना । [8]तच्च्युतिश्च हृतेर्बन्धहेतोस्तत्तद्धतौ [9]यते ॥२०८॥
केन मोक्षः क्व जीवो[10] कुतः सौख्यं क्व वा मतिः । [11]परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥२०९॥
किं[12] भव्यः किमभव्योऽयमिति संशेरते[13] बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यतां लक्ष्मीकटाक्ष[14]शरशायिते ॥२१०॥
अयं कायद्रुमः [15]कान्तालतातीतिविवेष्टितः । जरित्वा[16] जन्मकान्तारे [17]कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥२११॥
यदि धर्मकणादित्थं[18] निदानविषदूषितात्[19] । सुखं धर्मामृताम्भोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥

॥२०३॥ भोग, आयु, काल और सम्पदाओंमें जो अस्थिरपना है उसे मैं एक प्रकारका गुण ही मानता हूं क्योंकि यदि ये सब स्थिर हो गये तो मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? और मुक्तिके बिना सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? ॥२०४॥ पहले तो विश्वास उत्पन्न करनेवाले और पीछे प्राण तथा धनको अपहरण करनेवाले शत्रु तुल्य इन विषयोंसे किसे भला आपदाएं प्राप्त नहीं होती हैं ? ॥२०५॥ इन विषयोंसे जो सुख होता है वह दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि जो करेला मीठा लगता है वह भूखका ही प्रभाव है ॥२०६॥ यह जीव कल्पित सुखोंसे सतुष्ट होकर आत्मासे उत्पन्न होनेवाले वास्तविक सुखसे विमुख हो रहा है इसलिये यह जीव गुमचियों के तापनेसे सतुष्ट होनेवाले वानरके समान है । भावार्थ–जिस प्रकार गुमचियोंके तापनेसे बन्दरकी ठंड नहीं दूर होती है उसी प्रकार इन कल्पित विषयजन्य सुखोंसे प्राणियोंकी दुःख रूप परिणति दूर नहीं होती है ? ॥२०७॥ इस जीवके निर्जरा तो सदा होती रहती है परन्तु बन्धका अभाव हुए बिना वह मोक्षका कारण नहीं हो पाती है, बन्धका अभाव बन्धके कारणों का नाश होनेसे हो सकता है इसलिये मैं बन्धके कारणोंका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील हूँ॥२०८॥* इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करने रूप पिशाच लग रहा है उन्हें भला मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है ? उनका जीवन किस प्रकार रह सकता है ? उन्हें सुख कहांसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि ही कहां उत्पन्न हो सकती है ? ॥२०९॥ लक्ष्मीके कटाक्ष-रूपी बाणोंसे सुलाये हुए (नष्ट हुए) पुरुषमें अनित्यताको जानकर भी विद्वान् लोग 'यह भव्य है ? अथवा अभव्य है ?' इस प्रकार व्यर्थ संशय करने लगते हैं ॥२१०॥ स्त्रीरूपी लताओं के समूहसे घिरा हुआ यह शरीररूपी वृक्ष संसाररूपी अटवीमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निका ग्रास हो जायगा ॥२११॥ जब कि निदानरूपी विषसे दूषित धर्मके एक अंशसे मुझे ऐसा सुख मिला है तब धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन करनेसे जो सुख प्राप्त होगा उसका तो

---

१ काल–ल० । २विश्वासजनके । ३ शत्रुसदृशैः । ४ न विपत्तयः । ५ कटुकास्वादः शाकविशेषः । कारवेल्लिका स्वादु प०, द०, ग०, अ०, स० । ६ बुभुक्षायाः । ७ विमुखश्चात्मजात् ल०, प०, इ०, अ० । ८ तत् कारणात् । ९ यत्नं करोमि । १० जीवनम् । ११ परिग्रहस्वीकारनक्रस्वीकृतस्य । १२ विशिष्टेष्ट-परिणामेन किं भविष्यति । १३ संशयं कुर्वन्ति । १४ अपाङ्गदर्शनबाणतनूकृतशरीरे पुंसि । १५ भार्या-लता । १६ जीर्णीभूत्वा । १७ यमदावाग्निः । १८ धर्मलेशात् । १९ कपोतजन्मनि कुबेरमित्रेण स्वर्ण-द्रावापुण्यसंस्कार कपोतस्य दत्त विद्याधरविमानं विलोक्य कपोतेन चेष्टितदत्तपुण्याशात् मम विद्याधरत्व-मभविष्यति इत्यनिदानविषदूषितत्वात् ।

* मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धनके कारण हैं ।

अबोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः[1] । मोक्षश्चेद् वीक्षितो विद्भिः[2] कः क्षेपो[3] मोक्षसाधने ॥२१३॥
यदि[4] देशादिसामग्र्ये न तपस्तत्पुनः कुतः । मग्नेऽर्णवे यतो[5] वेगात् करात्प्रच्युतरत्नवत् ॥२१४॥
आत्मन्[6] स्व परमात्मानम् आत्मन्यात्मानमात्मना । हित्वा दुरात्मतामात्मनीने[7]ऽध्वनि[8] चरन्[9] कुरु ॥२१५॥
इति सञ्चिन्तयन् गत्वा पुरं[10] परमतत्त्ववित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिषेकं वितीर्य सः ॥२१६॥
अवतीर्य[11] महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनम्[12] । दीक्षां जैनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुसन्निधौ ॥२१७॥
परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोंऽशुभिः । हिरण्यवर्मा [13]घर्मांशुनिर्मलो व्यद्युतत्तराम् ॥२१८॥
प्रभावती च तन्माता[14] [15]गुणवत्यास्तपोऽगमत् । कुतश्चन्द्रमसं मुक्त्वा चन्द्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥
सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो दिगम्बर[16] विभूषणः । निस्सङ्गो [17]व्योमगाम्येकविहारी विश्ववन्दितः ॥२२०॥
नित्योदयो[18] बुधाधीशो विश्व[19]दृश्वा विरोचनः[20] । स कदाचित् समागच्छन्मोदयन् पुण्डरीकिणीम् ॥

कहना ही क्या है ? ॥२१२॥ यह संसार अज्ञान, द्वेष और राग स्वरूप है तथा मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और समता स्वरूप है। यदि विद्वान् लोग ऐसा देखते रहें तो फिर मोक्ष होनेमें देर ही क्या लगे ? ॥२१३॥ जिस प्रकार वेगसे जाते हुए पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिल सकता है उसी प्रकार देश काल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तप नहीं किया तो वह तप फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिये हे आत्मन्, तू आत्माका हित करनेवाले मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें परमात्मा रूप अपने आत्माको ही स्वीकार कर ॥२१५॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए परम तत्त्वके जाननेवाले राजा हिरण्यवर्माने अपने नगरमें जाकर अपने पुत्र सुवर्णवर्माके लिए अभिषेकपूर्वक राज्य सौंपा और फिर विजयार्द्ध पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर लक्ष्मीके गृहस्वरूप श्रीपुर नामके नगरमें श्रीपाल गुरुके समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६-२१७॥ परिग्रहरूपी पिशाचसे मुक्त हो दीक्षा धारण कर सूर्यके समान निर्मल हुआ वह राजा हिरण्यवर्मा तपश्चरणरूपी किरणोंसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥२१८॥ प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता–शशिप्रभाके साथ गुणवती आर्यिकाके समीप तप धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमाको छोड़कर चाँदनीकी पृथक् स्थिति भला कहाँ हो सकती है ? ॥२१९॥ वे हिरण्यवर्मा मुनिराज ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है उसी प्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् निर्दोष चारित्रको धारण करनेवाले थे। जिस प्रकार सूर्य तप अर्थात् गर्मीसे देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी तप अर्थात् अनशनादि तपश्चरणसे देदीप्यमान रहते थे, जिस प्रकार सूर्य दिगम्बर अर्थात् दिशा और आकाशका आभूषण है उसी प्रकार मुनिराज भी दिगम्बर अर्थात् दिशारूप वस्त्रको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ मुनियोंके आभूषण थे, जिस प्रकार सूर्य निःसङ्ग अर्थात् सहायता-रहित अकेला होता है उसी प्रकार मुनिराज भी निःसङ्ग अर्थात् परिग्रहरहित थे, जिस प्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार चारणऋद्धि होनेसे मुनिराज भी आकाशमें गमन करते थे, जिस प्रकार सूर्य अकेला ही घूमता है उसी प्रकार मुनिराज भी अकेले ही घूमते थे–एकविहारी थे, जिस प्रकार सूर्यको सब वन्दना करते हैं उसी प्रकार मुनिराजको भी सब वन्दना

१ अज्ञान। २ बुधैः। ३ कालयापना। ४ मुदत्सुलभतादिसामग्र्ये। ५ मग्ने। ६ आत्मन् स्व ल०। ७ आत्महिते। ८ मार्गे। ९ चर ल०, प०। रति कुरु अ०, स०। १० पादचलनवशात् निजनगरं प्राप्य। ११ विजयार्धाचलात् भुवं प्राप्य। १२ श्रीगृहम्। १३ आदित्य। १४ हिरण्यवर्मणो जनन्या शशिप्रभया सह। १५ गुणवत्यार्यिकायाः समीपे। १६ दिगम्बर अम्बरस्य विभूषणः इति। १७ गगनचारिणः। १८ सर्वदोदयवान्। १९ जगच्चक्षुः। २० रविरिव।

सप्रभा चन्द्रलेखेव सह तत्र[1] प्रभावती । गुणवत्या समागंस्त[2] सङ्गतिः स्याद्यदृच्छया ॥२२२॥
[3]गुणवत्यार्यिकां दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्तया । [4]कुतोऽसौ[5] [6]गणिनीत्यास्यत्[7] स्वर्गतेति[8] प्रभावती ॥२२३॥
तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता[9] नौ सैवेति[10] शुचमागता । कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽब्रवीत् प्रियदत्तया ॥२२४॥
न स्मरिष्यसि किं पारावतद्वन्द्वं भवद्गृहे । [11]तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥२२५॥
क्वासौ रतिवरोऽद्येति सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा [12]कर्मारिर्यतिरत्रेति[13] [14]साब्रवीत् ॥२२६॥
प्रियदत्ताऽपि तं[15] गत्वा वन्दित्वैत्य[16] महामुनिम् । प्रभावती परिप्रश्नात् पत्युरित्याह वृत्तकम् ॥२२७॥
विजयार्द्धगिरेरस्य गान्धारनगरादिह[17] । विहर्तुं रतिषेणोऽस्मा गान्धार्या प्रिययाऽगमत् ॥२२८॥
गान्धारी सर्पदष्टाऽहमिति तत्र मृषा स्थिता । मन्त्रौषधीः प्रयोज्यास्याः श्रेष्ठी[18] विद्याधरश्च सः ॥२२९॥

करते थे, जिस प्रकार सूर्यका नित्य उदय होता है उसी प्रकार मुनिराजके भी ज्ञान आदिका नित्य उदय होता रहता था, जिस प्रकार सूर्य बुध अर्थात् बुधग्रहका स्वामी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी बुध-अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे, जिस प्रकार सूर्य विश्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विश्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेवाले थे, जिस प्रकार सूर्य विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान रहता है अथवा विरोचन नामको धारण करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान थे अथवा रुचिरहित उदासीन थे और जिस प्रकार सूर्य पुण्डरीकिणी अर्थात् कमलिनीको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार मुनिराज भी पुण्डरीकिणी अर्थात् विदेह क्षेत्रकी एक विशेष नगरीको आनन्दित करते थे इस प्रकार सूर्यकी समानता रखनेवाले मुनिराज हिरण्यवर्मा किसी समय पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारे ॥२२०-२२१॥ प्रभासहित चन्द्रमाकी कलाके समान आर्यिका-प्रभावती भी वहाँ आई और गुणवती-गणिनीके साथ मिलकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि समागम अपनी इच्छानुसार ही होता है ॥२२२॥ गुणवती-गणिनीको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार कर पूछा कि सधर्माधिकारिणी अमितमति कहा है ? तब उसने कहा कि 'वह तो स्वर्ग चली गई है' यह सुनकर प्रभावती कुछ शोक करने लगी और कहने लगी कि 'हम दोनोंकी आंखे वही थी,' तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ ? उत्तरमें प्रभावती कहने लगी कि 'आपको क्या स्मरण नही है आपके घरमें जो कबूतर-कबूतरीका जोड़ा रहता था उनमेंसे मैं रतिषेणा नामकी कबूतरी हूँ, यह सुनकर प्रियदत्ता आश्चर्यसे चकित होकर कहने लगी कि 'वह रतिवर कबूतर आज कहाँ है तब प्रभावतीने कहा कि वह भी विद्याधरोंका राजा हिरण्यवर्मा हुआ है और कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाला वह आज इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें विराजमान है। प्रियदत्ताने भी जाकर महामुनि-हिरण्यवर्माकी वन्दना की और फिर प्रभावतीके पूछनेपर अपने पतिका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी ॥२२३-२२७॥

एक रतिषेण नामका विद्याधर अपनी स्त्री गांधारीके साथ साथ इसी विजयार्ध पर्वतके गांधार नगरसे विहार करनेके लिये यहा आया था ॥२२८॥ मुझे सर्पने काट खाया है इस प्रकार झूठ मूठ बहानाकर गांधारी यहा पड़ रही, सेठ कुबेरकान्त और विद्याधरने बहुत सी औषधियोंका प्रयोग किया परन्तु गांधारीने मायाचारीसे कह दिया कि 'अभी मुझे

१ पुण्डरीकिण्याम् । २ समागतवती सङ्गतवती वा । ३ गुणवत्यादिका ट० । गुणवती शशिप्रभा-सधर्माधिका. । ४ क्वास्ते । ५ यशस्वती । ६ अनन्तमतिमहिलाऽमितमत्यार्यिका । ७ गुणवतीं जगाद । ८ नाकं प्राप्तेति । ९ नेत्रसदृशौ । १० प्रियदत्ता । ११ पारावतद्वन्द्वे । १२ कर्मारघाति स०, प० । १३ अस्मिन् पुरे तिष्ठतीति । १४ प्रभावती । १५ हिरण्यवर्ममुनिम् । १६ पुनरागत्य । १७ पुण्डरीकिण्याम् । १८ कुबेरकान्त- ।

मायया नास्ति शान्तेति तद्वाक्यात् खेदमागतो[1] । आहर्तुं स्वपतौ याते वनं[2] शक्तिमदौषधम्[3] ॥२३०॥
गान्धारी[4] बन्धकीभावम्[5] कृत्वा स्मरविक्रियाम् । दर्शयन्तीं[6] निरीक्ष्याह वणिग्वर्यो दृढव्रतः ॥२३१॥
अहं वर्षवरो[7] वेत्सि न किं मामित्युपायवित् । व्यधाद् विरक्तचित्तां तां तदैव हि धियः फलम् ॥२३२॥
तदानीमागते पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वौषधप्रयोगेत्युक्त्वागात् सपतिः[8] पुरम् ॥२३३॥
दयितान्तस्वराख्यो मित्रान्तश्च कुबेरवाक् । परः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चान्तदेववाक्[9] ॥२३४॥
कुबेरादिप्रियश्चान्यः पञ्चैते सन्ति मत्सुताः । कलाकौशलसाढ्याः सम्पन्ननवयौवनाः ॥२३५॥
एवं स्वसूनुभिः सार्धम् आरुह्य शिविकां वनम् । धृत्वा कुबेर[10]श्रीगर्भं मां विहर्तुं समागताम् ॥२३६॥
दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारी पृथक्[11] पृष्टवती पुमान् । स्वच्छ्रेष्ठी[12] नेति तत्सत्यम् उत[13] नेत्यवादिषम् ॥२३७
तत्सत्यमेव[14] मत्तोऽन्यास्वसौ न पुमानिति । तदाकर्ण्य विरज्यासौ[15] सपतिः संयमं स्थिता ॥२३८॥
पुनरत्रागता[16] दृष्ट्वा दीक्षेयं केन हेतुना । त्वयेति सा मया पृष्टा प्रणम्य प्रियोक्तिभिः ॥२३९॥
श्रेष्ठ्येव ते तपोहेतुरिति प्रत्यब्रवीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठी श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥२४०॥
मामजैषीत्[17] स क्वास्ते मे[18] क्वाद्येति परिपृष्टवान् । सोऽपि मत्कारणेनैव गृहीत्वेहागतस्तपः[19] ॥२४१॥
इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठी नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिम् । वन्दित्वा धर्ममापृच्छ्य कालनम्या महीपतिः[20] ॥२४२॥

शान्ति नहीं हुई है, यह सुनकर उसके पति रतिषेणको बहुत दुःख हुआ । वह अधिक शक्तिवाली औषधि लानेके लिये वनमें चला गया, इधर उसके चले जानेपर गान्धारीने कुलटापन धारण कर कामकी चेष्टाएं दिखाईं, यह देखकर उपायको जाननेवाले और अपने व्रतमें दृढ़ रहनेवाले सेठ कुबेरकान्तने कहा कि अरे, मैं तो नपुंसक हूं—क्या तुझे मालूम नहीं ? ऐसा कहकर सेठने उसे अपनेसे विरक्तचित्त कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही है ॥२२९-२३२॥ इतनेमें ही उसका पति वापिस आ गया, तब गान्धारीने कह दिया कि मैं पहले दी हुई औषधिके प्रयोगसे ही स्वस्थ हो गई हूँ ऐसा कहकर वह पतिके साथ नगरमें चली गई ॥२३३॥ कुबेरदयित, कुबेरमित्र, कुबेरदत्त, कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पांच मेरे पुत्र थे । ये पांचों ही समस्त शास्त्रोंको जाननेवाले, कलाकौशलमें निपुण तथा नव यौवनसे सुशोभित थे । किसी एक दिन जब कि कुबेरश्री कन्या मेरे गर्भमें थी तब मैं अपने पूर्वोक्त पुत्रोंके साथ पालकीमें बैठकर वनमें विहार करनेके लिये गई थी उसी समय गान्धारीने मुझे देखकर और अलग ले जाकर मुझसे पूछा कि 'आपके सेठ पुरुष नहीं हैं' क्या यह बात सच है अथवा झूठ ? तब मैंने उत्तर दिया कि बिलकुल सच है क्योंकि वे मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके प्रति पुरुष नहीं हैं यह सुनकर उसने विरक्त हो अपने पतिके साथ साथ संयम धारण कर लिया ॥२३४-२३८॥ किसी एक दिन वह गान्धारी आर्यिका यहां फिर आई तब मैंने दर्शन और प्रणाम कर प्रिय वचनों द्वारा पूछा कि 'आपने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ?' उसने उत्तर दिया था कि 'मेरे तपश्चरणका कारण तेरा सेठ ही है, सेठ भी गुप्तरूपसे यह बात सुनकर सामने आकर खड़े हो गये और पूछने लगे कि जिसने मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहां है ? तब गान्धारी आर्यिकाने कहा कि 'वे भी मेरे ही कारण तप धारण कर यहां पधारे हैं, ॥२३९-२४१॥ यह सुनकर सेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये और दोनोंने

---

१ –मागते स० । तौ द्वौ खेदमागतौ क०, म० । २ विजयार्द्धवनम् । ३ विगतहरणसामर्थ्यवन्महौषधम् । ४ गान्धारी स० । ५ कुलटात्वम् । ६ दर्शयन्ती म० । ७ वर्षवरः म० । षण्ढः । ८ पतिसहिता । ९ कुबेरदेव । १० कुबेरप्रिय इत्यन्ते गर्भम् । ११ एकान्ते । १२ पुमान् न भवतीति । १३ अनृतं वा । १४ सत्यम् । १५ गान्धार्या । १६ गुप्तवृत्तिमान् । १७ जितवती । १८ मम मित्र पतिरेव । १९ कुत्र तिष्ठतीति । २० स्वनाथ म०, क०, ख०, ग० । २१ सोऽस्मान् ।

गुणपालाय तद्राज्य दत्वा सयममादधे[1] । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशितु[2] ॥२४३॥
पञ्चम[3] स्वपदे सूनु नियोज्यान्यै[4] सहात्मजै । ययौ श्रेष्ठी[5] च तत्रैव दीक्षा मोक्षाभिलाषुक ॥२४४॥
तयोक्त्वा कान्तवृत्तान्त[6] सा[7] समुत्पन्नसविदा[8] । विरज्य गृहसवासात् कुबेरादिश्रिय सतीम्[9] ॥२४५॥
[10]गुणपालाय दत्वा स्वा सुता गुणवतीं[11] श्रिता । प्रभावत्युपदेशेन प्रियदत्ताप्यदीक्षत[12] ॥२४६॥
मुनिं हिरण्यवर्माण कदाचित् प्रेतभूतले[13] । दिनानि सप्त सङ्गीर्य[14] प्रतिमायोगधारिणम् ॥२४७॥
वन्दित्वा नागरा[15] सर्वे त पूर्वभवसत्कथा । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरितात्[16] ॥२४८॥
चेटच्या प्रियदत्तायास्तन्मुने प्राक्तन भवम् । विदित्वा तद्गतक्रोधात्तदोत्पन्नविभङ्गक[17] ॥२४९॥
मुनि पृथक्प्रदेशस्था[18] प्रतिमायोगमास्थिताम्[19] । प्रभावतीं च सयोज्य चितिकाया[20] दुराशय ॥२५०॥
एकस्यामेव निक्षिप्याधाक्षी[21]त्पापजिघृक्षया[22] । सोढ्वा तदुपसर्गं तौ विशुद्धपरिणामत ॥२५१॥
स्वर्गं समुदपद्येता[23] क्षमया किं न जायते । [24]सुवर्णवर्मा तज्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहम् ॥२५२॥
करिष्यामीति कोपेन पापिन सङ्गर व्यधात्[25] । विदित्वाऽवधिबोधेन सत्तौ[26] स्वर्गनिवासिनौ ॥२५३॥
प्राप्य सयमरूपेण सुता धर्मकथादिभि । तत्त्व श्रद्धाप्य[27] त कोपाद् अपास्य कृपयाऽऽहितौ[28] ॥२५४॥

ही वन्दना कर धर्मका स्वरूप पूछा । काललब्धिका निमित्त पाकर राजा लोकपालने अपने पुत्र गुणपालके लिये राज्य दिया और उन्हीं विद्याधर मुनि रतिषेणके निकट सयम धारण कर लिया ॥२४२–२४३॥ मोक्षके अभिलाषी सेठने भी अपने पाचवे पुत्र–कुबेरप्रियको अपने पदपर नियुक्त कर अन्य सब पुत्रोंके साथ साथ वहीं दीक्षा धारण की ॥२४४॥ इस प्रकार प्रियदत्ता अपने पतिका वृत्तान्त कहकर उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके द्वारा गृहवाससे विरक्त हो गई थी, उस सतीने अपनी कुबेरश्री पुत्री राजा गुणपालको दी और स्वय गुणवती आर्यिकाके समीप जाकर प्रभावतीके उपदेशसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४५–२४६॥ किसी समय मुनिराज हिरण्यवर्माने सात दिनका नियम लेकर श्मशानभूमिमें प्रतिमा योग धारण किया नगरके सब लोग उनकी वन्दना करनेके लिये गये थे । वन्दना कर उनके पूर्वभवकी कथाए कहते हुए जब सब लोग नगरको वापिस लौट आये तब एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी चेटीसे उन मुनिराजका वृत्तान्त सुना, सुनकर उसे उनके प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी क्रोधके कारण उसे विभगावधि भी प्रकट हो गया, उस विभगावधिसे उसने मुनिराजके पूर्वभवके सब समाचार जान लिये । यद्यपि मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर अलग ही विराजमान थे और प्रभावती भी अलग विद्यमान थी तो भी उस दुष्टने पापसचय करनेकी इच्छासे उन दोनोंको मिलाकर और एक ही चितापर रखकर जला दिया वे दोनो विशुद्ध परिणामोसे उपसर्ग सहकर स्वर्गमें उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या क्या नहीं होता ? जब सुवर्णवर्माको इस बातका पता चला तब उसने प्रतिज्ञा की कि मै विद्युच्चोरका निग्रह अवश्य ही करूंगा–उसे अवश्य ही मारूंगा । यह प्रतिज्ञा स्वर्गमें रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव देव देवियोंने अवधिज्ञानसे जान ली, वे शीघ्र ही सयमीका रूप बनाकर पुत्रके पास पहुँचे, दया

१–मादधौ अ०, स०, प०, म०, द० । २ मुनीशित स० । ३ पञ्चमपुत्र कुबेरप्रियम् । ४ कुबेरदत्तादीनि । ५ कुबेरकान्त । ६ प्रियस्य वृत्तान्तम् । ७ प्रियदत्ता । ८ समुत्पन्न[illegible] । ९ सती स० । १० [illegible] । ११ गुणवत्यार्यिकाम् । १२ दीक्षामग्रहीत् । १३ [illegible] स० । [illegible] । [illegible] । १४ प्रतिज्ञा कृत्वा । १५ नगरजना । १६ कथनात् [illegible] स०, अ०, प०, म०, द० । १७ [illegible] प०, अ०, म०, द० । १८ [illegible] । [illegible] । १९ –मास्थिताम् स० । २० [illegible] । २१ [illegible] । २२ [illegible] । २३ [illegible] । २४ हिरण्यवर्मण पुत्र । २५ [illegible] । २६ [illegible] । २७ [illegible] । २८ [illegible] ।

[1]दिव्यरूपं समादाय निगद्य निजवृत्तकम् । प्रदायाभरणं तस्मै परार्ध्यं स्वपदं गतौ ॥२५५॥
कदाचिद् वत्सविषये सुसीमानगरे मुनेः । शिवघोषस्य कैवल्यम् [2]उदपाद्यत्तघातिनः ॥२५६॥
शक्रप्रिये[3] शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरम् । समाश्रित्य सुराधीशं स्थिते प्रश्नात्[4] सुरेशितुः ॥२५७॥
अत्रैव सप्तमेऽह्नि[5] प्राक्[6] [7]समात्तश्रावकव्रते । नाम्ना [8]पुष्पवती सान्त्या प्रथमा पुष्पपालिता ॥२५८॥
[9]कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना[10] । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥२५९॥
प्रभावतीचरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसम्बन्धं सत्रागाता सभावने[11] ॥२६०॥
निजान्यजन्मसौख्यानुभूतदेशान्निजेच्छया । आलोकयन्तौ तत्सर्पसरोवणसमीपगौ ॥२६१॥
सह सार्थेन[12] भीमाख्यं साधुं दृष्ट्वा समागतम् । विनयेनाभिवन्द्यैनं धर्मं तौ समपृच्छताम् ॥२६२॥
मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मोपदेशने । सर्वागमार्थविस्तार्येऽसमर्थो नवसंयतः ॥२६३॥
प्ररूपयिष्यते किञ्चित् [13]स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्यं यथाशक्त्यवधानवत्[14] ॥२६४॥
इति सम्यक्त्वसत्पात्रदानादि श्रावकाश्रयम् । [15]यमादियतिसम्बन्धं धर्मं गतिचतुष्टयम् ॥२६५॥
तद्धेतुफलपर्यन्तं भुक्तिमुक्तिनिबन्धनम्[16] । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत् प्रत्यपादयत् ॥२६६॥

धारण करनेवाले उन देवदेवियोंने धर्मकथाओं आदिके द्वारा तत्त्वश्रद्धान कराकर उसका क्रोध दूर किया और अन्तमें अपना दिव्यरूप प्रकटकर अपना सब हाल कहा तथा उसे बहुमूल्य आभूषण देकर दोनों ही अपने स्थानपर चले गये ॥२४७–२५५॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमानगरीके समीप घातिया कर्म नष्ट करनेवाले शिवघोष मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२५६॥ उस उत्सवमें शची और मेनका नामकी देवांगनाएं भी इन्द्रके साथ आईं और श्रीजिनेन्द्रदेवको नमस्कारकर इन्द्रके पास ही बैठ गईं। इन्द्रने भगवान्से पूछा कि ये दोनों किस कारणसे देवियां हुई हैं ? तब तीर्थंकर देव कहने लगे कि दोनों ही पूर्वभवमें मालिनकी लड़कियां थीं, पहलीका नाम पुष्पपालिता था और दूसरीका पुष्पवती। इन दोनोंने आजसे सातवें दिन पहले श्रावकव्रत लिये थे। एक दिन ये वनमें फूल तोड़नेमें लगी हुई थीं कि सर्परूपी अग्निके कारण मर गईं और मरकर देवियां हुई हैं ॥२५७–२५९॥ हिरण्यवर्मा और प्रभावती-के जीव जो देवदेवी हुए थे उन्होंने भी उस समय समवसरणमें अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने और फिर दोनों ही सभाभूमिसे निकलकर इच्छानुसार पूर्वभव सम्बन्धी सुखानुभवनके स्थानोंको देखते हुए सर्पसरोवरके समीपवाले वनमें पहुंचे ॥२६०–२६१॥ उस वनमें अपने संघके साथ साथ एक भीम नामके मुनि भी आये हुए थे, दोनोंने उन्हें देखकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और धर्मका स्वरूप पूछा ॥२६२॥ उनके वचन सुनकर मुनि कहने लगे कि अभी नवदीक्षित हूँ, धर्मका उपदेश देना तो समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले मुनियोंका कार्य है इसलिये यद्यपि मैं धर्मोपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूं तथापि तुम्हारे अनुरोधसे शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूँ तुम लोगोंको सावधान होकर सुनना चाहिये ॥२६३–२६४॥ यह कहकर उन्होंने सम्यग्दर्शन तथा सत्पात्रदान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्मका निरूपण किया। चारों गतियां, उनके कारण और फल, स्वर्ग मोक्षके निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन

---

१ दिव्यरूप स०, प०, द०। २ समुत्पन्नम्। ३ इन्द्रस्य वल्लभे। ४ इमे पूर्वजन्मनि के इति इन्द्रस्य प्रश्नवशात् तीर्थकृदाह। ५ आसन्नदिनात् पूर्वस्मिन् दिवसे। ६ पूर्वजन्मनि। ७ सम्यग्गृहीत। ८ शान्त्या स०। ९ पुष्पकरण्डनाम्नि वने पुष्पाद्याहरणार्थमागते इत्यर्थः। १० अहिरेवाग्नि-कारणेन। ११ समवसरणात्। १२ वणिग्निवहेन। १३ धर्मः। १४ स्थिरचित्तेन। १५ व्रतम्। १६ मुक्तिकारणम्।

तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां[1] भवता केन हेतुना। प्रव्रज्येत्यनुयुक्तोऽसौ[2] वक्तु[3] प्रक्रान्तवान् मुनि ॥२६७॥
विदेहे पुष्कलावत्या नगरी पुण्डरीकिणी। तत्राहं भीमनामाऽऽसं[4] स्वपापाद् दुर्गते[5] कुले ॥२६८॥
अन्येद्युर्यतिमासाद्य किञ्चित्कालादिलब्धित। श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकम् ॥२६९॥
तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा। दारिद्र्यकर्दमालिप्तदेहानां[6] निष्फलैरिह ॥२७०॥
व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्लोककाङ्क्षिणे। ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥
व्रत दत्तवत स्थान तस्य मे दर्शयत्यसौ। मामवादीद् गृहीत्वैनं[7] आव्रजन्नहमन्तरे ॥२७२॥
वज्रकेतोर्महावीथ्यां देवतागृहकुक्कुटम्। भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनम्[8] ॥२७३॥
पुंसो हतवतो दण्ड जिनदेवार्पितं[9] धनम्। लोभादपह्नुवानस्य[10] धनदेवस्य दुर्मते ॥२७४॥
रसनोत्पाटन हारम् अनर्घ्यमणिनिर्मितम्। श्रेष्ठिनः प्राप्य चौरेण गणिकायै समर्पणात् ॥२७५॥
रतिपिङ्गलसंज्ञस्य शूले तलवरार्पणम्। निशि मातु कनीयस्या कामनिर्लुप्तसंविद[11] ॥२७६॥
पुत्र्या गेह गतस्याङ्गच्छेदन पुररक्षिण[12]। क्षेत्रलोभान्निजे ज्येष्ठे सुते दण्डहते[13] सति ॥२७७॥
लोलस्यान्वर्थसंज्ञस्य[14] विलाप[15] देशनिर्गमे। द्यूते सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥२७८॥

सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया ॥२६५–२६६॥ यह सुनकर उन देव-देवियोंने फिर पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥

विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है वहांपर मैं अपने पापोंके कारण एक अत्यन्त दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ था। मेरा नाम भीम है ॥२६८॥ किसी अन्य दिन थोड़ी सी काललब्धि आदिके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके पास पहुंचा और उनसे धर्मश्रवण कर मैंने गृहस्थोंके आठ मूल गुण धारण किये ॥२६९॥ जब हमारे पिताको इस बातका पता चला तब वे कहने लगे कि 'दरिद्रतारूपी कीचड़से जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है ऐसे हम लोगोंको इन व्यर्थके कठिन व्रतोंसे क्या प्रयोजन है। इनका फल इस लोकमें तो मिलता नहीं है, इसलिये आओ, ये व्रत स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उसी मुनिके लिये दे आवें। हम तो इस लोकसम्बन्धी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके ॥२७०–२७१॥ व्रत देने वाले गुरुका स्थान मुझे दिखा" ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब मैं उन्हें साथ लेकर चला। रास्तेमें मैंने देखा कि वज्रकेतु नामके एक पुरुषको दण्ड दिया जा रहा है। पितासे मैंने उसका कारण पूछा, तब कहने लगे कि यह सूर्यकी किरणोंमें अपना अनाज सुखा रहा था और किसी मन्दिरका मुर्गा उसे खा रहा था। इसने उसे इतना मारा कि बेचारा मर गया। इसलिये ही लोग इसे दण्ड दे रहे हैं। आगे चलकर देखा कि जिनदेवके द्वारा रखी हुई धरोहरको लोभमें छुपाने वाले दुर्बुद्धि धनदेवकी जीभ उखाड़ी जा रही है। कुछ आगे चलकर देखा कि एक सेठके घरसे बहुमूल्य मणियोंका हार चुराकर वेश्याको देनेके अपराधमें रतिपिङ्गलको कोतवाल शूलीपर चढ़ा रहा है, किसी जगह देखा कि कामवासनासे जिसका सब ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा एक कोतवाल रातमें अपनी माताकी छोटी बहिनकी पुत्रीके घर गया था इसलिये राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे हैं। दूसरी जगह देखा कि सार्थक नाम धारण करनेवाले एक लोल नामके किसानने खेतके लोभसे अपने बड़े लड़केको डण्डोंसे मार मारकर मार डाला है, इसलिये उसे देशनिकालेकी सजा

---

१ देवदेवीभ्याम्। २ पृष्टः। ३ प्रारभते स्म। ४ अभूवम्। ५ दरिद्रे कुले। ६ अस्माकम्। ७ पितरम्। ८ अटतम्। मध्यान्तमित्यर्थः। ९ जिनदेवाख्येन दत्तम्। १० पन्हवयतः। ११ [illegible]। १२ नगररक्षकस्य। १३ [illegible] हते। १४ लोल इति नाम्नः। १५ परिदेवनम्।

दातुं समुद्रदत्तस्य निःशक्तेरातपे क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गन्धधूमान्तर्वर्तिनं चिरम् ॥२७९॥
निरोधमभयोद्घोषणायामानन्ददेशनात्[1] । अङ्गकस्य नृपोरभ्रघातिनः[2] करखण्डनम् ॥२८०॥
आनन्दराजपुत्रस्य [3]तद्गूथस्याऽस्य खादनम्[4] । मद्यविक्रयिणं[5] बालं कञ्चिदाभरणेच्छया ॥२८१॥
हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तत्सविधानकम् । प्रकाशितवती स्वात्मजे[6] शुण्डायाश्च[7] निग्रहम् ॥२८२॥
पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाकं दुरुत्तरम् ॥२८३॥
अवधार्यानभिप्रेतव्रतत्यागो[9] भवाद् भयात् । [10]स्तेयमोषमृषापारदार्यहिंसादिदूषिताः ॥२८४॥
नात्रैव क्लिश्यन्त्यमुत्रापि तत्राश्चित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दौर्गत्यं[11] प्राक्तनात् पापकर्मणः ॥२८५॥
इव तस्मात् समुच्चेयं पुण्यं सच्चेष्टितैः पुरु । इति तं मोचयित्वाऽग्रहीषं दीक्षां मुमुक्षया[12] ॥२८६॥
सद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्धिपारगः । विशुद्धमतिरन्येद्युः समीपे सर्ववेदिनः[13] ॥२८७॥
भवद्भवपूर्वजन्मानि समश्रौषं[14] यथाश्रुतम् । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वः[15] कौतुकं महत् ॥२८८॥
इहैव पुष्कलावत्या विषये पुण्डरीकिणीम् । परिपालयति[16] प्रीत्या वसुपालमहीभुजि ॥२८९॥
विद्युद्वेगाह्वयं चोरम् अवष्टभ्य[17] करस्थितम् । धनं स्वीकृत्य शेषं च भवता दीयतामिति ॥२९०॥

दी जा रही है और वह विलाप कर रहा है। आगे जानेपर देखा कि सागरदत्तने जुआमें समुद्रदत्तका बहुत सा धन जीत लिया था परन्तु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था इसलिये उसने क्रोधसे उसे बहुत देर तक दुर्गन्धित धुआंके बीच धूपमें बैठाल रखा है, किसी जगह देखा कि आनन्द महाराजकी अभय घोषणा करायी जानेपर भी उनके पुत्र अंगकने राजाका मेढा मारकर खा लिया है इसलिये उसके हाथ काटकर उसे विष्ठा खिलाया जा रहा है और अन्य स्थानपर देखा कि मद्य पीनेवाली स्त्रीने मद्य खरीदनेके लिये आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें गाड दिया था, वह यह समाचार अपने पुत्रसे कह रही थी कि किसी राजकर्मचारीने उसे सुन लिया इसलिये उसे दण्ड दिया जा रहा है। हिंसा आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए इन पापकार्योंको देखकर मैंने निश्चय किया कि पापका फल इस लोक तथा परलोक दोनों ही जगह बुरा होता है। मैंने संसारके भयसे व्रत छोडना उचित नहीं समझा। मैं सोचने लगा कि हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन आदिसे दूषित हुए पुरुषोंको इसी जन्ममें अनेक प्रकारके वध-बन्धनका दुःख भोगना पडता हो सो बात नहीं किन्तु परलोकमें भी वही दुःख भोगने पडते हैं, हमारी यह दरिद्रता भी तो पहलेके पापकर्मोंसे मिली है, इसलिये सदाचारी पुरुषोंको इस पुण्यका अधिकसे अधिक संचय करना चाहिये यह सोचकर मैंने अपने पिताको छोडकर मोक्षकी इच्छासे दीक्षा धारण कर ली है ॥२७२–२८६॥ गुरुके प्रसादसे मैं शीघ्र ही सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गई। किसी अन्य दिन मैंने सर्वज्ञ देवके समीप दोपोंसे भरे हुए अपने पूर्वजन्म सुने थे सो उन्हींके अनुसार आप लोगोंका बडा भारी कौतुक करनेके लिये उन्हें कहता हूं ॥२८७–२८८॥

इसी पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीको राजा वसुपाल बडे प्रेमसे पालन करते थे ॥२८९॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्वेग नामका चोर पकडा, उसके हाथमें जो धन था उसे लेकर कहा कि बाकीका धन और दो, धन न देनेपर रक्षकोंने उसे दण्ड दिया तब उसने

---

1 घोषणायां सत्याम्। 2 आनन्दाम्बनृपस्य निदेशनात्। 3 एतत् (मेढक) घनरम्य। 4 गुथभुक्या इत्यपि पाठः। 5 सूनवे। 6 मद्यव्यवहारनिमित्तम्। 7 वत्पालिका सुत। 8 मद्यपायिका। 9 अनिष्टो व्रतत्यागो यस्य अननुमतव्रतत्याग इत्यर्थः। 10 स्तेयचौर्यानृतपारदार्यपरिग्रहः। रोपमोषमृषापारदारहिंसादिनयादि ल०। 11 दारिद्र्यम्। 12 मोक्षमिच्छया। 13 सर्वज्ञस्य। 14 शृणोमि स्म। 15 युष्माकम्। 16 रक्षति सति। 17 बलात्कारेण गृहीत्वा॥

आरक्षिणो[1] 'निगृह्णीयुर्दत्तं विमतये[2] धनम् । इत्यब्रवीत् स[3] सोऽप्याह गृहीतं न मयेति तत्[4] ॥२९१॥
विमतेरेव तद्गेहे दृष्ट्वोपायेन केनचित् । दण्डकारणिकैः[5] प्रोक्तं मृत्स्ना पात्रीत्रयोन्मितम् ॥२९२॥
शकृतो[6] भक्षणं मल्लैस्त्रिंशन्मुष्ट्यभिताडनम् । सर्वस्वहरणं चैतत्त्रयं जीवितवाञ्छया ॥२९३॥
'स सर्वमनुभूयायात् प्राणान्ते नारकीं गतिम् । विद्युच्चोरस्त्वया हन्यतामित्यारक्षको नृपात् ॥२९४॥
लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि[9] नेनं हिंसादिवर्जनम् । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां नाकरोदसौ ॥२९५॥
गृहीतोत्कोच[10] इत्येव[11] चोरारक्षकयोर्नृप । शृङ्खलाबन्धनं रुष्ट्वा कारयामास निर्घृणम्[12] ॥२९६॥
त्वयाऽहं हेतुना केन हतो नेत्यनुयुक्तवान् । [13]प्रतुष्टश्चारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत् ॥२९७॥
एतत्पुरमनुष्यैव राज्ञः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसंज्ञया ॥२९८॥
अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । [14]आस्थायिकायां भावेन स्थायिनानृत्यदुद्रसम् ॥२९९॥
तदालोक्य महीपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥३००॥
श्रेष्ठिनोऽस्य [15]मियोऽन्येद्युः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य गत्वा चालयितुं मनः ॥३०१॥
नाशकं[16] तदिहाश्चर्यमित्याख्यद् भूभुजापि सा । गुणप्रिये वृणीष्वेति[17] प्रोक्ता शीलाभिरक्षणम् ॥३०२॥
अभीष्टं मम देहीति तद्दत्तं व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृहं[18] सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥३०३॥

कहा कि मैंने बाकीका धन विमतिके लिये दे दिया है। जब विमतिसे पूछा गया तब उसने कह दिया कि मैंने नहीं लिया है, इसके बाद कोतवालने वह धन किसी उपायसे विमतिके घर ही देख लिया, उसे दण्ड देना निश्चित हुआ, दण्ड देनेवालोंने कहा कि या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर विष्ठा खाओ, या मल्लोंके तीस मुक्कोंकी चोट सहो या अपना सब धन दो । जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पूर्वोक्त तीनों दण्ड सहे और अन्तमें मरकर नरक गतिको प्राप्त हुआ । राजाने एक चाण्डालको आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोरको मार डाल, परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मैं इसे नहीं मार सकता क्योंकि मैंने एक मुनिसे हिंसादि छोडनेकी प्रतिज्ञा ले रखी है ऐसा कहकर उसने जब राजाकी आज्ञा नहीं मानी तब राजाने कहा कि इसने कुछ घूस खा ली है इसलिये उसने क्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनोंको निर्दयतापूर्वक साकलसे बंधवा दिया ॥२८९–२९६॥ चोरने संतुष्ट होकर चाण्डालसे पूछा कि तूने किस कारणसे मुझे नहीं मारा तब चाण्डाल इस प्रकार कहने लगा कि ॥२९७॥ पहले इस नगरकी रक्षा इसी राजाके पिता गुणपाल करते थे और उनके पास कुबेरप्रिय नामका एक बडा सेठ रहता था ॥२९८॥ इसी नगरीमें नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी एक पुत्री थी एक दिन उसने राजसभामें रति आदि स्थायी भावों द्वारा शृङ्गारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया ॥२९९॥ वह नृत्य देखकर राजाको बडा आश्चर्य हुआ तब उत्पलमाला नामकी वेश्या बोली कि हे देव, इसमें क्या आश्चर्य है ? एक दिन अत्यन्त शान्त और पूज्य कुबेरप्रिय सेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उस दिन मैं उनका मन विचलित करनेके लिये गई थी परन्तु उसमें समर्थ नहीं हो सकी । इस संसारमें यही बडे आश्चर्यकी बात है। यह सुनकर राजाने कहा कि 'हे गुणप्रिये ! तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिये जो इच्छा हो सो माग ।" तब उसने कहा कि मुझे शीलव्रतकी रक्षा करना इष्ट है यही वर दीजिए राजाने वह वर उसे

---

१ तलवरा । २ गिरहं कुर्युः । ३ विमतिनामधेयाय । ४ चोर । विमतिरपि । ५ धनम् । ६ कारणैः 'पुराहिनादिधर्मवारिभिरित्यर्थः । ७ गूथस्य । 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्' । पुरीषं उत्सर्गं गूथवर्चस्कमस्त्री विष्टाविशौ स्त्रियाम् । इत्यभिधानात् । ८ विमति । ९ न वधं करोमि । १० 'लञ्च उत्कोच आमिष, इत्यभिधानात् । ११ तलवर । १२ निर्घृणं यथा भवति तथा । १३ प्रतुष्या अ०, स०, इ०, ल० । १४ आस्थाने । १५ श्रेष्ठिन नामिनोऽन्येद्युः स०, अ०, प०, इ०, ल० । १६ नासमर्थोऽभूवम् । १७ याचस्व प्रार्थय । १८ उत्पलमालागृहम् ।

रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा तं बाह्याऽद्येति तेन[1] तत् । [2]प्रतिपादनवेलायामेवायान्मन्त्रिणः सुतः ॥३०४॥
नृपतेर्मैथुनो नाम्ना पृथुधीस्तं निरीक्ष्य सा । मञ्जूषायां विनिक्षिप्य गणिका सर्वरक्षितम् ॥३०५॥
त्वया मदीयामरणं सत्यवत्यै समर्पितम् । त्वद्भगिन्यै तदानेयमित्याह नृपमैथुनम् ॥३०६॥
सोऽपि प्राक् [3]प्रतिपाद्यैतद् व्रतग्रहणसंश्रुतेः । प्रातिकूल्यमगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुनः ॥३०७॥
साक्षिणं परिकल्प्यैनं मञ्जूषास्थं महीपतेः । सन्निधौ याचितो वित्तम् अमावुत्पलमालया ॥३०८॥
न गृहीतं मयेत्यस्मिन्मिथ्यावादिनि भूभुजा । पृष्टा सत्यवती तस्य पुरस्तान्न्यक्षिपद्धनम् ॥३०९॥
मैथुनाय नृपः क्रुध्वा खलोऽयं हन्यतामिति । आज्ञापयत्पदातीन् स्वान् युक्तं तन्न्यायवर्तिनः ॥३१०॥
[4]पठन्मुनीन्द्रसद्धर्मशास्त्रसंश्रवणाद् द्रुतम् । अन्येद्युः प्राक्तनं जन्म विदित्वा शममागते ॥३११॥
यागहस्तिनि मांसस्य पिण्डदानमनिच्छति । तद्वीक्ष्योपायविच्छ्रेष्ठी विबुद्धगानेकपेङ्गितम् ॥३१२॥
सर्पिर्गुडपयोमिश्रशाल्योदनसमर्पितम्[5] । पिण्डं प्रायोजयत्सोऽपि द्विरदस्तमुपाहरत्[6] ॥३१३॥
तदा तुष्ट्वा महीनाथो वृणीष्वेष्टं तवेति तम् । प्राह पश्चाद् ग्रहीष्यामीत्यभ्युपेत्य स्थितः स तु[7] ॥३१४॥
सचिवस्य[8] सुतं दृष्ट्वा नीयमानं शुचा नृपात् । वरमादाय तद्यातात् दुर्वृत्तं तं व्यमोचयत् ॥३१५॥

दिया और उस दिनसे उसने शील व्रत ग्रहण कर लिया । किसी दूसरे दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातके समय उसके घर गया, उसे देखकर उत्पलमालाने उससे कहा कि आज मैं बाहिर की हूं—रजस्वला हूं। इधर इन दोनोंकी यह बात चल रही थी कि इतनेमें ही मंत्रीका पुत्र और पृथुधी नामका राजाका साला आया, उसे देखकर उत्पलमालाने सर्वरक्षितको एक संदूकमें छिपा दिया और राजाके सालेसे कहा कि आपने जो मेरे आभूषण अपनी बहिन सत्यवती के लिये दिये थे वे लाइये। उसने पहले तो कह दिया कि हां अभी लाता हूं परन्तु बादमें जब उसने सुना कि उसने शील व्रत ले लिया है तब वह ईर्ष्या करता हुआ प्रतिकूल हो गया । दूसरे दिन वह वेश्या सन्दूकमें बैठे हुए कोतवालको गवाह बनाकर राजाके पास गई और वहां जाकर पृथुधीसे अपना धन मागने लगी ॥३००–३०८॥ पृथुधीने राजाके सामने भी झूठ कह दिया कि मैंने इसका धन नहीं लिया है। जब राजाने सत्यवतीसे पूछा तो उसने सब धन लाकर राजाके सामने रख दिया ॥३०९॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर बहुत क्रोधित हुआ, उसने अपने नौकरोंको आज्ञा दी कि यह दुष्ट शीघ्र ही मार डाला जाय। सो ठीक ही है क्योंकि न्याय-मार्गमें चलनेवालेको यह उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिन पाठ करते हुए मुनिराजसे धर्मशास्त्र सुनकर राजाके मुख्य हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया, वह अत्यन्त शान्त हो गया और उसने मांसका पिण्ड लेना भी छोड़ दिया, यह देख उपायोंके जाननेवाले सेठने हाथीकी सब चेष्टाएं समझकर घी, गुड़ और दूध मिला हुआ शालि चावलोंका भात उसे खानेके लिये दिया और हाथीने भी वह शुद्ध भोजन खा लिया ॥३११–३१३॥ उस समय संतुष्ट होकर राजाने कहा कि जो तुम्हें इष्ट हो सो मांगो। सेठने कहा—अच्छा यह वर अभी अपने पास रखिये, पीछे कभी ले लूंगा, ऐसा कहकर वह सेठ सुखसे रहने लगा ॥३१४॥ इसी समय मंत्रीका पुत्र मारनेके लिये ले जाया जा रहा था उसे देखकर सेठको बहुत शोक हुआ और उसने राजाने अपना पहिलेका रक्खा हुआ वर मांगकर उस दुराचारी मंत्रीके दुष्ट

श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं[1] [2]ममाकारीत्यमंस्त सः । [3]पापिनामुपकारोऽपि सभुजङ्गपयःपते ॥३१६॥
अन्येद्युर्मैथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन् वने । खेचरान्मुद्रिकामापत् [4]कामरूपविधायिनीम् ॥३१७॥
कराङ्गुलौ विनिक्षिप्य तां वसोः[5] स्वकनीयसः[6] । सङ्कल्प्य श्रेष्ठिनो[7] रूपं सत्यवत्या निवेतनम् ॥३१८॥
प्रवेश्य (प्रविश्य) पापधी राजसमीपं स्वयमास्थितः[8] । वसुं गृहीतश्रेष्ठी स्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥३१९॥
श्रेष्ठी किमर्थमायातोऽकाले[9] इत्यवदत्तदा । अनात्मज्ञोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥३२०॥
मदनानलसंतप्त इति मैथुनिकोऽब्रवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहन्यताम् ॥३२१॥
श्रेष्ठी तवेति श्रेष्ठी च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥३२२॥
पृथुधीस्तमवष्टभ्य[10] गृहीत्वा घोषयन् जने । अपराधमसन्तं[11] च नीत्वा प्रेतमहीतलम् ॥३२३॥
आरक्षकक्रूरे हन्तुम् अर्पयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्य[12]हन्नसिना दृढम् ॥३२४॥
तस्य वक्षःस्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलवतो भक्तस्यार्हत्परमदैवते ॥३२५॥
दण्डनादपरीक्ष्यास्य[13] महोत्पातः पुरेऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद् भवेत् ॥३२६॥
नरेशो नागराश्चैतद् आलोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं श्मशानाभिमुखं ययुः ॥३२७॥
तत्रोपसर्गनिर्णाशे विस्मयन्नाकवासिनः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वर्यमपूजयन् ॥३२८॥

छुड़वा दिया ॥३१५॥ परन्तु मंत्रीके पुत्रने समझा कि मेरा यह तिरस्कार सेठने ही कराया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी पुरुषोंका उपकार करना भी सांपको दूध पिलानेके समान है ॥३१६॥ किसी अन्य दिन वह राजाका साला अपनी इच्छासे वनमें घूम रहा था, उसे वहां एक विद्याधरसे इच्छानुसार रूप बना देनेवाली अंगूठी मिली ॥३१७॥ उसने वह अंगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी अंगुलीमें पहना दी एवं उसका सेठका रूप बनाकर उसे सत्यवतीके घर भेज दिया। और पाप बुद्धिको धारण करनेवाला पृथुधी स्वयं राजाके पास जाकर बैठ गया। सेठका रूप धारण करनेवाले वसुको देखकर राजाने कहा कि 'यह सेठ असमयमें यहां क्यों आया है ?' उसी समय पृथुधीने कहा कि 'अपने आपको नहीं जाननेवाला यह पापी काम-रूपी अग्निसे संतप्त होकर सत्यवतीके पास आया है' इस प्रकार उसके कहनेसे राजाने परीक्षा किये विना ही उसी पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम सेठको मार दो। सेठ उस दिन अपने घरपर ही प्रतिमायोग धारण कर वस्तुस्वरूपका चिन्तवन कर रहा था ॥३१८-३२२॥ पृथुधीने उसे वहीं कसकर बांध लिया और जो अपराध उसने किया नहीं था लोगोंमें उसकी घोषणा करता हुआ उसे श्मशानकी ओर ले गया ॥३२३॥ वहां जाकर उस पापीने उसे मारनेके लिये चाण्डालके हाथमें सौंप दिया। चाण्डालने भी यह राजाकी आज्ञा है ऐसा समझकर उसपर तलवारका मजबूत प्रहार किया ॥३२४॥ परन्तु क्या ही आश्चर्य था कि श्री अरहन्त परमदेवके भक्त और शीलव्रत पालन करनेवाले उस सेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार मणियोंका हार बन गया ॥३२५॥ विना परीक्षा किये उस सेठको दण्ड देनेसे नगर-में ऐसा बड़ा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सबका क्षय हो सकता था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंके वधसे क्या नहीं होता है ? ॥३२६॥ राजा और नगरके सब लोग यह उपद्रव देखकर भयसे घबड़ाये और उसी सेठकी शरणमें जानेके लिये श्मशानकी ओर दौड़े ॥३२७॥ जब सब उसकी शरणमें पहुंचे तब कहीं वह उपद्रव दूर हुआ, स्वर्गमें रहनेवाले देवोंने बड़े आश्चर्य

---

१ तिरस्कारः वञ्चना च । २ क्रियते स्म । ३ -मुपकारोऽयं अ०, स० । ४ -माप काम-इ०, अ०, स० । ५ वसुनामधेयस्य । ६ निजानुजस्य । ७ कुबेरप्रियस्य । ८ समीपमागत्य स्थितः । ९ अवेलायाम् । १० मत्सरेण बद्ध्वा । ११ अविद्यमानम् असत्यं वा । १२ हिनस्ति स्म । १३ श्रेष्ठिनः ।

अपरीक्षितकार्याणाम् अस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयग्रस्तमानतेषु नृपादिषु ॥३२९॥
अस्मदर्जितदुष्कर्मपरिपाकादभूदिदम् । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवम् ॥३३०॥
वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी श्रेष्ठः[1] क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशन् पुरम्[2] ॥३३१॥
एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त विभूतिमत्[3] ॥३३२॥
अथान्येद्युः सभामध्ये पृष्ठवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्यं धर्मादीनि[4] चतुष्टयम् ॥३३३॥
परस्परानुकूलास्ते[5] सम्यग्दृष्टिषु साधुषु[6] । न मिथ्यादृष्टिवर्तिं[7] प्राह श्रेष्ठी धर्मादितत्त्ववित्[8] ॥३३४॥
इति तद्वचनाद् राजा तुष्टोऽभीष्टं त्वयोच्यताम् । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविति[9] ॥३३५॥
न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मुञ्च साधयामीति समवोचद्वणिग्वरः ॥३३६॥
तदाकर्ण्य गृहत्यागम् अहं च सह[10] तेऽधुना । करोमि किन्तु मे पुत्रा बालका इति चिन्तयन् ॥३३७॥
[11]सद्योभिन्नाण्डकोद्भूतान् मक्षिकादानतत्परान् । क्षुधापीडाहतान् वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥३३८॥
सर्वेऽपि जीवनोपायं जन्तवो जानतेतराम् । स्वैषां विनोपदेशेन[12] सन्ति मे बालचिन्तया ॥३३९॥
इत्यसौ वसुपालाय दत्वा राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकम् ॥३४०॥

से शीलव्रतके प्रभावका वर्णन कर उस सेठकी पूजा की ॥३२८॥ जिनके मन भयसे उद्विग्न हो रहे हैं ऐसे राजा आदिने सेठसे कहा कि हम लोगोंने परीक्षा किये बिना ही कार्य किया है अतः आप हम सबको क्षमा कर दीजिये, ऐसा कहनेपर क्षमा धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ सेठने कहा कि यह सब हमारे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे ही हुआ है। निश्चयसे इस विषयमें आपको कुछ भी विषाद नहीं करना चाहिये ऐसा कहकर उसने सबका वैमनस्य दूर कर दिया। तदनन्तर सब लोगोंके द्वारा आगे किये हुए पूज्य सेठ-कुबेरप्रियने बड़ी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३२९–३३१॥ इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर वैभवशाली राजाने वारिषेणा नामकी इसी सेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिये ग्रहण की ॥३३२॥ किसी अन्य दिन राजाने सभाके बीच सेठसे पूछा कि ये धर्म आदि चारों पुरुषार्थ परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध हैं अथवा नहीं ? ॥३३३॥ तब धर्म आदिके तत्त्वको जाननेवाले सेठने कहा कि सम्यग्दृष्टि सज्जनोंके लिये तो ये चारों ही पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके लिये अनुकूल नहीं हैं ॥३३४॥ सेठके इन वचनोंसे राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुआ, उसने सेठसे कहा कि 'जो तुम्हें इष्ट हो, माँग लो मैं दूँगा' तब सेठने कहा कि मैं जन्म-मरणका क्षय चाहता हूँ ॥३३५॥ इसके उत्तरमें राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे साध्य नहीं हैं तब वैश्यवर सेठने कहा कि अच्छा मुझे छोड़ दीजिये मैं स्वयं उन दोनोंको सिद्ध कर लूँगा ॥३३६॥ यह सुनकर राजाने कहा कि तेरे साथ मैं भी घर छोड़ना परन्तु मेरे पुत्र अभी बालक हैं—छोटे छोटे हैं इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि ॥३३७॥ अचानक उसकी दृष्टि छिपकलीके उन बच्चोंपर पड़ी जो उसी समय विदीर्ण हुए अंडेसे निकले थे, भूखकी पीड़ासे छटपटा रहे थे और इसलिये ही मक्खियां पकड़नेमें तत्पर थे, उन्हें देखकर राजा सोचने लगा कि अपनी अपनी आजीविकाके उपाय तो सभी जीव बिना किसीके उपदेशके अपने आप अच्छी तरह जानते हैं इसलिये मुझे अपने छोटे छोटे पुत्रोंकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? यही विचार कर गुणपाल महाराजने वसुपालके लिये विधिपूर्वक राज्य दिया और श्रीपालको पट्ट सहित युवराज बनाया। तदनन्तर

---

१ नम्र-प०, स० । २ मुख्य । ३ पुरीम् म० । ४ विभूतिमान् प०, म०, द० । ५ धर्मार्थकाममोक्षाः । ६ ते धर्मादयः । ७ सज्जनेषु । ८ मिथ्यादृष्टिषु । ९ धर्मार्थकाममोक्षस्वरूपवेदी । १० जननमरणविनाशौ ममेष्टाविति । ११ त्वया सह । १२ तत्क्षणे स्फुटितकोशजातान् । १३ तद् कारणात् ।

गुणपालमहाराज सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूभुजै सार्धं तपो यतिवर श्रित ॥३४१॥
श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकान्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतम् । तस्मात्त्वं[1] न हतोऽसीति[2] ततस्तुष्टाय[3] सोऽपि तम्[4] ॥
इत्युक्त्वा[5] सोऽब्रवीदेवं[8] प्राक्[9] मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं[10] भवदेवाख्यो रतिवेगासुकान्तयो ॥३४३॥
बद्धवैरो निहन्ताऽभू[11] पारावतभवेऽप्यनु[12] । मार्जार सन्मृति[13] गत्वा पुन [14] खचरजन्मनि ॥३४४॥
विद्युच्चोरत्वमासाद्य सोपसर्गौ मृति व्यधा । तत्पापान्नरके दुःखम् अनुभूयागतस्तत । ३४५॥
अनेत्याखिलदर्वेद्युक्त[15] व्यक्तवाग् विसर स्फुटम् । व्यधात् सुधी स्ववृत्तान्त भीमसाधु सुधाशिनो ।
नि प्राक् त्वन्मारितावावामिति[16] शुद्धित्रयान्वितौ[17] । जातसद्धर्मसद्भावावभिवन्द्य मुनि[18] गतौ ॥३४७॥
इति व्याहृत्य[19] हेमाङ्गदानुजेव[20] च साऽब्रवीत् । भीम[21] साधु पुरे पुण्डरीकिण्या घातिघातनात् ॥३४८॥
रम्ये शिवङ्करोद्याने पञ्चमज्ञानपूजित । तस्थियास्त[22] समागत्य चतस्रो देवयोषित ॥३४९॥
वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिर्मृत । त्रिलोकेश वदास्माक पति कोऽन्यो भविष्यति ॥३५०॥
इत्यपृच्छन्नसौ[23] चाह पुरेऽस्मिन्नेव[24] भोजक[25] । सुरदेवाह्वयस्तस्य वसुषेणा वसुन्धरा ॥३५१॥

सेठ कुबेरप्रिय तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ साथ मुनिराजके समीप जाकर तप धारण किया ॥३३८–३४१॥ वह चाण्डाल कहने लगा कि सेठके अहिंसा व्रतका फल देखकर मैंने भी अहिंसा व्रत ले लिया था यही कारण है कि मैंने तुम्हें नहीं मारा है यह सुनकर उस विद्युच्चर चोरने भी उसकी बहुत प्रशंसा की ॥३४२॥

इतना कहकर वे भीम मुनि सामने बैठे हुए देव-देवियोंसे फिर कहने लगे कि सर्वज्ञ देवने मुझसे स्पष्ट अक्षरोंमें कहा है कि 'तू पहले मृणालवती नगरीमें भवदेव नामका वैश्य हुआ था वहां तूने रतिवेगा और सुकान्तसे वैर बांधकर उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर कबूतरी हुए सो वहां भी तूने विलाव होकर उन दोनोंको मारा था, वे मरकर विद्याधर विद्याधरी हुए थे सो उन्हें भी तूने विद्युच्चोर होकर उपसर्ग द्वारा मारा था, उस पापसे तू नरक गया था और वहांके दुःख भोगकर वहांसे निकलकर यह भीम हुआ है इस प्रकार उन बुद्धिमान् भीम मुनिने सामने बैठे हुए देव-देवियोंके लिये अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३४३–३४६॥ जिन्हें आपने पहले तीन बार मारा है वे दोनों हम ही हैं ऐसा कहकर जिनके मन, वचन, काय—तीनों शुद्ध हो गये हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों देव देवी उन भीममुनिकी वन्दना कर अपने स्थानपर चले गये ॥३४७॥

यह कहकर हेमाङ्गदकी छोटी बहिन सुलोचना फिर कहने लगी कि एक समय पुण्डरीकिणी नगरीके शिवंकर नामके सुन्दर उद्यानमें घातिया कर्म नष्ट करनेसे जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे भीममुनिराज विराजमान थे, सभी लोग उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय वहांपर चार देवियोंने आकर उनकी वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी, हम लोगोंके पापसे हमारा पति मर गया है। कहिये—अब दूसरा पति कौन

---

१ तस्मात् कारणात् । २ एव तनवरोऽवादीत् । ३ तनवरवचनानन्तरम् । ४ स्तौति स्म । ५ विद्युच्चोर । ६ अहिंसाव्रतम् । तस्मात् त्व न हतोऽसीति इनोक्तस्य सोऽप्येव प्रत्यपादयदित्यनेन सह सम्बन्ध । ७ उक्तप्रकारेण प्रतिपाद्य । स मुनि पुनरप्यात्मन सर्वज्ञेन प्रतिपादितनिजवृत्तक सुरदम्पत्योराह । ८ वक्ष्यमाणप्रकारेण । ९ पूर्वजन्मनि । १० हे भीममुने, भवान् । ११ घातुक । १२ कपोतभवेऽपि मार्जार सन् तयोर्निहन्ताऽभूरिति सम्बन्ध । १३ कृत्वा ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ तद्दम्पत्योर्विद्याधरभवे । खचरजन्मनि प०, इ० । १५ सर्वज्ञभाषितम् । १६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरौ । १७ मनोवाक्काय शुद्धियुक्तौ । १८ भीममुनिम् । १९ उक्त्वा । २० सुलोचना । २१ भीम साधु प०, इ०, ल० । २२ आस्ते स्म । २३ भीमकेवली । २४ पुण्डरीकिण्याम् । २५ पालक ।

धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सवसन्तिका ॥३५२॥
चतस्रश्चेटिकास्तासाम् अन्येद्युस्ता वनान्तरे । सर्वा यतिवराभ्यासे धर्मं दानादिनाऽग्रहन्[1] ॥३५३॥
तत्फलेनाच्युते कल्पे प्रतीन्द्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिषेणा सुसीमाख्या मुख्या या च सुखावती ॥३५४॥
सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेटिकाः पुनः । चित्रषेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती सती ॥३५५॥
धनश्रीरित्यजायन्त वनदेवेषु[2] कन्यकाः । सुरदेवोऽप्यभून्मृत्वा पिङ्गलः पुररक्षकः[3] ॥३५६॥
स तत्र निजदोषेण प्रापन्निगलबन्धनम् । मातुस्तत्सुरदेवस्य प्राप्ता या राजसूनुताम् ॥३५७॥
श्रीपालाख्यकुमारस्य ग्रहणे[4] बन्धमोक्षणे । सर्वेषां पिङ्गलाख्योऽपि मुक्तः संन्यस्य सम्प्रति ॥३५८॥
भूत्वा वृषविमानेऽसौ[5] इहागत्य भविष्यति । [6]स्वामी युष्माकमित्येतत्तच्चेतो हरणं तदा ॥३५९॥
परमार्थं कृतं तेन[7] तथाऽऽगत्य मुनेर्वचः[8] । पृष्टवान्[9]न्य[10]काश्चै[11]नम्[12] आत्मनो भाविनं पतिम् ॥३६०॥
पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य सूनुर्नाम्नाऽतिपिङ्गलः । सोऽपि संन्यस्य युष्माकं[13] रतिदायी भविष्यति ॥३६१॥
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा[14] तत्पूजनाविधौ[15] । [16]स्वास्ता निरीक्षणात् [17]कामसम्मोहप्रकृतं महत् ॥३६२॥
रतिकूलाभिधानस्य[18] सविधानं[19] मुने[20]: श्रुतम्[21] । [22]तत्पितुर्मणिनागादिदत्तस्य प्रवृत्तं[23] तथा ॥३६३॥

होगा? तब सर्वज्ञ–भीम मुनिराज कहने लगे कि इसी नगरमें सुरदेव नामका एक राजा था उसकी वसुषेणा, वसुंधरा, धारिणी और पृथिवी ये चार रानियां थीं तथा श्रीमती, वीतशोका, विमला और वसन्तिका ये चार उन रानियोंकी दासियां थीं। किसी एक दिन उन सबने वनमें जाकर किन्हीं मुनिराजके समीप दान आदिके द्वारा धर्म करना स्वीकार किया था। उस धर्मके फलसे वे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्रकी देवियां हुई हैं। क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं– रतिषेणा, सुसीमा, सुखावती और सुभगा। वह देवियां तुम्हीं सब हो, तथा तुम्हारी दासियां चित्रषेणा, चित्रवेगा, धनवती और धनश्री नामकी व्यन्तर देवोंकी कन्याएं हुई हैं। राजा सुरदेव मरकर पिङ्गल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही दोषसे कारागारको प्राप्त हुआ था, सुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और श्रीपालकुमारके साथ उसका विवाह हुआ है। विवाहोत्सवके समय सब कैदी छोड़े गये थे उनमें पिङ्गल भी छूट गया था, अब संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होगा और वही तुम सबका पति होगा। इधर मुनिराज ऐसे मनोहर वचन कह रहे थे कि उधर पिङ्गल संन्यास धारणकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहांसे आकर उसने मुनिराजके वचन सत्य कर दिखाये। इतनेमें ही चारों व्यन्तर कन्याएं आकर सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगीं ॥३४८–३६०॥ मुनिराज कहने लगे कि पूर्वोक्त पिङ्गल नामक कोतवालके एक अतिपिङ्गल नामका पुत्र है वही संन्यास धारणकर तुम्हारा पति होगा ॥३६१॥ भीम केवलीने ये वचन सुनकर चारों ही देवियां जाकर अति-पिङ्गलकी पूजा करने लगीं, उसे देखनेसे उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ था ॥३६२॥ उन देवियोंने रतिकूट नामके मुनिका चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना,

---

१ स्वीकुर्वन्ति स्म। २ व्यन्तरदेवेषु। ३ तलवरः। ४ विवाहसमये। ५ – च्युतविमानेऽसौ ल०, प०, स०। वृषविमाना इत्यपि पाठः। वृषविमानाधिपतिः। ६ स्वामी युष्माकमित्यसौ धाष्टर्यता सह सम्बन्धः। ७ पिङ्गलचरदेवेन। ८ केवल्युक्तप्रकारेण। (नमः) ९ भवान्‌च। १० अनन्तरम्। ११ व्यन्तरकन्याः। १२ भीमकेवलिनम्। १३ पुरः। १४ अतिपिङ्गलस्य समीपं प्राप्य। १५ अतिपिङ्गलस्य परिचर्याविधौ। १६ चित्रषेणादिव्यन्तरकन्यानाम्। तासाम् ल०, प०, द०। १७ कामसम्मोहः प्रवर्तेन कृतम्। १८ रतिकूटाभिधानस्य मुनेः। १९ व्याख्यानम्। २० भीमकेवलिनः सकाशात्। २१ आकर्णितम्। २२ रतिकूटस्य जनकस्य। २३ चरित्रम्।

[1]सुकेतोश्चाखिले तस्मिन्सत्यभूते[2] मुनीश्वरम् । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवन्द्य तम् ॥३६४॥
आवामपि[3] तदा वन्दनाय तत्र गताविदम् । श्रुत्वा दृष्ट्वा गतौ प्रीतिपरीतहृदयौ दिवम् ॥३६५॥

इत्यात्मीयभवावलीमनुगतैर्मान्यैर्मनोरञ्जनैः
स्पष्टैरस्खलितैः [4]कलैरविरलैरव्याकुलैर्जल्पितैः[5] ।
आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोच्चनीचस्थितिम्[6]
ससर्पद्दशनांशुभूषितसभासभ्यान्[7]सावभ्यधात्[8] ॥३६६॥

श्रुत्वा तां हृदयप्रियोक्तिमतुषत्कान्तो[9] रतान्ते यथा
सस[10] व्यकसत्तरां शरदि वा लक्ष्मीः सरःसभया ।
कान्तानां[11] वदनेन्दुकान्तिरगलत्तद्वाग्दिनेशोद्गते.[12]
अस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्त्या[13]ज्यस्ततोऽसौ[14] बुधैः ॥३६७॥

कान्तोऽभूद् रतिवेगया वणिगसौ पूर्वं सुकान्तस्ततः
सञ्जातो रतिषेणया रतिवरो गेहे कपोतो विशाम्[15] ।

सुकेतुका चरित्र सुना और सबके सत्य सिद्ध होनेपर बड़े संतोषके साथ मुनिराजकी वन्दना कर अपने अपने स्थानोंकी ओर प्रस्थान किया ॥३६३–३६४॥ उस समय हम दोनों भी मुनिराज की वन्दना करनेके लिये वहां गये और यह सब देख सुनकर प्रसन्नचित्त होते हुए स्वर्ग चले गये थे ॥३६५॥

इस प्रकार अपने द्वारा उपार्जन किये हुए शुभ अशुभ कर्मोंके उदयवश जिसे ऊंची नीची अवस्था प्राप्त हुई है और जिसने अपने दांतोंकी फैलती हुई किरणोंसे समस्त सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी सुलोचनाने सब सभासदोंको क्रमबद्ध मान्य, मनोहर, स्पष्ट, अस्खलित, मधुर, अविरल और आकुलता रहित वचनों द्वारा अपने पूर्वभवकी परम्परा कह सुनाई ॥३६६॥

हृदयको प्रिय लगनेवाले सुलोचनाके वचन सुनकर जयकुमार उस प्रकार सन्तुष्ट हुए जिस प्रकार कि संभोगके बादमें सन्तुष्ट होते । वह सभा उस तरह विकसित हो उठी जिस तरह की शरदृऋतुमें सरोवरकी शोभा विकसित हो उठती है । और सुलोचनाके वचनरूपी सूर्यके उदय होनेसे अन्य स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्ति नष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि अयोग्य स्थानपर की हुई ईर्ष्या दुःख करनेवाली होती है इसलिये विद्वानोंको ऐसी ईर्ष्या अवश्य ही छोड़ देनी चाहिये ॥३६७॥ सुलोचनाने जयकुमारसे कहा कि मैं पहले रतिवेगा थी और आप मेरे ही साथ मेरे पति सुकान्त वैश्य हुए, फिर मैं सेठके घर रतिषेणा कबूतरी हुई और आप मेरे ही साथ रतिवर नामक कबूतर हुए, फिर मैं प्रभावती विद्याधरी हुई और आप मेरे ही साथ हिरण्यवर्मा विद्याधर हुए उसके बाद मैं स्वर्गमें महादेवी हुई और आप मेरे ही साथ अतिशय

---

१ मृणालवतीपुरस्थे सुकेतोरपि चेष्टित मुने सकाशाच्छ्रुतमिति सम्बन्धः । एतत् कथात्रय ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम् । २ सत्यीभूते स०, प०, द०, ल० । ३ प्रभावतीचरीहिरण्यवर्मचरगुरुदम्पती । ४ सुन्दरैः । ५ सम्पूर्णैः । ६ स्थिति. स० । ७ सुलोचना । ८ उवाच । ९ जय । १० सभा च । ११ जयस्य श्रीमतीनिवन्धद्धृनादियोषिताम् । १२ सुलोचनावचनादित्योदये सति । १३ दुःखकरः । १४ मत्सरः । १५ वैश्यानाम् ।

सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व

कान्ते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसम्बन्धमित्यप्राक्षीत् स तां पुनः ॥१॥
बाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकम् । [1]तवैवाद्येक्षितं[2] वेति सा प्रवक्तुं प्रचक्रमे ॥२॥
जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुण्डरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥३॥
श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचन्द्रमसौ[3] च तौ । जित्वा महीं सहैवावतः[4] स्मेव नयविक्रमौ ॥४॥
जननी, वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽन्यदा । वनपालो समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥५॥
गुणपालमुनीशो[5]ऽस्मत्पतेः [6]सुरगिरावििति । निवेदितवति क्रान्त्वा पुरः सप्तपदान्तरम् ॥६॥
प्रणम्य वनपालाय दत्त्वाऽसौ[7] पारितोषिकम् । पौराः सपर्यया[8] सर्वेऽप्याययुरिति[9] घोषणाम् ॥७॥
विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवन्तमवन्दत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥८॥
प्रमदाख्यं वनं प्राप्य [10]सद्द्रुमैरम्यमन्तरे । प्राग्जगत्पालचक्रेशो यस्मिन्न्यग्रोध[11]पादपे ॥९॥
देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमम् । [12]तस्याधस्तात् समी[13]क्ष्येक्ष्यं[14] प्रवृत्तं नृत्तमादरात् ॥१०॥
तयोः[15] कुमारः श्रीपालः पुरुषो नर्तयत्ययम् । अस्तु[16] स्त्रीवेषधार्यत्र स्त्री चेत्पुंरूपधारिणी ॥११॥
स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती नृत्तं युक्तमिदं भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटी मूर्च्छामुपागता ॥१२॥

यह सुनकर जयकुमारने सुलोचनासे फिर पूछा कि हे प्रिये, इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और भी है, वह तुझे याद है या नहीं ? सुलोचनाने कहा हां, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानो मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उसकी कथा कहने लगी ॥१–२॥ इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि इन्द्रकी नगरी–अमरावतीके समान अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥३॥ सूर्य और चन्द्रमा अथवा नय और पराक्रमके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई समस्त पृथिवीको जीतकर साथ ही साथ उसका पालन करते थे ॥४॥ किसी एक दिन मालीने आकर वसुपालकी माता कुबेरश्रीसे कहा कि सुरगिरि नामक पर्वतपर आपके स्वामी गुणपाल मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने सामने सात पैंड चलकर नमस्कार किया, मालीको पारितोषिक दिया और नगरमें घोषणा कराई कि सब लोग पूजाकी सामग्री साथ लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिये चलें, उसने स्वयं सबसे पहले जाकर भगवान्‌की वन्दना की । माताके पीछे ही श्रीपाल और वसुपाल भी बड़ी प्रसन्नतासे चले ॥५–८॥ मार्गमें वे एक उत्तम वनमें पहुंचे जो कि अच्छे अच्छे वृक्षोंसे सुन्दर था और जिसमें देवताओंकी प्रतिमासे युक्त किसी वट वृक्षके नीचे खड़े होकर महाराज जगत्पाल चक्रवर्तीने संयम धारण किया था । उसी वृक्षके नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े आदरसे देखने लगे ॥९–१०॥ देखते देखते कुमार श्रीपालने कहा कि यह स्त्रीका वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका रूप धारण कर स्त्री नाच रही है । यदि यह स्त्री स्त्रीके ही वेषमें नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता । श्रीपालकी यह बात सुनकर नटी मूर्च्छित

---

१ तवैवा–अ०, स० । मयैवा– ल०, प०, द० । २ प्रत्यक्षं दृष्टमिव । ३ चितौ ट० । संयोगिनौ । ४ यथाक्रमम् । ५ मुनीश्वरस्य । ६ सुरगिरिनाम्नि पर्वते । ७ कुबेरश्री. । ८ पूजया । ९ आगच्छेयुः । १० शुभवृक्षैः । ११ वट । 'न्यग्रोधो बहुपाद् वटः' इत्यभिधानात् । १२ वटस्य । १३ आलोक्य । १४ दर्शनीयम् । १५ वसुपालश्रीपालयोः । १६ चेत् ।

उपायैः प्रतियोग्यैस्तां तदा प्रश्रयपूर्वकम् । इति विज्ञापयामास काचित् भाविचक्रिणम् ॥१३॥
सुरम्यविषये श्रीपुराधिपः श्रीधराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यभूत् ॥१४॥
तज्जाती[1] चक्रिणो देवी भाविनीत्यादिशन्विदः[2] । अभिज्ञानं[3] च तस्यैतत् नटनट्योर्विवेत्ति[4] यः ॥१५॥
भेदं स चक्रवर्तीति तत्परीक्षितुमागताः । पुण्याद् दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिकल्पो यदृच्छया ॥१६॥
अहं प्रियरतिर्नाम्ना[5] सुतेयं नर्तकी मम । ज्ञेया मदनवेगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥१७॥
नटोऽयं वासवो नाम स्थानं स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तुष्ट्वा तां सन्तर्प्य यथोचितम् ॥१८॥
गुरुं वन्दितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः[6] । अश्वं केनचिदानीतम् आरुह्यासक्तचेतसा ॥१९॥
[7]प्रधावयदसौ[8] किञ्चिद् अन्तरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तीकृतखगाकृतिः[9] ॥२०॥
न्यग्रोधपादपाधःस्थप्रतिमावासिना भृशम् । देवेन तर्जितो भीत्याऽशनिवेगोऽमुचत् खगः ॥२१॥
कुमारं पर्णलघ्वाख्यविद्यया स्वनियुक्तया । रत्नावर्तगिरेर्मूर्ध्नि स्थितं तं सन्ति भाविनः ॥२२॥
बहवोऽप्यस्य लाभा इत्यगृहीत्वा निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिंश्चित् स्नानादिविधिना श्रमम् ॥२३॥
मार्गजं शिथिलीकृत्य तस्थिवानस्मात् सुधागृहात् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितम् ॥२४॥
दृष्ट्वा षड्राजकन्यास्ताः स्ववृत्तान्तं न्यवेदयन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य खचरेशिना ॥२५॥
बलादशनिवेगेन वयमस्मिन्निवेशिताः । इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकम्पिनः ॥२६॥

हो गई ॥११–१२॥ उसी समय अनेक उपायोंसे नटीको सचेत कर कोई स्त्री उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपालसे विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥ कि सुरम्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी रानीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी पुत्री है ॥१४॥ उसके जन्मके समय ही निमित्तज्ञानियोंने कहा था कि यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्तीकी पहिचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है, हम लोग उसीकी परीक्षा करनेके लिये आये हैं, पुण्योदयसे हम लोगोंने निधिके समान इच्छानुसार आपके दर्शन किये हैं ॥१५–१६॥ मेरा नाम प्रियरति है, यह पुरुषका आकार धारण कर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी पुत्री है और स्त्रीका वेष धारण करनेवाला यह वासव नामका नट है यह सुनकर राजाने संतुष्ट होकर उस स्त्रीको योग्यतानुसार संतोषित किया और स्वयं अपने पिताकी वन्दना करनेके लिये सुरगिरि नामक पर्वतकी ओर चला, मार्गमें कोई पुरुष घोड़ा लाया उसपर आसक्तचित्त हो श्रीपालने सवारी की और दौड़ाया। कुछ दूरतक तो वह घोड़ा पृथिवीपर दौड़ाया परन्तु फिर अपना विद्याधरका आकार प्रकट कर उसे आकाशमें ले उड़ा। उस वट वृक्षके नीचे स्थित प्रतिमाके समीप रहनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा, देवकी ललकारसे डरे हुए अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजी हुई पर्णलघु विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पर्वतकी शिखरपर छोड़ दिया। देवने देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुत लाभ होनेवाला है इसलिये वह कुमारको साथ लिये बिना ही लौट गया। कुमार भी किसी तालाबमें स्नान आदि कर मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर कर बैठे ही थे कि इतनेमें एक सफेद महलसे छह राजकन्याएं निकलकर आईं और कुमारको यह राजाका पुत्र है' ऐसा समझकर यथायोग्य रीतिसे दर्शन कर अपना समाचार निवेदन करने लगीं। उन्होंने अपने गोत्र कुल और नाम आदि बतलाकर कहा कि 'अशनिवेग नामके विद्याधरने हम लोगोंको यहां जबर्दस्ती लाकर पटक दिया है' कन्याओंकी यह बात

---

१ जयवती जननसमये। २ विद्वांसः। ३ परिचायकं चिह्नम्। ४ विशेषेण जानाति। ५ नाम्ना स०, अ०, प०, ग०, इ०। ६ वनात् (प्रमदवनात्)। ७ गमयति स्म। ८ मायावी। ९ विद्याधराकारः।

निजागमनवृत्तान्तकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥२७॥
पापिनाऽशनिवेगेन हन्तुमेन[1] प्रयोजिता । समीक्ष्य मदनाक्रान्ताऽभूच्चित्राश्चित्तवृत्तय ॥२८॥
सूनु स्तनितवेगस्य राज्ञो राजपुरेशितु[2] । खगेशोऽशनिवेगाख्यो [3]ज्योतिर्वेगाख्यमातृक ॥२९॥
त्वमत्र तेन सौहार्दाद् आनीत स ममाग्रज । विद्युद्वेगाह्वयाऽह च प्रेषिता ते स मैथुन ॥३०॥
रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरम् । भवत्समीप प्राप्तैवमिति रक्तविचेष्टितम् ॥३१॥
दर्शयन्ती समीपस्थ यावत् सौधगृहान्तरम । इत्युक्त्वाऽनभिलाष च ज्ञात्वा तस्य महात्मन ॥३२॥
तत्रैव विद्यया सौधगेह निर्माप्य निस्त्रपा । स्थिता तद्राजकन्याभि सह का कामिनां त्रपा ॥३३॥
एत्यानङ्गपताकाऽस्यास्त[4] सखोत्थमवोचत[5] । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशितु[6] ॥३४॥
[7]ज्योतिर्वेगागुरु प्रीत्या कुबेरश्री समादिशत् । निजजामातर[8] क्वापि श्रीपालस्वामिन मम ॥३५॥
स्वय स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेषयेदिति । प्रतिपद्य स[9] तत्प्रोक्त भवन्त मैथुनस्तव ॥३६॥
आनीतवानिहेत्येतद् अवबुध्यात्मनो द्विषम् । पति मत्वोत्तरश्रेणे आशाङ्क्यानलवेगकम् ॥३७॥
स्वय तदा समालोच्य निवार्य खचराधिपम्[10] । उदीर्यान्वेषणोपाय त्वत्स्नेहाहितचेतस ॥३८॥
आनीयता प्रयत्नेन कुमार इति बान्धवा । आवा प्रियसकाश ते प्राहैषुस्त[11]दिहागते ॥३९॥

सुनकर कुमारको उनपर दया आई और वह भी अपने आनेका वृत्तान्त कहनेके लिये उद्यत हुआ। वह जिस समय अपने आनेका समाचार कह रहा था उसी समय विद्युद्वेगा नामकी एक दूसरी विद्याधरी वहा आई। पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिये इसे भेजा था परन्तु वह कुमारको देखकर कामसे पीडित हो गई सो ठीक ही है क्योकि चित्तकी वृत्ति विचित्र होती है ॥१७–२८॥ वह कहने लगी कि अशनिवेग नामका विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है ॥२९॥ वह अशनिवेग मित्रताके कारण आपको यहा लाया है, वह मेरा बडा भाई है, मेरा नाम विद्युद्वेगा है और उसीने मुझे आपके पास भेजा है, अब वह आपका साला होता है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि तू रत्नावर्त पर्वतपर जा, वे वहा विराजमान है इसलिये ही मै आदर सहित आपके पास आई हू ऐसा कहकर उसने रागपूर्ण चेष्टाए दिखलाई और कहा कि यह समीप ही चूनेका बना हुआ पक्का मकान है परन्तु इतना कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा नही देखी तब वहीपर विद्याके द्वारा मकान बना लिया और निर्लज्ज होकर उन्ही राजकन्याओके साथ बैठ गई सो ठीक ही है क्योकि कामी पुरुषोको लज्जा कहासे हो सकती है ? ॥३१–३३॥ इतनेमें विद्युद्वेगाकी सखी अनगपताका आकर कुमारसे इस प्रकार कहने लगी कि 'आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेन्द्रके समीप गई हुई थी वहा उसने बडे प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा कि मेरा पुत्र श्रीपाल कही गया है उसे ले आओ। ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जामाता स्तनितवेगसे कहा कि मेरे स्वामी श्रीपाल कही गये है उन्हें ले आओ। स्तनितवेगने स्वय अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहा लाया है, वह आपका साला है। उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है उसकी आशका कर तुम्हारे स्नेहसे जिनका चित्त भर रहा है ऐसे सब भाईबन्धुओने स्वय विचार कर आपके खोजनेका उपाय बतलाया और कहा कि कुमारको बडे प्रयत्नसे यहा लाया जाय। वे सब विद्याधरोके अधिपति अनलवेगको रोकनेके लिये गये है और हम दोनोको आपके पास भेजा है। यहा आनेपर यह विद्युद्वेगा

१ श्रीपालम्। २ पुरेशिन अ०, प०, स०, इ०। ३ ज्योतिर्वेगाख्या माता यस्यासौ। ४ विद्युद्वेगाया। ५ श्रीपालम्। ६ जिनेशिन स०, प०। ७ अशनिवेगस्य मातुर्ज्योतिर्वेगाया पितरम्। कुबेरश्री यशोदर्शार्दन सम्यक्। ८ स्तनितवेगजामातरम्। ९ ज्योतिर्वेगापिता। १० अशनिवेगम्। ११ तत्कारणात्।

विद्युद्वेगाख्यनीवत्र त्वाम् अनुरक्ताऽनन्यया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य[1] स विचिन्त्योचितं वचः ॥४०॥
मयोपनयनेऽग्राहि[2] व्रतं गुरुनिरूपितम् । मुक्त्वा गुरुजनानीतां[3] स्वीकरोमि न चापराम्[4] ॥४१॥
इत्यवोचत्ततस्ताश्च शृङ्गाररसचेष्टितैः । नानाविधै रञ्जयितुं प्रवृत्ता नाशकन्यदा[5] ॥४२॥
विद्युद्वेगा ततोऽगच्छत् स्वमातृपितृसन्निधौ । पिधाय द्वारमारोप्य सौधाग्रं प्राणवल्लभम् ॥४३॥
तत्रैव[6] कुमारोऽपि सुप्तवान् रक्तकम्बलम् । प्रावृत्य[7] तं समालोक्य भेरुण्डः[8] पिण्डोऽत्ययम्[9] ॥४४॥
मत्वा नीत्वा द्विजः[10] सिद्धकूटाग्रे खादितुं स्थितः । चलन्तं वीक्ष्य सोऽत्याक्षीत्[11] स[12] तेषां[13] जातिजो गुणः[14] ॥४५॥
[15]ततोऽवतीर्य श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमान् । सुपुष्पाणि सुगन्धीनि समादाय जिनालयम् ॥४६॥
परीत्य स्तोतुमारेभे विवृत्तं[16] द्वारमन्यदा[17] स्वयम् । तन्निरीक्ष्य प्रसन्नः सन्नभ्यर्च्य जिनमुक्तवान् ॥४७॥
अनिविष्ट यथास्थानं विधिवत्तत्र सुस्थितः[18] । तमन्येत्य खगः कश्चित् समुद्धृत्य नभःपथे ॥४८॥
गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवङ्करपुरेशिनः । नृपस्यानिलवेगस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥४९॥
तयोः सुता भोगवतीम् प्रासादे स्फटिकालये । मृदुशय्यातले सुप्ता सा कुमारीयमित्यसौ[19] ॥५०॥
अपृच्छत् [20]सोऽब्रवीदेषा भुजङ्गी विषमेति च । तदुक्ते[21] स कुधा कृत्वा कन्यादिनुसमीरणम्[22] ॥५१॥

आपको देखकर आपमें अत्यन्त अनुरक्त हो गई है अतः आपको यह छोड़नी नहीं चाहिये। कुमारने ये सब बातें सुनकर और अच्छी तरह विचारकर उचित उत्तर दिया कि मैंने यज्ञोपवीत संस्कारके समय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ एक व्रत ग्रहण किया था और वह यह है कि मैं माता-पिता आदि गुरुजनोंके द्वारा दी हुई कन्याको छोड़कर और किसी कन्याको स्वीकार नहीं करूंगा। जब कुमारने यह उत्तर दिया तब वे सब कन्याएं अनेक प्रकारकी शृङ्गाररसकी चेष्टाओंसे कुमारको अनुरक्त करनेके लिये तैयार हुई परन्तु जब उसे अनुरक्त नहीं कर सकी तब विद्युद्वेगा प्राणपति श्रीपालको मकानकी छतपर छोड़कर और बाहरसे दरवाजा बन्दकर माता-पिताको बुलानेके लिये उनके पास गई। इधर कुमार श्रीपाल भी लाल कम्बल ओढ़कर सो गये, इतनेमें एक भेरुण्ड पक्षीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह उन्हें मांसका पिण्ड समझकर उठा ले गया और सिद्धकूट-चैत्यालयके अग्रभागपर रखकर खानेके लिये तैयार हुआ परन्तु कुमारकी हिलना डुलना देखकर उसने उन्हें छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योंकि यह उन पक्षियोंका जन्मजात गुण है ॥३४–४५॥ तदनन्तर श्रीपालने सिद्धकूटकी शिखरसे नीचे उतरकर सरोवरमें स्नान किया और अच्छे अच्छे सुगन्धित फूल लेकर भक्तिपूर्वक श्री जिनालयकी प्रदक्षिणा दी और स्तुति करना प्रारम्भ किया, उसी समय चैत्यालयका द्वार अपने आप खुल गया, यह देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और विधिपूर्वक इच्छानुसार श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा वन्दनाकर सुखसे वहींपर बैठ गया। इतनेमें ही एक विद्याधर सामने आया और कुमारको उठाकर आकाशमार्गमें ले चला, चलते चलते वे मनोरम देशके शिवङ्करपुर नगरमें पहुंचे, वहांके राजाका नाम अनिलवेग था, और उसकी स्त्रीका नाम था कान्तवती, इन दोनोंके भोगवती नामकी पुत्री थी, वह भोगवती आकाशमें बने हुए स्फटिकके महलमें कोमल शय्यापर सो रही थी उसे देखकर उस विद्याधरने श्रीपालकुमारसे पूछा कि यह कुमारी कौन है? कुमारने उत्तर दिया कि

१ मां विचि–म०, प०, अ०। २ स्वीकृतं। ३ [illegible]। ४ [illegible]। ५ [illegible] न शक्नुः। ६ [illegible]। ७ [illegible]। ८ [illegible]। ९ [illegible]। १० [illegible]। ११ [illegible]। १२ [illegible]। १३ [illegible]। १४ [illegible]। १५ [illegible]। १६ [illegible]। १७ द्वारम्। १८ विद्याधरः। १९ [illegible]। २० [illegible]। २१ [illegible] गत्वा [illegible] विद्याधरः [illegible]। [illegible] स्तम्भगीतिः।

तमस्मत्कन्यकामेष भुजङ्गीति खलोऽब्रवीत् । 'इत्यवोचत्तत[1] 'क्रुद्ध्वा दुर्वी निक्षिप्यतामयम्' ॥५२॥
दुर्द्धरोरुतपोभारधारियोग्ये घने वने । इत्यभ्यधान्नृपस्तस्य वचनानुगमात्ततो[2] ॥५३॥
विजयार्द्धोत्तरश्रेणिमनोहरपुरान्तिके । श्मशाने[3] शीतवैतालीविद्यया स[4] शुभाकृतिम् ॥५४॥
कृत्वा व्यत्यक्षिपत् पापो जरतीरूपधारिणम् । [5]तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयम् ॥५५॥
श्व प्रायमगरूपेण[8] स्वसुताचरणद्वये । समन्ताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य[9] भृशं ततः ॥५६॥
[10]तं पुरातनरूपेण समानस्थापयत् खला । [11]तद्विलोक्य कुमारोऽसौ खगाः स्वाभिमताकृतिम् ॥५७॥
[12]विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याशङ्कस्य विचिन्तयन् । [13]यमप्रयाणिसदृशः काशप्रसवहासिभिः[14] ॥५८॥
शिरोरुहैर्जराम्भोधि[15]तरङ्गाभतनुत्वचा । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितम्[16] ॥५९॥
लज्जाशोकाभिभूतः सन् मन्दमगच्छंस्ततः परम्[17] । तत्र[18] भोगवती[19] भ्रातुर्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥
विद्यया शवरूपेण सद्य प्रार्थितया परे । कुमारस्य[20] समुद्गम्य[21] निर्यान्तमविचारयन् ॥६१॥
उद्धृत्येदं विशङ्कस्त्वं पिबेत्युक्तः प्रपीतवान्[22] । [23]तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वां सर्वव्याधिविनाशिनी ॥६२॥
विद्याश्रितेति सम्प्रीत प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः[24] कुमारो वटभूरुहः[25] ॥६३॥
गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कञ्चिन्नभश्चरम् । प्रदेशः कोऽयमित्येतद्[26] अपृच्छत् सोऽप्यब्रवीदिदम् ॥६४॥

यह विषम सर्पिणी है। श्रीपालके ऐसा कहनेपर वह विद्याधर क्रुद्ध होकर उन्हें उस कन्याके पिताके पास ले गया और कहने लगा कि यह दुष्ट हम लोगोंकी कन्याको सर्पिणी कह रहा है। यह सुनकर कन्याके पिताने भी क्रुद्ध होकर कहा कि 'इस दुष्टको कठिन तपका भार धारण करनेके योग्य किसी सघन वनमें छुड़वा दो।' राजाके कहे अनुसार उस पापी विद्याधरने शीत वैताली विद्याके द्वारा सुन्दर आकारवाले श्रीपालकुमारको वृद्धका रूप धारण करनेवाला बनाकर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणिके मनोहर नगरके समीपवाले श्मशानमें पटक दिया। वहां अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जमाईको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनों चरणोंपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको अत्यन्त प्रसन्नकर फिर उस दुष्टा चाण्डालिनीने उसका पुराना रूप कर दिया। यह देखकर कुमार कुछ भयभीत हो चिन्ता करने लगा कि ये विद्याधर लोग इच्छानुसार रूप बनानेमें समर्थ हैं। उस समय वह मानो यमराजके सामने जानेवालेके समान ही था—अत्यन्त वृद्ध था, उसके बाल काशके फूले हुए फूलोंकी हँसी कर रहे थे, और शरीरमें बुढ़ापारूपी समुद्रकी तरंगोंके समान सिकुड़नें उठ रही थीं। इस प्रकार दुष्ट विद्याधरके द्वारा किया हुआ अपना रूप देखकर वह लज्जा और शोकसे दब रहा था। इसी अवस्थामें वह शीघ्र ही आगे चला। वहां भोगवतीके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे उसने प्रार्थना की तब विद्याने मुरदेका रूप धारणकर श्रीपाल कुमारके हाथपर कुछ उगल दिया और कहा कि तू बिना किसी विचारके निःशङ्क हो इसे उठाकर पी जा, कुमार भी उसे शीघ्र ही पी गया। यह देखकर हरिकेतुने कुमारसे कहा कि तुझे सर्वव्याधिविनाशिनी विद्या प्राप्त हुई है, यह कहकर और विद्या देकर हरिकेतु प्रसन्न होता हुआ वहां चला गया। इधर कुमार भी अपने असली रूपको प्राप्त हो गया। कुमार आगे बढ़ा तो उसने एक वट वृक्षके

१ इत्युवाच तत क्रुध्वा दुष्टो अ०, प०, इ०, स०, ल०। २ तद्वचनाकर्णनानन्तरम्। ३ अनिलवेग प्रवुप्य। ४ श्रीपाल। ५ खग। ६ श्रीपालम्। ७ श्मशाने। ८ सारमेयरूपेण। ९ प्रसन्नता नीत्वा। १० जामातरम्। ११ मायास्वरूपम्। १२ विनिर्मातुम्। १३ कृतान्तस्य पुरोगामिसदृश। १४ हासिभि ल०। १५ जराम्भोधेस्तरङ्गाभ इत्यपि पाठ। १६ दुष्टविद्याधरेण समुत्पादितम्। १७ तस्मादग्र प्रदेशम्। १८ श्मशाने। १९ पूर्वोक्तभोगवतीकन्याग्रजस्य। २० श्रीपालकुमारस्य। २१ वमनं कृत्वा। २२ पिबति स्म। २३ श्रीपालम्। २४ निजरूपं प्राप्त। २५ न्यग्रोधवृक्षस्य। वटभूरुहम् ल०। २६ कन्यमार्गामित्येवम्—स०, प०, अ०, स०, इ०।

खगाद्रे पूर्वदिग्भागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमत्र च ॥६५॥
तद्भूतवनमेतत्त्व सम्यक् चित्तेऽवधारय ।[1]अस्मिन्नेता[2]शिला सप्त परस्परवृता कृता[3] ॥६६॥
येनासौ चक्रवर्तित्व प्राप्तेत्यादेश[4] ईदृश । इति तद्वचनादेव[5]तास्तया कृतवास्तदा ॥६७॥
दृष्ट्वा तत्साहस वक्तु सोऽगमन्नगरेशिन[6] । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो[7] निर्विण्णचेतसा ॥६८॥
काञ्चिज्जरावतीं[8]कुत्स्यशरीरा कस्यचित्तरो । [9]अवस्थितामधोभागे विषय पुष्कलावतीम् ॥६९॥
वद प्रयाति क पन्था इत्यप्राक्षीत् प्रिय वद्[10] । विना गगनमार्गेण प्रयातु नैव शक्यते ॥७०॥
[11]स गव्यू[12]तिशतोत्सेधविजयार्द्धगिरेरपि । [13]परस्मिन्नित्यसावाह[14] तदाकर्ण्य नृपात्मज ॥७१॥
ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति ता प्रत्यभाषत । इह जम्बूमति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥७२॥
तत्खेचरगिरौ राजपुरे खेचरचक्रिण । देवी धरणिकम्पस्य सुप्रभा[15] वा प्रभाकरी ॥७३॥
तयोरह तनूजास्मि विख्याताख्या सुखावती । [16]त्रिप्रकारोरुविद्याना पारगाऽन्येद्युरागता ॥७४॥
विषये वत्सकावत्या विजयार्धमहीधरे[17] । अकम्पनसुता पिप्पलाख्या प्राणसमा सखीम् ॥७५॥
मगाभिवीक्षितु तत्र[18] चित्रमालोक्य कम्बलम् । कपथाय कुतस्त्यस्ते तन्वीति प्रश्नतो मम ॥७६॥

नीचे बैठे हुए किसी विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौन सा देश है ? तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥४६–६४॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्व दिशा और नीलगिरिकी पश्चिमकी ओर यह सुसीमा नामका देश है, इसमें यह महानगर नामका नगर है और यह भूतारण्य वन है, यह तू अपने मनमें अच्छी तरह निश्चय कर ले, इधर इस वनमें ये सात शिलाए पडी है जो कोई इन्हें परस्पर मिलाकर एकपर एक रख देगा वह चक्रवर्ती पदको प्राप्त होगा ऐसी सर्वज्ञ देवकी आज्ञा है' विद्याधरके 'यह वचन सुनकर श्रीपालकुमारने उन शिलाओको उसी समय एकके ऊपर एक करके रख दिया ॥६५–६७॥ कुमारका यह साहस देखकर वह विद्याधर नगरके राजाको खबर देनेके लिये चला गया और इधर कुमार भी कुछ उदासचित्त हो वहासे निकलकर आगे चला। आगे किसी वृक्षके नीचे निन्द्य शरीरको धारण करनेवाली एक बुढियाको देखकर मधुर वचन बोलनेवाले कुमारने उससे पूछा कि पुष्कलावती देशको कौन सा मार्ग जाता है, बताओ, तब बुढियाने कहा कि वहा आकाश मार्गके विना नही जाया जा सकता क्योकि वह देश पच्चीस योजन ऊचे विजयार्ध पर्वतसे भी उस ओर है, यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने उससे फिर कहा कि वहा जानेका कुछ भी तो मार्ग बतलाओ। तब वह कहने लगी इस जम्बूद्वीपमें एक वत्सकावती नामका देश है, उसके विजयार्ध पर्वतपर एक राजपुर नामका नगर है उसमें विद्याधरोका चक्रवर्ती राजा धरणीकप रहता है उसकी कान्तिको फैलानेवाली सुप्रभा नामकी रानी है, मै उन्ही दोनोकी प्रसिद्ध पुत्री हू, सुखावती मेरा नाम है और मै जाति विद्या, कुल विद्या तथा सिद्ध की हुई विद्या इन तीनो प्रकारकी बडी बडी विद्याओकी पारगामिनी हू । किसी एक दिन मै वत्सकावती देशके विजयार्ध पर्वतपर अपने प्राणोके समान प्यारी सखी, राजा अकपनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिए गई थी । वहा मैंने एक विचित्र कम्बल देखकर उससे पूछा कि हे सखि, कह, यह कम्बल तुझे कहासे प्राप्त हुआ है ? उसने कहा कि 'यह कम्बल मेरी ही आज्ञासे प्राप्त हुआ है' । कम्बल प्राप्तिके समयसे ही कम्बलवालेका ध्यान करती हुई वह अत्यन्त विह्वल हो रही है ऐसा सुनकर उसकी सखी मदनवती उसे देखनेके लिये उसी

---

१ वने । २ एकैकस्या उपर्युपरिस्थिता । ३ विहिता । ४ प्राप्स्यति । ५ शीतता । ६ नगरेशिनु ल०, प०, अ०, स०, इ० । ७ वनात् । ८ निन्द्य । ९ अध – ल० । १० प्रिय वद ल० । ११ पुष्कलावतीविषय । १२ पञ्चविंशतियोजन । १३ अपरभागे । १४ जरती । १५ चन्द्रिकेव । १६ जातिकुलसाधितविद्यानाम् । १७ महीतले ल०, प० । १८ पिप्पलायाम् ।

जगाद साऽपि मामेव[1] प्रायादेशयशाविति । [2]कम्बलावाप्तितस्तद्वन्तं[3]समाप्याय विद्वसाम् ॥७७॥
एतां[4] तस्या[5] सखी श्रुत्वा समन्वेष्टुं समागता । काञ्चनाख्यपुरान्नाम्ना मदनादिवती तदा ॥७८॥
दृष्ट्वा तत्कम्बलस्यान्ते निबद्धां रत्नमुद्रिकाम् । तत्र[6] श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसंस्मृतेः[7] ॥७९॥
[8]अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूदहं[9] ततः । कथं वंशाधरं लोकमिमं श्रीपालनामभृत् ॥८०॥
समागतः स इत्येतन्निश्चेतुं पुण्डरीकिणीम । उपगत्य जिनागारे वन्दित्वा समुपस्थिता ॥८१॥
त्वत्प्रवासकथां[10] सर्वां तव मातुः प्रजल्पनात् । विदित्वा विस्तरेण त्वाम् आनेष्यामीति निश्चयात् ॥८२॥
आगच्छन्ती भवद्वार्तां विद्युद्वेगामुखोद्गताम् । अवगत्य त्वया सार्द्धं योजयिष्यामि ते प्रियम् ॥८३॥
न [11]विषादो विधातव्य इत्याश्वास्य भवत्प्रियाम् । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालयम् ॥८४॥
अभिवन्द्यागता[12]ऽस्म्येहि[13] मयाऽमा पुण्डरीकिणीम् । मातरं भ्रातरं चान्यांस्त्वद्बन्धूंश्च समीक्षितुम् ॥८५॥
यदीच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुत्वा[14] पुनः कुतः । त्वमेव जरती जातेत्यब्रवीत् स[15] सुखावतीम् ॥८६॥
कुमारवचनाकर्णनेन[16] वार्द्धक्यमागतम् । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदितम् ॥८७॥
जराभिभूतमालोक्य स्वशरीरमिदं त्वया । कृतमेवंविधं केन हेतुनेत्यनुपृष्टवान् ॥८८॥
तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीदेवं पिप्पलेत्याख्ययोदिता । मदनादिवती या च मैथुनौ विश्रुतौ तयोः ॥८९॥
बलवान् धूमवेगाख्यस्तावुग्धरिवरोऽपि च । तद्भयात्त्वा[17] तिरोधाय पुरं[18] प्रापयितुं मया ॥९०॥
मायारूपद्वयं[19] विद्याप्रभावात् प्रकटीकृतम् । कुमार, मत्करस्यामृतास्वादफलभक्षणात् ॥९१॥

समय काचनपुर नगरसे आई। उसने वह कम्बल देखा, कम्वलके छोरमें वधी हुई रत्नोकी अगूठी और उसपर खुदे हुए श्रीपालके नामाक्षर देखकर मुझे अपने गुरुकी आज्ञाका स्मरण हो आया, उसी समय मेरा हृदय कामदेवके बाणोसे भिन्न हो गया, मै सोचने लगी कि श्रीपाल नामको धारण करनेवाला यह भूमिगोचरी विद्याधरोके इस लोकमें कैसे आया? इसी वातका निश्चय करनेके लिये मै पुण्डरीकिणी पुरी पहुची, वहा जिनालयमे भगवान्की वन्दनाकर बैठी ही थी कि इतनेमे वहा आपकी माता आ पहुंची, उनके कहनेसे मैने विस्तारपूर्वक आपके प्रवासकी कथा मालूम की और निश्चय किया कि मै आपको अवश्य ही ढूंढकर लाऊगी। उसी निश्चयके अनुसार मै आ रही थी, रास्तेमे विद्युद्वेगाके मुखसे आपका सब समाचार जानकर मैने उससे कहा कि 'तू अभी विवाह मत कर मै तेरे इष्टपतिको तुझसे अवश्य मिला दूंगी' इस प्रकार आपकी भावी प्रियाको विश्वास दिलाकर वहासे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुची। वहाकी वन्दना कर आई हू, यदि माता भाई तथा अन्य बन्धुओको देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ पुण्डरीकिणी पुरीको चलो, यह सब सुनकर मैने सुखावतीसे फिर कहा कि अच्छा, यह वतला तू इतनी बूढी क्यो हो गई है? कुमारके वचन सुनकर उस बुढियाने हँसते हँसते कहा कि क्या आप अपने शरीरमे आये हुए बुढापेको नही जानते—आप भी तो बूढे हो रहे है। कुमारने अपने शरीरको बूढा देखकर उससे पूछा कि 'तूने मेरा शरीर इस प्रकार बूढा क्यो कर दिया है।' कुमारकी यह वात सुनकर वह इस तरह कहने लगी कि जिनका कथन पहले कर आई हूं ऐसी पिप्पला और मदनवती नामकी दो कन्याएं है, उन्हें दो प्रसिद्ध

१ कम्बल। २ कम्बलप्राप्तिमादि कृत्वेत्यर्थः। कम्वलप्राप्तिस्त–अ०, स०, ल०। ३ कम्बलवन्त पुरुषम्। ४ पिप्पलाम्। ५ पिप्पलाया। ६ मुद्रिकायाम्। ७ गम्मृतौ इ०, अ०, स०, प०। ८ कामबाण। ९ गुणावती। १० भवद्देशान्तरगमनकथाम्। ११ विवाहो ल०। विदोषो अ०, स०। १२ अत्रागताहम्। १३ आगच्छ। १४ गुणावतीवचनमाकर्ण्य। १५ श्रीपाल। १६ कुमारवाचमाकर्ण्य इ०, अ०, स०। कुमारवचनाकर्ण्य स०। १७ धूमवेगहरिवरभयात्। १८ पुण्डरीकिणीम्। १९ मम जरतीरूपम् भवतश्च वार्द्धक्यमिति द्वयम्।

विगतश्रुच्छ्रम शीघ्रं मामारुह्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपमसाम्प्रतम्[1] ॥९२॥
न स्पृशामि कथं चाहम् आरोहामि पुरा[2] गुरो । [3]सन्निधावाददामीदृग्व्रतमित्यब्रवीदिदम् ॥९३॥
सा तदाकर्ण्य सञ्चिन्त्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारम् उद्वहन्ती [5]तमित्वरी[6] ॥९४॥
वन्दित्वा सिद्धकूटाख्यं तत्र विश्रान्तये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती[7] शशिनमात्मनः ॥९५॥
प्रविश्य भवनं कान्त्या कलाभिश्चाभिवर्द्धितम् । निर्वर्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमाङ्गल्यशान्तये ॥९६॥
तत्सिद्धकूटपूजार्थं याता कान्तवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकान्तया ॥९७॥
सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला मदनावती । विद्युद्वेगा तथैवान्याभिस्ताभिः सा परिवारिता ॥९८॥
समागत्य महाभक्त्या परीत्य जिनमन्दिरम् । यथाविधि प्रणम्येशं सम्पूज्य स्तोतुमुद्यता ॥९९॥
तासां तत्र तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्त्राक्रान्तमाननम् ॥१००॥
[9]प्राविष्टतत्सन्निधानेन विलोक्य प्रकृतिं[10] गतम् । सुखावती तदुद्देशाद्[11] अपनीय कुमारकम् ॥१०१॥
स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेनं[12] तत्राप्यम्बुनि[13] मुद्रया[14] । स्वरूपं कामरूपिण्या [15]प्रेक्षमाणं यदृच्छया ॥१०२॥
दृष्ट्वा [16]हरिवरस्तस्माद्वीक्ष्य कोपात् तपापनात् । निचिक्षेप[17]महाकालगुहायां [18]विहितायकम् ॥१०३॥

विद्याधर चाहते हैं, एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर । ये दोनों ही अत्यन्त बलवान् हैं, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुँचानेके लिये विद्याके प्रभाव से मायामय दो रूप बनाये हैं । हे कुमार, मेरे हाथमें रखे हुए इस अमृतके समान स्वादिष्ट फलको खाकर आप अपनी भूख तथा थकावटको दूर कीजिये और मुझपर सवार होकर शीघ्र ही नगरकी ओर चलिये' यह सुनकर कुमारने कहा कि मेरे सवार होनेके लिये स्त्रीका रूप अयोग्य है, मैं तो उसका स्पर्श भी नहीं करता हूँ, सवार कैसे होऊँ ? क्योंकि मैंने पहले गुरुके समीप ऐसा ही व्रत लिया है यह सुनकर उसने सोचा और कहा कि अब भी क्या हुआ ? वह विद्याके द्वारा उसी समय पुरुषका आकार धारण कर कुमारको बड़ी शीघ्रतासे ले चली । चलते चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची और वन्दना कर विश्राम करनेके लिये वहीं बैठ गई । उसी दिन भोगवतीने स्वप्नमें देखा कि कान्ति और कलाओंसे बढ़ा हुआ चन्द्रमा हमारे भवनमें प्रवेशकर लौट गया है इस स्वप्नको देखकर वह अमङ्गलकी शान्तिके लिये सिद्धकूट चैत्यालयमें पूजा करनेके लिये आई थी । वह सुन्दरी कान्तवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा, अमितमती, रति-कान्ता, चित्तवेगा, पिप्पला, मदनावती, विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्याओंसे घिरी हुई थी । उन सभी कन्याओंने आकर बड़ी भक्तिसे जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा दी, विधिपूर्वक नमस्कार किया, पूजा की और फिर सबकी सब स्तुति करनेके लिये उद्यत हुईं । स्तुति करते समय भी उनका चित्त व्याकुल हो रहा था । उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राज-पुत्र भी खड़ा था, उसका मुँह टेढ़ा था परन्तु श्रीपालकुमारके समीप आते ही वह ठीक हो गया, यह देखकर सुखावतीने उसे उसके स्थानसे हटाकर दूसरी जगह रख दिया । उस चैत्यालयमें श्रीपालकुमार अपनी कामरूपिणी मुद्रासे इच्छानुसार जलमें अपना असल रूप देख रहा था । उसे ऐसा करते पापी हरिवर विद्याधरने देख लिया और पूर्व जन्ममें पुण्य करनेवाले कुमारको

---

१ मम सम्प्रति स्त्रीरूपं मुक्त्वा अन्यस्त्रीरूपम् । २ पूर्वस्मिन् । ३ गुरोः समीपे । ४ स्वीकरोमि । ५ श्रीपालम् । ६ गमनशीला । ७ पुरा कुमारेण सुखदर्शी युक्ता भोगवती । ८ सुन्दर्या कन्यया । ९ आदेशपुरुषसान्निध्येन । १० पूर्वरूपम् । ११ तत्प्रदेशात् । १२ स्थापयामास । १३ जले । १४ मुद्रिकया । १५ वेदमानं इ० । १६ मदनावतीमैथुन । १७ निरक्षिपत् । १८ कृतपुण्यं श्रीपालम् ।

वसस्तत्र महाकालस्त गृहीतुमुपागत[1]। तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिञ्चित्करो गत ॥१०४॥
तत्र शय्यातले सुप्त्वा शुचौ मृदुनि विस्तृते। परेद्युर्निर्गत [2]तस्या [3]सम्प्रयुक्तं परीक्षितुम् ॥१०५॥
आदिष्टपुरुष भृत्यैर्ज्ञात्वाऽभ्येत्य निवेदितम्। गृहीत्वा स्थविराकार कोपपावकदीपित ॥१०६॥
त वीक्ष्य धूमवेगाख्य[4] खगश्चन्द्रपुराद् बहि । स्मशानमध्ये पाषाणनिशातविविधायुधं[5] ॥१०७॥
[6]घ्नन्तु गृह्णन्तानि[7] चास्यासन् पतन्ति कुसुमानि वा। परोऽपि खेचरस्तत्र नरेशोऽतिबलाह्वय ॥१०८॥
स्वदेव्या चित्रसेनाया भृत्ये दुष्टतरे सति। त निर्हत्यादहत्तस्मिन्[8] धूमवेगो निधाय तम् ॥१०९॥
कुमार चागमत्तत्र महौषधजशक्तित[10]। निराकृतज्वलद्वह्निशक्तिस्तस्मात् स निर्गत ॥११०॥
हतानुचरभार्यात्र काचिन्निरपराधक । हतो नृपेण मद्भर्तेत्यस्य[11] शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥
तत्कुमारस्य सत्स्पर्शान्निरर्शक्ति सा हुताशनम्। विदित्वा प्राविशद् दृष्ट्वा कुमारस्ता सकौतुक ॥११२॥
अभेद्यमपि वज्रेण स्त्रीणा मायाविनिर्मितम्[13]। कवच विविजेशा[14] च नीरन्ध्रमिति निर्भय ॥११३॥
स्थितस्तत्र स्मरन्नेव सुता तन्नगरेशिन । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यन्तकमलाह्वया ॥११४॥
कामग्रहाहिता तस्यास्तद्ग्रहापजिहीर्षया[15]। जने समुदिते[15] सद्य कुमारस्तमपाहरत्[16] ॥११५॥

क्रोधसे उस स्थानसे ले जाकर महाकाल नामकी गुफामें गिरा दिया। उस गुफामें एक महाकाल नामका व्यन्तर रहता था वह उसे पकडनेके लिये आया परन्तु कुमारके पुण्यके प्रभावसे अकिंचित्कर हो चला गया—उसका कुछ नही बिगाड सका। वह कुमार उस दिन उसी गुफामें पवित्र, कोमल और बडी शय्यापर सोकर दूसरे दिन वहासे बाहिर निकला, यद्यपि उसने अपना बूढेका रूप बना लिया था तथापि धूमवेगके द्वारा परीक्षाके लिये नियुक्त किये हुए पुरुषोने उसे पहिचान लिया, स्वामीके पास जाकर उन्होने सब खबर दी और पकडकर श्रीपालकुमारको सामने उपस्थित किया। क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए धूमवेग विद्याधरने कुमारको देखकर आज्ञा दी कि इसे नगरके बाहिर श्मशानके बीच पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए अनेक शस्त्रोसे मार डालो। सेवक लोग मारने लगे परन्तु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पडते थे। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और लिखी जाती है जो इस प्रकार है—

उसी नगरमें एक अतिबल नामका दूसरा विद्याधर राजा रहता था ॥९८–१०८॥ उसकी चित्रसेना नामकी रानीसे कोई दुष्ट नौकर फँस गया था, इसलिये राजा उसे मारकर जला रहा था। धूमवेग विद्याधर श्रीपालकुमारको उसी अग्निकुडमे रखकर चला गया परन्तु कुमारकी महौषधिकी शक्तिसे वह अग्नि निस्तेज हो गई इसलिये वह उससे बाहर निकल आया। उस मारकर जलाये हुए सेवककी स्त्रीको जब इस बातका पता चला कि कुमारके स्पर्शसे अग्नि शान्तिरहित हो गई है तब वह स्वय उस अग्निमें घुस पडी और उससे निकलकर यह कहती हुई अपनी शुद्धि प्रकट करने लगी कि 'मेरा पति निरपराध था राजाने उसे व्यर्थ ही मार डाला है।' कुमारको यह सब चरित्र देखकर बडा कौतुक हुआ, वह सोचने लगा कि 'स्त्रियोकी मायासे बने हुए इस कवचको इन्द्र भी अपने वज्रसे नही भेद सकता है, यह छिद्ररहित है' इस प्रकार सोचता हुआ वह निर्भय होकर वही बैठा था। इधर उस नगरके स्वामी राजा विमलसेनकी पुत्री कमलावती कामरूप पिशाचसे आक्रान्त हो रही थी, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छा से बहुत आदमी इकट्ठे हुए थे, श्रीपालकुमार भी वहा गया था और उसने उस पिशाचको दूर

१ मुष्टिनुमित्यर्थं। २ गुहाया सकाशात्। ३ सम्प्रयुक्तं ब०। सुप्रयुक्तं ल०, अ०, प०। ४ स्मरागाया मैथुन। ५ निशित। ६ निग्रह् कारार। ७ पाषाणायुधानि। ८ हत्वा। ९ चिताग्नौ। १० गुरु समर्पितो हरिविक्रमविद्यया विवाह्य पीतवा जानमहौषधिशक्तित। ११ स्वभर्तु। १२ कपटमित्यर्थं। १३ इन्द्र। १४ कामग्रहमहर्तुमिच्छया। १५ एकत्र मिलिते सति। १६ कामग्रहमपसारितवानित्यर्थं।

सत्योऽभूत् प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपतिः । तुष्ट्वा तां कन्यकां दित्सुस्तस्या[1]निच्छां[2] विबुध्य सः[3] ॥११६॥
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य नेयोऽयं भक्ता द्रुतम् । यत्नेनेत्यात्मजं स्वस्य वरसेनं समादिशत् ॥११७॥
नीत्वा सोऽपि कुमारं तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृष्णोपसन्तप्तं स्थापयित्वा गतोऽम्बुने[5] ॥११८॥
तदा सुखावती कुब्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृषां नीत्वा[6] कन्यकां तं[7] चकार सा ॥११९॥
धूमवेगो हरिवरश्चैतां[8] वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूतां बद्धमात्सर्यौ[9] तस्याः स्वीकरणं प्रति ॥१२०॥
द्वेषवन्तौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विग्रहो वृथा । पतिर्भवत्यसावस्या यमेषाऽभिलषिष्यति ॥१२१॥
इति बन्धुजनैर्वार्यमाणौ वैराद् विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात् प्रतिघातः[9] परस्परम् ॥१२२॥
कन्याकृत्यैव[10] गत्वाऽतः कान्तया स सुकान्तया । रतिकान्ताख्यया कान्तवत्या च सहितः पुनः ॥१२३॥
स्थितं प्राक्तनरूपेण[11] काचित्तं वीक्ष्य लज्जिता । रतिं समागमत् काचिन्नैकभावा[12] हि योषितः ॥१२४॥
प्रसुप्तवन्तं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोद्धृत्य गच्छन्ती तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥
विहाय मामिहैकाकिनं त्वं क्व प्रस्थितेति सा । पृष्टा न क्वापि याताऽहं त्वत्समीपगता सदा ॥१२६॥
आदिष्ट[13]वनितारत्नलाभो नैवात्र ते भयम् । इत्यन्तर्हित[14]मापाद्य स्वरूपेण समागमः[15] ॥१२७॥

कर दिया था। 'निमित्तज्ञानियोंने जो पहले आदेश दिया था वह आज सत्य सिद्ध हुआ।' यह देख राजाने संतुष्ट होकर वह पुत्री कुमारको देनी चाही परन्तु जब कुमारकी इच्छा न देखी तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि इन्हें शीघ्र ही बड़े यत्नके साथ इनके बन्धु वर्गके समीप भेज आओ ॥१०८–११७॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला और विमलपुर नामक नगरके बाहर प्याससे पीड़ित कुमारको बैठाकर पानी लेनेके लिये गया ॥११८॥ उसी समय कुबड़ीका रूप बनाकर सुखावती वहां आ गई, उसने अपने फूलोंकी मालाके स्पर्शसे कुमार की प्यास दूर कर दी और उसे कन्या बना दिया ॥११९॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी इच्छा करने लगे। उसे स्वीकार करनेके लिये दोनों ईर्ष्यालु हो उठे और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे। यह देखकर उनके भाई बन्धुओंने रोका और कहा कि 'तुम दोनोंका लड़ना व्यर्थ है इसका पति वही हो जिसे यह चाहे' इस प्रकार बन्धुजनोंके द्वारा रोके जानेपर वे दोनों वैरसे विरत हुए। देखो! स्त्रीके कारण परस्पर किस किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है? ॥१२०–१२२॥ उस कन्याने उन दोनोंमेंसे किसीको नहीं चाहा इसलिये सुखावती उसे कन्याके आकारमें ही वहां ले गई जहां कान्ता, सुकान्ता, रतिकान्ता और कान्तवती थी ॥१२३॥ पहलेके समान असली रूपमें बैठे हुए कुमारको देखकर कोई कन्या लज्जित हो गई और कोई प्रीति करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१२४॥ श्रीपाल रातको वहीं सोया, सोते सोते ही सवेरेके समय सुखावती बड़े प्रयत्नसे उठा ले चली, कुमारने आंख खुलनेपर उससे पूछा कि तू मुझे यहां अकेला छोड़कर कहां चली गई थी? तब सुखावतीने कहा कि मैं कहीं नहीं गई थी, मैं सदा आपके पास ही रही हूं, यहां आपको स्त्रीरत्न प्राप्त होगा ऐसा निमित्तज्ञानीने बतलाया है, यहां आपको कोई भय नहीं है। आज तक मैं अपने रूपको छिपाये रहती थी परन्तु आज असली रूपमें आपसे मिल

---

१ दातुमिच्छुः। २ श्रीपालस्य। ३ कन्यकायामनभिलाषम्। ४ विमलसेनः। ५ जलाय। जलमानेतुमित्यर्थः। ६ गमयित्वा। अपसार्येत्यर्थः। ७ श्रीपालम्। ८ कृतकन्यकाम्। ९ प्रीतिनिघातः ल०, अ०, प०, स०। १० कन्यकाकारेणैव। ११ पूर्वस्वरूपेण (निजकुमारस्वरूपेण)। १२ अनेकपरिणामाः। १३ आदिष्टो ल०, प०, इ०। १४ इत्यन्तर्हितरूपाद्य-ल०। अन्तर्हितमाच्छादितं यथा भवति तथा। १५ समागममित्यपि पाठः। समागतास्मि।

इत्याह तद्वच श्रुत्वा प्रमुद्यैत्य[1] खगाचले । पुर दक्षिणभागस्य गजादि[2] तत्समीपगम् ॥१२८॥
कञ्चिद् गजपति स्तम्भमुन्मूल्याऽऽरूढदर्पकम् । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडाभि क्रीडित्वा वशमानयत् ॥१२९॥
तत समुदिते[3] चण्डदीधितौ[4] निर्जिताद् गजात् । कुमारागमन पौरा बुद्ध्वा संतुष्टचेतस ॥१३०॥
[5]प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताकिका । [6]प्रत्युद्गममकुर्वंस्ते[7] [8]तत्पुण्योदयचोदिता ॥१३१॥
ततो नभस्यसौ गच्छन् कञ्चिद्धयपुरे हयम् । स्थित प्रदक्षिणीकृत्य स्व[9] पश्यन्नात्तविस्मय ॥१३२॥
तत्रापि विदितादेशं नागरै प्राप्तपूजन । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥१३३॥
[10]चतुर्जनपदाभ्यन्तरस्थसीममहाचले[11] । जने महति सम्भूय[12] स्थिते येनापि हेतुना ॥१३४॥
कस्यचित् कोशत[13] खड्ग कस्मिंश्चिदपि यत्नत । सत्यशक्ते समुत्खातु स[14] समुद्गीर्य[15] हेलया ॥१३५॥
कुमार प्रा[16]हरद् वशस्तम्ब[17] सम्भृत[18]वशरम् । तदालोक्य जन सर्व प्रमोदादादरं[19] व्यधात् ॥१३६॥
तत्र कश्चित समागत्य मूक समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमार त जयशब्दपुरस्सरम् ॥१३७॥
[20]कुण्ठश्च कश्चिदङ्गुल्या प्रसारितकराङ्गुलि । अञ्जलिं मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थित ॥१३८॥
यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुधा । तेषां पाके व्यलोकिष्ट कुमार विनयेन स ॥१३९॥

रही हू" ॥१२५–१२७॥ उसके यह वचन सुनकर श्रीपाल वहुत ही हर्षित हुआ और वहासे आगे चलकर विजयार्ध पर्वतके दक्षिण भागमें स्थित गजपुर नगरके समीप जा पहुचा ॥१२८॥ वहा कोई एक गजराज खभा उखाडकर मदोन्मत्त हो रहा था। उसे कुमारने शास्त्रोक्त बत्तीस क्रीडाओसे क्रीडा कराकर वश किया ॥१२९॥ तदनन्तर सूर्योदय होते होते नगरके सब लोगोने गजराजको जीत लेनेसे कुमारका आना जान लिया, सबने सतुष्ट चित्त होकर घर घर चञ्चल पताकाए फहराई और कुमारके पुण्योदयसे प्रेरित होकर सब लोगोने उसकी अगवानी की ॥१३०–१३१॥ कुमार वहासे भी आकाशमें चला, चलता चलता हयपुर नगरमे पहुचा वहा एक घोडा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर समीपही मे खडा हो गया, कुमारने यह सब स्वय देखा परन्तु उसे कुछ भी आश्चर्य नही हुआ ॥१३२॥ जब नगरनिवासियोको इस बातका पता चला तब सबने कुमारका सत्कार किया, कुमार वहासे भी निकल कर अपनी इच्छानुसार आगे चला ॥१३३॥ चलता चलता चार देशोके वीचमे स्थित सुसीमा नामक पर्वतपर पहुचा। वहा किसी कारण बहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे प्रयत्नकर म्यानसे तलवार निकाल रहे थे परन्तु उनमेंसे कोई भी उक्त कार्यके लिये समर्थ नही हो सका परन्तु कुमारने उसे लीलामात्रमे निकाल दिया जिसमें बहुतसे वास उलझे हुए खडे थे ऐसे बासके विडेपर उसे चलाया यह देखकर सब लोगोने बडे हर्षसे कुमारका आदर सत्कार किया ॥१३४–१३६॥ इतनेमें ही वहा एक गूंगा मनुष्य आया और जय जय शब्दका उच्चारण करता हुआ कुमारको प्रणाम कर बैठ गया ॥१३७॥ वहीं पर एक टेढी अगुलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी अगुली ठीक हो गई, उसने हाथकी अगुली फैलाकर हाथ जोडे और नमस्कार कर पास ही खडा हो गया ॥१३८॥ वहीपर एक मनुष्य हीराओकी भस्म बना रहा था, वह बनती नही थी परन्तु कुमारके सन्निधानसे वह बन गई इसलिये उसने भी बडी विनयसे कुमारके दर्शन किये

---

१ सन्तुष्य । २ गजपुरम् । ३ उदय गते सति । ४ सूर्ये । ५ प्रतिगृहम् । ६ सम्मुखागमनम् । ७ चक्रिरे । ८ श्रीपालपुण्य । ९ स्वय पश्यन्नविस्मय ल०, इ०, अ०, स० । १० चतुर्देशमध्यस्थितसीमाख्य महागिरौ । ११ महागिरौ ट० । १२ मिलित्वा । १३ खड्गपिधानात् । १४ खड्गम । १५ उत्खात कृत्वा । १६ प्रहरति स्म । १७ वेणुगुल्मम् । १८ परिवेष्टितवेणुरम् । १९ –दादर ल०, प० । २० कुब्जश्च अ०, प० । कुणिश्च स० । विकास ।

प्रागुन्नकरवालेशः पुरेऽभूद् विजयाह्वये । सोऽस्य[1] सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥१४०॥
तत्पुरे वरकीर्त्याख्यकीर्तिमत्यात्मजापने[2] । खड्गोत्पाटनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥१४१॥
मूकः श्रेयःपुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवसेनमहीपालः श्रीमांस्तन्नगरेश्वरः ॥१४२॥
वीतशोकाह्वया तस्य तनूजा वनजेक्षणा । मूकभाषणमादेशः कुमारस्य तदापने[4] ॥१४३॥
[5]कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाव्यसौ । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥१४४॥
रत्यादिविमलासार्धं तयैतस्य समागमः । अङ्गुलिप्रसरादेशात् स्मरव्यपदया[6] चिरम् ॥१४५॥
स वज्रमणिराकस्य[7] प्रधानपुरुषो[8] भवेत् । तस्य[9] धान्यपुरे [10]जातो विशालस्तत्पुराधिपः ॥१४६॥
सुता विमलसेनास्य श्रीपालस्य तदाप्तये[11] । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥१४७॥
इत्यादेश[12]परं ज्ञात्वा सर्वे स्वं स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमुद्धृत्यायान्नभोभागे सुखावती ॥१४८॥
धूमवेगो विलोक्यैनं विद्विषो[13] भीषणारवः । धमितज्यं स्थितो दृष्ट्वा द्वे खेटकयुतासिभृत् ॥१४९॥
तदा [14]पूर्वोदिताचार्या देवता याऽस्य[15] पालिका[16] । सा विद्याधररूपेण समुपेत्य सुखावतीम् ॥१५०॥

॥१३९॥ श्रीपालने जो तलवार म्यानसे निकाली थी उसका स्वामी विजयपुर नगरका रहने वाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका भावी सेनापति था ॥१४०॥ उसी विजयपुर नगरके राजा वरकीर्तिकी रानी कीर्तिमतीकी एक पुत्री थी, उसके वरके विषयमें निमित्त-ज्ञानियोंने बतलाया था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और उसकी पहिचान म्यानमेंसे तलवार निकाल लेना होगी ॥१४१॥ वह गूँगा श्रेयस्पुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका भावी पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुर नगरका स्वामी राजा शिवसेन था, उसके कमलके समान नेत्रवाली वीतशोका नामकी पुत्री थी उसके वरके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने आदेश दिया था कि जिसके समागममें यह गूँगा बोलने लगेगा, वही इसका वर होगा ॥१४२–१४३॥ जिसकी अंगुली टेढ़ी थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार स्थपति रत्न था। उसी शिल्पपुर के राजाका नाम नरपति था उसके रतिविमला नामकी पुत्री थी, निमित्तज्ञानियोंने बताया था कि जिसके देखनेसे इसकी टेढ़ी अंगुली फैलने लगेगी उसीके साथ कामक्रीड़ा करनेवाली इस कन्याका चिरकाल तक समागम रहेगा ॥१४४–१४५॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा था वह इसका मन्त्री होनेवाला था और धान्यपुर नगरमें पैदा हुआ था, उसी धान्यपुर नगरके राजाका नाम विशाल था उसकी एक विमलसेना नामकी कन्या थी, निमित्तज्ञानियोंने बतलाया था कि जिसके आनेपर हीराओंका भस्म बन जायगा वही महा तेजस्वी श्रीपाल इसका पति होगा ॥१४६–१४७॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानियोंके आदेशानुसार उस पुरुषको पहिचान कर वे सब अपने अपने नगरको चले गये और उसी समय सुखावती भी कुमारको लेकर आकाशमार्गमें चलने लगी ॥१४८॥ चलते चलते इसे धूमवेग शत्रु मिला, वह कुमारको देखकर भयंकर शब्द करने लगा, और डाट दिखाकर रास्ता रोक आकाशमें खड़ा हो गया, उस समय खेटक और तलवार दोनों शस्त्र उसके पास थे ॥१४९॥ उसी समय पहले वहीं

१ श्रीपालस्य । २ वरकीर्तिनृपतेः प्रियायाः कीर्तिमत्याः सुतायाः आपने परिणयने । ३ 'पन व्यवहारे स्तुतौ च' पुत्रीव्यवहारे द० टि० । -त्यात्मजापने इ० । आपने अ०, प०, स० । ४ वीतशोकायाः परिणयने । ५ कुणि ल० । ६ कामविशिष्टप्रसन्नदया अथवा कामविशिष्टमनस्कतया । ७ वज्रमणि-पातस्य ल०, ट० । वज्रमणिपाती वज्ररत्नपातनात् । -स्य श्रीपालस्य । ८ मन्त्रिमुख्यः । ९ वज्रमणि-पातिनः । १० उत्पत्ति । ११ विमलसेनाया प्राप्त्यै । १२ आदेशमानान्तरम् । -देशपर ल०, प० । -देशान्तर अ०, स० । १३ शत्रोर्भयङ्करध्वनिः । तद्विषो भीषणारवम् इ०, अ०, स० । १४ पूर्वोक्त-प्रमदवनस्थवटतरोरधिष्ठितयक्षिणीनाम् । १५ श्रीपालस्य । १६ रक्षिका ।

मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीर्विद्याधराधमम् । नियुध्य विजयस्वेति निजगाद निराकुलम् ॥१५१॥
साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणाङ्गणे । चिरं युध्वा स्वविद्याभिर्व्यरौत्सीच्छौर्यशालिनी ॥१५२॥
कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणीधरे । शनैः[1] समापतत्तस्य[2] देवश्री जननी पुरा ॥१५३॥
यक्षीभूता तदागत्य संस्पृशन्ती करेण तम् । अपास्यास्य श्रमं मङ्क्षु कुमार[3] प्रविश ह्रदम्[4] ॥१५४॥
जगादेनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं[5] शिलास्तम्भस्योपरिस्थितवान्निशि ॥१५५॥
कुर्वन् पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनम्[6] । प्रभाते तदुदग्भागे[7] जिनेन्द्रप्रतिबिम्बकम् ॥१५६॥
विलोक्य कृतपुष्पादिसम्पूजननमस्क्रियः । सहस्रपत्रमम्भोजं चक्ररत्नं सकूर्मकम् ॥१५७॥
आतपत्रं सहस्रोरुफणं च फणिनां पतिम् । दण्डरत्नं समण्डूकं नक्रं[8] चूडामहामणिम् ॥१५८॥
चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं काकिणीमणिम् । ईक्षाञ्चक्रे स पुण्यात्मा तत्र[9] यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥
तदा मुदितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दण्डभृत् । प्रद्योतमानरत्नोपानत्को[10] यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥
सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभेदैर्विभूषितः । निर्जगाम गुहातोऽसौ[11] तदैवेत्य सुखावती ॥१६१॥
धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा[12] हिमद्युतिम्[13] । प्रवृध्यै कुमारमापन्ना खड्गलताऽसिलतान्विता[14] ॥१६२॥
एतया[15] सह गत्वातः सम्प्राप्तसुरभूधरम्[16] । गुणपालजिनाधीशसभामण्डलमाप्तवान् ॥१६३॥
तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्कायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥१६४॥

हुई प्रतिमापर जो इसकी रक्षा करनेवाली देवी रहती थी वह विद्याधरका रूप धारण कर आई और सुखावतीको छोडकर कुमारको ले गई तथा सुखावतीसे कह गई कि तू निर्भय हो निराकुलतापूर्वक इस नीच विद्याधरसे लडना और इसे जीतना ॥१५०–१५१॥ शूरवीरतासे शोभायमान रहनेवाली सुखावती भी कुमारको छोडकर धूमवेगसे लडने लगी और रणके मैदानमे बहुत समय तक युद्धकर उसने उसे अपनी विद्याओ द्वारा रोक लिया ॥१५२॥ कुमार भी समीपवर्ती पर्वतकी एक शिलापर धीरे धीरे जा पडा । वहा उसकी पूर्वभवकी माता देवश्री जो कि यक्षी हुई थी आई । उसने हाथसे स्पर्शकर श्रीपालका सब परिश्रम दूर कर दिया और कहा कि तू शीघ्र ही इस तालावमे घुस जा । कुमार भी उसके वचनोका विश्वास कर तालावमें घुस गया और वही रातभर पत्थरके खभेपर बैठा रहा ॥१५३–१५५॥ सबेरे पञ्च नमस्कार मनका पाठ करता हुआ उठा, तालावके उत्तरकी ओर श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा देखकर पुष्प आदि सामग्रीसे पूजन और नमस्कार किया । तदनन्तर उसी यक्षीके उपदेशसे उस पुण्यात्माने सहस्र पत्रवाले कमलको चक्ररत्नरूप होते देखा, कछुवेको छत्र होते देखा, बडी बडी हजार फणाओंको धारण करनेवाले नागराजको दण्डरत्न होते देखा, मडकको चूडामणि, मगरको चर्मरत्न और देदीप्यमान लाल रगके विच्छूको काकिणी मणि रूप होते देखा ॥१५६–१५९॥ उस समय उसने प्रसन्नचित्त होकर छत्र धारण किया, दण्ड उठाया, चमकीले रत्नोंके जूते पहिने और फिर वह यक्षीके द्वारा दिये हुए मणिमय दिव्य आभूषणोसे सुशोभित होकर गुहासे बाहर निकला । उसी समय जिस प्रकार चन्द्रमाकी वृद्धिके लिये शुक्लपक्षकी प्रतिपदा आती है उसी प्रकार धूमवेगको जीतकर तलवार लिये हुए चतुर सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिये उसके पास आ पहुंची । श्रीपाल यहासे उसके साथ साथ चला और चलता चलता सुरगिरि पर्वतपर गुणपाल जिनेन्द्रके समवसरणमें जा पहुचा ॥१६०–१६३॥ वहा मन,

---

१ शराध । २ सम्प्राप्त । ३ श्रीपालस्य । ४ कुमार ल० । ५ ह्रदम् । ६ मुहुर्मुहुरनुचिन्तनम् । ७ ह्रदस्योत्तरदिग्भागे । ८ चूडामणि तथा ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ ह्रदे । वक्ष्याण्येव रूपाणि सहस्रपत्राम्भोजादीनि ईक्षाञ्चक्र इति सम्बन्ध । १० मणिमयपादत्राण । ११ गुहाया सकाशात् । १२ प्रतिपद्दिनश्रीरिव । १३ चन्द्रम् । १४ चन्द्रपक्षे अनिशा च । १५ सुखावत्या । १६ सुरगिरिनामगिरिम् ।

[1]तदाशीर्वादसन्तुष्टः संविष्टो मातृसन्निधौ । [2]सुखावतीप्रभावेण युष्मदन्तिकमाप्तवान् ॥१६५॥
क्षेमेणेति तयोरग्रे प्राशंसत्तां[3] नृपानुजः । सतां स सहजो भावो यत्स्तुवन्त्युपकारिणः ॥१६६॥
वसुपालमहीपालप्रश्नाद् भगवतोदितैः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलम्भान्[5] समाप्तवान्[6] ॥१६७॥
ततः[7] सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशन् पुरम्[8] । सञ्चितोर्जितपुण्यानां भवेदापच्च सम्पदे ॥१६८॥
वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समम् । कन्याभिरभवन् कल्याणविधिर्विविधर्द्धिकः ॥१६९॥
[9]श्रीपालकुमारश्च [10]जयावत्यादिभिः कृतो । तदा चतुरशीतीष्ट[11]कन्यकाभिरलङ्कृतः ॥१७०॥
सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रभाव्याप्तदिक्तटौ । पालयन्तौ धराचक्रं चिरं निर्विशतः स्म शम्[12] ॥१७१॥
जयावत्यां समुत्पन्नो गुणपालो गुणोज्ज्वलः । श्रीपालस्यायुधागारे चक्रं च समभायत ॥१७२॥
स सर्वैश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भृशम् । शक्रलीलां [13]व्यडम्बिष्ट लक्ष्म्या[14] लक्षितविग्रहः ॥१७३॥
अभूज्जयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्त्येसा[15] सेनेव[16] विजित्वरी[17] ॥१७४॥
मनोवेगोऽशनिवरः शिवाख्योऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः क्षमाभुजः खगनायकाः ॥१७५॥
[17]जयसेनाद्यमुख्याभिस्तेषां[18] सुभिः[19] सहाभवन् । विवाहो गुणपालस्य सताभिः प्राप्तसम्मदः ॥१७६॥

वचन, कायकी शुद्धि धारण करनेवाले श्रीपालने बहुत देरतक गुणपाल जिनेन्द्रकी स्तुति की, माता और भाईको देखकर उनका योग्य विनय किया और फिर उन दोनोंके आशीर्वादसे सतुष्ट होकर वह माताके पास बैठ गया। उसने माता और भाईके सामने यह कहकर सुखावतीकी प्रशंसा की कि मैं इसके प्रभावसे ही कुशलतापूर्वक आपलोगोंके समीप आ सका हूं सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंका जन्मसे ही ऐसा स्वभाव होता है कि जिससे वे उपकार करनेवालोंकी स्तुति किया करते हैं ॥१६४–१६६॥ महाराज वसुपालके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् ने जैसा कुछ कहा था उसीके अनुसार उस श्रीपालने विद्याधरोंकी श्रेणीमें रहकर अनेक लाभ प्राप्त किये थे ॥१६७॥ तदनन्तर वह सात दिनमें ही सुखसे अपने नगरमें प्रविष्ट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि प्रबल पुण्यका संचय करनेवाले पुरुषोंको आपत्तियां भी सम्पत्तिके लिये हो जाती हैं ॥१६८॥

नगरमें आकर वसुपाल कुमारका वारिषेणा आदि कन्याओंके साथ विवाहोत्सव हुआ, वह विवाहोत्सव अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त था ॥१६९॥ उसी समय चतुर श्रीपाल कुमार भी जयावती आदि चौरासी इष्ट कन्याओंसे अलङ्कृत–सुशोभित हुए ॥१७०॥ अपनी कान्तिसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान पृथिवीका पालन करते हुए दोनों भाई चिरकाल तक सुखका उपभोग करते रहे ॥१७१॥ कुछ दिन बाद श्रीपालकी जयावती रानीके गुणोंसे उज्ज्वल गुणपाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और इधर आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ ॥१७२॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुए सब भोगोंका अत्यन्त अनुभव करता हुआ इन्द्रकी लीलाको भी उल्लंघन कर रहा था ॥१७३॥ जयावतीके भाई जयवर्माके जयसेना नामकी पुत्री थी जो अपनी कान्तिसे सेनाके समान सबको जीतनेवाली थी ॥१७४॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिव, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अनेक अच्छे अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर

१ तुर्वेरस्रीवसुपालयोराशीर्वचन। २ सुखावत्या सामर्थ्येन। ३ स्तौति स्म। ४ श्रीपाल। ५ कन्यादिप्राप्ति.। ६ प्राप्त सन्। ७ सप्तदिनानन्तरमेव। ८ आसीयपुण्डरीकिणीपुरम्। ९ चक्रवृशाखो नृपसम्बन्धिनी। १० प्रियतरुणीभि, पट्टार्हाभिरित्यर्थं। ११ सुखमन्वभूनाम्। १२ तिरस्करोति स्म। व्यलर्द्धिष्ट ल०। १३ लक्ष्म्यालिङ्गित अ० स०। लक्ष्मीलक्षित प०, ल०। १४ कान्त्या इ०, प०, अ०, स०, ल०। १५ चमूरिव। १६ जयशीला। १७ जयसेनादिप्रधानाभिः। १८ मनोवेगादीनाम्। १९ पुत्रीभिः।

कदाचित् काललब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृतिः । विलोकयन्नभोभागम् अकस्मादन्धकारितम् ॥१७७॥
चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगेतस्यापि चेदियम् । अवस्था संसृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥१७८॥
इति निर्विद्य सञ्जातजातिस्मृतिरुदात्तधीः[1] । स्वपूर्वभवसम्बन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मरन् ॥१७९॥
पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाह्वये । विषये विश्रुते कान्त पुराधीशोऽवनीश्वरः ॥१८०॥
रथान्तकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तयोर्भूत्वा [2]प्रभापास्तभास्करः कनकप्रभः ॥१८१॥
तस्मिन्नन्येद्युरुद्याने दष्टा सर्पेण मत्प्रिया । विद्युत्प्रभाह्वया तस्या वियोगेन विषण्णवान् ॥१८२॥
सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परम् । सम्प्राप्तवानतिस्निग्धैः पितृमातृसनाभिभिः ॥१८३॥
तत्र सम्यक्त्वशुद्ध्यादिषोडश प्रत्ययान्[3] भृशम् । भावयित्वा भवस्यान्ते[4] जयन्ताख्यविमानजः[5] ॥१८४॥
प्रान्ते[6] ततोऽहमागत्य[7] जातोऽत्रैवमिति स्फुटम्[8] । [9]समुद्रदत्तेनादित्य[10]गतिर्वायुरथाह्वयः[11] ॥१८५॥
श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । बोधितस्तैः [12]समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥१८६॥
मोहपाशं समुच्छिद्य तप्तवांश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदमागमत् ॥१८७॥
यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमम् । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥१८८॥

उन सब राजाओकी पुत्रियोके साथ गुणपालका विवाह हुआ । इस प्रकार वह गुणपाल उन कन्याओके मिलनेसे बहुत ही हर्षित हुआ ॥१७५–१७६॥

अथानन्तर–किसी समय जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है ऐसा गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमे उसकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पडी, उसे देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार हो, जब इस चन्द्रमाकी भी यह दशा है तब ससारके अन्य पापग्रसित जीवोकी क्या दशा होती होगी ? इस प्रकार वैराग्य आते ही उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपालको जाति स्मरण उत्पन्न हो गया जिससे उसे अपने पूर्वभवके सम्बन्धका प्रत्यक्षकी तरह स्मरण होने लगा ॥१७७–१७९॥ उसे स्मरण हुआ कि पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहमे पद्मक नामका एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था । उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोके मै अपनी प्रभासे सूर्यको तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था । किसी दिन एक बगीचेमे विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको सापने काट खाया, उसके वियोगसे मै विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता माता तथा भाइयोके साथ साथ मैने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप उत्कृष्ट सयम धारण किया था ॥१८०–१८३॥ वहा मै दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओका अच्छी तरह चिन्तवन कर आयुके अन्तमे जयन्त नामके विमानमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ था ॥१८४॥ और अन्तमें वहासे चयकर यहा श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हू । वह इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतनेमें ही *समुद्रदत्त, †आदित्यगति, ‡वायुरथ और §सेठ कुबेरकान्त जो कि तपश्चरण कर लौकान्तिक देव हुए थे उन्होंने आकर समझाया । इस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए गुणपाल मोहजालको नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मोको नष्ट कर सयोगिपद–तेरहवें गुण स्थानको प्राप्त हुए ॥१८५-१८७॥ सुखावतीका पुत्र यशपाल भी उन्ही गुणपाल जिनेन्द्रके पास दीक्षा धारण कर

---

१ चन्द्रस्य । २ –रुदारधी अ०, स०, म० । ३ कान्त्या निराकृत । ४ कारणानि । ५ आयुषःस्यान्ते । ६ अहमिन्द्र । ७ स्वर्गायुष्यान्ते । ८ स्वर्गात् । ९ पूर्वभवसम्बन्ध प्रत्यक्षमिव संस्मरन्निति सम्बन्ध । १० प्रियदत्तायाः जनकेन सह । ११ हिरण्यवर्मणो जनक । १२ प्रभावत्याः पिता । १३ उत्पन्नौ लौकान्तिकामरै ।

* प्रियदत्ताका पिता, † हिरण्यवर्माका पिता, ‡ प्रभावतीका पिता, § कुबेरमित्रका पिता ।

तदागत्य तदा भूरिविभूत्याभ्यर्च्य तं मुदा । श्रीपालः सुनिदिष्टं तु श्रुत्वा धर्मं द्वयात्मकम् ॥१८९॥
ततः स्वभवसम्बन्धम् अप्राक्षीत् प्रश्रयान्वितः । स तथैवं सुवाचेति कुरुराजं सुलोचना ॥१९०॥
निवेदितवती दृष्ट्वा सुप्रसन्नीकृताखिला । विदेहे पुण्डरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥१९१॥
तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य सनाभिका । धनञ्जयानुजा नाम्नी धनश्रीर्धनवर्धिनी ॥१९२॥
तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठी तस्यानुजा सती । स्वसा सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥१९३॥
सुता सागरसेनस्य जयसेना मताह्वया । धनञ्जयस्य चान्यस्य जयदत्ताभिधापरा ॥१९४॥
देवश्रीरनुजा श्रेष्ठिपितुस्तस्यास्तनूद्भवौ । कान्ता सागरसेनस्य सागरो दत्तनामकः ॥१९५॥
तत्समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ सागरसेनानुजाया आत्मसहोदरौ ॥१९६॥
जातौ सागरसेनाया दत्तो वैश्रवणादिकः । दत्ता वैश्रवणादिश्च दायादः श्रेष्ठिनः स तु ॥१९७॥
भार्या सागरदत्तस्य दत्ता वैश्रवणादिका । पत्नी समुद्रदत्तस्य सा सर्वदयिता प्रिया ॥१९८॥
सा वैश्रवणदत्तस्य दत्ता सागराह्वया । तेषां सुखं सुखेनैव कालं गच्छति सन्ततम् ॥१९९॥
यशःपालमहीपालमवलोक्य महाधनैः । वणिग्जनस्तथोऽन्येद्युः सह सर्वधनोर्जितैः ॥२००॥

उन्हींका पहला गणधर हुआ ॥१८८॥ उसी समय राजाधिराज श्रीपालने बड़ी विभूतिके साथ आकर गुणपाल तीर्थंकरकी पूजा की और गृहस्थ तथा मुनि सम्बन्धी—दोनों प्रकारका धर्म सुना। तदनन्तर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवका सम्बन्ध पूछा, तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे—यह सब बातें मधुर वचन बोलनेवाली सुन्दरी सुलोचना महाराज जयकुमारके पूछनेपर उनसे कह रही थी। उसने कहा कि—

विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें यशपाल नामका राजा रहता था ॥१८९–१९१॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था जो कि धनको बढ़ानेवाली थी और धनञ्जयकी छोटी बहिन थी। उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित सेठ था, उसकी बहिनका नाम सर्वदयिता था जो कि बड़ी ही सती थी। सेठ सर्वदयितकी दो स्त्रियाँ थीं, एक तो सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनञ्जय सेठकी पुत्री जयदत्ता ॥१९२–१९४॥ सेठ सर्वदयितके पिताकी एक छोटी बहिन थी जिसका नाम देवश्री था और वह सेठ सागरसेनको ब्याही थी। उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र थे तथा सागरदत्ता नामकी एक पुत्री थी। सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके दो सन्तानें हुई थीं—एक वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री और दूसरा वैश्रवणदत्त नामका पुत्र। वैश्रवणदत्त सेठ सर्वदयितका हिस्सेदार था ॥१९५–१९७॥ वैश्रवणदत्ता सेठ सागरदत्तकी स्त्री हुई थी, सेठ समुद्रदत्तकी स्त्रीका नाम सर्वदयिता था और सागरदत्ता सेठ वैश्रवणदत्तको ब्याही गई थी। इस प्रकार उन सबका समय निरन्तर बड़े प्रेमसे व्यतीत हो रहा था ॥१९८–१९९॥ जिसने बहुत धन उपार्जन किया है ऐसे सेठ धनञ्जयने किसी दिन अच्छे अच्छे रत्न भेंट देकर राजा यशपालके दर्शन किये

---

१ गुणपालसर्वविदम्। २ जयकुमारम्। ३ भगिनी। ४ पुत्रः। ५ राजश्रेष्ठी। ६ धनञ्जयनामवैश्यस्य। ७ द्वितीया। ८ सर्वदयितश्रेष्ठिजनकसर्वसमृद्धस्य। ९ पुत्री। १० दयितयोर्मातुलान्यम्। ११ सर्वसमृद्धस्य भगिन्याम्। १२ दत्ता अ०, प०, इ०, म०, स०। १३ दत्तो ल०, प०, इ०, अ०, स०। १४ भाति। १५ सर्वदयितश्रेष्ठिनः। १६ वैश्रवणदत्त। १७ सागरसेनस्य ज्येष्ठपुत्रस्य। १८ वैश्रवणदत्ता। भार्याभूदिति सम्बन्धः। १९ सागरसेनस्य कनिष्ठपुत्रस्य। २० स्वदयितश्रेष्ठिनो भगिनी प्रिया। भार्या जातेति सम्बन्धः। २१ समुद्रदत्तस्यानुजा सागरदत्ताह्वया। वैश्रवणदत्तस्यास्या बभूवेति सम्बन्धः। २२ समुद्रादीनाम्। २३ अत्युत्कर्षेण, अनल्पगुणेनेदयं। २४ आगतः। २५ उपार्जितैः।

दृष्टास्त्वयं[1] स भूपोऽपि तस्मै[2] स मानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं [illegible] प्रभूतार्थमर्जितम्[3] ॥२०१॥
विलोक्य[4] स वणिक्पुत्रः सर्वैरपि धनमार्जितुम्[5] । ग्रामे पुरोपकण्ठे [illegible] ॥२०२॥
[6]तच्छिबिरात्[illegible] स [7]समुद्रदत्तः [illegible] । [illegible] ॥२०३॥
देवाप्यविदितो रात्रावेव [8][illegible] । [illegible] [9][illegible][10] [illegible] ॥२०४॥
इति [illegible][11] [illegible][12] । [13][illegible][14] ॥२०५॥
तत श्रेष्ठिगृहं[15] याता तेनापि [illegible][16] । [17][illegible] सा निर्वासिता ॥२०६॥
[illegible] [18] [illegible] । [illegible] पुत्रम् [illegible] ॥२०७॥
तद्विदित्वा [illegible][19] [illegible] । [20] [illegible] [21][illegible] ॥२०८॥
प्रत्येक[22] श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिविश्वास बुद्धिमान् । [illegible] [23] ॥
बाल [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] ॥२१०॥
तौ[24] भोगपुरवास्तव्यौ[25] जितशत्रुनामकम्[26] । कृत्वा वर्धयताम्[27] पुत्रमिव [illegible] ॥२११॥

राजाने भी उसका सम्मान किया और बड़े प्रेमसे उसके लिये यथायोग्य बहुत सा सुवर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००–२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिये बाहिर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गावमें आकर ठहर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोंसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे समागम कर किसीके जाने बिना ही रात्रिमें ही अपने झुण्डमें जा मिला । इधर समयानुसार उसका गर्भ बढ़ने लगा । जब इस बात का पता समुद्रदत्तके बड़े भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पतिके साथ समागम होनेका सब समाचार यद्यपि बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये बिना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३-२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गई परन्तु उसने भी अज्ञानतासे यही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि 'तू दुराचारिणी है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमें रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या ? हमारे कुलका कलङ्क उत्पन्न हुआ है, इसलिये उसने एक नौकरको यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । यह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्याधर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिये श्मशानमें आया था, सौंप आया सो ठीक ही है क्योंकि पापका उदय बड़ा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था । वे दोनों भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रक्खा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर वे बड़ी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८-

---

१ ददर्श । २ धनञ्जयाय । ३ ददौ । ४ धनञ्जय राजा पूजितोऽयं दृष्ट्वा ५ -मर्जितुम् ल० । ६ तच्छिबिरात् । ७ देवश्रीसागरसेनयो पुत्र समुद्रदत्त । ८ शिबिरम् । ९ सर्वदत्ताया । १० अशोभनव्यवहार । ११ दुर्वृत्त कश्चिज्जारोऽस्मवदिति । १२ सर्वदयितया । १३ निजपुरपायमनम् । १४ मम भर्ता शिविरादागत्य मया सह सम्पर्कं कृतवानिति निवेदितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कासितवान् । १७ निजाग्रसर्वदयितश्रेष्ठिगृहम् । १८ दुष्टमाचरसि स्म । १९ नास्मद्गृह ल०, अ०, प०, स०, इ० । २० गृहे । २१ शिशु । २२ यत्र कुत्रापि । २३ स्थापय । २४ भृत्य । २५ विश्वास्य । २६ विद्याधरस्य । २७ जयधामजयभामेति द्वौ । २८ भोगपुरनिवासिनौ । २९ शिरोऽजितशत्रुरित्याख्या कृत्वा । ३० वर्धयत स्म ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिन्दनान्मृत्वा सम्प्रापज्जन्म पौरुषम् ॥२१२॥
ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्थेनामा[1] समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तान्तं निन्दित्वा भ्रातरं निजम् ॥२१३॥
[2]श्रेष्ठिनेऽनपराधाया गृहवेशनिवारणात् । [3]अकुप्यन्नितरां कृत्यं कः सहेताविचारितम् ॥२१४॥
ज्येष्ठे न्यायगते योग्ये मयि स्थितवति स्वयम् । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि[4] कोपवान् ॥२१५॥
वै [5]वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तक[6] । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनि[7] स्थितः ॥२१६॥
दुस्सहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि क्वचित् नृणाम् । अन्येद्युर्जितशत्रुं [redacted] दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥२१७॥
[8]समुद्रदत्तसारूप्यं दधत्ससद[9]मागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥२१८॥
नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तद्धस्तसस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकता[10] निजाम् ॥
मैथुनस्य[11] च संस्मृत्य तस्मै[12] सर्वश्रियं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ[13] दत्वा निर्विण्णमानसः ॥२२०॥
जयधामा[14] जयभामा जयसेना[15] तथाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका[16] ॥२२१॥
सा वैश्रवणदत्ता[17] च परे चोत्पन्नबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२२॥
मुनिं रतिवरं प्राप्य चिरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२३॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिनतक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुरुष-का जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने झुण्डके साथ वापिस आ गया और अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा। सेठने अपराधके बिना ही उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिये वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर सकता है ? ॥२१३–२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध करने लगा कि 'जब मैं बड़ा हूं, और योग्य हूं तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिये, मेरे रहते हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है' । इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठके साथ ईर्ष्या करने लगे ॥२१५–२१६॥ आचार्य कहते हैं कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्यों की ईर्ष्या भी कहीं कहीं अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नहीं होती। किसी एक दिन सेठ सर्वदयितने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है—तेरा रूप उसके समान क्यों है ? और तू सभामें किसलिये आया है ? तब जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७–२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि उसके हाथमें पहिनी हुई अंगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि 'यह मेरा भानजा ही है, दूसरा कोई नहीं है । उसे अपनी और अपने बहनोईकी अपरीक्षकता (बिना विचारे कार्य करने)की याद आ गई और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुत सा धन और सेठका पद देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९–२२०॥ उसी समय जितशत्रुका पालनेवाला जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी स्त्रियां, वैश्रवण-दत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहिन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। उन सबके साथ साथ सेठने रतिवर मुनिके समीप जाकर संयम धारण

१ वणिक्समूहेन सह । २ सर्वदयिताय । ३ चुकोप । ४ सर्वदयिते । ५ [redacted] वै–स०, अ०, स०, इ० । ६ सागरदत्तसहितः । ७ श्रेष्ठिनि स०, प०, इ०, स०, अ० । ८ समुद्रदत्तस्य समानरूपताम् । ९ सभाम् । १० विचारशून्यताम् । ११ सागरदत्तस्य विचारशून्यताम् । १२ जितशत्रवे । १३ सर्वदयितश्रेष्ठी । १४ जितशत्रुवर्धनविद्याधरदम्पती । १५ सर्वदयितस्य भार्ये । १६ वैश्रवणदत्तस्य भार्या । १७ सागरदत्तस्य भार्या ।

व्यलोकिष्ट[1] स भूयोऽपि तस्मै[2] सन्मानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितोचितम्[3] ॥२०१॥
विलोक्य[4] त वणिक्पुत्रा सर्वेऽपि धनमार्जितुम्[5] । ग्रामे पुरोपकण्ठस्थे सम्भूय विनिवेशिरे ॥२०२॥
[6]तन्निवेशादथाऽन्येद्यु स [7]समुद्रादिदत्तक । रात्रौ स्वगृहमागत्य भार्यासम्पर्कपूर्वकम् ॥२०३॥
केनाप्यविदितो रात्रावेव [8]सार्थमुपागत । काले गर्भं विदित्वाऽस्या[9] पापो[10] दुश्चरितोऽभवत्[11] ॥२०४॥
इति सागरदत्ताख्यस्तया[12] भर्तृसमागमम्[13] । [14]बोधितोऽप्यपरीक्ष्यासौ स्वगेहात्ता[15]मपाकरोत्[16] ॥२०५॥
तत श्रेष्ठिगृह[17] याता तेनापि त्व दुराचरा[18] । [19]नास्मद्गेहं समागच्छेत्यज्ञानात् सा निवारिता ॥२०६॥
समीपवर्तिन्येकस्मिन् केतने[20] विहितस्थिति । नवमासावधौ पुत्रम् अलब्धानल्पपुण्यकम् ॥२०७॥
तद्विदित्वा कुलस्यैष[21] सम् पन्न पराभव । यत्र[22] क्वचन नीत्वैन [23]निक्षिपेत्यनुजीविक[24] ॥२०८॥
प्रत्येय[25] श्रेष्ठिना प्रोक्त श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । श्मशाने साधितु विद्याम् आगतस्य खगाधिप[26] ॥२०९॥
बाल समर्पयामास विचित्रो दुरितोदय । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामास्य वल्लभा ॥२१०॥
तौ[27] भोगपुरवास्तव्यौ[28] जितशत्रुसमाह्वयम्[29] । कृत्वा वर्धयता[30] पुत्रमिव मत्वौरस मुदा ॥२११॥

राजाने भी उसका सन्मान किया और बडे प्रेमसे उसके लिये यथायोग्य बहुत सा सुवर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००–२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिये बाहिर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गावमे जाकर ठहर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे सभोग कर किसीके जाने विना ही रात्रिमें ही अपने झुण्डमे जा मिला । इधर समयानुसार उसका गर्भ बढने लगा । जब इस बात का पता समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पतिके साथ समागम होनेका सब समाचार यद्यपि बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये विना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३–२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गई परन्तु उसने भी अज्ञानतासे यही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि तू दुराचारिणी है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमे रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या ? हमारे कुलका कलक उत्पन्न हुआ है, इसलिये उसने एक नौकरको यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । वह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्याधर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिये श्मशानमें आया था, सौंप आया सो ठीक ही है क्योंकि पापका उदय बडा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था । ये दोनो भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रक्खा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर वे बडी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८-

---

१ ददर्श । २ धनञ्जयाय । ३ ददौ । ४ धनञ्जय राजा पूजितोऽयं दृष्ट्वा ५ –मर्जितुम् स० । ६ सन्निवेशात् । ७ दक्षोभागग्यनया पुत्र समुद्रदत्त । ८ निविरम् । ९ सर्वदत्तायां । १० अन्यो मनुष्यव्यापार । ११ दुर्वृत्त व्यभिचारोऽभवदिति । १२ सर्वदयितया । १३ निजपुत्रागमनम् । १४ मम भर्ता निविशदागत्य मया सह सम्पर्क कृतवानिति निवेदितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कासितवान् । १७ निजाग्रजसर्वदयितश्रेष्ठिगृहम् । १८ दुष्टाचारिणि त्वम् । १९ नास्मद्गृहं स०, अ०, प०, स०, इ०, ल० गृहे । २१ निजं । २२ यत्र कुत्रापि । २३ स्थापय । २४ भृत्य । २५ विश्वास्य । २६ विद्याधरस्य । २७ जयधामजयभामाभिधौ । २८ भोगपुरनिवासिनौ । २९ जितशत्रुरित्याख्या कृत्वा । ३० वर्धयत स्म ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिन्दनान्मृत्वा सम्प्रापज्जन्म पौरुषम् ॥२१२॥
ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्थेनाभा[1] समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तान्तं निन्दित्वा भ्रातरं निजम् ॥२१३॥
[2]श्रेष्ठिनेऽनपराधाया गृहप्रवेशनिवारणात् । [3]अकुप्यन्नितरां कृत्यं कः सहेताविचारितम् ॥२१४॥
ज्येष्ठे न्यायगते योग्ये मयि स्थितवति स्वयम् । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि[4] कोपवान् ॥२१५॥
[5]वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तक[6] । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनि[7] स्थितः ॥२१६॥
दुस्सहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि क्वचित् नृणाम् । अन्येद्युर्जितशत्रुं स दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥२१७॥
[8]समुद्रदत्तसादृश्यं दधत्ससद[9]मागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥२१८॥
नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति सद्धस्तसंस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकतां[10] निजाम् ॥
मैथुनस्य[11] च संस्मृत्य तस्मै[12] सर्वश्रियं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ[13] दत्त्वा निर्विण्णमानसः ॥२२०॥
जयधामा[14] जयभामा जयसेना[15] तयाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका[16] ॥२२१॥
सा वैश्रवणदत्ता[17] च परे चोत्पन्नबोधकाः । सजातास्तैः सह श्रेष्ठी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२२॥
मुनिं रतिवरं प्राप्य चिरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२३॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिनतक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुरुष-का जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने झुण्डके साथ वापिस आ गया और अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा। सेठने अपराधके बिना ही उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिये वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर सकता है? ॥२१३–२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध करने लगा कि 'जब मैं बड़ा हूं, और योग्य हूं तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिये, मेरे रहते हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है'। इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठके साथ ईर्ष्या करने लगे ॥२१५–२१६॥ आचार्य कहते हैं कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्यों की ईर्ष्या भी कहीं कहीं अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नहीं होती। किसी एक दिन सेठ सर्वदयितने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है— तेरा रूप उसके समान क्यों है? और तू सभामें किसलिये आया है? तब जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७–२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि उसके हाथमें पहिनी हुई अंगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि 'यह मेरा भानजा ही है, दूसरा कोई नहीं है'। उसे अपनी और अपने बहनोईकी अपरीक्षकता (बिना विचारे कार्य करने)की याद आ गई और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुत सा धन और सेठका पद देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९–२२०॥ उसी समय जितशत्रुका पालनेवाला जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी स्त्रियां, वैश्रवण-दत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहिन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। उन सबके साथ साथ सेठने रतिवर मुनिके समीप जाकर संयम धारण

---

१ वणिक्समूहेन सह। २ सर्वदयिताय। ३ चुकोप। ४ सर्वदयिते। ५ स वै–स०, अ०, स०, इ०। ६ सागरदत्तसहितः। ७ श्रेष्ठिन स०, प०, इ०, स०, ल०। ८ समुद्रदत्तस्य समानरूपताम्। ९ सभाम्। १० विचारशून्यताम्। ११ सागरदत्तस्य विचारशून्यताम्। १२ जितशत्रवे जितशत्रवे। १३ सर्वदयिताश्रेष्ठी। १४ जितशत्रुवर्धनविद्याधरदम्पती। १५ सर्वदयितस्य भार्ये। १६ वैश्रवणदत्तस्य भार्या। १७ सागरदत्तस्य भार्या।

प्रान्ते स्वर्गाद्विहागत्य जयधामा तदातन[1] । वसुपालोऽत्र सञ्जातो जयभामाऽप्यजायत ॥२२४॥
[2]जयवत्यात्तसौन्दर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पला[3] जयदत्ता तु वत्यन्तमदनाऽभवत् ॥२२५॥
विद्युद्वेगाऽभवद वैश्रवणदत्ता कलाखिला[4] । जाता सागरदत्तापि स्वर्गादित्य सुखावती ॥२२६॥
तदा सागरदत्ताख्य स्वर्गलोकात् समागत । पुत्रो हरिवरो जात ॥ [5]पुरुरवस प्रिय ॥२२७॥
समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुत । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुष ॥२२८॥
॥ वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनिवेगक । श्रेष्ठी स सर्वदयित श्रीपालस्त्वमिहाभव ॥२२९॥
त्व जामातुर्निराकृत्या[6] सनाभिभ्यो वियोजित । तदा[7] त्वद्द्वेषिणोऽस्मिंश्च तव द्वेषिण एव ते ॥२३०॥
तदा प्रियास्तवात्राऽपि सञ्जाता नितरा प्रिया । अहि[8]सयाऽर्भक[9]स्यासीद् बन्धुभिस्तव [10]सङ्गम ॥२३१॥
तत्तप फलतो जात चक्रित्व सकलक्षिते । सर्वसङ्गपरित्यागान्मङक्षु मोक्ष गमिष्यसि ॥२३२॥
श्रयोदीरितत्तीर्थेशवचनाकर्णनेन ते । सर्वे परस्परद्वेषाद् विरमन्ति स्म विस्मयात् ॥२३३॥
जन्मरोगजरामृत्यून्निहन्तु सन्त[11]तानुगान् । सन्निधाय धिय धन्यो[12]ऽथासीद्धर्मामृत तत ॥२३४॥
धिगिद चक्रिसाम्राज्य कुलालस्येव जीवितम् । [13]भुक्तिश्चक्र[14] परिभ्राम्य मुहुरल्पफलाप्तित [15] ॥२३५॥

कर लिया । वे सभी लोग चिरकालतक सयमका साधन कर आयुके अन्तमे स्वर्ग गये ॥२२१-२२३॥ वहाकी आयु पूरी होनेपर स्वर्गसे आकर पहलेका जयधाम विद्याधर यहा राजा वसुपाल हुआ है, जयभामा वसुपालकी सुन्दरी रानी जयावती हुई है, जयसेना पिप्पली हुई है, जयदत्ता मदनावती हुई है, वैश्रवणदत्ता सब कलाओमे निपुण विद्युद्वेगा हुई है सागरदत्ता स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है, उस समयका सागरदत्त स्वर्गसे आकर पुरूरवाका प्यारा पुत्र हरिवर हुआ है, समुद्रदत्त ज्वलनवेगका प्रसिद्ध पुत्र हुआ है जो कि अपनी विद्याओसे ही अपना पौरुष प्रकट कर रहा है, वैश्रवणदत्त अशनिवेग हुआ है और सर्वदयित सेठ यहा श्रीपाल हुआ है जो कि तू ही है ॥२२४–२२९॥ तूने पूर्वभवमें अपने जमाई (भानेज जितशत्रु) को उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिये तुझे भी इस भवमें अपने भाई बन्धुओसे अलग होना पडा है, पूर्वभवमें जो वैश्रवणदत्त, सागरदत्त तथा समुद्रदत्त तेरे द्वेषी थे वे इस भवमे भी तुझसे द्वेष करनेवाले धूमवेग, अशनिवेग और हरिवर हुए है । उस भवमें जो तुम्हारी स्त्रिया थी वे इस भवमें भी तुम्हारी अत्यन्त प्यारी स्त्रिया हुई है । तुमने अपनी बहिनके बालककी हिंसा नही की थी इसलिये ही तेरा इस भवमें अपने भाई बन्धुओके साथ फिरसे समागम हुआ है । तूने उस भवमें जो तपश्चरण किया था उसीके फलसे सम्पूर्ण पृथिवीका चक्रवर्ती हुआ है और अन्तमें सब परिग्रहोका त्याग कर देनेसे तू शीघ्र ही मोक्ष पा जायगा ॥२३०–२३२॥ इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् गुणपालके कहे हुए वचनोको सुनकर सब लोगोने आश्चर्यपूर्वक अपना परस्पर का बैर छोड दिया ॥२३३॥

तदनन्तर पुण्यात्मा श्रीपालने सदासे पीछे लगे हुए जन्म, रोग, जरा और मृत्युको नष्ट करनेके लिये बुद्धि स्थिर कर धर्मरूपी अमृतका पान किया ॥२३४॥ वह सोचने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुम्हारकी जीवनीके समान है क्योकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) घुमाकर मिट्टीसे बने हुए घडे आदि वर्तनोसे अपनी आजीविका चलाता है

---

१ तत्कालभव । २ श्रीपालस्याग्रमहिषी जाता । ३ पिप्पली ल०, प०, इ०, अ०, स० । ४ सम्पूर्णकला । ५ पुरुरवस इति विद्याधरस्य । ६ भागिनेयस्य निराकरणात् । ७ तत्कारे । ८ अहिंसनात् । ९ तव भागिनेयस्य । १० पुनर्बान्धवै सह सङ्गम । ११ सन्ततमनुगमनशीलान् । १२ पपौ । धेट् पान इति धातु । १३ आत्मजीवना । १४ चक्रवर्तिपक्षे चक्ररत्न कुलालपक्षे च । १५ अल्पफलप्राप्तित । भुक्तिपक्षे पुण्यक्षयात् ।

आयुर्वायुरयं[1] मोहो[2] भोगो भङ्गी[3] हि सङ्गमः[4]। वपुः पापस्य दुष्पात्रं विद्युल्लोला विभूतयः ॥२३६॥
[5]मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद् यौवनं गहनं वनम्। या रतिर्विषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिम् ॥२३७॥
सर्वमेतत्सुखाय स्याद् यावन्मतिविपर्ययः[6]। अमुष्यायां मतौ सत्यां किं तत्त्याज्यमतः परम्[7] ॥२३८॥
चित्तद्रुमस्य चेद् वृद्धिः अभिलाषविषाङ्कुरैः। क्व दुःखफलानि स्युः सम्भोगविटपेषु न ॥२३९॥
भुक्तो भोगो दशाङ्गोऽपि यथेष्टं सुचिरं मया। [8]मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तृप्तिस्तृष्णाविघातिनी ॥२४०॥
अस्तु वास्तु समस्तं च सङ्कल्पविषयीकृतम्। इष्टमेव तथाप्यस्मान्नास्ति क्वा[9][10]स्ताऽपि निर्वृतिः[11] ॥२४१॥
[12]किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुषं[13] किमतः परम्। दैन्यमात्मनि सम्भाव्य[14]सौख्यं स्यां परमं[15] पुमान् ॥२४२॥
इति श्रीपालचक्रेशः संत्यजन् वक्रतां धियः। अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सचक्रं मतिमातनोत् ॥२४३॥
ततः सुखावतीपुत्रं नरपालाभिधानकम्। कृताभिषेकमारोप्य समुत्तुङ्ग सिंहासनम् ॥२४४॥
जयवत्यादिभिः स्वाभिर्देवीभिर्धरणीश्वरैः। वसुपालादिभिश्चामा संयमं प्रत्यपद्यत ॥२४५॥
स बाह्यमन्तरङ्गं च तपस्तप्त्वा यथाविधि। क्षपकश्रेणिमारुह्य [15]मासेन (?) हतमोहरः ॥२४६॥
यथाख्यातमवाप्योच्चैश्चारित्रं निष्कषायकम्। ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना[16] ॥२४७॥

उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) घुमाकर मिट्टीसे उत्पन्न हुए रत्न या कर आदिसे अपनी आजीविका चलाता है—भोगोपभोगकी सामग्री जुटाता है इसलिये इस चक्रवर्तीके साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, इष्ट-जनोंका संयोग नष्ट हो जानेवाला है, शरीर पापोंका खोटा पात्र है और विभूतियां बिजलीके समान चचल हैं ॥२३६॥ यह यौवन समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करानेका कारण होनेसे सघन वनके समान है और जो यह विषयोंमें प्रीति है वह द्वेषको ढूंढनेवाली है ॥२३७॥ इन सब वस्तुओंसे सुख तभी तक मालूम होता है जब तक कि बुद्धिमें विपर्ययपना रहता है। और जब बुद्धि सीधी हो जाती है–तब ऐसा जान पडने लगता है कि इन वस्तुओंके सिवाय छोडने योग्य और क्या होगा? ॥२३८॥ जब कि अभिलाषारूपी विषके अंकुरोंसे इस चित्तरूपी वृक्षकी सदा वृद्धि होती रहती है तब उसकी संभोगरूपी डालियोंपर भला दु:खरूपी फल क्यों नहीं लगेंगे? ॥२३९॥ मैंने इच्छानुसार चिरकालतक दसों प्रकारके भोग भोगे परन्तु इस भवमें तृष्णाको नष्ट करनेवाली तृप्ति मुझे रंचमात्र भी नहीं हुई ॥२४०॥ यदि हमारी इच्छाके विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जायें तो भी उनसे थोडा सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ स्त्रियोंसे सुखकी प्राप्ति होना ही पुरुषत्व है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु इसमें बढकर और दीनता क्या होगी? इसलिये अपने आत्मामें ही सच्चे सुखका निश्चय कर पुरुष हो सकता हूं—पुरुषत्वका धनी बन सकता हूं ॥२४२॥ इस प्रकार बुद्धिकी वक्रताको छोडते हुए श्रीपाल चक्रवर्तीने चक्ररत्न सहित समस्त परिग्रहका एक साथ छोडनेका विचार किया ॥२४३॥ तदनन्तर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेक कर उसे अपने बहुत ऊंचे सिंहासनपर बैठाया और स्वयं जयवती आदि रानियां तथा वसुपाल आदि राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२४४–२४५॥ उन्होंने विधिपूर्वक बाह्य और अन्तरङ्ग तप तपा, क्षपक श्रेणीमें चढकर मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला कषायरहित यथाख्यात नामका उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त किया, वीचाररहित द्वितीय शुक्ल ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपका

---

१ वायुवशी। २ मेघो न०। ३ विनाशी। ४ इष्टसयोग। ५ सन्मार्गच्युतिकारणत्वात्। ६ सरसचन्दनादि। ७ मतव्यापाम भाह्। ८ इष्टमस्काभियादिवादन्। ९ अयस्वकाऽपि। १० अल्पापि। ११ सुखम्। १२ कुगनानुबंधसमाचरणरूपेण पौरुषम्। १३ सङ्कल्पसुखम्। १४ अहं परमपुरुषो भवयम्। १५ मोहारातिजयार्जितम् ल०, प०, अ०, स०, इ०। १६ एकत्ववितर्कवीचाररूपद्वितीयशुक्लध्यानेन।

घातिकर्मत्रयं हत्वा सम्प्राप्तावकेवल[1] । सयोगस्थानमारुह्य वियोगो धौतकल्मष ॥२४८॥
[2]शरीरत्रितयापायाद् आविष्कृतगुणोत्कर । अनन्तशा[3]न्तमप्रायमवाप सुखमुत्तमम् ॥२४९॥
तस्य राज्यश्च ता सर्वा विधाय विविध तप । स्वर्गलोके स्वयोग्योरुविमानेष्वभवन् सुरा ॥२५०॥
आवा चाकर्ण्य तन्नत्वा गत्वा नाक निजोचितम्[4] । अनुभूय सुख प्रान्ते[5] शेषपुण्यविशेषत ॥२५१॥
इहागताविति व्यक्त व्याजहार[6] सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावादनुषत्तदा ॥२५२॥
तदा सदस्सद[7] सर्वे प्रतीयु[8]स्तदुदाहृतम्[9] । क प्रत्येति[10] न दुष्टश्चेत् सद्भिर्गदित वच ॥२५३॥
एव सुखेन साम्राज्यभोगसार निरन्तरम् । भुञ्जानौ रञ्जितान्योन्यौ काल गमयत स्म तौ ॥२५४॥
तदा[11]खगभवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखा श्रिता । विद्यास्ता[12] च महीश[13] च सम्प्रीत्या तौ ननन्दतु[14] ॥२५५॥
तद[15]बलात् कान्तया सार्द्ध विहर्तु सुरगोचरान । वाञ्छन् देशान् निज राज्य नियोज्य विजयेऽनुजे ॥२५६॥
यथेष्ट सप्रियो विद्यावाहन सरिता पतीन्[16] । कुलशैलास्वनोरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२५७॥
विहरन्नन्यदा मेघस्वर कैलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णाद् असौ किञ्चिदपासरत्[17] ॥२५८॥

चिन्तवन करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको नष्ट कर नौ केवललब्धिया प्राप्त की, सयोगकेवली गुणस्थानमें पहुचकर क्रमसे योगरहित होकर सब कर्म नष्ट किये और अन्तमें औदारिक, तैजस, कार्माण–तीनो शरीरोके नाशसे गुणोका समूह प्रकट कर अनन्त, शान्त, नवीन और उत्तम सुख प्राप्त किया ॥२४६–२४९॥ श्रीपाल चक्रवर्तीकी सब रानिया भी अनेक प्रकारका तप तपकर स्वर्गलोकमे अपने अपने योग्य बडे बडे विमानोमें देव हुई ॥२५०॥ सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनो भी ये सब कथाए सुनकर एव गुणपाल तीर्थङ्कर को नमस्कार कर स्वर्ग चले गये थे और वहा यथायोग्य सुख भोगकर आयुके अन्तमें बाकी बचे हुए पुण्यविशेषसे यहा उत्पन्न हुए है । ये सब कथाए सुलोचनाने स्पष्ट शब्दोमें कही थी और जयकुमार भी अपनी प्रियाकी बुद्धिके प्रभावसे उस समय अत्यन्त सतुष्ट हुआ था ॥२५१–२५२॥ उस समय सभामें बैठे हुए सभी लोगोने सुलोचना के कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है क्योकि जो दुष्ट नही है वह ऐसा कौन है जो सज्जनो के द्वारा कहे हुए वचनोपर विश्वास न करे ॥२५३॥ इस प्रकार साम्राज्य तथा श्रेष्ठ भोगोका निरन्तर उपभोग करते और परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए वे दोनो सुखसे समय बिताने लगे ॥२५४॥ उसी समय पहले विद्याधरके भवमे लक्ष्मीको बढानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्याए थी वे भी बडे प्रेमसे जयकुमार और सुलोचना दोनोको प्राप्त हो गई ॥२५५॥ उन विद्याओके बलसे महाराज जयकुमारने अपनी प्रिया–सुलोचनाके साथ देवोके योग्य देशोमें विहार करनेकी इच्छा की और इसलिये ही अपने छोटे भाई विजयकुमारको राज्यकार्यमे नियुक्त कर दिया ॥२५६॥

तदनन्तर जिसकी सवारिया विद्याके द्वारा बनी हुई है ऐसा वह जयकुमार अपनी प्रिया–सुलोचनाके साथ साथ समुद्र, कुलाचल और अनेक प्रकारके-मनोहर वनोमें विहार करता

---

१ सम्प्राप्तक्षायिकज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीति नवकेवललब्धि । २ औदारिकतैजसकार्मणमिति शरीरत्रयविनाशनात् । ३ अनन्त शान्तमप्राप्तमवाप्त इ०, अ०, स०, ल०, प० । अप्रायमनुपमम् । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इत्यभिधानात् । ४ यथोचितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ आयुरन्ते । ६ उवाच । ७ सद सीदन्तीति सदस्सद । सभा प्राप्ता इत्यर्थ । ८ विश्वस्त वन्त । ९ सुलोचनावचनम् । १० न श्रद्धाति । ११ हिरण्यवर्मप्रभावतीभवे प्राप्ता । १२ सुलोचनाम् । १३ जयम् । १४ वर्धितश्रिय ल०, प०, इ०, स० । १५ प्रज्ञप्त्यादिविद्याबलात् । १६ पतिम् ल०, प०, इ०, स० । १७ अपगच्छति स्म ।

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनम् । जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥२५९॥
श्रुत्वा तदादिमे कल्पे [1]रविप्रभविमानजः । श्रीशः[2] रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥२६०॥
प्रेषिता[3] काञ्चना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन् भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्तटे ॥२६१॥
मनोहराख्यविषये राजा रत्नपुराधिपः । अभूत् पिङ्गलगान्धारः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥२६२॥
तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमेर्भार्या यदृच्छया । त्वां नन्दने महामेरौ क्रीडन्तं वीक्ष्य सोत्सुका ॥२६३॥
तदा प्रभृति मच्चित्तेऽभवस्त्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायन्ती दैवयोगतः ॥२६४॥
दृष्टवत्यस्मि कान्त[4]ऽस्मिन्[5] मन्निवेगं[6] सोढुमक्षमा । इत्यपास्तोपकण्ठस्थान् स्वकीयान्[7] स्मरविह्वला ॥२६५॥
स्वानुरागं जये व्यक्तम् अकरोद् विकृतेक्षणा । तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा नस्या पापमीदृशम् ॥२६६॥
सोदर्या त्वं ममादायि[8] मया मुनिराजाद् व्रतम् । पराङ्गनाङ्ग[9]संसर्गसुखं मे विषभक्षणम् ॥२६७॥
महीशेनेति सम्प्रो[10]क्ता मिथ्या सा कोप[11]वेपिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं[12] समुद्धृत्य गत्वरी[13] ॥२६८॥
पुष्पावचयसंसक्ततनूपकान्ताभितर्जिता[14] । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात् काञ्च[15]नाऽदृश्यतां गता ॥२६९॥
अबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥२७०॥

हुआ किसी समय कैलाश पर्वतके वनमें पहुंचा और किसी कारणवश सुलोचनासे कुछ दूर चला गया ॥२५७–२५८॥ उसी समय इन्द्र अपनी सभाके बीचमें जयकुमार और उसकी प्रिया सुलोचनाके शीलकी महिमाका वर्णन कर रहा था उसे सुनकर पहले स्वर्गके रविप्रभ विमानमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीके अधिपति रविप्रभ नामके देवने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिये एक काञ्चना नामकी देवी भेजी, वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आकर कहने लगी कि 'इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है, उसके रत्नपुर नगरके अधिपति राजा पिङ्गल गाधार हैं, उनके सुख देनेवाली रानी सुप्रभा है, उन दोनोंकी मैं विद्युत्प्रभा नामकी पुत्री हूं और राजा नमिकी भार्या हूं। महामेरु पर्वतपर नन्दन वनमें क्रीडा करते हुए आपको देखकर मैं अत्यन्त उत्सुक हो उठी हूं। उसी समयसे मेरे चित्तमें आपकी आकृति लिख सी गई है, मैं सदा आपके समागम का ही ध्यान करती रहती हूं। दैवयोगसे आज आपको देखकर आनन्दके वेगको रोकनेके लिये असमर्थ हो गई हूं।' यह कहकर उसने समीपमें बैठे हुए अपने सब लोगोंको दूर कर दिया और कामसे विह्वल होकर तिरछी आंखें चलाती हुई वह देवी जयकुमारसे अपना अनुराग स्पष्ट रूपसे प्रकट करने लगी। उसकी दुष्ट चेष्टा देखकर जयकुमारने कहा कि तू इस तरह पापका विचार मत कर, तू मेरी बहिन है, मैंने मुनिराजसे व्रत लिया है कि मुझे परस्त्रियोंके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला सुख विष खानेके समान है। महाराज जयकुमारके इस प्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे कांपने लगी और राक्षसीका वेष धारणकर जयकुमारको उठाकर जाने लगी। फूल तोड़नेमें लगी हुई सुलोचनाने यह देखकर उसे ललकार लगाई जिससे वह उसके शीलके माहात्म्यसे डरकर अदृश्य हो गई। देखो, शीलवती स्त्रीसे जब देवता भी डर जाते हैं तब औरोंकी तो बात ही क्या है? वह काञ्चना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामीके पास गई, वहां उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर वह रविप्रभ देव भी आश्चर्यसे उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ उन दोनोंके पास आया। उसने अपना सब

---

१ रविप्रभविमानोत्पन्नलक्ष्मीपतिना । २ श्रीशो ल० । ३ निरूपिता । ४ भो प्रिय । ५ एतस्मिन् प्रदेशे । ६ कामवेगम् । ७ स्वजनान् । ८ स्वीकृतम् । ९ संसर्ग—ल०, प०, इ०, म० । १० सम्प्रोक्ता ल० । ११ पापवेपनी ट० । अशोभनं कम्पयन्ती । १२ जयम् । १३ गमनशीला । १४ सुलोचनातर्जिता । १५ काञ्चनाख्यामराङ्गना ।

प्राशासत्[1] सा [2]तयोस्तावद्रूपमाहात्म्य सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभ समागत्य तावुभौ तद्गुणप्रिय. ॥२७१॥
स्ववृत्तान्त समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोक समीयिवान् ॥२७२॥
[3]तया चिर विहृत्याप्तसम्प्रीति कान्तया समम् । निवृत्य पुरमागत्य सुखसार समन्वभूत् ॥२७३॥
अथान्यदा समुत्पन्नबोधिर्मेघस्वराधिप । तीर्थाधिनाथ[4]मासाद्य वन्दित्वाऽऽनन्दभाजनम् ॥२७४॥
कृत्वा धर्मपरिप्रश्न श्रुत्वा तस्माद्यथोचितम् । आक्षेपिण्यादिका[5] सम्यक्[6] कथाबन्धोदयादिकम् ॥२७५॥
[7]कर्मनिर्मुक्तसम्प्राप्य शर्मसार प्रबुद्धधी । शिवङ्करमहादेव्यास्तनूजो [8]जगता प्रिय ॥२७६॥
अवार्योऽनन्तवीर्याख्य शत्रुभि शस्त्रशास्त्रवित् । आकुमार[9] यशस्तस्य[10] शौर्यं शत्रुजयावधि ॥२७७॥
त्याग सर्वार्थिसन्तर्पी सत्य स्वप्नेऽप्यविप्लुतम्[11] । विधायाभिषव तस्मै प्रदायात्मीयसम्पदम् ॥२७८॥
पद पर परिप्राप्तुमव्यग्रमभिलाषुक । विसर्जितसगोत्रा[12]दिर्विनिर्जितनिजेन्द्रिय ॥२७९॥
विसर्जितमहामोह समर्जितशुभाशय[13] । विजयेन जयन्तेन सञ्जयन्तेन सानुजै ॥२८०॥
अन्यैश्च निश्चितत्यागै रागद्वेषाविदूषितै । रविकीर्ति[14] रिपु[15]जयोऽरिन्दमोऽरिञ्जयाह्वय ॥२८१॥
सुजयश्च सुकान्तश्च सप्तमश्चाजितञ्जय । महाजयोऽतिवीर्यश्च [16]वीरञ्जयसमाह्वय ॥२८२॥
रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिन । तैश्च सार्द्धं सुनिर्विण्णैश्चरमाङगो विशुद्धिभाक् ॥२८३॥

वृत्तान्त कहकर उन दोनोसे क्षमा मागी और फिर बडे बडे रत्नोसे पूजा कर वह स्वर्गको चला गया । इधर जयकुमार भी प्रिया—सुलोचनाके साथ चिरकाल तक बडे प्रेमसे विहारकर वापिस लौटे और नगरमे आकर श्रेष्ठ सुखोका अनुभव करने लगा ॥२५९–२७३॥

अथानन्तर—जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जयकुमारने किसी एक दिन आनन्दके पात्र श्री आदिनाथ तीर्थंकरके पास जाकर उनकी वन्दना की, धर्मविषयक प्रश्न कर उनका यथा योग्य उत्तर सुना, आक्षेपिणी आदि कथाए कही और कर्मोके बन्ध उदय आदिकी चर्चा की ॥२७४–२७५॥ इस प्रकार प्रबुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले जयकुमारने कर्मोके नाशसे प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुखको प्राप्त किया । तदनन्तर उसने जो लोगोको बहुत ही प्रिय है, जिसे शत्रु नही रोक सकते है, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोका जाननेवाला है, जिसका यश कुमार अवस्थासे ही फैल रहा है, जिसकी शूरवीरता शत्रुओके जीतने तक है, जिसका दान सब याचकोको सतुष्ट करनेवाला है, और जिसका सत्य कभी स्वप्नमें भी खण्डित नही हुआ है ऐसे शिवकर महादेवीके पुत्र अनन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे अपनी सब राज्य सपदा दे दी ॥२७६–२७८॥ तदनन्तर जो आकुलता रहित परम पद प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहा है, जिसने अपने सब कुटुम्बका परित्याग कर दिया है, अपनी इन्द्रियोको वश कर लिया है, महामोहको डाट दिखा दी है और शुभास्रवका सचय किया है ऐसे चरमशरीरी तथा विशुद्धि को धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयत, सजयन्त तथा परिग्रहके त्यागका निश्चय करनेवाले और राग द्वेषसे अदूषित अन्य छोटे भाइयो एव रविकीर्ति, रविजय, अरिदम, अरिंजय, सुजय, सुकान्त, सातवा अजितजय, महाजय, अतिवीर्य, वरजय, रविवीर्य तथा इनके सिवाय और भी वैराग्यको प्राप्त हुए चक्रवर्तीके पुत्रोके साथ साथ दीक्षा धारण की ॥२७९–२८३॥

१ प्रशास्ता चकार । २ जयसुलोचनयो । ३ तया ल० । ४ मण्डभाजन कल्याणभाजन वा । तीर्थादि—ल० । ५ आक्षेपणी विक्षेपणी सवेजनी निर्वेजनीति चेति चतस्र । 'आक्षेपणी स्वमतसग्रहणी समेक्षी विक्षेपणी कुमतनिग्रहणी यथार्हम् । सवेजनी प्रथयितु सुकृतानुभाव निर्वेजनी वदतु धर्मकथाविरक्त्यै ।' ६ कृत्वा कथा कर्मोदयादिका स०, प०, द०, स० । ७ कर्मबन्धविमुक्त प्राप्तु योग्यम् । ८ जनानाप्रिय स०, प०, अ०, स०, द० । ९ कुमारकालादारभ्य । १० अनन्तवीर्यस्य । ११ अविच्युतम् । निर्बाध वा । १२ बान्धवादि । 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजना समा' इत्यभिधानात् । १३ शुभास्रव ल० । १४ रविकीर्तिनामा । १५ रविजया स०, प०, स०, द० । १६ वरञ्जय स०, अ०, प०, स० ।

एष पात्रविशेषस्ते संवोढुं शासनं महत् । इति विश्वमहीशेन[1] देवदेवस्य[2] सोऽर्पितः[3] ॥२८४॥
कृतग्रन्थपरित्यागः प्राप्तग्रन्थार्थसङ्ग्रहः । प्रकृष्टं संयमं प्राप्य सिद्धसप्तर्द्धिवर्द्धितः ॥२८५॥
चतुर्ज्ञानामलज्योतिर्हतान्ततमनस्तमाः । अभूद् गणधरो भर्तुः एकसप्ततिपूरकः ॥२८६॥
सुलोचनाप्यसंहार्यशोका पतिवियोगतः । गलिताकल्पवल्लीव [5]प्रम्लानामरभूरुहात् ॥२८७॥
शमिता[6] चक्रवर्तीष्टकान्तयाऽऽशु सुभद्रया । ब्राह्मीसमीपे प्रव्रज्य भाविसिद्धिश्चिरं तपः ॥२८८॥
कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत् कल्पेऽच्युतेऽमरः । आदितीर्थाधिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥२८९॥
चतुरुत्तरयाऽशीत्या विविधर्द्धिविभूषितैः । चिरं वृषभसेनादिगणेशैः परिवेष्टितः ॥२९०॥
खपञ्चसप्तवार्राशिमितपूर्वधरान्वितः । खपञ्चैकचतुर्मेय[7]शिक्षकैर्मुनिभिर्युतः ॥२९१॥
तृतीयज्ञानसन्नेत्रैः[8] सहस्रैर्नवभिर्वृतः[9] । केवलावगमैर्विंशतिसहस्रैः समन्वितः ॥२९२॥
खद्वयर्तुखपक्षोरुविक्रियर्द्धिविवर्द्धितः[10] । खपञ्चसप्तपक्षैकमितुर्यविदन्वितः[11] ॥२९३॥
तावद्भिर्वादिभिर्वन्द्यो निरस्तपरवादिभिः । चतुरष्टखवार्द्ध्यष्टमितैः सर्वैश्च पिण्डितैः ॥२९४॥
संयमस्थानसम्प्राप्तसम्पद्भिस्सद्भिरर्चितः । खचतुष्केन्द्रियाम्बुधिपूज्यब्राह्म्याद्यार्यिकादिभिः ॥२९५॥
आर्यिकाभिरभिष्टूयमानानानागुणोदयः । दृढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोक्तैः श्रावकैः श्रितः ॥२९६॥
श्राविकाभिः स्तुतः पञ्चलक्षाभिः सुव्रतादिभिः । भावनादिचतुर्भेददेवदेवीडितक्रमः ॥२९७॥

उस समय भगवान् ऋषभदेवके समीप जयकुमार ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आपके बड़े भारी शासनको धारण करनेके लिये यह एक विशेष पात्र है यही समझकर महाराज भरतने उसे भगवान्‌के लिये सौंपा हो ॥२८४॥ इस प्रकार जिसने सब परिग्रहका त्याग कर दिया है, सम्पूर्ण श्रुतका अर्थसंग्रह प्राप्त किया है, जो उत्कृष्ट संयम धारणकर सात ऋद्धियोंसे निरन्तर बढ़ रहा है, और चार ज्ञानरूपी निर्मल ज्योतिसे जिसने मनका विस्तीर्ण अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसा वह जयकुमार भगवान्‌का इकहत्तरवाँ गणधर हुआ ॥२८५–२८६॥ इधर पतिके वियोगसे जिसे बड़ा भारी शोक रहा है और जो पड़े हुए कल्पवृक्षसे नीचे गिरी हुई कल्पलताके समान निष्प्रभ हो गई है ऐसी सुलोचनाने भी चक्रवर्तीकी पट्टरानी सुभद्राके समझाने पर ब्राह्मी आर्यिकाके पास शीघ्र ही दीक्षा धारण कर ली और जिसे आगामी पर्यायमें मोक्ष होनेवाला है ऐसी वह सुलोचना चिरकाल तक तप कर अच्युतस्वर्गके अनुत्तरविमानमें देव पैदा हुई।

इधर जो मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चला रहे हैं, अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित वृषभसेन आदि चौरासी गणधरोंसे घिरे हुए हैं, चार हजार सात सौ पचास पूर्वज्ञानियोंसे सहित हैं, चार हजार एक सौ पचास शिक्षक मुनियोंसे युक्त हैं, नौ हजार अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले मुनियोंसे सहित हैं, बीस हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त हैं, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनियोंसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं, बारह हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानियोंसे अन्वित हैं, परवादियोंको हटानेवाले बारह हजार सात सौ पचास वादियोंसे वन्दनीय हैं, और इस प्रकार सब मिलाकर तपश्चरणरूपी सम्पदाओंको प्राप्त करनेवाले चौरासी हजार चौरासी मुनिराज जिनकी निरन्तर पूजा करते हैं, ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्यिकाएं जिनके गुणोंका स्तवन कर रही हैं, दृढ़व्रत आदि तीन लाख श्रावक जिनकी सेवा कर रहे हैं, सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाएं जिनकी स्तुति कर रही हैं, भवनवासी आदि चार प्रकारके देव देवियाँ जिनके चरणकमलोंका स्तवन कर रही हैं, चौपाये आदि तिर्यञ्चगतिके जीव जिनकी

---

१ भरतेश्वरेण । २ वृषभेश्वरस्य । ३ जय । ४ अष्टादश–म०, प०, अ०, स०, इ० । ५ उपशान्ति नीता । ६ भावि मोक्ष । ७–निर्वृत म० । ८ अवधिज्ञा । ९–निर्वृत स० । १०–यमिन । ११ मनःपर्ययज्ञानिसहित ।

चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चाभिषेवित । चतुस्त्रिंशदतीशेष[1]विशेषैर्लक्षितोदय ॥२९८॥
[2]आत्मोपाधिविशिष्टावबोधदृक् सुखवीर्यसत्[3] । देहसौन्दर्यसासोक्त[4]सप्तसस्थानसङ्गत (?) ॥२९९॥
प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टघातिचतुष्टय । वृषभाद्यन्वितार्याष्टसहस्राह्वयभाषित ॥३००॥
विकासितविनेयाम्बुजावलिश्चनाशुभि । संवृताञ्जलिपद्मेजमुकुलेनाखिलेशिता ॥३०१॥
भरतेन समभ्यर्च्य पृष्टो धर्ममभाषत । ध्रियते धारयत्युच्चै[5]र्विनेयान्[6] [7]कुगतेस्तत[8] ॥३०२॥
धर्म इत्युच्यते सद्भिश्चतुर्भेद समाश्रित । सम्यग्दृक्ज्ञानचारित्रतपोरूप कृपापर[9] ॥३०३॥
जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धान यत् स्वतोऽञ्जसा । [10]परप्रणयनाद् या तत् सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥३०४॥
शङ्कादिदोषनिर्मुक्त भावत्रयविवेचितम्[11] । तेषा जीवादिसप्ताना सशयादिविवर्जनात्[12] ॥३०५॥
याथात्म्येन परिज्ञान सम्यग्ज्ञान समादिशेत् । यया कर्मास्रवो न स्याच्चारित्र सयमस्तथा ॥३०६॥
निर्जरा कर्मणा येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायै स्वर्गहेतव ॥३०७॥
निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् । चतुष्टयमिद यत्नं मुक्तेर्दुष्प्रापमङ्गिभि ॥३०८॥
मिथ्यात्वमव्रताचार प्रमादा सकषायता[13] । योगा शुभाशुभा जन्तो कर्मणा बन्धहेतव ॥३०९॥

सेवा कर रहे हैं, चौतीस अतिशय विशेषोसे जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्यको प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीरकी सुन्दरतासे युक्त हैं, जो सज्जाति आदि सात परम स्थानोसे सगत हैं, जो आठ प्रातिहार्योसे युक्त हैं, जिन्होने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जो वृषभ आदि एक हजार आठ नामोसे कहे जाते हैं और जिन्होने भव्य जीवरूपी कमलोके वनको प्रफुल्लित कर दिया है ऐसे भगवान् वृषभदेवके पास जाकर मुकुलित कमलके समान हाथ जोडे हुए चक्रवर्ती भरतने उनकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे—

जो शिष्योको कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थानमें पहुचा दे सत् पुरुष उसे ही धर्म कहते हैं। उस धर्मके चार भेद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। यह धर्म कर्तव्य प्रधान है ॥२८७–३०३॥ अपने आप अथवा दूसरेके उपदेशसे जीव आदि सात तत्त्वोमें जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥३०४॥ यह सम्यग्दर्शन शका आदि दोषोसे रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावो द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावोकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं। सशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे उन्ही जीवादि सात तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मोका आस्रव न हो उसे चारित्र अथवा सयम कहते हैं। ॥३०५–३०६॥ जिससे कर्मोकी निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। ये चारो ही गुण यदि कषाय सहित हो तो स्वर्गके कारण हैं और कषायरहित हो तो आत्माका हित चाहनेवाले लोगोको स्वर्ग और मोक्ष दोनोके कारण हैं। ये चारो ही मोक्षके मार्ग हैं और प्राणियोको बडी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं ॥३०७–३०८॥ मिथ्यात्व, अव्रताचरण, (अविरति), प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवोके कर्मबन्धके कारण हैं ॥३०९॥

---

१ अतिशय। २ आत्मा उपाधि कारण यस्य। ३ वीर्यंग ल०, प०, द०, अ०, स०। प्रशस्त सौन्दर्यशास। समवशरण। ४ सौन्दर्यवान् स्वात्मसम्प—ल०, प०, द०, अ०, स०। ५ अभ्युदयनिःश्रेयस-स्थानेषु स्थान। ६ भव्यान्। ७ दुर्गत गरागत् अपसार्य। ८ तत धारणात्। ९ दयाप्रधान। निगदन्ति स०। १० परोपदेशात्। ११ औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावैर्निर्णीतम्। १२ विसर्जनात् स०। १३ सकषायत्वम्।

मिथ्यात्वं पञ्चधा [1]साष्टशतन्त्वाऽविरतिर्मता । प्रमादाः पञ्चदश च कषायास्ते चतुर्विधाः ॥३१०॥
योगाः पञ्चदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः ॥३११॥
बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युदयसम्प्राप्त्या हेतवः फलबन्धयोः ॥३१२॥
तद्रूपं[2] संसृतेर्हेतुं परित्यज्य गृहाश्रमम् । दोषदुःखजरामृत्युपापप्रायं भयावहम् ॥३१३॥
[3]शक्तिमन्तस्तदासन्नविनेया विदितागमाः । गुप्त्यादिषड्विधं[4] सम्यग् अनुगत्य यथोचितम् ॥३१४॥
प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु [5]व्यपेतागारवासिषु ॥३१५॥
प्रमत्तादिगुणस्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तम् उपास्य मोक्षमुत्तमम् ॥३१६॥
तथा गृहाश्रमस्थाश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकम् । दानशीलोपवासार्हदादिपूजोपलक्षिताः ॥३१७॥
धार्मिकैकादशोपासकव्रताः सुशुभाशयाः[6] । सम्प्राप्तपरमस्थानसप्तकाः सन्तु धीधनाः ॥३१८॥
इति [7]सत्तत्त्वसन्दर्भगर्भवाग्विभवात्प्रभोः[8] । सभ्यो[9] भरताधीशः सर्वमेवममन्यत ॥३१९॥
त्रिज्ञाननेत्रसम्यक्त्वशुद्धिभाग् देशसंयतः । स्रष्टारमभिवन्द्यायात् कैलासान्नगरोत्तमम् ॥३२०॥
जगद्धितमयनाथोऽपि धर्मक्षेत्रेष्वनारतम् । उप्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यषिञ्चद्धर्मवृष्टिभिः ॥३२१॥

मिथ्यात्व पाँच तरहका है, अविरति एक सौ आठ प्रकारकी है, प्रमाद पन्द्रह हैं, कषायके चार भेद हैं, और सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले लोगोंको योगके पन्द्रह भेद जानना चाहिये। विद्वानोंने कर्मोंका निरूपण मूल और उत्तरभेदके द्वारा किया है—कर्मोंके मूल भेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥३१०–३११॥ प्रकृति आदिके भेदसे बन्ध चार प्रकारका जानना चाहिये तथा कर्म उदयमें आकर ही फल और बन्धके कारण होते हैं। भावार्थ—पहलेके बँधे हुए कर्मोंका उदय आनेपर ही उनका सुख दुःख आदि फल मिलता है तथा नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ॥३१२॥ तुम लोग शक्तिमान् हो, निकटभव्य हो और आगमको जाननेवाले हो, इसलिये संसारके कारण स्वरूप—दोष, दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापोंसे भरे हुए इस भयंकर गृहस्थाश्रमको छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन छहोंका अच्छी तरह अभ्यास करो तथा जिनके उपेक्षा आदि भेद कहे गये हैं ऐसे वीतरागादि मुनियोंमें, जिनके पुलाक आदि भेद हैं ऐसे अनगारादि मुनियोंमें अथवा प्रमत्त संयतको आदि लेकर उत्कृष्ट गुण स्थानोंमें रहनेवाले प्रमत्तविरत आदि मुनियोंमेंसे किसी एककी अवस्था धारणकर निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके उत्तम मोक्षकी उपासना करो ॥३१३–३१६॥ इसी प्रकार गृहस्थाश्रममें रहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहन्त आदि परमेष्ठियोंकी पूजा करें, शुभ परिणामोंसे श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करें और यथायोग्य सज्जाति आदि सात परमस्थानोंको प्राप्त हों ॥३१७–३१८॥ इस प्रकार भरतेश्वरने समीचीन तत्त्वोंकी रचनासे भरी हुई भगवान्की वचनरूप विभूति सुनकर सब सभाके साथ साथ कही हुई सब बातोंको ज्योंकी त्यों माना अर्थात् उनका ठीक ठीक श्रद्धान किया ॥३१९॥ मति, श्रुत, अवधि—इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको धारण करनेवाला देशसंयमी भरत भगवान् वृषभदेवकी वन्दनाकर कैलास पर्वतसे अपने उत्तम नगर—अयोध्याको आया ॥३२०॥ इधर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् आदिनाथने भी धर्मके योग्य क्षेत्रोंमें समीचीनधर्मका बीज बोकर उसे धर्मवृष्टिसे

---

१ साष्टशतप्रायविरतिः–अ०, प०, स०, म०, द० । २ तद्रूपं संसारम् । ३ शक्ति–अ०, प०, द०, स०, म० । ४ गुप्तिसमित्यादि । ५ पुलाकादिभेदभिन्नमुनिषु अगारवासिषु । ६ शुभ–परिणामाः । ७ पूर्वोक्तशरण । ८ पुरुदेवात् । विज्ञा स० । ९ सभ्याः ।

सतां सत्फलसम्प्राप्त्यै विहरन् स्वगणैः समम् । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्दोनपूर्वकम् ॥३२२॥
लक्षं कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरान्तरे । पौर्णमासीदिने पौषे[1] निरिच्छः समुपाविशत् ॥३२३॥
तदा भरतराजेन्द्रो महामन्दरभूधरम् । [2]आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितम् ॥३२४॥
तदैव युवराजोऽपि[3] स्वर्गादेत्य महौषधिम् । द्रुमं छित्त्वा नृणां जन्मरोगं स्वर्यान्तमैक्षत[4] ॥३२५॥
कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्त्वा नृभ्यो निरन्तरम् । गृहेट्[5] निशामयामास[6] स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥३२६॥
रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो[7] नानारत्नकदम्बकम् । प्रदायाभ्रगमोद्युक्तम् अद्राक्षीत् सचिवाग्रिमः ॥३२७॥
वज्रपञ्जरमुद्भिद्य कैलासं गजवैरिणम् । उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिरपश्यत ॥३२८॥
आलुलोके बुधो[8]ऽनन्तवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यान्तं त्रैलोक्यमाभास्य सतारं[9] तारकेश्वरम् ॥३२९॥
यशस्वतीसुनन्दाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोचन्तीश्चिरमद्राक्षीत् सुभद्रा[10] स्वप्नगोचरा ॥३३०॥
वाराणसीपतिश्चित्राङ्गदोऽप्यालोकताकुलः । खमुत्पतन्तं भास्वन्तं प्रकाश्य धरणीतलम् ॥३३१॥
[11]एवमालोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधसं फलं तेषाम् अपृच्छन्नर्यमोदये[12] ॥३३२॥
कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्बहुभिः समम् । पुरोः सर्वेऽपि शंसन्ति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिताम्[13] ॥३३३॥
इति स्वप्नफलं तेषां[14] भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानन्दनामैत्य भर्तुः[15] स्थितिमवेदयत् ॥३३४॥
ध्वनौ भगवता दिव्ये संहृते मुकुलीभवत् । कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीव[16] सरसीयसी ॥३३५॥

द्वारा खूब ही सींचा ॥३२१॥ इस प्रकार सज्जनोंको मोक्षरूपी उत्तम फलकी प्राप्ति करानेके लिये भगवान्‌ने अपने गणधरोंके साथ साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । और जब आयुके चौदह दिन बाकी रह गये तब योगोंका विरोधकर पौष मासकी पौर्णमासीके दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखरके बीचमें कैलाश पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥३२२–३२३॥ उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाईसे सिद्ध क्षेत्र तक पहुंच गया है ॥३२४॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका वृक्ष मनुष्योंके जन्मरूपी रोगको नष्टकर फिर स्वर्गको जा रहा है ॥३२५॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगोंके लिये उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जानेके लिये तैयार हुआ है ॥३२६॥ प्रधानमन्त्रीने देखा कि एक रत्नद्वीप, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको अनेक रत्नोंका समूह देकर अब आकाशमें जानेके लिये उद्यत हुआ है ॥३२७॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजड़ेको तोड़कर कैलाश पर्वतको उल्लंघन करनेके लिये तैयार हुआ है ॥३२८॥ जयकुमारके विद्वान् पुत्र श्रीमान् अनन्तवीर्यने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकोंको प्रकाशितकर ताराओं सहित जा रहा है ॥३२९॥ सोती हुई सुभद्राने देखा कि यशस्वती और सुनन्दाके साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देरतक शोक कर रही है ॥३३०॥ बनारसके राजा चित्राङ्गदने घबड़ाहटके साथ यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवीतलको प्रकाशित कर आकाशकी ओर उड़ा जा रहा है ॥३३१॥ इस प्रकार भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही सबने पुरोहितसे उनका फल पूछा ॥३३२॥ पुरोहितने कहा कि ये सभी स्वप्न कर्मोंको बिलकुल नष्ट कर भगवान् वृषभदेवका अनेक मुनियोंके साथ साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे हैं ॥३३३॥ इस प्रकार पुरोहित उन सबके लिये स्वप्नोंका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनन्द नामका एक मनुष्य आकर भगवान्‌का सब हाल कहने लगा ॥३३४॥ उसने कहा कि भगवान्‌ने अपनी दिव्यध्वनिका

---

१ पुष्यमासे । २ पूर्वसिद्धक्षेत्रपर्यन्तम् । ३ अर्ककीर्तिः । ४ स्वर्गं गतम् । ५ गृहपतिरत्नम् । ६ ददर्श । ७ ग्रहीतुमिच्छुभ्यः । ८ बुद्धिमान् । ९ ताराभिः सहितम् । १० स्त्रीरत्नम् । ११ एवं विलोकित– ल० । १२ सूर्यस्य । १३ मोक्षगामित्वम् । १४ भरतादीनाम् । १५ गुरोः । १६ सूर्ये । इत्यगानवेश्यदिति सम्बन्धः ।

तदाकर्णनमात्रेण सम्राट् सर्वैः समं ततः । चक्रवर्ती समभ्येत्य[1] त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥
महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥
माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यङ्को मुनिभिः समम् ॥३३८॥
प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमन्त्येन ध्यानेनाघातिकर्मणाम् ॥३३९॥
पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयम् । कालेन विदधन्प्रान्त्यगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥
शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसम्पूर्णः क्षणाप्ततनुवातकः ॥३४१॥
नित्यो निरञ्जनः किञ्चिदूनो देहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतम्[2] ॥३४२॥
तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्त्यपूजाचिकीर्षया[3] । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥
शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्यशिबिकार्पितम्[4] । अग्नीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्तुङ्गमुकुटोद्भुवा[5] ॥३४४॥
चन्दनागुरुकर्पूरपारीकाश्मीरजादिभिः[6] । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥३४५॥
जगद्गृहस्य सौगन्ध्यं सम्पाद्याभूतपूर्वकम्[7] । तदाकारोपमर्देन[8] पर्यायान्तरमानयन्[9] ॥३४६॥
अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥
तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एवं वह्नित्रयं भूमौ अवस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिये सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोंसे युक्त सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ साथ कैलास पर्वतपर गया, वहां जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएं दीं, स्तुति की और भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा करता रहा ॥३३६–३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमें भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाकी ओर मुंहकर अनेक मुनियोंके साथ साथ पर्यंकासनसे विराजमान हुए, उन्होंने तीसरे-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्लध्यानसे तीनों योगोंका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमें ठहरकर पांच लघु अक्षरोंके उच्चारण प्रमाण कालमें चौथे व्युपरतक्रिया-निवर्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिया कर्मोंका नाश किया। फिर औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरोंके नाश होनेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्तकर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गुणोंसे युक्त हो क्षण भरमें ही तनुवातवलयमें जा पहुंचे तथा वहांपर नित्य, निरञ्जन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुखमें तल्लीन और निरन्तर संसारको देखते हुए विराजमान हुए ॥३३८–३४२॥ उसी समय मोक्षकल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग आये उन्होंने "यह भगवान्‌का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचारकर उसे बहुमूल्य पालकीमें विराजमान किया। तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके रत्नोंकी कान्तिसे देदीप्यमान उन्नत मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी दूध आदिसे बढ़ाई गई है ऐसी अग्निसे जगत्‌की अभूतपूर्व सुगन्धि प्रकट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी ॥३४३–३४६॥ गन्ध, पुष्प आदिसे जिसकी पूजा की गई है ऐसे उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोंके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और बाईं ओर तीर्थंकर तथा गणधरोंसे अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियोंके शरीरका संस्कार

---

१ त्रिनुः। २ भास्वान्। ३ निर्वाणपूजां कर्तुमिच्छया। ४ दत्ते स्थापितम्। ५ मुकुटोद्भूतेन। ६ कर्पूरमिति। ७ कुङ्कुमादिभिः। ८ पूर्वस्मिन्नननम्। ९ [illegible]। १० वर्तमानं पर्यायं।

ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिन । वय चैव भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४९॥
कण्ठे हृदयदेशे च तेन[1] सस्पृश्य भक्तित । [2]तत्पवित्रतम मत्वा धर्मरागरसाहिता ॥३५०॥
तोषाद् सम्पादयामासु सम्भूयानन्दनाटकम् । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिण ॥३५१॥
गार्हपत्याभिध पूर्वं परमाहवनीयकम् । दक्षिणाग्नि ततो न्यस्य[3] सन्ध्यासु तिसृषु स्वयम् ॥३५२॥
तच्छिखित्रयसान्निध्ये चक्रमातपवारणम् । जिनेन्द्रप्रतिमाश्चैवा[4]स्थाप्य मन्त्रपुरस्सरम् ॥३५३॥
तास्त्रिकाल समभ्यर्च्य गृहस्थैर्विहितादरा । भवतातिथयो[5] यूयमित्याचख्युरुपासकान् ॥३५४॥
स्नेहेनेष्टवियोगोत्थ प्रदीप्त शोकपावक । तदा प्रबुद्धमप्यस्य[6] चेतोऽ[7]धाक्षीदधीशितु ॥३५५॥
गणी वृषभसेनाख्यस्तच्छोकापनिनीषया[8] । प्राक्रस्त[9] वक्तु सर्वेषा स्वेषा व्यक्ता भवावलीम् ॥३५६॥
जयवर्मा भवे पूर्वे द्वितीयेऽभून्महाबल । तृतीये ललिताङ्गाख्यो वज्रजङ्घश्चतुर्थके ॥३५७॥
पञ्चमे भोगभूजोऽभूत् षष्ठेऽय श्रीधरोऽमर । सप्तमे सुविधि क्ष्माभृद् अष्टमेऽच्युतनायक ॥३५८॥
नवमे वज्रनाभीशो दशमे[10]ऽनुत्तरान्त्यज । ततोऽवतीर्य सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत् ॥३५९॥
धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्नामिका तत । स्वयप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥३६०॥
स्वयप्रभ सुरस्तस्माद् अस्मादपि च केशव । तत प्रतीन्द्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिन्द्रताम् ॥३६१॥
गतस्ततस्तत श्रेयान् दानतीर्थस्य नायक । आश्चर्यपञ्चकस्यापि प्रथमोऽभूत् प्रवर्तक ॥३६२॥

करनेवाली अग्नि स्थापित की, इस प्रकार इन्द्रोने पृथिवीपर तीन प्रकारकी अग्नि स्थापित की। तदनन्तर उन्ही इन्द्रोने पच कल्याणकको प्राप्त होनेवाले श्री वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठाई और 'हम लोग भी ऐसे ही हो' यही सोचकर बडी भक्तिसे अपने ललाटपर दोनो भुजाओमें, गलेमें और वक्ष स्थलमें लगाई। वे सब उस भस्मको अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुरागके रससे तन्मय हो रहे थे ॥३४७–३५०॥ सबने मिलकर बडे सतोषसे आनन्द नामका नाटक किया और फिर श्रावकोको उपदेश दिया कि 'हे सप्तमादि प्रतिमाओको धारण करनेवाले सभी ब्रह्मचारियो, तुम लोग तीनो सध्याओमें स्वय गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियोकी स्थापना करो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओकी स्थापनाकर तीनो काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो। इस प्रकार गृहस्थोके द्वारा आदर सत्कार पाते हुए अतिथि बनो' ॥३५१–३५४॥

इधर उस समय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि भरतके प्रबुद्ध चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ जब भरतका यह हाल देखा तब वृषभसेन गणधर भरतका शोक दूर करनेकी इच्छा से अपने सब लोगोके पूर्वभव स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥३५६॥ उन्होने कहा कि वृषभदेवका जीव पहले भवमें जयवर्मा था दूसरे भवमें महाबल हुआ, तीसरे भवमें ललिताङ्गदेव और चौथे भवमें राजा वज्रजघ हुआ। पाचवें भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ। छठवें भवमें श्रीधरदेव हुआ, सातवें भवमें सुविधि राजा हुआ। आठवें भवमें अच्युतेन्द्र हुआ, नौवें भवमें राजा वज्रनाभि हुआ, दशवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ और वहासे आकर सब इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय वृषभदेव हुआ है ॥३५७–३५९॥ श्रेयान्का जीव पहले भवमें धनश्री था, दूसरे भवमें निर्नामिका, तीसरे भवमें स्वयप्रभा देवी, चौथे भवमें श्रीमती, पाचवें भवमें भोगभूमिकी आर्या, छठवें भवमें स्वयप्रभदेव, सातवें भवमें केशव, आठवें भवमें अच्युत स्वर्गका प्रतीन्द्र, नौवें भवमें धनदत्त, दशवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और वहासे

१ भस्मना। २ भग्न। ३ सन्धाय। ४ धाक्ष्यसाम्य स०, प०, द०, ल०। ५ पावकता श्रेष्ठा। ६ धर्मिष्ठ। ७ दर्शन स्म। ८ भरतस्य शोकमपनेतुमिच्छया। ९ आरभते स्म। १० सर्वार्थसिद्धिज।

अनिरुद्धः पुरा पश्चान्नारकोऽनु चमूरवः[1] । दिवाकरप्रभो देवस्तस्मान्मतिवराह्वयः ॥३६३॥
ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च सुबाहुरहमिन्द्रताम् । प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥३६४॥
आद्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभङ्करः । ततोऽकम्पनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥
महाबाहुस्ततश्चाभूद् अहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । एष बाहुबली जातो जातपूर्वमहोदयः ॥३६६॥
मन्त्री प्राग्भोगभूजोऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः । आनन्दोऽन्वहमिन्द्रोऽस्मात् ततः पीठाह्वयस्ततः ॥३६७॥
अहमिन्द्रोऽग्रिमोऽनुत्वम् अर्हतश्च गणाग्रिमः । पुरोहितस्ततश्चार्यो बभूवास्मात्प्रभञ्जनः ॥३६८॥
धनमित्रस्ततस्तस्माद् अहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । महापीठोऽहमिन्द्रोऽस्माद् अनन्तविजयोऽभवत् ॥३६९॥
उग्रसेनश्चमूरोऽस्माद् भोगभूमिमनूद्भवः । ततश्चित्राङ्गदस्तस्माद् वरदत्तः सुरो जयः ॥३७०॥
ततो गत्वाऽहमिन्द्रोऽभूत्तस्माच्चागत्य भूतलम् । महासेनोऽभवत् धर्ममहासेनाग्रणीरिति ॥३७१॥
हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत् । मणिकुण्डल्यथस्तस्माद् वरसेनः सुरोत्तमः ॥३७२॥
ततोऽस्माद् विजयस्तस्माद् अहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥३७३॥
नागदत्तस्ततो वानरार्योऽस्माच्च मनोहरः । देवश्चित्राङ्गदस्तस्माद् अभूत् सामानिकः सुरः ॥३७४॥
ततश्च्युतो जयन्तोऽभूद् अहमिन्द्रस्ततस्ततः । महाबलः समासाद्य गुणसेनोऽभवद् गणी ॥३७५॥

आकर दानतीर्थका नायक तथा पचाश्चर्यकी सबसे पहले प्रवृत्ति करनेवाला राजा श्रेयान् हुआ है ॥३६०–३६२॥ तेरा जीव पहले भवमें अनिरुद्ध नामका राजा था, दूसरे भवमें नारकी हुआ, तीसरे भवमें शार्दूल हुआ, चौथे भवमें दिवाकरप्रभदेव हुआ, पाँचवें भवमें मतिवर हुआ, छठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ, सातवें भवमें सुबाहु हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें छह खण्ड पृथिवीका अखण्ड पालन करनेवाला भरत हुआ है ॥३६३–३६४॥ बाहुबलीका जीव पहले सेनापति था, फिर भोगभूमिमें आर्य हुआ। उसके बाद प्रभंकर देव हुआ, तदनन्तर अकंपन हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, फिर महाबाहु हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब उसके बाद अपूर्व महा उदयको धारण करनेवाला बाहुबली हुआ है ॥३६५–३६६॥ मैं पहले भवमें राजा प्रीतिवर्धनका मन्त्री था, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर कनकप्रभ देव हुआ, उसके पश्चात् आनन्द हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ, वहाँसे आकर पीठ हुआ, फिर सर्वार्थसिद्धिका अहमिन्द्र हुआ और अब भगवान् वृषभदेवका गणधर हुआ हूँ। अनन्तविजयका जीव सबसे पहले पुरोहित था, फिर भोगभूमिका आर्य हुआ, उसके बाद प्रभंजन नामका देव हुआ, फिर धनमित्र हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, उसके अनन्तर महापीठ हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब अनन्तविजय गणधर हुआ है ॥३६७–३६९॥ महासेन पहले भवमें उग्रसेन था, दूसरे भवमें शार्दूल हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें चित्रांगद देव हुआ, पाँचवें भवमें वरदत्त राजा हुआ, छठवें भवमें देव हुआ, सातवें भवमें जय हुआ, वहाँसे च्युत होकर आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें वहाँसे पृथिवीतल आकर धर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अग्रसर बन्धात् महासेन हुआ है ॥३७०–३७१॥ श्रीषेणका जीव पहले भवमें हरिवाहन था, दूसरे भवमें वराह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें मणिकुण्डली देव हुआ, पाँचवें भवमें वरसेन नामका राजा हुआ, छठवें भवमें उत्तम देव हुआ, सातवें भवमें विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें अतिशय पूज्य तथा लक्ष्मीसे सेवित श्रीषेण हुआ है ॥३७२–३७३॥ गुणसेनका जीव पहले नागदत्त था, फिर वानर हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, उससे पश्चात् चित्रांगद नामका राजा हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर

---

१ व्याघ्र । २ पूर्वभव ।

लोलुपो नकुलार्योऽस्माद् एतस्मात्स मनोरथः । ततोऽपि शान्तमदनस्ततः सामानिकामरः ॥३७६॥
राजाऽपराजितस्तस्मादहमिन्द्रस्ततोऽजनि । ततो मदनुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥३७७॥

इत्यस्मिन्भवसङ्कटे भवभृतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा
संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशम् ।
त्वं जानन्नपि किं विषण्णहृदयो विश्लिष्टकर्माष्टको
निर्वाणं भगवानवापदतुलं तोषे विषादः कुतः ॥३७८॥

वयमपि[1] चरमाङ्गाः सङ्गमाच्छुद्धबुद्धेः
सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपा ।
निरुपमसुखसारं चक्रवर्तिंस्त्वदीय[2]
पदमचिरतरेण प्राप्नुमोऽ[3]नाप्यमन्यैः ॥३७९॥

भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिः
भवति हि स[4] चैतेषामस्मिन्[5] पुनर्जननावहः ।
विनिहतभवे प्रार्थ्ये तस्मिन्[6] स्वयं समुपागते
कथमयमहो धीमान् कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥३८०॥

घ्नष्टापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूलं[7]
नष्टा गुणैर्गुरुभिरष्टभिरेव जुष्टः[8] ।
किं नष्टमत्र निधिनाथ जहीहि मोहं
[9]सन्धेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धाम् ॥३८१॥

जयन्त हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब वहासे पृथिवीपर आकर गुणसेन नामका गणधर हुआ है ॥३७४–३७५॥ जयसेनका जीव पहले लोलुप नामका हलवाई था, फिर नेवला हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोरथ नामका देव हुआ, उसके पश्चात् राजा शान्तमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, तदनन्तर राजा अपराजित हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब मेरा छोटा भाई अतिशय बलवान् जयसेन हुआ है ॥३७६–३७७॥ श्री वृषभसेन गणधर चक्रवर्ती भरतसे कह रहे है कि इस ससाररूपी सकटमे इसी प्रकार सब प्राणियोको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओका संगम होता है और अन्तमें अकस्मात् ही उसका नाश हो जाता है, तू यह सब जानता हुआ भी इतना खिन्नहृदय क्यो हो रहा है ? भगवान् वृषभदेव तो आठो कर्मोको नष्टकर अनुपम मोक्षस्थानको प्राप्त हुए है फिर भला ऐसे सतोषके स्थानमें विषाद क्यो करता है ? ॥३७८॥ हे चक्रवर्तिन्, हम सब लोग भी चरमशरीरी है, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्के समागमसे सम्पूर्ण कर्ममलको नष्टकर आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए है और अनुपम सुखसे श्रेष्ठ तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोके दुर्लभ उन्ही भगवान्के पदको हम लोग भी बहुत शीघ्र प्राप्त करेंगे ॥३७९॥ इष्ट मित्रोकी मृत्यु होनेपर शोक हो सकता है क्योकि उनकी वह मृत्यु शुभ अशुभ कर्मोसे होती है और फिर भी इस ससारमे उनका जन्म करानेवाली होती है, परन्तु जिसने ससारका नाश कर दिया है और निरन्तर जिसकी प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वय प्राप्त हो जावे तो इस बुद्धिमान् मनुष्यको यदि वह शत्रु नही है तो शोक कैसे करना चाहिये ? भावार्थ–हर्षके स्थानमें शत्रुको ही शोक होता है, मित्रको नही होता इसलिये तुम सबको आनन्द मानना चाहिये न कि शोक करना चाहिये ॥३८०॥ हे निधिपते, भगवान् वृषभदेवके आठो ही दुष्ट शत्रु जड़ और शाखा सहित बिलकुल

---

१ वृषभसेनगणधरादय । २ गुरो सम्बन्धि । ३ अप्रापणीयम् । ४ मृत्यु । ५ संसारे । ६ मुक्तौ ।
७ कारणसहितम् । ८ सेवित । ९ सम्यक् धारय ।

देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरु[1] शोचसि त्वं
 ते [2]भस्मसात्कृतिमवाप्य[3] विवृद्धरागा।
प्राग्जन्मनोऽपि[4] परि[5]कर्मकृतोऽस्य[6] कस्माद्
 आनन्दनृत्तमधिकं विदधुर्द्युनाथा ॥३८२॥
नेक्षे विश्वदृशं शृणोमि न वचो दिव्यं तदङ्घ्रिद्वये
 नम्रस्तन्नखभाभिभासिमुकुट[7] कर्तुं लभे नाधुना।
तस्मात् स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतरं शोचीति चेदस्त्विदं
 किन्तु भ्रान्तिरियं व्यतीतविषयप्राप्त्यै भवत्प्रार्थना ॥३८३॥
त्रिज्ञानधृक्[8] त्रिभुवनैकगुरुर्गुरुस्ते
 स्नेहेन मोहविहितेन[10] विनाशयं किम्।
स्वोदात्तता[11] शतमखस्य न लज्जसे किं
 तस्मात्तव[12] प्रथममुक्तिगतिं न वेत्सि[13] ॥३८४॥
इष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं सङ्कल्प्य जन्तुर्जड
 कस्मिंश्चिद् द्वेष्ट्यपि वष्टि[14] किञ्चिदनयो कुर्यादपि व्यत्ययम्।
[15]तेनैनोऽनुगति[16]स्ततो भरत ते भव्योऽप्यभव्योपमो
 भ्राम्यत्येव कुमार्गवृत्तिरघनो[17] याऽस्तङ्क्रमीद् क्षितं ॥३८५॥

ही नष्ट हो गये हैं और अब वे आठ बड़े बड़े गुणोंसे सेवित हो रहे हैं, भला, इसमें क्या हानि हो गई ? इसलिये अब तू मोह छोड़ और शोकको जीतनेके लिये विशुद्ध बुद्धिको धारण कर ॥३८१॥ पूज्य पिताजीका शरीर छूट जानेसे यदि तू इतना अधिक शोक करता है तो बतला, जन्मसे पहले ही उनकी सेवा करनेवाले और बढ़े हुए अनुरागको धारण करनेवाले ये देव लोग भगवान्‌के शरीरको भस्म कर इतना अधिक आनन्द नृत्य क्यों कर रहे हैं ? भावार्थ—ये देव लोग भी भगवान्‌से अधिक प्रेम रखते थे, जन्मसे पहले ही उनकी सेवामें तत्पर रहते थे फिर ये उनके शरीरको जलाकर क्यों आनन्द मना रहे हैं इससे मालूम होता है कि भगवान्‌का शरीर छूट जाना दुःखका कारण नहीं है तू व्यर्थ ही क्यों शोक कर रहा है ? ॥३८२॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि *'अब मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूं, उनके दिव्य वचन नहीं सुन रहा हूं,* और उनके दोनों चरणोंमें नम्र होकर उनके नखोंकी कान्तिसे अपने मुकुटको देदीप्यमान नहीं कर पाता हूं, इसलिये ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है तो तेरा यह कहना ठीक है परन्तु बीती हुई वस्तुके लिये प्रार्थना करना तेरी भूल ही है ॥३८३॥ हे भरत तेरे पिता तो तीनों लोकोंके अद्वितीय गुरु थे और तू भी तीन ज्ञानोंका धारक है फिर इस मोहजन्य स्नेह-से अपनी उत्तमता क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तुझे ऐसा करते हुए इन्द्रसे लज्जा नहीं आती ? अथवा क्या तू यह नहीं समझता है कि मैं इन्द्रसे पहले ही मोक्ष प्राप्त हो जाऊंगा ? ॥३८४॥ इस संसारमें क्या इष्ट है ? क्या अनिष्ट है ? फिर भी यह मूर्ख प्राणी व्यर्थ ही संकल्प कर किसीसे द्वेष करता है, किसीको चाहता है और कभी दोनोंका उल्टा समझ लेता है, इसलिये ही इसके पापकी परम्परा चलती रहती है और इसलिये ही यह भव्य होकर भी

१ बहुन यया नयनि तथा। २ दहनम्। ३ भस्माधीनम्। ४ नीता। ५ उत्पत्तेरारभ्य। ६ परिचर्यापरा। ७ वृषभस्य। ८ तस्य नखानां कान्त्या भासमानं इति। ९ आ त्रिज्ञानधारिन् भरत। १० अज्ञानहेतुना। ११ स्वकुदात्तत्वम्। १२ [illegible]। १३ [illegible]। १४ वाञ्छति। १५ कारणेन। १६ पापानुगति। १७ निधन इव।

भव्यस्यापि भयोऽभवद् भवं गतः कालादिलब्धेर्विना
कालोऽनादिरचिन्त्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थितिं संसृतेः ।
इत्येतद्विदुषाऽत्र[२] शो[१]च्यमथवा नैतच्च यद्देहिनाम्
भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥
गतानि सम्बन्धशतानि जन्तोरनन्तकालं परिवर्तनेन
नावैहि किं त्वं हि विबुद्धविश्वो वृथैव मुह्यः किं[१]मिहेतरो वा ॥३८७॥
कर्मभिः कृतमस्यापि न स्यास्नु त्रिजगत्पतेः ।
शरीरादि ततस्त्याज्यं मन्वते तन्मनीषिणः ॥३८८॥
प्रागक्षिगोचरः सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते ।
भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥३८९॥
इति मनसि यथार्थं चिन्तयन् शोकवह्निं
शमय विमलबोधाम्भोभिरित्याबभाषे ।
गणभृदथ स चक्री वाचनघो महीध्रो
नवजलदजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशान्तः ॥३९०॥
चिन्तां व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेशम्
आनम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः ।
निर्विभितान्तनितरां निजभोगतृष्णां
मोक्षोत्सुकः[१] स्वनगरं प्रविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुज
समभिवीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।
पलितमैक्षत दूतमिवागत
परमसौख्यपदात् पुरुसन्निधे ॥३९२॥
आलोक्य त गलितमोहरस स्वराज्य
मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन्[1] ।
आदात् मात्महितमात्मजमर्ककीर्ति
लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छ ॥३९३॥
विदितसकलतत्त्व सोऽपवर्गस्य मार्ग
जिगमिषुरल्पसत्त्वैर्दुर्गम निष्प्रयासम् ।
[3]यमसमितिसमग्र सयम शम्बल[4] या-
ऽदित[5] विदितसमर्था किपर प्रार्थयन्ते ॥३९४॥
मन पर्ययज्ञानमप्यस्य सद्य
समुत्पन्नवत् केवल चानु[9] तस्मात्[10] ।
तदैवाभवद् भव्यता तादृशी सा
विचित्राऽङ्गिना निर्वृते प्राप्तिरत्र ॥३९५॥
स्वदेशोद्भवैरेव[11] सम्पूजितोऽसौ
सुरेन्द्रादिभि साम्प्रत वन्द्यमान ।
त्रिलोकाधिनाथोऽभवत्किं न साध्य
तपो दुष्कर चेत् समादातुमीश[12] ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका सब मोहरस गल गया है, जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिये उद्युक्त है और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतृणके समान मानकर अपने पुत्र अर्ककीर्तिको अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान कर दी ॥३९३॥ जिनने समस्त तत्त्वोको जान लिया है और जो हीन जीवोके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते है ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्ग हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोसे पूर्ण सयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुरुष सयमके सिवाय अन्य किस पदार्थकी प्रार्थना करते है ? ॥३९४॥ उन्हे उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया। उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गई सो ठीक ही है क्योकि प्राणियोको मोक्षकी प्राप्ति बडी विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमें उत्पन्न हुए राजाओसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोके द्वारा भी वन्दनीय हो गये। इतना ही नही, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपश्चरण ग्रहण करनेके लिये समर्थ रहता है उसे क्या क्या वस्तु साध्य

१ उत्सहमान । २ गन्तुमिच्छु । ३ अपगतत्रर्ल । ४ मूलगुणसमूह। ५ पाथेयमिव । ६ स्वीकृतवान । ७ ज्ञानसमीचीनार्था । ज्ञानार्थक्रियासमर्था वा । ८ समुद्भूतम् । ९ पश्चात् । १० गममात् । ११ षट्खण्डजै । १२ समय ।

भव्यस्यापि भवोऽभवद् भवगत कालादिलब्धेर्विना
कालोऽनादिरचिन्त्यदु खनिचितो धिग् धिग् स्थितिं ससृते ।
इत्येतद्विदुषात्र शोच्यमथवा नैतच्च यद्देहिनाम्
भव्यत्व बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥
गतानि सम्बन्धशतानि जन्तोरनन्तकाल परिवर्तनेन
नावेहि किं त्व हि विबुद्धविश्वो मुधैव मुह्यन् किमिहेतरो वा ॥३८७॥
कर्मभि कृतमस्यापि न स्थास्नु त्रिजगत्पते ।
शरीरादि ततस्त्याज्य मन्यते तन्मनीषिण ॥३८८॥
प्रागक्षिगोचर सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते ।
भगवांस्तत्र क शोक पश्यैन तत्र सर्वदा ॥३८९॥
इति मनसि यथार्थं चिन्तयन् शोकवह्नि
शमय विमलबोधाम्भोभिरित्यार्यभार्ये ।
गणभृदथ स चक्री दावदग्धो महीध्रो
नवजलदजलैर्वा तद्वचोभि प्रशान्त ॥३९०॥
चिन्ता व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेशम्
आनम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधि ।
निन्दन्वितान्तनितरा निजभोगतृष्णा
मोक्षोत्सुक स्वनगर व्यविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अभव्यकी तरह दुखी, निर्धन, कुमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाला और रोगोसे भयभीत होता हुआ इस ससाररूपी वनमे भ्रमण करता रहता है ॥३८५॥ काल आदि लब्धियोके बिना पूज्य भव्य जीवको भी ससारमें रहना पडता है, यह काल अनादि है तथा अचिन्त्य दु खोसे भरा हुआ है इसलिये ससारकी इस स्थितिको वार वार धिक्कार हो, यही सब समझ विद्वान् पुरुष को इस ससारमें शोक नही करना चाहिये अथवा जीवोका यह भव्यत्वपना भी अनेक प्रकारका होता है । हे राजन्, वस्तुका सहज स्वभाव ही ऐसा है ॥३८६॥ हे भरत, तू तो ससार-का स्वरूप जाननेवाला है, क्या तू यह नही जानता कि अनन्त कालसे परिवर्तन करते रहनेके कारण इस जीवके सैकडो सम्बन्ध हो चुके है ? फिर क्यो अज्ञानीकी तरह व्यर्थ ही मोहित होता है ॥३८७॥ तीनो लोकोके अधिपति भगवान् वृषभदेवका शरीर भी तो कर्मोके द्वारा किया हुआ है इसलिये वह भी स्थायी नही है और इसलिये ही विद्वान् लोग उसे हेय समझते है ॥३८८॥ जो भगवान् पहले आखोसे दिखाई देते थे वे अब हृदयमें विद्यमान् है इसलिये इसमें शोक करनेकी क्या बात है ? तू उन्हें अपने चित्तमे सदा देखता रह ॥३८९॥ इस प्रकार मनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तवन करता हुआ तू निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोक रूपी अग्नि शान्त कर, ऐसा गणधर वृषभसेनने कहा तब चक्रवर्ती भी जिस प्रकार दावानलसे जला हुआ पर्वत नवीन बादलोके जलसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार उनके वचनोसे शान्त हो गया ॥३९०॥ जिसे आत्मज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नम्रीभूत हो रहा है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिन्ता छोडकर गणधरदेवको नमस्कार किया और अत्यन्त बढी हुई अपनी भोगविषयक तृष्णाकी निन्दा करते हुए तथा मोक्षके लिये उत्सुक होते हुए उसने बडे वैभवके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥३९१॥

---

१ ससारानुगम । २ ससारे । ३ शास्त्रविषयम् । ४ अथ अत्र इत्यर्थः । ५ वर्तते । ६ मुकुटयुगाग्र । 'दशो नु चतुरशतमस्य । भूत्यां उत्पन्नस्य इत्यभिधानात् दीर्घाकारो वर्ण । मोक्षोत्सुक स० ।

अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं
समभिवीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।
पलितमैक्षत दूतमिवागतं
परममोक्षपदात् पुरुसन्निधेः ॥३९२॥
आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं
मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन्[1] ।
आदातुमात्महितमात्मजमर्ककीर्ति
लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥३९३॥
विदितसकलतत्त्वः सोऽपवर्गस्य मार्गं
जिगमिषुरपरात्मैर्दुर्गमं निष्प्रयासम् ।
[4]यमसमितिसमग्रं संयमं शम्बलं[5] वा-
ऽदित[6] विदितसमर्थाः[7] किं परं प्रार्थयन्ते ॥३९४॥
मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः
समुत्पन्नवत् केवलं चानु[9] तस्मात्[10] ।
तदैवाभवद् भव्यता तादृशी सा
विचित्राङ्गिनां निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥३९५॥
स्वदेशोद्भवैरेव[11] सम्पूजितोऽसौ
सुरेन्द्रादिभिः साम्प्रतं वन्द्यमानः ।
त्रिलोकाधिनाथोऽभवत्किं न साध्यं
तपो दुष्करं चेत् समादातुमीशः[12] ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका मन मोहरूप रससे गल गया है, जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिये उद्युक्त हैं और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ़ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतृणके समान मानकर अपने पुत्र अर्ककीर्तिको अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान कर दी ॥३९३॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो हीन जीवोंके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्ग हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोंसे पूर्ण संयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुरुष संयमके सिवाय अन्य किस पदार्थकी प्रार्थना करते हैं ? ॥३९४॥ उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया। उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गई सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंको मोक्षकी प्राप्ति बड़ी विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमें उत्पन्न हुए राजाओंसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोंके द्वारा भी वन्दनीय हो गये। इतना ही नहीं, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपश्चरण ग्रहण करनेके लिये समर्थ रहता है उसे क्या क्या वस्तु साध्य

---

१ उन्मान । २ गन्तुमिच्छुः । ३ अज्ञानकैः । ४ मूलगुणसमूह । ५ पाथेयमिव । ६ स्वीकृतवान् । ७ ज्ञातसमस्तपदार्थाः । ज्ञातार्थक्रियासमर्था वा । ८ समुद्भूतम् । ९ पश्चात् । १० ज्ञानात् । ११ पट्टबद्धैः । १२ समर्थः ।

परिचितयतिहंसो[1] धर्मवृष्टिं निषिञ्चन्
नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।
फलमविकलमव्यं भव्यसस्येषु कुर्वन्
व्यहरदखिलदेशान् शारदो वा स मेघः ॥३९७॥
विहृत्य सुचिरं [2]विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो,
मुहूर्तपरिमास्थितौ[3] विहितसत्क्रियो विच्युतौ ।
तनुत्रितयबन्धनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन्
जगत्त्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥३९८॥
सर्वेऽपि ते वृषभसेन मुनीशमुख्याः
सौख्यं[4] गताः सकलजन्तुषु शान्तचित्ताः ।
कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा
निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥३९९॥
यो नेतेव[5] पृथु जघान दुरितारातिं चतुस्साधनो[6]
येनाप्तं कनकाश्मनेव विमलं रूपं स्वमा[7]भास्वरम् ।
प्राभेजुश्चरणौ सरोजजयिनौ यस्यालिनो वाऽमरा-
स्त्रैलोक्यगुरुः पुरुः श्रियमदात् श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥४००॥
योऽभूत्पञ्चदशो विभुः कुलभृतां तीर्थेशिनां चाग्रिमो
दृष्टो येन मनुष्यजीवन[8]विधिर्मुक्तेश्च मार्गो महान् ।
बोधो रोधं[9]विमुक्तवृत्तिरखिलो यस्योदयाद्यं तमः[10]
स श्रीमान् जनकोऽखिला[11]वनिपतेराद्यः स दद्याच्छ्रियम् ॥४०१॥

नहीं हैं अर्थात् सभी वस्तुएं उसे साध्य हैं ॥३९६॥ मुनिरूपी हंस जिनसे परिचित हैं, जो धर्म-की वर्षा करते रहते हैं, जो आकाशमें निवास करते हैं, निर्मल हैं, उत्तमवृत्तिवाले हैं (पक्षमें ऊंचे स्थानपर विद्यमान रहते हैं) और जो भव्य जीवरूपी धानोंमें मोक्षरूपी पूर्ण फल लगानेवाले हैं ऐसे भरत महाराजने शरद् ऋतुके मेघके समान समस्त देशोंमें विहार किया ॥३९७॥ चिरकालतक विहारकर जिन्होंने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका बहुत भारी कल्याण किया है ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति बाकी रहनेपर योगनिरोध किया और औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीन शरीररूप बन्धनोंके नष्ट होनेपर सम्यक्त्व आदि सारभूत गुण ही जिनकी मूर्ति रह गई है, जो प्रकाशमान है, जगत्त्रयके चूडामणि हैं और सुखके भाण्डार हैं ऐसे वह भरतेश्वर आत्मधाममें स्थित हो गये अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो गये ॥३९८॥ जो समस्त जीवोंके विषयमें शान्तचित्त हैं, उत्तम सुखको प्राप्त हैं, यम शील आदि गुणोंसे पूर्ण हैं, गुणवान् हैं और गण अर्थात् मुनिसमूहके इन्द्र हैं ऐसे वृषभसेन आदि मुख्य मुनिराज भी कालक्रमसे अपरिमित निर्वाणधामको प्राप्त हुए ॥३९९॥ जिन्होंने सेनापतिकी तरह चार आराधनारूप चार प्रकारकी सेनाको साथ लेकर पापरूपी विशाल शत्रुको नष्ट किया था, जिन्होंने सुवर्ण पाषाणके समान अपना देदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरोंके समान सब देवलोग जिनके कमलविजयी चरणोंकी सेवा करते हैं और जो तीन लोकके गुरु हैं ऐसे श्री भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम सबको वे ही कल्याण प्रदान करनेवाले हों ॥४००॥ जो कुलकरोंमें पन्द्रहवें कुलकर थे, तीर्थंकरोंमें प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्योंकी जीविका

1 परिचितमुनिहंसः । 2 भव्यजनसमूहस्योपकारिणः । 3 मुहूर्तपरिमाणस्थितौ सत्याम् । 4 [illegible] । 5 सेनानीरिव । 6 चतुर्विधाराधनसाधनः । 7 आ समन्तात् भास्वरम् । 8 जीविकारूप । 9 [illegible] । 10 उपद्रवम् । 11 भरतस्य ।

साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थं
सद्धर्मतीर्थपथपालनमूलहेतु ।
भव्यात्मना भवभृतां स्व[1]परार्थसिद्धि-
मिक्ष्वाकुवंशवृषभो वृषभो[2] विदध्यात् ॥४०२॥
यो नाभेस्तनयोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति
त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधियां स्वामीति यः शब्द्यते ।
मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो
निर्दानोऽपि बुधैरपास्यचरणो यः सोऽस्तु वः शान्तये ॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे
प्रथमतीर्थंकरचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारिं-
शत्तमं पर्व परिसमाप्तम् ॥४७॥

की विधि और मोक्षका महान् मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हें आवरणसे रहित पूर्ण अन्तिम-केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथिवीके अधिपति भरत चक्रवर्तीके पिता थे वे श्रीमान् प्रथम तीर्थंकर तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥४०१॥ जिन्होंने प्रसिद्ध सप्त पदार्थोंके समूह को प्रत्यक्ष देखा है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थके मार्गकी रक्षा करनेमें मुख्य हेतु हैं ऐसे इक्ष्वाकु वंशके प्रमुख श्री वृषभनाथ भगवान् संसारी भव्य प्राणियोंको मोक्षरूपी आत्माकी उत्कृष्ट सिद्धिको प्रदान करें ॥४०२॥ जो नाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयम्भू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न हैं, समस्त विद्वानोंके पूज्य हैं, समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं फिर भी विद्वानों-के स्वामी कहे जाते हैं, मध्यस्थ होकर भी भव्यजीवोंके समूहका उपकार करनेवाले हैं और दानरहित होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा जिनके चरणोंकी सेवा की जाती है ऐसे भगवान् वृषभ-देव तुम सबकी शान्तिके लिये हों अर्थात् तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाले हों ॥४०३॥

इस प्रकार भगवान् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराण
संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीका
वर्णन करनेवाला यह सैंतालीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

पुराणाब्धिरगम्योऽयमर्थवीचिविभूषितः ।
सर्वथा शरणं मन्ये जिनसेनं महाकविम् ॥
पारग्रामो जन्मभूमिर्यदीया
गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।
पन्नालालः क्षुद्रबुद्धिः स चाह
टीकामेतां स्वल्पबुद्ध्या चकार ॥
आषाढकृष्णपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथाविय्म् ।
पञ्चसप्तचतुर्युग्मवर्षे पूर्णा बभूव सा ॥
ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाकराः ।
यत्कृपाकोणमाश्रित्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥

---

१ स्वपरार्थंतत् सम्यग्ज्ञानसिद्धं । २ श्रेष्ठः ।

मनूनां नाम	प्रति श्रुति	सन्मति		क्षेमकर		क्षेमधर		सीमकर		सीमधर											
मनूनामायु	पल्यका दशमाश	अमम ८४ गुण्य २० गुणाकार	अममाग ८४ गुण्य १९ गुणाकार	अटट ८४ १८	अटटाग ८४ १७	तुटिक ८४ १६	तुटयग ८४ १५	कमल ८४ १४	कमलाग ८४ १३	नलिन ८४ १२	नलिनाग ८४ ११	पद्म ८४ १०	पद्मांग ८४ ९	कुमुद ८४ ८	कुमुदाग ८४ ७	नउत ८४ ६	नउताग ८४ ५	पर्व ८४ ४	पर्वांग ८४ ३	८४ २	८४००००० १
मनूनामुत्सेध.	१८००	५५ शून्य १३००	५० शून्य	५० ८००	४५	४५ ७७५	४०	४० ७५०	३५	३५ शून्य ७२५	३०	३० ७००	२५ ६७५	२५ ६५०	२० ६२५	२० ६००	१५ ५७५	१५ ५५०	१०	०१ गुन्यानि	२२५

अट्गशब्दवाच्यो य सङ्ख्याविकल्प स चतुरशीघ्न एव अन्यस्तु पूर्वांगताडित एव। जहा अङ्ग शब्द आवे वहां ८४००००० को ८४ से गुणा करना जहा अङ्ग शब्द नहीं है वहा ८४००००० से गुणा करना।

(आराकी प्रतिके अन्तिम पत्रमें यह अगक सदृष्टि दी गई है।) चतुरुत्तराशीतिलक्षवर्षाणिपूर्वांग भवति। तस्यार सदृष्टि. ८४००००० । तत् पूर्वांगवर्गित अन्येन पूर्वांगेन ताडित चेत् पूर्व भवति। तस्याकसन्दृष्टि ७०५६०००००००००० तेषां पूर्वाणां कोटि पूर्वकोटिर्भवति। ७०५६०००००००००००००००००० प्रागुक्तपूर्वं चतुरशोतिघ्न चेत् पर्वांग भवति। अ० स० ५९२७०४०००००००००००। पूर्वांगह- ताडित तत् पर्वांग पर्व भवति। अ० स०—४९७८७१३६०००००००००००००००० चतुरशीति ताडित ८४ तत् पर्व नउताग भवति। अ० स०—४१८२११९४२४००००००००००००००००। प्रागुक्त नउताग चतुरशीतिलक्षताडित चेत् ८४००००० नउत भवति अ० स० ३५१२९८०३१६१६०००००००००००००००००००००० प्रागुक्त नउत चतुरशीति ८४ ताडित चेत् कुमुदांग भवति। अ० स० २९५०९०१- ४६५५७४४०००००००००००००००००००००० प्रागुक्त कुमुदाग चतुरशीति लक्ष ८४००००० ताडित चेत् कुमुद भवति अ० स० २४७८३- ५८९११०८२४९६ शून्य २५। एव चतुरशीत्या ताडित अगशब्दयुक्तमुत्तरोत्तरस्थान भवति चतुरशीतिलक्षताडित चेत् अगशब्दरहितमुत्त- रोत्तरस्थान भवति। क्रमेणाकसदृष्टि पद्माङ्ग २०८२१५७४८ ५३००९२७६६४ शून्य २५। पद्म। १७४९०११२८७९५९८०९१७७९ शून्य ३०। नलिनाग १४६९१७०३२१६३४२३९७०८१८४ शून्य ३०। नलिन १२३४१०३०७०१७२७६१३५५७१४५६ शून्य ३५। कमलाग १०३६६४६५७८९४५१०९५३८८००२३०४ शून्य ३५। कमल ८७०७८३१३९००४०२५९२१९३५३६ शून्य ४०। त्रुटयङ्गम्- ७३१४५७८२६१०३६५६३४६५७७४४२५७०२४ शून्य ४०। त्रुटिकम्–६१४४२४५७३३९२७००७१३३११२५०५१७५१००१६ शून्य ४५। अटटाङ्गम्–५१६११६५४ २०९८७३९९१८१४५०४३४७७५६१३४४ शून्य ४५। अटटम्–४३३५३७८९५३६२९४१५११२८१८३१५१ २५१५२८९६ शून्य ५०। अममाङ्गम्–३६४१७१८३२१०४८७०८८६२४३१४२९७७७९७२८ ३७२९४ शून्य ५०। अमम।

महापुराण-द्वितीयभागस्थ-

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

ध

फ

ब

य

ल

व

ष

स

ह